नव पदाथ

(राजस्थानी 'नव पदारथ' कृति का विवेचनात्मक हिन्दी अनुवाद)

मूल रचयिता

आचार्य भीखणजी

सटिप्पण अनुवादक :

श्रीचन्द रामपुरिया, बी कॉम, बी एल.

तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में प्रकाशित

प्रकाशक :
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
३ पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता—१

प्रथमावृत्ति
सन् १९६१
वि० सं० २०१८

प्रति संख्या
१५००

पृष्ठांक ७८
मूल्य १३)

मुद्रक :
रेफिल आर्ट प्रेस
कलकत्ता—१२

प्रकाशकीय

प्रस्तुत प्रकाशन स्वामीजी की एक विशिष्ट राजस्थानी पद्यकृति 'नवपदारथ' का हिन्दी अनुवाद और सटिप्पण विवेचन है।

मूल ग्रन्थ मे जैनधर्म के आधारभूत नौ तत्त्व—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष का विशद विवेचन है। जैन तत्त्वो की मौलिक ज्ञान-प्राप्ति के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

तेरापथ द्विशताब्दी समारोह के बाद स्वामीजी का द्वितीय चरम महोत्सव-दिवस भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी सवत् २०१८ के दिन पडता है तथा भाद्र शुक्ला नवमी सवत् २०१८ का दिन आचार्य तुलसीगणि के पट्टारोहण के यशस्वी पचीस वर्षो की सफल-सम्पूर्णता का दिन है। दोनो उत्सवो के इस सगम पर प्रकट हुआ यह प्रकाशन बडा सामयिक और अभिनन्दन स्वरूप है।

आशा है पाठक स्वामीजी की विशिष्ट कृति के इस विवेचनात्मक सस्करण का स्वागत करेंगे, एव इसे अपना कर ऐसे ही अध्ययन पूर्ण प्रकाशनो की प्रेरणा देंगे।

३, पोर्च्युगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता—१
भाद्र शुक्ला २ स० २०१८

श्रीचन्द रामपुरिया
व्यवस्थापक
तेरापन्थ द्विशताब्दी साहित्य-विभाग

प्राक्कथन

पाठको के हाथो आद्यदेव आचार्य भीखणजी की एक सुन्दरतम कृति का यह सानुवाद सस्करण सौंपते हुए मनमें हर्ष का अतिरेक हो रहा है। आज से लगभग २० वर्ष पहले मैंने इसका सटिप्पण अनुवाद समाप्त किया था। वह 'स्वान्त सुखाय' था।

एक बार कलकत्ता मे चातुर्मास के समय मैं आचार्य श्री की सेवा कर रहा था, उस समय उनके मुखारविंद से शब्द निकले—"नव पदार्थ स्वामीजी की एक अनन्य सुन्दर कृति है, वह मुझे बहुत प्रिय है। इसका आद्योपान्त स्वाध्याय मैंने बडे मनोयोग पूर्वक किया है।" यह सुन मेरा ध्यान अपने अनुवाद की ओर खिंच गया और उसी समय मैंने एक सकल्प किया कि अपने अनुवाद को आद्योपान्त अवलोकन कर उसे प्रकाशित करूँ।

द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में प्रकाशित होनेवाले साहित्य में उसका भी नाम प्रस्तुत हुआ और इस तरह कार्य को शीघ्र गति देने के लिए एक प्रेरणा मिली। जिस कार्य को बीस वर्ष पूर्व बडी आसानी के साथ सम्पन्न किया था, वही कार्य अब बडा कठिन ज्ञात होने लगा।

मैंने देखा स्वामीजी की कृति में स्थान-स्थान पर बिना सकेत आगमो के सन्दर्भ छिपे पडे हैं और उसके पीछे गम्भीर-चर्चाओ का घोष है। यह आवश्यक था कि उन-उन स्थानो के छिपे हुए सन्दर्भों को टिप्पणियो मे दिया जाय तथा चर्चाओ के हार्द को भी खोला जाय। इस उपक्रम में प्राय सारी टिप्पणियाँ पुन लिखने की प्रेरणा स्वत ही जागृत हुई।

कार्य में विलम्ब न हो, इस दृष्टि से एक ओर छपाई का कार्य शुरू किया दूसरी ओर अध्ययन और लेखन का। कलकत्ते में बैठकर सम्पादन कार्य करने में सहज कठि-नाइयाँ थी ही। जो परिश्रम मुझ से बन सका, उसका साकार रूप यह है। कह नही सकता यह स्वामीजी की इस गम्भीर कृति के अनुरूप हुआ है या नही।

तुलनात्मक अध्ययन को उपस्थित करने की दृष्टि से मैंने प्रसिद्ध श्वेताम्बर एव दिगम्बर आचार्यों के मतो को भी प्रचुर प्रमाण में प्रस्तुत किया है। और स्वामीजी का उन विचारो के साथ जो साम्य अथवा वैषम्य मुझे मालूम दिया, उसे स्पष्ट करने का भी प्रयास किया है। स्वामीजी आगमिक पुरुष थे। आगमो का गम्भीर एव तलस्पर्शी

अध्ययन उनकी एक बड़ी विशेषता थी। इस कृति में वह अध्ययन नवनीत की तरह तिरता हुआ दिखाई देगा।

नव पदार्थों के सम्बन्ध में नाना प्रकार की विचित्र मान्यताएं जनों में घर कर गई थी। स्वामीजी ने नव पदार्थ सम्बन्धी आगामिक विचार धाराओं को उपस्थित करते हुए उनके विशुद्ध स्वरूप का विवेचन इस कृति में किया है। यह अपने-आप में अनन्य है।

इस कृति में कुल बारह ढाल हैं। प्रत्येक का रचना-समय तथा दोहों और गाथाओं की संख्या इस प्रकार है

पदार्थ नाम	ढाल-संख्या	दोहा	गाथा	रचना-काल
१—जीव	१	५	५२	श्री दुवारा १८५५ चत वदी १३
२—अजीव	१	१	६१	श्री दुवारा १८५५ वैसाख वदी ५ बुधवार
३—पुण्य	२	५	६	श्री दुवारा १८५५ जेठ वदी ६ सोमवार
		७	१६	कोठारया १८४३ कार्तिक सुदी ४ गुरुवार
४—पाप	१	५	५५	श्री दुवारा १८५५ जेठ सुदी ३ गुरुवार
५—आस्रव	•	५	७४	पाली १८५५ आश्विन सुदी १२
		८	५८	' १४
६—संवर	१	४	५१	नाथदुवारा १८५६ फाल्गुन वदी १३ गुरुवार

७—निर्जरा	२	१	६६	नाथ दुवारा १८५६ फाल्गुन शुक्ला १० गुरुवार
		७	५७	नाथ दुवारा १८५६ चैत्र वदी २ गुरुवार
८—बंध	१	६	३०	नाथ दुवारा १८२६ चैत्र बदी १२ शनिवार
९—मोक्ष	१	५	२०	नाथ दुवारा १८५६ चैत्र सुदी ४ शनिवार
१०—जीव-अजीव	१			
	१३	५९	५६६	

उपर्युक्त तालिका को देखने से स्पष्ट है कि पुण्य की दूसरी ढाल जो स० १८४३ मे विरचित है, वह सलग्न कृति के साथ वाद में जोडी गयी है। यही बात बारहवी ढाल 'जीव-अजीव' के विषय मे भी कही जा सकती है। यह सयोजन कार्य स्वामीजी के समय में ही हो गया मालूम देता है।

एक-एक पदार्थ के विवेचन में स्वामीजी ने कितने प्रश्न व मुद्दो को स्पर्श किया है, यह आरभ की विस्तृत विषय-सूची से जाना जा सकेगा।

टिप्पणियो की कुल सख्या २४४ है। उनकी भी विषय-सूचि एक-एक ढाल के वस्तु-विषय के साथ दे दी गई है।

टिप्पणियाँ प्रस्तुत करते समय जिन-जिन पुस्तको का अवलोकन किया गया अथवा जिनसे उद्धरण आदि लिये गये हैं उनकी तालिका भी परिशिष्ट में दे दी गयी है। उन पुस्तको के लेखक, अनुवादक और प्रकाशक—इन सबके प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस पुस्तक का सम्पादन मेरे लिए एक पहाड की चढाई से कम नही रहा। फिर भी किसी के अनुग्रह ने मुझे निभा लिया।

स्वामीजी की अनन्यतम श्रेष्ठ और आचार्य श्री की अत्यन्त प्रिय यह कृति आचार्य श्री के धवल-समारोह के अवसर पर जनता तक पहुँचा सका, इसीमें मेरे आनन्द का अतिरेक है। दूर बैठे मुझ जैसे क्षुद्र की यह अनुवाद-कृति इस महान् युग-पुरुष के प्रति मेरी अनन्यतम श्रद्धा का एक प्रतीक मात्र है।

कलकत्ता
भाद्र शुक्ला १, २०१८

श्रीचन्द रामपुरिया

अनुक्रमणिका

टिप्पणियाँ

२—अजीव पदार्थ पृ० ४७—१३२

अजीव पदार्थ के विवेचन की प्रतिज्ञा (दो० १) पाँच अजीव द्रव्यों के नाम (गा० १) प्रथम चार अरूपी पुद्गल रूपी (गा० २) प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व (गा० ३) धर्म, अधर्म, आकाश अस्तिकाय क्यों ? (गा० ४ ६), धर्म, अधर्म, आकाश का क्षेत्र-प्रमाण (गा० ७) तीनों शाश्वत द्रव्य (गा० ८) तीनों के गुण-पर्याय अपरिवर्तनशील (गा० ९); तीनों निष्क्रिय द्रव्य (गा० १०) धर्मास्तिकाय का लक्षण और उसकी पर्याय-संख्या (गा० ११) अधर्मास्तिकाय का लक्षण और उसकी पर्याय-संख्या (गा० १२) आकाशास्तिकाय का लक्षण और उसकी पर्याय संख्या (गा० १३) तीनों के लक्षण (गा० १४) धर्मास्तिकाय के स्कंध देश, प्रदेश (गा० १५ १६) धर्मास्तिकाय कैसा द्रव्य है ? (गा० १७) परमाणु की परिभाषा (गा १८) प्रदेश के माप का आधार परमाणु (गा० १९ २०) काल के द्रव्य अनन्त हैं (गा० २१ २२) काल शाश्वत अशाश्वत का न्याय (गा० २३ २६) काल का क्षेत्र (गा०२७) काल के स्कंध देश प्रदेश परमाणु क्यों नहीं ? (गा० २८ ३४) जघन्य काल (गा ३५) काल के भेद (गा०३६ ३८) काल के भेद तीनों काल में एक से (गा ३८) काल-क्षेत्र (गा ३९ ४) काल पर्याय अनन्त (गा ४० ४२) पुद्गल रूपी द्रव्य (गा० ४३) द्रव्य भाव पुद्गल की शाश्वतता-अशाश्वतता (गा० ४४ ४५) पुद्गल के भेद (गा० ४६) परमाणु (गा० ४७-४८) उत्कृष्ट स्कंध लोक-प्रमाण (गा ४९-५०) पुद्गल : गतिमान द्रव्य (गा ५१) पुद्गल के भेदों की स्थिति (गा० ५२) पुद्गल का स्वभाव (गा ५३) भाव पुद्गल : विनाशशील (गा ५४) भाव पुद्गल के उदाहरण (गा० ५५ ५८) द्रव्य पुद्गल की शाश्वतता : भाव पुद्गल की विनाशशीलता (गा० ५९ ६२) रचना-स्थान और काल (गा० ६३)।

टिप्पणियाँ

[१—अजीव पदार्थ पृ० ६६, २—द्रव्य पृ ६७ ३—अरूपी-रूपी अजीव द्रव्य पृ ६८ ४—प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व पृ ६८ ५—पंच अस्तिकाय पृ० ६९, ६—धर्म, अधम, आकाश का क्षेत्र-प्रमाण पृ ७२ ७—धम अधर्म आकाश शाश्वत और स्वतन्त्र द्रव्य पृ० ७३ ८—धम, अधम आकाश विस्तीर्ण निष्क्रिय द्रव्य हैं पृ ७४ ९—धम, अधम और आकाश के लक्षण और पर्याय पृ ७६ १०—धर्मास्तिकाय के स्कंध देश, प्रदेश भेद पृ० ७९ ११—धर्मास्तिकाय विस्तृत द्रव्य है पृ० ८१, १२—धर्मास्तिकाय आदि के माप का आधार परमाणु है पृ० ८१ १३—धर्मादि की प्रदेश-संख्या पृ ८२ १४—काल द्रव्य का

टिप्पणियाँ

[१—पुण्य पदार्थ पृ० १५०—पुण्य तीसरा पदार्थ है पुण्य पदार्थ से काम भोगों की प्राप्ति होती है ; पुण्य जनित कामभोग विष-तुल्य हैं ; पुण्योत्पन्न सुख पौद्गलिक और विनाशशील हैं पुण्य पदार्थ शुभ कर्म हैं अत: अकाम्य है, २—पुण्य शुभ कर्म और पुद्गल की पर्याय है पृ १५४ ३—चार पुण्य कर्म पृ० १५५ —आठ कर्मों का स्वरूप ; पुण्य केवल सुखोत्पन्न करते हैं ४—पुण्य की अनन्त पर्यायें पृ० १५७ ५—पुण्य निरवद्य योग से होता है पृ० १५८ ६—सातावेदनीय कर्म पृ० १५९ ७—शुभ आयुष्य कर्म और उसकी उत्तर प्रकृतियाँ पृ० १६० ८—शुभ नाम कर्म और उसकी उत्तर प्रकृत्तियाँ प १६२; ९—स्वामीजी का विशेष मन्तव्य पृ० १६६ १०—उच्च गोत्र कर्म पृ० १६७ ११—कर्मों के नाम गुणनिष्पन्न हैं पृ० १६८ १२—पुण्य कर्म के फल पृ १६९; १३—पौद्गलिक सुखों का वास्तविक स्वरूप पृ० १७१ १४—पुण्य की वाञ्छा से पाप का बन्ध होता है प १७३ १५—पुण्य-बन्ध के हेतु पृ १७३ १६—पुण्य काम्य क्यों नहीं ? पृ० १७६ १७—त्याग से निर्जरा योग से कर्म-बन्ध प १७७]

पुण्य पदार्थ (ढाल २) पृ० १८०-२५४

पुण्य के नवों हेतु निरवद्य हैं (दो० १) पुण्य की करनी में निर्जरा की नियमा (दो० २) कुपात्र और सचित्त दान में पुण्य नहीं (दो० ३-६) शुभ योग निर्जरा के हेतु हैं, पुण्य-बन्ध सहज फल है (गा० १) निर्जरा के हेतु जिन आज्ञा में हैं (गा २) जहाँ पुण्य होता है वहाँ निर्जरा और शुभ योग की नियमा है (गा० ३); अशुभ अल्पायुष्य के हेतु सावद्य हैं (गा ४) शुभ दीर्घायुष्य के हेतु निरवद्य हैं (गा ५ ६) अशुभ दीर्घायुष्य के हेतु सावद्य हैं (गा ७) शुभ दीर्घायुष्य के हेतु निरवद्य हैं (गा० ८-९) भगवती में भी ऐसा ही पाठ है (गा० १०) वंदना से पुण्य और निर्जरा दोनों (गा ११); धर्म-कथा से पुण्य और निर्जरा दोनों (गा० १२); वैयावृत्य से पुण्य और निर्जरा दोनों (गा० १३) जिन बातों से कर्म-क्षय होता है उन्हीं से तीर्थंकर गोत्र का बन्ध (गा० १४) निरवद्य सुपात्र दान का फल ; मनुष्य आयुष्य (गा० १५); साताबेदनीय कर्म के छ बन्ध-हेतु निरवद्य हैं (गा० १६ १७); कर्कश अकर्कश वेदनीय कर्म के बन्ध-हेतु क्रमश: सावद्य, निरवद्य हैं (गा० १८) पापों के न सेवन से कल्याणकारी कर्म, सेवन से अकल्याणकारी कर्म (गा० १९ २०); साताबेदनीय कर्म के बन्ध-हेतुओं का अन्य उल्लेख (गा० २१-२२); नरकायु के बन्ध-हेतु (गा २३); तिर्यञ्चायु के बन्ध-हेतु (गा २४) मनुष्यायुष्य के बन्ध-हेतु (गा २५) देवायुष्य के बन्ध-हेतु (गा० २६) शुभ-अशुभ नाम कर्म के

वन्ध-हेतु (गा० २७-२८); उच्च गोत्र और नीच गोत्र कर्म के वन्ध-हेतु (गा० २९-३०), ज्ञानावरणीय आदि चार पाप कर्म (गा० ३१), वेदनीय आदि चार पुण्य कर्मों की करनी निरवद्य है (गा० ३२), भगवती ८.९ का उल्लेख द्रष्टव्य (गा० ३३), कल्याणकारी कर्म-वन्ध के दस वोल निरवद्य हैं (गा० ३४-३७), नौ पुण्य (गा० ३८), पुण्य के नवो बोल निरवद्य व जिन-आज्ञा मे हैं (गा० ३९), नवों बोल क्या अपेक्षा रहित हैं ? (गा० ४०-४४), समुच्चय वोल अपेक्षा रहित नही (गा० ४५-५४), नौ बोलों की समझ (गा० ४८-५४), सावद्य करनी से पाप का बन्ध होता है (गा० ५५-५८), पुण्य और निर्जरा की करनी एक है (गा० ५९), पुण्य की ९ प्रकार से उत्पत्ति ४२ प्रकार से भोग (गा० ६०), पुण्य अवाञ्छनीय मोक्ष : वाञ्छनीय (गा० ६१-६३), रचना-स्थान और काल (गा० ६४)।

टिप्पणियाँ

[१—पुण्य के हेतु और पुण्य का भोग पृ० २००, २—पुण्य की करनी मे निर्जरा और जिन-आज्ञा की नियमा पृ० २०१, ३—'साधु के सिवा दूसरो को अन्नादि देने से तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बध होता है' इस प्रतिपादन की अयौक्तिता पृ० २०२, ४—पुण्य-बध के हेतु और उसकी प्रक्रिया पृ० २०३—पुण्य शुभ-योग से उत्पन्न होता है . शुभ योग से निर्जरा होती है और पुण्य सहज रूप से उत्पन्न होता है ' जहाँ पुण्य होगा वहाँ निर्जरा अवश्य होगी . सावद्य करनी से पुण्य नही होता . पुण्य की करनी मे जिन आज्ञा है, ५—अशुभ अल्पायुष्य और शुभ दीर्घायुष्य के बन्ध-हेतु पृ० २०९, ६—अशुभ-शुभ दीर्घायुष्य कर्म के बन्ध हेतु पृ० २१०, ७—अशुभ शुभ आयुष्य कर्म का बध और भगवती सूत्र पृ० २११, ८—वदना से निर्जरा और पुण्य दोनो पृ० २११, ९—धर्मकथा से निर्जरा और पुण्य दोनो पृ० २१२, १०—वैयावृत्त्य से निर्जरा और पुण्य दोनो पृ० २१३, ११—तीर्थङ्कर नाम कर्म के बध-हेतु पृ० २१३, १२—निरवद्य सुपात्र दान से मनुष्य-आयुष्य का बध पृ० २१९, १३—साता-असाता वेदनीयकर्म के बध-हेतु पृ० २२०, १४—कर्कश-अकर्कश वेदनीय कर्म के बध-हेतु पृ० २२२, १५—अकल्याणकारी-कल्याणकारी कर्मो के बध हेतु पृ० २२२, १६—साता-असाता वेदनीय कर्म के बध-हेतु विषयक अन्य पाठ पृ० २२४, १७—नरकायुष्य के बंध-हेतु पृ० २२४, १८—तिर्यञ्चायुष्य के बन्ध-हेतु २२५, १९—मनुष्यायुष्य के बन्ध-हेतु पृ० २२५, २०—देवायुष्य के बध-हेतु पृ० २२६, २१—शुभ-अशुभ नाम कर्म के बंध-हेतु पृ० २२७, २२—उच्च-नीच गोत्र के बध-हेतु पृ० २२८, २३—ज्ञाना वरणीय आदि चार पाप कर्मो के बन्ध-हेतु पृ० २२९, २४—वेदनीय आदि पुण्य

कर्मों की निरवद्य करनी पृ० २३ २५—'भगवती सूत्र' में पुण्य-पाप की करनी का उल्लेख पृ २३१ २६—कल्याणकारी कर्म-बंध के दस बोल पृ०२३१ २७—पुण्य के नव बोल पृ० २३२ २८—क्या नवों बोल अपेक्षा-रहित हैं ? पृ० २३२, २९—पुण्य के नौ बोलों की समझ और अपेक्षा पृ० २३३; ३०—सावद्य-निरवद्य कार्य का आधार पृ २३६, ३१—उपसंहार पृ २४७-२५४]

४—पाप पदार्थ पृ० २५५—३४४

पाप पदार्थ का स्वरूप (दो० १), पाप की परिभाषा (दो० २), पाप और पाप-फल स्वयंकृत हैं (दो० ३) जैसी करनी वैसी भरनी (दो० ४), पापकर्म और पाप की करनी भिन्न-भिन्न हैं (दो ५), घनघाती कर्म और उनका सामान्य स्वभाव (गा १) घनघाती कर्मों के नाम (गा०२), प्रत्येक का स्वभाव (गा० ३), गुण-निष्पन्न नाम (गा० ४ ५), ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियों का स्वभाव(गा० ६-७) इसके क्षयोपशम आदि से निष्पन्न भाव (गा ८) दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियाँ (गा० ९ १४), इसके क्षयोपशम आदि से निष्पन्न भाव (गा० १५) मोहनीयकर्म का स्वभाव और उसके भेद (गा १६ १७), दर्शन मोहनीयकर्म के उदय आदि से निष्पन्न भाव (गा १८ २), चारित्र मोहनीयकर्म और उसके उदय आदि से निष्पन्न भाव (गा० २१ २२) कर्मोदय और भाव (गा० २३-२५), चारित्र मोहनीय कर्म की २५ प्रकृतियाँ (गा० २६ ३६) अन्तराय कर्म और उसकी प्रकृतियाँ (गा० ३७-४२) चार अघाति कर्म (गा० ४३), असातावेदनीय कर्म (गा० ४४), अशुभ आयुष्य कर्म (गा ४५ ४६) संहनन नामकर्म, संस्थान नामकर्म (गा० ४७) वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श नामकर्म (गा ४८) शरीर अङ्गोपाङ्ग बन्धन संघातन नामकर्म (गा ४९) स्थावर नामकर्म (गा ५) सूक्ष्म नामकर्म (गा० ५१) साधारण शरीर नामकर्म, अपर्याप्त नामकर्म (गा०५२) अस्थिर नामकर्म, अशुभ नामकर्म (गा ५३) दुर्भग नामकर्म दुःस्वर नामकर्म (गा० ५४) अनादेय नामकर्म अयशःकीर्ति नामकर्म (गा० ५५) उपघात नामकर्म, अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म (गा ५६), नीच गोत्र कर्म (गा० ५७) रचना-स्थान और काल (गा० ५८)।

टिप्पणियाँ

[१—पाप पदार्थ का स्वरूप पृ० २७४, २—पाप-कर्म और पाप की करनी पृ २९१ ३—घाति और अघाति कर्म पृ २९८ ४—ज्ञानावरणीय कर्म पृ० ३०४ ५—दर्शनावरणीय कर्म पृ० ३ ७ ६ ७-मोहनीयकर्म पृ ३११ ८—अन्तरायकर्म पृ ३२४ ९—असातावेदनीय कर्म

आस्रव पदार्थ (ढाल : २)

आस्रव कर्मद्वार हैं, कर्म नही (दो० १-२), कर्म रूपी है, कर्मद्वार नही (दो० ३-४), वीसो आस्रव जीव-पर्याय हैं (दो०५), मिथ्यात्व आस्रव (गा० १), अविरति आस्रव (गा० २), प्रमाद आस्रव (गा० ३), कषाय आस्रव (गा० ४), योग आस्रव (गा० ५), प्राणातिपात आस्रव (गा०६), मृषावाद आस्रव (गा० ७), अदत्तादान आस्रव (गा० ८), अब्रह्मचर्य आस्रव (गा० ६) परिग्रह आस्रव (गा० १०), पचेन्द्रिय आस्रव (गा० ११-१३), मन-वचन-काय-प्रवृत्ति आस्रव (गा० १४-१५), भडोपकरण आस्रव (गा० १६), सूची-कुशाग्र सेवन आस्रव (गा० १७), भावयोग आस्रव है, द्रव्य योग नही (गा० १८), कर्म चतुस्पर्शी है और योग अष्टस्पर्शी, अतः कर्म और योग एक नही (गा० १६-२०), आस्रव एकान्त सावद्य (गा० २१), योग आस्रव और योग व्यापार सावद्य-निरवद्य दोनो है (गा० २२), वीस आस्रवों का वर्गीकरण (गा० २३-२५), कर्म और कर्त्ता एक नही (गा० २६), आस्रव और १८ पाप स्थानक (गा० २७-३६), आस्रव जीव-परिणाम हैं, कर्म पुद्गल परिणाम (गा० ३७), पुण्य-पाप कर्म के हेतु (गा० ३८-४६), असयम के १७ भेद आस्रव हैं (गा० ४७), सर्व सावद्य कार्य आस्रव है (गा० ४८), संज्ञाएँ आस्रव हैं (गा० ४६), उत्थान, कर्म आदि आस्रव हैं (गा० ५०-५१), सयम, असयम, सयमासयम आदि तीन-तीन बोल क्रमशः सवर, आस्रव और सवरास्रव हैं (गा० ५२-५५), आस्रव सवर से जीव के भावो की ही हानि-वृद्धि होती हैं (गा० ५६-५८), रचना-स्थान और समय (गा० ५६)।

टिप्पणियाँ

टिप्पणियाँ

[१—आस्रव पदार्थ और उसका स्वभाव पृ० ३६८ २—आस्रव शुभ अशुभ परिणामानुसार पुण्य अथवा पाप का द्वार है पृ ३७० ३—आस्रव जीव है पृ० ३७१ ५—आस्रवों की संख्या पृ० ३७२ ६—आस्रवों की परिभाषा पृ ३७३ ७—आस्रव और संवर का सामान्य स्वरूप पृ ३८६ ८—आस्रव कर्मों का कर्त्ता हेतु, उपाय है पृ ३८७, ९—प्रतिक्रमण विषयक प्रश्न और आस्रव पृ० ३८७, १ —प्रत्याख्यान विषयक प्रश्न और आस्रव पृ० ३८८, ११—तालाब का दृष्टान्त और आस्रव पृ ३८८; १२—मृगापुत्र और आस्रव-निरोध पृ० ३८९, १३—पिहितास्रव के पाप का बन्ध नहीं होता पृ ३८९, १४—पंचास्रव संवृत भिक्षु महा अनगार पृ ३९ १५—मुक्ति के पहले योगों का निरोध पृ ३९०, १६—प्रश्नव्याकरण और आस्रवद्वार पृ ३९१, १७ -आस्रव और प्रतिक्रमण पृ० ३९२, १८—आस्रव और नौका का दृष्टान्त पृ ३९३, १९—आस्रव विषयक कुछ अन्य संदर्भ पृ ३९४ २ —आस्रव जीव या अजीव पृ ३९६, २१—आस्रव जीव परिणाम है अतः जीव है पृ ४ १ २२—जीव अपने परिणामों से कर्मों का कर्त्ता है अतः जीव-परिणाम स्वरूप आस्रव जीव है पृ ४०१ २३—आचाराङ्ग में अपनी ही क्रियाओं से जीव कर्मों का कर्त्ता कहा गया है पृ ४ ४ २४—योगास्रव जीव कहा गया है पृ ४०५, २५—भावलेश्या आस्रव है, जीव है अतः सर्व आस्रव जीव हैं पृ ४ ६, २६—मिथ्यात्वादि जीव के उदय निष्पन्न भाव हैं पृ ४०६, २७—योग लेश्यादि जीव परिणाम हैं अतः योगास्रव आदि जीव हैं पृ ४ ७ २८—आस्रव जीव-अजीव दोनों का परिणाम नहीं पृ० ४०७ २९—मिथ्यात्व आस्रव पृ ४ ९ ३ —आस्रव और अविरति अशुभ लेश्या के परिणाम पृ ४०९ ३१—जीव के लक्षण अजीव नहीं हो सकते पृ० ४१० ३२—संज्ञाएं अरूपी हैं अतः आस्रव अरूपी है पृ ४१ ३३—अध्यवसाय आस्रव रूप हैं पृ ४१ , ३४—ध्यान जीव के परिणाम हैं पृ ४११ ३५—आस्रव को अजीव मानना मिथ्यात्व है पृ० ४१२ ३६—आस्रव जीव कैसे ? पृ ४१२ ३७—आस्रव और जीव के प्रदेशों की चंचलता पृ ४१३ ३८—योग पारिणामिक और उदयभाव है अतः जीव है पृ ४१९ ३९—निरवद्य योग को आस्रव क्यों माना जाता है ? पृ ४२ ४ —सब सांसारिक कार्य जीव परिणाम हैं पृ ४२१ ४१—जीव आस्रव और कर्म पृ० ४२२ ४२—मोहकर्म के उदय से होनेवाले सावद्य कार्य योगास्रव हैं पृ ४२४ ४३—दर्शन मोहनीयकर्म और मिथ्यात्व आस्रव पृ ४२५, ४४—आस्रव रूपी नहीं अरूपी है पृ० ४२५]

पृ० ४६५, १८—पुण्य का आगमन सहज कैसे ? पृ० ४७१ १९—बासठ योग और सत्रह प्रकार के संयम पृ० ४७२ २०—चार सज्ञाएं पृ० ४७४; २१—उत्थान, कर्म, बल वीर्य पुरुषकार-पराक्रम पृ० ४७५ २२—संयती असंयती संयतासंयती आदि त्रिक पृ० ४७६—विरति अविरति और विरताविरति : प्रत्याख्यानी अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी : संयती असंयती और संयतासंयती : पण्डित बाल और बालपण्डित जाग्रत सुप्त और सुप्तजाग्रत संवृत, असंवृत और संवृतासंवृत धर्मी अधर्मी और धर्माधर्मी : धर्म-स्थित अधर्म-स्थित और धर्माधर्म-स्थित धर्म-व्यवसायी अधर्म-व्यवसायी और धर्माधर्म-व्यवसायी; २३—किस किस तत्त्व की घट-बढ़ होती है पृ० ४८४]

६—संवर पदार्थ पृ० ४८७-५४८

संवर पदार्थ का स्वरूप (दो० १ २) संवर की पहचान आवश्यक (दो ३) संवर के मुख्य पाँच भेद (दो० ४) सम्यक्त्व संवर (गा १); विरति संवर (गा २) अप्रमाद संवर (गा ३) अकषाय संवर (गा ४) अयोग संवर (गा ५ ६) अप्रमाद अकषाय और अयोग संवर प्रत्याख्यान से नहीं होते (गा ७) सम्यक्त्व संवर और सर्व विरति संवर प्रत्याख्यान से होते हैं (गा ८-९) हिंसा आदि १५ योगों के त्याग से विरति संवर होता है, अयोग संवर नहीं (गा १० ११); सावद्य-निरवद्य योगों के निरोध से अयोग संवर (गा १४ १५) कषाय आस्रव और योग आस्रव के प्रत्याख्यान का मर्म (गा १६-१७) सामायिक आदि पाँच चारित्र सर्व विरति संवर हैं (गा १८ ४४) अयोग संवर (गा० ४६ ५४) संवर भावजीव है (गा ५५) रचना-स्थान और संवत् (गा ५६)।

टिप्पणियाँ

[१—संवर छठा पदार्थ है पृ ५ ४—संवर छठा पदार्थ है : संवर आस्रव-द्वार का अवरोधक पदार्थ है : संवर का अर्थ है आत्म-प्रदेशों को स्थिरभूत करना संवर आत्म-निग्रह से होता है : मोक्ष-मार्ग की आराधना में संवर उत्तम गुण रत्न है २—संवर के भेद, उनकी संख्या-परम्पराएँ और ५७ प्रकार के संवर पृ ५ ६—द्रव्य संवर और भाव संवर संवर-संख्या की परम्पराएं : संवर के सत्तावन भेदों का विवेचन ३—सम्यक्त्वादि बीस संवर एवं उनकी परिभाषाएँ पृ ५२४ ४—सम्यक्त्व आदि पाँच संवर और प्रत्याख्यान का सम्बन्ध पृ ५२७; ५—अन्तिम पन्द्रह संवर विरति संवर के भेद क्यों ? पृ ५३३; ६—अप्रमादादि संवर और शंका-समाधान पृ ५३४ ७—पाँच चारित्र और पाँच निर्ग्रन्थ संवर हैं पृ ५३६,

(गा ४१ ४५), तपस्या का फल (गा० ४६-५२), निर्जरा निरवद्य है (गा० ५३), निर्जरा और निर्जरा की करनी भिन्न-भिन्न हैं (५४ ५६), उपसंहार (गा० ५७)।

टिप्पणियाँ

[१—निर्जरा कैसे होती है ? पृ ६ ८—उदय में आये हुए कर्मों के फलानुभव से कर्म-क्षय की कामना से विविध तप करने से, कर्म-क्षय की आकांक्षा बिना नाना प्रकार के कष्ट करने से इहलोक परलोक के लिए तप करते हुए; २—निर्जरा निर्जरा की करनी और उसकी प्रक्रिया पृ ६२१, ३—निर्जरा की शुद्ध करनी पृ ६१५ ४—अनशन पृ० ६२६—इत्वरिक अनशन यावत् कथिक अनशनः प्रत्याख्यान ५—ऊनोदरिका पृ ६२४—उपकरण अवमोदरिका भक्तपान अवमोदरिका ; भाव अवमोदरिका; ६—भिक्षाचर्या तप पृ ६४ , ७—रस-परित्याग पृ० ६४५, ८—काय क्लेश पृ० ६४८ ९—प्रतिसंलीनता पृ० ६५१ १ —बाह्य और आभ्यन्तर तप पृ ६५५ ११—प्रायश्चित तप पृ० ६५६, १२—विनय तप पृ ६५९ —ज्ञान विनय दर्शन विनय चारित्र-विनय १३—वैयावृत्य पृ ६६४; १४—स्वाध्याय तप पृ ६६६ १५—ध्यान तप पृ ६६८, १६—व्युत्सर्ग तप पृ ६७१ १७—तप संवर निर्जरा पृ ६७३,—आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक की हुई तपस्या किस प्रकार कर्म-क्षय करती है; आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक तप किसके हो सकता है ? संवर और निर्जरा का सम्बन्ध तप की महिमा १८—निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनों निरवद्य हैं पृ ६९१]

८—बंध पदार्थ पृ ६९३-७२०

बंध पदार्थ और उसका स्वरूप (दो० १ ३), कर्म-प्रदेश के भाग ; जीव-प्रदेश (गा ४) बंध के हेतु (दो० ५) बंध से मुक्त होने का उपक्रम (दो ६-८), बन्ध आठ कर्मों का होता है (दो ६) द्रव्य बन्ध और भाव बन्ध (गा० १ ३) पुण्य-बन्ध और पाप-बन्ध का फल (गा० ४ ५) कर्मों की सत्ता और उदय (गा० ६) बन्ध के चार भेद (गा ७-१२) कर्मों की स्थिति (गा० १३ १८), अनुभाग बन्ध (गा १९ २१) प्रदेश बन्ध और तालाब का दृष्टान्त (गा० २२-२६) मुक्ति की प्रक्रिया (गा० २७-२८) मुक्त जीव (गा २९) रचना-स्थल व काल (गा०)।

टिप्पणियाँ

[१—बन्ध पदार्थ पृ ७ ६ २—बन्ध और जीव की परवशता पृ० ७०८ ३—बंध और तालाब का दृष्टान्त पृ ७०९ ४—जीव प्रदेश और कर्म-प्रदेश पृ०

शुद्धि और वृद्धि

१—पृ० ३९ प्रथम अनुच्छेद, द्वितीय पक्ति 'समदृष्टि, सममिथ्यादृष्टि' के स्थान में 'मिथ्यात्वी, अकेवली' करें।

२—पृ० ३९ द्वितीय अनुच्छेद 'मोहनीश' के स्थान में 'मोहनीय' करें।

३—पृ० १५१ पा० टि० १ में '६' का अङ्क हटाव

४—पृ० १५१ पा०टि० २ में '६' का अङ्क हटावें

५—पृ० २०३ अतिम अनुच्छेद, द्वितीय पक्ति 'काय योग' के स्थान में 'वचन योग' करें।

६—पृ० २१८ प्रथम पक्ति 'अ' के स्थान मे 'अर्थ' करें।

७—पृ० २२१ चतुर्थ पक्ति 'परजूण' के स्थान में 'परजूरण' करें।

८—पृ० २२१ षष्ट पंक्ति 'जूण' के स्थान में 'जूरण' करें।

९—पृ० २६१ गा० ६ द्वितीय पक्ति में 'सुनने' के बाद 'आदि' बैठावें।

१०—पृ० २६५ गा० २३-५ पचम पक्ति में 'उपशम' के स्थान में 'क्षयोपशम करें।

११—पृ० २६५ गा० २९ द्वितीय पक्ति में 'उत्कृष्ट' के बाद 'प्रत्याख्यान और उससे कुछ कम' जोड़ें।

१२—पृ० ३२६ पंक्ति ५ 'भोगान्तराय' के बाद 'उपभोगान्तराय' और जोड़ें।

१३—पृ० ४३१ गा० ६ पक्ति तीसरी में ४, हटा दें।

१४—पृ० ४९७ गा० २६ में 'ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें' के स्थान में 'बारहवें, तेरहवें तथा चौदहवें' करें।

१५—पृ० ५५५ गा० १३ दूसरी पक्ति में 'अज्ञान' के स्थान में 'ज्ञान' करे।

१६—पृ० ५७२ अन्तिम पक्ति 'पशु' के स्थान में 'पुरुष' करें।

१७—पृ० ६०५ गा० ५० प्रथम पक्ति मे 'और समदृष्टि श्रावक' के स्थान में 'श्रावक और सम्यक् दृष्टि' करें

१८—पृ० ६११ अन्तिम पक्ति में 'के' के बाद 'नही' शब्द जोड़ें।

नव पदार्थ

१

जीव पदारथ

दुहा

१—नमूं वीर सासण धणी गणधर गोतम सांम।
तारण तिरण पुरषां तणों लीजे नित प्रत नांम॥

२—त्यां जीवादिक नव पदारथ तणो निरणो कीयो भांत भांत।
त्यांनें हलुकर्मी जीव ओलखे पूरी मन री खांत॥

३—जीव अजीव ओलख्यां विनां मिटे नहीं मन रो भर्म।
समकत आयां विण जीव नें रुके नहीं आवतां कर्म॥

४—नव ही पदारथ जू जूआ जथातथ सरधे जीव।
ते निश्चे समदिष्टी जीवडा त्यां दीधी मुगत री नींव॥

५—हिवे नव ही पदारथ ओलखायवा जूआ जूआ कहूं छूं भेद।
पहिलो ओलखाऊं जीव नें ते सुणजो आंण उमेद॥

ढाल १

[विनय रा भाव सुण सुण गुंजे]

१—सासतो जीव दरब साख्यात घटे वधे नहीं तिलमात।
तिणरा असंख्यात प्रदेस घटे वधे नहीं लवलेस॥

: १ :

जीव पदार्थ

दोहा

१—जिन-शासन के अधिपति श्री वीर प्रभु[1] को नमस्कार करता हूँ तथा गणधर गौतम[2] स्वामी को भी। इन तरण-तारण पुरुषों का प्रति दिन स्मरण करना चाहिए।

आदि मङ्गल

२—इन पुरुषों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से जीव आदि नव पदार्थों[3] का स्वरूप-निरूपण किया है। हलुकर्मी जीव इन नव पदार्थों की पूरे मनोयोग पूर्वक ओलख (पहचान) करते है।

नव पदार्थ और सम्यकत्व

३—जीव-अजीव की ओलख (पहचान) हुए बिना मन का भ्रम नहीं मिटता, समकित (सम्यकत्व)[4] आए बिना जीव के नये कर्मों का सचार नहीं रुकता।

४—जो प्राणी नव ही पदार्थों में से प्रत्येक मे यथातथ्य श्रद्धा रखते हैं, वे निश्चय ही समदृष्टि जीव हैं और उन्होंने मुक्ति की नींव डाल दी।

५—अब नव ही पदार्थ की पहचान के लिये उनके भिन्न-भिन्न स्वरूप बतलाता हूँ। पहले जीव पदार्थ[5] की पहचान कराता हूँ। सहर्ष सुनना।

ढाल : १

१—जीव द्रव्य प्रत्यक्ष शाश्वत है। उसकी अनन्त सख्या कभी घटती नहीं। यह असख्यात प्रदेशी है। इसके असख्यात प्रदेशों में तिलमात्र—लेशमात्र भी घट-बढ़ नहीं होती।

द्रव्य जीव भाव जीव

२—तिणसूं दरबे कह्यो जीव एक भाव जीव रा भेद अनेक।
तिणरो बहोत कह्यो विसतार, ते सुणजो आणे विचार॥

३—भगोती वीसमां सतक मांय बीजे उदेसे कह्यो जिणराय।
जीव रा तेवीस नांम गुण निपन कह्या छै तांम॥

४—जीवे[1]* ति वा जीव रो नांम आउखा नें बले जीवे तांम।
ओ तो भावे जीव संसारी तिणनें सुणज्यो लीजो विचारी॥

५—जीवत्थिकाय[2] जीव रो नांम देह धरे छै देह धणी आंम।
प्रदेसां रा समूह ते काय पुदगल रा समूह मेळे छै ताय॥

६—सास उसास लेवे छै तांम तिणसूं पाणे[3] ति वा जीव रो नांम।
भूए[4] ति वा कह्यो इण न्याय सदा छ तिहुं काल रे मांय॥

७—सत्ते[5] ति वा कह्यो इण न्याय सुभासुभ पोते छै ताय।
विन्नू[6] ति वा विषै रो जांण सब्दादिक लीया सव पिछांण॥

८—वेया[7] ति वा जीव रो नांम सुख दुख वेदे छ ठांम ठांम।
ते तो चेतन सरूप छै जीव पुदगल रो सवादी सजीव॥

९—चेया[8] ति वा जीव रो नांम, पुदगल नी रचणा करे तांम।
विविध प्रकारे रच रूप ते तो मूंढा मे भला अनूप॥

---

* ये मद्ध-कमांक जीव के २३ नामों के सूचक हैं।

२—(सर्व जीव असख्यात प्रदेशों के अखण्ड समुदाय हे ।), इसीसे द्रव्यत जीव एक कहा गया है। भाव जीव के अनेक भेद हे । भगवान ने जीव का वहुत विस्तृत वर्णन किया है। बुद्धिमान विचार कर द्रव्य जीव और भाव जीव[६] को जान लेते हैं।

३—भगवती सूत्र के वीसवे शतक के द्वितीय उद्देशक मे जिन भगवान ने जीव के गुणानुरूप २३ नाम[७] वतलाये है, जो निम्न प्रकार हे ।

जीव के तेईस नाम

४—जीव जीव का यह नाम आयु-बल होने तथा (तीनों काल मे सदा) जीवित रहने से है। यह ससारी जीव—भाव जीव है। बुद्धिमान विचार कर देखें।

१-जीव

५—जीवास्तिकाय जीव का यह नाम देह धारण करने से है। प्रदेशों के समूह को काय कहते हैं। देह पुद्गल-प्रदेशों का समूह है। उसे यह धारण करता है।

२-जीवास्तिकाय

६—प्राण जीव का यह नाम श्वासोच्छ्वास लेने के कारण है। भूत इसे भूत इसलिये कहा गया है कि यह तीनों काल में विद्यमान रहता है।

३-प्राण
४-भूत

७—सत्त्व खुद ही शुभाशुभ का कारण हे, इसलिये जीव सत्त्व है।

५-सत्त्व

विज्ञ इन्द्रियों के शब्दादि विषयों का अनुभव करने वाला—जानने वाला होने से विज्ञ है।

६-विज्ञ

८—वेद सुख दु ख का वेदक—भोगने वाला होने से जीव वेदक है। जीव ठौर-ठौर सुख-दु:ख का अनुभव करता है। यह जीव चेतन है और सदा पुद्गल का स्वादी है।

७-वेद

९—चेता जीव पुद्गलों की रचना (इनका चय करता है)। पुद्गलों का चय कर वह विविध प्रकार के अच्छे-बुरे रूप धारण करता है। इससे जीव का नाम चेता है।

८-चेता

१०—जेया' ति वा नांम श्रीकार, कर्म रिपू मा जीपणहार।
तिणरो पराक्रम सकत अनंत थोड़ा में करे करमां रो अन्त ॥

११—आया' ति वा नाम इण न्याय सव लोक फरस्यो छै ताम।
जन्म मरण कीया ठांम ठाम, कठे पाम्यो नहीं आराम ॥

१२—रगणे'' ति वा नाम मदमातो, राग धेष रूप रंग रातो।
तिण सूं रहे छै मोह मतवालो आत्मा में लगावे कालो ॥

१३—हिडुए'' ति वा जीव रो नांम चिहूं गति मांहें हींड्यो छै ताम।
कर्म हिलोलें ठांम ठांम, कठे पाम्यो नहीं विसराम ॥

१४—पोग्गले'' 'ति वा जीव रो नांम पुदगल ले ले मल्या ठांम ठांम।
पुदगल मांहें रचे रह्यो जीव तिणसूं लागी संसार री नींव ॥

१५—मानवे' ति वा जीव रो नाम नवो नहीं सासतो छ तांम।
तिणरी परजा तो पलटे जाय द्रव्यतो ज्यूं रो ज्यूं रहे ताय॥

१६—कत्ता' ति वा जीव रो नांम करमां रो करता छै तांम।
तिणसूं तिणनें कह्यो छै आश्रव तिणसूं लागे छै पुदगल दरब ॥

१७—विकत्ता'' ति वा नाम इण न्याय करमां नें विखूणे छै ताम।
आ निरजरा री करणी बमांम, जीव उजलो छै निरजरा तांम ॥

१०—जेता कर्म रूपी शत्रुओं को जीतने वाला होने से जीव का यह उत्तम जेता नाम है, जीव का पराक्रम—उसकी शक्ति (वीर्य) अनन्त है जिससे अल्प में ही वह कर्मों का अन्त ला सकता है। ६-जेता

११—आत्मा यह नाम इसलिये है कि जीव ने जगह-जगह जन्म-मरण किया है। (नाना जन्मान्तर करते हुए) इसने सर्व लोक का स्पर्श किया है। किसी भी जगह इसे विश्राम नहीं मिला। १०-आत्मा

१२—रंगण जीव राग द्वेष रूपी रग में रगा रहता है और मोह में मतवाला रहकर आत्मा को कलकित करता है, इससे इसका नाम रगण है। ११-रगण

१३—हिंडुक कर्म रूपी झूलने में बैठकर जीव चारों गतियों में झूलता रहा है। कहीं भी विश्राम नहीं पाता। इससे जीव का नाम हिंडुक है। १२-हिंडुक

१४—पुद्‌गल · पुद्‌गलों को (आत्म-प्रदेशों में) जगह-जगह एकत्रित कर रखने से जीव का नाम पुद्‌गल है। पुद्‌गल में लिप्त रहने से ही संसार की नींव लगी है। १३-पुद्‌गल

१५—मानव : जीव कोई नया नहीं परन्तु शाश्वत है इसलिये उसका नाम मानव है। जीव की पर्याय पलट जाती है परन्तु द्रव्य से वह वैसे-का-वैसा रहता है। १४-मानव

१६—कर्त्ता कर्मों का कर्त्ता—उपार्जन करने वाला होने से जीव का नाम कर्त्ता है। कर्मों का कर्त्ता होने से ही जीव को आस्रव कहा गया है। इस कर्तृत्त्व के कारण ही जीव के पुद्‌गल द्रव्य लगता रहता है। १५-कर्त्ता

१७—विकर्त्ता कर्मों को विखेरता है इसलिये विकर्त्ता नाम है। यह कर्म विखेरना ही निर्जरा की करनी है। जीव का (अंश रूप) उज्ज्वल होना निर्जरा है। १६-विकर्त्ता

१८—जए[१७] ति वा नाम तणो विचार, अति हि गमन तणो करणहार।
एक समे लोकान्त लग जाय एहवी समरथ समाचिक पाय॥

१९—जंतु[१८] ति वा जीव रो नाम जन्म पाम्यो छै ठाम ठाम।
चोरासी लख जोनि रे मांहि, उपज्यो ने निसर गयो ताहि॥

२०—जोणी[१] ति वा जीव कहिवाय पर नो उत्पादक इण न्याय।
घट पट आदि वस्त अनेक उपजावे निज सुविवेक॥

२१—सयमू[२] ति वा जीव रो नाम किण हि निपजायो नहीं ताम।
ते तो छै द्रव्य जीव समावे ते तो कदे नहीं विरलावे॥

२२—ससरीरी[११] ति वा नाम एह, सरीर रे अतर तेह।
सरीर पाछे नाम धरायो कालो गोरादिक नाम कहायो॥

२३—नायए ति वा ते कर्मा रो नायक निज सुख दुख रो छै दायक।
तथा न्याय तणो करणहार, ते तो बोले छै वचन विचार॥

२४—अन्तरप्पा[१] ते जीव रो नाम सब सरीर व्यापे रह्यो ताम।
सोलिभूत छै पुदगल मांहि, निज सरूप वर्ते रह्यो त्यांही॥

२५—द्रव्य तो जीव सासतो एक तिणरा भाव कह्या छै अनेक।
भाव ते लखण गुण परज्याय ते तो भावे जीव छै ताय॥

२६—भाव तो पांच श्री जिण भाख्या त्यांरा समाव जूजूआ दाख्या।
उदै उपसम नें खायक पिछाणो खय उपसम परिणामिक जांणो॥

१८—जगत् जीव में एक समय में लोकान्त तक जाने की स्वाभाविक शक्ति पायी जाती है। इस प्रकार अत्यन्त शीघ्र गति से गमन करने वाला होने से जीव को 'जगत्' कहा गया है।

१७-जगत्

१९—जंतु जीव जगह-जगह जन्मा है। चौरासी लाख योनियों में वह उत्पन्न हुआ और वहाँ से निकला है। इसलिए इसका नाम जतु है।

१८-जन्तु

२०—योनि जीव अन्य वस्तुओं का उत्पादक है। अपने बुद्धि-कौशल से वह घट, पट आदि अनेक वस्तुओं की रचना करता है। इससे 'योनि' कहलाता है।

१९-योनि

२१—स्वयभूत जीव किसी का उत्पन्न किया हुआ नहीं है। इसी से इसका नाम स्वयभूत है। जीव स्वाभाविक द्रव्य है। वह कभी विलय को प्राप्त नहीं होता।

२०-स्वयंभूत

२२—सशरीरी शरीर में रहने से जीव का नाम सशरीरी है। काले, गोरे आदि की सज्ञा शरीर को लेकर ही है।

२१-सशरीरी

२३—नायक . कर्मों का नायक होने से—अपने सुख-दु ख का स्वय उत्तरदायी होने से जीव का नाम नायक है। जीव न्याय का करने वाला है, विचार कर बात बोलने वाला है।

२२-नायक

२४—अन्तरात्मा समस्त शरीर में व्याप्त रहने से जीव अन्तरात्मा कहलाता है। जीव पुद्गलों में लोलीभूत—लिप्त है जिससे उसका (असली) स्वरूप दब रहा है।

२३-अन्तरात्मा

२५—द्रव्य जीव शाश्वत और एक है। भगवान ने उसके भाव अनेक कहे हैं। लक्षण, गुण और पर्याय भाव कहलाते हैं। जीव के लक्षण, गुण और पर्याय भाव जीव हैं[८]।

लक्षण, गुण, पर्याय भाव जीव

२६—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक—इस तरह जिन भगवान ने पांच भाव बतलाये है। इनके स्वभाव अलग-अलग कहे है।

पांच भावो का वर्णन (२६-३४)

२७—उदे तो आठ कर्म अजीव, त्यांरा उदा सूं नीपना जीव।
ते उदय भाव जीव छै तांम, त्यांरा अनेक जूआ जूआ नांम ॥

२८—उपसम तो मोहणी कर्म एक जब नीपजें गुण अनेक।
ते उपसम भाव जीव छै तांम त्यांरा पिण छै जूआ जूआ नांम ॥

२९—क्षय तो हुवें छै आठ कर्म जब क्षायक गुण नीपजें परम।
ते क्षायक गुण छै भाव जीव ते उजला रहें सदा सदीव ॥

३०—च्यार आवरणी नें मोहणी अंतराय ए च्यारू कर्म क्षयउपसम थाय।
जब नीपजें क्षयउपसम भाव चोखो ते पिण छै भाव जीव निरदोषो ॥

३१—जीव परिणमें जिण जिण भाव मांहि, ते सगला छै त्यारा २ ताहि।
पिण परिणामीक सारा छै तांम, जेहवा तेहवा परिणामीक नांम ॥

३२—कर्म उदें सूं उदे भाव होय ते तो भाव जीव छै सोय।
कर्म उपसमीयां उपसम भाव ते उपसम भाव जीव इण न्याव ॥

३३—कर्म क्षय सूं क्षायक भाव होय ते पिण भाव जीव छै सोय।
कर्म खें उपसम सूं खें उपसम भाव ते पिण छै भाव जीव इण न्याव ॥

३४—अ च्यारूं ई भाव छै परिणामीक ओ पिण भाव जीव छै ठीक।
ओर जीव अजीव अनेक परिणामीक विना नहीं एक ॥

पाँच भावों से जीव के क्या होता है ? (२७-३१)

२७—उदय तो आठ अजीव कर्मों का होता है। कर्मों के उदय से निष्पन्न जीव 'उदय-भाव जीव' है, जिनके अनेक भिन्न-भिन्न नाम हैं।

२८—उपशम एक मोहनीय कर्म का होता है। इसके उपशम से अनेक गुण उत्पन्न होते हैं, जो 'उपशम-भाव जीव' हैं। इनके भी भिन्न-भिन्न नाम है।

२९—क्षय आठ ही कर्मों का होता है। कर्म-क्षय से परम क्षायक गुण उत्पन्न होते हैं, जो 'क्षायक-भाव जीव' हैं। ये सदा उज्ज्वल रहते हैं।

३०—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों का क्षयोपशम होता है, जिससे शुभ क्षयोपशम भाव उत्पन्न होता है। यह भी निर्दोष भाव जीव है।

३१—जीव जिन-जिन भावों में परिणमन करता है, वे सब भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु वे सभी पारिणामिक हैं। परिणाम के अनुसार अलग-अलग नाम हैं।

पाँच भाव कैसे होते हैं ? (३२-३४)

३२—कर्म के उदय से उदय-भाव होता है, जो भाव जीव है। कर्म के उपशम से उपशम-भाव होता है। वह भी भाव जीव है।

३३—कर्म-क्षय से क्षायक भाव और कर्म-क्षयोपशम से क्षयोपशम भाव होता है। ये दोनों भी भाव जीव हैं।

३४—उपर्युक्त (उदय, उपशम, क्षायक और क्षयोपशम) चारों भाव पारिणामिक हैं, पारिणामिक भाव भी भाव जीव है। जीव या अजीव अनेक हे पर उनमें से एक भी पारिणामिक भाव से रहित नहीं है।

३५—ए पांचूंइ भाव में भाव जीव जांणो, त्यांनें इसी रीत पिछांणो।
उपजे नें विले होय जाय, ते भावे जीव तो छै इण न्याय ॥

३६—कर्म संजोग विजोग सूं तेह, भावे जीव नीपनो छै एह।
च्यार भाव तो निश्चे फिर जाय, क्षायक भाव फिर नहीं ताय ॥

३७—द्रव्य तो सासतो छे ताहि, ते तो तीनोंइ काल रे मांहि।
ते तो विले नहीं होय द्रव्य तो ज्यूं रो ज्यूं रहसी सोय ॥

३८—ते तो छेद्यो कदे न छेदावे, भेद्यो पिण कदे नहीं भेदावे।
बाल्यो पिण बले नांहि, बाल्यो पिण न बले अगन मांहि ॥

३९—काट्यो पिण कटे नहीं कांइ, गाले तो पिण गले नांहि।
बांट्यो पिण नहीं बंटाय घस तो पिण नहीं घसाय ॥

४०—द्रव्य असंख्यात प्रदेसी जीव नित रो नित रहसी सदीव।
त मारयो पिण मरे नांहि बधे घटे कद्य नहीं कांइ ॥

४१—द्रव्य तो असंख्यात प्रदेसी त तो सदा ज्यूं रा ज्यूं रहसी।
एक प्रदेस पिण घटे नांहि, तीनूंइ काल रे मांहि ॥

४२—खंडायो पिण न खंडे लिगार, तिण सदा रहे एक धार।
एहवो छ द्रव्य जीव अखंड, भमी थको रहे ए मंड ॥

३५—इन पाँचों ही भावों को भाव जीव जानो। इनको अच्छी तरह पहचानो। जो उत्पन्न होते है और विलीन हो जाते है, वे भाव जीव है।

भाव-जीवो का स्वभाव

३६—ये भाव जीव कर्मो के सयोग-वियोग से उत्पन्न होते हैं। चार भाव तो होकर निश्चय ही फिर जाते हैं। क्षायक भाव होकर नहीं फिरता[९]।

वे कैसे उत्पन्न होते हैं ?

३७—द्रव्य जीव शाश्वत है। वह तीनों काल में होता है। उसका कभी विलय—नाश नहीं होता। वह द्रव्य रूप में सदा ज्यों-का-त्यों रहता है।

द्रव्य जीव का स्वरूप (३७-४२)

३८—वह छेदन करने पर नहीं छिदता—(अच्छेद्य है), भेदन करने पर नही भिदता—(अभेद्य है), और न जलाने पर—अग्नि में डालने पर—जलता ही है।

३९—यह काटने पर नहीं कटता, गलाने पर नहीं गलता, बांटने पर नहीं बटता और न घिसने पर घिसता है।

४०—जीव असख्यात प्रदेशी द्रव्य है। वह सदा नित्य रहता है। वह मारने पर नही मरता, और न थोडा भी घटता-बढ़ता है।

४१—जीव द्रव्य असख्यात प्रदेशी है। उसके प्रदेश सदा ज्यों-के-त्यों—असख्यात ही रहेंगे। तीनों ही काल में इसका एक प्रदेश भी न्यून नहीं हो सकता।

४२—खण्ड करने पर इसके खण्ड नहीं हो सकते, यह सदा एक धार रहता है। यह द्रव्य जीव ऐसा ही अखण्ड पदार्थ है और अनादि काल से ऐसा चला आ रहा है[१०]।

४३—द्रव्य रा भाव अनेक छे ताय, ते तो लक्षण गुण परजाय।
भाव लक्षण गुण परजाय ए च्यारूं भाव जीव छै ताय॥

४४—ए च्यारूं भला नें मूंडा होय, एक धारा न रहे कोय।
केइ खायक भाव रहसी एक धार, जीवपना पखे न घटे लिगार॥

४५—दरबे जीव सासतो जाणो तिण में संका मूल म आंणो।
भगोती सातमा सतक रे मांय, दूजे उदेसे कह्यो जिणराय॥

४६—भावे जीव असासतो जांणो तिण में पिण संका मूल म आंणो।
ए पिण सातमा सतक रे मांय दूजे उदेसे कह्यो जिणराय॥

४७—जेती जीव तणी परजाय, असासती कही जिणराय।
तिण में निरचे भावे जीव जांणो तिणनें रूडी रीत पिछाणो॥

४८—कर्मां रो करता जीव छै तायो तिण सूं आश्रव नाम धरायो।
ते आश्रव छै भाव जीव कर्म लागे ते पुदगल अजीव॥

४९—कर्म रोके छै जीव ताह्या तिण गुण सूं संवर कहायो।
संवर गुण छै भाव जीव रूंकीया छै कर्म पुदगल अजीव॥

५०—कर्म तूटां जीव उजल थाय तिणनें निरजरा कही जिणराय।
ते निरजरा छै भाव जीव तूटें ते कर्म पुदगल अजीव॥

४३—द्रव्य के अनेक भाव है जेमे लक्षण, गुण और पर्याय। भाव, लक्षण, गुण और पर्याय ये चारों भाव जीव है।

द्रव्य जीव के लक्षण आदि सब भाव जीव है

४४—ये चारों अच्छे-बुरे होते है। ये एक धार—एक-से नहीं रहते। कई क्षायक भाव एक धार रहते है, उत्पन्न होने पर फिर नहीं घटते[११]।

क्षायक भाव स्थिर भाव

४५—द्रव्य की अपेक्षा से जीव को शाश्वत जानो। ऐसा भगवान ने भगवती सूत्र के सातवें शतक के द्वितीय उद्देशक में कहा है। इसमें जरा भी शङ्का मत करो।

जीव शाश्वत व अशाश्वत कैसे ? (४५-४६)

४६—भाव की अपेक्षा से जीव को अशाश्वत जानो। ऐसा भगवान ने भगवती सूत्र के सातवे शतक के द्वितीय उद्देशक मे कहा है। इसमे भी जरा भी शङ्का मत करो।

४७—जीव की जितनी पर्यायें है, उन सबको भगवान ने अशाश्वत कहा है। इनको निश्चय ही भाव जीव समझो और भलीभाँति पहचानो[१२]।

सर्व पर्यायें—भाव जीव

४८—जीव कर्मो का कर्त्ता है, इसीलिए आश्रव कहलाता है। आश्रव भाव जीव है तथा जो कर्म जीव के लगते है, वे अजीव पुद्गल हैं।

आश्रव भाव जीव

४९—जीव कर्मो को रोकता है, इस गुण के कारण सवर कहलाता है। सवर गुण भाव जीव है तथा जो कर्म रुकते हैं वे अजीव पुद्गल हैं।

सवर भाव जीव

५०—कर्मो के टूटने पर जीव (अश रूप से) उज्ज्वल होता है। जिन भगवान ने इसे निर्जरा कहा है। निर्जरा भाव जीव है और जो कर्म टूटते हैं वे अजीव पुद्गल हैं।

निर्जरा भाव जीव

५१—समस्त कर्मां सूं जीव मूकायो, तिण सूं तो जीव मोख कहायो।
मोख ते पिण छ भाव जीव, मूकीया गया कर्म अजीव ॥

५२—सबदादिक काम नें भोग तेहनो करे सजोग।
ते तो आश्रव छै भाव जीव, तिण सूं लागे छै कर्म अजीव ॥

५३—सबदादिक काम नें भोग त्यांनें त्यागे नें पाडे विजोग।
ते तो संवर छै भाव जीव तिण सूं रूकीया छै कर्म अजीव ॥

५४—निरजरा नें निरजरा री करणी, ए दोनूंइ जीव नें आदरणी।
ए दोनूं छै भाव जीव, तूटां नें तूटें कर्म अजीव ॥

५५ काम भोग सूं पामें आरामो ते संसार थकी जीव रहामो।
ते तो आस्रव छ भाव जीव तिण सूं लागें छै कम अजीव ॥

५६—काम भोग थकी नेह तूटो ते ससार थकी छ अपूठो।
ते सवर निरजरा भाव जीव, रुक रुकें तूटें कर्म अजीव ॥

५७—सावद्य करणी सव अकार्य अ तो सगला छै किरतब अनार्य।
ते सगलाइ छै भाव जीव त्यांसूं लागे छै कम अजीव ॥

५८—जिण आगन्या पाले छै रूडी रीत ते पिण भाव जीव सुवनीत।
जिण आगन्या लोपे चाले कूरीत ते तो छै भाव जीव अनीत ॥

५१—जीव का समस्त कर्मों से मुक्त हो जाना ही उसका मोक्ष कहलाता है। मोक्ष भी भाव जीव है। जीव का जिन कर्मों से छुटकारा हुआ वे अजीव पुद्गल हैं।

मोक्ष भाव जीव

५२—शब्दादिक कामभोगों का जो सयोग करता है, वह आश्रव भाव जीव है। इससे जो कर्म आकर लगते है, वे अजीव है।

आश्रव, सवर, निर्जरा—इन भाव जीवो का स्वरूप (५२-५४)

५३—शब्दादिक कामभोगों को त्याग कर उन्हे अलग करना यह सवर भाव जीव है। इससे अजीव कर्मो का प्रवेश रुकता है।

५४—निर्जरा और निर्जरा की करनी, जो दोनों ही जीव द्वारा आदरणीय हैं, भाव जीव है। क्षय अजीव कर्मो का हुआ या होता है।

५५—जो जीव कामभोगों में सुखानुभव करता है, वह ससार के सम्मुख है। वह आश्रव भाव जीव है। उससे अजीव कर्म लगते हैं।

ससार की ओर जीव की सम्मुखता व विमुखता (५५-५६)

५६—कामभोगों से जिसका स्नेह टूट गया, वह ससार से विमुख है। वह सवर और निर्जरा भाव जीव है। सवर और निर्जरा से अजीव कर्म क्रमश रुकते और टूटते है[13]।

५७—सर्व सावद्य कार्य अकृत्य है—अनार्य कर्त्तव्य हैं। ये सब भाव जीव हैं। इनसे अजीव कर्म आते और लगते है।

सर्व सावद्य कार्य—भाव जीव

५८—जो जिन-आज्ञा का अच्छी तरह से पालन करता है, वह सुविनीत भाव जीव है और जो जिन-आज्ञा का उल्लंघन कर कुराह पर चलता है, वह अनीतिवान भाव जीव है[14]।

सुविनीत अविनीत भाव जीव

५९—सूरवीरा संसार रे माँहीं किणरा डराया डरें नाँही।
ते पिण छें भाव जीव संसारी ते तो हुवो अनंती वारी॥

६०—साचा सूरवीर साख्यात ते तो कर्म काटें दिन रात।
ते पिण छें भाव जीव चोखो दिन दिन नेड़ो करे छें मोखो॥

६१—कहि कहि नें कितोएक केहूं द्रव्य नें भाव जीव छे केहूं।
यांनें इणहीज रीत पिछांणो छें ज्यूं रा ज्यूं हीया माँहें आंणो॥

६२—द्रव्य भाव ओलखावणी ताम जोड़ कीधी श्रीदुवारे सुठांम।
समत अठारे पचावनों वरस, चत विद तिथ तेरस॥

पाठान्तर :

१ क हस्तलिखित प्रति : १ 'धर्मम् मिथ्या' के बाद 'छे और है।

५६—ससार मे वे शूरवीर कहलाते हे जो किसी के डराये नहीं डरते। वे भी ससारी भाव जीव है। प्राणी अनन्त बार ऐसा वीर हुआ है।

लौकिक और आध्यात्मिक भाव जीव

६०—सच्चे शूरवीर वे हे जो दिन-रात कर्मो को काटते हैं। वे शुभ भाव जीव है। वे दिन-प्रति-दिन मोक्ष को नजदीक कर रहे है[15]।

उपसहार

६१—मे कह कर कितना कह सकता हूँ। द्रव्य जीव और भाव जीव दोनों को अच्छी तरह पहचानो और हृदय में यथातथ्य रूप से जानो।

६२—द्रव्य और भाव जीव को अवलक्षित कराने वाली यह जोड श्रीजीद्वार मे स० १८५५ की चैत वदी १३ के दिन सम्पूर्ण की है।

टिप्पणियाँ

१—वीर प्रभु

वीर प्रभु अर्थात् तीर्थङ्कर महावीर। आपका जन्म 'आर्य'—ज्ञातृ नामक क्षत्रिय राजवंश में हुआ था। आप काश्यप गोत्रीय थे। आपके पिता का नाम राजा सिद्धार्थ था। आपका जन्म वैशाली नगरी के राजा चेटक की बहिन वाशिष्ठ गोत्री त्रिशला देवी की कुक्षि से हुआ था। कतियों की मान्यता है कि महावीर पहले ऋषभदत्त ब्राह्मण के घर देवानन्दा ब्राह्मणी की कोख में अवतरित हुए थे, परन्तु एक देव विशेष ने बाद में उन्हें त्रिशला देवी की कुक्षि में धर दिया था। आपका जन्म वैशाली नगरी के क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश में जो कि ब्राह्मण कुण्डपुर के उत्तर की ओर पड़ता था चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। जब से आप त्रिशला देवी की कुक्षि में आये तब से कुल में धन-धान्य सोने चाँदी आदि की विशेष वृद्धि होने से माता-पिता ने आपका नाम वर्द्धमान रक्खा। आपके चाचा का नाम सुपार्श्व ज्येष्ठ भाई का नाम नन्दिवर्द्धन और बड़ी बहिन का नाम सुदर्शना था। आपकी भार्या का नाम यशोदा था जो कौण्डिन्य गोत्री थी। आपके एक पुत्री हुई थी जिसका नाम प्रियदर्शना था। एक दौहित्री भी थी जिसका नाम यशोमती था।

महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ भगवान की परम्परा के श्रमणों के अनुयायी श्रावक थे। उन्होंने बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक धर्म का पालन कर अन्त में संलेखना कर देह-त्याग किया था।

माता पिता के दिवंगत होने के बाद महावीर ने दीक्षा लेने का विचार किया परन्तु बड़े भाई नन्दिवर्द्धन के आज्ञा न देने और उनके आग्रह से वे दो वर्षों तक और गृहस्थाश्रम में रहे। बाद में १ वर्ष की पूर्ण यौवनावस्था में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। आपकी दीक्षा विजय मुहूर्त में उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के योग में मार्गशीर्ष बदी १ के दिन क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश के बाहर ज्ञातृवंशी क्षत्रियों के वनखण्ड उद्यान में हुई। महावीर ने सर्व अलंकार उतार डाले तथा दायें हाथ से दाईं और बायें हाथ से बाईं ओर के केशों की पंचमुष्टि लोंच की अर्थात् अपने हाथ से अपने सर्व केश उखाड़ डाले। फिर पूर्वाभिमुख हो सिद्धों को नमस्कार कर व्रत ग्रहण किया— मैं सर्व सावद्य कार्यों का

त्याग करता हूँ। अब से मैं कोई भी पाप नही करूँगा।" इस प्रकार भगवान ने यावज्जीवन के लिये उत्तम सामायिक चारित्र—साधु-जीवन अङ्गीकार किया।

इसके वाद श्रमण महावीर शरीर-ममता को त्याग बारह वर्षों तक दीर्घ तपस्या करते रहे। वे अपने रहन-सहन मे वडे सयमी थे। तप, सयम, ब्रह्मचर्य, क्षांति, त्याग, सन्तोष आदि गुणाराधन में सर्वोत्तम पराक्रम प्रगट करते हुए तथा उत्तम फल वाले मुक्ति-मार्ग द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। सुख-दु ख, उपकार-अपकार, जीवन-मृत्यु, आदर-अपमान सब में वे समभाव रखते थे। श्रमण महावीर ने देव, मनुष्य और पशु-पक्षियो के अनेक भयानक उपसर्ग अमलीन चित्त, अव्यथित हृदय और अदीन भाव से सहन किये। मन, वचन और काया पर पूर्ण विजय प्राप्त की।

श्रमण महावीर ने बारह वर्षों तक ऐसा ही घोर तपस्वी-जीवन बिताया। तेरहवें वर्ष, ग्रीष्म ऋतु मे, वैशाख सुदी १० के दिन, विजय मुहूर्त्त मे, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के योग के समय जृम्भक नामक ग्राम के बाहर, ऋजुवालिका नदी के उत्तर किनारे, श्यामाक नामक गृहस्थ के खेत में व्यावृत नामक चैत्य के ईशान कोने में शाल वृक्ष के पास, श्रमण महावीर गोदोहासन मे ध्यानस्थ हुए धूप में तप कर रहे थे। उस समय वे दो दिन के निर्जल उपवासी थे। शुद्ध शुक्ल ध्यान में उनकी आत्मा लीन थी। ऐसे समय उनको परिपूर्ण, अनन्त, निरावरण, सर्वोत्तम केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त हुए। इस तरह श्रमण महावीर अपने पुरुषार्थ से अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ हुए और सर्व भावदर्शी कहलाने लगे। अपने अनुपम ज्ञान से भगवान ने सर्व पदार्थों के स्वरूप को जानकर जन कल्याण और प्राणी हित के लिये उत्तम सयम धर्म का प्रकाश किया। भगवान जैनियो के २४ वें तीर्थङ्कर हुए और इस अर्थ मे जैन-धर्म के अन्तिम प्ररूपक और उद्योतक हुए। इसी कारण उन्हें जिन-शासन का अधिपति कहा गया है।

२—गणधर गौतम :

भगवान महावीर के सघ में १४००० साधु थे। भगवान ने इन साधुओ को गणो में—समूहो में बाँट दिया था, और उनके सचालन का भार अपने ग्यारह प्रधान शिष्यो को दिया था। गण-सचालक होने से ये शिष्य गणधर कहलाते थे। इन्द्र—भूति गौतम भगवान महावीर के प्रमुख्य शिष्य और उनके ग्यारह गणधरो मे प्रधान थे। वे जाति के ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम वसुभूति और माता का नाम पृथिवी था। उनकी जन्मभूमि राजगृह के नजदीक ही थी। वे वेदो के बहुत बडे विद्वान थे। उनकी

शिष्य-मण्डली बहुत बड़ी थी। एक बार अपापा नगरी में सोमिल नाम के एक धनी ब्राह्मण ने यज्ञ किया जिसमें उसने गौतम सुधर्मा आदि उस समय के ग्यारह सुप्रसिद्ध वेदविद्-ब्राह्मणों को निमन्त्रित किया। इसी अरसे में भगवान महावीर भी विचरते हुए उस जगह आ पहुँचे। भगवान के दर्शन के लिये जनता उमड़ पड़ी। यज्ञ-स्थान छोड़कर लोग उनके दर्शन के लिये जाने लगे। उनका यह आदर और प्रभाव गौतम को सहा नहीं हुआ और वे उन्हें तत्त्व चर्चा में हराने के लिये उनके पास गये। भगवान महावीर अपने ज्ञान-बल से गौतम की शंका पहले से ही जान चुके थे। दर्शन करते ही गौतम की शंकाओं का निराकरण कर दिया। विस्मित गौतम ने अपने शिष्यों सहित तीर्थंकर भगवान महावीर की शरण ली और उनके संघ में शामिल हो गये। महावीर ने उन्हें गणधर बनाया। उन्होंने जीवनपर्यन्त बड़े उत्कृष्ट भाव से भगवान महावीर की पर्युपासना की। भगवान के प्रति भक्ति-जन्य मोह के कारण उन्हें शीघ्र केवलज्ञान प्राप्त न हो सका। अपने जीवन के शेष दिन भगवान ने गौतम को दूर भेज दिया। निर्वाण समय दूर रहने से गौतम उनसे मिल न सके। जिससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे मोह-विह्वल हो विलाप करने लगे। ऐसा करते-करते ही उनका ध्यान फिरा। निर्मोही भगवान के प्रति इस मोह की निरर्थकता वे समझ गये। वे अपनी मोह-विह्वलता के लिये पश्चात्ताप करने लगे। ऐसा करते ही अज्ञान के बादल फटे और उन्हें निरावरण केवलज्ञान प्राप्त हुआ। गौतम प्रभु भगवान महावीर के निर्वाण के बाद कोई १२ वर्ष तक जीवित रहे। वे बड़े ज्ञानी ध्यानी भद्र और तपस्वी मुनि थे।

अनवरत गौतम भगवान महावीर से नाना प्रकार के तात्त्विक प्रश्न करते रहते और भगवान उनका ज्ञान-गंभीर उत्तर देते। तत्त्वों का सारा ज्ञान इसी तरह के संवादों से सामने आया। भगवान से तत्त्व खुलासा करवाने में गणधर गौतम का सर्व प्रधान हाथ रहा। इसीलिये नव तत्त्वों की चर्चा करते हुए स्वामी जी द्वारा तीर्थंकर महावीर के साथ उन्हें भी नमस्कार किया गया है (दोहा दो १ २)।

३—नव पदार्थ

पदार्थ का अर्थ है—सद् वस्तु। नव पदार्थों के नाम इस प्रकार है[१]:

१ जीव	४ पाप	७ बंध
२ अजीव	५ आश्रव	८ निर्जरा
३ पुण्य	६ संवर	९ मोक्ष

१—ठाणाङ्ग ९. ६६५ : नव सब्भावपयत्था प० तं जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो णिज्जरा बंधो मोक्खो

इस पुस्तक में क्रमश इन्ही नव पदार्थो का वर्णन है।

स्वामीजी ने द्वितीय दोहे मे इन नवो पदार्थो का भलीभांति ज्ञान प्राप्त करने पर जोर दिया है। इसका हेतु यह है ज्ञान से पदार्थो के विपय का सशय दूर होता है। सशय दूर होने से तत्त्वो में शुद्ध श्रद्धा होती है। शुद्ध श्रद्धा होने से मनुष्य नया पाप नही करता। जब वह पापो का नवीन प्रवाह—आस्रव रोक देता है तब वह सवृत्त आत्मा हो जाता है। सवृत्त आत्मा तप के द्वारा सचित कर्मों का क्षय करने लगता है और क्रमश सर्व कर्म क्षय कर अन्त मे मोक्ष प्राप्त करता है[1]।

नव पदार्थो के ज्ञान विना जीव की क्या हानि होती है, उसका वर्णन चतुर्थ दोहे में है।

जो मनुष्य इन नव पदार्थो की भलीभांति जानकारी नही करता उसका सशय दूर नही होता। विना सशय दूर हुए निष्ठा उत्पन्न नही होती। निष्ठा विना मनुष्य पाप से नही बचता। जो पाप से नही बचता उसके नये कर्मो का प्रवेश नही रुकता। जिसके नये कर्मो का प्रवेश नही रुकता उसका भव-भ्रमण भी नही मिटता। आगम मे कहा है "सच्ची श्रद्धा बिना चरित्र सभव नही है, श्रद्धा होने से ही चरित्र होता है। जहाँ सम्यक्त्व और चरित्र युगवत् होते—एक साथ होते हैं, वहाँ पहले सम्यक्त्व होता है। जिसके श्रद्धा नही है, उसके सच्चा ज्ञान नही होता। सच्चे ज्ञान विना चारित्र-गुण नही होते। चारित्र-गुणो के बिना कर्म-मुक्ति नही होती और कर्म-मुक्ति के बिना निर्वाण नही होता[2]।"

१—उत्त० २८ २, ३५

नाण च दसण चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गु त्ति पन्नत्तो जिणेहि वरदसिहि॥
नाणेण जाणई भावे दसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई॥

२—उत्त० २८ २९, ३०

नत्थि चरित्त सम्मतविहूण दसणे उ भइयव्व।
सम्मतचरित्ताइ जुगव पुव्व व सम्मत्त॥
नादसणिस्स नाण नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण॥

४—समकित (सम्यक्त्व)

पदार्थों में तत्त्वों में वस्तुओं में सम्यक्—यथातथ्य श्रद्धा प्रतीति रुचि दृष्टि या विश्वास का होना समकित अथवा सम्यक्त्व है। मोक्ष-मार्ग में मनुष्य प्रमुख रूप से किन-किन बातों में विश्वास रखे यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यहाँ इसका कुछ विशद विवेचन किया जाता है।

यह संसार एक तत्त्वमय वस्तु है। यह कोई माया भ्रम या कल्पना नहीं। संसार का अस्तित्व है—उसकी सत्ता है। लोक-रचना और व्यवस्था में केवल दो पदार्थ (सद्भूत वस्तु) एक जीव और दूसरे अजीव का हाथ है। अजीव पदार्थ पाँच हैं—(१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय (४) काल और (५) पुद्गल। आकाश अनन्त है। इस अनन्त आकाश के जितने क्षेत्र में जीव और अजीव पदार्थ रहते हैं, उसे विश्व या लोक कहते हैं। इस लोक के बाद अलोक है जिसमें शून्य आकाश है[1]।

जीव चेतन पदार्थ है[2]। पुद्गल जड़ पदार्थ है। इनके स्वभाव एक दूसरे से बिलकुल भिन्न—विपरीत हैं। अनादि काल से जीव और अजीव पुद्गल (कर्म) दूध और पानी की तरह एक क्षेत्रावगाही—परस्पर ओतप्रोत हो रहे हैं। इस प्रकार कर्मों के साथ—जड़ पदार्थ के साथ बंधा हुआ जीव नाना प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव करता है। जिन कर्मों का बन्धन फलावस्था में दुःख का कारण है, वे पाप कहलाते हैं। जिनका बंधन सांसारिक सुखों का कारण है वे कर्म पुण्य कहलाते हैं। मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद,

---

१—उत्त० ३६ : २

> जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए।
> अजीवदेसमागासे अलोगे से वियाहिए॥

उत्त० २८ : ७

> धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल-जन्तवो।
> एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥

२—उत्त० २८ : १०

> × × × जीवो उवओगलक्खणो।
> नाणेणं दंसणेणं च सुहेण य दुहेण य॥

कषाय और योग—ये आश्रव हैं। इन कर्म-हेतुओ से जीव-प्रदेशो मे नये कर्मो का प्रवाह होता रहता है। चेतन जीव और जड पुद्गल एक दूसरे से गाढ सम्बन्धित होने पर भी अपने-अपने स्वभाव को नही छोडते—चेतन चेतन स्वभाव को नही छोडता और जड जड स्वभाव को नही छोडता। अपने-अपने स्वभाव को हर अवस्था में कायम रखने से इन पदार्थो की सत्ता हमेशा रहती है, जिससे परस्पर ओतप्रोत हुए पदार्थो का पृथक्करण भी हर समय सभव है। जीव और पुद्गल का परस्पर आत्यन्तिक वियोग कर देना ही मोक्ष है। जीव को जड कर्मों से मुक्त करना सभव है। मुक्त करने का उपाय सवर और निर्जरा है। नये कर्मो के प्रवेश को रोकना सवर और सचित कर्मो को आत्म-प्रदेशो से झाड देना निर्जरा है।

लोक है, अलोक है, लोक मे जीव हैं, अजीव हैं, ससारी जीव कर्मों से वेष्ठित—बद्ध है, वह सुख-दु खो का भोग करता है। वह नये कर्मो का उपार्जन भी करता है। कर्मों से मुक्त होने का जो उपाय है, वह सवर और निर्जरामय धर्म है। इस प्रकार नवो पदार्थ में—सद्भाव वस्तुओ में से प्रत्येक में आस्था रखना—दृढ प्रतीति करना—समकित, सम्यक्-दर्शन अथवा सम्यक्त्व कहलाता है

जीवाजीवा य बन्धो य पुण्ण पापासवा तहा।
सवरो निज्जरा मोक्खो सन्तए तहिया नव ॥ १४ ॥
तहियाणं तु भावाण सब्भावे उवएसण।
भावेण सद्दहन्तस्स सम्मत्त त वियाहिय ॥ १५ ॥

—उत्तराध्ययन अ० २८

स्वामीजी ने चतुर्थ दोहे में ऐसे सम्यक्त्व रखनेवाले को ही सम्यक्-दृष्टि कहा है। जो मनुष्य उपर्युक्त नव सद्भाव पदार्थों के सम्यक् ज्ञान के द्वारा सम्यक् श्रद्धा प्राप्त कर लेता है उसका चरित्र भी कभी-न-कभी अवश्य सम्यक् हो जाता है। इस तरह सम्यक् दृष्टि जीव सम्यक् ज्ञान और सम्यक् श्रद्धा को प्राप्त करते ही मुक्ति का शिलान्यास कर डालता है। मुक्ति प्राप्त करना अब उसके लिये केवल काल सापेक्ष होता है।

५—जीव पदार्थ :

जैन दर्शन आत्मवादी है। वह आत्मा के अस्तित्व को मानता है और उसे एक स्वतन्त्र तत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठित करता है। नव पदार्थों में प्रथम पदार्थ जीव है। जीव को पदार्थ—स्वय अवस्थित तत्त्व—मानने में निम्नलिखित दलीलें हैं

(१) मैं सुखी हूँ' मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार का जो अनुभव होता है, वह आत्मा के बिना नहीं हो सकता। यदि ऐसा मान लिया जाय कि शरीर से ही यह अनुभव होता है तब प्रश्न यह खड़ा होता है कि जब हम निद्रावस्था में होते हैं तब यह अनुभव किस के सहारे होता है? यदि आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न न होते तो इन्द्रियों के सुषुप्त रहने पर ऐसा अनुभव होना संभव न होता। इसलिए यह मानना पड़ता है कि आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

(२) आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है, यह बात इससे भी सिद्ध है कि इन्द्रियों के द्वारा जिस बात या चीज का ज्ञान होता है—वह ज्ञान इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी बना रहता है। यह तभी संभव हो सकता है जब कि इन्द्रियों से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ हो जो इस ज्ञान को स्थायी रूप से रख सकता हो अर्थात् इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान जिसमें स्मृति रूप से रहता है, वही आत्म पदार्थ है और वह इन्द्रियों से भिन्न है। यदि इन्द्रियाँ ही आत्मा हों, तो उनके नष्ट होने से उनके जरिये प्राप्त ज्ञान भी नष्ट होता परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। ज्ञान तो इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी रहता है। इस तरह ज्ञान का जो आधार है वह आत्म पदार्थ है। इन्द्रियों के ज्ञान की सीमा हो सकती है परन्तु जिसके ज्ञान की सीमा नहीं होती—ऐसा जो अनुभवज्ञान या ज्ञानवान पदार्थ है वही आत्मा या जीव है।

(३) एक और तरह से भी आत्मा का इन्द्रियों से पृथक्त्व सिद्ध किया जा सकता है। यह सबके अनुभव में आता है कि कभी-कभी आँखों के सामने से कोई चीज गुजर जाती है तो भी उसका अनुमान तक नहीं होता कानों के पास में शब्द होते रहने पर भी हम उसको सुन नहीं पाते। आवश्यक इन्द्रियों के रहने पर भी ऐसा क्यों होता है? इसका कारण यह है कि इन्द्रियों के अतिरिक्त एक और पदार्थ है जो इन्द्रियों के काम में सहायक होता है। बिना इस पदार्थ की सहायता के देहादि अपना कार्य नहीं कर सकते। जब इस पदार्थ का ध्यान किसी दूसरी ओर रहता है—अर्थात् अमुक चीज को देखने या सुनने आदि की ओर से उसकी उपेक्षा रहती है तब इन्द्रियाँ विद्यमान रहने पर भी प्रवृत्ति नहीं कर सकतीं। इस प्रकार जिसके और करने से इन्द्रियाँ काम करती हैं वह पदार्थ इन्द्रियों से भिन्न है और वही आत्मा या जीव है।

(४) प्रत्येक इन्द्रिय को अपने-अपने विषय का ही ज्ञान होता है, परन्तु जिसको सब इन्द्रियों के विषय का ज्ञान होता है वही आत्म-पदार्थ है।

(५) जो आँखो से नही देखा जाता परन्तु खुद ही आँखो की ज्योति स्वरूप है, जिसके रूप तो नही है परन्तु जो खुद रूप को जानता है, वही आत्म-पदार्थ है।

(६) जिसका प्रकट लक्षण चैतन्य है और जो अपने इस गुण को किसी भी अवस्था में नही छोडता है, जो निद्रा, स्वप्न और जाग्रत अवस्था मे सदा इस गुण से जाना जाता है— वही आत्मा या जीव है।

(७) यदि जानी जाने वाली घट, पट आदि चीजो का होना वास्तविक है तो उनको जानने वाले आत्म-पदार्थ का अस्तित्व कैसे न होगा ?

(८) जिस वस्तु मे जानने की शक्ति या स्वभाव नही है वह जड है और जानना जिसका सदा स्वभाव है वह चैतन्य है। इस प्रकार जड और चैतन्य दोनो के भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं, और वे स्वभाव कभी एक न होंगे। दोनो की भिन्नता इन वातो से अनुभव में आती है कि तीनो कालो में जड, जड बना रहेगा और चैतन्य, चैतन्य। (इन दलीलो की विस्तृत चर्चा के लिये देखें 'रायपसेणइय सुत्त', 'जैन दर्शन' और 'आत्म-सिद्धि' नामक पुस्तकें।)

स्वामीजी पाँचवें दोहे मे इसी जीव पदार्थ का विवेचन करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

६—द्रव्य जीव और भाव जीव (गा० १-२):

चतुर्थ टिप्पणी मे यह बताया जा चुका है कि लोक में षट् वस्तुएँ हैं— (१) जीवास्तिकाय, (२) धर्मास्तिकाय, (३) अधर्मास्तिकाय (४) आकाशास्तिकाय, (५) काल और (६) पुद्‌गलास्तिकाय। इन वस्तुओ को जैन परिभाषा मे द्रव्य कहते हैं।

इन छहो द्रव्यो में से प्रत्येक के अलग-अलग गुण या धर्म हैं। गुण द्रव्य को पहचानने के लक्षण हैं। जिस तरह आजकल विज्ञान मे जड पदार्थों को जानने के लिये प्रत्येक की अलग-अलग लक्षणावली (properties) वतलाई जाती है उसी प्रकार भगवान महावीर ने ससार के मूलाधार द्रव्यो के पृथक-पृथक लक्षण वतलाये हैं।

द्रव्य क्या है ?—जो गुणो का आश्रय हो, जिसके आश्रित होकर गुण रहते हैं वह द्रव्य है। और गुण क्या है ?—एक एक द्रव्य मे ज्ञानादि रूप जो धर्म रहे हुए हैं वे गुण हैं[1]।

१—उत्त० २८ : ६

गुणाणमासओ दव्व एगदव्वस्सिया गुणा।

जीव चैतन्य-गुण से संयुक्त है इसलिये द्रव्य है। चेतना जीव पदार्थ में ही होती है अतः यह उसका धर्म और गुण है।

जीव का लक्षण उपयोग है, यह बताया जा चुका है (टि० ४ पा० टि० २)। उपयोग का अर्थ है जानने तथा देखने की शक्ति। जीव में देखने और जानने की अनन्त शक्ति है।

यह अकृत्रिम पदार्थ है। जीव के विश्लेषण से उसमें से कोई दूसरा पदार्थ नहीं निकलता। यह अखण्ड द्रव्य है। इसके टुकड़े नहीं किये जा सकते।

जड़ पदार्थ पुद्गल के टुकड़े करने संभव हैं और टुकड़े करते करते एक सूक्ष्मतम टुकड़ा मिलता है, उसको परमाणु कहते हैं। यह अकेला स्वतंत्र और अन्तिम—अविभाज्य भाग होता है। परमाणु जितने स्थान को रोकता है उतने को एक प्रदेश कहते हैं। जीव इस माप से असंख्यात प्रदेशी होता है। असंख्यात प्रदेशों का अखण्ड समूह होने से जीव को अस्तिकाय कहा जाता है। अखण्ड पदार्थ होने से जीव का एक भी प्रदेश उससे अलग नहीं किया जा सकता—अर्थात् वह सदा असंख्यात प्रदेशी रहता है। प्रथम ढाल-गाथा में यही बात संक्षेप में कही गई है।

जीव अनन्त हैं परन्तु सर्व जीव वस्तुतः सदृश हैं और इसलिए सभी एक 'जीव द्रव्य' की कोटि में समा जाते हैं। जितने जीव हैं उतनी ही आत्माएँ हैं। प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है और स्वानुभव करता है परन्तु द्रव्य की दृष्टि से सब एक हैं क्योंकि सबमें चैतन्य गुण समान है।

अतः द्रव्यतः जीव एक है। संख्या की दृष्टि से जीव अनन्त हैं। उनकी अनन्त संख्या में न कभी वृद्धि होती है, न कभी ह्रास।

जीव का चेतन गुण उसका खास और अन्य द्रव्यों से पृथक् गुण है। द्रव्यों के गुण अपरिवर्तनशील होते हैं। जीव का चेतन गुण कभी अजीव द्रव्य में न होगा और न अजीव द्रव्य का अचेतन या जड़ गुण जीव पदार्थ में होगा। गुणों में परस्पर अपरिवर्तनशील होने से ही द्रव्यों की संख्या ६ हुई है। द्रव्य अपने गुणों से अलग नहीं हो सकता और न गुण ही द्रव्य बिना रह सकते हैं। इस तरह जीव द्रव्य शाश्वत है—चिरंतन है। द्रव्य जीव पर विचार-विवेचन बाद में ढाल गा० १७-४२ में है।

सोने के आधार से जैसे कंठा कड़ा आदि नाना प्रकार के अलंकार बनते हैं, वैसे ही द्रव्य जीव के आधार से उसकी नाना अवस्थायें होती हैं। इन्हें भाव (Modifications) कहते हैं। जीव के जितने भाव हैं वे सब भाव जीव कहलाते हैं। द्रव्य जीव एक होता है और भाव जीव अनेक।

७—जीव के २३ नाम (गा० ३-२४):

भगवती सूत्र के २० वें शतक के २ रे उद्देशक का पाठ, जिसमे जीव के नाम बत-लाये गये हैं, इस प्रकार है :

"गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पन्नत्ता, त जहा—जीवे ति वा, जीवत्थिकाये ति वा, पाणे ति वा, भूए ति वा, सत्ते ति वा, विन्नू ति वा, चेया ति वा, जेया ति वा, आया ति वा, रगणा ति वा, हिंडुए ति वा, पोग्गले ति वा, माणवे ति वा, कत्ता ति वा, विकत्ता ति वा, जए ति वा, जतु ति वा, जोणी ति वा, सयभू ति वा, ससरीरी ति वा, नायए ति वा, अतरप्पा ति वा, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते जाव-अभिवयणा ।"

इस पाठ के अनुसार जीव के २२ अभिवचन ही होते हैं। स्वामीजी के सामने भगवती सूत्र का जो आदर्श था, उसमे २३ नाम प्राप्त थे। उपर्युक्त पाठ मे वेय (वेद, वेदक) नाम नही मिलता। भगवती सूत्र शतक २ उ० १ के आधार पर कहा जा सकता है कि जीव का एक अभिवचन वेद—वेदक भी रहा।

जीव के इन नामो से जीव-सम्बन्धी अनेक बातो की जानकारी होती है। ये नाम गुणनिष्पन्न हैं—जीव के गुणो को भलीभाँति प्रकट करते हैं।

स्वामीजी ने ४ से २४ तक की गाथाओ में इन २३ नामो का अर्थ स्पष्ट किया है। यहाँ सक्षेप में उनपर विवेचन किया जाता है।

(१) जीव (गा० ४) स्वामीजी ने जीव की जो परिभाषा दी है उसका आधार भगवती सूत्र (२ १) का यह पाठ है "जम्हा जीवेति, जीवत्त, आउय च कम्म उपजीवति तम्हा 'जीवे'त्ति वत्तव्व सिया।" अर्थात् जीता है, जीवत्व और आयुष्य कर्म का अनुभव करता है, इससे प्राणी का नाम जीव है। जीने का अर्थ है प्राणो का धारण करना[1]। जीवत्व का अर्थ है उपयोग—ज्ञान और दर्शन सहित होना[2]। आयुष्य कर्म के अनुभव का अर्थ है निश्चित जीवन-अवधि का उपभोग। जितने भी ससारी जीव हैं सब प्राण सहित होते हैं। ज्ञान और दर्शन तो जीव मात्र के स्वाभाविक गुण हैं। हर एक प्राणी की अपनी-अपनी आयुष्य होती है। इस तरह जीते रहने से प्राणी जीव कहलाता है।

(२) जीवास्तिकाय (गा० ५) 'अस्ति' का अर्थ है 'प्रदेश'। 'प्रदेश' का अर्थ है वस्तु का वह कल्पित सूक्ष्मतम भाग, जिसका फिर भाग न हो सके। काय का अर्थ है 'समूह'।

१—जीवति प्राणान् धारयति (अ-भ० टीका)

२—जीवत्वम् उपयोगलक्षणम् (अ-भ० टीका)

जो प्रदेशों का समूह हो—उसे अस्तिकाय कहते हैं। जीव एक स्वतन्त्र पदार्थ है—यह ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। जीव स्वतन्त्र रूप से विद्यमान है और असंख्यात प्रदेशों का समूह है, इसलिये जीवास्तिकाय कहलाता है। जीव अपने कर्मानुसार अनेक देह धारण करता है परन्तु छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े शरीर में भी उसके असंख्यात प्रदेशीपन में कमी या अधिकता नहीं होती। चींटी और हाथी दोनों के जीव असंख्यात प्रदेशी हैं[1]।

(३) प्राण (गा॰ ६) स्वामीजी की परिभाषा भगवती सूत्र २।१ के पाठ पर आधारित है। वह पाठ इस प्रकार है "जम्हा आणमइ वा, पाणमइ वा उस्ससइ वा नीससइ वा तम्हा 'पाणे' त्ति वत्तव्वं सिया।" जीव श्वास निःश्वास लेता है इससे वह प्राणी है। 'प्राणी' शब्द का दूसरा अर्थ इस प्रकार है जैन धर्म में दस जीवन शक्तियाँ मानी गई हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रिय[2]-बल प्राण (२) चक्षुरिन्द्रिय-बल प्राण (३) घ्राणेन्द्रिय[3]-बल प्राण (४) रसनेन्द्रिय-बल प्राण (५) स्पर्शनेन्द्रिय-बल प्राण (६) मन-बल प्राण, (७) वचन-बल प्राण (८) काया-बल प्राण (९) श्वासोच्छ्वास-बल प्राण और (१) आयुष्य-बल प्राण। प्रत्येक संसारी जीव में कम-अधिक संख्या में ये प्राण शक्तियाँ मौजूद रहती हैं। सीमित आयु, श्वासोच्छ्वास की शक्ति पाँचों इन्द्रियों में से कम-से-कम स्पर्शनेन्द्रिय मन वचन और शरीर में से एक शरीर बल इस तरह कम-से-कम चार जीवन-शक्तियाँ तो वनस्पति आदि स्थावर जीवों के भी हर समय मौजूद रहती ही हैं। इन बलों प्राणों जीवन-शक्तियों का धारण करना ही जीवन है और चूंकि कम-से-कम ४ प्राण बिना कोई संसारी जीव नहीं होता अतः सब जीव प्राणी हैं।

(४) भूत (गा १) इसकी आगमिक परिभाषा इस रूप में है "जम्हा भूते, भवति भविस्सति य तम्हा 'भूए' त्ति वत्तव्वं सिया (भग २।१)।" था है और रहेगा—जीव का ऐसा स्वभाव होने से वह भूत कहलाता है। स्वामी जी की परिभाषा भी यही है। 'भवन' धर्म की विवक्षा से जीव भूत है।

जीव सदा जीवित रहता है। वह कभी मरता नहीं। किसी भी काल में जीव अपने चैतन्य स्वभाव को नहीं छोड़ता। इसलिए सर्व जीव अपने चैतन्य स्वभाव में सदा जीवित रहते हैं। चेतन स्वभाव को छोड़ना जीव द्रव्य के लिए सम्भव नहीं इसलिए उसका मरण

१—भगवती ७.८ २—कान ३—नाक

भी सम्भव नही। आत्मा को 'भूत' इसी हेतु से कहा गया है। जीव कभी अजीव नही हो सकता—यही उसका भूतत्व है।

(५) सत्त्व (गा० ६) भगवती सूत्र २ १ में सत्त्व की परिभाषा इस प्रकार मिलती है—"जम्हा सत्ते सुभाऽसुभेहिं कम्मेहिं तम्हा 'सत्ते' ति वत्तव्व सिया।" टीकाकार अभयदेव सूरि ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'सत्ते' का अर्थ है—'सक्त'—आसक्त अथवा 'शक्त'—समर्थ। 'कर्म' का अर्थ है क्रिया। जीव सुन्दर असुन्दर क्रिया में—शुभ अशुभ क्रिया में आसक्त अथवा समर्थ है, अत वह सत्त्व है। स्वामीजी की परिभाषा इसीके अनुरूप है। 'सक्त' का अर्थ सम्बद्ध भी होता है। शुभाशुभ कर्मो से सबद्ध होने से जीव सत्त्व है।

(६) विज्ञ (गा० ७) इसकी परिभाषा है—"जम्हा तित्त-कडु-कसाय-ऽबिल-महुरे रसे जाणइ तम्हा 'विन्नु' त्ति वत्तव्व सिया (भग० २ १)।"

यह अच्छा शब्द है, यह बुरा शब्द है, यह मधुर है, यह खट्टा है, यह कडुवा है, यह सफेद है, यह लाल है, यह दुर्गन्ध है, यह सुगन्ध है, अभी सर्दी पड रही है, अभी गर्मी पड रही है आदि इन्द्रियो के भिन्न-भिन्न विषयो का ज्ञान—अनुभव यदि किसी को होता है तो वह जीव पदार्थ ही है अत जीव को 'विज्ञ'—कहा गया है। मैं इस स्थिति में हूँ, गरीव हूँ, रुग्ण हूँ, स्वस्थ हूँ आदि बातो का स्पष्ट अनुभव यदि किसी पदार्थ मे है तो वह जीव पदार्थ मे है। इस हेतु से भी वह 'विज्ञ' कहा गया है।

(७) वेद (गा० ८) स्वामी जी की परिभाषा का आधार यह पाठ है—"वेदेति य सुह-दुक्ख तम्हा 'वेदो' त्ति वत्तव्व सिया (भग०-२ १)।" वेदना ज्ञान—सुख-दु ख का अनुभव-ज्ञान जिसमे हो वह 'वेदक' कहलाता है।

ससार में जरा-मरण, आधि-व्याधि से उत्पन्न नाना दु ख तथा धन, स्त्री, पुत्रादि से उत्पन्न नाना सुखो का अनुभव जीव करता है इसलिये उसे 'वेद' या 'वेदक' कहा गया है।

(८) चेता (गा० ९) ससारी जीव, कर्म-परमाणुओ मे लिप्त रहते हैं। जब चेतन जीव राग-द्वेष के वशीभूत होकर विभाव में रमण करता है तब उसके चारो ओर रहे हुए कर्म-परमाणु उसके प्रदेशो मे प्रवेश कर वहाँ उसी प्रकार अवस्थित हो जाते हैं जिस तरह दूध में डाला हुआ पानी उसमे समा जाता है। दूध और पानी की तरह एक क्षेत्रावगाही हो आत्मा और कर्म परस्पर ओत-प्रोत हो जाते हैं। ससारी जीव इसी न्याय

से चेता—पुद्गलों को संग्रह करने वाला कहा गया है ('चेयाइ त्ति चेता पुद्गलानां चयकारी—अभ) जीव के शरीरादि की रचना भी इसी कारण से होती है।

(९) जेता (गा १) कर्मों का बन्धन आत्मा की विभाव परिणति से होता है और उनका नाश स्वभाव परिणति से। दोनों परिणतियाँ जीव के ही होती हैं। अतः जैसे वह कर्मों को बाँधने वाला है वैसे ही उनका नाश कर उन पर विजय पाने वाला होने से उसे 'जेता' कहा जाता है।

स्वभाव रूप से ही जीव में अनन्त वीर्य शक्ति होती है। परन्तु कर्मों के आवरण के कारण वह शक्ति मंद हो जाती है। संसारी जीव कर्मों से आबद्ध होने पर भी अपने स्वभाव में स्थित होता है। इसका अर्थ यह है कि कर्मावरण से उसके स्वाभाविक गुण मंद हो जाने पर भी सर्वथा नष्ट नहीं होते। जीव अपने वीर्य का स्फोटन कर दारुण कर्म बन्धन को विच्छिन्न करने में सक्षम होता है। इस तरह कर्म रिपुओं को जीतने का सामर्थ्य रखने से जीव का एक अभिवचन जेता है ('जय' त्ति जेता कर्मरिपूणाम्—अभ)।

(१) आत्मा (गा ११) जब तक जीव कर्मों का आत्यन्तिक क्षय नहीं करता उसे बार-बार जन्म-मरण करना पड़ता है और इस जन्म-मरण की परम्परा में वह भिन्न भिन्न गति (मनुष्य पशु-पक्षी आदि) अथवा योनियों में उत्पन्न होता और नाश को प्राप्त होता है। जब तक कर्मों से छुटकारा नहीं होता तब तक जीव को विश्राम नहीं मिलता। कर्मों से मुक्ति पाकर ही वह मोक्ष के अनन्त सुख में शाश्वत स्थिर हो सकता है। 'आत्मा' 'हिंडुक' 'जगत' आदि जीव के नाम इसी अर्थ के द्योतक हैं। अभयदेव सूरि ने लिखा है—'आय' त्ति आत्मा सततगामित्वात्।

(११)रंगण (गा १२) 'रङ्गणं राग स्तद्योगाद्रङ्गण ।' 'रंगण' राग को कहते हैं। राग से युक्त होने के कारण जीव रंगण कहलाता है। संसारी जीव राग-द्वेष की तरंगों में बहता रहता है। उसकी आत्मा राग-द्वेष की भावनाओं से आच्छादित रहती है। इन्हीं राग-द्वेषों में रंगे रहने—अनुरक्त रहने के कारण जीव को रंगण कहा गया है।

(१२) हिंडुक (गा १३) इसका प्रायः वही अर्थ है जो 'आत्मा' का है। अभयदेव ने लिखा है—'हिंडए' त्ति हिण्डकत्वेन हिंडक गमनशील इत्यर्थः।"

(१३) पुद्गल (गा १४) इसकी व्याख्या अभयदेव सूरि ने इस प्रकार की है—"पूरणाद् गलनाच्च शरीरादीनामिति पुद्गला ।" सांसारिक जीव जन्म-जन्म में पौद्गलिक शरीर इन्द्रियाँ आदि को धारण करता रहता है। इससे जीव का नाम पुद्गल है।

जीव कर्म-परमाणुओ का आत्म-प्रदेशो मे सचय करता है। शरीर आदि की रचना इसी प्रकार होती है। इससे जीव पुद्गल है। यह व्याख्या सांसारिक जीव की अपेक्षा से है।

एक वार गौतम ने श्रमण भगवान महावीर से पूछा—"हे भगवन्! जीव पुद्गली है या पुद्गल ?" भगवान ने उत्तर दिया—"हे गौतम! श्रोत्रादि इन्द्रियो वाला होने से जीव पुद्गली है। जीव का दूसरा नाम पुद्गल होने से वह पुद्गल है। सिद्ध पुद्गली नही हैं क्योकि उनके इन्द्रियादि नही होती, परन्तु जीव होने से वे पुद्गल तो हैं ही[1]।"

ससारी प्राणी और सिद्ध जीव दोनो को यहाँ पुद्गल कहा गया है। इसका हेतु आगम में नही है। वह हेतु ऊपर वताये गये हेतु से भिन्न होना चाहिये—यह स्पष्ट है। जीव के लिये पुद्गल शब्द का प्रयोग वौद्ध पिटको मे भी मिलता है।

(१४) मानव (गा० १५) द्रव्य मात्र 'उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य' लक्षण वाले होते हैं। उत्पत्ति और विनाश केवल अवस्थाओ का होता है। एक अवस्था का नाश होता है दूसरी उत्पन्न होती है, परन्तु इस सृष्टि (उत्पाद) और प्रलय (व्यय) के वीच में भी ब्रह्म स्वरूप आत्मा ज्यो-की-त्यो रहती है। उसके चेतन स्वभाव व असख्यात प्रदेशीपन का विनाश नही होता। इस तरह नाना पुनर्जन्म करते रहने पर भी आत्मा तो पुरानी ही रहती है। इसलिये इसका 'मानव' नाम रखा गया है। मानव=मा+नव। 'मा' का अर्थ है नही। 'नव' का अर्थ है नया। जीव नया न होकर अनादि है। वह 'पुराण' है—वरावर चला आता है इसलिये मानव है (मा निषेधे नव—प्रत्यग्रो मानव अनादित्वात् पुराण इत्यर्थ)।

(१५) कर्त्ता (गा० १६) आत्मा ही कर्त्ता है। कर्त्ता का अर्थ है कर्मों का कर्त्ता ('कर्त्त' ति कर्त्ता कर्मणाम्)। इस विषय को स्पष्ट करने के लिये हम यहाँ 'आत्म सिद्धि' नामक पुस्तक का कुछ अश उद्धृत करते हैं:

"जड में चेतना नही होती केवल जीव में ही चेतना होती है। विना चेतन-प्रेरणा के कर्म, कर्म का वन्धन कैसे करेगा ? अत जीव ही कर्म का वन्धन करता है क्योकि चेतन प्रेरणा जीव के ही होती है। जीव के कर्म अनायास—स्वभाव से ही होते रहते हैं, यह भी ठीक नही है। जव जीव कर्म करता है तभी कर्म होते हैं। कर्म करना जीव की इच्छा पर निर्भर रहने से यह भी नही कहा जा सकता कि आत्मा सहज स्वभाव से ही कर्मों

१—भगवती ८.१०

का कर्त्ता है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्म करना जीव का आत्म-धर्म नहीं है क्योंकि ऐसा होने से तो कर्म का बन्धन उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं करता। यह भी कहना ठीक नहीं है कि जीव असंग है और केवल प्रकृतियाँ ही कर्म बन्ध करती हैं। ऐसा होता तो जीव का असली स्वरूप कभी का मालूम हुआ रहता। कर्म करने में ईश्वर की भी कोई प्रेरणा नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर सम्पूर्ण शुद्ध स्वभाव का होता है। उसमें इस प्रकार प्रेरणा का आरोपण करने से तो उसे ही सदोष ठहरा देना होगा। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आत्मा ही कर्मों का बन्ध करता है। जब जीव अपने चैतन्य स्वभाव में रमण करता है तो वह अपने शुद्ध स्वभाव का कर्त्ता होता है और जब विभाव भाव में रमण करता है तो कर्मों का कर्त्ता कहलाता है।

"जीव जब तक अपने असली स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्ति रखता है तब तक उसके भाव-कर्मों का बंध होता रहता है। जीव की निज स्वरूप में भ्रान्ति चेतना रूप है। जीव के इस चेतन परिणाम से जीव के वीर्य स्वभाव की स्फूर्ति होती है और इस शक्ति के स्फुरित होने से जड़-रूप द्रव्य कर्म की वर्गणाओं को ग्रहण करता है।

जीव अच्छे बुरे कार्य करता रहता है और उसके फलस्वरूप कर्म परमाणु उसके आत्म प्रदेशों में प्रवेश पा उनके साथ बंध जाते हैं। इस प्रकार जीव कर्मों का कर्त्ता है। इसका तात्पर्य है कि वह अपने सुख-दुःख का कर्त्ता है।

उत्तराध्ययन सूत्र (२० ३६ ३७) में कहा है "आत्मा ही वैतरणी नदी है, और यही कूट शाल्मली वृक्ष। आत्मा ही कामदुघा धेनु है और यही नन्दन वन। आत्मा ही सुख और दुःख को उत्पन्न करने और न करने वाली है।" इसका कारण यही है कि आत्मा ही सदाचार और दुराचार को करने वाली है। अपने काम के अनुसार उसके कर्मों का बन्धन होता है। ये कर्म ही अच्छा बुरा फल देते हैं। आत्मा सत्कर्म अथवा दुष्कर्म करने में स्वतन्त्र है इसीलिये कहा गया है 'बन्धप्पमोक्खो तुज्झज्झत्थेव' — बन्ध और मोक्ष आत्मा के ही हाथ में है।

(१६) विकर्त्ता (गा १७) : जैसे जीव में कर्म-बंधन की शक्ति है वैसे ही उसमें कर्मों को तोड़ने और उनसे मुक्त होने की भी शक्ति है। इसी कारण से उसे विकर्त्ता कहा गया है। विकर्त्ता अर्थात् "विच्छेत्ता विच्छेदकः कर्मणाम्।"

(१७) जगत् (गा १८) जीव में एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करने की शक्ति होती है और यह शक्ति इतनी तीव्र होती है कि एक समय (जैन धर्म के अनुसार काल

की इकाई (Unit)) मे जीव अपने स्थान से लोक के अन्त तक जा सकता है। गमन करने की इस शक्ति के कारण जीव का नाम जगत् है। कहा भी है--"अतिशयगमनाज्जगत् ।"

(१८) जन्तु (गा० १९) "जननाज्जन्तु" ससारी जीव जन्म-जन्मान्तर करता रहता है, इससे उसका नाम जन्तु है। जीव ने ८४ लाख योनियो मे जन्म-मरण किया है।

(१९) योनि (गा० २०) "योनिरन्येपामुत्पादकत्वात्"—अन्यो का उत्पादक होने से जीव का नाम योनि है। स्वामीजी ने भी यही परिभाषा दी है—"पर नो उत्पादक इण न्याय ।" जीव जीव का उत्पादक नही हो सकता क्योकि जीव स्वयभूत होता है। वह घट, पट आदि पर वस्तुओ का उत्पादक होता है। इस अपेक्षा से जीव का अपर नाम योनि है।

(२०) स्वयभूत (गा० २१) आत्मा को किसी ईश्वर ने नही बनाया। न वह सयोगी पदार्थ ही है। वह अपने आप में एक वस्तु है—"स्वय-भवनात् स्वयभू"। वह वस्तुओ के सयोग से बनी हुई नही है परन्तु एक स्वतन्त्र स्वयभूत वस्तु है। न तो वह देह के सयोग से उत्पन्न होती है और न देह के साथ उसका नाश होता है। ऐसा कोई सयोग नही जो आत्मा को उत्पन्न कर सके। जो वस्तु उत्पन्न हो सकती है उसी का नाश—विलय भी सभव है। जल— ऑक्सीजन और हाईड्रोजन से बना होने से हम रसायनिक प्रयोगो द्वारा उसमें से उक्त दोनो तत्त्व स्वतन्त्र रूप में प्राप्त कर सकते हैं परन्तु आत्मा को सिद्ध करने वाले—बनाने वाले—अन्य द्रव्य प्राप्त न होने से वह स्वय सिद्ध है। यही 'स्वयभूत' शब्द का भाव है। आत्मा स्वय सिद्ध पदार्थ है।

(२१) सशरीरी (गा० २२) शरीर अनेक तरह के हो सकते हैं। औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण। एक जगह से जाकर दूसरी जगह उत्पन्न होने तक—अर्थात् रास्ते चलते जीव के दो शरीर—कार्मण और तैजस होते हैं। पर्याप्त स्थिति में तीन शरीर जीव के होते हैं—कार्मण, तैजस और औदारिक या वैक्रिय। आहारक शरीर विशिष्ट आत्माओ के हो सकता है। जब तक कर्मों का सयोग रहता है तब तक शरीर का सम्बन्ध भी रहता है इसलिये ससारी जीव को 'सशरीरी' कहा गया है—"सह शरीरेणेति सशरीरी ।"

(२२) नायक (गा० २३) "नायक—कर्मणां नेता"—जीव कर्मो का नेता है इससे उसका नाम नायक है। स्वामीजी ने गाथा २३ के प्रथम दो चरणो में इसी अर्थ

का कर्ता है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्म करना जीव का आत्म धर्म नहीं है क्योंकि ऐसा होने से तो कर्म का बन्धन उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं करता। यह भी कहना ठीक नहीं है कि जीव असंग है और केवल प्रकृतियाँ ही कर्म बन्ध करती हैं। ऐसा होता तो जीव का असली स्वरूप कभी का मालूम हुआ रहता। कर्म करने में ईश्वर की भी कोई प्रेरणा नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर सम्पूर्ण शुद्ध स्वभाव का होता है। उसमें इस प्रकार प्रेरणा का आरोपण करने से तो उसे ही सदोष ठहरा देना होगा। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आत्मा ही कर्मों का बन्ध करता है। जब जीव अपने चैतन्य स्वभाव में रमण करता है तो वह अपने शुद्ध स्वभाव का कर्ता होता है और जब विभाव भाव में रमण करता है तो कर्मों का कर्ता कहलाता है।'

'जीव जब तक अपने असली स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्ति रखता है तब तक उसके भाव-कर्मों का बंध होता रहता है। जीव की निज स्वरूप में भ्रान्ति चेतना रूप है। जीव के इस चेतन परिणाम से जीव के वीर्य स्वभाव की स्फूर्ति होती है और इस शक्ति के स्फुरित होने से जड़-रूप द्रव्य कर्म की वर्गणाओं को ग्रहण करता है।"

जीव अच्छे बुरे कार्य करता रहता है और उसके फलस्वरूप कर्म परमाणु उसके आत्म प्रदेशों में प्रवेश पा उसके साथ बंध जाते हैं। इस प्रकार जीव कर्मों का कर्ता है। इसका तात्पर्य है कि वह अपने सुख-दुःख का कर्ता है।

उत्तराध्ययन सूत्र (२० : ३६, ३७) में कहा है : 'आत्मा ही वैतरणी नदी है, और यही कूट शाल्मली वृक्ष। आत्मा ही कामदुघा धेनु है और यही नन्दन वन। आत्मा ही सुख और दुःख को उत्पन्न करने और न करने वाली है।' इसका कारण यही है कि आत्मा ही सदाचार और दुराचार को करने वाली है। अपने काम के अनुसार उसके कर्मों का बन्धन होता है। ये कर्म ही अच्छा बुरा फल देते हैं। आत्मा सत्कर्म अथवा दुष्कर्म करने में स्वतन्त्र है इसीलिये कहा गया है 'बन्धप्पमोक्खो तुज्झज्झत्थेव' — बन्ध और मोक्ष आत्मा के ही हाथ में है।

(१६) विकर्ता (गा० १७) : जैसे जीव में कर्म-बंधन की शक्ति है वैसे ही उसमें कर्मों को तोड़ने और उनसे मुक्त होने की भी शक्ति है। इसी कारण से उसे विकर्ता कहा गया है। विकर्ता अर्थात् "विशेषतो विच्छेदकः कर्मणाम्।

(१७) जगत् (गा० १८) : जीव में एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करने की शक्ति होती है और यह शक्ति इतनी तीव्र होती है कि एक समय (क्षण) में कर्म के अनुसार काल

लक्षण, गुण और पर्याय—ये द्रव्य के भाव हैं। लक्षण और गुण ये दोनो शब्द एकार्थक हैं। जीव को उपयोग लक्षणवाला, उपयोग गुण वाला कहा गया है इससे स्पष्ट है कि लक्षण और गुण एकार्थक हैं। जीव के जो तेईस नाम बतलाये गये हैं उनसे सासारिक जीव के अनेक लक्षण व गुण सामने आते हैं। पर्याय का अर्थ है जो एक के वाद एक हो। द्रव्य जीव की अवस्था मे जो प्रति-समय परिवर्तन होता है—एक स्थिति का अत हो दूसरी स्थिति का जन्म होता है वे पर्याय हैं। लक्षण, गुण और पर्याय जीव के भाव हैं। स्वामीजी कहते हैं जो जीव के भाव हैं उन्हें ही भाव जीव कहते हैं। वे अनेक हैं।

जीवो में ज्ञान, दर्शन, आचार, विचार, सुख-दु ख, आयु, यश, ऐश्वर्य, जाति, सुख आदि प्रापकता की समर्थता-असमर्थता की तारतम्यता व भेद देखे जाते हैं। द्रव्यत एक होने पर भी एक दूसरे से विचित्र मालूम देते हुए ये सव जीव भाव जीव हैं।

गीता में भी यही कहा गया है "अव्यय आत्मा का कोई विनाश नही कर सकता[1]।" "जिस प्रकार इस देह में कौमार्य्य के वाद यौवन और यौवन के बाद वुढापा आता है, उसी प्रकार इस देह मे रहने वाले देही को देहान्तर प्राप्त होती है[2]।"

आगे जाकर कृष्ण कहते हैं—"वुद्धि, ज्ञान, असमोह, क्षमा, सत्य, दमन, शमन, सुख, दु ख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतुष्टि, तप, दान, यश, अपयश—प्राणियो के नाना प्रकार के ये भाव मुझ से ही उत्पन्न होते हैं[3]।" अगर यहाँ कृष्ण का अर्थ शुद्ध आत्म-तत्त्व लिया जाय तो अर्थ होगा कि आत्मा कहती है वुद्धि, ज्ञान आदि नाना भाव मुझ शाश्वत तत्त्व आत्मतत्त्व से ही उत्पन्न है।

१—गीता २.१७

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

२—गीता २ १३ :

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमार यौवन जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

३—गीता १० ४,५ ·

वुद्धिर्ज्ञानमसमोह क्षमा सत्यं दम शम।
सुख दुख भवोऽभावो भय चाभयमेव च ॥
अहिसा समता तुष्टिस्तपो दान यशोऽयश।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधा ॥

का प्रतिपादन किया है। कर्मों का नेता होने से प्रथम गुणस्थान का भी यह नायक माना है इसमें सन्देह नहीं। बाद के चरणों में नायक का दूसरा अर्थ स्वामीजी ने "न्याय का करने वाला" किया है।

(२१) अन्तरात्मा (गा २४): 'अन्तः मध्यस्य आत्मा, न शरीर रूप इत्यन्तरात्मेति' यह शरीर आत्मा नहीं है। पर इस शरीर के अन्दर जो व्याप्त है वह आत्मा है।

जीव और शरीर—तिल और तैल, दाख और घी की तरह परस्पर ओतप्रोत रहते हैं। जीव समूचे शरीर में व्याप्त रहता है इसलिये उसे अन्तरात्मा कहते हैं।

८—भाव जीव (गाथा २५):

गाथा २ में दो प्रकार के जीव—द्रव्य जीव और भाव जीव का उल्लेख आया है। गाथा १ में बता दिया गया है कि द्रव्य जीव शाश्वत असंख्यात प्रदेशी पदार्थ है। प्रश्न होता है कि भाव जीव किसे कहते हैं? इसीका उत्तर २५ वीं गाथा में दिया गया है।

द्रव्य जीव नित्य पदार्थ है पर वह कूटस्थ नित्य नहीं परिणामी नित्य है। इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्य जीव शाश्वत होने पर भी उसमें परिणाम—अवस्थान्तर होते रहते हैं। जिस तरह स्वर्ण के कायम रहते हुए उसके भिन्न भिन्न गहने होते हैं उसी तरह जीव पदार्थ कायम रहते हुए उसकी भिन्न भिन्न अवस्थाएँ होती हैं। द्रव्य जीव उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त होता है। जैसे सोने की चूड़ियों को गला कर जब हम सोने का कण्ठा बनाते हैं तो कण्ठे की उत्पत्ति होती है, चूड़ियों का व्यय—नाश होता है और सोना सोने के रूप में ही रहता है उसी तरह जब जीव युवा होता है तो यौवन की उत्पत्ति होती है, बाल्य-भाव का व्यय होता है और जीव जीव रूप ही रहता है।

इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को पारिभाषिक-भाषा में 'पर्याय' कहते हैं। पर्याय वह है जो द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित होकर रहे। पर्याय—अवस्थान्तर द्रव्य और गुण दोनों में होते हैं। जिस तरह जल कभी बर्फ और कभी बाष्प रूप होता है उसी तरह एक ही मनुष्य बालक युवक और वृद्ध होता है। ये आत्मा द्रव्य के अवस्थान्तर—पर्याय हैं। जिस तरह एक ही पुद्गल कभी शीत और कभी गर्म होता है जो उसके स्पर्श गुण की अवस्थाएँ हैं, ठीक उसी प्रकार एक ही मनुष्य कभी ज्ञानी और कभी मूर्ख कभी दुःखी और कभी सुखी होता है। ये आत्मा के ज्ञान गुण की अवस्थाएँ—पर्यायें हैं।

लक्षण, गुण और पर्याय—ये द्रव्य के भाव हैं। लक्षण और गुण ये दोनो शब्द एकार्थक जीव को उपयोग लक्षणवाला, उपयोग गुण वाला कहा गया है इससे स्पष्ट है कि ण और गुण एकार्थक हैं। जीव के जो तेईस नाम बतलाये गये है उनसे सांसारिक के अनेक लक्षण व गुण सामने आते हैं। पर्याय का अर्थ है जो एक के बाद एक हो। जीव की अवस्था मे जो प्रति-समय परिवर्तन होता है—एक स्थिति का अत हो ो स्थिति का जन्म होता है वे पर्याय हैं। लक्षण, गुण और पर्याय जीव के भाव हैं। मीजी कहते हैं जो जीव के भाव हैं उन्हें ही भाव जीव कहते हैं। वे अनेक हैं। जीवो में ज्ञान, दर्शन, आचार, विचार, सुख-दु ख, आयु, यश, ऐश्वर्य, जाति, सुख दि प्रापकता की समर्थता-असमर्थता की तारतम्यता व भेद देखे जाते हैं। द्रव्यत एक पर भी एक दूसरे से विचित्र मालूम देते हुए ये सब जीव भाव जीव हैं।

गीता में भी यही कहा गया है "अव्यय आत्मा का कोई विनाश नही कर ता[1]।" "जिस प्रकार इस देह में कौमार्य्य के बाद यौवन और यौवन के बाद बुढापा ा है, उसी प्रकार इस देह में रहने वाले देही को देहान्तर प्राप्त होती है[2]।"

आगे जाकर कृष्ण कहते हैं—"बुद्धि, ज्ञान, असमोह, क्षमा, सत्य, दमन, शमन, सुख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतुष्टि, तप, दान, यश, अपयश—प्राणियो ाना प्रकार के ये भाव मुझ से ही उत्पन्न होते हैं[3]।" अगर यहाँ कृष्ण का अर्थ शुद्ध आत्म-तत्त्व लिया जाय तो अर्थ होगा कि आत्मा कहती है बुद्धि, ज्ञान आदि नाना भाव मुझ शाश्वत तत्त्व आत्मतत्त्व से ही उत्पन्न है।

१—गीता २ १७ ·

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

२—गीता २ १३ :

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमार यौवन जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

३—गीता १० ४,५ ·

बुद्धिर्ज्ञानमसमोह क्षमा सत्य दम शम ।
सुख दुख भवोऽभावो भय चाभयमेव च ॥
अहिसा समता तुष्टिस्तपो दान यशोऽयश ।
भवन्ति भावा भुतानां मत्त एव पृथग्विधा ॥

का प्रतिपादन किया है। कर्मों का कर्ता होने से अपने सुख-दुःख का भी यह नायक व भर्ता है इसमें सन्देह नहीं। बाद के चरणों में नायक का दूसरा अर्थ स्वामीजी ने 'न्याय का करने वाला' किया है।

(२१) अन्तरात्मा (गा० २४): 'अन्तः मध्यरूप आत्मा न शरीर रूप इत्यन्तरात्मेति' यह शरीर आत्मा नहीं है। पर इस शरीर के अन्दर जो व्याप्त है वह आत्मा है।

जीव और शरीर—तिल और तेल धान्य और घी की तरह परस्पर लोलीभूत रहते हैं। जीव सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है इसलिए उसे अन्तरात्मा कहते हैं।

८—भाव जीव (गाथा २५):

गाथा २ में दो प्रकार के जीव—द्रव्य जीव और भाव जीव का उल्लेख आया है। गाथा १ में बता दिया गया है कि द्रव्य जीव शाश्वत असंख्यात प्रदेशी पदार्थ है। प्रश्न होता है कि भाव जीव किसे कहते हैं? इसीका उत्तर २५ वीं गाथा में दिया गया है।

द्रव्य जीव नित्य पदार्थ है पर वह कूटस्थ नित्य नहीं परिणामी नित्य है। इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्य जीव शाश्वत होने पर भी उसमें परिणाम—अवस्थान्तर होते रहते हैं। जिस तरह स्वर्ण के कायम रहते हुए उसके भिन्न भिन्न गहने होते हैं उसी तरह जीव पदार्थ कायम रहते हुए उसकी भिन्न भिन्न अवस्थाएं होती हैं। द्रव्य जीव उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त होता है। जैसे सोने की चूड़ियों को गला कर जब हम सोने का कण्ठा बनाते हैं तो कण्ठे की उत्पत्ति होती है, चूड़ियों का व्यय—नाश होता है और सोना सोने के रूप में ही रहता है उसी तरह जब जीव युवा होता है तो यौवन की उत्पत्ति होती है, बाल्य-भाव का व्यय होता है और जीव जीव रूप ही रहता है।

इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को पारिभाषिक-भाषा में 'पर्याय' कहते हैं। पर्याय वह है जो द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित होकर रहे। पर्याय—अवस्थान्तर द्रव्य और गुण दोनों में होते हैं। जिस तरह जल कभी बर्फ और कभी वाष्प रूप होता है उसी तरह एक ही मनुष्य बालक युवक और वृद्ध होता है। ये आत्मा द्रव्य के अवस्थान्तर—पर्याय हैं। जिस तरह एक ही पुद्गल कभी शीत और कभी गर्म होता है जो उसके स्पर्श गुण की अवस्थाएं हैं, ठीक उसी प्रकार एक ही मनुष्य कभी ज्ञानी और कभी मूर्ख कभी दुःखी और कभी सुखी होता है। ये आत्मा के भिन्न गुण की अवस्थाएं—पर्याय हैं।

लक्षण, गुण और पर्याय—ये द्रव्य के भाव हैं। लक्षण और गुण ये दोनो शब्द एकार्थक हैं। जीव को उपयोग लक्षणवाला, उपयोग गुण वाला कहा गया है इससे स्पष्ट है कि लक्षण और गुण एकार्थक हैं। जीव के जो तेईस नाम बतलाये गये हैं उनसे सासारिक जीव के अनेक लक्षण व गुण सामने आते हैं। पर्याय का अर्थ है जो एक के बाद एक हो। द्रव्य जीव की अवस्था मे जो प्रति-समय परिवर्तन होता है—एक स्थिति का अत हो दूसरी स्थिति का जन्म होता है ये पर्याय हैं। लक्षण, गुण और पर्याय जीव के भाव हैं। स्वामीजी कहते हैं जो जीव के भाव हैं उन्हें ही भाव जीव कहते हैं। वे अनेक हैं।

जीवो मे ज्ञान, दर्शन, आचार, विचार, सुख-दु ख, आयु, यश, ऐश्वर्य, जाति, सुख आदि प्रापकता की समर्थता-असमर्थता की तारतम्यता व भेद देखे जाते हैं। द्रव्यत एक होने पर भी एक दूसरे से विचित्र मालूम देते हुए ये सब जीव भाव जीव हैं।

गीता में भी यही कहा गया है "अव्यय आत्मा का कोई विनाश नही कर सकता[1]।" "जिस प्रकार इस देह में कौमार्य्य के बाद यौवन और यौवन के बाद बुढापा आता है, उसी प्रकार इस देह मे रहने वाले देही को देहान्तर प्राप्त होती है[2]।"

आगे जाकर कृष्ण कहते हैं—"बुद्धि, ज्ञान, असमोह, क्षमा, सत्य, दमन, शमन, सुख, दु ख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, सतुष्टि, तप, दान, यश, अपयश—प्राणियो के नाना प्रकार के ये भाव मुझ से ही उत्पन्न होते हैं[3]।" अगर यहाँ कृष्ण का अर्थ शुद्ध आत्म-तत्त्व लिया जाय तो अर्थ होगा कि आत्मा कहती है बुद्धि, ज्ञान आदि नाना भाव मुझ शाश्वत तत्त्व आत्मतत्त्व से ही उत्पन्न है।

१—गीता २ १७

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

२—गीता २.१३ :

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमार यौवन जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

३—गीता १० ४,५

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोह क्षमा सत्य दम शम ।
सुख दुख भवोऽभावो भय चाभयमेव च ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयश ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधा ॥

१—पाँच भाव (२६-३६)

यहाँ भाव का अर्थ है बंधे हुए कर्मों की अवस्था विशेष अथवा कर्म-बद्ध जीवों की अवस्था विशेष।

संसारी जीव कर्म-बद्ध अवस्था में होते हैं। ये बंधे हुये कर्म हर समय फल नहीं देते। परिपाक अवस्था में ही सुख-दुःख रूप फल देना प्रारम्भ करते हैं। फल देने की अवस्था में आने को उदयावस्था या उदय भाव कहते हैं। जब बंधे हुये कर्म उदयावस्था में होते हैं, तब उस कर्म-बद्ध जीव की भी विशेष स्थिति होती है। जीव की इस स्थिति विशेष को औदयिक भाव कहते हैं।

इसी प्रकार बंध हुये कर्मों का उपशान्त अवस्था में होना उपशमावस्था अथवा उपशम भाव है। बंधे हुये कर्मों की उपशान्त अवस्था में उत्पन्न जीव की स्थिति विशेष को औपशमिक भाव कहते हैं।

कर्मों का क्षयोपशांत अवस्था में होना क्षयोपशम अवस्था या क्षयोपशम भाव है। कर्मों की क्षयोपशम अवस्था में उत्पन्न जीव की स्थिति विशेष को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

कर्मों का नाश होना क्षयावस्था या क्षय भाव कहलाता है। बंधे हुये कर्मों की क्षयावस्था में उत्पन्न जीव की स्थिति विशेष को क्षायिक भाव कहते हैं।

सब कर्म परिणमन करते रहते हैं—अवस्थान्तर प्राप्त होते रहते हैं। इसे कर्मों की पारिणामिक अवस्था कहते हैं। बंधे हुये कर्मों की पारिणामिक अवस्था में जीव में उत्पन्न अवस्था विशेष को पारिणामिक भाव कहते हैं।

औदयिक औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक और पारिणामिक इन पाँच भावों की स्थिति में दो बातें होती हैं—(१) कर्मों का क्रमशः उदय उपशम क्षय क्षयोपशम और परिणमन। कर्म जड़ पुद्गल हैं। (२) कर्मों के उदय आदि से जीव कितनी ही बातों से निष्पन्न होता है।

कर्म आठ हैं (१) ज्ञानावरणीय—जो आत्मा की ज्ञान-शक्ति को प्रकट होने से रोकता है (२) दर्शनावरणीय—जो आत्मा को देखने की शक्ति को रोकता है (३) वेदनीय—जिससे जीव को सुख-दुःख का अनुभव होता है (४) मोहनीय—जो आत्मा को मोह-विह्वल करता है, स्व-पर विवेक में बाधा पहुँचाता है आत्मा के सम्यक् व चारित्र गुणों की घात करता है (५) आयुष्य—जो प्राणी की जीवन

अवधि—आयु को निर्धारित करता है, (६) नाम—जो प्राणी की गति, शरीर, परिस्थिति आदि का नियामक होता है, (७) गोत्र—जो मनुष्य के ऊँच-नीच कुल को निर्धारित करता है और (८) अन्तराय—जो दान, लाभ, भोग-उपभोग व पराक्रम इन चार बातो में रुकावट डालता है।

उदय आठ ही कर्मो का होता है। कर्मो के उदय से जीव को चार गति, छ काय, छ लेश्या, चार कषाय, तीन वेद, समदृष्टि, समिथ्यादृष्टि, अविरति, असज्ञी, अज्ञानी, आहारता, छद्मस्यता, सयोगी, ससारता, असिद्ध—ये भाव उत्पन्न होते हैं।

उपशम केवल मोहनीश कर्म का ही होता है। इससे उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र प्राप्त होते हैं।

क्षय आठ कर्मो का होता है। कर्मो के क्षय से जीव को केवल ज्ञान, केवल दर्शन, आत्मिक सुख, क्षायक सम्यक्त्व, क्षायक चारित्र, अटल अवगाहना, अमूर्तित्व, अगुरुलघुता, दान लब्धि, लाभ लब्धि, भोग लब्धि, उपभोग लब्धि, वीर्य लब्धि की प्राप्ति होती है।

क्षयोपशम चार कर्मो का होता है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। इन कर्मो के क्षयोपशम से जीव में क्रमश निम्नलिखित बातें उत्पन्न होती हैं केवल ज्ञान को छोडकर चार ज्ञान, तीन अज्ञान और स्वाध्याय। पाँच इन्द्रिय और केवल दर्शन को छोडकर तीन दर्शन। चार चारित्र, देश व्रत और तीन दृष्टि। पाँच लब्धि और तीन वीर्य।

सर्व कर्म पारिणामिक हैं। कर्मों के परिणमन से जीव में अनेक परिणाम होते हैं। वह गति परिणामी, इन्द्रिय परिणामी, कपाय परिणामी, लेश्या परिणामी, योग परिणामी, उपयोग परिणामी, ज्ञान परिणामी, दर्शन परिणामी, चरित्र परिणामी तथा वेद परिणामी होता है[1]।

स्वामी जी कहते हैं कि जड कर्मो के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और परिणमन से जीव में जो जो भाव निष्पन्न होते हैं वे सब भाव जीव हैं।

जीवो के पाँचो—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव भी भाव जीव हैं।

इन भाव जीवो की उत्पत्ति कर्मो के सयोग-वियोग से होती है—यह स्पष्ट ही है।

कर्मो के क्षय से उत्पन्न क्षायिक भाव स्थिर होते हैं। उत्पन्न होने के बाद वे नष्ट नही होते। अन्य भाव अस्थिर होते हैं। उत्पन्न होकर मिट जाते हैं।

१—पाँचों भाव विषयक इस निरूपण के लिए देखिए 'अनुयोग द्वार' सूत्र० १२६ तथा तेरा द्वार द्वा० ८

६—पाँच भाव (२६ १६)

यहाँ भाव का अर्थ है बँधे हुए कर्मों की अवस्था विशेष अथवा कर्म-बद्ध जीवों की अवस्था विशेष।

संसारी जीव कर्म-बद्ध अवस्था में होते हैं। ये बँधे हुये कर्म हर समय फल नहीं देते। परिपाक अवस्था में ही सुख-दुःख रूप फल देना आरम्भ करते हैं। फल देने की अवस्था में आने को उदयावस्था या उदय भाव कहते हैं। जब बँधे हुये कर्म उदयावस्था में होते हैं तब उस कर्म-बद्ध जीव की भी विशेष स्थिति होती है। जीव की इस स्थिति विशेष को औदयिक भाव कहते हैं।

इसी प्रकार बंधे हुये कर्मों का उपशान्त अवस्था में होना उपशमावस्था अथवा उपशम भाव है। बँधे हुये कर्मों की उपशान्त अवस्था में उत्पन्न जीव की स्थिति विशेष को औपशमिक भाव कहते हैं।

कर्मों का क्षयोपशांत अवस्था में होना क्षयोपशम अवस्था या क्षयोपशम भाव है। कर्मों की क्षयोपशम अवस्था में उत्पन्न जीव की स्थिति विशेष को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

कर्मों का नाश होना क्षयावस्था या क्षय भाव कहलाता है। बँधे हुये कर्मों की क्षयावस्था में उत्पन्न जीव की स्थिति विशेष को क्षायिक भाव कहते हैं।

सर्व कर्म परिणमन करते रहते हैं—अवस्थान्तर प्राप्त होते रहते हैं। इसे कर्मों की पारिणामिक अवस्था कहते हैं। बंधे हुये कर्मों की पारिणामिक अवस्था में जीव में उत्पन्न अवस्था विशेष को पारिणामिक भाव कहते हैं।

औदयिक औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक और पारिणामिक इन पाँच भावों की स्थिति में दो बातें होती हैं—(१) कर्मों का क्रमशः उदय उपशम क्षय क्षयोपशम और परिणमन। कर्म जड़ पुद्गल हैं। (२) कर्मों के उदय आदि से जीव कितनी ही बातों से निष्पन्न होता है।

कर्म आठ हैं (१) ज्ञानावरणीय—जो आत्मा की ज्ञान-शक्ति को प्रकट होने से रोकता है (२) दर्शनावरणीय—जो आत्मा की देखने की शक्ति को रोकता है (३) वेदनीय—जिससे जीव को सुख-दुःख का अनुभव होता है (४) मोहनीय—जो आत्मा को मोह-विह्वल करता है, स्व-पर विवेक में बाधा पहुँचाता है आत्मा के सम्यक्त्व व चारित्र गुणों की घात करता है (५) आयुष्य—जो प्राणी की जीवन

अवधि—आयु को निर्धारित करता है , (६) नाम—जो प्राणी की गति, शरीर, परिस्थिति आदि का निर्यामक होता है , (७) गोत्र—जो मनुष्य के ऊँच-नीच कुल को निर्धारित करता है और (८) अन्तराय—जो दान, लाभ, भोग-उपभोग व पराक्रम इन चार बातो में रुकावट डालता है।

उदय आठ ही कर्मो का होता है। कर्मो के उदय से जीव को चार गति, छ काय, छ लेश्या, चार कषाय, तीन वेद, समदृष्टि, समिथ्यादृष्टि, अविरति, असज्ञी, अज्ञानी, आहारता, छद्मस्थता, सयोगी, ससारता, असिद्ध—ये भाव उत्पन्न होते हैं।

उपशम केवल मोहनीश कर्म का ही होता है। इससे उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र प्राप्त होते हैं।

क्षय आठ कर्मो का होता है। कर्मो के क्षय से जीव को केवल ज्ञान, केवल दर्शन, आत्मिक सुख, क्षायक सम्यक्त्व, क्षायक चारित्र, अटल अवगाहना, अमूर्तित्व, अगुरुलघुता, दान लब्धि, लाभ लब्धि, भोग लब्धि, उपभोग लब्धि, वीर्य लब्धि की प्राप्ति होती है।

क्षयोपशम चार कर्मो का होता है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। इन कर्मो के क्षयोपशम से जीव मे क्रमश निम्नलिखित बातें उत्पन्न होती हैं केवल ज्ञान को छोडकर चार ज्ञान, तीन अज्ञान और स्वाध्याय। पाँच इन्द्रिय और केवल दर्शन को छोडकर तीन दर्शन। चार चारित्र, देश व्रत और तीन दृष्टि। पाँच लब्धि और तीन वीर्य।

सर्व कर्म पारिणामिक हैं। कर्मों के परिणमन से जीव में अनेक परिणाम होते हैं। वह गति परिणामी, इन्द्रिय परिणामी, कपाय परिणामी, लेश्या परिणामी, योग परिणामी, उपयोग परिणामी, ज्ञान परिणामी, दर्शन परिणामी, चरित्र परिणामी तथा वेद परिणामी होता है[1]।

स्वामी जी कहते हैं कि जड कर्मो के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और परिणमन से जीव में जो जो भाव निष्पन्न होते हैं वे सब भाव जीव हैं।

जीवो के पाँचो—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव भी भाव जीव हैं।

इन भाव जीवो की उत्पत्ति कर्मो के सयोग-वियोग से होती है—यह स्पष्ट ही है।

कर्मो के क्षय से उत्पन्न क्षायिक भाव स्थिर होते हैं। उत्पन्न होने के बाद वे नष्ट नही होते। अन्य भाव अस्थिर होते हैं। उत्पन्न होकर मिट जाते हैं।

१—पाँचों भाव विपयक इस निरूपण के लिए देखिए 'अनुयोग द्वार' सूत्र० १२६ तथा तेरा द्वार द्वा० ८

१०—द्रव्य जीव का स्वरूप (गाथा ३७–४२)

पहली और दूसरी गाथा से यह स्पष्ट है कि जीव के दो भेद होते हैं—(१) द्रव्य जीव और (२) भाव जीव। प्रथम गाथा में द्रव्य जीव के स्वरूप का सामान्य उल्लेख है। टिप्पणी ६ (पृ २७) में इस सम्बन्ध में कुछ प्रकाश है। यहाँ उसके स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है। द्रव्य जीव के विषय में आगम में निम्न बातें कही गई हैं

(१) जीव द्रव्य चेतन पदार्थ है। एक बार गौतम ने महावीर से पूछा— 'भगवन्! क्या जीव चैतन्य है?' महावीर ने उत्तर दिया 'जीव नियम से चैतन्य है और जो चैतन्य है वह भी नियम से जीव है[१]।' इससे स्पष्ट है कि जीव और चैतन्य का परस्पर अविना भाव सम्बन्ध है। जीव उपयोग युक्त पदार्थ कहा गया है। 'गुणओ उवओग गुणो[२]' 'उवओगलक्खणेणं जीवे[३]'। उपयोग का अर्थ है ज्ञान—जानने की शक्ति और दर्शन—देखने की शक्ति। उपयोग जीव का गुण या लक्षण है। कहा है— जीव-ज्ञान दर्शन तथा सुख-दुःख की भावना से जाना जाता है[४]।

(२) जीव द्रव्य अरूपी है। वह भावतः अवर्ण अगंध अरस अस्पर्श पदार्थ है[५]। उसमें वर्ण गंध रस स्पर्श नहीं होते और इसी कारण वह अमूर्त—इन्द्रियागोचर पदार्थ है।

१—भग १ १ जीवेणं भंते! जीवे जीवे जीवे? गोयमा! जीवे ताव नियमा जीवे जीवे वि—नियमा जीवे।

२—ठाण ५ ३ ५३ भग २ १

३—भग १३ ४

४—उत्त २८ :

वत्तणालक्खणो कालो जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च सुहेण य दुहेण य॥

५—(क) ठा ५ ३ ५३ जीवत्थिकाए णं अवण्णे अगंधे अरसे अफासे अरूवी भावओ अवण्णे अगंधे अरसे अफासे अरूवी

(ख) भग २ १० : जीवत्थिकाए णं भंते! कतिवण्णे कतिगंधे कतिरसे कइ फासे? गोयमा! अवण्णे जाव अरूवी

(ग) भ [illegible] १ : चत्तारि अत्थिकाया। अरूविकाया णं ते जीवत्थिकाए

(३) जीव द्रव्य शाश्वत है। ठाणांग (५ ३.५३०) में कहा है "कालओ ण कयाइ णासी न कयाइ न भवइ न कयाइ न भविस्सइत्ति भुवि भवइ य भविस्सइ य धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे[1] ।" जीव पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा[2]। वह ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, स्थित और नित्य है। वह तीनो कालो में जीव रूप मे विद्यमान रहता है। जीव कभी अजीव नही होता[3]। यही उसकी शाश्वतता है। गीता में कहा है—"अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे (२ २०)"—यह जीवात्मा अज है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नही होता। गीता का निम्न श्लोक भी यही वात कहता है

न त्वेवाहं जातु नास न त्व नेमे जनाधिपा ।
न चैव न भविष्याम सर्वे वयमत परम् ॥
२ १२

गौतम ने पूछा—"लोक मे शाश्वत क्या है ? भगवान महावीर ने उत्तर दिया—"जीव और अजीव[4] ।"

(४) जीव उत्पाद-व्यय सयुक्त है। जीव शाश्वत ध्रुव पदार्थ होने पर भी उसमें एक के वाद एक अवस्था होती रहती है। इन क्रमिक अवस्थाओ को पारिभाषिक शब्दावली में पर्याय कहते हैं। पहली स्थिति का नाश होता है, दूसरी का जन्म होता है और इन परिवर्तित स्थितियो में चैतन्य असख्यात प्रदेशी द्रव्य जीव वैसा का वैसा रहता है। (देखिए टि० ८ पृ० ३६)

(५) जीव द्रव्य अस्तिकाय है[5]। अस्ति=प्रदेश, काय=समूह। असख्य अथवा अनन्त प्रदेशो का जो समूह होता है उसे अस्तिकाय कहते हैं। जीव असख्यात प्रदेशो का

१—भगवती २ १०.११७ में भी ऐसा ही पाठ मिलता है।
२—भगवती १ ४.४१
३—ठा० १० १.६३१ : ण एव भूय वा भव्व वा भविस्सइ वा ज जीवा अजीवा भविस्सति अजीवा वा जीवा भविस्सति
४—ठा० २ ४ १५१ के सासया लोए ? जीवच्चेव-अजीवच्चेव।
५—(क) भग० २.१० ११७ : कति ण भते ! अत्थिकाया प० ? गोयमा ! पच अत्थिकाया प०, तजहा जीवत्थिकाए
(ख) ठा० ४ १ ३१४
चत्तारि अत्थिकाया अरूविकाया प० त० जीवत्थिकाए

समूह है। वस्तु से संलग्न अपृथक्भूत सूक्ष्मतम अंश को प्रदेश कहते हैं। परमाणु पुद्गल से अलग हो सकते हैं पर प्रदेश जीव से कभी अलग नहीं हो सकते। एक परमाणु जितने स्थान को रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इस माप से जीव के असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्गल अवयव रूप तथा अवयव प्रचय रूप होता है जबकि जीव एक प्रदेश रूप अथवा एक अवयव रूप नहीं हो सकता। वह हमेशा प्रदेशप्रचय रूप में—प्रदेशों के अखंड समूह के रूप में रहता है। (देखिए टिप्पणी ६ पृ २८ पेरा ४ तथा टि ७ पृ २९ अन्तिम पेरा)

(६) वह अच्छेद्य अभेद्य आदि तथा अखंड द्रव्य है। अस्तिकाय होने से जीव सहज ही इन गुणों से विभूषित होता है। स्वामीजी ने जो यहाँ वर्णन किया है उसका गीता के निम्न श्लोकों से बड़ा साम्य है।

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।
> अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
> नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
> २ २३-२४

न इस जीवात्मा को शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी गला सकता है और न हवा सुखा सकती है। यह जीवात्मा काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, गलाया नहीं जा सकता, सुखाया नहीं जा सकता। यह नित्य है, सर्वगत है, स्थिर रहनेवाला है, अचल है और सनातन है। आगम में आत्मा की इस विशेषता का वर्णन इन शब्दों में मिलता है—"से न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ कंचणं सव्व लोए[1]।"

1—आचाराङ्ग १ ३ १

भगवती (८ ३ ३१४) का निम्न पाठ भी इसी बात का समर्थन करता है।

"अह भंते ! कुम्मे कुम्मावलिया गोहे गोहावलिया गोणे गोणावलिया मणुस्से मणुस्सावलिया महिसे महिसावलिया एएसि णं दुहा वा तिहा वा संखेज्जहा वा छिन्नाणं जे अंतरा ते वि णं तेहिं जीवपएसेहिं फुडा ? हंता ! फुडा। पुरिसे णं भंते ! (जे अंतरे) ते अंतरे हत्थेण वा पाएण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा कट्ठेण वा कलिंचेण वा आमुसमाणे वा संमुसमाणे वा आलिहमाणे वा विलिहमाणे वा अन्नयरेण वा तिक्खेणं सत्थजाएणं आच्छिंदमाणे वा विच्छिंदमाणे वा अगणिकाएणं वा समोडहमाणे तेसिं जीवपएसाणं किंचि आबाहं वा विबाहं वा उप्पायइ छविच्छेदं वा करेइ ? णो इणट्ठे समट्ठे नो खलु तत्थ सत्थं संकमइ।"

(७) जीव द्रव्य कभी विलय को प्राप्त नहीं होता। यह एक सिद्धांत है कि अस्तित्व अस्तित्व में परिणमन करता है और नास्तित्व नास्तित्व में[१]। द्रव्यत अस्तित्ववान जीव भविष्य में नास्तित्व मे परिणमन नही कर सकता। गीता में कहा है—"जो असत् है उसका भाव (=अस्तित्व) नही होता, जो सत् है उसका अभाव (=अनस्तित्व) नही होता—तत्त्वदर्शियो ने इन दोनो बातो को अतिम सिरे तक जान लिया है[२]।"

(८) जीव द्रव्य सख्या में अनन्त है[3]। एक बार गौतम ने पूछा—"जीव द्रव्य सख्यात हैं, असख्यात हैं या अनन्त ?" भगवान ने उत्तर दिया—"हे गौतम ! जीव अनत हैं[४]।" इसी प्रकार भगवान से एक बार पूछा गया—"लोक मे अनत क्या हैं ?" भगवान ने उत्तर दिया—"जीव और अजीव[५]।" जीवो की सख्या में कभी कमी-बेशी नही होती। एक बार गौतम ने पूछा—"हे भगवन्। क्या जीव घटते बढते हैं ?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम ! जीव न बढते हैं, न घटते हैं, अवस्थित हैं।" गौतम ने फिर पूछा—"कितने काल तक जीव घटे बढे बिना अवस्थित रहते हैं।" भगवान ने जवाब दिया—"हे गौतम ! जीव सर्व काल के लिये अवस्थित हैं[६]।"

(९) जीव अनत होने पर भी द्रव्य जीव एक है। ठाणांग में कहा है—"आत्मा एक है[७]।" चूकि द्रव्य रूप से सब आत्माएँ चेतन और असख्यात प्रदेशी हैं अत वे एक कही जा सकती हैं। (देखिये टि० ६ पृ० २८ पेरा ५)

१—भग० १ ३ ३२ से णूण भते ! अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्ते नत्थित्ते परिणमइ ? हता गोयमा ! जाव परिणमइ।

२—गीता २ १६

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि ॥

३—(क) ठा० ५ ३ ५३० दव्वओ ण जीवात्थिकाए अणताइ दव्वाइ
(ख) भग० २ १० ११७ दव्वओ ण जीवत्थिकाए अणंताइ जीवदव्वाइ।

४—भग० २५.२ ७१९ जीवदव्वा ण भते ! कि सखेज्जा असखेज्जा अणता ? गोयमा ! नो सखेज्जा नो असखेज्जा अणता।

५—ठा० २ ४ १५१ के अणता लोए ? जीवच्चेव अजीवच्चेव।

६—भग० ५ ८ २२१ भन्तेत्ति भगव गोयमे जाव एव वयासी—जीवाण भते ! कि वड्ढ ति हायति अवट्ठिया ?, गोयमा ! जीवा णो वड्ढ ति नो हायति अवट्ठिया। जीवा णभते ! केवइय काल अवट्ठिया [वि] ? सव्वद्ध।

७—ठा० १ १ · एगे आया

समूह है। वस्तु से संलग्न अपृथक्त्व सूक्ष्मतम अंश को प्रदेश कहते हैं। परमाणु पुद्गल से अलग हो सकते हैं पर प्रदेश जीव से कभी अलग नहीं हो सकते। एक परमाणु जितने स्थान को रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इस माप से जीव के असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्गल अवयव रूप तथा अवयव-प्रचय रूप होता है जबकि जीव एक प्रदेश रूप अथवा एक अवयव रूप नहीं हो सकता। वह हमेशा प्रदेशप्रचय रूप में—प्रदेशों के अखंड समूह के रूप में रहता है। (देखिए टिप्पणी १ पृ० २८ पेरा ४ तथा टि० ७ पृ० २९ अन्तिम पेरा)

(६) **यह अच्छेद्य अभेद्य आदि तथा अखंड द्रव्य है।** अस्तिकाय होने से जीव सहज ही इन गुणों से विभूषित होता है। स्वामीजी ने जो यहाँ वर्णन किया है उसका गीता के निम्न श्लोकों से बड़ा साम्य है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
२।२३,२४

न इस जीवात्मा को शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी गला सकता है और न हवा सुखा सकती है। यह जीवात्मा काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, गलाया नहीं जा सकता, सुखाया नहीं जा सकता। यह नित्य है, सर्वगत है, स्थिर रहनेवाला है, अचल है और सनातन है। आगम में आत्मा की इस विशेषता का वर्णन इन शब्दों में मिलता है—'से न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ कंचणं सव्व लोए'[1]।"

१—आचाराङ्ग १।३।२

भगवती (८।३।१२४) का निम्न पाठ भी इसी बात का समर्थन करता है:

"अह भंते! कुम्मे कुम्मावलिया गोहे गोहावलिया गोणे गोणावलिया मणुस्से मणुस्सावलिया महिसे महिसावलिया एएसि णं दुहा वा तिहा वा संखेज्जहा वा छिन्नाणं जे अंतरा ते वि णं तेहिं जीवपएसेहिं फुडा? हंता! फुडा। पुरिसे णं भंते! (ते अंतरे) ते अंतरे हत्थेण वा पाएण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा कट्ठेण वा कलिंचेण वा आमुसमाणे वा संमुसमाणे वा आलिहमाणे वा विलिहमाणे वा अन्नयरेण वा तिक्खेणं सत्थजाएणं आच्छिंदमाणे वा विच्छिंदमाणे वा अगणिकाएणं वा समोडहमाणे तेसिं जीवपएसाणं किंचि आबाहं वा विबाहं वा उप्पायइ छविच्छेदं वा करेइ? णो तिणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं संकमइ"।

(७) जीव द्रव्य कभी विलय को प्राप्त नहीं होता। यह एक सिद्धांत है कि अस्तित्व अस्तित्व मे परिणमन करता है और नास्तित्व नास्तित्व मे[1]। द्रव्यत अस्तित्ववान जीव भविष्य मे नास्तित्व मे परिणमन नही कर सकता। गीता मे कहा है—"जो असत् है उसका भाव (=अस्तित्व) नही होता, जो सत् है उसका अभाव (=अनस्तित्व) नही होता—तत्त्वदर्शियो ने इन दोनो बातो को अतिम सिरे तक जान लिया है[2]।"

(८) जीव द्रव्य सख्या में अनन्त है[3]। एक बार गौतम ने पूछा—"जीव द्रव्य सख्यात हैं, असख्यात हैं या अनन्त ?" भगवान ने उत्तर दिया—"हे गौतम ! जीव अनत हैं[4]।" इसी प्रकार भगवान से एक बार पूछा गया—"लोक मे अनत क्या हैं ?" भगवान ने उत्तर दिया—"जीव और अजीव[5]।" जीवो की सख्या मे कभी कमी-वेशी नही होती। एक बार गौतम ने पूछा—"हे भगवन् ! क्या जीव घटते वढते हैं ?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम ! जीव न वढते हैं, न घटते हैं, अवस्थित हैं।" गौतम ने फिर पूछा—"कितने काल तक जीव घटे वढे विना अवस्थित रहते हैं।" भगवान ने जवाब दिया—"हे गौतम ! जीव सर्व काल के लिये अवस्थित हैं[6]।"

(९) जीव अनत होने पर भी द्रव्य जीव एक है। ठाणांग में कहा है—"आत्मा एक है[7]।" चूकि द्रव्य रूप से सब आत्माएँ चेतन और असख्यात प्रदेशी हैं अत वे एक कही जा सकती हैं। (देखिये टि० ६ पृ० २८ पेरा ५)

१—भग० १ ३ ३२ से णूण भते ! अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्ते नत्थित्ते परिणमइ ? हता गोयमा ! जाव परिणमइ।

२—गीता २ १६

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि ॥

३—(क) ठा० ५ ३ ५३० दव्वओ ण जीवात्थिकाए अणताइ दव्वाइ
(ख) भग० २ १० ११७ दव्वओ ण जीवत्थिकाए अणंताइ जीवदव्वाइ।

४—भग० २५ २ ७१६ जीवदव्वा ण भते ! कि सखेज्जा असखेज्जा अणता ? गोयमा ! नो सखेज्जा नो असखेज्जा अणता।

५—ठा० २ ४ १५१ के अणता लोए ? जीवच्चेव अजीवच्चेव।

६—भग० ५ ८ २२१ भन्तेत्ति भगव गोयमे जाव एव वयासी—जीवाण भते ! कि वड्ढ ति हायति अवट्ठिया ?, गोयमा ! जीवा णो वड्ढ ति नो हायति अवट्ठिया। जीवा ण भते ! केवइय काल अवट्ठिया [वि] ? सव्वद्ध।

७—ठा० १ १ एगे आया

(१०) यह लोक-प्रमाण है : "लोग दव्वे" "लोगमो लोकपमाणमेत्ते"[१]। क्षेत्र की दृष्टि से जीव लोक परिमित है। लोक के बाहर जीव द्रव्य नहीं होता। "जहाँ तक लोक है वहाँ तक जीव है। जहाँ तक जीव है वहाँ तक लोक है"[२]।

११—द्रव्य के लक्षण, गुणादि भाव जीव हैं (गाथा ४३-४४) :

गाथा २५ में कहा गया है—"भाव ते लक्षण गुण परज्याय ते तो भावे जीव छ ताय।" यहाँ इसी बात को पुनः दुहराया गया है। इसका भाव टिप्पणी ८ (पृ० ११७) में स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ लक्षण गुण और पर्याय को भाव जीव कहने के साथ-साथ औदयिक आदि पाँच भावों को भी भाव जीव कहा है। जीव के भाव लक्षण, गुण और पर्याय अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी हो सकते हैं। अच्छे हों या बुरे, सब भाव जीव हैं। पाँच भावों में से क्षायिक भाव को छोड़कर अवशेष चार भाव स्थिर नहीं रहते। कर्मों के क्षय से निष्पन्न जितने ही क्षायक भाव स्थिर होते हैं।

१२—जीव शाश्वत अशाश्वत कैसे ? (गाथा ४५-४७)

एक बार गौतम ने श्रमण भगवान महावीर से पूछा—"जीव शाश्वत है या अशाश्वत।" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम ! जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।" गौतम ने पूछा—"भगवान् ! आप ऐसा किस हेतु से कहते हैं ?" भगवान् ने उत्तर दिया—"गौतम ! जीव द्रव्य की अपेक्षा शाश्वत है और भाव की अपेक्षा अशाश्वत। इस हेतु से कहता हूँ कि जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।"[३] स्वामीजी ने इन गाथाओं में आगम की इसी बात को रखा है। जीव के विषम भी भाव—पर्याय हैं वे उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं। इससे अशाश्वत हैं। जीव द्रव्य स्वयं कभी विलय को प्राप्त नहीं होता इसलिये वह शाश्वत है। "वह था है और आगे भी रहेगा इसलिए शाश्वत है। जीव नरयिक होकर तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होता है, तिर्यञ्च योनि से निकल मनुष्य होता है आदि आदि इसलिए अशाश्वत है"[४]।

१—ठा० ५.३.५३

२—ठा० १ ४.११ : जाव ताव लोगे ताव ताव जीवा जाव ताव जीवा ताव ताव लोए

३—भग० ७.२.२७३ : गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—जीवा सिय सासया सिय असासया।

४—भग० ६.३३.३८७

सासए जीवे जमाली ! जं न कयाइ णासि जाव णिच्चे असासए जीवे जमाली ! जं णं णेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणिए भवइ तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ मणुस्से भवित्ता देवे भवइ।

१३—आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष भाव जीव है (गाथा ४८-५६) :

नव पदार्थों मे जीव और अजीव के उपरांत अवशेष पदार्थ जीव हैं अथवा अजीव—यह एक प्रश्न है। स्वामी जी ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है अजीव अजीव है क्योकि वह तीनो कालो मे अजीव ही रहता है। पुण्य अजीव है कारण पुण्य कर्म पुद्गल की पर्याय हैं। पुद्गल अजीव है अत पुण्य अजीव है। इसी कारण पाप भी अजीव है। वंध पदार्थ भी अजीव है क्योकि वह शुभ अशुभ कर्मो के वध स्वरूप है। बाकी आश्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष जीव के भाव हैं अत जीव हैं[1]। यहाँ इसी प्रसग का विस्तार के साथ विवेचन है। जीव कर्मो का कर्त्ता है इस कारण वह आश्रव है। जीव कर्मो को रोकने वाला है इसलिये वह सवर है। जीव कर्मो को तोडने वाला है इस कारण निर्जरा है। जीव कर्मो का सम्पूर्ण क्षय कर मुक्त होने वाला है अत मोक्ष है।

आश्रव से कर्म आते हैं। कर्म अजीव हैं। कर्म ग्रहण करने वाला आश्रव जीव है। सवर से कर्म रुकते हैं। रुकने वाले कर्म अजीव हैं। रोकने वाला सवर जीव है। निर्जरा से कर्मों का आंशिक क्षय होता है। क्षय होने वाले कर्म अजीव हैं। कर्मो का आंशिक क्षय करने वाली निर्जरा जीव है। मोक्ष सम्पूर्ण कर्मो का क्षय है। जो क्षय होते हैं वे अजीव कर्म हैं। क्षय करने वाला मोक्ष जीव है।

आश्रव कामभोगो के साथ सयोग स्वरूप है। सवर त्याग रूप है। आश्रव से अजीव कर्म आते हैं। सवर से अजीव कर्म रुकते हैं। निर्जरा से कर्मो का क्षय होता है। सवर, निर्जरा और निर्जरा की करनी आदरणीय हैं। जो जीव आश्रव से सयुक्त होता है वह पाप कर्म का बध करता है। इससे वह अपने भव-भ्रमण की वृद्धि करता है इसलिये वह स्रोतगामी है—ससार के सम्मुख है। जो त्याग और तपस्या रूप सवर और निर्जरा को अपनाता है वह कर्मो को रोकता और तोडता हुआ ससार को पार करता है। वह प्रतिस्रोतगामी है।

आश्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष भाव जीव हैं।

१४—सावद्य निरवद्य सर्व कार्य भाव जीव हैं (गाथा ५७-५८) :

जितने भी कार्य हैं उनको दो भागो में बाँटा जा सकता है—(१) सावद्य और (२) निरवद्य। सावद्य कृत्य हेय हैं, निरवद्य कृत्य उपादेय हैं। सावद्य कृत्य आज्ञा के बाहर हैं, निरवद्य कृत्य आज्ञा के अदर हैं। जो निरवद्य क्रिया करता है वह विनयी है, जो सावद्य

१—पाना की चर्चा लड़ी ५, तेराद्वार · द्वार ४, ५

क्रिया करता है वह अविनयी है। सावद्य और निरवद्य क्रिया करने वाले दोनों ही भाव जीव हैं।

१५—आध्यात्मिक वीर और लौकिक वीर भाव जीव हैं (गाथा ५६-६०)

वीर दो तरह के होते हैं—एक सांसारिक वीर और दूसरे आध्यात्मिक वीर। जो कर्म-रिपुओं से युद्ध करने में अपनी शक्ति को लगाते हैं वे आध्यात्मिक वीर हैं। जो सांसारिक रिपुओं से ही युद्ध करते हैं वे आध्यात्मिक वीर नहीं केवल सांसारिक वीर हैं। दोनों ही भाव जीव हैं। आध्यात्मिक वीर मोक्ष को प्राप्त करता है सांसारिक वीर अपने संसार की वृद्धि करता है।

●

२

अजीव पदार्थ

: २ :

अजीव पदार्थ

दोहा

१—अजीव पदार्थ[1] की पहचान के लिये उसके भावभेद संक्षेप में प्रगट करता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनना ।

अजीव पदार्थ के विवेचन की प्रतिज्ञा

ढाल : २

१—जीव के उपरांत धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पांच द्रव्यों को और जानो । ये पांचों ही द्रव्य अजीव हैं[2] । बुद्धिमान इनकी पहचान करें ।

पांच अजीव द्रव्यों के नाम

२—इनमें से प्रथम चार द्रव्यों को भगवान ने अरूपी कहा है । इनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं है, केवल पुद्गल द्रव्य को रूपी कहा है, उसमें वर्णादि चारों मिलते है[3] ।

प्रथम चार अरूपी, पुद्गल रूपी

३—ये पाँचों ही द्रव्य एक साथ रहते हैं परन्तु इनमें मिलावट नहीं होती । एक साथ रहने पर भी प्रत्येक अपने-अपने गुणों को लिये हुए रहता है । इनकी मिलावट करना किसी के लिये भी संभव नहीं है[4] ।

प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व

४—धर्म द्रव्य अस्तिकाय है । अस्ति अर्थात् जो वस्तु सत् है और काय अर्थात जिसके असख्यात प्रदेश हैं । असख्यात प्रदेशी सत् (अस्तित्व वाली) वस्तु होने से जिन-भगवान ने धर्म द्रव्य को धर्मास्तिकाय कहा है ।

धर्म, अधर्म, आकाश अस्तिकाय क्यों ? (गा० ४—६)

५—अधर्म द्रव्य भी अस्तिकाय है । यह भी सत् (अस्तित्व वाली) वस्तु है और इसके असख्यात प्रदेश हैं, इसलिये अधर्म द्रव्य को भी अस्तिकाय कहा गया है ।

६—आकास द्रव्य आकास्तीकाय छै, आ पिण छत्ता वसत छै ताय जी।
अनंत प्रदेस छ तेहनां तिणसं काय कही जिण राय जी॥

७—धर्मास्ती अधर्मास्तीकाय ता पेंहली छै लोक प्रमांण जी।
लोक अलोक प्रमांण आकास्नी लांबी नें पेंहली जांण जी॥

८—धर्मास्ती नें अधर्मास्ती वले तीजी आकास्तीकाय जी।
ये तीनूं कही जिण सासती तीनंइ काल रे मांय जी॥

९—ए तीनूंई द्रव्य छै जू जूआ जूआ जूआ गुण परजाय जी।
त्यांरी गुण परज्याय पलटे नहीं सासता तीन काल रे मांय जी॥

१०—ए तीनूंई द्रव्य फेलीया रह्या ते तो हाले चाले नहीं ताय जी।
हाले चाले ते पुदगल जीव छै, ते फिरे छै लोक रे मांय जी॥

११—जीव नें पुदगल चाले तेहनें साज धर्मास्तीकाय जी।
अनंता चाले त्यांनें साज छ, तिण सूं अनंती कही परजाय जी॥

१२—जीव नें पुदगल थिर रहे त्यांनें साज अधर्मास्तीकाय जी।
अनंता थिर रहे त्यांनें साज छै, तिण सूं अनंती कही परजाय जी॥

१३—जीव अजीव सर्व दरब नों, भाजन आकास्तीकाय जी।
अनंता रो भाजन तेह सूं अनंती कही परजाय जी॥

६—आकाश द्रव्य आकाशास्तिकाय है। यह भी सत् (अस्तित्व वाली) वस्तु है और इसके अनन्त प्रदेश है इसलिये जिन भगवान ने आकाश द्रव्य को अस्तिकाय कहा है[५]।

७—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक-प्रमाण पहुली है। आकाशास्तिकाय लोकालोक प्रमाण लम्बी और पहुली है[६]। — धर्म, अधर्म, आकाश का क्षेत्र-प्रमाण

८—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन तीनों ही को भगवान ने शाश्वत कहा है। इनका अस्तित्व तीनों काल मे रहता है। — तीनो शाश्वत द्रव्य

९—ये तीनों ही द्रव्य अलग-अलग है। तीनों के गुण और पर्याय भिन्न-भिन्न है। इनके गुण और पर्याय परस्पर में अपरिवर्तनशील हैं (एक के गुण पर्याय दूसरे के नहीं होते)। ये तीनों काल में शाश्वत रहते हैं[७]। — तीनो के गुण पर्याय अपरिवर्तनशील

१०—ये तीनों ही द्रव्य फैले हुए है, ये हलन-चलन नहीं करते—निष्क्रिय है। केवल पुद्गल और जीव ही सक्रिय (हलन-चलन क्रिया करने वाले) हैं। ये समस्त लोक में हलन-चलन क्रिया करते है[८]। — तीनो निष्क्रिय द्रव्य

११—जीव और पुद्गल जो चलन क्रिया करते है, उसमें धर्मास्तिकाय का सहारा रहता है। गमन करते हुए अनन्त जीव और पुद्गलों को सहारा देने से धर्मास्तिकाय की अनन्त पर्यायें कही गयी हैं। — धर्मास्तिकाय का लक्षण और उसकी पर्याय - संख्या

१२—स्थिर होते हुए जीव और पुद्गल को अधर्मास्तिकाय सहायक होती है। स्थिर होते हुए अनन्त जीव और पुद्गलों को सहायक होने से अधर्मास्तिकाय की अनन्त पर्यायें कही गई है। — अधर्मास्तिकाय का लक्षण और उसकी —पर्याय-सख्या

१३—जीव अजीव सर्व द्रव्यो का भाजन आकाशास्तिकाय है। अनन्त पदार्थो का भाजन होने से इसकी अनन्त पर्यायें कही गई है। — आकाशास्तिकाय का लक्षण और पर्याय-सख्या

१४—चालवानें साम धर्मास्ती, थिर रहवानें अधर्मास्तीकाय जी।
आकास विकास भाजन गुण, सब द्रव्य रहै तिण मांय जी॥

१५—धर्मास्ती रा तीन भेद छै, खंध ने देस परदेस जी।
आखो धर्मास्ती खंध छै, ते ऊणो नहीं लवलेस जी॥

१६—एक प्रदेस थी आदि दे एक प्रदेस ऊणो खंध न होय जी।
त्यां लग देस प्रदेस छै, तिणनें खंध म जाणजो कोय जी।

१७—धर्मास्तीकाय तो सेंचाले पड़ी ठावको छोही ज्यूं एक धार जी।
तिणरे बंटो ने बींटो कोई नहीं घटे नहीं छै कीं सोध सिगार जी॥

१८—पुद्गलास्ती सूं प्रदेस न्यारो पड्यो तिणनें परमाणु कह्यो जिणराय जी।
तिण सूखम परमाणु थकी तिण सूं मापी छै धर्मास्तीकाय जी॥

१९—एक परमाणूओ फरसें धर्मास्ती तिणनें प्रदेस कह्यो जिणराय जी।
इण मापा सूं धर्मास्तीकाय नां असंख्याता प्रदेस हुवे ताय जी॥

२०—तिण सूं असंख्यात प्रदेसी धर्मास्ती अधर्मास्ती पिण इमहीज जांण जी।
अनंता आकास्तीकाय नां प्रदेस इण रीत पिछांण जी॥

२१—काल पदारथ तेहनां द्रव्य कह्या छै अनंत जी।
नीपनां नीपजे नें नीपजसी वलि तिणरो छेव न आवसी अंत जी॥

१४—धर्मास्तिकाय चलने मे सहायक है, अधर्मास्तिकाय स्थिर रहने मे तथा आकाशास्तिकाय का स्वभाव (गुण) द्रव्यों को स्थान देना है—सर्व द्रव्य उसीमें रहते है[९]।

तीनो के लक्षण

१५—धर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं—(१) स्कन्ध, (२) स्कन्ध देश, और (३) स्कन्ध-प्रदेश। जरा भी अन्यून—समूची धर्मास्तिकाय को स्कन्ध कहते है।

धर्मास्तिकाय के स्कध, देश, प्रदेश (गा० १५-१६)

१६—एक प्रदेश से आदि कर (लगा कर) एक प्रदेश कम तक स्कन्ध नहीं, पर देश और प्रदेश होते है। प्रदेश मात्र भी न्यून को कोई स्कध न समझे[१०]।

१७—धर्मास्तिकाय धूप और छांह की तरह सलग्न रूप से फैली हुई है। न तो उसके चातुर्दिक कोई घेरा है और न कोई सधि (जोड) ही[११]।

धर्मास्तिकाय कैसा द्रव्य है ?

१८—पुद्गलास्तिकाय से जो एक प्रदेश पुद्गल अलग हो जाता है उसको जिन भगवान ने परमाणु कहा है। उस सूक्ष्म परमाणु से धर्मास्तिकाय मापा गया है[१२]।

परमाणु की परिभाषा

१९—एक परमाणु जितने धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है उतने को जिन भगवान ने प्रदेश कहा है। इस माप से धर्मास्तिकाय के असख्यात प्रदेश होते है।

प्रदेश के माप का आधार परमाणु (गा० १९-२०)

२०—इस माप से धर्मास्तिकाय असख्यात प्रदेशी द्रव्य है। अधर्मास्तिकाय भी उतनी ही है। इसी माप से आकाशास्तिकाय के अनन्त प्रदेश होते हैं[१३]।

२१—काल अजीव द्रव्य है। उसके अनन्त द्रव्य कहे गये है। वे उत्पन्न हुए, होते और होंगे। उनका कभी भी अन्त नहीं आयगा।

काल के द्रव्य अनन्त हैं (गा० २१-२२)

२२—गये काल अनंता समा हुआ वरतमान समो एक जांण जी।
आगमीय काले अनंता हुसी, ए काल द्रव्य पिछांण जी॥

२३—काल द्रव्य नीपजवा आसरी सासतो कह्यो जिणराय जी।
उपजे नें विणसे तिण आसरी, असासतो कह्यो इण न्याय जी॥

२४—तिण सूं काल दरब नहिं सासता ए तो उपजे छै जेम प्रवाह जी।
जे उपजे ते समो विणसे सही तिणरो कदेय न आवे छै थाह जी॥

२५—सुरज ने चन्द्रमादिक नी चाल थी समो नीपजे दगचाल जी।
नीपजवा लेखे तो काल सासतो समयादिक सब अद्धाकाल जी॥

२६—एक समो नीपजे नें विणसे गयो पछै बीजो समो हुवे ताय जी।
बीजो विणस्यो तीजो नीपजें इम अनुक्रमे नीपजता जाय जी॥

२७—काल वरते छै अढाइ दीप में आगे दीप बारे काल नांहि जी।
माही दीप बारला ओलखी एक ठाम रहे त्यां रा त्यांहि जी॥

२८—कोय समयादिक भेला हुवे नहीं तिण सूं काल नें खंध न कह्यो जिणराय जी।
खंध तो हुवे घणा रा समुदाय थी समदाय विण खंध न थाय जी॥

२९—अनंता गये काल समा हुआ ते एकठा भेला नहीं हुआ कोय जी।
ए तो उपजेनें विणस गया तिण रो खंध किहां थी होय जी॥

२२—गत काल मे अनन्त समय हुए हे, वर्तमान काल मे एक समय है और आगामी काल मे अनन्त समय होगे। यह काल द्रव्य है। इसको पहचानो[14]।

काल शाश्वत-अशाश्वत का न्याय (गा० २१-२६)

२३—भगवान ने काल द्रव्य को निरन्तर उत्पन्न होने की अपेक्षा से शाश्वत कहा है। यह उत्पन्न होता और विनाश को प्राप्त होता है, इस दृष्टि से इसको अशाश्वत कहा है।

२४—काल द्रव्य शाश्वत नहीं हैं। ये प्रवाह की तरह निरन्तर उत्पन्न होते हैं। जो समय उत्पन्न होता है वह विनाश को प्राप्त होता है। प्रवाह रूप से काल का कभी अत नहीं आता।

२५—सूर्य और चन्द्रमादि की चाल से समय निरन्तर जल-प्रवाह की तरह उत्पन्न होता रहता है। इस उत्पत्ति की दृष्टि से काल शाश्वत है। समयादि सर्व अद्धा काल की यही बात है।

२६—एक समय उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त होता है कि दूसरा समय उत्पन्न हो जाता है, दूसरे का विनाश होता है कि तीसरा उत्पन्न हो जाता है। इस तरह समय एक के पीछे एक—अनुक्रम से उत्पन्न होते जाते हैं[15]।

काल का क्षेत्र

२७—काल ढाई द्वीप में वर्तन करता है। उसके बाहर काल नहीं है। ढाई द्वीप के बाहर के ज्योतिषी इसी कारण वहीं के वहीं एक जगह रहते है[16]।

काल के स्कध, देश, प्रदेश, परमाणु क्यो नही ? (गा० २८-३२)

२८—दो समय एकत्रित नहीं होते इसलिए जिन भगवान ने काल के स्कध नही कहा है। स्कध बहुतों के समुदाय से होता है। समुदाय बिना स्कध नहीं होता।

२९—अतीत काल में अनन्त समय हुए है। वे तो जैसे उत्पन्न हुए वैसे ही उनका विनाश भी हो गया। वे कभी एक साथ इकट्ठे नहीं हुए फिर उनका स्कंध कैसे हो?

३०—आगमे काले अनंता समा होसी ते पिण एकठा मेला नहीं कोय जी।
ते तो उपजसें विललावसी, तिण सूं खंध किसी पर होय जी॥

३१—वरतमान समो एक काल रो एक समा रो खंध न होय जी।
ते पिण उपजेनें विले जासी, काल रा थिर द्रव्य न कोय जी॥

३२—खंध विना देस हुवे नहीं खंध देस विना नहीं प्रदेस जी।
प्रदेश अलगो नहीं हुवे खंध थी परमाणूओ न हुवे लवलेस जी॥

३३—तिण सूं काल नें खंध कह्यो नहीं वले नहीं कह्यो देस प्रदेस जी।
खंध थी छूटे अलगो पड्यां विना परमाणूओ कुण कहेस जी॥

३४—काल ने मापो बाध्यो तीथंकरां, चन्द्रमादिक री चाल विख्यात जी।
ते चाल सदा काल सासती ते वध घटे नहीं तिल मात जी॥

३५—तिण सूं मापो तीथंकर बांधीयो जगन समो थाप्यो एक जी।
जगन थिति कार्य ने द्रव्य नी तिण सूं इधकारा भाग अनेक जी॥

३६—असंख्याता समा री थापी आवली पछे मोहरत पोहर दिन रात जी।
पख मास रित अयन थापीया दोय अयना रो वरस विख्यात जी॥

३७—इम वधतां वधतां पल सागर उसरपणी में अवसरपणी जांण जी।
जाव पुद्गल परावरतन थापीया इम काल द्रव्य में पिछांण जी॥

३०—आगामी काल में भी अनन्त समय होंगे। वे भी एक-
साथ इकट्ठे नहीं होंगे। वे जैसे उत्पन्न होंगे वैसे ही
उनका विनाश हो जायगा। तब स्कध किस तरह होगा?

३१—वर्तमान काल एक समय रूप है और एक समय का
स्कध नहीं होता। यह एक समय भी उत्पन्न होकर
विनाश को प्राप्त हो जाता है। काल का इस तरह कोई
स्थिर द्रव्य नहीं होता।

३२—स्कध बिना काल के देश नहीं होता। स्कध और देश
के बिना प्रदेश नहीं होता। यहाँ स्कध से प्रदेश अलग
नहीं होता है इसलिए काल के परमाणु भी नहीं होता।

३३—इसीलिए काल के स्कध नहीं कहा है और न देश और
प्रदेश ही कहे है। स्कध से छूटकर अलग हुए बिना उसके
परमाणु कौन मानेगा[१७]?

३४—तीर्थंकरों ने काल का माप चन्द्रमादिक की विख्यात चाल—
गति से स्थिर किया है। यह चाल—गति सदा तीन काल
में शाश्वती है। यह तिल मात्र भी घटती-बढ़ती नहीं[१८]।

जघन्य काल समय

३५—तीर्थंकरों ने इसी चाल से काल का माप बांधा है, और
जघन्य काल एक 'समय' रूप स्थापित किया है। 'समय'
कार्य और काल द्रव्य की जघन्य स्थिति है। उससे
अधिक काल की स्थिति के अनेक भेद हैं।

काल के भेद (गा० ३६-३८)

३६—असख्यात समय की आवलिका फिर मुहूर्त, पहर, दिन,
रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और दो अयनों का वर्ष
स्थापित किया है।

३७—इस तरह कहते-कहते पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पणी,
अवसर्पणी, यावत् पुद्गल-परावर्त स्थापित किए हैं।
इस तरह काल द्रव्य को पहिचानो[१९]।

३८—इण विध गयो काल नीकल्यो इम हीज आगमीयो काल जी।
वरतमान समो पूर्व तिण सम एक समो छ अधाकाल जी॥

३९—ते समो वरते छै अढी दीप म तिरछो एती दूर जाण जी।
ऊचो वरतै जोतष चक्र लगे, नवसा जोजन परमाण जी॥

४०—नीचो वरते सहस्र जोजन लगे माविदेह री दो विजय र मांय जी।
त्यांमें वरते अनंता द्रव्यां ऊपरे, तिणसूं अनंती कही छै परजाय जी॥

४१—एक एक द्रव्य रे ऊपरे, एक एक समो गिण्यो ताम जी।
तिण सूं एक समा ने अनंता कह्या काल तणी परजाय रे न्याय जी॥

४२—वले कहि कहि नें किसरो कहूं, वरतमान समो सदा एक जी।
तिण एकण नें अनंता कह्या तिणनें ओलखो आण ववेक जी॥

४३—ए काल द्रव्य अरूपी तणो कह्यो छ अल्प विस्तार जी।
हिवे पुदगल द्रव्य रूपी तणो विस्तार सुणो एक धार जी॥

४४—पुदगल रा द्रव्य अनंता कह्या त द्रव्य तो सासता जाण जी।
भावे तो पुदगल असासतो तिणरी बुध्वंत करजो पिछांण जी॥

४५—पुदगल रा द्रव्य अनंता कह्या ते घटे वध नहीं एक जी।
घटे वधे ते भाव पदगल, तिणरा छै भेद अनेक जी॥

३८—इस तरह अतीत काल व्यतीत हुआ है। आगामी काल भी इसी तरह व्यतीत होगा। वर्तमान समय मे, जब कि पूछा जा रहा हो, एक समय अद्धाकाल है[२०]।

काल के भेद : तीनो काल मे एक से

३९—यह समय तिरछा ढाई द्वीप मे वर्तन करता है। ऊँचा ज्योतिष चक्र तक नौ सौ योजन प्रमाण वर्तन करता है।

काल-क्षेत्र (गा० ३९-४०)

४०—नीचे सहस्र योजन तक महा विदेह की दो विजय मे वर्तन करता है[२१]। इन सब मे काल अनन्त द्रव्यों पर वर्तन करता है इससे काल की अनन्त पर्याय कही गयी है।

काल पर्याय अनन्त (गा० ४०-४२)

४१—एक ही समय को अनन्त द्रव्यों पर गिनने से काल की अनन्त पर्याय कही गयी है। काल की पर्याय की दृष्टि से एक समय को अनन्त समय कहा है।

४२—कह कर मै कितना बतला सकता हूँ। वर्तमान समय सदा एक है। इस एक को ही अनन्त कहा है, यह विवेक पूर्वक समझो[२२]।

४३—अरूपी काल द्रव्य का यह सक्षेप में विवेचन किया है। अब रूपी पुद्गल का विस्तार ध्यान पूर्वक सुनो।

पुद्गल : रूपी द्रव्य

४४—पुद्गल द्रव्य अनन्त कहे गये है। इन द्रव्यों को शाश्वत समझो। भाव पुद्गल अशाश्वत है। बुद्धिमान द्रव्य और भाव पुद्गल की पहिचान करें।

४५—पुद्गल द्रव्य अनन्त कहे है। वे एक भी घटते-बढ़ते नहीं। घट-बढ़ तो भाव पुद्गलों की होती है, जिसके अनेक भेद है[२३]।

द्रव्य भाव पुद्गल की शाश्वतता-अशाश्वतता (गा० ४४-४५)

४६—तिणरा च्यार भेद जिनवर कह्या, खंध में देस प्रदेस जी।
चोथो भेद न्यारो परमाणूआ तिणरा छै मोहीज विसेस जी ॥

४७—खंध रे लागो त्यां लग परदेस छ, ते छूटे नें एकलो होय जी।
तिणनें कहीजे परमाणूओ, तिण म फेर पड्यो नहीं कोय जी ॥

४८—परमाणु नें प्रदेस तुल छै, तिणरी सका मूल म आंण जी।
आंगल रे असख्यात में भाग छ तिणनें ओलखो चतुर सुजाण जी ॥

४९—उतकष्टो खंध पुदगल तणो अव सम्पूण लोक प्रमांण जी।
आंगुल रे भाग असंख्यातमें जगन खध एतलो जांण जी ॥

५ —अनत प्रदेसीयो खंध हुवे, एक प्रदेस खेत्र म समाय जी।
ते पुदगल फेल मोटो खध हुवे ते सम्पूण लोक रे मांय जी ॥

५१—समचे पुदगल तीन लोक में खाली ठोर जायगा नहीं काय जी।
ते मामा स्हामा फिर रह्या लोक म एक ठाम रहे नहीं ताय जी ॥

५२—किण ठ्याकंई मेवो तणी जगन तो एक समो छै तांम जी।
उतकष्टी असख्याता कालमी ए भावे पुदगल तणा परिणाम जी ॥

५३—पुदगल नो सभाव छै एहवो अनंता गले ने मिल जाय जी।
तिण सूं पुदगल रा भाव री अनंती कही परजाय जी ॥

४६—पुद्गल द्रव्य के जिन भगवान ने चार भेद कहे हैं—(१) स्कध, (२) देश, (३) प्रदेश और (४) परमाणु। परमाणु की विशेषता यह है :

पुगद्ल के भेद

४७—स्कध से लगा रहता है तब तक प्रदेश होता है और यही प्रदेश जब स्कध से छूट कर अकेला हो जाता है तब उसको परमाणु कहा जाता है। प्रदेश और परमाणु मे केवल इतना-सा ही भेद है और कुछ फर्क नहीं।

परमाणु (गा० ४७-४८)

४८—परमाणु और प्रदेश तुल्य है। इसमें जरा भी शका मत लाओ। परमाणु आँगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर होता है। चतुर और विज्ञ लोग परमाणु को पहचानें[२४]।

४९—पुद्गल का उत्कृष्ट स्कध सम्पूर्ण लोक प्रमाण होता है और जघन्य स्कध आँगुल के असंख्यातवें भाग जितना होता है।

उत्कृष्ट स्कंध : लोक-प्रमाण (गा० ४९-५०)

५०—अनन्त प्रदेशी स्कंध एक प्रदेश-प्रमाण आकाश (क्षेत्र) में समा जाता है और वही पुद्गल स्कध फैल कर विस्तृत हो सम्पूर्ण लोक प्रमाण हो जाता है[२५]।

५१—पुद्गल तीनों लोक में सर्वत्र भरे हुए है। कोई भी ठौर नहीं जो पुद्गल से खाली हो[२६]। ये पुद्गल लोक में इधर-उधर गतिशील है। वे एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते[२७]।

पुद्गल गतिमान द्रव्य

५२—इन चारों ही भेदों की कम-से-कम स्थिति एक समय की और अधिक-से-अधिक असख्यात काल की है[२८]। पुद्गलों के ये परिणाम भाव पुद्गल है।

पुद्गल के भेदो की स्थिति

५३—पुद्गल का स्वभाव ही ऐसा है कि अनन्त विछुडते और परस्पर मिल जाते है। इसी कारण इन पुद्गलों के भावों

पुद्गल का स्वभाव

५४—जे जे वस्तु नीपजे पुदगल तणी, ते ते सगली विललाय जी।
स्यानें भावे पुदगल जिणवर कह्या, द्रव्य तो ज्यूं रा ज्यूं रहै ताय जी॥

५५—आठ कर्म नें शरीर असासता ए नीपना हुआ छै ताय जी।
तिण सूं भाव पुदगल कह्या तेहनें द्रव्य तो नीपजायो नहीं जाय जी॥

५६—छाया तावडो प्रभा कंत छै, ए सगला सभाव पुदगल जाण जी।
वले अधारो नें उद्योत छै, ए पुदगल भाव पिछांण जी॥

५७—हलको भारी सुहालो खरदरो, गोल वटादिक पांच सठाण जी।
घड़ा पटादि में वस्त्रादिक ए सगला भावे पुदगल जांण जी॥

५८—घरत गुलादिक वसूं किणे, भोजनादि सव वखांण जी।
वले सस्त्र विविध प्रकार ना ए सगला भावे पुदगल जांण जी॥

५९—सहुकर्ता मण पुदगल चल गया पिण द्रव्ये तो वस्यो नहीं असमात जी।
ए भावे पुदगल ऊपना हुता ते भावे पुदगल विणस जात जी॥

६०—सहुकर्ता मण पुदगल ऊपनां, पिण द्रव्य तो नहीं उपनो लिगार जी।
उपनां तेहीज विणससी पिण द्रव्य गो नहीं विगाड़ जी॥

६१—द्रव्य तो कदेइ विणसे नहीं तीनोई काल रे मांय जी।
ऊपजे में विणसे ते भाव छै, ते पुदगल री परजाय जी॥

५४—पुद्गल से जो वस्तुए बनती है वे सभी विनाश को प्राप्त हो जाती है। इनको भगवान ने भाव पुद्गल कहा है। द्रव्य पुद्गल तो ज्यों-के त्यों रहते है[३०]। — भाव पुद्गल विनाश शील

५५—आठ कर्म और पाँचों शरीर पुद्गल से उत्पन्न है और अशाश्वत है। इसीलिए भगवान ने इनको भाव पुद्गल कहा है। द्रव्य पुद्गल उत्पन्न नहीं किया जा सकता। — भाव पुद्गल के उदाहरण

५६—छाया, धूप, प्रकाश, कांति इन सब को पुद्गल के लक्षण जानो। इसी प्रकार अंधकार और उद्योत ये भी भाव पुद्गल है।

५७—हल्कापन, भारीपन, खुरदरापन और चिकनापन आदि तथा गोलादि पांच आकार तथा घड़े, वस्त्रादि सब चीजे भाव पुद्गल है।

५८—घृत, गुड़ आदि दसों विकृतियाँ तथा सब तरह के भोजन तथा नाना प्रकार के शस्त्र इन सब को भाव पुद्गल समझो[३१]।

५९—सैकड़ों मन पुद्गल भस्म हो चुके परन्तु द्रव्य पुद्गल जरा भी नहीं जले। जो उत्पन्न हुए वे भाव पुद्गल थे और जिनका विनाश हुआ वे भी भाव पुद्गल। — द्रव्य पुद्गल की शाश्वतता

६०—सैकड़ों मन पुद्गल उत्पन्न होते हैं परन्तु द्रव्य पुद्गल उत्पन्न नहीं होता। ये जो उत्पन्न हुए हैं वे ही विनाश को प्राप्त होंगे परन्तु जो अनुत्पन्न पुद्गल द्रव्य हैं उनका विनाश नहीं होगा। — भाव पुद्गल की विनाशशीलता

६१—द्रव्य का तीनों ही काल में कभी नाश नहीं होता। उत्पत्ति और विलय भाव पुद्गलों का होता है। ये भाव पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं[३२]।

६२—पुद्गल में कह्यो सासतो असासतो, दरब नें भाव रे न्याय जी।
कह्यो उत्तराधेन छतीस में तिण में संका म आंणजो कांय जी॥

६३—अजीव द्रव्य ओलखायवा जोड़ कीधी श्री दुवारा मझार जी।
सम्वत अठारे पचावनें, वैसाख विद पांचम बुधवार जी॥

६२—उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ वे अध्याय में पुद्गल को शाश्वत और अशाश्वत कहा है, वह इसी द्रव्य और भाव पुद्गल की भेद-अपेक्षा से—इसमें जरा भी शंका मत लाना[33]।

६३—अजीव द्रव्य का बोध कराने के लिए यह ढाल श्रीनाथद्वारा में सं० १८५५ की वैशाख बदी पचमी बुधवार के दिन रची है।

६२—पुदगल में कह्यो सासतो असासतो, द्रव्य में भाव रे न्याय जी।
कह्यो छै उत्तराधेन छतीस में, तिण में संका म आंणजो कांय जी॥

६३—अजीव द्रव्य ओलखायवा जोड़ कीधी श्री दुवारा मझार जी।
संवत अठारे पचावनें, वैसाख विद पांचम बुधवार जी॥

२—छः द्रव्य (गा० १) :

प्रथम ढाल में जीव को द्रव्य कहा है[1]। यहाँ अजीव—अचैतन धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल को द्रव्य कहा है। इस तरह स्वामी जी के निरूपण के अनुसार द्रव्यो की सख्या छ होती है। इस निरूपण के आधार आगम हैं। उदाहरण स्वरूप उत्तराध्ययन में स्पष्टत द्रव्यो की सख्या छ मिलती है[2]। वाचक उमास्वाति द्रव्यो की सख्या पाँच ही मानते थे। काल को उन्होने विकल्प मत से द्रव्य बतलाया है[3]। दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द और नेमिचद्र ने द्रव्यो की सख्या छ ही कही है[4]।

समवायाङ्ग में कहा है—'एगे अणाया' (सम० सू० १) अर्थात् अनात्मा एक है। अनात्मा अर्थात् अजीव। स्वामीजी ने धर्मास्तिकाय आदि पाँच अजीव पदार्थ बतलाये हैं और समवायांग में 'अनात्मा एक है' ऐसा प्ररूपण है। प्रश्न हो सकता है कि यह विभेद क्यो? इसका उत्तर इस प्रकार है—धर्मास्तिकाय आदि पांचो पदार्थो का सामान्य गुण अचैतन्य है। इस सामान्य गुण के कारण इन पांचो को एक अनात्म कोटि का कहने में कोई दोष नही। अनन्त जीवो को चैतन्य गुण की अपेक्षा एक जैसे मान कहा है—'एगे आया' (सम०सू० १) उसी तरह अचैतन्य गुण के कारण पांच को एक मान कहा है 'एगे अणाया'। इसी विविक्षा से आगमो मे छ द्रव्यो का विवेचन जीवाजीवविभक्ति के रूप में प्राप्त होता है[5]। दिगम्बर आचार्यों ने भी इसी अपेक्षा से द्रव्य दो कहे हैं। जीव चेतन है और पुद्गल प्रमुख अन्य द्रव्य पाँच उपयोग रहित अचेतन[6]।

१—ढा० १ गा० १ :

२—उत्त० २८ ८

> धम्मो अहम्मो आगास दव्व इक्किक्कमाहिय।
> अणन्ताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल-जन्तवो॥

३—तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ ·

> अजीवकाया धर्माधर्माकाश पुद्गला ॥ १ ॥
> द्रव्याणि जीवाश्च ॥ २ ॥
> कालश्चेत्येके ॥ ३ ॥

४—(क) पञ्चास्तिकाय अधि० १ ६ :

> ते चेव अत्थिकाया तेकालियभावपरिणदा णिच्चा।
> गच्छति दवियभाव परियट्टणलिंगसजुत्ता॥

(ख) द्रव्यसगह २३ · एव छब्भेयमिद जीवाजीवप्पभेददो दव्व।

५—उत्त० ३६ : २-६

६—प्रवचनसार २.३५

> दव्वं जीवमजीव जीवो पुण चेदणोवजोगमओ।
> पोग्गलदव्वप्पमुह अचेदणं हवदि अज्जीव॥

टिप्पणियाँ

१—अजीव पदार्थ (दो॰ १)

पदार्थ राशियाँ दो हैं—(१) जीव और (२) अजीव[1]। संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं उन्हें इन्हीं दो भागों में बाँट सकते हैं। जीव पदार्थ का वर्णन पहली ढाल में किया जा चुका है। दूसरी ढाल में अजीव पदार्थ का विवेचन किया गया है। अजीव पदार्थ जीव पदार्थ का प्रतिपक्षी है[2]। जो जीव न हो वह अजीव है। जीव चेतन है। वह उप योग—ज्ञान और दर्शन—लक्षण से संयुक्त होता है। इन्द्रियों और शरीर के अन्दर ज्ञान-वान जो पदार्थ अनुभव में आता है, वही जीव है। जो सब चीजों को जान और देख सकता है, सुख की इच्छा करता है और दुःख से भय करता है, जो हिताहित करता है और कर्मों का फल भोगता है, वह जीव पदार्थ है[3]। इसके विपरीत जिसमें चेतन गुण का अभाव हो वह अजीव है। जिस पदार्थ में सुख और दुःख का ज्ञान नहीं है, जिसमें हित की इच्छा और अनहित से भय नहीं है वह अजीव पदार्थ है[4]।

१—(क) ठाणाङ्ग २ ४ ९५ दो रासी पं० तं० जीवरासी चेव अजीवरासी चेव

(ख) पन्नवणा १ १ पन्नवणा दुविहा पन्नत्ता। तं जहा जीवपन्नवणा य अजीवपन्नवणा य

२—ठाणाङ्ग २ १ ५७ जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं तंजहा जीवच्चेव अजीवच्चेव

३—पञ्चास्तिकाय २ १२२ :

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं बिभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं॥

४—पञ्चास्तिकाय २ १२५, १२६ :

× × × ×।
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा॥
सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं॥

(२) एक साथ रहने पर भी पाँचो अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को नही खोते। द्रव्यो में युगपत्प्राप्तिरूप अत्यन्त सकर होने पर भी—नित्य सदा काल मिलाप होने पर भी—उनका स्वरूप नष्ट नही होता और हर द्रव्य अपने स्वभाव में अवस्थित रहता है।

प्रश्न होता है फिर जीव द्रव्य क्या कही और रहता है और क्या वह अपना स्वरूप छोड़ सकता है ? अजीव पदार्थ का विवेचन होने से स्वामीजी ने यहाँ पाँच अजीव द्रव्यो के ही एक साथ रहने की चर्चा की है वैसे छहो द्रव्य एक साथ रहते हैं और पाँच अजीव द्रव्यो की तरह जीव द्रव्य भी साथ रह कभी अपने स्वभाव से च्युत नही होता।

स्वामीजी के कथन का आधार आगमो मे अनेक स्थानो पर प्राप्त होता है। ठाणाङ्ग में कहा है—'ण एव वा भूय वा भव्व वा भविस्सइ वा ज जीवा अजीवा भविस्सति अजीवा वा जीवा भविस्सति।' न ऐसा हुआ है, न होता है और न होगा कि जीव कभी अजीव हो अथवा अजीव कभी जीव। इसका अर्थ है जीव द्रव्य कभी धर्म, अधर्म, आकाश, काल या पुद्गल रूप नही होता और न धर्म आदि ही कभी जीव रूप होते हैं। इसी तरह पाँचो अजीव द्रव्य भी परस्पर एक दूसरे में परिवर्तित नही होते।

इस बात को प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार बताया है—"छहो द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, परस्पर एक दूसरे को अवकाश—स्थान देते हैं और सदा काल मिलते रहते हैं तथापि स्वस्वभाव को नही छोडते[1]।'

५—पञ्च अस्तिकाय (गा० ४-६)

इन गाथाओ में धर्म, अधर्म और आकाश इन तीन द्रव्यो को अस्तिकाय कहा गया है। पुद्गल भी अस्तिकाय है। इस तरह पाँच अजीव द्रव्यो मे चार अस्तिकाय है। ठाणांग और तत्त्वार्थ सूत्र में भी ऐसा ही कथन है[2]।

१—पञ्चास्तिकाय अधि० १ ७.

अण्णोण्ण पविसता दिता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलता वि य णिच्च सग सभाव ण विजहति ॥

२—(क) ठाणाङ्ग ४ १.२५२.

चत्तारि अत्थिकाया अजीव काया प० त०—धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र ५ १

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला

३—अरूपी रूपी अजीव द्रव्य (गा० २)

स्वामीजी ने अजीव द्रव्यों के दो विभाग किये हैं—(१) अरूपी और (२) रूपी। आगम में भी ऐसे कथन अनेक जगह उपलब्ध हैं—'रूविणो चेवरूवी य अजीवा दुविहा भवे'[1]। 'अजीवरासी दुविहा पन्नत्ता रूवी अजीवरासी अरूवी अजीवरासी य'[2]। आगमों के अनुसार ही अजीव पदार्थ के पाँच भेदों में पुद्गल के सिवा शेष चारों द्रव्य अरूपी—अमूर्त हैं। पुद्गल रूपी—मूर्त है[3]। धर्म, अधर्म, आकाश और काल का कोई आकार नहीं होता और न उनमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श होते हैं। इससे वे चक्षु आदि इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकते हैं। यही कारण है कि जिससे उन्हें अमूर्त कहा है। पुद्गल के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और संस्थान भी होता है। इन इन्द्रिय-ग्राह्य गुणों के कारण पुद्गल मूर्त—रूपी होता है।

अरूपी रूपी का यह भेद दिगम्बराचार्यों को भी मान्य है। कुन्दकुन्दाचार्य ने इस विषय में इस प्रकार विवेचन किया है : "जिन लिङ्गों—लक्षणों से जीव और अजीव द्रव्य जाने जाते हैं वे द्रव्यों के स्वरूप की विशेषता को लिए हुए मूर्तिक या अमूर्तिक गुण होते हैं। जो मूर्तिक गुण हैं वे इन्द्रिय-ग्राह्य हैं और वे पुद्गल द्रव्य के ही हैं और वर्णादिक भेदों से अनेक तरह के हैं। अमूर्त द्रव्यों के गुण अमूर्तिक जानने चाहिये। धर्मास्तिकाय आदि के गुण मूर्तिप्रहीण—मूर्ति रहित हैं[4]।" इस कथन का सार यह है—जो इन्द्रिय-ग्राह्य गुण हैं उन्हें मूर्ति कहते हैं। पुद्गल के गुण इन्द्रिय-ग्राह्य हैं इसलिये वह मूर्त—रूपी द्रव्य है। अवशेष द्रव्यों के गुण इन्द्रियग्राह्य नहीं—अमूर्ति हैं अतः वे द्रव्य अमूर्त हैं।

४—प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व (गा० ३)

स्वामीजी ने गा० ३ में दो बातें कही हैं :

(१) पाँचों अजीव द्रव्य एक साथ रहते हैं। जहाँ धर्म है वहाँ अधर्म है, वहीं आकाश है, वहीं काल है और वहीं पुद्गल। पाँचों एक क्षेत्रावगाही हैं और परस्पर ओत प्रोत होकर रहते हैं।

१—उत्त० ३६ : ४
२—सम० सू० १४९
३—(क) उत्त० ३६ : ६
(ख) सम० सू० १४९ तथा भगवती १८ : ७ ; ७ १
४—प्रवचनसार अधि० २ : ३८, ३९, ४१, ४२

(२) एक साथ रहने पर भी पांचो अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को नही खोते। द्रव्यो में युगपत्प्राप्तिरूप अत्यन्त सकर होने पर भी—नित्य सदा काल मिलाप होने पर भी—उनका स्वरूप नष्ट नही होता और हर द्रव्य अपने स्वभाव मे अवस्थित रहता है।

प्रश्न होता है फिर जीव द्रव्य क्या कहीं और रहता है और क्या वह अपना स्वरूप छोड़ सकता है ? अजीव पदार्थ का विवेचन होने से स्वामीजी ने यहाँ पाँच अजीव द्रव्यो के ही एक साथ रहने की चर्चा की है वैसे छहो द्रव्य एक साथ रहते हैं और पांच अजीव द्रव्यो की तरह जीव द्रव्य भी साथ रह कभी अपने स्वभाव से च्युत नही होता।

स्वामीजी के कथन का आधार आगमो मे अनेक स्थानो पर प्राप्त होता है। ठाणाङ्ग मे कहा है—'ण एव वा भूय वा भव्व वा भविस्सइ वा ज जीवा अजीवा भविस्सति अजीवा वा जीवा भविस्सति।' न ऐसा हुआ है, न होता है और न होगा कि जीव कभी अजीव हो अथवा अजीव कभी जीव। इसका अर्थ है जीव द्रव्य कभी धर्म, अधर्म, आकाश, काल या पुद्गल रूप नही होता और न धर्म आदि ही कभी जीव रूप होते हैं। इसी तरह पांचो अजीव द्रव्य भी परस्पर एक दूसरे मे परिवर्तित नही होते।

इस बात को प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार बताया है—"छहो द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, परस्पर एक दूसरे को अवकाश—स्थान देते हैं और सदा काल मिलते रहते हैं तथापि स्वस्वभाव को नही छोडते[1]।'

५—पञ्च अस्तिकाय (गा० ४-६)

इन गाथाओ मे धर्म, अधर्म और आकाश इन तीन द्रव्यो को अस्तिकाय कहा गया है। पुद्गल भी अस्तिकाय है। इस तरह पाँच अजीव द्रव्यो मे चार अस्तिकाय है। ठाणांग और तत्त्वार्थ सूत्र में भी ऐसा ही कथन है[2]।

१—पञ्चास्तिकाय अधि० १ ७

अण्णोण्ण पविसता दिता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलता वि य णिच्च सग सभाव ण विजहति ॥

२—(क) ठाणाङ्ग ४ १.२५२

चत्तारि अत्थिकाया अजीव काया प० त०—धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र ५ १ :

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला

प्रथम ढाल गा० ४ में जीव को अस्तिकाय कहा है। इन दोनों कथनों से छः द्रव्यों में काल को छोड़ कर बाकी पाँच अस्तिकाय ठहरते हैं। आगमों में भी अस्तिकाय की संख्या पाँच कही गई है[1]। दिगम्बर आचार्य भी ऐसा ही मानते हैं[2]।

अस्तिकाय 'अस्ति' और 'काय' इन दो शब्दों का यौगिक शब्द है। इसकी दो परिभाषाएँ मिलती हैं

(१) अस्ति=प्रदेश काय=समूह। जो प्रदेशों का समूह रूप हो वह अस्तिकाय है[3]।

(२) 'अस्ति' अर्थात् जिसका अस्तित्व है और 'काय' अर्थात् काय के समान जिसके बहुत प्रदेश हैं। जो है और जिसके बहुत प्रदेश हैं वह अस्तिकाय है[4]।

इन परिभाषाओं में 'अस्ति' शब्द के अर्थ में अन्तर देखा जाता है पर फलितार्थ में कोई अन्तर नहीं।

स्वामीजी ने जो परिभाषा दी है वह उपर्युक्त दूसरी परिभाषा से सम्पूर्णतः मिलती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है "धर्म आदि अपने अपने सामान्य विशेष अस्तित्व में नियत हैं, अपनी सत्ता में अनन्य हैं, निर्विभाग प्रदेशों द्वारा बड़े—अनेक प्रदेशी हैं। इनका नाना प्रकार के गुण और पर्याय सहित अस्तिस्वभाव है। इससे ये अस्तिकाय हैं[5]।'

१—ठाणाङ्ग ५.३.४४१

पंच अत्थिकाया पं० तं०—धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए।

२—द्रव्यसंग्रह २३

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु॥

३—भगवती सार शु० २.१०

४—(क) द्रव्यसंग्रह २४ :

संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य॥

(ख) प्रवचनसार ४५ *२

भण्णंति काया पुण बहुप्पदेसाण पचयं।

५—पंचास्तिकाय १.४-५ :

जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयासं।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता॥
जेसिं अत्थिसहाओ गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं।
ते होंति अत्थिकाया णिप्पण्णं जेहिं तइलुक्कं॥

प्रथम ढाल (गा० १) मे जीव को असख्यात प्रदेशी द्रव्य कहा है। यहाँ गा० ४-५ मे धर्म, अधर्म द्रव्य के भी इतने ही प्रदेश वतलाये गये है। आकाश के प्रदेश अनन्त है (गा० ६)। पुद्गल सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशी है।

दिगम्बर आचार्य भी यही प्रदेश सख्या मानते हैं।

इस तरह जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल सब अस्तिकाय ह।

जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल सभी अस्तित्ववाली वस्तुएँ हैं। इनका अस्तित्व तर्क से सिद्ध किया जा सकता है।

जीव के अस्तित्व को हम पहले सिद्ध कर चुके हैं (पृ० २५ टि० ५)। अजीव न हो तो जीव सज्ञा ही नही वन सकती। इस तरह जीव का प्रतिपक्षी अजीव पदार्थ होगा ही यह स्वयसिद्ध है। अजीव पदार्थो मे पुद्गल रूपी—वर्ण, गध, रस, और स्पर्श युक्त होने से प्रगट दृश्य है। सोना और चांदी, आक्सीजन और हाइड्रोजन सव पुद्गल हैं। स्थान के विना जीव और पुद्गल का रहना सम्भव नही हो सकता इसलिये स्थान—आकाश का भी अस्तित्व सिद्ध होता है। आकाश के सहारे ही यदि जीव और पुद्गल की गति या स्थिति होती तव तो लोक अलोक का ही अस्तित्व नही रहता। इसलिये आकाश से भिन्न गति स्थिति के सहायक पदार्थ धर्म और अधर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। नया, पुराना आदि भाव काल विना नही होते। अत काल द्रव्य भी है। इस तरह जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये छहो सद्भाव द्रव्य हैं।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य की अनेक प्रदेशात्मकता भी साबित की जा सकती है। जीव देह सयुक्त होता है। देहवान होने से स्थान आकाश को अवश्य रोकेगा। एक अविभागी पुद्गल परमाणु जितने आकाश को स्पर्श करता है उतने को प्रदेश कहते हैं यह पहले बतलाया जा चुका है। जीव ऐसे अनेक प्रदेशो को स्पर्श करता है इसलिये जीव का कायत्व सिद्ध है। परमाणु एक ही आकाश-प्रदेश को रोकता है। परमाणु को ध्यान में रखने से पुद्गल के प्रदेशत्व नही है परन्तु परमाणुओ में पारस्परिक मिलन की स्वाभाविक शक्ति रहती है। अत उनसे बने स्कन्ध आकाश के अनेक प्रदेशो को रोकते हैं। यही पुद्गल का कायित्व है। धर्म और अधर्म अखण्ड और विस्तीर्ण होने से अनेक प्रदेशो को रोकेंगे ही। तिल में तेल की तरह धर्म और अधर्म लोक-व्यापी हैं और

१—द्रव्यसंग्रह २५

इस व्यापकता के कारण अनन्त प्रदेशात्मकता अपने आप आ जाती है। धर्म अधर्म और आकाश में परमाणु जितने छोटे अंशों की कल्पना की जा सकती है परन्तु इन पदार्थों के विभक्त टुकड़े नहीं किये जा सकते हैं इसलिये अनेक प्रदेशों का रोकना अनिवार्य/ है। आकाश लोकालोक व्यापी और विस्तृत है। उपर्युक्त रूप से जीव पुद्गल, धर्म अधर्म और आकाश का अस्तित्व और बहुप्रदेशीपन साबित है। अतः इनका अस्तिकाय नाम उपयुक्त ही है।

पंचास्तिकायों के सिद्धान्त को लेकर भगवान महावीर के समय में भी बड़ा वादविवाद था। श्रमणोपासक मद्रुक और गणधर गौतम से अन्यतूर्थिकों ने चर्चाएं कीं। फिर महावीर से समझ कर अनुयायी हुए[1]।

६—धर्म, अधर्म, आकाश का क्षेत्र प्रमाण (गा० ७)

इस गाथा में धर्म अधर्म और आकाश इन अस्तिकायों के क्षेत्र प्रमाण पर प्रकाश डाला है। स्वामीजी ने प्रथम दो को लोक प्रमाण कहा है और आकाशास्तिकाय को लोक-अलोक प्रमाण। यही बात उत्तराध्ययन सूत्र की निम्न गाथा में सूचित है

धम्माधम्मे य दो चेव लोगमित्ता वियाहिया।
लोगालोगे य आगासे समए समयखेत्तिए॥

३६.७।

एक बार गौतम ने भगवान महावीर से पूछा— 'भन्ते! धर्मास्तिकाय कितनी बड़ी है?' महावीर ने उत्तर देते हुए कहा— 'गौतम! यह लोक है, लोकमात्र है, लोक प्रमाण है, लोक-स्पृष्ट है, लोक को स्पृष्ट कर रही हुई है। गौतम! अधर्मास्तिकाय जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए[2]।

इस विषय में इन द्रव्यों से आकाश का वैधर्म्य है। आकाश लोक-प्रमाण ही नहीं अलोक-प्रमाण भी है। इसीलिए आकाश के विषय में कहा गया है— 'खेत्तओ लोगालोग पमाणमित्ते' भ ५ १ ४४२।

१—भगवती १८ ७ ७ १

२—भगवती २ १

धम्मत्थिकाए णं भन्ते! केमहालए पन्नत्ते
गोयमा! लोए, लोयमेत्ते, लोयप्पमाणे, लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ता णं चिट्ठइ
एवं अहम्मत्थिकाए, लोयागासे जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए पंच वि एक्काभिलावा

यहाँ यह स्मरणीय है कि जीव का क्षेत्र लोक-प्रमाण है। काल केवल ढाई द्वीप में है—"समय समयखेत्तिए"

७—धर्म, अधर्म, आकाश शाश्वत और स्वतन्त्र द्रव्य (गा० ८-९) :

इन गाथाओ में धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनो द्रव्यो के बारे में निम्नलिखित बातें कही गई हैं : (१) तीनो शाश्वत हैं, और (२) तीनो के गुण, पर्याय भिन्न-भिन्न और तीनो काल मे अपरिवर्तनशील हैं। हम यहाँ इन दोनो बातो पर क्रमश प्रकाश डालेंगे।

(१) उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—"धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीनो द्रव्य सर्वकालिक और अनादि अनन्त हैं[1]।"

आगमो मे अस्तिकाय द्रव्यो का विवेचन करते हुए कहा गया है "वे कभी नही थे ऐसा नही, वे कभी नही हैं ऐसा नही, वे कभी नही होगे ऐसा नही, वे थे, हैं और रहेंगे। वे ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य हैं[2]।" इससे पाँचो द्रव्यो की शाश्वतता पर प्रकाश पडता है।

एक बार गौतम ने श्रमण भगवान महावीर से पूछा—"भन्ते ! धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय रूप में काल की अपेक्षा कब तक रहती है ?" महावीर ने उत्तर दिया "गौतम ! 'सव्वद्ध'—सर्वकाल[3]।" यह उत्तर केवल धर्मास्तिकाय पर ही नही अद्धाकाल तक सब द्रव्यो पर घटित होता है। इससे धर्म आदि तीन ही नही सर्व द्रव्य शाश्वत माने गये हैं, यह स्पष्ट हो जाता है।

(२) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन तीनो के लक्षणो का वर्णन आगे चल कर गाथा ११ से १३ में आया है। इनके गुण और कार्यो की भिन्नता वहाँ से स्पष्ट है। जो द्रव्य और गुण के आश्रित होकर रहे वह पर्याय है। पर्यायें द्रव्य और उनके गुण के अनुकूल होती हैं। भिन्न-भिन्न गुणो वाले अस्तिकायो की पर्यायें भिन्न-भिन्न ही

१—उत्त० ३६ ८

धम्माधम्मागासा तिन्नि वि एए अणाइया।
अपज्जवसिया चेव सव्वद्धं तु वियाहिया॥

२—ठाणाङ्ग ५ ३ ४४१

कालओ ण कयाति णासी न कयाइ न भवति ण कयाई ण भविस्सइत्ति, भुविं भवति य भविस्सति त धुवे णितिते सासत अक्खए अव्वते अवट्ठिते णिच्चे। भगवती २.१०

३—पण्णवणा १८ कायस्थिति पद दार २२

धम्मत्थिकाए ण पुच्छा। गोयमा ! सव्वद्ध, एव जाव अद्धासमए

होंगी यह स्वाभाविक है। धर्म अधर्म और आकाश तीनों काल में अपने गुण और पर्यायों सहित विद्यमान रहते हैं। इनके गुण और पर्याय भिन्न-भिन्न तो हैं ही साथ ही साथ किसी भी काल में एक के गुण-पर्याय दूसरे के नहीं होते।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—'धर्म अधर्म और लोकाकाश अपृथग्भूत (एक क्षेत्रावगाही) और समान परिमाण वाले होते हैं पर निश्चय से तीनों द्रव्यों की पृथक उपलब्धि है। इन तीनों में एकता अनेकता है। ये तीनों द्रव्य एक क्षेत्र में रहते हैं और एक दूसरे में ओतप्रोत होकर रहते हैं अतः एक क्षेत्रावगाही होने से पृथक नहीं हैं फिर भी तीनों के स्वभाव और कार्य भिन्न भिन्न हैं और हरएक अपनी अपनी-सत्ता में मौजूद है। एक क्षेत्रावगाह की दृष्टि से अपृथकत्व होते हुए भी गुण—स्वभाव और पर्याय की दृष्टि से भिन्नता को लिए हुए हैं[1]।"

जो बात धर्म अधर्म और आकाश के बारे में यहाँ कही गई है वही बाकी द्रव्यों के विषय में घटती है अर्थात् सभी द्रव्य शाश्वत स्वतन्त्र हैं।

८—धर्म, अधर्म आकाश विस्तीर्ण निष्क्रिय द्रव्य हैं (गा० १०)

इस गाथा में धर्म अधर्म और आकाश इन द्रव्यों के बारे में तीन बातें कही गई हैं

(१) ये तीनों द्रव्य फैले हुए हैं,

(२) तीनों निष्क्रिय हैं, और

(३) पुद्गल और जीव द्रव्य ही सक्रिय हैं। इनके हलन-चलन क्रिया करने का क्षेत्र लोक है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है

(१) यह पहले बताया जा चुका है कि धर्म अधर्म और आकाश द्रव्य लोक प्रमाण हैं। लोक इनसे व्याप्त है[2] और ये लोक में फैले हुए हैं—लोकावगाढ़—लोक-व्यापी हैं।

१—पञ्चास्तिकाय : १ ९६

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाणा।
पुधगुवलद्धिविसेसा करंति एगत्तमण्णत्तं॥

२—ठाणाङ्ग : ४ । ३३४ :

चउहिं अत्थिकाएहिं लोगे फुडे पं० तं०—धम्मत्थिकाएणं अधम्मत्थिकाएणं जीव त्थिकाएणं पुग्गलत्थिकाएणं

आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्मास्तिकाय के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसे "लोगोगाढं पुट्ठ पिहुलम्[१]" कहा है। पृथुल का अर्थ है स्वभाव से ही सर्वत्र विस्तृत—"स्वभावादेव सर्वतो विस्तृतत्वात्पृथुल[२]।" पृथुल शब्द पर टीका करते हुए जयसेनाचार्य लिखते हैं—"पृथुलोऽनाद्यतरूपेण स्वभावविस्तीर्ण न च केवलिसमुद्घाते जीवप्रदेशवल्लोके वस्त्रादिप्रदेशविस्तारवद्वा पुनरिदानीं विस्तीर्ण[३]।" इसका अर्थ है जीव-प्रदेश समुदघात के समय ही लोक-प्रमाण विस्तीर्ण होने हैं पर धर्मास्तिकाय अनादि अनन्त काल से अपने स्वभाव से ही लोक मे विस्तृत है। उसका विस्तार वस्त्र की तरह सादि सान्त और एक देश रूप नही वरन् स्वभावत समूचे लोक मे अनादि अनन्त रूप से है।

(२)निष्क्रिय का अर्थ है गति का अभाव। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—"जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य निमित्तभूत पर द्रव्य की सहायता से क्रियावत होते हैं। शेप के जो चार द्रव्य हैं वे क्रियावत नही हैं। जीव द्रव्य पुद्गल का निमित्त पाकर क्रियावत होते हैं और पुद्गल स्कध निश्चय ही काल द्रव्य के निमित्त से क्रियावत हैं[४]।" इसका भावार्थ है—एक प्रदेश से प्रदेशान्तर में गमन करने का नाम क्रिया है। षट् द्रव्यो में से जीव और पुद्गल ये दोनो द्रव्य प्रदेश से प्रदेशान्तर मे गमन करते हैं और कप रूप अवस्था को भी धारण करते हैं, इस कारण ये क्रियावन्त कहे जाते हैं। शेप चार द्रव्य निष्क्रिय, निष्कम्प हैं। जीव द्रव्य की क्रिया के वहिरग निमित्त कर्म नोकर्म रूप पुद्गल हैं। इनकी ही सगति से जीव अनेक विकार रूप होकर परिणमन करता है। और जब काल पाकर पुद्गलमय कर्म नोकर्म का अभाव होता है तब जीव साहजिक निष्क्रिय निष्कम्प स्वाभाविक अवस्थारूप सिद्ध पर्याय को धारण करता है। इस कारण पुद्गल का निमित्त पाकर जीव क्रियावान् होता है। और काल का बहिरग कारण पाकर पुद्गल अनेक स्कन्ध रूप विकार को धारण करता है। इस कारण काल पुद्गल की क्रिया का सहकारी कारण है। परन्तु इतना विशेष है कि जीव द्रव्य की तरह पुद्गल निष्क्रिय कभी भी नही होता। जीव शुद्ध होने के उपरान्त किसी काल में भी क्रियावान् नही होगा।

१—पञ्चास्तिकाय १ ८३

२—पञ्चास्तिकाय १ ८३ की अमृतचन्द्रीय टीका

३—वही

४—पञ्चास्तिकाय १ ९८ :

जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवति ण य सेसा।
पुग्गलकरणा जीवा खधा खलु कालकरणा दु॥

पुद्गल का यह नियम नहीं है। वह परसहाय से सदा क्रियावान् रहता है[१]।

(३) जीव और पुद्गल की हलन चलन क्रिया का क्षेत्र लोक परिमित है। कहा है 'जितने में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं उतना लोक है। जितना लोक है उतने में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं[२]।"

जीव और पुद्गलों की गति लोक के बाहर नहीं हो सकती—इसके चार कारण कारण बताये गये हैं (१) गति का अभाव (२) सहायक का अभाव—(३) रूक्ष होने से और (४) लोक स्वभाव के कारण[३]।

एक बार गौतम ने पूछा "भन्ते ! क्या महान् ऋद्धिवाला देव लोकांत में खड़ा रह अलोक में अपने हाथ आदि के संकोचन न करने अथवा पसारने में समर्थ है ?" महावीर ने जवाब दिया 'नहीं गौतम ! जीवों के आहारोपचित शरीरोपचित और कलेवरोपचित पुद्गल होते हैं तथा पुद्गलों को आश्रित कर ही जीव और अजीवों (पुद्गलों) की गति पर्याय होती है। अलोक में जीव नहीं हैं पुद्गल भी नहीं हैं इस हेतु से देव वैसा करने में असमर्थ है[४]।

६—धर्म, अधर्म और आकाश के लक्षण और पर्याय (गा० ११-१४)

धर्मास्तिकाय का स्वभाव—जीव और पुद्गल द्रव्यों के गमन में सहायक होना है[५]। जीव और पुद्गल ही गमन-क्रिया करते हैं—धर्म-द्रव्य उनसे यह क्रिया नहीं करता फिर भी धर्म द्रव्य के अभाव में जीव और पुद्गल द्रव्य की गमन क्रियाएं नहीं हो सकतीं। धर्म द्रव्य स्वयं निष्क्रिय है। वह दूसरों को भी गति प्रेरणा नहीं देता। परन्तु जीव और पुद्गल की गमन क्रिया में उदासीन सहायक होता है। जिस तरह जल मछलियों को तैरने की प्रेरणा नहीं करता परन्तु तिरती हुई मछलियों का सहारा अवश्य होता है उसी तरह धर्म

१—पञ्चास्तिकाय १.९८ की बालावबोध टीका

२—ठाणांग १०.१.४:

जाव ताव जीवाण य पोग्गलाण य गतिपरियाए ताव ताव लोए जाव ताव लोगे ताव ताव जीवाण य पोग्गलाण य गतिपरियाए एवंप्पेगा लोगट्ठिती।

३—ठा० ४.३.३३७ : चउहिं ठाणेहिं जीवा य पोग्गला य णो संचाएंति बहिया लोगंता गमणयाए तं० गतिअभावेणं णिरुवग्गहयाए लुक्खत्ताए लोगाणुभावेणं।

४—भगवती १६.८

५—उत्त० २८.९ : गइलक्खणो उ धम्मो

द्रव्य गति की प्रेरणा नही करता परन्तु क्रिया करते हुए, गति करते हुए जीव और पुद्गल का सहायक अवश्य होता है[1]। विना धर्म-द्रव्य के जीव पुद्गलो का स्थानान्तर होना सम्भव नही है। धर्मास्तिकाय समूचे लोक में व्याप्त है, सब जगह फैला हुआ है।

अधर्मास्तिकाय और धर्मास्तिकाय एक ही तरह के द्रव्य हैं। धर्मास्तिकाय की तरह ही अधर्मास्तिकाय लोक-प्रमाण विस्तृत है, पर दोनो के कार्यो मे फर्क है। जैसे धर्म-द्रव्य गति सहायी है उसी तरह अधर्म-द्रव्य स्थिति सहायक है[2]। जिस तरह गतिमान जीव और पुद्गल को धर्म का सहारा रहता है उसी तरह स्थिति परिणत जीव और पुद्गल को अधर्म के सहारे की आवश्यकता पडती है। विना इस द्रव्य की सहायता के जीव और पुद्गल की स्थिति नही हो सकती।

अधर्म-द्रव्य जीव और पुद्गल की स्थिति का उदासीन हेतु है। जिस तरह वृक्ष की छाया चलते हुए यात्रियो को पकड कर नही ठहराती परन्तु ठहरे हुए मुसाफिरो का आश्रय होती है उसी तरह अधर्म गति-क्रिया करते हुए जीव पुद्गल द्रव्यो को नही रोकता परन्तु स्थिर हुए जीव पुद्गलो का सहारा होता है। जिस तरह पृथ्वी चलते हुए पशुओ को रोककर नही रखती और न उनको ठहरने की प्रेरणा करती है परन्तु ठहरे हुए पशुओ का आधार अवश्य होती है उसी तरह अधर्म द्रव्य न तो स्वय द्रव्यो को पकड कर स्थिर करता है और न स्थिर होने की प्रेरणा करता है परन्तु अपने आप स्थिर हुए द्रव्यो को पृथ्वी की तरह सहारा देता है।

धर्म और अधर्म द्रव्य गति स्थिति के हेतु या इन परिस्थितियो के प्रेरक कारण नही हैं परन्तु केवल उदासीन या वहिरङ्ग कारण हैं। यदि धर्म और अधर्म ही गति स्थिति के मुख्य कारण होते तब तो गतिशील द्रव्य गति ही करते रहते और स्थित द्रव्य स्थित ही रहते, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है। हम हरएक चीज को गति करते हुए और स्थिर होते हुए देखते हैं अत गति या स्थिति का प्रेरणात्मक या हेतु कारण धर्म या अधर्म नही परन्तु वे चीजें खुद हैं। चीजें अपनी ही प्रेरणा से गमन, स्थिति आदि क्रियाएँ करती हैं और ऐसा करते हुए धर्म, अधर्म द्रव्य का सहारा लेती हैं[3]।

१—पचास्तिकाय १ ८४-८५

२—उत्त० ८ ९ : अहम्मो ठाणलक्खणो

३—पचास्तिकाय १. ८६, ८८-८९

आकाश द्रव्य का स्वभाव जीव पुद्गल धर्म अधर्म और काल को स्थान देना — अवकाश देना है[1]। आकाश जीवादि समस्त द्रव्यों का भाजन—रहने का स्थान है। ये द्रव्य आकाश के प्रदेशों को दूर कर नहीं रहते परन्तु आकाश के प्रदेशों में अनुप्रवेश कर रहते हैं। इसलिये आकाश का गुण अवगाह कहा गया है। आकाश अपने में अनन्त जीव और पुद्गलादि सब द्रव्यों को उसी तरह स्थान देता है जिस तरह जल नमक को स्थान देता है। फर्क केवल इतना ही है कि जल केवल खास सीमा (Saturation point) तक ही नमक को समाता है परन्तु आकाश के समाने की सीमा नहीं है। जिस तरह नमक जल को हटा कर उसका स्थान नहीं लेता परन्तु जल के प्रदेशों में प्रवेश करता है ठीक उसी तरह जीवादि पदार्थ आकाश को दूर हटा कर उसका स्थान नहीं लेते परन्तु उसमें अनुप्रवेश कर रहते हैं।

धर्म अधर्म और आकाश के अवगाह गुण पर प्रकाश डालने वाला एक सुन्दर वार्तालाप इस प्रकार है 'एक बार गौतम ने पूछा "इस धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में कोई पुरुष बैठने खड़ा होने अथवा लेटने में समर्थ है? महावीर ने उत्तर दिया 'नहीं गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं। पर उस स्थान में अनन्त जीव अवगाढ़ हैं। जिस प्रकार कोई कूटागारशाला के द्वार बन्द कर उसमें एक यावत् हजार दीप जलावे तो उन दीपों के प्रकाश परस्पर मिलकर, स्पर्श कर यावत् एक रूप होकर रहते हैं पर उनमें कोई सोने बैठने में समर्थ नहीं होता हालांकि अनन्त जीव वहाँ अवगाढ़ होते हैं। उसी तरह धर्मास्तिकाय आदि में कोई पुरुष बैठने आदि में समर्थ नहीं हालांकि वहाँ अनन्त जीव अवगाढ़ होते हैं[2]।

आकाश के दो भेद हैं—एक लोक और दूसरा अलोक। अनन्त आकाश में जो क्षेत्र पुद्गल और जीव से संयुक्त है और धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय से भरा हुआ है वही क्षेत्र तीनों काल में लोक कहा जाता है। लोक के बाहर जो द्रव्यों से रहित अनन्त आकाश है उसको अलोक कहते हैं। इस तरह साफ प्रगट है कि धर्म अधर्म काल पुद्गल जीव द्रव्य आकाश बिना नहीं रह सकते परन्तु इनसे रहित आकाश हो सकता है। इसीलिए पंचास्तिकाय ग्रन्थ में कहा है—"जीव पुद्गलसमूह धर्म और अधर्म ये द्रव्य लोक से

१—(क) पञ्चास्तिकाय १ ९०

(ख) उत्तराध्ययन २८ ९ : भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं ॥

२—भगवती १३ ४

अनन्य हैं अर्थात् लोक में हैं। लोक से बाहर नहीं हैं। आकाश लोक से बाहर भी है। यह अनन्त है इसे अलोक कहते हैं। आकाश नित्य पदार्थ है, क्रियाहीन द्रव्य है और वर्णादि रूपी गुणों से रहित अर्थात् अमूर्त है।"

अब यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि आकाश जैसे द्रव्यों का भाजन माना जाता है वैसे ही उसे गति और स्थिति का कारण क्यों नहीं माना जाय ? ऊपर दिखाया जा चुका है कि आकाश लोक और अलोक दोनों मे है। जैन मान्यता के अनुसार सिद्ध भगवान का स्थान ऊर्ध्व लोकान्त है। इसका कारण यह है कि धर्म और अधर्म द्रव्य उसके बाद नहीं हैं। अब यदि धर्म और अधर्म का अस्तित्व स्वीकार न किया जाय और आकाश ही को गमन और स्थिति का कारण मान लिया जाय तब तो सिद्ध भगवान का अलोक में भी गमन होगा जो वीतराग देव के वचनों के विपरीत होगा। इसलिये गमन और स्थान का कारण आकाश नहीं हो सकता। यदि गमन का हेतु आकाश होता अथवा स्थान का हेतु आकाश होता तो अलोक की हानि होती और लोक के अन्त की वृद्धि भी होती। इसलिये धर्म और अधर्म द्रव्य गमन और स्थिति के कारण हैं परन्तु आकाश नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक द्रव्य हैं, पर ये क्रमशः अनन्त पदार्थों को गमन, स्थिति और अवकाश देते हैं। इन अनन्त वस्तुओं की उपेक्षा से इनकी पर्यायें अनन्त कही गयी हैं।

१०—धर्मास्तिकाय के स्कंध, देश, प्रदेश भेद (गा० १५-१६)

धर्मास्तिकाय को एक नियत, अक्षत, अव्यय और अवस्थित द्रव्य बताया गया है ऐसी हालत में उसके विभाग कैसे हो सकते हैं—यह एक प्रश्न है ? इसका उत्तर इस प्रकार है वास्तव में धर्मास्तिकाय अखण्ड द्रव्य है और उसके जुदे-जुदे अंश—विभाग—टुकड़े नहीं किये जा सकते पर अखण्ड द्रव्य में भी अंशों की कल्पना तो हो ही सकती है। एक स्थूल उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। धूप और छाया को अगर हम चाकू से काटना चाहें और उनके अलग-अलग अंश या टुकड़े करना चाहें तो यह असम्भव होगा फिर भी छोटे-बड़े किसी भी माप से हम उसके अंशों की कल्पना कर सकते हैं। इसी तरह धर्मास्तिकाय में भी अंशों की कल्पना कर उसके विभाग बताये गये हैं।

'प्रदेश' का अर्थ है वस्तु का उससे अभिन्न संलग्न सूक्ष्मतम अंश। समूचा अन्यून धर्मास्तिकाय स्कंध है। संलग्न सूक्ष्मतम अंश की अलग कल्पना से अगर एक सूक्ष्मतम अंश की अलग परिगणना की जाय तो वह धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश कहा जायगा। दो प्रदेश, तीन प्रदेश यावत् एक कम सर्व प्रदेश जैसे अंशों—भागों की कल्पना की जाय तो ये धर्मास्तिकाय के देश होंगे। एक प्रदेश भी कम नहीं—समूचा धर्मास्तिकाय स्कन्ध है। इस तरह प्रदेश-कल्पना से धर्मास्तिकाय के स्कन्ध, देश और प्रदेशों का विभाग परिकल्पित है।

जिस तरह धर्मास्तिकाय द्रव्य के स्कन्ध देश और प्रदेश ये तीन विभाग होते हैं उसी तरह अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के भी तीन तीन भाग होते हैं। काल द्रव्य के ऐसा विभाग नहीं होता। वह एक अद्धासमय रूप होता है—यह हम आगे जाकर देखेंगे। इसी विवक्षा से आगमों में अरूपी अजीवों के दस भाग बतलाये हैं[1]।

पुद्गलास्तिकाय का एक भेद परमाणु के नाम से अधिक कहा गया है। इस तरह उसके स्कन्ध देश प्रदेश और परमाणु ये चार भाग होते हैं। इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन आगे चल कर आने वाला है।

यहाँ जो कहा गया है कि समूची अस्तिकाय ही अस्तिकाय होती है उसका एक अंश नहीं इस विषय का एक सुन्दर वार्तालाप हम यहाँ देते हैं

'हे भदन्त! धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश धर्मास्तिकाय है ऐसा कहा जा सकता है?"

"हे गौतम! यह अर्थ संगत नहीं। इसी तरह दो तीन चार पाँच, छः सात आठ नव, दस संख्येय और असंख्येय प्रदेश भी धर्मास्तिकाय नहीं कहे जा सकते।

"हे भदन्त! धर्मास्तिकाय के प्रदेश धर्मास्तिकाय हैं क्या ऐसा कहा जा सकता है?"

"हे गौतम! यह अर्थ संगत नहीं।

"हे भदन्त! एक प्रदेश न्यून धर्मास्तिकाय धर्मास्तिकाय है, ऐसा कहा जा सकता है?"

"हे गौतम! यह अर्थ संगत नहीं।"

'हे भगवन्! ऐसा किस हेतु से कहते हैं?'

"हे गौतम! चक्र का खण्ड चक्र होता है या सकल चक्र चक्र?"

'हे भगवन्! सकल चक्र चक्र होता है, चक्र का खण्ड चक्र नहीं होता।

'हे गौतम! जिस तरह पूरा चक्र, छत्र चर्म दण्ड वस्त्र आयुध मोदक—चक्र, छत्र चर्म दण्ड वस्त्र आयुध मोदक होता है, उनका अंश चक्र छत्र आदि नहीं इसी हेतु से गौतम! ऐसा कहता हूँ कि धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश धर्मास्तिकाय है ऐसा नहीं कहा जा सकता धर्मास्तिकाय के प्रदेश धर्मास्तिकाय है ऐसा नहीं कहा जा सकता एक प्रदेश न्यून धर्मास्तिकाय धर्मास्तिकाय है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।'

१—(क) उत्त० ३६.५-६ :

धम्मत्थिकाए तद्देसे तप्पएसे य आहिए।
अहम्मे तस्स देसे य तप्पएसे य आहिए॥
आगासे तस्स देसे य तप्पएसे य आहिए।
अद्धासमए चेव अरूवी दसहा भवे॥

(ख) समवायाङ्ग सू० १४९

२—भगवती २.१०

"हे भगवन् ! फिर किसे यह धर्मास्तिकाय है ऐसा कहा जा सकता है ?"

"हे गौतम ! धर्मास्तिकाय के असंख्येय प्रदेश हैं। वे सब जब कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, निःशेष, एकग्रहणग्रहीत होते हैं तब वे धर्मास्तिकाय कहलाते हैं।"

"हे गौतम ! अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के सम्बन्ध में भी ऐसा ही वक्तव्य है। अन्तिम तीन के अनन्त प्रदेश[1] जानो। इतना ही अन्तर है, शेष पूर्ववत्[2]।"

११—धर्मास्तिकाय विस्तृत द्रव्य है (गा० १७) :

गा० १० में कहा गया है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय लोक में और आकाशास्तिकाय लोकालोक में फैली हुई हैं। यह बताया जा चुका है कि वे किस तरह पृथुल—विस्तीर्ण हैं (पृ०८२ टि० ८ (१))। इस गाथा में इसी बात को पुनः मौलिक उदाहरणों द्वारा समझाया गया है। कहीं पर पड़े हुए धूप या छाया पर हम दृष्टि डालें तो देखेंगे कि वे विस्तीर्ण हैं--भूमि पर संलग्न रूप से छाये हुए हैं। विस्तीर्ण धूप या छाया में बीच में कहीं जोड़ नहीं मालूम देगी, न किसी तरह का घेरा दिखाई देगा। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का स्वरूप भी ऐसा ही समझना चाहिए।

जीव द्रव्य के स्वरूप वर्णन में जीव को शरीर-व्याप्त बताया गया है (पृ० ३६ (२३))। जिस तरह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि लोक-प्रमाण और आकाशास्तिकाय लोकालोक-प्रमाण है उसी प्रकार जीवास्तिकाय शरीर-प्रमाण है। कह सकते हैं कि आत्मा शरीर में धूप और छाया की तरह ही विस्तीर्ण और संलग्न रूप से व्याप्त पदार्थ है।

इस अपेक्षा से पुद्गल और काल के स्वरूप पृथक् हैं। उसका विवेचन बाद में किया जायगा।

१२—धर्मास्तिकाय आदि के माप का आधार परमाणु है (गा० १८) :

हमने टिप्पणी १० (पृ० ८० अनु० २) में कहा है कि पुद्गल का चौथा भेद परमाणु होता है। प्रदेश अविभक्त संलग्न सूक्ष्मतम अंश होता है। परमाणु पुद्गल का वह सूक्ष्मतम अंश है जो

१—जीव के प्रदेश इसी भगवती तथा अन्य आगमों में असंख्येय ही कहे गये हैं। श्वे० दिग० सभी आचार्य ऐसा ही मानते हैं। यहाँ जीव की भी प्रदेश-संख्या अनन्त किस विवक्षा से कही है—समझ में नहीं आता।

२—भगवती २.१०

उससे बिछुड़ कर अकेला—जुदा हो गया हो। पुद्गल का विभक्त सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अंतिम अविभाज्य खण्ड परमाणु है। सुतीक्ष्ण शस्त्र से भी जिसका छेदन भेदन नहीं किया जा सकता वह परमाणु है। इसे सिद्धों—केवलियों ने सब प्रमाण का आदि भूत प्रमाण कहा है[1]। यह सूक्ष्मतम परमाणु ही धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के माप का आधार है और उसीसे उनके प्रदेशों की संख्या का परिमाण निकाला गया है।

१२—धर्मादि की प्रदेश-संख्या (गा० १६ २०)

प्रदेश की परिभाषा इस रूप में मिलती है— "जितना आकाश अविभागी पुद्गल परमाणु से रोका जाय उसे ही समस्त परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ प्रदेश जानो[2]।"

धर्मादि द्रव्यों की प्रदेश-संख्या क्रमशः असंख्यात आदि कही गई है। यह इसी आधार पर कि वह द्रव्य आकाश के उपयुक्त कितने प्रदेशों को रोकता है।

दूसरे शब्दों में परमाणु के बराबर आकाश स्थान को प्रदेश कहा जाता है। आकाश के प्रदेश परमाणुओं के माप से अनन्त हैं। इसी तरह धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य के प्रदेश परमाणु के माप से असंख्यात—संख्या रहित हैं। इस तरह प्रदेशों की उत्पत्ति परमाणु से होती है क्योंकि अविभागी पुद्गल परमाणु केवल प्रदेश मात्र होता है। वह आकाश का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म क्षेत्र रोकता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

"जैसे वे (एक परमाणु बराबर कहे गये) आकाश के प्रदेश परमाणुओं के माप से अनंत गिने जाते हैं, उसी प्रकार शेष धर्म अधर्म अजीव द्रव्य के भी प्रदेश परमाणु रूप माप से माप हुए होते हैं। अविभागी पुद्गल-परमाणु अप्रदेशी—दो आदि प्रदेशों से रहित अर्थात् प्रदेश-मात्र होता है। उस परमाणु से प्रदेशों की उत्पत्ति कही गयी है[3]।

१—भगवती ६.७ : सत्थेण सुतिक्खेण वि छेत्तुं भेत्तुं च जं किर न सक्का । तं परमाणु सिद्धा वयंति आई पमाणाणं

२—द्रव्यसंग्रह २७

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्ठद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥

३—प्रवचनसार अ २.४५ :

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं ।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ।

१४—काल द्रव्य । स्वरूप (गा० २१-२२) :

इन गाथाओ मे स्वामीजी ने काल के विषय मे निम्न बातें कही हैं

(१) काल अरूपी अजीव द्रव्य है।

(२) काल के अनन्त द्रव्य हैं।

(३) काल द्रव्य निरन्तर उत्पन्न होता रहता है।

(४) वर्तमान काल एक समय रूप है।

इन पर नीचे क्रमश विचार किया जाता है

(१) काल अरूपी अजीव द्रव्य है :

अहोरात्र, मास, ऋतु आदि काल के भेद जीव भी हैं और अजीव भी हैं—ऐसा उल्लेख ठाणांङ्ग मे मिलता है[1]। टीकाकार अभयदेव स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं. 'काल के अहोरात्र आदि भेद जीव या अजीव पुद्गल के पर्याय हैं। पर्याय और पर्यायी की अभेद-विवक्षा से जीव-अजीव के पर्याय-स्वरूप काल-भेदो को जीव अजीव कहा है[2]।' यह स्पष्टीकरण काल द्रव्य को स्वतन्त्र द्रव्य न मानने की अपेक्षा से है। हम पूर्व में उल्लेख कर आये हैं कि कुछ आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य नही मानते। वे काल को जीव अजीव की पर्याय ही मानते हैं और उसे उपचार से द्रव्य कहते हैं[3]। काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नही—यह प्रश्न उमास्वाति के समय में ही उठ चुका था। उमास्वाति का खुद का अभिमत काल को स्वतन्त्र द्रव्य न मानने के पक्ष में था (पृ० ६७ टि० २ का प्रथम अनुच्छेद)।

जब आगमो पर दृष्टि डाली जाती है तो देखा जाता है कि वहाँ काल को स्पष्टत स्वतन्त्र द्रव्य कहा गया है[4]। स्पष्ट उल्लेखो की स्थिति मे विचार किया जाय तो

१—ठाणाङ्ग २ ४ ६५ ·

समयाति वा ओसप्पिणीति वा जीवाति या अजीवाति या पवुच्चति

२—ठाणाङ्ग २ ४.६५ की टीका

समया इति वा आवलिका इति वा यत्कालवस्तु तदविगानेन जीवा इति च, जीवपर्यायत्वात, पर्यायपर्यायिणोश्च कथञ्चिदभेदात्, तथा अजीवानां—पुद्गला-दीनां पर्यायत्वादजीवा इति च।

३—नवतत्त्वप्रकरणम् (देवेन्द्र सूरि) उवयारा दव्वपज्जाओ

४—(क) भगवती २५ ४, २५ २ (ख) देखिए पृ० ६७ पा० टि० २

ठाणाङ्ग के उल्लेख में काल के भेदों को जीव अजीव कहने का कारण काल का दोनों प्रकार के पदार्थों पर वर्तन है।

दिगम्बर आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में मानते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं— 'पाँच अस्तिकाय और छट्ठा काल मिलकर छः द्रव्य होते हैं। काल परिवर्तन-लिंग से संयुक्त है। ये षट् द्रव्य त्रिकाल भाव परिणत और नित्य हैं[1]। सद्भाव स्वभाव वाले जीव और पुद्गलों के परिवर्तन पर से जो प्रगट देखने में आता है वही नियम से—निश्चयपूर्वक काल द्रव्य कहा गया है[2]। वह काल वर्तना लक्षण है[3]।' इस कथन का भावार्थ है—जीव पुद्गलों में जो समय-समय पर नवीनता-जीर्णता रूप *स्वाभाविक परिणाम होते हैं वे किसी एक द्रव्य की सहायता के बिना नहीं हो सकते।* जैसे गति स्थिति, अवगाहना धर्मादि द्रव्यों के बिना नहीं होती वैसे ही जीवों और पुद्गलों की परिणति किसी एक द्रव्य की सहायता के बिना नहीं होती। परिणमन का जो निमित्त कारण है वह काल द्रव्य है। जीव और पुद्गलों में जो स्वाभाविक परिणमन होते हैं उनको देखते हुए उनके निमित्त कारण निश्चय काल को अवश्य मानना योग्य है।

स्वामीजी ने आगमिक विचारधारा के अनुसार काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना है।

ऊपर एक जगह (पृ ६७ टि २ अनु २) हम इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि छह द्रव्यों में जीव को छोड़ कर बाकी पाँच अजीव हैं। काल इन अजीव द्रव्यों में से एक है। वह अचेतन पदार्थ है।

अजीव पदार्थों के जो रूपी अरूपी ऐसे दो भेद मिलते हैं उनमें काल अरूपी है अर्थात् उसके वर्ण गन्ध रस और स्पर्श नहीं—वह अमूर्त है[4]।

१—पञ्चास्तिकाय :

(क) १ ६ (पाद टि ४ पृ ६७ पर उद्धृत)

(ख) १ १ २

२—पञ्चास्तिकाय: १ १

सब्भावसभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च।
परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो।

—वही १ २४ :

वट्टणलक्खो य कालोत्ति।

—पञ्चास्तिकाय १ २४ :

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य।
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालोत्ति॥

(२) काल के अनन्त द्रव्य है :

यह बताया जा चुका है कि सख्या की अपेक्षा से जीव अनन्त कहे गये हैं[1]। धर्म, अधर्म और आकाश की संख्या का उल्लेख स्वामीजी ने नही किया, पर वे एक-एक व्यक्ति रूप हैं। पुद्गल अनन्त हैं। यहाँ काल पदार्थ को सख्यापेक्षा से अनन्त द्रव्य रूप कहा है अर्थात् काल द्रव्य एक व्यक्ति रूप नही सख्या मे अनन्त व्यक्ति रूप है। सर्व द्रव्यो की सख्या-सूचक निम्न गाथा बडी महत्त्वपूर्ण है ·

धम्मो अहम्मो आगास दव्व इक्कक्कमाहिय।
अणन्ताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल-जन्तवो[2] ॥

इस विषय में दिगम्बर आचार्यो का मत भिन्न है। उनके अनुसार कालाणु सख्या में लोकाकाश के प्रदेशो की तरह असख्यात हैं[3]। हेमचन्द्र सूरि का अभिमत भी इसी प्रकार का लगता है[4]।

हेमचन्द्राचार्य के सिवा श्वेताम्बर आचार्यो ने काल को सख्या की दृष्टि से अनन्त ही माना है[5]। स्वामीजी ने आगमिक दृष्टि से कहा है "काल के द्रव्य अनन्त हैं।"

(३) काल निरन्तर उत्पन्न होता रहता है :

जैसे माला का एक मनका अगुलियो से छूटता है और दूसरा उसके स्थान में आ जाता है। दूसरा छूटता है और तीसरा अगुलियो के बीच में आ जाता है उसी तरह वर्तमान क्षण जैसे बीतता है वैसे ही नया क्षण उपस्थित हो जाता है। दूसरे शब्दो में कहें तो रहँटघटिका की तरह एक के बाद एक काल द्रव्य उपस्थित होता रहता है। यह

१—देखिये—पृ० ४३ (८)

२—उत्तरा० २८ ८

३—द्रव्यसग्रह २२

लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का।
रयणाण रासीमिव ते कालाणू असखदव्वाणि ॥

४—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह सप्ततत्त्वप्रकरणम् (हेमचन्द्र सूरि)

लोकाकाशप्रदेस्था, भिन्ना कालाणवस्तु ये।
भावानां परिवर्ताय, मुख्यकाल सा उच्यते ॥ ५२ ॥

५—(क) सप्ततत्त्व प्रकरणम् (देवानन्द सूरि) ·

पुग्गला अद्धासमया जीवा य अणता

(ख) नवतत्त्वप्रकरणम् (उमास्वाति) ·

धर्माधर्माकाशान्येकैकमत पर त्रिकमनन्तम्

ठाणाङ्ग के उल्लेख में काल के भेदों को जीव अजीव कहने का कारण काल का दोनों प्रकार के पदार्थों पर वर्तन है।

दिगम्बर आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में मानते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं— पाँच अस्तिकाय और छट्ठा काल मिलकर छः द्रव्य होते हैं। काल परिवर्तन-लिंग से संयुक्त है। ये षट् द्रव्य त्रिकाल भाव परिणत और नित्य हैं[1]। सद्भाव स्वभाव वाले जीव और पुद्गलों के परिवर्तन पर से जो प्रगट देखने में आता है वही नियम से—निश्चयपूर्वक काल द्रव्य कहा गया है[2]। वह काल वर्तना लक्षण है[3]।" इस कथन का भावार्थ है—जीव पुद्गलों में जो *समय-समय पर नवीनता-जीर्णता* रूप स्वाभाविक परिणाम होते हैं वे किसी एक द्रव्य की सहायता के बिना नहीं हो सकते। जैसे गति स्थिति, अवगाहना धर्मादि द्रव्यों के बिना नहीं होतीं वैसे ही जीवों और पुद्गलों की परिणति किसी एक द्रव्य की सहायता के बिना नहीं होती। परिणमन का जो निमित्त कारण है वह काल द्रव्य है। जीव और पुद्गलों में जो स्वाभाविक परिणमन होते हैं उनको देखते हुए उनके निमित्त कारण निश्चय काल को अवश्य मानना योग्य है।

स्वामीजी ने आगमिक विचारधारा के अनुसार काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना है।

ऊपर एक जगह (पृ ६७ टि २ अनु २) हम इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि छह द्रव्यों में जीव को छोड़ कर बाकी पाँच अजीव हैं। काल इन अजीव द्रव्यों में से एक है। वह अचेतन पदार्थ है।

अजीव पदार्थों के जो रूपी अरूपी ऐसे दो भेद मिलते हैं उनमें काल अरूपी है अर्थात् उसके वर्ण गन्ध रस और स्पर्श नहीं—वह अमूर्त है[4]।

१—पञ्चास्तिकाय

(क) १।६ (पाद टि ४ पृ ६७ पर उद्धृत)

(ख) १।२३

२—पञ्चास्तिकाय १।२३ :

सब्भावसभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च।
परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो।

—वही १।२४

वट्टणलक्खो य कालोत्ति।

—पञ्चास्तिकाय १।२४

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य।
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालोत्ति॥

(२) काल के अनन्त द्रव्य है :

यह बताया जा चुका है कि सख्या की अपेक्षा से जीव अनन्त कहे गये हैं[१]। धर्म, अधर्म और आकाश की सख्या का उल्लेख स्वामीजी ने नही किया, पर वे एक-एक व्यक्ति रूप हैं। पुद्‌गल अनन्त हैं। यहाँ काल पदार्थ को सख्यापेक्षा से अनन्त द्रव्य रूप कहा है अर्थात् काल द्रव्य एक व्यक्ति रूप नही सख्या मे अनन्त व्यक्ति रूप है। सर्व द्रव्यो की सख्या-सूचक निम्न गाथा वडी महत्त्वपूर्ण है :

धम्मो अहम्मो आगास दव्व इक्कक्कमाहिय।
अणन्ताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल-जन्तवो[२] ॥

इस विषय में दिगम्बर आचार्यो का मत भिन्न है। उनके अनुसार कालाणु सख्या में लोकाकाश के प्रदेशो की तरह असख्यात हैं[३]। हेमचन्द्र सूरि का अभिमत भी इसी प्रकार का लगता है[४]।

हेमचन्द्राचार्य के सिवा श्वेताम्बर आचार्यो ने काल को संख्या की दृष्टि से अनन्त ही माना है[५]। स्वामीजी ने आगमिक दृष्टि से कहा है "काल के द्रव्य अनन्त हैं।"

(३) काल निरन्तर उत्पन्न होता रहता है :

जैसे माला का एक मनका अगुलियो से छूटता है और दूसरा उसके स्थान मे आ जाता है। दूसरा छूटता है और तीसरा अगुलियो के बीच में आ जाता है उसी तरह वर्तमान क्षण जैसे बीतता है वैसे ही नया क्षण उपस्थित हो जाता है। दूसरे शब्दो में कहें तो रहँटघटिका की तरह एक के बाद एक काल द्रव्य उपस्थित होता रहता है। यह

१—देखिये—पृ० ४३ (८)

२—उत्तरा० २८ ८

३—द्रव्यसग्रह २२

लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का।
रयणाण रासीमिव ते कालाणू असखदव्वाणि ॥

४—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह सप्ततत्त्वप्रकरणम् (हेमचन्द्र सूरि)

लोकाकाशप्रदेस्था, भिन्ना कालाणवस्तु ये।
भावानां परिवर्ताय, मुख्यकाल सा उच्यते ॥ ५२ ॥

५—(क) सप्ततत्त्व प्रकरणम् (देवानन्द सूरि)

पुग्गला अद्धासमया जीवा य अणता

(ख) नवतत्त्वप्रकरणम् (उमास्वाति) :

धर्माधर्माकाशान्येकैकमत पर त्रिकमनन्तम्

समुत्पत्ति-प्रवाह अतीत में चालू रहा अब भी चालू है, भविष्य में भी इसी रूप में चालू रहेगा। यह प्रवाह अनादि अनन्त है। इस अपेक्षा से काल द्रव्य सदा उत्पन्न होता रहता है।

(४) वर्तमान काल एक समय रूप है

काल द्रव्य की इकाई को जन पदार्थ-विज्ञान में 'समय' कहा गया है। समय काल का सूक्ष्मतम अंश है। सुतीक्ष्ण शस्त्र से छेदन करने पर भी इसके दो भाग नहीं किये जा सकते[1]।

समय की सूक्ष्मता की कल्पना निम्न उदाहरण से होगी। वस्त्र तंतुओं से बनता है। प्रत्येक तंतु में अनेक रूए होते हैं। उनमें ऊपर का रूआ पहले छिदता है तब कहीं नीचे का रूआ छिदता है। इस तरह सब रूओं के छिदने पर तंतु छिदता है और सब तंतुओं के छिदने पर वस्त्र। एक कला-कुशल युवा और बलिष्ठ जुलाहा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को शीघ्रता से फाड़े तो तन्तु के पहले रूए के छेदन में जितना काल लगता है वह सूक्ष्म काल असंख्यात समय रूप है[2]। इसी तरह से कमल-पत्र एक दूसरे के ऊपर रखे जायें और उन्हें वह युवक भाले की तीखी नोंक से छेदे तो एक-एक पत्र से दूसरे पत्र में जाते हुए उस नोक को जितना वक्त लगता है वह असंख्यात समय रूप है।

काल के तीन भाग होते हैं—अतीत वर्तमान और अनागत[3]। वर्तमान काल में हमेशा एक समय उपस्थित रहता है। अतीत में ऐसे अनन्त समय हुए हैं। आगामी काल में अनन्त समय होंगे।

१५—काल द्रव्य शाश्वत-अशाश्वत कैसे ? (गा २१-२६)।

प्रथम ढाल में जीव को शाश्वत-अशाश्वत कहा गया है। इन गाथाओं में काल किस तरह शाश्वत-अशाश्वत है यह बताया गया है।

वर्तमान समय में काल द्रव्य है अतीत समयों में से प्रत्येक में काल द्रव्य रहा अनागत समयों में प्रत्येक में काल द्रव्य रहेगा। काल द्रव्य एक के बाद एक उत्पन्न होता रहता है। उत्पत्ति के इस सतत प्रवाह की दृष्टि से काल द्रव्य शाश्वत है। वह अनादि

१—भगवती ११ १

अव्वाबोहारच्छेदेणं छिज्जमाणी बाहे विभागं नो हव्वमागच्छइ सर्च समए

२—अनुयोग द्वार सू १७४

३—ठाणाङ्ग सू ३ ४ १५२

अनन्त है[1], उत्पन्न काल द्रव्य नाश को प्राप्त होता है और फिर नया काल द्रव्य उत्पन्न होता है। इस उत्पत्ति और विनाश की दृष्टि से काल द्रव्य अशाश्वत हैं।

काल के सूक्ष्मतम अंश समय के सम्बन्ध मे जैसे यह बात लागू पडती है वैसे ही आवलिका आदि काल के अन्य विभागो के विषय में भी समझना चाहिए।

काल की शाश्वतता-अशाश्वता के विषय में दिगम्बराचार्यों ने निम्न बात कही है—"व्यवहार काल जीव, पुद्गलो के परिणाम से उत्पन्न है। जीव, पुद्गल का परिणाम द्रव्य काल से संभूत है। निश्चय और व्यवहार काल का यह स्वभाव है कि व्यवहार काल समय विनाशीक है और निश्चय काल नियत—अविनाशी है। 'काल' नाम वाला निश्चय काल नित्य है—अविनाशी है। दूसरा जो समय रूप व्यवहार काल है वह उत्पन्न और विध्वंसशील है। वह समयो की परम्परा से दीर्घांतरस्थायी भी कहा जाता है[2]।"

१६—काल का क्षेत्र (गा० २७)

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! समय क्षेत्र किसे कहा जाय?" महावीर ने कहा—"गौतम! ढाई द्वीप और दो समुद्र इतना समय क्षेत्र कहलाता है[3]।" उत्तराध्ययन में समय-क्षेत्र की चर्चा करते हुए कहा है "समए समयखेत्तिए (३६ ७)"। समय-क्षेत्र का वर्णन इस प्रकार है

जम्बुद्वीप, जम्बुद्वीप के चारो ओर लवण समुद्र, उसके चारो ओर धातकी खण्ड, उसके चारो ओर कालोदधि समुद्र और उसके चारो ओर पुष्कर द्वीप है। इस पुष्कर द्वीप को मानुषोत्तर पर्वत दो भाग में विभक्त करता है। कालोदधि समुद्र तक और उसके चारो ओर के अर्द्ध पुष्कर द्वीप तक के क्षेत्र को समय-क्षेत्र कहते हैं। इसका दूसरा नाम ढाई द्वीप है। इसे मनुष्य क्षेत्र भी कहते हैं।

१—उत्त० ३६ ९

समए वि सन्तइ पप्प एवमेव वियाहिए।
आएस पप्प साईए सपज्जवसिए वि या॥

२—पञ्चास्तिकाय . १ १००—१०१

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो॥
कालो त्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई॥

३—भगवती २.९

समय क्षेत्र का आयाम विष्कंभ ४५ लाख योजन प्रमाण है[1]।

काल का माप सूर्य आदि की गति पर से स्थिर किया जाता है। मनुष्य क्षेत्र में जहाँ सूर्य गति करता है वहीं काल के दिवस आदि व्यवहार की प्रसिद्धि है। मनुष्य क्षेत्र के बाहर सूर्य स्थिर होने से काल का माप करना असंभव है। बाद में आने वाली टिप्पणी नं० २१ में इसका विशेष स्पष्टीकरण है।

इस विषय में गौतम और महावीर का वार्तालाप बड़ा रोचक है। उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है

"भगवन्! क्या वहाँ (नरक में) गये नैरयिक यह जानते हैं—यह समय है, यह आवलिका है, यह उत्सर्पिणी है, यह अवसर्पिणी है?"

'गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं।

'ऐसा किस हेतु से कहते हैं भगवन्!

'गौतम! इस मनुष्य-क्षेत्र में ही समयादि का मान है, इस मनुष्य-क्षेत्र में ही समयादि का प्रमाण है इस मनुष्य क्षेत्र में ही समयादि के बारे में ऐसा जाना जाता है कि यह समय है यह आवलिका है, यह उत्सर्पिणी है, यह अवसर्पिणी है। चूंकि नरक में ऐसी बात नहीं इसलिए कहा है—नरक में गये नैरयिक यह जानते हैं—यह समय है, यह आवलिका है, यह उत्सर्पिणी है, यह अवसर्पिणी है—यह अर्थ समर्थ नहीं। गौतम! इसी भाँति यावत् पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवों तक समझो।"

'भगवन्! क्या इस (मनुष्यलोक) में गये हुए मनुष्य यह जानते हैं—यह समय है, यह आवलिका है यह उत्सर्पिणी है, यह अवसर्पिणी है?

'हाँ गौतम! जानते हैं।

'ऐसा किस हेतु से कहते हैं भगवन्!"

"गौतम! इस मनुष्य-क्षेत्र में ही समयादि का मान है, इस मनुष्य-क्षेत्र में ही समयादि का प्रमाण है। इस मनुष्य क्षेत्र में ही समयादि के बारे में ऐसा जाना जाता है कि यह समय है, यह आवलिका है, यह उत्सर्पिणी है, यह अवसर्पिणी है। इस हेतु से कहा है कि मनुष्य-लोक में गये मनुष्य यह जानते हैं—यह समय है, यह आवलिका है, यह उत्सर्पिणी है यह अवसर्पिणी है।"

१—सम सू० ४५:

समयखेत्ते णं पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं पन्नत्ते।

"गौतम ! वानव्यतर, ज्योतिषिक और वैमानिको के लिए वही समझो जो नैरयिको के लिए कहा है[1] ।"

दिगम्बर आचार्यों के अनुसार एक-एक कालाणु लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में रत्नो की राशि के समान स्फुट रूप से पृथक्-पृथक् स्थित हैं। वे कालाणु असख्यात द्रव्य हैं[2] ।

१७—काल के स्कध आदि भेद नही हैं (गा० २८-३३):

प्रथम ढाल में जीव को असख्यात प्रदेशी द्रव्य कहा है (१.१) । धर्म, अधर्म भी असख्यात प्रदेशी कहे गये हैं। आकाश अनन्त प्रदेशी द्रव्य है। पुद्गल सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशी हैं। प्रश्न होता है—काल के कितने प्रदेश हैं ?

यह बताया जा चुका है कि काल का सूक्ष्मतम अश समय है। वर्तमान काल हमेशा एक समय रूप होता है। दो समय एक साथ नही मिलते। एक समय के विनाश के बाद दूसरा समय उत्पन्न होता है। इस कारण दो समय न मिलने से काल का स्कध नही होता। स्कध नियम से समुदाय रूप होता है। अतीत समय परस्पर में मिलकर कभी भी समुदाय रूप नही हुए। बिछुडे हुए पुद्गल परमाणुओं के मिलने की सभावना रहती है पर समयो के समुदाय की सभावना भविष्य मे भी नही है। अत अतीत मे काल-स्कध का अभाव था, वर्तमान में केवल एक ही समय होने से उसका अभाव है और आगे के अनुत्पन्न समय भी परस्पर मिलेंगे नही। अत भविष्यत् में भी उसका अभाव रहेगा[3] ।

स्कध से अविभक्त कुछ न्यून भाग को देश कहते हैं। जब काल के स्कध ही नही तब देश कैसे होगा ? स्कध से अविच्छिन्न सूक्ष्मतम भाग मात्र को प्रदेश कहते हैं। स्कध नही, देश नही तब प्रदेश की सभावना भी नही। परमाणु प्रदेश-तुल्य विच्छिन्न भाग होता

१—भगवती श० ५ उ० ६

२—द्रव्यसग्रह गा० २२। पृ० ८५ पाद-टिप्पणी २ में उद्धृत।

३—(क) नवतत्त्व प्रकरण (देवगुप्तसूरि) ३४

अद्धासमओ एगो जमतीताणागया अणता वि।
नासाणुप्पत्तीओ न सति संतोऽथ पडुपन्नो ॥

(ख) चिरन्तनाचार्य रचित अवचूर्णि (नवतत्त्वसाहित्यसग्रह ६ पृ० ६)

तथैव अद्धा च काल स च काल एकविध एव वर्तमानसमयलक्षणोऽतीता-नागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाऽसत्त्वात्

है। स्कंध ही नहीं तब उससे प्रदेश के जुदा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यही हालत में काल द्रव्य का चौथा भेद परमाणु भी नहीं होता है। जीव अस्तिकाय द्रव्य है। अजीव द्रव्य हर्धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल भी अस्तिकाय हैं[१]। इस तरह छह द्रव्यों में पांच अस्ति-काय हैं[२]। काल अस्तिकाय नहीं है[३]। काल तीनों काल में होता है अतः अस्ति गुण तो उसमें घटता है पर 'काय' गुण नहीं घटता कारण बहु प्रदेशी होना तो दूर रहा वह एक प्रदेशी भी नहीं है।

इस सम्बन्ध में दिगम्बर आचार्यों का मन्तव्य इस प्रकार है 'काल को छोड़ पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। काल द्रव्य के एक प्रदेश होता है इसलिए वह कायावान् नहीं है[४]। कुन्दकुन्दाचार्य ने भी यही कहा है— "कालस्स दु णत्थि कायत्तं" काल के कायत्व नहीं है[५]। जीव पुद्गल धर्म अधम और आकाश प्रदेशों से असंख्यात अर्थात् कोई असंख्यात प्रदेशी है, कोई अनन्त प्रदेशी पर काल द्रव्य के एक से अधिक प्रदेश नहीं होते[६]। समय—काल द्रव्य—प्रदेश रहित है अर्थात् प्रदेश मात्र है[७]। आचार्य कुन्दकुन्द अन्यत्र लिखते हैं

'आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में मंद गति से जाने वाले परमाणु-पुद्गल को जितना सूक्ष्म काल लगता है उसे समय कहते हैं। उसके बाद में और पहले जो अर्थ नित्य भूत पदार्थ है वह कालनामा द्रव्य है। काल द्रव्य के बिना पाँच द्रव्यों के प्रदेश एक अथवा दो अथवा बहुत और असंख्यात तथा उसके बाद अनन्त इस तरह यथा योग्य सदा काल रहते हैं। काल द्रव्य का समय पर्याय रूप एक प्रदेश निश्चय कर

१—ठाणाङ्ग ४ १ २६२

२—(क) ठाणाङ्ग ५ ३ ४४१

(ख) पंचास्तिकाय १ २२

३—(क) सप्ततत्त्वप्रकरणम् (हेमचन्द्र सूरि)
तत्र कालं विना सर्वे प्रदेशप्रचयात्मका ॥ ३२ ॥

(ख) सप्ततत्त्वप्रकरणम् (हेमचन्द्र सूरि)
काल विना पद्मन्वादुक्तेर्न अस्तिकायता

४—द्रव्यसंग्रह १ २५ कालस्सेगो ण तेण सो काओ

५—पञ्चास्तिकाय १ १ २

६—प्रवचनसार २ ४३ । णत्थि पदस त्ति कालस्स। अमृतचन्द्र टीका—अप्रदेश कालाणु प्रदेशमात्रत्वात्

७—वही २ ४६ । समओ दु अप्पदेसो

जानना चाहिए। जिस द्रव्य समय का एक ही समय मे यदि उत्पन्न होना, विनाश होना प्रर्वतता है तो वह काल पदार्थ स्वभाव मे अवस्थित है। एक समय मे काल पदार्थ के उत्पाद, स्थित, नाश नाम के तीनो अर्थ—भाव प्रवर्तते हैं। यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप ही काल द्रव्य का अस्तित्व सर्व काल मे है। जिस द्रव्य के प्रदेश नही हैं और एक प्रदेश मात्र भी तत्त्व से जानने को नही उस द्रव्य को शून्य अस्तित्व रहित समझो[1]।"

१८—(गा० ३४):

इस गाथा के भाव के स्पष्टीकरण के लिए देखिए बाद की टिप्पणी न० २१।

१६—काल के भेद (गा० ३५-३७):

स्वामीजी ने इन गाथाओ मे जो काल के भेद दिये हैं उनका आधार भगवती सूत्र है। वहाँ प्रश्नोत्तर रूप में काल के भेदा का वर्णन इस प्रकार है

"हे भगवन् ! अद्धाकाल कितने प्रकार का है ?"

"हे सुदर्शन ! अद्धाकाल अनेक प्रकार का कहा गया है। दो भाग करते-करते जिसके दो भाग न हो सकें उस कालांश को समय कहते हैं। असख्येय समयो के समुदाय की आवलिका होती है। असख्यात आवलिका का एक उच्छ्वास, सख्यात आवलिका का एक नि श्वास, हृष्ट, अनवकल्य और व्याधिरहित एक जतु का एक उच्छ्वास और नि श्वास एक प्राण कहलाता है। सात प्राण का स्तोक, सात स्तोक का लव, ७७ लव का एक मुहूर्त्त, तीस मुहूर्त्त का एक अहोरात्र, पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक सवत्सर, पाँच सवत्सर का एक युग, बीस युग का सौ वर्ष, दस सौ वर्ष का एक हजार वर्ष, सौ हजार वर्ष का एक लाख वर्ष, चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वाङ्ग, चौरासी लाख पूर्वाङ्ग का एक पूर्व और इसी तरह त्रुटितांग, त्रुटित, अडडांग, अडड, अववांग, अवव, हूहूकाग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनिपूरांग, अर्थनिपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका होती है। यहाँ तक गणित है—उसका विषय है उसके वाद औपमिक काल है।"

"हे भगवन् ! औपमिक काल क्या है ?"

"सुदर्शन ! औपमिक काल दो प्रकार का है—पल्योपम और सागरोपम।"

१—प्रवचनसार २।

"हे भगवन् ! पल्योपम क्या है और सागरोपम क्या है ?"

"सुदर्शन ! सुतीक्ष्ण शस्त्र द्वारा भी जिसे छेदा भेदा न जा सके वह परमाणु है। केवलियों ने उसे आदिभूत प्रमाण कहा है। अनन्त परमाणु समुदाय के समूहों के मिलने से एक उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका आठ उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका के मिलने से श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका आठ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका के मिलने से एक ऊर्ध्वरेणु आठ ऊर्ध्वरेणु के मिलने से एक त्रसरेणु आठ त्रसरेणु के मिलने से एक रथरेणु आठ रथरेणु के मिलने से देवकुरु और उत्तरकुरु के मनुष्यों का एक बालाग्र आठ बालाग्र मिलने से हरिवर्ष के और रम्यक के मनुष्य का एक बालाग्र हरिवर्ष के और रम्यक के आठ बालाग्र मिलने से हैमवत के और ऐरवत के मनुष्य का एक बालाग्र और हैमवत के और ऐरवत के मनुष्य के आठ बालाग्र मिलने से पूर्वविदेह के मनुष्य का एक बालाग्र पूर्वविदेह के मनुष्य के आठ बालाग्र मिलने से एक लिक्षा आठ लिक्षा का एक यूक आठ यूक का एक यवमध्य आठ यवमध्य का एक अंगुल ६ अंगुल का एक पाद बारह अंगुल की एक वितस्ति चौबीस अंगुल की एक रत्नि (हाथ) अड़तालीस अंगुल की एक कुक्षि छानवे अंगुल का एक दण्ड धनुष युग नालिका अक्ष अथवा मूसल होता है। इस धनुष के माप से दो हजार धनुष का एक गव्यूत चार गव्यूत का एक योजन होता है।

इस योजन के प्रमाण से आयाम और विष्कंभ में एक योजन ऊंचाई में एक योजन और परिधि में सविशेष त्रिगुण एक पल्य हो। उस पल्य में एक दिन दो दिन तीन दिन और अधिक-से-अधिक सात रात के उगे करोड़ों बालाग्र किनारे तक ठस कर इस तरह भर दो कि न उन्हें अग्नि जला सकती हो न उन्हें वायु हर सकती हो वो न कुथित हो सकते हों न विध्वंस हो सकते हों न परिशाट—सड़न-को प्राप्त हो सकते हों। उनमें से सौ सौ वर्ष के बाद एक एक बालाग्र निकालने से वह पल्य जितने काल में क्षीण नीरज निर्मल निष्ठित निर्लेप अपहृत और विशुद्ध होगा उतने काल को पल्योपम कहते हैं। ऐसे कोटाकोटि पल्योपम काल को जब दस गुना किया जाता है तो एक सागरोपम होता है। इस सागरोपम के प्रमाण से चार कोटाकोटि सागरोपम काल का एक सुषमसुषमा आरा तीन कोटाकोटि सागरोपम काल का एक सुषमा दो कोटाकोटि सागरोपम काल का एक सुषमदुषमा ४२ हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम काल का एक दुषमसुषमा इक्कीस हजार वर्ष का दुषमा इक्कीस हजार वर्ष का दुषमदुषमा आरा होता है। इन छः आरों के समुदाय काल को अवसर्पिणी कहते हैं। फिर इक्कीस हजार

वर्ष का दु पमदु पमा, इक्कीस हजार वर्ष का दु पमा, ४२ हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम का दु पम-सुपमा, दो कोटाकोटि सागरोपम का सुपमदु पमा, तीन कोटाकोटि सागरोपम का सुपमा और चार कोटाकोटि सागरोपम का सुपमासुपमा आरा होता है। इन छ आरो के समुदाय को उत्सर्पिणी काल कहते हैं। दस कोटाकोटि सागरोपम काल की एक अवसर्पिणी, दस कोटाकोटि सागरोपम काल की एक अवसर्पिणी होती है। वीस कोटाकोटि सागरोपम काल का अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल चक्र होता है[1]।"

२०—अनन्त काल-चक्र का पुद्गल-परावर्त होता है[2]। (गा० ३८)

गाथा ३६-३७ में 'समय' से लेकर 'पुद्गल परावर्त तक के काल के भेदो का वर्णन किया गया है। स्वामीजी कहते हैं—काल के ये भेद शाश्वत हैं। अतीत मे काल के यही भेद थे। आगामी काल मे उसके यही भेद होगे। वर्तमान काल हमेशा एक समय रूप होता है।

स्वामीजी का यह कथन ठाणांग के आधार पर है। वहाँ कहा गया है—'काल तीन तरह का है—अतीत, वर्तमान और अनागत। समय भी तीन प्रकार का है—अतीत, वर्तमान और अनागत। आवलिका, आन प्राण, यावत् पुदगल परावर्त—ये सव भी समयकी ही तरह तीन प्रकारके हैं—अतीत, वर्तमान और अनागत[3]।' इसका अर्थ यही है कि काल के भेद सव समय मे ऐसे ही होते हैं।

२१—काल का क्षेत्र प्रमाण : (गा० ३९-४०)

काल द्रव्य के क्षेत्र का सामान्य सूचन पूर्व गाथा २७ में आया है। वहाँ और यहाँ के सूचनो से काल द्रव्य के क्षेत्र के विषय मे निम्नलिखित वातें प्रकाश मे आती हैं

(१) काल का क्षेत्र प्रमाण ढाई द्वीप है। उसके वाहर काल द्रव्य नही है। यह काल का तिरछा विस्तार है। उर्ध्व दिशा मे उसका क्षेत्र ज्योतिप चक्र तक ९०० योजन है। अधोदिशा मे सहस्र योजन तक महाविदेह की दो विजय तक है।

(२) काल इतने क्षेत्र प्रमाण मे ही वर्त्तन करता है। उसके बाद उसका वर्तन नही है।

१—भगवती ६ ७

२—भगवती १२ ४। पुद्गल के साथ परिवर्त—परमाणुओं के मिलने को पुद्गल-परिवर्त कहते हैं। ऐसे परिवर्त में जो काल लगता है वह यह काल है।

३—[illegible]

काल का क्षेत्र प्रमाण ढाई द्वीप ही क्यों है इसका कारण गाथा २७ और १४ में दिया हुआ है[१]। जन ज्योतिष विज्ञान के अनुसार मनुष्य लोक और उसके बाहर के सूर्य चन्द्रमा आदि ज्योतिषी भिन्न भिन्न हैं। मनुष्य लोक के सूर्य चन्द्रमा आदि गतिशील हैं। ये सदा मेरु के चारों ओर निश्चित चाल से परिक्रमा करते रहते हैं। इस गति में तीव्रता मंदता नहीं आती। उनकी चाल हमेशा समान होती है। उसके बाहर रहने वाले सूर्य चन्द्रमा आदि ज्योतिष्क स्थिर हैं गतिशील नहीं हैं[२]। मनुष्य लोक के सूर्य चन्द्रमा आदि की गति नियत चाल से होती है। इसी नियत गति के आधार पर काल के समय आदि विभाग निर्धारित किये गये हैं। मुहूर्त अहोरात्र, पक्ष इत्यादि जो काल व्यवहार प्रचलित हैं वे मनुष्य लोक तक ही सीमित हैं—उसके बाहर नहीं। मनुष्य लोक के बाहर यदि कोई काल व्यवहार करता हो और कोई करे तो वह मनुष्य लोक में प्रसिद्ध व्यवहार के आधार पर ही कर सकता है क्योंकि व्यावहारिक काल विभाग का मुख्य आधार नियत क्रिया है। ऐसी क्रिया सूर्य चन्द्र आदि ज्योतिष्कों की गति है। परन्तु मनुष्य लोक के बाहर के सूर्य आदि ज्योतिष्क स्थिर हैं। इस कारण उनकी स्थिति और प्रकाश एक रूप है।

२२—काल की अनन्त पर्यायें और समय अनन्त कैसे ? (गा० ४० ४२)

इन गाथाओं में स्वामीजी ने दो बातें कही हैं

(१) काल की अनन्त पर्यायें हैं।

(२) एक ही समय अनन्त कहलाता है।

इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

(१) काल का क्षेत्र ढाई द्वीप है। ढाई द्वीप में जीव अजीव अनन्त हैं। काल उन सब पर वर्तन करता है। उनमें जो अनन्त परिणाम पर्यायें उत्पन्न होती हैं वे काल द्रव्य के निमित्त से ही होती हैं। अनन्त द्रव्यों पर वर्तन करने से काल की पर्याय संख्या अनन्त कही गई है।

(२) वर्तमान काल सदा एक समय रूप होता है। यह एक समय ही अनन्त द्रव्यों

१—देखिये पृ० ८० टि० ११

२—उत्तराध्ययन ३६ २०७ :

चन्दा सूरा य नक्खत्ता गहा तारागणा तहा।
ठियाविचारिणो चेव पंचहा जोइसालया॥

मे मे प्रत्येक पर वर्तन करता है। समय जिन द्रव्यो पर वर्तन कर रहा है उन द्रव्यो की अनन्त सख्या की अपेक्षा से एक ही समय को अनन्त कहा गया है।

उदाहरण स्वरूप किसी सभा मे हजार व्यक्ति उपस्थित हैं और सभापति एक मिनट विलम्ब मे पहुँचे तो एक मिनट विलम्ब होने पर भी एक-एक व्यक्ति के एक-एक मिनट का योग कर यह कहा जा सकता है कि वह हजार मिनट लेट है। इसी तरह एक-एक वस्तु पर एक-एक समय गिनकर एक ही समय को अनन्त कहा गया है।

२३—रूपी पुद्गल (गा० ४३-४५) :

इन गाथाओ मे चार बातें कही गई हैं

(१) पुद्गल रूपी द्रव्य है।

(२) द्रव्यत पुद्गल अनन्त हैं।

(३) द्रव्यत पुद्गल शाश्वत है और भावत अशाश्वत।

(४) द्रव्य पुद्गलो की सख्या की ह्रास-वृद्धि नही होती, भाव पुद्गलो की सख्या में ही ह्रास-वृद्धि होती है।

इन पर यहां क्रमश विचार किया जाता है।

(१) पुद्गल रूपी द्रव्य है अन्य द्रव्यो से पुद्गल का जो पार्थक्य है वह इस बात में है कि अन्य द्रव्य अरूपी हैं और पुद्गल रूपी। उसमें वर्ण, गध, रस, और स्पर्श पाये जाते हैं। इन वर्णादि के कारण पुद्गल इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। इसलिये वह रूपी है।

पुद्गल के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म टुकडे परमाणु से लेकर बडे-से-बडे पृथ्वी स्कन्ध तक में ये मूर्त्त गुण पाये जाते हैं और वे सब रूपी हैं[1]।

यहाँ यह बात विशेष रूप से जान लेनी चाहिए कि प्रत्येक पुद्गल में वर्ण, गध, रस, स्पर्श चारो गुण युगपत होते हैं। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श इन चार गुणो में से किसी पुद्गल में एक, किसी में दो, किसी में तीन हो ऐसा नही है। सब में चारो गुण एक साथ होते हैं। हाँ यह सम्भव है कि किसी समय एक गुण मुख्य और दूसरा गौण हो, कोई गुण एक समय इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और कोई अतीन्द्रिय हो। परन्तु इससे किसी गुण का अभाव नही कहा जा सकता। उदाहरण स्वरूप विज्ञान के अनुसार हाइड्रोजन (Hydrogen) और नाइट्रोजन

१—प्रवचनसार २ ४०

वण्णरसगधफासा विज्जते पोग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो॥

(Nitrogen) दोनों ही वायु रूप वस्तुए (Gas) वर्ण गंध और रसहीन माने जाते हैं[१]। परन्तु इससे उनमें इन गुणों का सर्वथा प्रभाव नहीं माना जा सकता। इन गुणों को इनमें सिद्ध भी किया जा सकता है। हाइड्रोजन और नाइट्रोजन का एक स्कंधमिश्र अमोनिया (Ammonia) नामक वायु है इसमें एक अंश हाइड्रोजन और तीन अंश नाइट्रोजन रहता है। इस अमोनिया पदार्थ में रस और गंध दोनों होते हैं[२]। यह एक सर्व मान्य सिद्धान्त है और आधुनिक विज्ञान शास्त्र का तो मूलभूत सिद्धान्त है कि असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती और सत् का विनाश नहीं हो सकता। इस सूत्र के अनुसार अमोनिया में रस और गंध का होना नए गुणों की उत्पत्ति नहीं कही जा सकती परन्तु अमोनिया के अवयव-तत्त्व हाइड्रोजन और नाइट्रोजन में ही इन गुणों के होने का प्रमाण है। क्योंकि अमोनिया का रस और गंध हाइड्रोजन और नाइट्रोजन के इन्हीं गुणों का रूपान्तर है और किन्हीं गुणों का नहीं। इन अवयव तत्त्वों में यदि ये गुण मौजूद न होते तो उनके कार्य (resultant) अमोनिया में भी ये गुण नहीं आ सकते थे। स्कन्ध में कोई ऐसा गुण नहीं आ सकता जो अवयवों में न पाया जाता हो। इससे अप्रगट होते हुए भी हाइड्रोजन और नाइट्रोजन गैसों में रस और गंध की सिद्धि होती है। इसी तरह इनमें वर्ण भी साबित किया जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी पुद्गलों में वर्ण गन्ध रस और स्पर्श समान रूप से रहते हैं। किसी एक भी गुण का अभाव नहीं हो सकता।

पुद्गल भूतकाल में था वर्तमान काल में है और भविष्यत काल में रहेगा[३]। यह सत् है। उत्पाद विनाश और ध्रौव्य संयुक्त है अतः द्रव्य है।

१—(a) Hydrogen is a colourless gas, and has neither taste nor smell (Newth's Inorganic Chemistry p 206)

(b) Nitrogen is a colourless gas without taste or smell. (Newth's Inorganic Chemistry p 262)

२—Ammonia is a colourless gas, having a powerful pungent smell, and a strong Caustic Soda. (Newth's Inorganic Chemistry p 304)

३—भगवती : १ ४

प्रश्न हो सकता है कि सिर्फ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श ही पुद्गल के गुण क्यों कहे गये हैं, शब्द भी उसका लक्षण होना चाहिए ? जैसे वर्णादि क्रमश चक्षु-इन्द्रिय आदि के विषय हैं वैसे ही शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है अत उसे भी पुद्गल का गुण मानना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि गुण द्रव्य के लिंग (पहचानने के चिह्न) होते हैं और वे द्रव्य मे सदा रहते हैं। शब्द द्रव्य का गुण नही हो सकता क्योकि वह पुद्गल द्रव्य में नित्य रूप से नही पाया जाता है, उसे केवल पुद्गल का पर्याय ही कहा जा सकता है। कारण यह है कि वह पुद्गल स्कन्धो के पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न होता है। यदि शब्द को पुद्गल का गुण कहा जाय तो पुद्गल हमेशा शब्द रूप ही पाया जाना चाहिए परन्तु वास्तव मे ऐसा नही देखा जाता। अत शब्द पुद्गल का गुण नही माना जा सकता।

(२) द्रव्यत पुद्गल अनन्त है सख्या की दृष्टि से पुद्गल अनन्त हैं। इस विषय में वह धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यो से भिन्न है जो सख्या में एक-एक हैं। जीव और काल-द्रव्य से उसकी समानता है, जो सख्या में अनन्त हैं। पुद्गल द्रव्यो की सख्या अनन्त बतलाने पर भी सूत्रो में एक भी द्रव्य पुद्गल का नामोल्लेख नही मिलता। वस्तुत एक-एक अविभाज्य परमाणु पुद्गल ही एक-एक द्रव्य हैं। इनकी सख्यायें अनन्त हैं। एक बार गौतम ने पूछा—"भन्ते ! परमाणु सख्यात हैं, असख्यात हैं या अनन्त ?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम ! अनन्त हैं। गौतम ! यही बात अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक समझो[1] ।"

(३) पुद्गल द्रव्यत शाश्वत है और भावत अशाश्वत ।

(४) द्रव्य पुद्गलों की सख्या में घट-बढ़ नहीं होती।

इन दोनो पर बाद में टिप्पणी ३२ में विस्तार से प्रकाश डाला जायगा। पाठक वहाँ देखें।

२४—पुद्गल के चार भेद (गा० ४६-४८)

इन गाथाओ में पुद्गल के विषय में निम्न बातो का प्रतिपादन है :

(१) पुद्गल का चौथा भेद परमाणु है।

(२) परमाणु पुद्गल का विभक्त अविभागी सूक्ष्मतम अंश है और प्रदेश अविभक्त अविभागी सूक्ष्मतम अंश।

१—भगवती २५ ४

(३) प्रदेश और परमाणु तुल्य हैं।

(४) परमाणु अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर होता है।

पुद्गल की इन विशेषताओं पर नीचे क्रमशः प्रकाश डाला जाता है :

(१) पुद्गलका चौथा भेद परमाणु है : पुद्गल के चार भेदों में तीन तो वे ही हैं जो धर्म अधर्म और आकाश द्रव्य के हैं, यथा-स्कंध देश और प्रदेश और चौथा भेद परमाणु है। धर्म अधर्म आकाश द्रव्यों से पुद्गल का जो वधर्म्य है उसीसे यह चौथा भेद सम्भव है। अस्तिकाय होने पर भी पुद्गल अवयवी है। वह परमाणुओं से रचित है। ये परमाणु पुद्गल से अलग हो सकते हैं। जब कि धर्म आदि तीनों द्रव्य अखण्ड हैं। उनसे उनका कोई अंश विलग नहीं किया जा सकता। वे अवयवी नहीं प्रदेश प्रचय रूप हैं। पुद्गल के अवयवी होने से ही उसके टुकड़े विभाग उससे जुदे हो सकते हैं। पुद्गल का ऐसा पृथक सूक्ष्मतम अंश परमाणु कहलाता है। पुद्गल के चार भेदों की गणना से रूपी-अरूपी अजीव पदार्थ के १४ भेद होते हैं :

धम्माधम्मागासा तियतिय भेया तहेव अद्धा य।
खंधा देसपएसा परमाणु अजीव चउदसहा[1]॥

पुद्गल के चार भेदों की व्याख्या संक्षेप में इस प्रकार की जा सकती है : समग्र पुद्गलकाय को स्कंध कहते हैं। दो प्रदेश से लगाकर एक कम अनन्त प्रदेश तक के उसके अविभक्त अंशों को देश कहते हैं। सूक्ष्मतम अविभक्त अविभाज्य अंश को प्रदेश कहते हैं। प्रदेश जितने विभक्त अविभाज्य अंश को परमाणु कहते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने पुद्गल के भेदों का स्वरूप बताते हुए कहा है : "सकल समस्त पुद्गलकाय को स्कंध कहते हैं। उस पुद्गल स्कंध के अर्द्ध भाग को देश और उसके अर्द्ध भाग को प्रदेश कहते हैं। परमाणु अविभागी होता है[2]।" स्कंध-देश और स्कंध-प्रदेश की जो परिभाषा यहाँ दी गयी है वह श्वेताम्बराचार्यों से भिन्न है। स्कंध के अर्द्धभाग को ही क्यों दो प्रदेश से लेकर एक कम अनन्त प्रदेश तक के अयुक्त विभागों को स्कंध-देश कहा है। प्रदेश भी स्कंध के आधे का आधा अर्थात् चौथाई अंश नहीं पर सूक्ष्मतम अविभक्त अविभागी अंश है। इसी कारण कहा है : "द्विप्रदेश आदि से अनन्त

१—नवतत्त्वप्रकरण (देवगुप्त सूरि) : ६
२—पञ्चास्तिकाय : १ ७५

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी॥

प्रदेशी तक के पुद्गल स्कध हैं। उनके सविभाग भागो को देश जानो। और निर्विभाग भाग रूप जो पुद्गल हैं उन्हे प्रदेश, तथा जो स्कंध-परिणाम से रहित है—उससे असम्बद्ध है—उसे परमाणु कहा जाता है[1]।"

(२) परमाणु पुद्गल का विभक्त अविभागी अश है और प्रदेश अविभक्त अविभागी अश पुद्गल के प्रदेश और परमाणु में जो अन्तर है वह पूर्व विवेचन से स्पष्ट है। परमाणु स्वतत्र और अकेला होता है। वह दूसरे परमाणु या स्कध के साथ जुडा हुआ नही होता। जब कि प्रदेश पुद्गल से आवद्ध होता है—स्वतत्र नही होता। प्रदेश और परमाणु दोनो अविभागी सूक्ष्मतम अश हैं यह उनकी समानता है। एक सम्बद्ध है और दूसरा असम्वद्ध—स्वतत्र—यह दोनो का अन्तर है।

आकाश, धर्म, अधर्म और जीव के प्रदेश तथा पुद्गलास्तिकाय के प्रदेशो में भी एक अन्तर है। दोनो माप में बराबर होते हैं अत दोनो में परिमाण का अन्तर नही। पर आकाशादि विस्तीर्ण खण्ड द्रव्य होने से अशीभूत स्कध से उनके प्रदेश अलग नही किये जा सकते जब कि पुद्गल का प्रदेश अशीभूत पुद्गल-स्कध से अलग हो सकता है। अशीभूत पुद्गल-स्कध से विच्छिन्न प्रदेश ही परमाणु है। "परमाणु द्रव्य अवद्ध असमुदाय रूप होता है[2]।" 'स्कन्धबहिर्भूत शुद्धद्रव्यरूप एव'—वह स्कध से बहिर्भूत शुद्ध पुद्गल द्रव्य है।

(३) प्रदेश और परमाणु तुल्य हैं प्रदेश और परमाणु दोनो पुद्गल के सूक्ष्मतम अश हैं इतना ही नही वे तुल्य—समान भी हैं। परमाणु पुद्गल आकाश के जितने स्थान को रोकता है उतना ही स्थान पुद्गल-प्रदेश रोकता है। इस तरह समान स्थान को रोकने की दृष्टि से भी परमाणु और पुद्गल-प्रदेश तुल्य हैं। प्रदेश और परमाणु की यह तुल्यता पुद्गल द्रव्य तक ही सीमित नही है। धर्मादि द्रव्यो के प्रदेश भी परमाणु तुल्य हैं क्योंकि धर्मादि के परमाणु के बराबर अशो को ही प्रदेश कहा गया है, यह पहले बताया जा चुका है।

१—नवतत्त्वप्रकरण (देवगुप्त सूरि) गाथा ६ का भाष्य (अभय०) .

दुपदेसाइअणतप्पएसियता उ पोग्गला खधा।
तेसिं चिय सविभागा, भागा देसत्ति नायव्वा ॥ ३५ ॥
ते चेव निव्विभागा होंति पएसत्ति पुग्गुला जे उ।
खधपरिणामरहिया, ते परमाणुत्ति निद्दिट्ठा ॥ ३६ ॥

२—तत्त्वार्थसूत्र (गुज० प० सुखलालजी) ५ २५ की व्याख्या

(३) प्रदेश और परमाणु तुल्य हैं।

(४) परमाणु अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर होता है।

पुद्गल की इन विशेषताओं पर नीचे क्रमशः प्रकाश डाला जाता है

(१) पुद्गलका चौथा भेद परमाणु है : पुद्गल के चार भेदों में तीन तो वे ही हैं जो धर्म अधर्म और आकाश द्रव्य के हैं, यथा–स्कंध देश और प्रदेश और चौथा भेद परमाणु है। धर्म अधर्म आकाश द्रव्यों से पुद्गल का जो वधम्य है उसीसे यह चौथा भेद सम्भव है। अस्तिकाय होने पर भी पुद्गल अवयवी है। वह परमाणुओं से रचित है। ये परमाणु पुद्गल से अलग हो सकते हैं। जब कि धर्म आदि तीनों द्रव्य अखण्ड हैं। उनसे उनका कोई अंश विलग नहीं किया जा सकता। वे अवयवी नहीं प्रदेश प्रचय रूप हैं। पुद्गल के अवयवी होने से ही उसके टुकड़े विभाग उससे जुदे हो सकते हैं। पुद्गल का ऐसा पृथक सूक्ष्मतम अंश परमाणु कहलाता है। पुद्गल के चार भेदों की गणना से रूपी अरूपी अजीव पदार्थ के १४ भेद होते हैं

धम्माधम्मागासा तियतिय भेया तहेव अद्धा य।
खंधा देसपएसा परमाणु अजीव चउदसहा[1] ॥

पुद्गल के चार भेदों की व्याख्या संक्षेप में इस प्रकार की जा सकती है समग्र पुद्गलास्तिकाय को स्कंध कहते हैं। दो प्रदेश से लगाकर एक कम अनन्त प्रदेश तक के उसके अविभक्त अंशों को देश कहते हैं। सूक्ष्मतम अविभक्त अविभाज्य अंश को प्रदेश कहते हैं। प्रदेश जितने विभक्त अविभाज्य अंश को परमाणु कहते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने पुद्गल के भेदों का स्वरूप बताते हुए कहा है सकल समस्त पुद्गलकाय को स्कंध कहते हैं। उस पुद्गल स्कंध के अर्द्ध भाग को देश और उसके अर्द्ध भाग को प्रदेश कहते हैं। परमाणु अविभागी होता है। स्कंध-देश और स्कंध-प्रदेश की जो परिभाषा यहाँ दी गयी है वह श्वेताम्बराचार्यों से भिन्न है। स्कंध के अर्द्धभाग को ही क्यों दो प्रदेश से लेकर एक कम अनन्त प्रदेश तक के अपृथक विभागों को स्कंध-देश कहा है। प्रदेश भी स्कंध के आधे का आधा अर्थात् चौथाई अंश नहीं पर सूक्ष्मतम अविभक्त अविभागी अंश है। इसी कारण कहा है "द्विप्रदेश आदि से अनन्त

१—नवतत्त्वप्रकरण (देवगुप्त सूरि) : ६

२—पञ्चास्तिकाय : १७५

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ॥

प्रदेशी तक के पुद्‌गल स्कध हैं। उनके सविभाग भागो को देश जानो। और निर्विभाग भाग रूप जो पुद्‌गल हैं उन्हें प्रदेश, तथा जो स्कंध-परिणाम से रहित है—उससे असम्बद्ध है—उसे परमाणु कहा जाता है[1]।"

(२) परमाणु पुद्‌गल का विभक्त अविभागी अश है और प्रदेश अविभक्त अविभागी अश पुद्‌गल के प्रदेश और परमाणु में जो अन्तर है वह पूर्व विवेचन से स्पष्ट है। परमाणु स्वतत्र और अकेला होता है। वह दूसरे परमाणु या स्कध के साथ जुडा हुआ नही होता। जब कि प्रदेश पुद्‌गल से आबद्ध होता है—स्वतत्र नही होता। प्रदेश और परमाणु दोनो अविभागी सूक्ष्मतम अंश हैं यह उनकी समानता है। एक सम्बद्ध है और दूसरा असम्बद्ध—स्वतत्र—यह दोनो का अन्तर है।

आकाश, धर्म, अधर्म और जीव के प्रदेश तथा पुद्‌गलास्तिकाय के प्रदेशो में भी एक अन्तर है। दोनो माप मे बराबर होते हैं अत दोनो में परिमाण का अन्तर नही। पर आकाशादि विस्तीर्ण खण्ड द्रव्य होने से अशीभूत स्कध से उनके प्रदेश अलग नही किये जा सकते जब कि पुद्‌गल का प्रदेश अशीभूत पुद्‌गल-स्कध से अलग हो सकता है। अशीभूत पुद्‌गल-स्कध से विच्छिन्न प्रदेश ही परमाणु है। "परमाणु द्रव्य अबद्ध असमुदाय रूप होता है[2]।" 'स्कन्धबहिर्भूत शुद्धद्रव्यरूप एव'—वह स्कध से बहिर्भूत शुद्ध पुद्‌गल द्रव्य है।

(३) प्रदेश और परमाणु तुल्य हैं प्रदेश और परमाणु दोनो पुद्‌गल के सूक्ष्मतम अश हैं इतना ही नही वे तुल्य—समान भी हैं। परमाणु पुद्‌गल आकाश के जितने स्थान को रोकता है उतना ही स्थान पुद्‌गल-प्रदेश रोकता है। इस तरह समान स्थान को रोकने की दृष्टि से भी परमाणु और पुद्‌गल-प्रदेश तुल्य हैं। प्रदेश और परमाणु की यह तुल्यता पुद्‌गल द्रव्य तक ही सीमित नही है। धर्मादि द्रव्यो के प्रदेश भी परमाणु तुल्य हैं क्योकि धर्मादि के परमाणु के बराबर अशो को ही प्रदेश कहा गया है, यह पहले बताया जा चुका है।

१—नवतत्त्वप्रकरण (देवगुप्त सूरि) गाथा ६ का भाष्य (अभय०) :

दुपदेसाइअणतप्पएसियता उ पोग्गला खधा।
तेसि चिय सविभागा, भागा देसत्ति नायव्वा ॥ ३५ ॥
ते चेव निव्विभागा होंति पएसत्ति पुग्गुला जे उ।
खधपरिणामरहिया, ते परमाणुत्ति निद्दिट्ठा ॥ ३६ ॥

२—तत्त्वार्थसूत्र (गुज० प० सुखलालजी) ५ २५ की व्याख्या

(४) परमाणु अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर होता है : परमाणु पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म होता है। इसकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी कही गयी है।

आगमों में परमाणु की अनेक विशेषताओं का वर्णन मिलता है। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है

(१) परमाणु-पुद्गल तलवार की धार पर आश्रित हो सकता है पर उससे उसका छेदन-भेदन नहीं हो सकता। उसमें शस्त्र-क्रमण नहीं हो सकता। अगर ऐसा हो तो वह परमाणु ही नहीं रहेगा[१]।

(२) परमाणु-पुद्गल अर्द्धरहित मध्यरहित और प्रदेशरहित होता है[२]।

(३) वह कदाचित् सकंप होता है और कदाचित् निष्कंप[३]। जब वह सकंप होता है तो सर्व अंश से सकंप होता है[४]।

(४) परमाणु-पुद्गल परस्पर में जुड़ सकते हैं क्योंकि उनमें चिकनापन होता है। मिले हुए अनेक परमाणु-पुद्गल पुनः जुदे हो सकते हैं पर जुदे होते समय जो विभाग होंगे उनमें से किसी में भी एक परमाणु से कम नहीं होगा। कारण परमाणु अन्तिम अंश और अखण्ड होता है[५]।

(५) परमाणु को स्पर्श करता हुआ परमाणु एक भाग से स्पृष्ट भाग का स्पर्श करता है। परमाणु के अविभागी होने से अन्य विकल्प नहीं घटता[६]।

(६) दो परमाणुओं के इकट्ठे होने पर द्विप्रदेशी स्कंध होता है। इसी तरह त्रिप्रदेशी यावत् अनन्त प्रदेशी स्कंध होता है[७]।

(७) परमाणु काल की अपेक्षा से परमाणु रूप में जघन्य एक समय और उत्कृष्ट से असंख्यात काल तक रहता है[८]।

१—भगवती ५ ७
२—वही ५ ७
३—वही ५ ७
४—वही २५ ४
५—वही १ १
६—वही ५ ७
७—वही १२ ४
८—वही ५ ७

(८) परमाणु पुद्गल एक समय में लोक के किसी भी दिशा के एक अन्त से प्रति-पक्षी दिशा के अन्त तक पहुँच सकता है[1]।

(९) परमाणु द्रव्यार्थरूप से शाश्वत है और वर्णादि पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत[2]।

(१०) परमाणु पुद्गल एक वर्ण, एक गध, एक रस और दो स्पर्श युक्त होता है। उसमें काले, नीले, लाल, पीले या धवल—इन वर्णों मे से कोई भी एक वर्ण होता है। सुगध या दुर्गन्ध में से कोई भी एक गध होती है। कटुक, तीक्ष्ण, कसैला, खट्टा, मीठा—इन रसो मे से कोई एक रस होता है। वह दो स्पर्शवाला—या तो शीत और स्निग्ध, या शीत और रूक्ष, या उष्ण और स्निग्ध, या उष्ण और रूक्ष होता है[3]।

कुन्दकुन्दाचार्य परमाणु के सम्बन्ध मे लिखते हैं

"वह सर्व स्कधो का अत्य है—उनका अन्तिम विभाग या कारण है। वह शाश्वत, एक, अविभागी और मूर्त होता है। वह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—इन चार धातुओ का कारण है। परिणामी है। स्वय अशब्द होते हुए भी शब्द की उत्पत्ति का कारण है। वह नित्य है। वह सावकाश और अनवकाश है। वह जैसे स्कध के भेद का कारण है वैसे ही स्कध का कर्त्ता भी है। वह काल-सख्या का निरूपक और प्रदेश-सख्या का हेतु है। एक रस, एक वर्ण, एक गध और दो स्पर्शवाला है। ऐसा जो पुद्गल-स्कध से विभक्त द्रव्य है उसे परमाणु जानो[4]।"

परमाणु कारण रूप है कार्य रूप नही, अत वह अत्य द्रव्य है[5]। उसकी उत्पत्ति में दो द्रव्यो के सघात की सभावना नही, अत वह नित्य है क्योकि उसका विच्छेद नही हो सकता।

शब्द पुद्गल का लक्षण—गुण नही है अत वह परमाणु का भी गुण नही। इसलिए परमाणु अशब्द है। पर स्वय अशब्द होते हुए भी वह शब्द का कारण कहा गया है।

१—वही १८ १०

२—वही १४ ४

३—भगवती १८ ६

४—पञ्चास्तिकाय १.७७, ७८, ८०, ८१

५—कारणमेव तदन्त्य सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणु ।

एकरस वर्ण-गन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥

इसका हेतु यह है 'शब्द स्कंधों के संघर्ष से उत्पन्न होता है और स्कंध बिना परमाणु के हो नहीं सकते। अतः परमाणु ही शब्द के कारण ठहरे[1]।'

परमाणु के बिछुड़ने पर स्कंध टूटने लगता है। इसलिए वह स्कंध के भेद का कारण है। परमाणुओं के मिलाप से स्कंध बनता है या पुष्ट होने लगता है इसलिए स्कंध का कर्ता है[2]।

अपने वर्णादि गुणों को स्थान देता है अतः सावकाश है। एक प्रदेश से अधिक स्थान को नहीं लेता अतः अनवकाश है अथवा उसके एक प्रदेश में दूसरे प्रदेश का समा वेश नहीं होता अतः वह अनवकाश है।

पुद्गल सूक्ष्मतम स्वतंत्र द्रव्य होने से धर्म अधर्म आकाश और जीव जैसे अखण्ड और अमूर्त द्रव्यों में प्रदेशांशों की कल्पना की जाती है उसका आधार है। परमाणु जितने आकाश स्थान को ग्रहण करता है उतने को एक प्रदेश मान कर ही उनके असंख्यात या अनन्त प्रदेश बतलाये गये हैं[3]। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं— 'पुद्गल को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने में जो अन्तर लगता है वह ही समय है[4]।' इस तरह उनके अनुसार काल के माप का आधार भी परमाणु है।

२५—पुद्गल का उत्कृष्ट और जघन्य स्कंध (गा० ४१-५०)

धर्म अधर्म और जीव द्रव्य के प्रदेश असंख्यात हैं और आकाश द्रव्य के प्रदेश अनन्त हैं। पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध भिन्न भिन्न प्रदेशों की संख्या को लिए हुए हो सकते हैं। कोई पुद्गल स्कन्ध संख्यात प्रदेशों का कोई असंख्यात प्रदेशों का और कोई अनन्त प्रदेशों का हो सकता है[5]।

१—पञ्चास्तिकाय १ ७६ :

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥

२—(क) स्कन्धान्ते-पुष्यन्ति पुद्गलविशेषेण गलन्ति—पुष्यन्ति पुद्गल-वरनेनेति स्कंधा

(ख) उत्त ३६ ११ एगत्तेण पुहुत्तेण खंधा य परमाणु य

३—(क) प्रवचनसार २ ४५

(ख) वही पृ ८२ पाद-टि १

४—प्रवचनसार २ ४७

५—तत्त्वार्थसूत्र ५ ७-११

पुद्गल का सब-से-बडा स्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है फिर भी उसके लिये अनन्त आकाश की आवश्यकता नही पडती। वह केवल लोकाकाश के क्षेत्र प्रमाण ही होता है। उसी तरह पुद्गल का छोटा-से-छोटा स्कन्ध द्विप्रदेशी हो सकता है परन्तु वह प्रमाण मे अगुल के असख्यातवें भाग अर्थात् एक प्रदेश आकाश से छोटा नही हो सकता। अनन्त प्रदेशी स्कध लोकाकाश के एक प्रदेश क्षेत्र मे समा सकता है और वही स्कंध एक-एक प्रदेश में फैलता हुआ लोकव्यापी हो सकता है।

पुद्गल-स्कध के स्थान-ग्रहण के सम्बन्ध में प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजी ने बडा अच्छा प्रकाश डाला है[1]। उसको यहाँ उद्धृत किया जाता है

"पुद्गल द्रव्य का आधार सामान्य रूप से लोकाकाश ही नियत है। फिर भी विशेष रूप से भिन्न-भिन्न पुद्गल द्रव्यो के आधार क्षेत्र के परिमाण में फर्क है। पुद्गल द्रव्य कोई धर्म, अधर्म द्रव्य की तरह मात्र एक व्यक्ति तो है ही नही कि जिससे उसके लिए एकरूप आधार क्षेत्र होने की सम्भावना की जा सके। भिन्न-भिन्न व्यक्ति होने से पुद्गलो के परिमाण में विविधता होती है, एकरूपता नही। इसलिए यहाँ इसके आधार का परिमाण विकल्प से अनेक रूप मे बताया गया है। कोई पुद्गल लोकाकाश के एक प्रदेश में तो कोई दो प्रदेश मे रहते हैं। इस प्रकार कोई पुद्गल असख्यात प्रदेश परिमित लोकाकाश में भी रहते हैं। सारांश यह है कि आधारभूत क्षेत्र के प्रदेशो की सख्या आधेयभूत पुद्गल द्रव्य के परमाणु की सख्या से न्यून अथवा इसके बराबर हो सकती है, अधिक नही। इसीलिए एक परमाणु एक सरीखे आकाश प्रदेश में स्थित रहता है, परन्तु द्वयणुक एक प्रदेश में भी रह सकता है और दो में भी। इस प्रकार उत्तरोत्तर सख्या बढते-बढते द्वयणुक, चतुरणुक इस तरह सख्याताणुक स्कन्ध तक एक प्रदेश, दो प्रदेश, तीन प्रदेश इस तरह असख्यात प्रदेश तक के क्षेत्र में रह सकता है, सख्यातणुक द्रव्य की स्थिति के लिये असख्यात प्रदेश वाले क्षेत्र की आवश्यकता नही होती। असख्याताणुक स्कध एक प्रदेश से लेकर अधिक से अधिक अपने बराबर के असख्यात सख्या वाले प्रदेशो के क्षेत्र में रह सकते हैं। अनन्ताणुक और अनन्तानताणुक स्कध भी एक प्रदेश, दो प्रदेश इत्यादि क्रम से बढते-बढते सख्यात प्रदेश या असंख्यात प्रदेश वाले क्षेत्र में रह सकते हैं। इसकी स्थिति के लिये अनन्त प्रदेशात्मक क्षेत्र की जरूरत नही। पुद्गल द्रव्य के सबसे बडे स्कध जिसको अचित महास्कध कहा जाता है और जो अनता

१—तत्त्वार्थसूत्र (गुज०) सू० १४ की व्याख्या

नंत प्रणमों का बना हुआ होता है वह भी असंख्यात प्रदेश लोकाकाश में ही समाता है।

२६ २७—लोक में पुद्गल सर्वत्र हैं। वे गतिशील हैं (गाथा ५१)

पुद्गल के दो प्रदेशों से लगाकर अनन्त प्रदेशों तक के स्कंध होते हैं। ये स्कंध एक समान स्थान न लेकर भिन्न भिन्न परिमाण में लोकाकाश क्षेत्र को रोक सकते हैं। अत स्कंध लोकाकाश के एक देश में होते हैं और पुद्गल-परमाणु लोक में सर्वत्र अथवा बादर लोक के एक देश में और सूक्ष्म सर्व लोक में होते हैं[1]। अत सामान्य दृष्टि से पुद्गल का स्थान तीन लोक नियत है। पुद्गल तीनों लोकों में ठसा-ठस भरे हुए हैं। कोई भी जगह पुद्गल से खाली नहीं है। ये पुद्गल गतिशील हैं और एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते।

एक बार गौतम के प्रश्न के उत्तर में श्रमण भगवान महावीर ने बतलाया 'पर माणु-पुद्गल एक समय में लोक के पूर्व अन्त से पश्चिम अन्त पश्चिम अन्त से पूर्व अंत, दक्षिण अन्त से उत्तर अन्त और उत्तर अन्त से दक्षिण अन्त ऊपर के अन्त से नीचे के अंत और नीचे के अन्त से ऊपर के अन्त में जाते हैं[2]।' परमाणु-पुद्गल की गति कितनी तीव्र है उसका अन्दाज इस उत्तर से हो जाता है।

२८—पुद्गल के चारों भेदों की स्थिति (गा० ५२)

स्कंध देश प्रदेश और परमाणु की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन इस गाथा में किया गया है। अपनी अपनी स्थिति के बाद स्कंध देश और प्रदेश उसी अवस्था में नहीं रहते परन्तु भेद संघात या भेदसंघात के सहारे अवस्थान्तरित हो जाते हैं। भेद के सहारे स्कंध छोटा हो जाता है या अमुक्त संघात से दूसरे स्कंध या परमाणु से मिल कर और बड़ा स्कंध रूप हो जाता है, भेदसंघात से छोटा स्कंध या परमाणु रूप होकर फिर स्कंध रूप हो जाता है। इस तरह स्कंध देश और प्रदेश परमाणु-पुद्गल की पर्याय हैं। स्कंधादि की उत्पत्ति परमाणु से होती है इसलिये स्कंधादि भेद पर्याय ही हैं।

परमाणु द्रव्यों का बना हुआ नहीं होता इसलिए नित्य है, अनुत्पन्न है फिर

१—उत्त० ३६.११

> लोगेगदेसे लोए य भइयव्वा उ खेत्तओ ।
> सुहुमा सव्वलोगम्मि लोगदेसे य बायरा ॥

२—भगवती १६.८

भी स्कघ या देश के भेद मे परमाणु निकलता है इस दृष्टि से परमाणु की स्कघ से अलग स्थिति पर्याय है। इसीलिए अलग हुए परमाणु की स्थिति को भाव-पुद्गल कहा गया है। "कभी स्कघ के अवयव रूप वन सामुदायिक अवस्था मे परमाणुओ का रहना और कभी स्कघ से अलग होकर विशकलित (स्वतन्त्र) अवस्था मे रहना यह सव परमाणु की पर्याय—अवस्था विशेष ही है[1]।"

स्कघ, देश, प्रदेश और परमाणु अपने-अपने स्कघादि रूप में कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक असख्यात काल तक रहते हैं। स्वामीजी के इस कथन का आधार भगवती सूत्र है[2]।

२६—स्कंधादि रूप पुद्गलों की अनन्त पर्याये (गा० ५३) :

'पूरणगलन धर्माण पुद्गल' पूरण-गलन जिसका स्वभाव हो, उसे पुद्गल कहते हैं अर्थात् जो इकट्ठे होकर मिल जाते हैं और फिर जुदे-जुदे हो विखर जाते हैं वे पुद्गल हैं। इकट्ठा होना और विखर जाना पुद्गल द्रव्य का स्वभाव है। इस मिलने-विछुडने से पुद्गल के अनेक तरह के भाव—रूपान्तर होते है। अनेक तरह की पौद्गलिक वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। इस तरह उत्पन्न पौद्गलिक पदार्थ भाव पुद्गल हैं। भिन्न-भिन्न स्कधादि रूप में इनकी अनन्त पर्यायें—अवस्थाएँ होती हैं।

३०—पौद्गलिक वस्तुएँ विनाशशील होती है (गा० ५४) :

पुद्गल दो तरह के होते हैं—एक द्रव्य-पुद्गल दूसरे भाव-पुद्गल। द्रव्य-पुद्गल मूल पदार्थ हैं। उनका विच्छेद नही हो सकता। चू कि वे किन्ही दो पदार्थो के वने हुये नही होते अत उनमें से अन्य किसी वस्तु को प्राप्त करना असम्भव है। ये किन्ही पदार्थों के कार्य (Product) नही होते पर अन्य पदार्थो के कारण (Constituent) होते हैं। इन द्रव्य पुद्गलो से वनी हुई जो भी वस्तुएँ होती हैं उन्हें भाव-पुद्गल कहते हैं। द्रव्य-पुद्गल की सब परिणतियाँ—पर्यायें भाव-पुद्गल हैं। हम अपने चारो ओर जो भी जड वस्तुएँ देखते हैं वे सभी पौद्गलिक हैं अर्थात् द्रव्य-पुद्गल से निष्पन्न हैं और भाव-पुद्गल हैं। उदाहरण स्वरूप हमारी काठ की टेबुल, लोहे की कुर्सी, पीतल का पेपरवेट, दफ्ती की फाइलें, प्लास्टिक की कैंची, हमारा निजी शरीर, हमारी निज की इन्द्रियाँ ये सभी भाव-पुद्गल हैं।

१—तत्त्वार्थसूत्र (गुज०) ५ २७ की व्याख्या पृ० २२२

२—भगवती ५ ७ जहण्णेण एग समय, उक्कोसेव असखेज्जा काल, एव जाव अणत-पएसिओ।

मूल-पुद्गल नित्य होते हैं। वे शाश्वत हैं। भाव पुद्गल अनित्य होते हैं और नाश-वान हैं।

उदाहरण स्वरूप एक मोमबत्ती को ले लीजिये। जलाये जाने पर कुछ ही समय में उसका सम्पूर्ण नाश हो जायगा। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि मोमबत्ती के नाश होने से अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है[1]।

इसी तरह जल को एक प्याले में रखा जाय और प्याले में दो छिद्रकर उनमें कार्क लगाकर दो प्लेटिनम की पत्तियाँ जल में खड़ी कर दी जाय और प्रत्येक पत्ती के ऊपर एक काँच का ट्यूब लगा दिया जाय और प्लेटिनम की पत्तियों का सम्बन्ध तार द्वारा बिजली की बटरी के साथ कर दिया जाय तो कुछ ही समय में पानी गायब हो जायगा। साथ ही यदि उन प्लेटिनम की पत्तियों पर रख गये ट्यूबों पर ध्यान दिया जायगा तो दोनों में एक-एक तरह की गैस मिलेगी जो ऑक्सीजन और हाइड्रोजन होगी।

फेरस सलफेट और सिल्वर सलफेट के घोलों को एक साथ मिलाने से उनसे सिल्वर धातु की उत्पत्ति होती है। इस तरह पुद्गलों के विश्लेष और परस्पर मिलने से भाँति भाँति की पौद्गलिक वस्तुओं की निष्पत्ति होती है।

द्रव्य-पुद्गल स्वाभाविक होते हैं और भाव पुद्गल कृत्रिम। भाव-पुद्गल द्रव्य पुद्गलों से रचित होते हैं उनकी पर्यायें होती हैं और द्रव्य-पुद्गल स्वाभाविक मनुत्पन्न पदार्थ हैं। ऐसी कोई दो वस्तुएं नहीं हैं कि जिनसे द्रव्य-पुद्गल उत्पन्न किए जा सकें। जो संयोग से बनी हुई चीजें हैं वे नित्य नहीं हो सकती और जो असंयोगज वस्तुएँ हैं उनका कभी विनाश नहीं हो सकता वे नित्य रहती हैं।

२१—(गा० ५५-५८)

स्वामीजी ने इन गाथाओं में भाव-पुद्गलों के कुछ उदाहरण दिये हैं यथा—आठ कर्म पाँच शरीर आदि। नीचे इन भाव-पुद्गलों पर कुछ प्रकाश डाला जाता है

१—A Text Book of Inorganic Chemistry By J R. Partington, M B E D Sc p 15 Expt. 7

२—A Text Book of Inorganic Chemistry By G S Newth, F I C. F C. S p 237

१ : आठ कर्म

पुद्गल दो तरह के होते हैं एक वे जिनको आत्मा अपने प्रदेशो मे ग्रहण कर सकती है और दूसरे वे जो आत्मा द्वारा अपने प्रदेशो मे ग्रहण नही किए जा सकते। प्रथम प्रकार के पुद्गल आत्म-प्रदेशो मे प्रवेश कर वही स्थित हो जाते हैं। इन्हे पारिभाषिक शब्द मे कर्म कहा जाता है। कर्म आठ हैं, जिनके अलग-अलग स्वभाव होते हैं। (१) ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को रोकता है। (२) दर्शनावरणीय कर्म दर्शन को रोकता है। (३) वेदनीय कर्म सुख-दुःख का अनुभव कराता है। (४) मोहनीय कर्म जीव को मतवाला बना देता है। (५) आयुष्य कर्म जीव की आयु नियत करता है। (६) नाम कर्म जीव की ख्याति, उसके स्वभाव, उसकी लोकप्रियता आदि को निश्चित करता है। (७) गोत्र कर्म, कुल-जाति आदि को निश्चित करता है और (८) अतराय कर्म से बाधाएँ आती हैं।

२ : पाँच शरीर

शरीर पाँच होते हैं (१) औदारिक शरीर, (२) वैक्रिय शरीर, (३) आहारक शरीर, (४) तैजस् शरीर और (५) कार्मण शरीर[१]।

औदारिक शरीर इसकी कई व्याख्याएँ की जाती हैं, जैसे

१—जो शरीर जलाया जा सके और जिसका छेदन-भेदन हो सके वह औदारिक शरीर है[२]।

२—उदार अर्थात् बडे-बडे अथवा तीर्थंकरादि उत्तम पुरुषो की अपेक्षा से उदार—प्रधान पुद्गलो से जो शरीर बनता है उसे 'औदारिक' कहते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का शरीर औदारिक कहलाता है[३]।

३—उदरण का अर्थ स्थूल होता है। जो शरीर स्थूल पदार्थों का बना होता है उसे औदारिक शरीर कहते हैं। औदारिक शब्द की उत्पत्ति उदर शब्द से भी हो सकती है। इसलिए उदर-जात को औदारिक शरीर कहा जायगा[४]।

४—जिसमें हाड, मांस, रक्त, पीव, चर्म, नख, केश, इत्यादिक हो तथा जिस शरीर से जीव कर्म क्षय कर मुक्ति पा सके[५]।

१—पण्णवणा १२ शरीर पद १

२—तत्त्वार्थसूत्र (गुज० तृ० आ०) पृ० १२०

३—नवतत्त्व (हिन्दी भाषानुवाद-सहित) पृ० १५

४—Panchastikayasara(English)Edited by A chakravarti p 88

५—श्री नवतत्त्व अर्थ विस्तार सहित (प्रकाशक जे० जे० कामदार) पृ० ३४।

औदारिक शरीर की उपरोक्त व्याख्याओं में चौथी व्याख्या सदोष और अपूर्ण है। क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों के शरीर में यथाकथित हाड़ और मांस नहीं होते फिर भी वे औदारिक शरीरी हैं। औदारिक शरीर की तीसरी व्याख्या भी व्यापक नहीं। औदारिक शरीर स्थूल पदार्थों का ही बना हुआ होता है ऐसी कोई बात नहीं है। सूक्ष्म वायुकाय का शरीर भी औदारिक है पर वह स्थूल पदार्थों का बना हुआ नहीं कहा जा सकता। उदर से उत्पन्न जीवों के ही नहीं परन्तु सम्मूर्छिम जीवों के शरीर भी औदारिक हैं अतः यह तीसरी व्याख्या भी सदोष मालूम देती है।

दूसरी व्याख्या भी कृत्रिम-सी लगती है।

पहली व्याख्या काफी व्यापक है और औदारिक शरीर का ठीक-ठीक परिचय देती है।

वैक्रिय शरीर : उस शरीर को कहते हैं जो कभी छोटा कभी बड़ा कभी पतला कभी मोटा कभी एक कभी अनेक इत्यादि विविध रूपों को—विक्रिया को धारण कर सके[1]। यह शरीर देवता और नारकीय जीवों को होता है। पन्नवणा में वायुकाय के वैक्रिय शरीर भी कहा गया है[2]।

आहारक शरीर : जो शरीर केवल चतुर्दश पूर्वधारी मुनि द्वारा ही रचा जा सकता है उसे आहारक शरीर कहते हैं।

तैजस् शरीर : जो शरीर गर्मी का कारण है और आहार पचाने का काम करता है उसे तैजस् शरीर कहते हैं। शरीर के अमुक-अमुक अंग रगड़ने से गरम मालूम देते हैं, वे तैजस् शरीर के कारण से ही ऐसे मालूम देते हैं[3]।

कार्मण शरीर : कर्म-समूह ही कार्मण शरीर है[4]।

जीव के साथ लगे हुए आठ प्रकार के कर्मों का विकाररूप तथा सब शरीरों का कारण रूप कार्मण शरीर कहलाता है[5]। जीव जिन आठ कर्मों से अवच्छिन्न होता है,

---

१—तत्त्वार्थसूत्र (गुज वि भा) पृ १ १

२—पण्णवणा १२ शरीर पद १

३—श्रीमद् राजचन्द्र भाग २ पृ १८६ अंक १०५

४ तत्त्वार्थसूत्र (गुज वि भा) पृ १२१

५ नवतत्त्व पृ ११

उनके समूह को कार्मण शरीर कहते हैं। कोई भी सांसारिक जीव तेजस् और कार्मण शरीर बिना नहीं होता।

स्वामीजी कहते हैं—ये सभी शरीर पौद्गलिक हैं—पुद्गलो से रचित हैं[1]। पुद्गलो की पर्यायें होने से ये नित्य नहीं हैं। ये अस्थायी और विनाशशील हैं।

३ : छाया, धूप, प्रभा—कांति, अंधकार, उद्योत आदि

उत्तराध्ययन मे कहा है "शब्द, अंधकार, उद्योत, प्रभा, छाया, धूप तथा वर्ण, गध, रस और स्पर्श पुद्गल के लक्षण हैं। एकत्व, पृथक्त्व, सख्या, संस्थान, सयोग और विभाग पर्यायो के लक्षण हैं[2]।" वाचक उमास्वाति के प्राय इसी आशय के सूत्र इस प्रकार हैं

स्पर्शरसगधवर्णवन्त पुद्गला [3]।

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च[4]।

स्वामीजी का कथन (गा० ५६-५७) भी ठीक ऐसा ही है और उसका आधार उत्तराध्ययन की उपर्युक्त गाथाएँ हैं। स्वामीजी ने छाया, धूप आदि सबको भाव-पुद्गल कहा है। ये पुद्गल के भिन्न-भिन्न रूप हैं। उसकी पर्याय—अवस्थाएँ हैं। इस बात से दिगम्बराचार्य भी सहमत हैं[5]।

४—उत्तराध्ययन के क्रम से शब्दादि पुद्गल परिणामों का स्वरूप

अब हम उत्तराध्ययन सूत्र के क्रम से शब्दादि भाव-पुद्गलो पर क्रमश प्रकाश डालेंगे।

१—मिलावे प्रवचन सार २ ७६

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजइओ।
आहारय कम्मइओ पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे॥

२—उत्त० २८ १२ १३

३—तत्त्वार्थसूत्र ५ २३

४—तत्त्वार्थसूत्र ५ २४

५—द्रव्यसंग्रह १६

सद्दो बधो सुहमो थूलो सठाण भेदतमछाया।
उज्जोदादपसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥

१—शब्द : शब्द का अर्थ है ध्वनि, भाषा। शब्द दो तरह से उत्पन्न होता है—(१) पुद्गलों के संघात से और (२) पुद्गलों के भेद से¹। जब पुद्गल आपस में टकराते हैं या एक दूसरे से अलग होते हैं तो शब्द की उत्पत्ति होती है। इस तरह शब्द प्रत्यक्ष ही पुद्गलों की पर्याय है। शब्द के अनेक प्रकार के वर्गीकरण मिलते हैं

१—(१) प्रायोगिक—जो शब्द आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न होते हैं उन्हें प्रायोगिक कहते हैं। जैसे वीणा, ताल आदि के शब्द।

(२) वैस्रसिक—जो शब्द बिना प्रयत्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं उन्हें वैस्रसिक कहते हैं²। जैसे बादलों की गर्जना।

२—(१) जीव शब्द—जीवों की आवाज, भाषा आदि।

(२) अजीव शब्द—बादलों की गर्जना आदि।

(३) मिश्र शब्द—जीव अजीव दोनों के मिलने से उत्पन्न शब्द। जैसे शंख-ध्वनि।

३—तीसरे वर्गीकरण के अनुसार शब्द के दस भेद इस प्रकार हैं—

(१) निर्हारी—घोष पूर्ण शब्द, जैसे घंट का शब्द

(२) पिण्डिम—घोष रहित—ढोल आदि का शब्द

(३) रूक्ष—काक आदि का शब्द

(४) भिन्न—तुतले शब्द

(५) जर्जरित—वीणा आदि के शब्द

(६) दीर्घ—मेघ-ध्वनि जैसे शब्द अथवा दीर्घवर्णाश्रित शब्द

(७) ह्रस्व—मंद अथवा ह्रस्व वर्णाश्रित शब्द

(८) पृथक्त्व—भिन्न भिन्न स्वरों के मिश्रण वाला शब्द

(९) काकणी—कोमल का शब्द और

(१०) किंकिणीस्वर—नूपुर आभूषण आदि का शब्द³।

१—ठाणाङ्ग २. ३. ८१ : दोहिं ठाणेहिं सद्दुप्पाते सिया, तंजहा—साहन्नंताण चेव पुग्गलाणं सदुप्पाए सिया भिज्जंताण चेव पोग्गलाणं सदुप्पाते सिया

२—पञ्चास्तिकाय १.७९ की जयसेन टीका :

"उप्पादिगो" प्रायोगिकः पुरुषादिप्रयोग प्रभवः "णियदो णियतो वैस्रसिको मेघादिप्रभवः

३—ठाणाङ्ग १०.४

४—चौथे वर्गीकरण को एक वृक्ष के रूप मे नीचे उपस्थित किया जाता है . (ठाणाङ्ग ८१)

- शब्द
  - भाषा शब्द[1]
    - अक्षर सबद्ध[3]
    - नोअक्षर सबद्ध[4]
  - नोभाषा शब्द[2]
    - आतोद्य शब्द[5]
      - तत[7]
        - घन[9]
        - शुषिर[10]
      - वितत[8]
        - घन[15]
        - शुषिर[16]
    - नोआतोद्य शब्द[6]
      - भूषण शब्द[11]
      - नोभूषण शब्द[12]
        - तालशब्द[13]
        - लत्तिका शब्द[14]
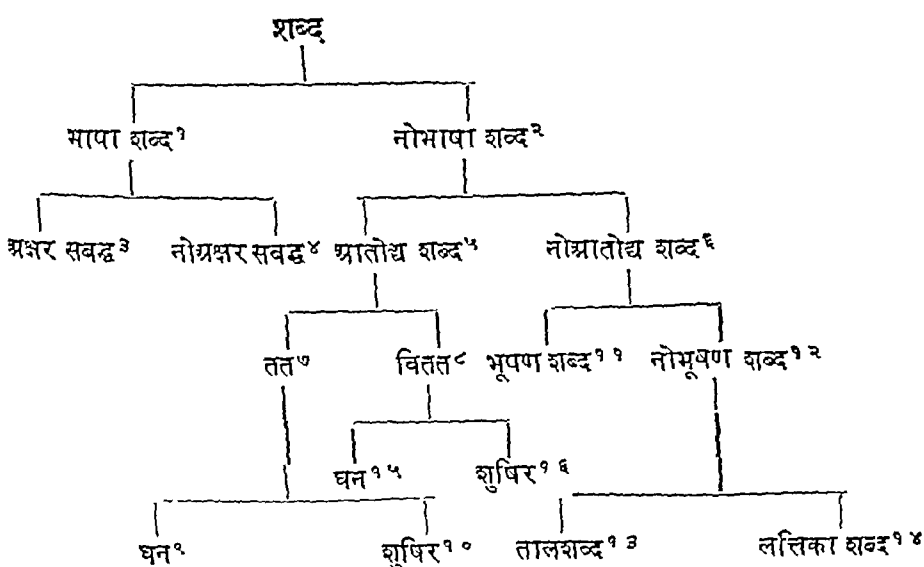
१—मनुष्य अथवा पशु-पक्षियों के शब्द ।

२—अजीव वस्तु का शब्द ।

३—अकार आदि वर्ण रूपी शब्द ।

४—वर्ण रहित अव्यक्त शब्द ।

५—पटह आदि के शब्द ।

६—बांसस्फोट आदि के शब्द ।

७—वीणा, सारङ्गी आदि के शब्द ।

८—मृदग, पटह आदि के शब्द । टीका—तन्त्री आदि से रहित शब्द

९—कासे के झांझ-पिजनिका आदि के शब्द ।

१०—मुरली, बासुरी, शख आदि के शब्द । टीका के अनुसार पटह, वीणा आदि के शब्द

पञ्चास्तिकाय १ ७९ की जयसेन टीका

तत वीणादिक ज्ञेय वितत पटहादिक ।
घन तु कांस्यतालादि वंशादि शुषिर मतम् ॥

११—नूपुर (भूषण) आदि के शब्द ।

१२—आभूषण आदि से भिन्न वस्तु के शब्द ।

१३—ताली आदि के शब्द ।

१४—पद-चाप, टाप आदि के शब्द ।

१५—भाणकवत् ...

१६—काहलादिवत्

शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। शब्द या तो शुभ होते हैं या अशुभ। इसी तरह वे (१) आत्त-अनात्त (२) इष्ट-अनिष्ट (३) कान्त-अकान्त (४) प्रिय-अप्रिय (५) मनोज्ञ-अमनोज्ञ और (६) मनआम अमनआम होते हैं[1]।

शब्द कानों के साथ स्पृष्ट होने पर सुनाई पड़ता है[2]।

भगवान महावीर ने बतलाया है कि शब्द आत्मा नहीं है। वह अनात्म है। वह रूपी है। वह भाषा वर्गणा के पुद्गलों का एक प्रकार का विशिष्ट परिणाम है[3]।

भाषा का आकार वज्रकी तरह होता है। लोकान्त में उसका अन्त होता है। भाषा दो समयों में बोली जाती है[4]।

२—अंधकार—तम तिमिर। जो अंधा कर देता है—जिसके कारण वस्तुओं का रूप दिखलाई नहीं देता उसे अंधकार कहते हैं। प्रायः सूर्य या दीपक के प्रकाश से जो पुद्गल तमस् परिणाम को प्राप्त करते हैं वे ही श्याम भाव में परिणमन करते हैं। यह अंधकार पुद्गल परिणामी है। यह प्रकाश का विरोधी है।

३—उद्योत : तारक ग्रह, चन्द्रादि के शीतल प्रकाश को उद्योत कहते हैं। चन्द्रादि से प्रति समय निकलता हुआ उद्योत पुद्गल प्रवाहात्मक होता है।

४—प्रभा : प्रदीप आदि का प्रकाश। सूर्य चन्द्रमा तथा इसी प्रकार के अन्य तेजस्वी पुद्गलों की प्रकाश रश्मियों से जो अन्य उपप्रकाश निकलता है उसे प्रभा कहते हैं। प्रकाश पुद्गलों से निकलती हुई प्रभा पुद्गलसमूहात्मिका है।

५—छाया यह प्रकाश पर आवरण पड़ने से उत्पन्न होती है। छाया दो तरह की होती है—(१) प्रतिबिम्ब और (२) परछाईं। दर्पण या जल पर पड़ी हुई छाया को प्रतिबिम्ब तथा धूप या प्रकाश में पड़ी हुई आकृति या मनुष्य की विपरीत दिशा में पड़ी हुई छाया परछाईं कहलाती है।

१—ठाणाङ्ग ? १ ८?
२—भगवती ५ ४
पुट्ठाइं सुणेइ नो अपुट्ठाइं सुणेइ
३—भगवती १३ ७
४—समवायांग ११ १४
भासिज्जमाणी भासा ...
दोहिं च समएहिं भासा भा'

६—आतप सूर्यादि का उष्ण प्रकाश।

७—वर्ण, गध, रस, स्पर्श और सस्थान उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है "स्कध और परमाणु के परिणाम वर्ण, गध, रस, स्पर्श और सस्थान से पाँच प्रकार के हैं

"वर्ण से परिणत पुद्‌गल काले, नीले, लाल, पीले और शुक्ल पांच प्रकार के होते हैं।

"गध से परिणत पुद्‌गल सुगन्ध-परिणत और दुर्गन्ध-परिणत दो तरह के होते हैं।

"रस से परिणत पुद्‌गल तिक्त, कटु, कषाय, खट्टे और मधुर पांच प्रकार के होते हैं।

"स्पर्श से परिणत पुद्‌गल कर्कश, कोमल, भारी, हल्का, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष आठ प्रकार के होते हैं।

"सस्थान से परिणत पुद्‌गल परिमण्डल, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण और लम्बे—पाँच प्रकार के होते हैं[1]।"

८—एकत्व परमाणु का एक या अधिक परमाणु अथवा स्कध के साथ मिलना एकत्व है।

९—पृथक्त्व स्कध से परमाणु का जुदा होना पृथक्त्व है।

१०—सख्या एक परमाणु रूप होना अथवा दो परमाणु से आरभ कर अनन्त परमाणुओ का स्कध होना। अथवा द्रव्यो के प्रदेशो की सख्या के परिमणन का हेतु होना।

११—सस्थान भगवती सूत्र में सस्थान (आकृति) पाँच प्रकार के कहे हैं (१) परिमडल, (२) वृत्त, (३) त्र्यस्र, (त्रिकोण), (४) चतुरस्र, (चतुष्कोण) और (५) आयत (लवा)[2]। सस्थानो की सख्या छ भी मिलती है। इसका छठाँ प्रकार अनित्थंस्थ हैं[3]। सस्थान के सात भेद भी कहे गये हैं (१) दीर्घ, (२) ह्रस्व, (३) वृत्त, (४) त्र्यश, (५) चतुरस्र, (६) पृथुल और (७) परिमडल[4]।

१२—सयोग—बध। यह प्रायोगिक और वैश्रसिक दो प्रकार का होता है। जीव और शरीर का सम्बन्ध अथवा टेबिल के अवयवो का सम्बन्ध प्रयत्न साध्य होने से प्रयोगज है। बादलो का सयोग स्वाभाविक वैश्रसिक है।

१३—विभाग—भेद। मुख्य भेद पाँच हैं[5]। (१) उत्करिक· चीरने या फाडने

१—उत्त० ३६ १५-२१

२—भगवती २५ ३

३—भगवती २५ ३

४—ठाणाङ्ग—७ ३ ५४८

५—पण्णवणा ११ २८

से लकड़ी पत्थर आदि के भी भेद होते हैं, (२) चूर्णिक—पीसने से आटा आदि रूप जो भेद होते हैं, (३) खण्ड—सुवर्ण के टुकड़े के रूप के भेद (४) प्रतर—अभ्रक की परतों के रूप के भेद और (५) अनुतटिका—छाल दूर करने की तरह के भेद—जैसे ईख का छीलना[१]।

१४—सूक्ष्मत्व स्थूलत्व—बेल से बेर का छोटा होना सूक्ष्मत्व है। बेर से बेल का बड़ा होना स्थूलत्व है।

१५—अगुरुलघुत्व 'लोक प्रकाश' में अगुरुलघुत्व और गति को पुद्गल का परिणाम कहा है। परमाणु गुरुलघु रूप में परिणत नहीं होता वह अगुरुलघु है। पुद्गल स्कंध गुरुलघु परिणाम वाले हैं।

१६—गति एक स्थल से दूसरे स्थल जाना गति परिणाम है।

ऊपर कहे हुये शब्दादि सोलह भेद पुद्गल के परिणाम हैं। वर्ण गंध रस और स्पर्श ये हरेक पुद्गल में होते हैं इसलिये ये पुद्गल के लक्षण हैं। ये सब पुद्गलों में एक साथ पाये जाने से पुद्गल के साधारण धर्म हैं। अवशेष शब्दादि परिणाम पुद्गल के विशेष परिणाम हैं। वे पुद्गलों के सामान्य धर्म नहीं, विशेष धर्म हैं क्योंकि कुछ में पाये जाते हैं और कुछ में नहीं। जब परमाणु स्कंध रूप में परिणत होते हैं तब उनकी जो अवस्थाएँ होती हैं जो कार्य उपलब्ध होते हैं, वे शब्दादि रूप हैं। अतः वे सब भाव पुद्गल हैं।

ठाणाङ्ग में पुद्गल के दस ही परिणाम बतलाये गये हैं (१) बंधन परिणाम (२) गति परिणाम (३) संस्थान परिणाम (४) भेद परिणाम (५) वर्ण परिणाम (६) रस परिणाम (७) गंध परिणाम (८) स्पर्श परिणाम (९) अगुरुलघु परिणाम और (१०) शब्द परिणाम।

५ : घट पटादि-वस्त्र शस्त्र भोजन और विकृतियाँ

घट आदि का उल्लेख पौद्गलिक वस्तुओं के संकेत रूप में है। घट पट्ट, वस्त्र, भूषण खाद्य-पदार्थ आदि उनके कुछ उदाहरण हैं। जिन वस्तुओं में वर्ण गंध रस स्पर्श हैं वे सभी वस्तुएं पौद्गलिक हैं। उनकी संख्या अनन्त है।

मन पौद्गलिक है[२]।

दसों विकृतियाँ घृत दूध दही गुड़ तेल मिठाई, मद्य मांस मधु और मक्खन पौद्गलिक हैं।

सारी पौद्गलिक वस्तुएं द्रव्य-पुद्गलों से निष्पन्न हैं—उनके रूपान्तर हैं। उन्हें भाव-पुद्गल कहा जाता है।

१—ठाणाङ्ग १० । ३ । ७१३ की टीका। पन्नवणा में कमी को कोड़ कर डाले के अलग होने को उत्कारिका और कूप नदी आदि के अनुतटिका भेद को अनुतटिका कहा है।
—ठाणाङ्ग १० । ३ । ११; पन्नवणा ... १०६

२ भगवती १३ । ७। प्रवचनसार ... ६९

३२—(गा० ५६-६१) :

इन गाथाओ मे वे ही भाव हैं जो गा० ४४-४५ तथा ५३-५४ मे हैं[1]। स्वामीजी ने पुद्गल के विषय में निम्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं :

(१) पुद्गल द्रव्यत शाश्वत है और भावत अशाश्वत।

(२) द्रव्य-पुद्गल कभी उत्पन्न नही होते और न उनका कभी विनाश ही होता है।

(३) भाव-पुद्गल उत्पन्न होते रहते हैं और उन्ही का विनाश होता है।

(४) भाव-पुद्गलो की उत्पत्ति और विनाश होने पर भी उनके आधारभूत द्रव्य-पुद्गल ज्यो-के-त्यो रहते हैं।

(५) अनन्त द्रव्य-पुद्गलो की सख्या कभी घटती-बढती नही।

भगवती सूत्र मे पुद्गल को द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत कहा है[2]। इसी तरह ठाणाङ्ग मे पुद्गल को विनाशी और अविनाशी दोनो कहा है[3]। इस तरह स्वामीजी का प्रथम कथन आगम आधारित है।

जीव-द्रव्य के विषय में कहा जाता है :

"जीव भाव-सत्‌रूप पदार्थ है। सुर-नर-नारक-तिर्यञ्च रूप उसकी अनेक पर्यायें हैं। मनुष्य पर्याय से च्युत देही (जीव) देव होता है अथवा कुछ और (नारकी, तिर्यञ्च या मनुष्य)। दोनो भाव-पर्यायो में जीव जीव रूप में रहता है। मनुष्य पर्याय के सिवा अन्य का नाश नही हुआ। देवादि पर्याय के सिवा अन्य की उत्पत्ति नही हुई। एक ही जीव उत्पन्न होता है और मरण को प्राप्त करता है। फिर भी जीव न नष्ट हुआ और न उत्पन्न हुआ है। पर्यायें ही उत्पन्न और नष्ट हुई हैं। देव-पर्याय उत्पन्न हुई है। मनुष्य-पर्याय का नाश हुआ है। ससार में भ्रमण करता हुआ जीव देवादि भाव—पर्यायो—को करता है और मनुष्यादि भाव—पर्यायो—का नाश करता है। विद्यमान भाव—पर्याय—का अभाव करता है और अविद्यमान भाव—पर्याय—की उत्पत्ति करता है। जीव गुण-पर्याय सहित विद्यमान है। सत् जीव का विनाश नहीं होता, असत् जीव की उत्पत्ति नही होती। एक ही जीव की मनुष्य, देव आदि भिन्न भिन्न गतियां हैं[4]।"

१—देखिये पृ० १०५ टि० २६, ३०

२—भगवती १४, १४ ४

३—ठाणाङ्ग २ ३ ८२ दुविहा पोग्गला प त० भेउरधम्मा चेव नोभेउरधम्मा चेव।

४—पञ्चास्तिकाय १ १६-१८, २१, १६ का सार।

यही बात पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध में भी लागू पड़ती है। विविध सत्पर्यायवाले द्रव्यों में एक सत लक्षण सब द्रव्यगत है। सत् का अर्थ है—'उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होना'। पुद्गल-द्रव्य भी सत् वस्तु है। उसके एक रूप का नाश होता है, दूसरे की उत्पत्ति होती है पर मूल द्रव्य सदाकाल अपने स्वभाव में स्थिर रहते हैं और कभी नाश को प्राप्त नहीं होते।

उदाहरण स्वरूप यदि हम जल को उबालते जायें तो हम देखेंगे कि कुछ समय के बाद समूचा जल विलीन हो गया। जब हम एक मोमबत्ती को जलाते हैं तो देखते हैं कि मोम और कपड़े की बत्ती दोनों का अस्तित्व नहीं रहा। यदि मेगनेसियम के तार के एक टुकड़े को अग्नि में खूब गर्म किया जाय तो देखा जाता है कि वह एक तेज प्रकाश देने लगता है और अन्त में एक सफेद वस्तु का अस्तित्व छोड़ देता है जिसका वजन तार के टुकड़े से अधिक होता है। एक छोटे से बीज में से विशालकाय वृक्ष लहलहायमान होता है। जब हम अपने चारों ओर घटित होती हुई विलय और सृष्टि की इस लीला को देखते हैं तो सहज ही प्रश्न उठता है क्या जल नष्ट हो गया? क्या मोम और बत्ती नाश को प्राप्त हो गये? क्या सफेद पदार्थ नया उत्पन्न हुआ है? क्या वृक्ष के शरीर की उत्पत्ति हुई है?

जैन पदार्थ-विज्ञान कहता है जल मोमबत्ती मेगनेसियम और बीज का शरीर आदि सब कृत्रिम हैं क्योंकि वे द्रव्य पुद्गलों से निर्मित हैं। वे द्रव्य-पुद्गलों की भिन्न-भिन्न पर्याय—रूप—अवस्थान्तर हैं। भाव पुद्गल हैं। जो नाश—विलय और उत्पत्ति देखी जाती है वह भावों—पर्यायों और कृत्रिम पौद्गलिक वस्तुओं की है। वास्तव में ही भाव पुद्गलों का कृत्रिम पौद्गलिक पदार्थों का नाश और विलय होता है परन्तु भाव—पर्याय—परिवर्तन पुद्गल द्रव्य के ही होते हैं। न ही इन मौलिक पौद्गलिक पदार्थों के आधार होते हैं उनका नाश नहीं होता। वे हमेशा अव रहते हैं। कृत्रिम जल का नाश होता है पर जिन द्रव्य-पुद्गलों से वह निर्मित है उनका नाश नहीं होता। वृक्ष के शरीर की उत्पत्ति होती है पर जिन द्रव्य-पुद्गलों के आधार पर उसकी उत्पत्ति हुई है वे पहले भी थे अब भी हैं और अनन्त हैं। मेगनेसियम से भारी वजन का पदार्थ की उत्पत्ति हुई है पर जिन द्रव्य-पुद्गलों का ग्रहण कर लता हुआ है वे पहले भी मौजूद थे।

द्रव्य-पुद्गल की अविनाशशीलता और भाव पुद्गल की विनाशशीलता को अन्य प्रकार से इस रूप में बताया जा सकता है।

पुद्गल के चार भाग बताए हैं— (१) स्कंध (२) स्कंध देश (३) स्कंध प्रदेश और (४)

परमाणु। स्कध-देश और स्कध-प्रदेश स्कध के कल्पना-प्रसूत विभाग हैं। क्योकि स्कध के जितने भी टुकडे किये जाते हैं वे सब स्वतंत्र स्कध होते हैं। केवल प्रदेश को अलग करने पर स्वतंत्र परमाणु प्राप्त होता है। देश और प्रदेश की स्वतंत्र उपलब्धि नही होती। स्वतंत्र अस्तित्व स्कध अथवा परमाणु का ही होता है। इसीसे वाचक उमास्वाति ने कहा है "अणव स्कधाश्च" (५ २५)—पुद्गल परमाणु रूप और स्कध रूप है। यही बात ठाणाङ्ग में कही गई है[1]।

स्कध परमाणुओ से उत्पन्न हैं। वे दो परमाणुओ से लेकर अनन्त परमाणुओ तक के सयोगज हैं। अनन्तपरमाणु स्कध यावत् द्व्यणुक स्कध तक का विच्छेद सभव है क्योकि स्कध परमाणु-पुद्गल के पर्याय विशेष हैं, उनसे रचित हैं, भाव-पुद्गल हैं। जब स्कधो पर किसी भी ऐसे प्रकार का प्रयोग किया जाता है जिससे उनका भग या विच्छेद होता हो तो वे परमाणुओ को छोडते हैं। पर वे परमाणु सुरक्षित रहते हैं उनका नाश नही होता। स्कध के सब परमाणु स्वतंत्र कर दिये जायँ तो स्कध का नाश होगा, पर उस स्कध के परमाणु ज्यो-के-त्यो रहेंगे। बिछुडे हुये परमाणु जब इकट्ठे होते हैं तो स्कध बनता है। इस तरह स्कध की उत्पत्ति होती है परन्तु परमाणुओ का नाश नही होता। वे उस स्कध रूप में सुरक्षित रहते हैं। इस तरह द्रव्य-पुद्गल हमेशा शाश्वत होते हैं। उनकी जितने भी पर्याय हैं, वे विनाशशील हैं। उत्पत्ति पर्यायो की होती है और विनाश भी उन्ही का।

अणु का स्वरूप बतलाते हुये कहा गया है कि वह अच्छेद्य है, अभेद्य है, अदाह्य है, अग्राह्य है, अनर्द्ध है, अमध्य है, अप्रदेशी है और अविभाज्य है[2]। ऐसी स्थिति मे परमाणु पुद्गल के नाश का सवाल ही नही उठता।

परमाणु-पुद्गल सख्या में अनन्त कहे गये हैं। अयोगिक और अविनाशशील होने से उनकी सख्या हर समय अनन्त ही रहती है—उसमें घट-बढ नही होती।

'द्रव्य' के स्वरूप के विषय में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं

१—ठाणाङ्ग २ ३ ८२ दुविहा पोग्गला पं० त० परमाणुपोग्गला चेव नोपरमाणु-पोग्गला चेव।

२—ठाणाङ्ग ३ १ १६५ ' ततो अच्छेज्जा प० त०—समये पदेसे परमाणू १, एवमभेज्जा २ अडज्झा ३ अगिज्झा ४ अणड्ढा ५ अमज्झा ६ अपएसा ७ ततो अविभातिमा प० त० समते पएसे परमाण ८

'जो अपने सत् स्वभाव को नहीं छोड़ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से संयुत होता है और जो गुण और पर्याय सहित है उसे द्रव्य कहते हैं। स्वभाव में अवस्थित सत् रूप वस्तु द्रव्य है। अर्थों में—गुण-पर्यायों में संभव-स्थिति-नाश रूप परिणमन करना द्रव्य का स्वभाव है। व्यय रहित उत्पाद नहीं होता उत्पाद रहित व्यय नहीं होता। उत्पाद और व्यय बिना ध्रौव्य पदार्थ के नहीं होते। द्रव्य संभव स्थिति-नाश नामक अर्थों (भावों) से निश्चय कर समवेत है और वह भी एक ही समय में। इस कारण निश्चय कर उत्पादिक त्रिक द्रव्य के स्वरूप हैं। द्रव्य की एक पर्याय उत्पन्न होती है और एक विनष्ट होती है तो भी द्रव्य न नष्ट होता है और न उत्पन्न[1]।" द्रव्य की उत्पत्ति अथवा विनाश नहीं है। द्रव्य सद्भाव है। उसी द्रव्य की पर्यायें उत्पाद-व्यय ध्रौव्य को करती हैं। भाव (सत् रूप पदार्थ) का नाश नहीं है। अभाव की उत्पत्ति नहीं है। भाव—(सत् रूप पदार्थ) गुण पर्यायों में उत्पादव्यय करते हैं[2]।

पुद्गल द्रव्य है अतः उस पर भी ये सिद्धान्त घटित होते हैं।

स्वामीजी और आचार्य कुन्दकुन्द के कथनों में कितना साम्य है यह स्वयं स्पष्ट है।

इस विषय में विज्ञान क्या कहता है अब यह भी जान लेना आवश्यक है।

एम्पी डोकलस (४६ ४३ ई पू) नामक एक ग्रीक तत्त्ववेत्ता ने जड़-पदार्थ (मैटर' matter) विषयक एक सिद्धान्त इस तरह रखा था— Nothing can be made out of nothing and it is impossible to annihilate anything All that happens in the world depends on a change of forms and upon the mixture or seperation of bodies अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं की जा सकती और न यही संभव है कि किसी चीज का सर्वथा नाश ही किया जा सके। दुनिया में जो कुछ भी है वह वस्तुओं के रूप-परिवर्तन पर निर्भर है तथा उनके सम्मिश्रण और पृथक् होने पर आधारित है।

प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता लेवाइसिये (Laovoisier) ने अनेक प्रयोग कर इसी सिद्धान्त को दूसरे प्रकार से इस तरह रखा—"Nothing can be created, and in every process there is just as much sub-

१—प्रवचनसार १ ११ का सार।
२—पञ्चास्तिकाय १ ११ १५ का सार।

tance (quantity of matter) present before and after the process has taken place There is only a change or modification of the matter[1] " अर्थात् कोई भी चीज नई उत्पन्न नही की जा सकती। किसी भी रसायनिक प्रक्रिया के वाद वस्तु (जड-पदार्थकी मात्रा) उतनी ही रहती है जितनी कि उस प्रक्रिया के आरम्भ होने के समय रहती है। केवल जड-पदार्थ का रूपान्तर या परिवर्तन होता है।

इस सिद्धान्त को विज्ञान मे 'जड-पदार्थ की अनश्वरता का नियम' (Law of Indestructibility of matter) या 'जड-पदार्थ के स्थायित्व का नियम' (Law of Conservation of matter) कहा जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तु के वजन—तौल में कमी नही आती। मोमबत्ती मे जितना वजन होगा प्राय उतना ही वजन मोमवत्ती के जल जाने पर उससे प्राप्त वस्तुओ में होगा। जितना वजन जल में होगा उतना ही उनसे प्राप्त ऑक्सीजन और हाइड्रोजन में होगा।

इसीलिए इस सिद्धान्त को आजकल इन शब्दो में रखा जाता है

"No change in the total weight of all the substances taking part in a chemical change has ever been observed[1]"

अर्थात् रसायनिक परिवर्तनो में भाग लेनेवाली कुल वस्तुओ का भार परिवर्तन के पश्चात् बनी हुई वस्तुओ के कुल भार के बराबर होता है। उनके भार में कभी कोई परिवर्तन नही देखा गया।

इस सिद्धान्त का फलितार्थ यह है कि किसी भी रसायनिक या भौतिक परिवर्तन मे कोई जड-पदार्थ न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है केवल उसका रूप बदलता है। चूकि रासायनिक परिवर्तन में भाग लेनेवाली वस्तुओ का कुल भार परिवर्तन से बनी हुई वस्तुओ के कुल भारके बराबर होता है अत सिद्ध है कि जड-पदार्थ उत्पन्न या नष्ट नही होता।

पदार्थ के स्थायित्व विषयक उपर्युक्त नियम (Law of Conservation of

१—General and Inorganic chemistry by P J Durrant M A, ph D p 5

weight) की तरह ही शक्ति[१] (energy) के विषय में भी स्थायित्व का नियम है। इसका अर्थ है एक प्रकार की शक्ति अन्य प्रकार की शक्ति में परिवर्तित की जा सकती है। पर जड़ पदार्थ की तरह शक्ति भी न नष्ट हो सकती है और न नई उत्पन्न की जा सकती है। शक्ति के नष्ट न होने के इस नियम को 'शक्ति के स्थायित्व का नियम (Law of conservation of energy) कहा जाता है[२]।

इन दोनों नियमों को वैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया है।

डाल्टन ने १८ ३ में परमाणुवाद (Atomic theory) के नियम को विज्ञान जगत के सम्मुख रक्खा। परमाणुवाद के कई महत्वपूर्ण प्रतिपाद्यों में से पहला इस प्रकार है

"प्रत्येक रसायनिक तत्व (Chemical element) अत्यन्त सूक्ष्म कणों का बना हुआ है। इन कणों को परमाणु (atoms) कहते हैं। ये कण रसायनिक क्रियाओं से विभाजित नहीं किये जा सकते। परमाणु रसायनिक तत्व (Chemical element) का सूक्ष्मतम भाग है जो किसी रसायनिक परिवर्तन (Chemical change) में भाग ले सकता है[४]।

१—गर्मी ध्वनि प्रकाश आदि शक्ति के भिन्न भिन्न रूप माने जाते हैं।

२—The principle of the conservation of energy implies that energy can neither be created nor destroyed when energy is apparently used it is being transformed into an equivalent quantity of work or heat (General and Inorganic chemistry by P J Durrant p I8)

३—इस नियम को इस प्रकार रखा जाता है : The total energy of any material system is a quantity which can neither be increased nor diminished by action between the parts of the system, although energy may be changed from one form to another (A text book of Inorganic Chemistry by L. M Mitra, M Sc B L. p 115)

४—The chemical elements are composed of very minute particles of matter called atoms, which remain undivided in all chemical changes The atom is the smallest mass of an element which can take part in a chemical change. (A text book of Inorganic Chemistry by J R Partington, M B E D Sc. (sixth edition) p 92)

डाल्टन के अणुवाद से 'जड-पदार्थ के स्थायित्व के नियम' का स्पष्टीकरण इस प्रकार होता है :

डाल्टन के अनुसार प्रत्येक वस्तु अणुओ से बनी हुई है। ये अणु नित्य, अनुत्पन्न और अविनाशी हैं। इसलिए रासायनिक क्रिया से पूर्व अणुओ की सख्या व क्रिया के अन्त मे अणुओ की सख्या निश्चित रहती है और चूकि प्रत्येक अणु का भार निश्चित है अत रासायनिक क्रिया के पूर्व व पश्चात् कुल वस्तुओ का भार वही रहेगा। अत जड-पदार्थ न उत्पन्न किया जा सकता है और न नष्ट ही हो सकता है[1]।"

डाल्टन ने जो अणुवाद का सिद्धान्त दिया है वह जैन परमाणुवाद से सम्पूर्णत मिलता है।

डाल्टन के अणुवाद के आधार से जैसे विज्ञान का 'जड-पदार्थ के स्थायित्व का नियम' सिद्ध होता है वैसे ही जैन परमाणुवाद के अनुसार जैन पदार्थवाद के द्रव्य-पुद्गल के स्थायित्व का नियम सिद्ध होता है।

जैन पदार्थवाद के अनुसार परमाणु ही द्रव्य-पुद्गल हैं। वे नाशशील नही पर उनसे उत्पन्न वस्तुएँ नाशशील हैं। द्रव्य-पुद्गलो के संयोग से नये पदार्थ बन सकते हैं और उनके बिछुडने से विद्यमान वस्तुओ का नाश हो सकता है। उत्पत्ति और विनाश ध्रुव द्रव्य-पुद्गल के स्वाभाविक अग हैं।

इधर के वैज्ञानिक अन्वेषण भी इसी बात को सिद्ध करते हैं।

आधुनिक रेडियम (Radium) धर्मी तथा अणु सम्बन्धी अनुसन्धानो से ज्ञात हुआ है कि जड-पदार्थ (matter) शक्ति (energy) में परिवर्तित हो सकता है और शक्ति जड-पदार्थ में।

जड-पदार्थ से शक्ति गर्मी, प्रकाश आदि के रूप में बाहर निकलती है। इस तरह जड-पदार्थ अब अविनाशशील नही माना जाता। शक्ति के रूप में परिवर्तित होने पर पदार्थ के भार में कमी आती है। भार की कमी अत्यन्त अल्प होती है और सूक्ष्म साधनो से भी सरलता से नही पकडी जाती फिर भी वस्तुत कमी होती है, ऐसा वैज्ञानिक

१—The weight of a chemical system is the sum of the weights of all the atoms in it Chemical change consists of nothing else than the combination or seperation of these atoms However the atoms may change their grouping, the sum of their weights, and hence the weight of the system, remains constant (General and Inorganic Chemistry by P J Durrant p. 9-10)

मानते हैं[1]।

इस तरह जड़-पदार्थ की अनश्वरता के नियम की व्याप्ति में परिवर्तन की आवश्यकता वैज्ञानिकों को मालूम पड़ने लगी और उनका सुझाव है कि प्रामाणिकता की दृष्टि से जड़-पदार्थ के स्थायित्व का नियम' (The law of conservation of matter) और शक्ति के स्थायित्व का नियम (The law of conservation of energy) इन दोनों नियमों को एक ही नियम में समा देना चाहिए तथा उसका नाम 'जड़-पदार्थ और शक्ति के स्थायित्व का नियम' (The law of conservation of mass) कर देना चाहिए[2]।

१—The theory of relativity requires that an emission of energy E in a chemical change should be accompanied by a loss of mass equal to $\frac{E}{c^2}$ where c is the velocity of light. Matter is therefore no longer regarded as indestructible by a chemical change, although the mass lost by conversion to energy in any change which can be controlled in the laboratory is quite beyond detection by the most sensitive balance, the loss of mass attending the combustion of 1 gram of phosphorus is 2.6×10^{-10} (General and Inorganic Chemistry by P J Durrant p 18)

२—Until the present century it was also thought that matter could not be created or destroyed but could only be converted from one form into another In recent years it has, however been found possible to convert matter into radiant energy and to convert radiant energy into matter The mass m of the matter obtained by the conversion of an amount E of radiant energy or convertible into this amount of radiant energy is given by the Einstein equation ($E=mc^2$)

Until the present century scientists made use of a law of conservation of matter and a law of conservation of energy These two conservation laws must now be combined into a single one, the law of conservation of mass, in which the mass to be conserved includes both the mass of matter in the system and the mass of energy in the system However for ordinary chemical reactions we may still make use of the law of conservation of matter—that matter cannot be created or destroyed, but only changed in form—recognizing that there is a limitation on the validity of this law it is not to be applied if one of the processes involving the conversion of radiant energy into matter or matter into radiant energy takes place in the system under consideration. (General Chemistry by Linus Pauling pp 4-5)

जैन पदार्थविज्ञान उष्णता, शब्द, प्रकाश, गति आदि को द्रव्य-पुद्गल का परिणाम मानता रहा है। आज का विज्ञान जड-पदार्थ (matter) और शक्ति (energy) को एक दूसरे से भिन्न चीजें भले ही माने[१] पर इतना अवश्य स्वीकार करता है कि ये एक दूसरे मे परिवर्तित हो सकते है (देखिये पृ० १२२ पा० टि० २)। आइन्स्टीन ने सिद्ध कर दिया है कि शक्ति (energy) में भी भार होता है[२]। पुद्गल की जैन परिभाषा के अनुसार शक्ति के भिन्न भिन्न रूप पौद्गलिक पर्यायें हैं।

शक्ति को जड-पदार्थ से भिन्न मानने के कारण ही विज्ञान आज जड-पदार्थ को विनाशशील और उत्पत्तिशील मानने लगा है। जैन पदार्थविज्ञान के अनुसार शक्ति द्रव्य-पुद्गल की पर्याय मात्र है अत उसकी (शक्ति की) उत्पत्ति और नाश

१—Again, a brick in motion is different from a brick at rest A piece of iron behaves differently when it is hot or when it is magnetized, or is in motion We thus form the idea of heat, motion etc , separately from the matter of brick or iron The thing associated with matter in this way bringing about changes in its condition, is energy The different forms in which energy may appear are mechanical energy, heat, sound, light, electrical or magnetic energy, chemical energy and one form of energy frequently changes into another form (A Text Book of Inorganic chemistry by Ladli Mohan Mitra M Sc B L page II4-43 rd Edition)

२—For many years scientists thought that matter and energy could be distinguished through the possession of mass by matter and the lack of possession *of mass* by energy Then, early in the present century (1905), it was pointed out by Albert Einstein (born *1879*) that energy has mass, and that light is accordingly attracted by matter through gravitation × × The amount of mass associated with a definite energy is given by an equation, the Einstein equation . $E=mc^2$ (General Chemistry by Linus pauling *p.4*)

द्रव्य-पुद्गल के स्वभाव से सिद्ध है। द्रव्य-पुद्गल तीनों काल में अनुत्पन्न और अविनाशी है।

विज्ञान की अणु (atom) सम्बन्धी धारणा में भी काफी परिवर्तन हुआ है। बहुत समय तक रसायन संसार का विश्वास रहा कि अणु जड़-पदार्थ के सूक्ष्मतम कण हैं। इनको विभक्त नहीं किया जा सकता है। परन्तु धीरे-धीरे भौतिक विज्ञान की प्रगति के कारण अणु का विभाजन होने लगा। ऐसे प्रयोग किये गये जिनसे स्पष्ट हो गया कि अणु विभक्त हो सकता है। और आज अणु के विभक्त होने से अनेक नवीन आविष्कार हुए हैं। इनमें सबसे प्रमुख अणु बम्ब (Atom Bomb) है।

यह भी सिद्ध किया गया है कि अणु भिन्न-भिन्न सूक्ष्म कणों का बना हुआ है। उसकी रचना तीन प्रकार के कणों से बतायी जाती है—(१) प्रोटोन (धनात्मक) (२) इलक्ट्रोन (ऋणात्मक) (३) और न्युट्रोन (उदासीन)।

अणु को विभक्त करने की प्रक्रिया में वैज्ञानिक देख रहे हैं कि उसमें उपर्युक्त केवल तीन मूल कण (Fundamental Particles) ही नहीं हैं पर करीब २० तरह के अन्य कण हैं।

अणु को विभक्त करने के प्रयोगों से एक विचित्र स्थिति सामने आई है—जिसका विवरण विज्ञान की पुस्तकों में मिलता है[१]।

1—The problem of breaking the atom down into its component particles has progessed from what appeared at first to be a simplet logical solution involving only three fundamental particles, namely electrons, protons and neutrons, into an entangled, obscure situation embodying a multiplicity of particles The known and probable particles coming from the atom total at least 20, with others likely to be added before some resolution is made of the present number It is much easier to return to an earlier hypothesis in which the nucleus is considered as being composed of two build ing *blocks*, protons and neutrons, which are collec tively called nucleons Perhaps all the other parti cles coming from the nucleus are by products created by interaction of the two types of nucleons (Funda mental Concepts of Inorganic Chemistry by Esmarch S Gilreath p 2)

डाल्टन के अनुसार जो अणु अविभाज्य था वह आज अन्य ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म कणो से वना हुआ माना गया है जो विद्युत परिपूर्ण हैं और जिनको इलैक्ट्रोन कहते हैं।

जैन-पदार्थ विज्ञान का परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म और अविभाज्य है। वास्तव मे डाल्टन का अणु स्कध रहा। मूल परमाणुओ का विभाजन असभव है।

रासायनिक विद्वान् व्यवहार मे अव भी अणु को ही द्रव्य का अन्तिम अश समझते हैं और उसको अभी भी सारी प्रयोग सम्वन्धी क्रियाओ के लिए इकाई मानते हैं[1]। जैन दृष्टि से अणु को ही नही इलैक्ट्रोन आदि को भी व्यावहारिक अणु कहा जायगा। 'अनुयोगद्वार' में कहा है—परमाणु दो तरह के हैं सूक्ष्म और (२) व्यावहारिक। सूक्ष्म परमाणु अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभाज्य है। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणु पुद्गलो की समुदाय समितियो के समागम से उत्पन्न होता है[2]।

विज्ञान कहता है कि विश्व में वस्तु का वजन या परिमाण (weight or mass) हमेशा समान रहता है। जैन तत्त्वज्ञान कहता है कि विश्व के जितने मूलभूत द्रव्य हैं उनकी सख्या में कमी नही होती—वे नाश को प्राप्त नही हो सकते। मूलभूत द्रव्यो का नाश नही होता। इससे भी यही सार निकलता है कि द्रव्यो का वजन नही घटता, वह उतना का उतना ही रहता है। जैनधर्म का यह सिद्धान्त जड-पदार्थ के लिए ही लागू नही परन्तु जीव-पदार्थ और अरूपी अचेतन पदार्थो के लिए भी है इसलिए यह आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्त से अधिक व्यापक है।

जितनी भी पौद्गालिक चीजें वनती हुई मालूम देती हैं वे सव पुद्गल-द्रव्य की

१—But atoms are the units which retain their identity when chemical reactions take place, therefore, they are important to us now Atoms are the structural units of all solids, liquids and gases (General Chemistry by Linus Pauling p 20)

२—अनुयोग द्वार प्रमाण द्वार

परमाणू दुविहे पन्नते तजहा सुहुमेय ववहारियेय। .तत्थ ण जे से ववहारिए से ण अणताण सुहुमपरमाणुपोग्गलाण समुदयसमितिसमागमेण ववहारिए परमाणुपोग्गले निप्फज्जति।

पर्याय—परिवर्तन मात्र हैं और चीजों का जो नाश होता हुआ नजर आता है वह भी इन पर्याय—पुद्गल-द्रव्यों के परिवर्तित रूप का ही। मूल पुद्गल-द्रव्य की न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश। वह ज्यों-का-त्यों रहता है।

जैन मान्यता के अनुसार परिणाम द्रव्य और गुण दोनों में होता है। और यह परिणाम पदार्थ के स्वभाव को लिए हुए होता है[1]। कहने का तात्पर्य यह है कि जड़-पदार्थ का परिवर्तन सदा जड़ रूप ही होगा वह चेतन रूप नहीं होगा और इस तरह पुद्गल-द्रव्य जड़ स्वभाव को कायम रखते हुए द्रव्य और गुण पर्यायों में परिवर्तन करेगा। 'सारांश यह है कि द्रव्य हो अथवा गुण हरेक अपनी-अपनी जाति का त्याग किए बिना ही प्रतिसमय निमित्तानुसार भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त किया करते हैं। यही द्रव्यों का तथा गुणों का परिणाम कहलाता है। द्वयणुक अवस्था हो या त्र्यणुक आदि अवस्था हो परन्तु इन अनेक अवस्थाओं में भी पुद्गल अपने पुद्गलत्व को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार शोभाव छोड़ कर कालाश धारण करे, कालाश छोड़ कर पीलास धारण करे, तोभी उन सब विविध पर्यायों में रूपत्व स्वभाव कायम रहता है[2]।' आधुनिक उदाहरण के लिए अमोनिया गैस को ले लीजिए। यह नाइट्रोजन और हाइड्रोजन गैस का बना होता है। अमोनिया हाइड्रोजन और नाइट्रोजन गैसों की तरह ही जड़ पदार्थ होता है इसलिए इसमें मूलतत्त्वों के जड़ स्वभाव की रक्षा है। अमोनिया की कड़वी गंध और तिग्म (Caustic) स्वाद घटक पदार्थों के गंध और स्वाद गुण के रूपान्तर हैं और अमोनिया हाइड्रोजन और नाइट्रोजन गैसों का रूपान्तर। इस तरह पुद्गल-द्रव्य स्वभाव की रक्षा करते हुए द्रव्य और गुण रूप से पर्याय करते हैं। इस सम्बन्ध में जैन तत्त्व विज्ञान आधुनिक विज्ञान से अधिक स्पष्ट और बोधक है।

११— (गा० ३३) :

पर्याय की दृष्टि से पुद्गल-द्रव्य नित्य नहीं है क्योंकि अवस्थान्तर—परिवर्तन—प्रति समय होता रहता है परन्तु द्रव्य की दृष्टि से पुद्गल नित्य है। उसका कभी विनाश नहीं होता। इस तरह पुद्गल-द्रव्य का शाश्वत और अशाश्वत भेद—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि से है। उत्तराध्ययन में कहा है "स्कंध और परमाणु सन्तति की अपेक्षा से अनादि

१—तत्त्वार्थसूत्र ५.४१ : तद्भावः परिणामः

२—तत्त्वार्थसूत्र (गु० गु० भा०) पृ० ३४६

अनन्त है और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त हैं[1] ।" स्वामीजी के कथन का आधार यही आगम वाक्य है ।

अतिरिक्त टिप्पणियाँ[2]

३४—षट् द्रव्य समास में

प्रथम दो ढालो में षट् द्रव्यो का वर्णन विस्तारपूर्वक आया है । ठाणाङ्ग तथा भगवती[3] सूत्र मे उनका वर्णन चुम्बक रूप मे उपलब्ध है । उसमे समूचे विवेचन का सार आ जाता है अत उसे यहाँ देना पाठको के लिए बडा लाभदायक है

"सक्षेप मे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल प्रत्येक के द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और गुण से पाँच-पाँच प्रकार हैं ।

"द्रव्य से धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है, क्षेत्र से लोकप्रमाण मात्र है, काल से कभी नही था ऐसा नही, नही है ऐसा नही, नही होगा ऐसा नही, वह ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य है, भाव से अवर्ण, अगध, अरस, अस्पर्श—अरूपी अजीव द्रव्य है तथा गुण से गमनगुण वाला है ।

"द्रव्य से अधर्मास्तिकाय एक द्रव्य है, क्षेत्र से लोकप्रमाण मात्र है, काल से कभी नही था ऐसा नही, नही है ऐसा नही, नही होगा ऐसा नही, ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य है, भाव से अवर्ण, अगध, अरस, अस्पर्श—अरूपी अजीव द्रव्य है तथा गुण से स्थितिगुण वाला है ।

"आकाशास्तिकाय द्रव्य से एक द्रव्य है, क्षेत्र से लोकालोकप्रमाण मात्र अनन्त है, काल से कभी नहीं ऐसा नही, नही है ऐसा नही, नही होगा ऐसा नही, ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य है, भाव से अवर्ण, अगध, अरस, अस्पर्श—अरूपी अजीव द्रव्य है तथा गुण से अवगाहनागुण वाला है ।

"जीवास्तिकाय द्रव्य से अनंत द्रव्य है, क्षेत्र से लोकप्रमाण मात्र है, काल से कभी नहीं था ऐसा नही, नही है ऐसा नही, नही होगा ऐसा नही, ध्रुव, नियत, शाश्वत,

---

१—उत्त० ३६-१३

सतइ पप्प तेऽणाईं, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइ पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥

२—यहाँ से जो टिप्पणियाँ हैं, उनका सम्बन्ध मूल कृति के साथ नहीं है पर विषय को स्पष्ट करने के लिए वे दी गयी हैं ।

३—(क) ठाणाङ्ग ५ ३ ४४१
(ख) भगवती २.१०

अक्षत अव्यय अवस्थित और नित्य है, भाव से अवर्ण अगंध अरस अस्पर्श—अरूपी जीव द्रव्य है तथा गुण से उपयोगगुण वाला है।

'पुद्गलास्तिकाय द्रव्य से अनंत द्रव्य है, क्षेत्र से लोकप्रमाण मात्र है, काल से कभी नहीं था ऐसा नहीं नहीं है ऐसा नहीं नहीं होगा ऐसा नहीं ध्रुव नियत, शाश्वत, अक्षत अव्यय अवस्थित और नित्य है, भाव से वर्ण-गंध-रस-स्पर्शवान रूपी अजीव द्रव्य है और गुण से ग्रहणगुण वाला है।

'काल द्रव्य से अनन्त द्रव्य है, क्षेत्र से समयक्षेत्र प्रमाण मात्र है, काल से कभी नहीं था ऐसा नहीं नहीं है ऐसा नहीं नहीं होगा ऐसा नहीं ध्रुव नियत शाश्वत, अक्षत अव्यय अवस्थित और नित्य है, भाव से अवर्ण अगंध, अरस अस्पर्श—अरूपी अजीव द्रव्य है तथा गुण से वर्तना गुण है[1]।

१५—जीव और धर्मादि द्रव्यों के उपकार

धर्मास्तिकाय आदि का जीवों के प्रति क्या उपकार है इस विषय में 'भगवती'[2] में बड़ा सारगर्भित वर्णन है :

'धर्मास्तिकाय द्वारा जीवों का आगमन गमन बोलना उन्मेष मनोयोग वचनयोग काययोग तथा जो तथाप्रकार के अन्य गमन भाव हैं वे सब प्रवर्तित होते हैं। धर्मास्तिकाय गतिलक्षण वाली है।

'अधर्मास्तिकाय द्वारा जीवों का खड़ा रहना बैठना सोना मन का एकाग्रभाव करना तथा जो तथाप्रकार के अन्य स्थिर भाव हैं वे सब प्रवर्तित होते हैं। अधर्मास्तिकाय स्थितिलक्षण वाली है।

"आकाशास्तिकाय जीव द्रव्य और अजीव द्रव्यों का भाजन—आश्रयरूप स्थान रूप है। आकाशास्तिकाय अवगाहना लक्षणवाली है।

जीवास्तिकाय द्वारा जीव अभिनिबोधिक—मतिज्ञान की अनंत पर्याय श्रुतज्ञान की अनंत पर्याय अवधिज्ञान की अनंत पर्याय मनःपर्यवज्ञान की अनंत पर्याय केवलज्ञान की अनंत पर्याय मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान विभंगअज्ञान की अनंत पर्याय तथा चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन केवलदर्शन की अनंत पर्यायों के उपयोग को प्राप्त करते हैं।

१—काल का यह वर्णन हस्तलिखित सूत्रों में नहीं है पर अनेक स्थलों के आधार से ऐसा ही बनता है।

२—भगवती १३.४

जीव उपयोग लक्षणवाला है।

"पुद्गलास्तिकाय द्वारा जीवो के औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर, श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय; मनोयोग, वचनयोग और काययोग तथा श्वासोच्छ्वास का ग्रहण होता है। पुद्गलास्तिकाय ग्रहणलक्षण वाली है।"

३६—साधर्म्य वैधर्म्य

प्रथम दो ढालो में षट् द्रव्यो का विवेचन है। इन द्रव्यो में परस्पर में क्या साधर्म्य वैधर्म्य है वह यथास्थान बताया जा चुका है। पाठको की सुविधा के लिए उनकी संक्षिप्त सूचि यहाँ दी जा रही है

१—षट् द्रव्यो मे जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं और बाकी चार द्रव्य अपरिणामी हैं। पर्यायान्तरप्राप्ति जिसके होती है उसे परिणामी कहते हैं। धर्मादि द्रव्य औपाधिक परिणामी हैं। वे सदा एक रूप मे रहते हैं अत स्वाभाविक परिणामी नही। जीव पुद्गल स्वभावत ही परिणमन—पर्यायान्तर—करते हैं अत परिणामी कहे गये हैं।

२—एक जीव द्रव्य जीव हैं, बाकी पाँच द्रव्य अजीव हैं।

३—एक पुद्गल रूपी है, बाकी पाँच अरूपी हैं।

४—पाँच द्रव्य अस्तिकाय है—सप्रदेशी हैं केवल काल द्रव्य अप्रदेशी है।

५—धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं, बाकी द्रव्य अनेक हैं।

६—आकाश क्षेत्र है और अन्य पाँच द्रव्य उसमें रहने वाले—क्षेत्री हैं।

७—जीव और पुद्गल दो द्रव्य सक्रिय हैं, बाकी चार अक्रिय हैं।

८—धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य एक रूप में रहते हैं अत नित्य हैं। जीव और पुद्गल एक रूप में नही रहते इस अपेक्षा से नित्य नही हैं।

९—जीव अकारण है—दूसरे द्रव्यो का उपकारी नही, बाकी पाँच कारणरूप हैं—जीव के उपकारी हैं।

१०—जीव कर्त्ता है—पुण्य, पाप, बध मोक्ष का कर्त्ता है और बाकी पाँच अकर्त्ता।

११—आकाश सर्वगत हैं, और बाकी पाँच असर्वगत।

१२—षट् द्रव्य परस्पर नीरक्षीरवत् अवगाढ़ अर्थात् एक क्षेत्रावगाही हैं परन्तु प्रवेश रहित हैं अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य स्वरूप में परिणत नही हो सकता।

साधर्म्य वधर्म्य की संग्राहक गाथाएँ इस प्रकार हैं

परिणामि जीवमुत्तं सपएसा एग खित्तकिरिया य ।
णिच्चं कारणकत्ता, सव्वगयमियरेहि अपवेसे ॥
दुण्णि य एगं एगं, पंचत्ति य एग दुण्णि चउरो य ।
पंच य एगं एगं, एएसि एय विण्णेयं ॥

१०—लोक और अलोक का विभाजन

एक बार गौतम ने भगवान महावीर से पूछा "भन्ते ! यह लोक कैसा कहा जाता है ?" महावीर ने उत्तर दिया 'गौतम ! यह लोक पञ्चास्तिकायमय कहा जाता है'[1] । दूसरी बार उन्होंने कहा "धर्म, अधर्म आकाश काल, पुद्गल और जीव जिसमें हैं वह लोक है[2] ।"

उपर्युक्त उत्तरों से यह प्रश्न उपस्थित होता है—लोक को एक जगह पंचास्तिकायमय और दूसरी जगह षट् द्रव्यात्मक कहा है, क्या इन कथनों में विरोध नहीं है ? भगवान के उत्तर प्रश्नकर्ता की भावना को स्पर्श करते हुए हैं । जब प्रश्न के पीछे प्रश्नकर्ता की भावना यह रही कि लोक कितने पंचास्तिकाय से निष्पन्न है तो भगवान ने उसका पहला उत्तर दिया । जब प्रश्नकर्ता की भावना यह पूछने की रही कि लोक कितने द्रव्यों से निष्पन्न है तो उन्होंने उसका द्वितीय उत्तर दिया । दोनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है । दोनों उत्तरों का फलितार्थ इस प्रकार है—"लोक षट् द्रव्यात्मक है जिसमें पाँच पञ्चास्तिकाय हैं और छठा काल है, जो अस्तिकाय नहीं ।"

एक तीसरा वार्तालाप इस विषय को सम्पूर्णत स्पष्ट कर देता है ।

गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा 'आकाश दो प्रकार का कहा है—(१) लोकाकाश और (२) अलोकाकाश । लोकाकाश में जीव हैं वे नियम से एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरेन्द्रिय पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय हैं । लोकाकाश में अजीव हैं वे दो प्रकार के हैं—(१) रूपी और (२) अरूपी । जो रूपी हैं वे चार प्रकार के हैं—स्कंध स्कंध-देश स्कंध प्रदेश और परमाणुपुद्गल । जो अरूपी हैं वे धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और अद्धाकाल हैं[3] ।"

१—भगवती १३ ४
२—उत्त २८ ७
३—भगवती २ १

इस तीसरे वार्तालाप से स्पष्ट है कि जिन षट् द्रव्यो का वर्णन प्रथम दो ढालो में आया है यह लोक उन्ही से निष्पन्न है। लोक के वाद शून्य आकाश है जिसे अलोक कहते हैं। वहाँ अन्य कोई द्रव्य नही है।

दिगम्बर आचार्यों ने भी लोक का वर्णन पञ्चास्तिकाय और षट् द्रव्य दोनों की अपेक्षाओ से किया है। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं —

समवाओ पचराह समउत्ति जिणुत्तमेहिं पराणत्तं।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ ख[1] ॥
पोग्गलजीवणिवद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु[2] ॥

आचार्य नेमिचन्द्र लिखते हैं :

धम्माधम्माकालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो[3] ॥

लोकालोक का विभाजन धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय द्रव्यो के हेतु से है क्योंकि ये दोनो ही लोक-व्यापी हैं। लोकालोक का विभाजन जीव, पुद्गल, काल द्वारा सम्भव नही क्योकि पुद्गलो की स्थिति लोकाकाश के एक प्रदेश आदि मे विकल्प से अर्थात् अनियत रूप से होती है। जीवो की स्थिति लोक के असख्यातवें भागादि में होती है[4]। और काल का क्षेत्र केवल ढाई द्वीप ही है। इसीलिए कहा है—"जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी[5]"—गमन और स्थिति के हेतु धर्म से और अधर्म के सद्भाव से लोक और अलोक हुआ है। धर्म, अधर्म द्रव्यो का क्षेत्र आकाश का एक भाग है। उसके बाहर इनके अभाव से जीव पुद्गल की गति, स्थिति नही होती। इस तरह धर्म, अधर्म द्रव्यो की स्थिति का क्षेत्र उसके बाहर के क्षेत्र से जुदा हो जाता है। यही लोक अलोक का भेद है।

१—पञ्चास्तिकाय १ ३। यह बात १,२२, २३ में भी कही है। १ १०२ भी देखिये।

२—प्रवचनसार २ ३६

३—द्रव्यसग्रह २०

४—तत्त्वार्थसूत्र ५. १३-१५

३८—मोक्ष-मार्ग में द्रव्यों का विवेचन क्यों ?

प्रश्न उठता है कि मोक्ष-मार्ग में लोक को निष्पन्न करने वाले षट् द्रव्य अथवा पञ्चास्तिकाय के वर्णन की क्या आवश्यकता है ? जहाँ संयम और मुक्ति के प्रश्नों का ही निरूपण होना चाहिए वहाँ लोक-अलोक के स्वरूप का विवेचन क्यों ? इसका युक्तिसंगत उत्तर आगमों में है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है : "जब मनुष्य जीव और अजीव—इन पदार्थों को अच्छी तरह जान लेता है, तब वह सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है। बहुविध गतियों को जान लेने से उनके कारण पुण्य, पाप बन्ध और मोक्ष को जान लेता है, तब जो भी देवों और मनुष्यों के कामभोग हैं, उन्हें जानकर उनसे विरक्त हो जाता है। उनसे विरक्त होने पर वह अन्दर और बाहर के संयोग को छोड़ देता है। ऐसा हो जाने पर वह मुण्ड हो अनगारवृत्ति को धारण करता है। इससे वह उत्कृष्ट संयम और अनुत्तर धर्म के स्पर्श से अज्ञान द्वारा संचित कलुष कर्म रज को धुन डालता है। इससे उसे सर्वगामी केवल ज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त होता है और वह लोकालोक को जानने वाला केवली हो जाता है। फिर योग का निरोध कर वह शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है। इससे कर्मों का क्षय कर, निरज हो वह सिद्धि प्राप्त करता है और शाश्वत सिद्ध होता है[1]।"

इस विषय में आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं : "मैं मोक्ष के कारणभूत तीर्थंकर महावीर को मस्तक द्वारा नमस्कार कर मोक्ष के मार्ग अर्थात् कारणरूप षट् द्रव्यों के नवपदार्थ रूप भङ्ग को कहूँगा। सम्यक्त्वज्ञानयुक्त चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। शुद्ध चारित्र रागद्वेष रहित होता है और स्वपरविवेक भेद जिनको है उन भव्यों को प्राप्त होता है। भावों का—षट्द्रव्य पञ्चास्तिकाय नवपदार्थों का जो श्रद्धान है वह सम्यक्दर्शन है। उन्हीं पदार्थों का जो यथार्थ अनुभव है वह सम्यग्ज्ञान है। विषयों में नहीं भी है अति दृढ़ता से प्रवृत्ति जिन्होंने ऐसे भव्य विरागी जीवों का जो रागद्वेष रहित शान्त-स्वभाव है वह सम्यक्चारित्र है[2]।"

इस तरह जीव अजीव अथवा षट् द्रव्यों आदि का सम्यक् ज्ञान और श्रद्धान सम्यक्चारित्र का आधार है। यही कारण है कि श्रद्धान के बोलों में लोक अलोक और लोकालोक के निष्पादक जीव और अजीव पदार्थों में दृढ़ श्रद्धा रखने का उल्लेख किया गया है[3]।

१—दसवेकालिक ४ : १४-२५

२—पञ्चास्तिकाय २ : १०५-७

३—सूयगडं : २ ५-१

णत्थि लोए अलोए वा णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि लोए अलोए वा एवं सन्नं निवेसए॥
णत्थि जीवा अजीवा वा णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि जीवा अजीवा वा एवं सन्नं निवेसए॥

पुण्य पदार्थ

३८—मोक्ष-मार्ग में द्रव्यों का विवेचन क्यों ?

प्रश्न उठता है कि मोक्ष-मार्ग में लोक को निष्पन्न करने वाले षट् द्रव्य अथवा पञ्चा-स्तिकाय के वर्णन की क्या आवश्यकता है ? जहाँ बंधन और मुक्ति के प्रश्नों का ही विवेचन होना चाहिए वहाँ लोक अलोक के स्वरूप का विवेचन क्यों ? इसका युक्तिसंगत उत्तर आगमों में है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है : "जब मनुष्य जीव और अजीव—इन पदार्थों को अच्छी तरह जान लेता है तब वह सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है। बहुविध गतियों को जान लेने से उनके कारण पुण्य पाप बन्ध और मोक्ष को जान लेता है, तब जो भी देवों और मनुष्यों के कामभोग हैं, उन्हें जानकर उनसे विरक्त हो जाता है। उनसे विरक्त होने पर वह अन्दर और बाहर के संयोग को छोड़ देता है। ऐसा हो जाने पर वह मुण्ड हो अनगारवृत्ति को धारण करता है। इससे वह उत्कृष्ट संयम और अनुत्तर धर्म के स्पर्श से अज्ञान द्वारा संचित कलुष कर्म रज को धुन डालता है। इससे उसे सर्वगामी केवल ज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त होता है और वह लोकालोक को जानने वाला केवली हो जाता है। फिर योग को निरोध कर वह शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है। इससे कर्मों का क्षय कर, निरज हो वह सिद्धि प्राप्त करता है और शाश्वत सिद्ध होता है[1]।"

इस विषय में आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं : "मैं मोक्ष के कारणभूत तीर्थंकर महावीर को मस्तक द्वारा नमस्कार कर मोक्ष के मार्ग अर्थात् कारणरूप षट् द्रव्यों के नवपदार्थ रूप भङ्ग को कहूँगा। सम्यक्त्वज्ञानयुक्त चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। वह चारित्र रागद्वेष रहित होता है और स्वपरविवेक भेद जिनको है उन भव्यों को प्राप्त होता है। भावों का—षट्द्रव्य पञ्चास्तिकाय नवपदार्थों का जो श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है। उन्हीं पदार्थों का जो यथार्थ अनुभव है वह सम्यग्ज्ञान है। विषयों में नहीं की है अति दृढ़ता से प्रवृत्ति जिन्होंने ऐसे भव विरागी जीवों का जो रागद्वेष रहित शान्त-स्वभाव है वह सम्यक्चारित्र है[2]।"

इस तरह जीव अजीव अथवा षट् द्रव्यों आदि का सम्यक् ज्ञान और श्रद्धान सम्यक्चारित्र का आधार है। यही कारण है कि श्रद्धान के बोलों में लोक अलोक और लोकालोक के निष्पादक जीव और अजीव पदार्थों में दृढ़ श्रद्धा रखने का उपदेश दिया गया है[3]।

१—दशवैकालिक ४ : १४-२५

२—पञ्चास्तिकाय : २ । १०५-७

३—सूयगडं : २ ५-६

णत्थि लोए अलोए वा णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि लोए अलोए वा एवं सन्नं निवेसए ॥
णत्थि जीवा अजीवा वा णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि जीवा अजीवा वा एवं सन्नं निवेसए ॥

: ३ :

पुण्य पदार्थ

दोहा

१—तीसरा पदार्थ पुण्य है। इसके संचय से लोग सुख मानते हैं। पुण्य से कामभोग—शब्दादि प्राप्त होते हैं। अत लोग इसे उत्तम समझते हैं।

पुण्य और लौकिक दृष्टि

२—पुण्य से प्राप्त सुख पौद्‌गलिक होते हैं। वे कामभोग—शब्दादि रूप हैं। कर्म की अधीनता के कारण जीव को ये सुख मीठे लगते है परन्तु ज्ञानी पुरुष ता इन्हें जहर के समान जानते हैं।

पुण्य और ज्ञानी की दृष्टि

३—जिस तरह जब तक शरीर में विष व्याप्त रहता है तब तक नीम के पत्ते मीठे लगते हैं, उसी तरह कर्म के उदय से जीव को कामभोग अमृत के समान लगते हैं।

विनाशशील और रोगोत्पन्न सुख (दो. ३-४)

४—पौद्‌गलिक पुण्य-सुख विनाशशील हैं। इनमें जरा भी वास्तविकता मत समझो। मोह कर्म की अधीनता से वेचारे जीव नाशवान सुखों में आसक्त हैं।

५—पुण्य पदार्थ शुभ कर्म हैं। उसकी जरा भी कामना नहीं करनी चाहिए[1]। अब पुण्य पदार्थ का यथातथ्य वर्णन करता हूँ, चित्त लगा कर सुनना।

पुण्य कर्म है अत: हेय है

ढाल : १

१—पुण्य पुद्‌गल की पर्याय है। कर्म-योग्य पुद्‌गल आत्मा में प्रवेश कर उसके प्रदेशों से बध जाते हैं। बधे हुए जो कर्म शुभरूप से उदय में आते हैं उन पुद्‌गलों का नाम पुण्य है[2]।

पुण्य की परिभाषा

३

पुन पदारथ

दुहा

१—पुन पदारथ छै तीसरो, तिणसूं सुख मानें संसार।
कामभोग शब्दादिक पामें तिण थकी तिणनें लोक जाणे श्रीकार॥

२—पुन रा सुख छै पुदगल तणा कामभोग शब्दादिक जांण।
ते मीठा लागे छै कर्म तणे वसे, ग्यांनी तो जांणे जेहर समांन॥

३—जेहर सरीर में त्यां लगे, मीठा लागे नींब पांन।
ज्यूं कर्म उदय हुवे जीव रे जब लागे भोग इमरत समांन॥

४—पुन तणा सुख कारमा तिणमें कस्यो म जांणो काय।
मोह कर्म वस जीवड़ा तिण सुख में रह्या लपटाय॥

५—पुन पदारथ तो सुभ कर्म छै, तिणरी मूल न करणी चाय।
तिणनें जथातथ परगट करूं, ते सुणज्यो चित्त ल्याय॥

ढाल १

(जीव मोह अनुकम्पा न आणिये)

१—पुन तो पुदगल री परजाय छै, जीव रे आय लागे ताम रे लाल।
ते जीव रे उदय आवे सुभपणे, तिण सूं पुदगल रो पुन छै नांम रे लाल।
पुन पदारथ ओलखो* ॥

* यह आंकड़ी प्रत्येक गाथा के अन्त में है।

२—आठ कर्मों में चार केवल पाप स्वरूप हैं और चार कर्म पुण्य और पाप दो प्रकार के हैं। पुण्य कर्म से जीव को सुख होता है, कभी दु ख नहीं होता[३]।

आठ कर्मों में पुण्य कितने ?

३—पुण्य के अनन्त प्रदेश हैं। वे जब जीव के उदय में आते हैं तो उसको अनन्त सुख करते हैं। इसीलिए पुण्य की अनन्त पर्यायें होती हैं[४]।

पुण्य की अनन्त पर्यायें

४—जब जीव के निरवद्य योग का प्रवर्तन होता है तो उसके शुभ पुद्गलों का बध होता है[५]। इन कर्म-पुद्गलों के गुणानुसार अलग-अलग नाम हैं।

पुण्य का बध निरवद्य योग से

५—जो कर्म पुद्गल साता वेदनीय रूप में परिणमन करते हैं और सात रूत में उदय में आते हैं वे जीव को सुख कारक होते हैं, इससे उनका नाम 'साता वेदनीय कर्म' रखा गया है[६]।

साता वेदनीय कर्म

६—जब पुद्गल शुभ आयु रूप में परिणमन करते हैं तो जीव अपने शरीर में दीर्घ काल तक जीवित रहने की इच्छा करता है और सोचता है कि मैं जीता रहूँ और मरूँ नहीं, ऐसे कर्म-पुद्गलों का नाम 'शुभ आयुष्य कर्म' है।

शुभ आयुष्य कर्म उसके तीन भेद-

७—कई देवता और कई मनुष्यों के शुभ आयुष्य होता है जो पुण्य की प्रकृति है। युगलियों और तिर्यञ्चों का आयुष्य भी पुण्य रूप मालूम देता है[७]।

१-देवायुष्य
२-मनुष्यायुष्य
३-तिर्यञ्चायुष्य

८—जो कर्म शुभ नाम रूप से परिणमन करते हैं तथा विपाक अवस्था में शुभ नाम रूप से उदय में आते हैं उनसे अनेक बातें शुद्ध होती हैं इसलिए जिन भगवान ने इनको 'शुभ नाम कर्म' कहा है।

शुभ नाम कर्म उसके ३७ भेद- (गा० ८-२९)

९—शुभ आयुष्यवान मनुष्य और देवताओं की गति और आनुपूर्वी शुद्ध होती है। कई पचेन्द्रिय जीव विशुद्ध होते हैं। उनकी जाति भी विशुद्ध होती है।

१-मनुष्य गति
२-मनुष्य आनुपूर्वी
३-देव गति
४-देव आनुपूर्वी
५-पचेन्द्रिय जाति

२—च्यार कर्म ते एकंत पाप छ, च्यार कर्म छै पुन नें पाप हो लाल।
पुन कर्म थी जीव में, साता हुवे पिण न हुवे सताप हो लाल॥

३—अनंता प्रदेस छै पुन तणा, ते जीव रे उदय हुवे आय हो लाल।
अनंतो सुख करे जीव रे, तिणसुं पुन री अनंती परज्याय हो लाल॥

४—निरवद जोग वरते जब जीव रे, सुभपणे लागे पुदगल ताम हो लाल।
त्यां पुदगल तणा छै जूजूआ गुण परिणामे त्यांरा नाम हो लाल॥

५—साता वेदनीय पणे परणम्यां साता पणे उदय आवे ताम हो लाल।
ते सुखसाता करें जीव में, तिणसूं साता वेदनी दीयो नांम हो लाल॥

६—पुदगल परणम्या सुभ आउखापणे घणो रहणो वांछै तिण ठांम हो लाल।
आणे जीविमे पिण म मरजीये सुभ आउखो तिणरो नाम हो लाल॥

७—केइ देवता नें केइ मिनख रो सुभ आउखो पुन ताम हो लाल।
जुगलीया तिर्यच रो आउखो दीसे छै पुन रे मांय हो लाल॥

८—सुभ नामपणे आए परणम्यो ते उदय आवे जीव रे ताय हो लाल।
अनेक साता सुख हुवे तेह सूं, नाम कर्म कह्यो जिणराय हो लाल॥

९—सुभ आउखा रा मिनख में देवता त्यांरी गति में आणपूर्वी सुभ हो लाल।
केइ जीव पंचिन्द्री विसुध छै, त्यांरी जात पिण पुन विसुध हो लाल॥

१०—शुद्ध निर्मल पांच शरीर और इन शरीरों के तीन निर्मल उपाङ्ग—ये सब शुभ नाम कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं। सुन्दर शरीर और उपाङ्ग इसीसे होते हैं।	१०-पांच शरीर १३-तीन उपाङ्ग
११—पहिले संहनन के हाड़ अच्छे (मजबूत) और पहले सस्थान का आकार सुन्दर होता है। शुभ नाम कर्म के उदय से ये प्राप्त होते हैं।	१४-प्रथम संहनन १५-प्रथम सस्थान
१२—अच्छे-अच्छे प्रिय वर्ण, जिनका जीव अनेक प्रकार से भोग करता है, शुभ नाम कर्म के उदय से ही प्राप्त होते हैं।	१६-शुभ वर्ण
१३—अच्छी-अच्छी प्रिय गध, जिनका जीव अनेक प्रकार से भोग करता है, शुभ नाम कर्म के उदय से ही प्राप्त होती हैं।	१७-शुभ गध
१४—अच्छे-अच्छे प्रिय रस, जिनका जीव अनेक प्रकार से भोग करता है, शुभ नाम कर्म के उदय से ही प्राप्त होते हैं।	१८-शुभ रस
१५—अच्छे-अच्छे प्रिय स्पर्श, जिनका जीव अनेक प्रकार से भोग करता है, शुभ नाम कर्म के उदय से ही प्राप्त होते हैं।	१९-शुभ स्पर्श
१६—त्रस-दशक पुण्योदय से—शुभ नाम कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं। मैं इनका अलग-अलग वर्णन करता हूँ, सुज्ञ और चतुर लोग तत्त्व का निर्णय करें।	त्रस दशक
१७—'त्रस शुभ नाम कर्म' के उदय से चेतन जीव त्रसावस्था को पाता है, 'बादर शुभ नाम कर्म' के उदय से जीव बादर होता है।	२०-त्रसावस्था २१-बादरत्व
१८—'प्रत्येक शुभ नाम कर्म' के उदय से जीव प्रत्येकशरीरी होता है, 'पर्याप्त शुभ नाम कर्म' से जीव पर्याप्त होता है।	२२-प्रत्येक शरीरी २३-पर्याप्त

१०—पांच सरीर छ सुभ निरमला, त्यांरा निरमला तीन उपंग हो लाल।
ते पामें सुभ नाम उदय हूआं, सरीर में सर्वंग सुचंग हो लाल॥

११—पेहलो संघयण ना कह्या हाड छै, पेहलो संठाण रूडे आकार हो लाल।
ते पामें सुभ नाम उदे थकी हाड नें आकार श्रीकार हो लाल॥

१२—भला भला वर्ण मिले जीव नें, गमता गमता घणां श्रीकार हो लाल।
ते पामें सुभ नाम उदे हूआं जीव भोगवे विविध प्रकार हो लाल॥

१३—भला भला मिले गंध जीव रे, गमता गमता घणा श्रीकार हो लाल।
ते पामें सुभ नाम उदे थकी, जीव भोगवे विविध प्रकार हो लाल॥

१४—भला भला मिले रस जीव नें, गमता गमता घणा श्रीकार हो लाल।
ते पामें सुभ नाम उदय थकी जीव भोगवे विविध प्रकार हो लाल॥

१५—भला भला मिले फरस जीव ने गमता गमता घणा श्रीकार हो लाल।
ते पामें सुभ नाम उदय थकी जीव भोगवे विविध प्रकार हो लाल॥

१६—इम रो दाखो छै पुन उदे, सुभ नाम उदय सूं जांण हो लाल।
त्यांनें जूआ जूआ कर वरणवूं निरणो कीजो चतुर सुजांण हो लाल॥

१७—त्रस नाम सुभ कम उदय थकी त्रसपणो पामें जीव सोय हो लाल।
बादर सुभ नाम कम उदय हूआं जीव चेतन बादर होय हो लाल॥

१८—प्रतेक सुभ नाम उदे हूआं प्रतेकसरीरी जीव पाय हो लाल।
प्रज्यापता सुभ नाम थी, प्रज्यापतो होय जाय हो लाल॥

१९—'स्थिर शुभ नाम कर्म' के उदय से शरीर के अवयव दृढ़ होते है, 'शुभ नाम कर्म' से नाभि से मस्तक तक के अवयव सुन्दर होते हैं।	२४-स्थिर अवयव २५-सुन्दर अवयव
२०—'सौभाग्य शुभ नाम कर्म' से जीव सर्व लोक-प्रिय होता है, 'सुस्वर शुभ नाम कर्म' से जीव का कठ सुस्वर और मधुर होता है।	२६-लोक-प्रियता २७-सुस्वरता
२१—'आदेय वचन शुभ नाम कर्म' से जीव के वचन सबको मान्य होते हैं, 'यश कीर्त्ति नाम कर्म' के उदय से जगत मे यश-कीर्त्ति प्राप्त होती है।	२८-आदेय वचन २९-यश कीर्ति
२२—'अगुरुलघु शुभ नाम कर्म' से शरीर हलका या भारी नहीं मालूम देता है, 'पराघात शुभ नाम कर्म' के उदय से जीव स्वय विजयी होता है और दूसरा हारता है।	३०-अगुरुलघु ३१-पराघात
२३—'श्वासोच्छ्वास शुभ नाम कर्म' के उदय से प्राणी सुखपूर्वक श्वासोच्छ्वास लेता है, 'आतप शुभ नाम कर्म' के उदय से जीव स्वय शीतल होते हुए भी दूसरा (सामने वाला) आतप (तेज) का अनुभव करता है।	३२-उच्छ्वास ३३-आतप
२४—'उद्योत शुभ नाम कर्म' से शरीर शीत प्रकाशयुक्त होता है, 'शुभ गति नाम कर्म' से हंसादि जैसी सुन्दर चाल प्राप्त होती है	३४-उद्योत ३५-शुभ गति
२५—'निर्माण शुभ नाम कर्म' से शरीर फोड़े फुन्सियों से रहित होता है, 'तीर्थंकर नाम कर्म' के उदय से मनुष्य तीन लोक प्रसिद्ध तीर्थंकर होता है[८]।	३६-निर्माण ३७-तीर्थंकर-गोत्र
२६—कई युगलिया आदि और तिर्यञ्चों की गति और आनुपूर्वी पुण्य की प्रकृति मालूम देती है फिर जो ज्ञानी कहे वह प्रमाण है।	

१९—सुभ थिर नाम कर्म उदे थकी, सरीर ना अवयव दिढ थाय हो लाल।
सुभनाम थी नाममस्तक लगे अवयव रूडा हुव ताम हो लाल॥

२०—सोभाग नाम सुभ कर्म थी सब लोक में वल्लभ होय हो लाल।
सुस्वर सुभ नाम कम सूं सुस्वर कंठ मीठो हुवे सोय हो लाल॥

२१—आदेज वचन सुभ करम थी तिणरो वचन मानें सहु कोय हो लाल।
जश किती सुभ नाम उदय हुआं जश कीरत जग में होय हो लाल॥

२२—अगरुलघु नाम कम सूं, सरीर हलको भारी नहीं लगात हो लाल।
परघात सुभ नाम उदे थकी आप जीते पेलो पामें घात हो लाल॥

२ —उसास सुभ नाम उदे थकी सास उसास सुखे लेवत हो लाल।
आतप सुभ नाम उदे थकी आप सीतल पेलो तपत हो लाल॥

२४—उद्योत सुभ नाम उदे थकी सरीर नों उजवालो जाण हो लाल।
सुभ गइ सुभ नाम कम सूं हंस ज्यूं चोखी चाल वखाण हो लाल॥

२५—निरमाण सुभ नाम कम सूं सरीर चोखा पूरंगणा सहीत हो लाल।
तीथंकर नाम कम उदे हुआं तीर्थंकर हुये तीन लोक वदीत हो लाल॥

२६ —केई पुण्यवाणी निरयच मी गति में जाण पूर्वी जाण हो लाल।
ते तो प्रतंग दीसे पुन तणी ग्यानी कहे ते परमाण हो लाल॥

१९—'स्थिर शुभ नाम कर्म' के उदय से शरीर के अवयव दृढ़ होते हैं, 'शुभ नाम कर्म' से नाभि से मस्तक तक के अवयव सुन्दर होते हैं।	२४-स्थिर अवयव २५-सुन्दर अवयव
२०—'सौभाग्य शुभ नाम कर्म' से जीव सर्व लोक-प्रिय होता है, 'सुस्वर शुभ नाम कर्म' से जीव का कंठ सुस्वर और मधुर होता है।	२६-लोक-प्रियता २७-सुस्वरता
२१—'आदेय वचन शुभ नाम कर्म' से जीव के वचन सबको मान्य होते है, 'यश कीर्त्ति नाम कर्म' के उदय से जगत मे यश-कीर्त्ति प्राप्त होती है।	२८-आदेय वचन २९-यश कीर्ति
२२—'अगुरुलघु शुभ नाम कर्म' से शरीर हलका या भारी नहीं मालूम देता है, 'पराघात शुभ नाम कर्म' के उदय से जीव स्वय विजयी होता है और दूसरा हारता है।	३०-अगुरुलघु ३१-पराघात
२३—'श्वासोच्छ्वास शुभ नाम कर्म' के उदय से प्राणी सुखपूर्वक श्वासोच्छ्वास लेता है, 'आतप शुभ नाम कर्म' के उदय से जीव स्वय शीतल होते हुए भी दूसरा (सामने वाला) आतप (तेज) का अनुभव करता है।	३२-उच्छ्वास ३३-आतप
२४—'उद्योत शुभ नाम कर्म' से शरीर शीत प्रकाशयुक्त होता है, 'शुभ गति नाम कर्म' से हंसादि जैसी सुन्दर चाल प्राप्त होती है	३४-उद्योत ३५-शुभ गति
२५—'निर्माण शुभ नाम कर्म' से शरीर फोडे फुन्सियों से रहित होता है, 'तीर्थंकर नाम कर्म' के उदय से मनुष्य तीन लोक प्रसिद्ध तीर्थंकर होता है[८]।	३६-निर्माण ३७-तीर्थंकर-गोत्र

२६—कई युगलिया आदि और तिर्यञ्चों की गति और आनुपूर्वी पुण्य की प्रकृति मालूम देती है फिर जो ज्ञानी कहे वह प्रमाण है।

२७—पेहलो संघण सठाण वरज नें, च्यार सघेण च्यार संठाण हो लाल।
त्यांमें तो भेल दीसे छै पुन तणो त्यांनी वदे ते परमांण हो लाल॥

२८—जे जे हाड छै पेहला संघण में, तिण मांहिला च्यारां मांय हो लाल।
त्यांनें आवक पाप में घालीया मिलतो न दीसे न्याय हो लाल॥

२९—जे जे आकार पेहला संठाण में, तिण मांहिला च्यारां मांय हो लाल।
त्यांनें आवक पाप में घालीया ओ पिण मिलतो न दीसे न्याय हो लाल॥

३०—ऊंच गोतपणे आय परणम्या ते उदे आवे जीव रे तांम हो लाल।
ऊंच पदवी पामे तिण थकी ऊंच गोत छै तिण रो नांम हो लाल॥

३१—सघली न्यात थकी ऊंची न्यात छै, तिणमें कठे न लागे छोत हो लाल।
एहवा छे मिनष में देवता त्यांरो कर्म छै ऊंच गोत हो लाल॥

३२—जे जे गुण भावे जीव रे सुभपणे, जेहवा छै जीव रा नांम हो लाल।
तेहवा इज नाम पुदगल तणा, जीव तणे संयोगे तांम हो लाल॥

३३—जीव सुभ हुओ पुदगल थकी तिणसूं रूड़ा रूड़ा पाया नांम हो लाल।
जीव नें सुभ कीधो पुदगलां त्यांरा पिण सुभ छै नांम तांम हो लाल॥

३४—ज्यां पुदगल रा प्रसंग थी जीव बाज्यो संसार में ऊंच हो लाल।
ते पुदगल ऊंच बाजीया त्यांरो न्याय म आंण गूंच हो लाल॥

२७—पहले सस्थान और पहले संहनन के सिवा शेष चार सहनन और संस्थान में पुण्य का मेल मालूम देता है फिर जो ज्ञानी कहे वह प्रमाण है ।

२८—जो-जो हाड़ पहले सहनन में हैं उनमें से ही जो शेष चार सहननों में है उनको एकान्त पाप में डालना न्याय-संगत नहीं मालूम देता ।

२९—जो-जो आकार पहिले सस्थान मे हैं उनमें से ही जो आकार बाकी के चार सस्थानों में हैं उनको भी एकान्त पाप में डालना न्यायसगत नहीं मालूम देता[९] ।

उच्च गोत्र कर्म (गा० ३०-३१)

३०—जो पुद्गल-वर्गणा आत्म-प्रदेशों में आकर उच्च गोत्र रूप परिणमन करती है और उसी रूप में उदय में आती है और जिससे उच्च पदों की प्राप्ति होती है उसका नाम 'उच्च गोत्र कर्म' है ।

३१—सबसे उच्च और जिसके कहीं भी छूत नहीं लगी हुई है ऐसी जाति के जो मनुष्य और देवता हैं उनके उच्च गोत्र कर्म है[१०] ।

पुण्य कर्मों के नाम गुणनिष्पन्न हैं (गा० ३२-३४)

३२—जो जो गुण जीव के शुभ रूप से उदय में आते हैं उनके अनुरूप ही जीवों के नाम हैं और जीव के साथ सयोग से वैसे ही नाम पुद्गलों के हैं ।

३३—जीव पुद्गल से शुद्ध होकर नाना प्रकार के अच्छे-अच्छे नाम प्राप्त करता है । जिन पुद्गलों से जीव शुद्ध होता है उन पुद्गलों के नाम भी शुद्ध हैं ।

३४—जिन पुद्गलों के सग से जीव ससार में उच्च कहलाता है वे पुद्गल भी उच्च कहलाते हैं । इसका न्याय मूर्ख नहीं समझते[११] ।

३५—पदवी तीर्थंकर नें चक्रवत तणी वासुदेव बलदेव महंत रे लाल।
वले पदवी मण्डलीक राजा तणी सारी पुन थकी लहत रे लाल॥

३६—पदवी देविंद्र ने नरिंद नी वले पदवी अहमिंद्र वखांण हो लाल।
इत्यादिक मोटी मोटी पदवीयां सहु पुन तणे परमांण हो लाल॥

३७—म जे पुदगल परणम्यां सुभपणे, ते तो पुन उदा सु जाण हो लाल।
त्यां सुं सुख उपजे संसार म पुन ग फल एह पिछांण हो लाल॥

३८—वाला विछड़ीया आए मिले सेंणा तणो मिले संजोग हो लाल।
ते पिण पुन तणा परताप थी सरीर में न व्यापे राग हो लाल॥

३९—हाथी घोड़ा रथ पायक तणी चोरंगणी सेन्या मिले आंण हो लाल।
रिध विरध मे सुख संपत मिले ते पुन तणे परिमांण हो लाल॥

४ —खेतू वत्थू हिरण सोवनादिक धन धान नें कुम्भी धात हो लाल।
दोपद चोपदादिक आए मिले ते तो पुन तणो परताप हो लाल॥

४१—हीरा मांणक मोती मूंगीया वले रत्नां री जात अनेक हो लाल।
ते सारा मिले छै पुन थकी पुन बिना मिले नहीं एक हो लाल॥

४२—गमती गमती किलेवंत अती ते अपछर रे उणीयार हो लाल।
ते पुन थकी आए मिले वले पुत्र घणा श्रीकार हो लाल॥

४३—वले सुख पामें देवता तणा ते तो पूरा कह्या न जाय हो लाल।
पल सागरां लग सुख भोगवे ते तो पन तणे पसाय हो लाल॥

पुण्योदय के फल
(गा० ३५-४५)

३५—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव तथा माण्डलिक राजा आदि की महान् पदवियाँ सब पुण्य के ही कारण मिलती हैं।

३६—देवेन्द्र, नरेन्द्र और अहमिन्द्र आदि की बड़ी-बड़ी पदवियाँ सब पुण्य के प्रताप से मिलती हैं।

३७—पुद्गलों का शुभ परिणमन पुण्योदय से ही होता है। पुद्गलों के शुभ परिणमन से संसार में सुख की प्राप्ति होती है। इस तरह सारे सुख पुण्य के ही फल हैं, यह समझो।

३८—पुण्य के ही प्रताप से बिछुड़े हुए प्रियजनों का मिलाप होता है, सज्जनों का संग मिलता है। और यह भी पुण्य का ही कारण है कि शरीर में रोग नहीं व्यापता।

३९—पुण्य के ही प्रताप से हाथी, घोड़े, रथ और पैदलों की चतुरंगिनी सेना प्राप्त होती है और सब तरह की ऋद्धि, वृद्धि और सुख-सम्पत्ति भी उसीके परिमाण से मिलती है।

४०— क्षेत्र (खुली भूमि), वास्तु (घर आदि), हिरण्य, स्वर्ण, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद और कुम्भी धातु ये (नौ प्रकार के परिग्रह) पुण्य के प्रताप से ही मिलते हैं।

४१—पुण्य से ही हीरे, पन्ने, माणिक, मोती, मूंगे तथा नाना तरह के रत्न प्राप्त होते हैं। बिना पुण्य के इनमें से एक की भी प्राप्ति नहीं होती।

४२—पुण्य से ही प्रिय, विनयी और अप्सरा के सदृश रूपवती स्त्री मिलती है और अनेक उत्तम पुत्र प्राप्त होते हैं।

४३—पुण्य के प्रसाद से ही देवताओं के अनिर्वचनीय सुख मिलते हैं और जीव पल्यसागरोपम तक उन्हें भोगता है।

३५—पदवी तीर्थंकर नें चक्रवत तणी वासुदेव बलदेव महंत रे लाल।
वले पदवी मण्डलीक राजा तणी सारी पुन थकी लहंत रे लाल॥

३६—पदवी देविंद्र ने नरिंद नी वले पदवी अहमिंद्र वखाण हो लाल।
इत्यादिक मोटी मोटी पदवीयां सहु पुन तणे परमांण हो लाल॥

३७—ज जे पुदगल परणम्यां सुभपणे, ते तो पुन उदा सूं जाण हो लाल।
त्यां सु सुख उपजे संसार में पुन रा फल एह पिछांण हो लाल॥

३८—बाला विछड़ीया आए मिले सैणा तणो मिले सजोग हो लाल।
ते पिण पुन तणा परताप थी सरीर में न व्यापे रोग हो लाल॥

३९—हाथी घोड़ा रथ पायक तणी चोरगणी सेन्या मिले आंण हो लाल।
रिध विरध ने सुख संपत मिले ते पुन तणे परिमांण हो लाल॥

४ —खेतू वत्थू हिरण सोवनादिक धन धान में कुम्भी धात हो लाल।
दोपद चोपदादिक आए मिलै ते तो पुन तणो परताप हो लाल॥

४१—हीरा मांणक मोती मूंगीया वले रत्नां री जात अनेक हो लाल।
ते सारा मिलै छै पुन थकी पुन बिना मिले नहीं एक हो लाल॥

४२—गमती गमती विनेवंत अस्त्री ते अपछर रे उणीयार हो लाल।
ते पुन थकी आए मिले वले पुत्र घणा श्रीकार हो लाल॥

४३—वले सुख पामें देवता तणा ते तो पूरा कह्या न जाय हो लाल।
पल सागरां लग सुख भोगवे ते तो पुन तणे पसाय हो लाल॥

४४—पुण्यवान के रूप—शरीर की सुन्दरता होती है। उसके वर्णादि श्रेष्ठ होते हैं। वह सबको प्रिय लगता है। उसका बार-बार बोलना सुहाता है।

४५—ससार में जो-जो सुख हैं उन सबको पुण्य के फल जानो[12]। मैं कह कर कितना वर्णन कर सकता हूँ, बुद्धिमान स्वयं पहचान ले।

पौद्गलिक और आत्मिक सुखो की तुलना (गा० ४६-५१)

४६—पुण्य के जो सुख बतलाए गये हैं वे लौकिक (सांसारिक) दृष्टि की अपेक्षा से उत्तम हैं। मुक्ति-सुखों से इनकी तुलना करने से ये एकदम ही सुख नहीं ठहरते।

४७—पुण्य के सुख पौद्गलिक है और सब रोगोत्पन्न हैं। मुक्ति के सुख आत्मिक है और अनुपम हैं।

४८—जिस तरह पाँव के रोगी को खाज अत्यन्त मीठी लगती है उसी तरह पुण्य के उदय होने पर इन्द्रियों के शब्दादि विषय जीव को सुखकर—प्रिय लगते है।

४९—जिस तरह सर्प के ढंक मारने से विष फैलने पर नीम के पत्ते मीठे लगने लगते हैं उसी तरह पुण्य के उदय होने पर जीव को भोग मीठे और प्रधान लगते हैं।

५०—पुण्य के सुख रोगोत्पन्न हैं उनमें जरा भी सार मत समझो। फिर ये सुख क्षण-भङ्गुर और अनित्य हैं। इन्हें विनाश होते देर नहीं लगती।

५१—आत्मिक सुख शाश्वत होते हैं। इन सुखों का कोई अंत नही है। ये सुख तीनों काल मे शाश्वत है और सदा एक रस रहते हैं[13]।

४४—रूप सरीर नों सून्दरपणो, तिणरो वर्णादिक श्रीकार हो लाल।
ते गमतो लागे सब लोग नें तिणरो बोल्यो गमे वारंवार हो लाल॥

४५—जे जे सुख सगला ससार ना ते तो पुन तणा फल जांण हो लाल।
ते कहि कहि में कितरो कहूं, बुधवंत लीज्यो पिछांण हो लाल॥

४६—ए तो पुन तणा सुख वरणव्या संसार लेखे श्रीकार हो लाल।
त्यांनें मोख सुखां सूं मींढीये तो ए सुख नहीं मूल लिगार हो लाल॥

४७—पुदगलीक सुख छै पुन तणा ते तो रोगीला सुख ताय हो लाल।
आतमीक सुख छै मुगत नां त्यांनें तो ओपमा नहीं काय हो लाल॥

४८—पांव रोगी हुवे तेहनें खाज मीठी लागे अतंत हो लाल।
ज्यूं पुन उदे हुआं जीव नें सबदादिक सब गमता लागंत हो लाल॥

४९—सर्प डंक लागा जहर परगम्यां मीठा लागे नींब पान हो लाल।
ज्यूं पुन उदय हुआं जीव में मीठा लागे भोग परधान हो लाल॥

५ —रोगीला सुख छै पुदगल तणा तिणमें कला म जांणो लिगार हो लाल।
ते पिण काचा सुख असासता विणसतां नहीं लागे वार हो लाल॥

५१—आतमीक सुख छै सासता, त्यां सुखां रो नहीं कोइ पार हो लाल।
ते सुख सदा काल सासता ते सुख रहे एक धार हो लाल॥

४४—पुण्यवान के रूप—शरीर की सुन्दरता होती है। उसके वर्णादि श्रेष्ठ होते हैं। वह सबको प्रिय लगता है। उसका बार-बार बोलना सुहाता है।

४५—संसार में जो-जो सुख हैं उन सबको पुण्य के फल जानो[१२]। मै कह कर कितना वर्णन कर सकता हूँ, बुद्धिमान स्वयं पहचान ले।

पौद्गलिक और आत्मिक सुखो की तुलना (गा० ४६-५१)

४६—पुण्य के जो सुख बतलाए गये हैं वे लौकिक (सांसारिक) दृष्टि की अपेक्षा से उत्तम हैं। मुक्ति-सुखों से इनकी तुलना करने से ये एकदम ही सुख नहीं ठहरते।

४७—पुण्य के सुख पौद्गलिक हैं और सब रोगोत्पन्न हैं। मुक्ति के सुख आत्मिक है और अनुपम हैं।

४८—जिस तरह पाँव के रोगी को खाज अत्यन्त मीठी लगती है उसी तरह पुण्य के उदय होने पर इन्द्रियों के शब्दादि विषय जीव को सुखकर—प्रिय लगते है।

४९—जिस तरह सर्प के डंक मारने से विष फैलने पर नीम के पत्ते मीठे लगने लगते है उसी तरह पुण्य के उदय होने पर जीव को भोग मीठे और प्रधान लगते हैं।

५०—पुण्य के सुख रोगोत्पन्न हैं उनमें जरा भी सार मत समझो। फिर ये सुख क्षण-भङ्गुर और अनित्य हैं। इन्हें विनाश होते देर नहीं लगती।

५१—आत्मिक सुख शाश्वत होते हैं। इन सुखों का कोई अंत नहीं है। ये सुख तीनों काल मे शाश्वत हैं और सदा एक रस रहते हैं[१३]।

५२—पुन तणी वंछा कीयां, लागे छै एकंत पाप हो लाल।
तिणसूं दुःख पामें संसार में मघतो आमे सोग संताप हो लाल॥

५३—जिणसूं पुन तणी वछा करी तिण वांछिया काम नें भोग हो लाल।
त्यांनें दुःख होसी नरक निगोद नां, वले वाल्हा रा पड़सी विजोग हो लाल॥

५४—पुन तणा सुख असासता ते पिण करणी विण नहीं थाय हो लाल।
निरवद करणी करे तेहनें पुन तो सेहजां लागे छै आय हो लाल॥

५५—पुन री वछा सूं पुन न नीपजे पुन तो सहजे लागे छै आय हो लाल।
ते तो लागे छै निरवद जोग सूं निरजरा री करणी सूं ताय हो लाल॥

५६—भली लेस्या ने भला परिणांम थी निश्चेंइ निरजरा थाय हो लाल।
जब पुन लागे छै जीव रे, सहजे समावे आय हो लाल॥

५७—जे करणी करै निरजरा तणी पुन तणी मन में धार हो लाल।
ते तो करणी खोए में बापड़ा गया जमारो हार हो लाल॥

५८—पुन तो चोफरसी कर्म छै, तिणरी वछा करे ते मूढ हो लाल।
त्यां कर्म नें धर्म न ओलख्यो करे करे मिथ्यात नीं रूढ हो लाल॥

५९—जे थे पुन थी वस्त मिले तके, त्यांनें त्याग्यां निरजरा थाय हो लाल।
जो पुन भोगवे ग्रिधी थको, तो चीकणा कर्म बंधाय हो लाल॥

६०—जोड़ कीधी पुन ओलखायवा श्रीजी दुवारा सहर मझार हो लाल।
संवत अठारे पचावनें, जेठ बिद नवमी सोमवार हो लाल॥

५२—पुण्य की वाञ्छा करने से एकान्त—केवल पाप लगता है जिससे इस लोक में दु ख पाना पडता है और जीव के शोक-सताप बढ़ते जाते हैं।

पुण्य की वाञ्छा से पाप-बध (गा० ५२-५३)

५३—जो पुण्य की वाञ्छा—कामना करता है वह कामभोगों की कामना करता है। उसको नरक निगोद के दु ख होंगे और प्रिय वस्तुओं का वियोग होगा[१४]।

५४—पुण्य के सुख अशाश्वत है परन्तु वे भी शुभ करनी विना नहीं प्राप्त होते। जो निरवद्य करनी करते है उनके पुण्य तो सहज ही आकर लगते है।

पुण्य-बध के हेतु (गा० ५४-५६)

५५—पुण्य पुण्य की कामना से प्राप्त नहीं होते, पुण्य तो सहज ही आकर लगते हैं। पुण्य निरवद्य योग से तथा निर्जरा की करनी से सचित होते हैं।

५६—भली लेश्या और भले परिणाम से निश्चय ही निर्जरा होती है और तब निर्जरा के साथ-साथ पुण्य सहज ही स्वाभाविक तौर पर आकर लग जाते हैं[१५]।

५७—जो पुण्य की कामना से निर्जरा की करनी करते हैं वे बेचारे उस करनी का व्यर्थ ही खो कर मनुष्य-जन्म को हारते हैं।

पुण्य काम्य क्यो नही ? (गा० ५७-५८)

५८—पुण्य चतुस्पर्शी कर्म हैं। जो उसकी कामना करते हैं वे मूर्ख हैं। वे कर्म और धर्म के अन्तर को नहीं समझते और केवल मिथ्यात्व की रूढ़ि में पड़े हैं[१६]।

५९—पुण्य से जो वस्तुएँ मिलती हैं उनके त्याग करने से निर्जरा होती है परन्तु जो पुण्य-फल को गृद्ध होकर भोगता है उसके चिकने कर्मों का बध होता है[१७]।

त्याग से निर्जरा भोग से कर्म-बध

६०—यह जोड़ पुण्य तत्त्व का बोध कराने के लिए श्रीजीद्वार में सं० १८५५ की जेठ वदी ६ सोमवार को की है।

टिप्पणियाँ

१—दोहा : १-५

इन प्रारम्भिक दोहों में स्वामीजी ने पुण्य पदार्थ के सम्बन्ध में निम्न बातों का प्रतिपादन किया है

(१) पुण्य तीसरा पदार्थ है (दो० १) ;

(२) पुण्य पदार्थ से कामभोगों की प्राप्ति होती है (दो० १)

(३) पुण्य-जनित कामभोग विष तुल्य है (दो० २,४) ;

(४) पुण्योत्पन्न सुख पौद्गलिक और विनाशशील है (दो० २,४) और

(५) पुण्य पदार्थ शुभ कर्म है अतः अकाम्य है (दो० ५)।

नीचे क्रमशः इन पर प्रकाश डाला जाता है :

(१) पुण्य तीसरा पदार्थ है (दो० १)

भगवान महावीर ने कहा है—"ऐसी संज्ञा मत करो—ऐसा मत सोचो कि पुण्य और पाप नहीं हैं पर ऐसी संज्ञा करो कि पुण्य और पाप हैं[1]।" उत्तराध्ययन में तथ्य भावों में पुण्य का उल्लेख किया गया है[2]। ठाणाङ्ग में नवसद्भाव पदार्थों में तृतीय स्थान पर पुण्य की गिनती की गई है[3]। संसार में द्वन्द्व वस्तुओं का उल्लेख करते हुए पुण्य और पाप परस्पर विरोधी तत्त्व बताये गये हैं[4]। इससे प्रमाणित होता है कि जैनधर्म में पुण्य की एक स्वतंत्र तत्त्व के रूप में प्ररूपणा है और नव पदार्थों में उसका स्थान तृतीय माना गया है। दिगम्बराचार्यों ने भी पुण्य को स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है[5]।

१—सूयगडं २.५.१६

णत्थि पुण्णे व पावे वा णेवं सण्णं निवेसए।

अत्थि पुण्णे व पावे वा एवं सण्णं निवेसए॥

२—उत्त० २८.१४ (पृ० २५ पर उद्धृत)

३—ठाणांग ९.६६५ (पृ० २१ पा० टि० १ में उद्धृत)

४—ठाणांग २.४१ :

जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं तंजहा ... पुण्णे चेव पावे चेव

५—(क) पंचास्तिकाय २.१.८

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।

संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा॥

(ख) द्रव्यसंग्रह २८ :

आसवबंधणसंवरणिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे।

तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्वो का उल्लेख है[1] और पुण्य और पाप को आस्रव तत्त्व के दो भेद के रूप में उपस्थित किया है[2]। हेमचन्द्राचार्य ने भी सात ही तत्त्व बताए हैं[3] और आस्रव तथा बध के भेद रूप मे भी पुण्य और पाप पदार्थो का उल्लेख नही किया है।

ससार में हम दो प्रकार के प्राणियों को देखते हैं—एक सम्पन्न और दूसरे दरिद्र, एक स्वस्थ और दूसरे रोगी, एक दु खी और दूसरे सुखी। प्राणियो के ये भेद अकस्मात नही हैं, पर उनके अपने अपने कर्तृत्व के परिणाम हैं। जो कर्तृत्व प्रथम वर्ग की स्थितियो का उत्पादक है वही पुण्य तत्त्व है।

स्वामी जी ने आगमिक परम्परा के मतानुसार पुण्य को तीसरा पदार्थ माना है।

(२) पुण्य पदार्थ से कामभोगों की प्राप्ति होती है (दो० १)

शब्द और रूप को काम कहते हैं तथा गध, रस और स्पर्श को भोग[4]।

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श क्रमश श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के विषय हैं[5]। ये इष्ट या अनिष्ट, कान्त या अकांत, प्रिय अथवा अप्रिय, मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ, मन-आम अथवा अमनआम इस तरह दो-दो प्रकार के होते हैं[6]।

यहाँ कामभोग का अर्थ है—इष्ट, कांत, प्रिय, मनोज्ञ, और मन-आम शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श से युक्त भोग्यपदार्थ। ये कामभोग सजीव भी हो सकते हैं और निर्जीव भी[7]। एक बार भोगने योग्य भी हो सकते हैं और बार-बार भोगने योग्य भी। पुण्य पदार्थ से इन इष्ट कामभोगो की प्राप्ति होती है।

(३) पुण्य-जनित कामभोग विष-तुल्य हैं (दो० २-४).

इन शब्दादि कामभोगों के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ पाई जाती हैं—(१) ससारासक्त

१—तत्त्वार्थसूत्र ६.१-४.

जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षस्तत्त्वम्

२—तत्त्वार्थ सूत्र ६ १-४

३—जीवाजीवाश्रवाश्च सवरो निर्जरा तथा।
बन्धो मोक्षश्चेति सप्त, तत्त्वान्याहुर्मनीषिण ॥

४—भगवती ७.७

५—उत्त० ३२—३६, २२, ४९, ६२, ७५

६—ठाणांग २ ३-८३

७—भगवती ७ ७

मनुष्य की दृष्टि और (२) उदासीन ज्ञानी पुरुष की दृष्टि। जो कामभोगों में गृद्ध हैं वे कहते हैं— 'हमने परलोक नहीं देखा और इन कामभोगों का आनन्द तो आँखों से देखा है—प्रत्यक्ष है। ये वर्तमान काल के कामभोग तो हाथ में आए हुए हैं। भविष्य में काम भोग मिलेंगे या नहीं कौन जानता है? और यह भी कौन जानता है कि परलोक है या नहीं अतः मैं तो अनेक लोगों के साथ रहूँगा[१]।" ज्ञानी कहते हैं— 'कामभोग शल्यरूप हैं। कामभोग विष रूप हैं कामभोग जहर के सदृश हैं[२]। सर्व कामभोग दुःखरूप हैं[३]। अनर्थ की खान हैं[४]।

इस दृष्टि भेद के कारण जो संसारी प्राणी हैं वे पुण्य को शब्दादि कामभोगों की प्राप्ति का कारण मान उपादेय मानते हैं और ज्ञानी शब्दादि कामभोगों को विष तुल्य समझ वयविक सुखों के उत्पादक पुण्य पदार्थ को हेय मानते हैं।

स्वामीजी कहते हैं ज्ञानी की दृष्टि ही यथार्थ दृष्टि है, क्योंकि वह मोह रहित शुद्ध दृष्टि है। संसारासक्त प्राणी की दृष्टि मोहाच्छन्न होती है जिससे वह वस्तु के वास्तविक स्वरूप को नहीं देख पाता और जो वास्तव में सुख नहीं है उनमें सुख मान लेता है। जिस तरह नीम के पत्त वास्तव में कड़ुवे होते हैं परन्तु सर्प के डंस लेने पर शरीर-व्याप्त विष के कारण वे मीठे लगने लगते हैं वैसे ही पुण्यजात इन्द्रिय-सुख वास्तव में दुःख रूप ही हैं पर मोह कर्म की प्रबलता के कारण वे अमृत के समान मधुर लगते हैं।

(४) पुण्योत्पन्न सुख पौद्‌गलिक और विनाशशील है (गो १४):

पुण्योदय से प्राप्त सुख भौतिक हैं। ये सुख आत्मा के स्वाभाविक नहीं पर आत्मा से भिन्न पौद्‌गलिक वस्तुओं से सम्बन्धित होते हैं। ये सुख संयोगिक और वयविक हैं, आत्मा के सहज आनन्द स्वरूप नहीं।

पौद्‌गलिक वस्तुओं पर आधारित होने के साथ-साथ ये सुख स्थिर नहीं हैं। ये शरीर और इन्द्रियों के अधीन हैं, उनके विनाश के साथ इनका विनाश हो जाता है। ये सुख विषम— चंचल—हानि वृद्धिरूप हैं।

१—उत्त ५ ५ ७

२—उत्त ९ ५३ :

सल्लं कामा विसं कामा कामा आसीविसोवमा।

३—उत्त १३ १६ :

सव्वे कामा दुहावहा।

४—उत्त १४ १३ :

खाणी अणत्थाण उ कामभोगा

आत्मिक सुख की तरह ये निराकुल नही होते। ये तृष्णा को उत्पन्न करते हैं और कर्म-बधन के कारण हैं। जहाँ इन्द्रिय-सुख है वहाँ रागादि दोषो की सेना होती है और बधन भी अवश्यभावी है।

(५) पुण्य पदार्थ शुभ-कर्म है अत अकाम्य है (दो० ५) :

जीव का परिणमन दो तरह का होता है या तो वह मोह-राग-द्वेष आदि भावो में परिणमन करता है अथवा शुभ ध्यान आदि भावो में। मोह-राग-द्वेष आदि अशुभ परिणाम हैं और धर्म-ध्यानादि भाव शुभ परिणाम। ससारी जीव सर्व दिशाओ में अनेक प्रकार की पुद्गल-वर्गणाओ से घिरा हुआ है। उनमें एक वर्गणा ऐसी है जिसके पुद्गल आत्म-प्रदेशो में प्रवेश कर उनके साथ बध सकते हैं। जब जीव अशुभ भावो में परिणमन करता है तब इस वर्गणा के अशुभ पुद्गल आत्मा मे प्रवेश कर उसके साथ बध जाते हैं और जब जीव शुभ भावो में परिणमन करता है तब इस वर्गणा के शुभ पुद्गल आत्मा के साथ बधते हैं। पुद्गलो की यह विशिष्ट वर्गणा कर्म-कर्मणा कहलाती है और बधे हुए शुभ-अशुभ कर्म विपाकावस्था में सुख-दु ख फल देने की अपेक्षा से पुण्य कर्म और पाप कर्म कहलाते हैं। इस तरह पुण्य कर्म और पाप कर्म दोनो ही पुद्गल की कर्म-वर्गणा के विशिष्ट परिणाम-प्राप्त स्कन्ध हैं।

जीव चेतन है। पुद्गल जड है। पुद्गल की पर्याय होने से कर्म भी जड़ है। स्वामीजी कहते हैं कि चेतन जीव जड कर्मों की कामना कैसे कर सकता है? पुण्य और पाप जड कर्म ही तो उसके ससार-भ्रमण के कारण हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—"अशुभ कर्म कुशील है—बुरा है और शुभ कर्म सुशील है—अच्छा है ऐसा जगत् जानता है। परन्तु जो प्राणी को ससार में प्रवेश कराता है वह शुभ कर्म सुशील—अच्छा कैसे हो सकता है? जैसे लोहे की बेडी पुरुष को बांधती है और सुवर्ण की भी बांधती है उसी तरह शुभ तथा अशुभ कृत कर्म जीव को बांधते हैं। अत जीव तू इन दोनो कुशीलों से प्रीति अथवा ससर्ग मत कर। कुशील के साथ संसर्ग और राग से जीव की स्वाधीनता का विनाश होता है। जो जीव परमार्थ से दूर हैं वे अज्ञान से पुण्य को अच्छा मान उसकी कामना करते हैं। पर पुण्य ससार-गमन का हेतु है। अत तू पुण्य कर्म में प्रीति मत कर[1]।"

स्वामीजी और आचार्य कुन्दकुन्द की विचारधारा मे अद्भुत सामञ्जस्य है।

१—समयसार ३ . १४५-१४७, १५४, १५०

२—पुण्य शुभ कर्म और पुद्गल की पर्याय है (ढाल गाथा १)

इस गाथा में पुण्य को पुद्गल की पर्याय बताते हुए उसकी परिभाषा दी गई है। इस विषय में पूर्व टिप्पणी १ अनुच्छेद ५ में कुछ प्रकाश डाला जा चुका है।

स्वामीजी कहते हैं—आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म-वर्गणा के शुभ पुद्गल यथाकाल उदय में—फल देने की अवस्था में—आते हैं और शुभ फल देते हैं। इन्हें ही पुण्य-कर्म कहते हैं।

जिस तरह तेल और तिल, घृत और दूध धातु और मिट्टी ओतप्रोत होते हैं उसी तरह जीव और कर्म-वर्गणा के पुद्गल एक क्षेत्रावगाही होकर बन्ध जाते हैं। यह बन्ध या तो अशुभ कर्म-पुद्गलों का होता है या शुभ कर्म-पुद्गलों का। शुभ परिणामों से जो कर्म बन्धते हैं वे शुभ रूप से और जो अशुभ परिणामों से बन्धते हैं वे पाप रूप से उदय में आते हैं।

बन्धे हुए कर्म जब तक फलावस्था में नहीं आते तब तक जीव के सुख-दुःख भरा भी नहीं होता। उदय में आने तक कर्म-पुद्गल सत्तारूप में रहते हैं। बन्ध के उदयावस्था में आने पर जब सांसारिक सुख प्राप्त होते हैं तो बन्ध पुण्य कर्मों का कहा जायगा और विविध प्रकार के दुःख उत्पन्न करने पर बन्ध पाप कर्मों का कहा जायगा। जीव को एक तालाब मानें तो बन्ध उसमें आवद्ध जल रूप होगा। उस तालाब से निकलते हुए—मोरी जाते हुए—जल रूप पुण्य पाप होंगे[१]।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं "जिसके मोह-राग-द्वेष होते हैं उसके अशुभ परिणाम होते हैं। जिसके चित्तप्रसाद—निर्मल चित्त होता है उसके शुभ परिणाम होते हैं। जीव के शुभ परिणाम पुण्य हैं और अशुभ परिणाम पाप। शुभ-अशुभ परिणामों से जीव के जो कर्म-वर्गणा योग्य पुद्गलों का ग्रहण होता है वह क्रमशः द्रव्य-पुण्य और द्रव्य-पाप है[२]।"

१—तेरा द्वार (आचार्य भीखणजी रचित) : तालाब द्वार

२—पञ्चास्तिकाय २.१३१-२ :

> मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।
> विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो॥
> सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति हवदि जीवस्स।
> दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो॥

जीव का शुभ परिणाम भाव पुण्य है। भाव पुण्य के निमित्त से पुद्गल की कर्म-वर्गणा विशेष के शुभ पुद्गल आत्म-प्रदेशो मे प्रवेश कर उनके साथ बन्ध जाते हैं। यह द्रव्य-पुण्य है[1]।

पुण्य कर्म किस तरह पुद्गल-पर्याय है, यह इससे सिद्ध है।

३—चार पुण्य कर्म (ढाल गा० २) :

इस गाथा में दो बातें कही गयी हैं

(१) आठ कर्मों में चार एकान्त पाप रूप है और चार पाप और पुण्य दोनो रूप।

(२) पुण्य केवल सुखोत्पन्न करता है।

इन मुद्दों पर नीचे क्रमश प्रकाश डाला जाता है

(१) आठ कर्मों का स्वरूप आत्मा के प्रदेशो में कर्म-वर्गणा के पुद्गलो का बन्ध होता है। बन्धे हुए कर्मों में भिन्न-भिन्न प्रकृतियो का निर्माण होता है। मूल प्रकृतियाँ आठ हैं। इन प्रकृतियो के भेद से कर्मों के भी आठ भेद होते हैं[2] ·

(क) जिस कर्म की प्रकृति ज्ञान को आवरण करने की होती है उसे **ज्ञानावरणीय कर्म** कहते है।

(ख) जिस कर्म की प्रकृति दर्शन को अवरोध करने की होती है उसे **दर्शनावरणीय कर्म** कहते है।

(ग) जिस कर्म की प्रकृति सुख-दु ख वेदन कराने की होती है उसे **वेदनीय कर्म** कहते हैं।

(घ) जिस कर्म की प्रकृति मोह उत्पन्न करने की होती है उसे **मोहनीय कर्म** कहते हैं।

(ङ) जिस कर्म की प्रकृति आयुष्य के निर्धारण करने की होती है उसे **आयुष्य कर्म** कहते है।

(च) जिस कर्म की प्रकृति जीव की गति, जाति, यश, कीर्ति आदि को निर्धारण करने की होती है उसे **नाम कर्म** कहते हैं।

१—(क) पञ्चास्तिकाय २ १०८ की अमृतचन्द्राचार्य कृत तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति ·
शुभपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्त कर्मपरिणाम पुद्गलानाञ्च पुण्यम्।

(ख) उपर्युक्त स्थल की जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति ·
जीवस्य शुभपरिणामो भावपुण्य भावपुण्यनिमित्तेनोत्पन्न सद्वेद्यादि शुभप्रकृतिरूप पुद्गलपरमाणुपिण्डो· द्रव्यपुण्य

२—उत्त० ३३ २-३ , ठाणाङ्ग ८ ३ ५९६

(छ) जिस कर्म की प्रकृति जीव की जाति कुल आदि को निर्धारण करने की होती है उसे गोत्र कर्म कहते हैं।

(ज) जिस कर्म की प्रकृति लाभ दान आदि में विघ्न-बाधा करने की होती है उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

इन आठ कर्मों में ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म एकान्त पाप रूप हैं।

वेदनीय कर्म के दो भेद होते हैं—(क) साता वेदनीय और (ख) असातावेदनीय[1]। साता वेदनीय पुण्य-रूप है।

इसी तरह आयुष्य कर्म के दो भेद हैं—(क) शुभ आयुष्य और (ख) अशुभ आयुष्य। शुभ आयुष्य पुण्य स्वरूप है।

नाम कर्म भी दो प्रकार का है—(क) शुभ नाम कर्म और (ख) अशुभ नाम कर्म[2]। शुभ नाम कर्म पुण्य स्वरूप है।

गोत्र कर्म के भी दो भेद हैं—(क) उच्च गोत्र कर्म और (ख) नीच गोत्र कर्म[3]। गोत्र कर्म पुण्य रूप है।

(२) पुण्य केवल सुखोत्पन्न करते हैं : पुण्य और पाप दोनों एक दूसरे के विरोधी पदार्थ हैं। एक पदार्थ दो परिणमन नहीं कर सकता। पुण्य सुख और दुःख दोनों का कारण नहीं हो सकता। वह केवल सुख का कारण होता है। पुण्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है—'सुहहेऊ कम्मपगई पुण्णं'[4]—सुख की हेतु कर्म प्रकृति पुण्य है।

१—(क) उत्त० ३३.७ :

वेयणियं पि य दुविहं सायमसायं च आहियं।

(ख) ठाणाङ्ग २.४.१०५

२—(क) उत्त० ३३.१३ :

नामं कम्मं तु दुविहं सुहमसुहं च आहियं।

(ख) ठाणाङ्ग २.४.१०५

३—(क) उत्त० ३३.१४ :

गोयं कम्मं तु दुविहं उच्चं नीयं च आहियं

(ख) ठाणाङ्ग २.४.१०५

४—देवेन्द्रसूरिकृत श्री नवतत्त्वप्रकरणम् (नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह) गा० १८

एक बार कालोदायी ने श्रमण भगवान महावीर से पूछा "भन्ते ! क्या कल्याण कर्म (पुण्य) जीवो के लिये कल्याण फलविपाकसयुक्त—अच्छे फल के देने वाले है?" भगवान ने उत्तर दिया "हे कालोदायी ! कल्याण कर्म (पुण्य) ऐसे ही होते है। जैसे कोई एक पुरुष मनोहर, स्वच्छ थाली मे परोसे हुए रसदार अठारह व्यजनयुक्त औषधि-मिश्रित आहार का भोजन करे तो आरम्भ में वह भद्र—अच्छा—नही लगता पर पचने पर वह सुरूपता, सुवर्णता, सुगन्धता, सुरसता, सुस्पर्शता, इष्टता, कान्तता, प्रियता, शुभता, मनोज्ञता, मनापता, ईप्सितता, उर्ध्वता आदि परिणाम उत्पन्न करता है, वार-वार सुख रूप परिणमन करता है, दु ख रूप नही, उसी तरह हे कालोदायी ! प्राणातिपात, मृपावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेप, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन, परपरिवाद, रति-अरति, मायामृपा और मिथ्यादर्शनशल्य का विरमण और त्याग आरम्भ में जीवो को भद्र—अच्छा—नही लगता पर वाद में परिणाम के समय सुरूपता, सुवर्णता आदि भाव उत्पन्न करता है, वार-वार सुखरूप परिणमन करता है दु ख रूप नही। इसलिये हे कालोदायी ! कल्याण (पुण्य) कर्म जीवो को अच्छे फल देने वाले होते हैं ऐसा कहा है[1] ।"

स्वामीजी ने जो यह कहा है कि पाप से सुख ही होता है दु ख जरा भी नही होता वह उपर्युक्त आगम-स्थल से समर्थित है।

४—पुण्य की अनन्त पर्यायें (ढाल गा० ३)

इस गाथा में स्वामीजी ने जो वात कही है, उसका आधार निम्न आगम-गाथा है

सव्वेसिं चेव कम्माण, पएसग्गमणतगं ।
गंठियसत्ताईय, अतो सिद्धाण आहिय[2] ॥

—सब कर्मो के प्रदेश अनन्त हैं, जो अभव्य जीवो से अनन्त गुण और सिद्धो के अनन्तवें भाग हैं।

जीव के प्रदेशो के साथ पुण्य कर्मों के अनन्त प्रदेश वधे हुए रहते हैं। कर्मो मे फल देने की सक्रियता परिपाकावस्था मे आती है। यह अवस्था कर्मों का उदयकाल कहलाती है। इसके पहले कर्म फल नही देते। अनन्तप्रदेशी पुण्य कर्म उदय में आकर अनन्त प्रकार के सुख उत्पन्न करते हैं। इस तरह पुण्य कर्मो की अनन्त पर्यायें—परिणाम—अवस्थाएँ होती हैं।

१—भगवती ७ १०
२—उत्त० ३३ १७

५—पुण्य निरवद्य योग से होता है (ढाल गा० ४)

स्वामीजी ने इस गाथा में पुण्य कैसे होता है, इस पर संक्षिप्त प्रकाश डाला है। आत्म प्रदेशों में कर्म प्रवेश के निमित्त मुख्यतः पाँच हैं—मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। पहले चार हेतुओं से पाप कर्म का आगमन होता है। योग का अर्थ है—मन वचन और काया की प्रवृत्ति—क्रिया। योग दो तरह के होते हैं—(१) निरवद्य योग और (२) सावद्य योग। अवद्य पाप को कहते हैं। मन वचन काया की जो प्रवृत्ति पाप रहित होती है वह निरवद्य योग है। जो प्रवृत्ति पाप-सहित होती है उसे सावद्य योग कहते हैं। सावद्य योग से पाप-कर्मों का अर्जन होता है। निरवद्य योग पुण्य के हेतु हैं। उदाहरण स्वरूप सत्य बोलना निरवद्य योग है और मिथ्या बोलना सावद्य योग। पहले से पुण्य बंधता है और दूसरे से पाप-कर्म।

इस सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र (अ० ६) के निम्न सूत्र स्मरण रखने जैसे हैं

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ।१।

स आस्रवः ।२।

शुभः पुण्यस्य ।३।

अशुभः पापस्य ।४।

आचार्य उमास्वाति ने अन्यत्र भी लिखा है

"योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः"[1]

दिगम्बराचार्य भी ऐसा ही मानते हैं[2]।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जीव के या तो शुभ उपयोग होता है अथवा अशुभ उपयोग। शुभ उपयोग से पुण्य का संचय होता है और स्वर्ग-सुख की प्राप्ति होती है। अशुभ उपयोग से पाप का संचय होता है और जीव को कुनर तिर्यञ्च नारक के रूप में संसार भ्रमण करना पड़ता है। श्रमण शुद्ध उपयोगयुक्त भी होता है। शुद्ध उपयोग-वाला श्रमण आस्रव रहित होता है और उसे मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है[3]।

१—उमास्वातीय नवतत्त्वप्रकरणम् (नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह) : आस्रवतत्त्वम्

२—द्रव्यसंग्रह ३८ :

सुह असुह भावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।

३—प्रवचनसार २ : ६४ ; १ : ११ ; १ : १२ ; ३ : ४५

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि॥
धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं॥
असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमदि अच्चंतं॥
समणा सुद्धुवजुत्ता सु
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता

पुण्य का बंधन शुभ योग से कहें, शुभ भाव से कहें, शुभ परिणाम से कहें अथवा शुभ उपयोग से, एक ही बात है। यह केवल शब्द-व्यवहार का अन्तर है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार वह श्रमण जिसे पदार्थ और सूत्र सुविदित हैं, जो सयम और तप से युक्त है, जो वीतराग है और जिसको सुख-दुःख सम है वह शुद्ध उपयोग वाला होता है[1]। ऐसा श्रमण आस्रव-रहित होता है और पाप का तो हो ही कैसे उसके पुण्य का भी बंधन नहीं होता है[2]। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार चौदहवें गुण स्थान में श्रमण अयोगी केवली होता है और तभी पुण्य का सञ्चय रुकता है। उसके पहले सब श्रमणो को शुभ क्रियाओ से पुण्य का बंध होता है।

६—साता वेदनीय कर्म (ढाल गा० ५) :

गाथा २ (टिप्पणी ३) में बताया जा चुका है कि निम्न चार कर्म पुण्य रूप हैं

१—सातावेदनीय कर्म,

२—शुभ आयुष्य कर्म,

३—शुभ नाम कर्म, और

४—शुभ गोत्र कर्म।

दिगम्बराचार्य भी इन्ही चार को पुण्य कर्म कहते हैं[3]।

स्वामीजी ने गाथा ५-३१ में इन चार प्रकार के पुण्य कर्मो का विस्तार से विवेचन किया है।

प्रस्तुत गाथा में सातावेदनीय कर्म की परिभाषा देकर उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

"यदुदयात् सात सौख्यमनुभवति तत्सातवेदनीयम्[4]"—जिसके उदय से जीव सात—सौख्य का अनुभव करता है वह सातावेदनीय कर्म है।

१—प्रवचनसार १.१४ :

सुविदिदपयत्थसुत्तो सजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति॥

२—पञ्चास्तिकाय २.१४२ :

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुह असुह समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स॥

३—द्रव्यसग्रह ३८

साद सुहाय णाम गोद पुण्णं पराणि पाव च॥

४—अव० वृत्त्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरणम् (नवतत्त्वसाहित्यसग्रह) ८॥१७॥ की वृत्ति

५—पुण्य निरवद्य योग से होता है (ढाल गा० ४)

स्वामीजी ने इस गाथा में पुण्य कैसे होता है, इस पर संक्षिप्त प्रकाश डाला है। आत्म प्रदेशों में कर्म प्रवेश के निमित्त मुख्यतः पाँच हैं—मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। पहले चार हेतुओं से पाप कर्म का आगमन होता है। योग का अर्थ है—मन वचन और काया की प्रवृत्ति—क्रिया। योग दो तरह के होते हैं—(१) निरवद्य योग और (२) सावद्य योग। अवद्य पाप को कहते हैं। मन वचन काया की जो प्रवृत्ति पाप रहित होती है वह निरवद्य योग है। जो प्रवृत्ति पाप-सहित होती है उसे सावद्य योग कहते हैं। सावद्य योग से पाप-कर्मों का अर्जन होता है। निरवद्य योग पुण्य के हेतु हैं। उदाहरण स्वरूप सत्य बोलना निरवद्य योग है और मिथ्या बोलना सावद्य योग। पहले से पुण्य बंधता है और दूसरे से पाप-कर्म।

इस सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र (अ ६) के निम्न सूत्र स्मरण रखने जैसे हैं

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ।१।
स आस्रवः ।२।
शुभः पुण्यस्य ।३।
अशुभः पापस्य ।४।

आचार्य उमास्वाति ने अन्यत्र भी लिखा है

योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः[1]

दिगम्बराचार्य भी ऐसा ही मानते हैं[2]।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जीव के या तो शुभ उपयोग होता है अथवा अशुभ उपयोग। शुभ उपयोग से पुण्य का संचय होता है और स्वर्ग-सुख की प्राप्ति होती है। अशुभ उपयोग से पाप का संचय होता है और जीव को कुनर तिर्यंच नारक के रूप में संसार भ्रमण करना पड़ता है। श्रमण शुद्ध उपयोगयुक्त भी होता है। शुद्ध उपयोग-वाला श्रमण आस्रव रहित होता है और उसे मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है[3]।

१—उमास्वातीयं नवतत्त्वप्रकरणम् (नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह) : आस्रवतत्त्वम्

२—द्रव्यसंग्रह ३८ :

सुह असुह भावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा ।

३—प्रवचनसार : २।६४, १।११, १।१२, ३।४५

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि ।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥
धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥
असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो ।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं ॥
समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥

१— जिस कर्म के उदय से शुभ देव-भव का आयुष्य प्राप्त हो वह 'शुभ देवायुष्य कर्म' है।

२—जिस कर्म के उदय से शुभ मनुष्य-भव का आयुष्य प्राप्त हो वह 'शुभ मनुष्यायुष्य कर्म' है।

३—जिस कर्म के उदय से युगलतिर्यंच-भव का आयुष्य प्राप्त हो वह 'शुभ तिर्यंचायुष्य कर्म' है।

जो सर्व तिर्यंचायुष्य कर्म को शुभायुष्य की उत्तर प्रकृति मानते हैं उनके सामने प्रश्न आया कि हाथी, अश्व, शुक, पिक आदि तिर्यंचो का आयुष्य शुभ कैसे है जबकि वे प्रत्यक्ष क्षुधा, पिपासा, तर्जन, ताडन आदि के दुःखो को बहुलता से भोगते हुए देखे जाते हैं? इसके समाधान में दो भिन्न-भिन्न उत्तर प्राप्त हैं

(१) ये तिर्यंच प्राणी पूर्वकृत कर्मो का फल भोगते हैं, पर उनका आयुष्य अशुभ नही है क्योंकि दुःख अनुभव करते हुए भी वे हमेशा जीते रहने की ही इच्छा करते हैं कभी मरने की नही। नारक हमेशा सोचते रहते हैं—कब हम मरें और कब इन दुःखो से छुटकारा हो? इससे उनका आयुष्य अशुभ है पर तिर्यंच ऐसा नही सोचते। अतः उनका आयुष्य अशुभ नही है[१]।

(२) तिर्यंचो में युगलिक तिर्यंच भी आते हैं। उनका आयुष्य शुभ है। उनकी अपेक्षा से तिर्यंचायुष्य को शुभ कहा है[२]।

इस दूसरे स्पष्टीकरण के अनुसार सब तिर्यंचो का आयुष्य शुभ नही होना चाहिए।

ठाणाङ्ग में तिर्यंच योग्य कर्मबध के चार कारण कहे हैं (१) मायावीपन, (२) निकृतिभाव, (३) अलीक वचन और (४) मिथ्या तोल-माप[३]। ऐसे कारणो से तिर्यंच गति प्राप्त करने वाले तिर्यंच जीवो का आयुष्य शुभ कैसे होगा?

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं "अशुभ उपयोग से जीव कुनर आदि होकर सहस्र दुःखों से पीडित होता हुआ ससार-भ्रमण करता है[४]।" इससे स्पष्ट है कि वे मनुष्यो के

१—नवतत्त्वप्रकरण (सुमङ्गला टीका) पृष्ठ ५२ न तेषामायुरशुभमुच्यते, यतो दुःखमनुभवन्तोऽपि ते स्वायुषस्समाप्तिपर्यन्त जिजीविषवो न कदाचनाऽपि मृत्यु समीहन्ते नारकवत्

२—श्रीनवतत्त्वप्रकरणम् ६।१६ की वृत्ति (नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह) ननु तिर्यगायुष कथमुत्तमत्वम् उच्यते, तस्यापि युगलिकतिर्यगपेक्षया प्रधानत्व, पुण्यप्रकृतित्वात्।

३—ठाणाङ्ग ४ ४ ३७३

४—प्रवचनसार १.१२ (टिप्पणी ४ पा० टि० ३ में उद्धृत)

उत्तराध्ययन में कहा है 'सायस्स उ बहू भेया'[1]—सातावेदनीय कर्म के बहुत भेद होते हैं। सात—सौख्य—सुख अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे-जैसे सौख्य का अनुभव होता है वैसे-वैसे ही भेद सातावेदनीय कर्म के होते हैं।

साता (सुख) के छ प्रकार हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रिय साता (२) घ्राणेन्द्रिय साता (३) रसनेन्द्रिय साता (४) चक्षुरिन्द्रिय साता (५) स्पर्शनेन्द्रिय साता और (६) नोइन्द्रिय (मन) साता[2]। सातावेदनीय कर्म से इन सब साताओं (सुखों) की प्राप्ति होती है।

मनोज्ञ शब्द मनोज्ञ रूप मनोज्ञ रस मनोज्ञ गंध मनोज्ञ स्पर्श मनः शुभता और वचः समता—ये सब सातावेदनीय कर्म के अनुभाव हैं[3]।

७—शुभ आयुष्य कर्म और उसकी उत्तर प्रकृतियाँ (ढाल गा १-७) :

इन गाथाओं में पुण्यरूप शुभ आयुष्य कर्म की परिभाषा और उसकी उत्तर प्रकृतियों—भेदों का वर्णन है।

शुभ आयुष्य कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ तीन कही गयी हैं

(१) जिससे देवभव की आयुष्य प्राप्त हो वह देवायुष्य कर्म।

(२) जिससे मनुष्यभव की आयुष्य प्राप्त हो वह मनुष्यायुष्य कर्म और

(३) जिससे तिर्यञ्चभव की आयुष्य प्राप्त हो वह तिर्यञ्चायुष्य कर्म।

प्रायः आचार्यों ने सर्व देव सर्व मनुष्य और सर्व तिर्यञ्चों की आयुष्य के हेतु आयुष्य कर्म को शुभायुष्य कर्म के अन्तर्गत माना है[4]। स्वामीजी ने शुभ देव शुभ मनुष्य और युगलिक तिर्यञ्चों की आयुष्य के हेतु आयुष्य कर्मों को ही पुण्यरूप शुभ आयुष्य कर्म के भेदों में ग्रहण किया है। उनके विचार से सर्व देव शुभ नहीं होते न सब मनुष्य शुभ होते हैं और न सब तिर्यञ्च ही। शुभ देव शुभ मनुष्य और युगलिक तिर्यञ्च के भव-विषयक आयुष्य के हेतु कर्म ही शुभ आयुष्य कर्म के प्रकार भेद हैं। स्वामीजी के अनुसार—

१—उत्त० ३३।७ :

२—ठाणाङ्ग ६।३।४८८

३—ठाणाङ्ग ७।३।५८८ :

४—देखिए 'भगवत्तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' में संगृहीत गाथा सबस्थ

१—जिस कर्म के उदय से शुभ देव-भव का आयुष्य प्राप्त हो वह 'शुभ देवायुष्य कर्म' है।

२—जिस कर्म के उदय से शुभ मनुष्य-भव का आयुष्य प्राप्त हो वह 'शुभ मनुष्यायुष्य कर्म' है।

३—जिस कर्म के उदय से युगलतिर्यंच-भव का आयुष्य प्राप्त हो वह 'शुभ तिर्यंचायुष्य कर्म' है।

जो सर्व तिर्यंचायुष्य कर्म को शुभायुष्य की उत्तर प्रकृति मानते हैं उनके सामने प्रश्न आया कि हाथी, अश्व, शुक, पिक आदि तिर्यंचों का आयुष्य शुभ कैसे है जबकि वे प्रत्यक्ष क्षुधा, पिपासा, तर्जन, ताडन आदि के दु खो को बहुलता से भोगते हुए देखे जाते हैं ? इसके समाधान में दो भिन्न-भिन्न उत्तर प्राप्त हैं

(१) ये तिर्यंच प्राणी पूर्वकृत कर्मो का फल भोगते हैं, पर उनका आयुष्य अशुभ नही है क्योकि दु ख अनुभव करते हुए भी वे हमेशा जीते रहने की ही इच्छा करते हैं कभी मरने की नही। नारक हमेशा सोचते रहते हैं—कब हम मरें और कब इन दु खो से छुटकारा हो ? इससे उनका आयुष्य अशुभ है पर तिर्यंच ऐसा नही सोचते। अतः उनका आयुष्य अशुभ नही है[1]।

(२) तिर्यंचो में युगलिक तिर्यंच भी आते हैं। उनका आयुष्य शुभ है। उनकी अपेक्षा से तिर्यंचायुष्य को शुभ कहा है[2]।

इस दूसरे स्पष्टीकरण के अनुसार सब तिर्यंचो का आयुष्य शुभ नही होना चाहिए।

ठाणाङ्ग में तिर्यंच योग्य कर्मबध के चार कारण कहे हैं (१) मायावीपन, (२) निकृतिभाव, (३) अलीक वचन और (४) मिथ्या तोल-माप[3]। ऐसे कारणो से तिर्यंच गति प्राप्त करने वाले तिर्यंच जीवों का आयुष्य शुभ कैसे होगा ?

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं "अशुभ उपयोग से जीव कुनर आदि होकर सहस्र दु खो से पीडित होता हुआ ससार-भ्रमण करता है[4]।" इससे स्पष्ट है कि वे मनुष्यो के

१—नवतत्त्वप्रकरण (सुमङ्गला टीका) पृष्ठ ५३ न तेषामायुरशुभमुच्यते, यतो दु खमनुभवन्तोऽपि ते स्वायुषस्समाप्तिपर्यन्त जिजीविषवो न कदाचनाऽपि मृत्यु समीहन्ते नारकवत्

२—श्रीनवतत्त्वप्रकरणम् ६।१६ की वृत्ति (नवतत्त्वसाहित्यसग्रह) ननु तिर्यगायुष कथमुत्तमत्वम् उच्यते, तस्यापि युगलिकतिर्यगपेक्षया प्रधानत्व, पुण्यप्रकृतित्वात्।

३—ठाणाङ्ग ४ ४ ३७३

४—प्रवचनसार १.१२ (टिप्पणी ४ पा० टि० ३ में उद्धृत)

दो भेद करते रहे। एक कु-मनुष्य और दूसरे उत्तम मनुष्य। उनके अनुसार कु-मनुष्यों का आयुष्य अशुभ उपभोग का परिणाम ठहरता है और वह शुभ आयुष्य कर्म का भेद नहीं हो सकता।

आगम में कहा गया है चार कारणों से जीव किल्विषीदेव योग्य कर्म का बंध करता है—अरिहंत के अवर्णवाद से अरिहंत धर्म के अवर्णवाद से आचार्योपाध्याय के अवर्णवाद से और चतुर्विध संघ के अवर्णवाद से। ऐसे कारणों से प्राप्त होने वाला किल्विषीदेव गति का आयुष्य शुभ कैसे होगा?

जो कर्म शुभ योग से आते हैं और विपाकावस्था में सम फल देते हैं वे ही पुण्य कर्म हैं। कई मनुष्य कई देव और कई तिर्यंचों का आयुष्य सम हेतुओं का परिणाम नहीं होता। फल रूप में भी उनका आयुष्य अत्यन्त पापपूर्ण और कष्टप्रद होता है।

इस तरह सिद्ध होता है कि उत्तम देव, उत्तम मनुष्य और उत्तम तिर्यंचों के आयुष्य की प्राप्त कराने वाले आयुष्य कर्म ही शुभ हैं।

८—शुभ नामकर्म और उसकी उत्तर प्रकृतियाँ (ढाल गा० १-५५)

गाथा ८ में शुभ नामकर्म की परिभाषा दी गई है। बाद की ९ से २६ तक की गाथाओं में शुभ नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों के स्वरूप का उनके फल-कथन द्वारा अथवा उनकी परिभाषा देकर, विवेचन किया गया है।

नामकर्म की परिभाषा टिप्पणी १ (१) (च) (पृ १११) में दी जा चुकी है। जिस कर्म के उदय से जीव को अमुक गति, एकेन्द्रियादि अमुक जाति प्रभृति प्राप्त होते हैं उसे नामकर्म कहते हैं। जो उदयावस्था में जीव को शुभ गति, शुभ जाति आदि अनेक बातों का प्रापक कर्म है वह 'शुभ नामकर्म' कहलाता है (गा ८)।

शुभ नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ ३७ हैं। नीचे क्रमशः उनका विवेचन किया जाता है

(१) जिस नामकर्म से शुभ मनुष्य-गति—उच्च मनुष्य-भव की प्राप्ति होती है उसे 'शुभ मनुष्यगति नामकर्म' कहते हैं (गा ९)।

(२) जिस नामकर्म से शुभ मनुष्यानुपूर्वी मिलती है उसे 'शुभ मनुष्यानुपूर्वी नामकर्म' कहते हैं (गा ९)।

जीव जिस स्थान में मरण प्राप्त करता है वहाँ से उत्पत्ति स्थान समश्रेणी में न होने पर उसे वक्र गति करनी पड़ती है। जिस कर्म से जीव आकाश प्रदेश की

श्रेणी का अनुसरण करता हुआ जहाँ वह मनुष्य रूप से उत्पन्न होने वाला है उस उत्पत्ति क्षेत्र के अभिमुख गति कर सके उसे मनुष्यानुपूर्वी नामकर्म कहते हैं।

(३) जिस नामकर्म से शुभ देवगति प्राप्त होती है उसे 'शुभ देवगति नामकर्म' कहते हैं (गा० ६)।

स्वामीजी के कथनानुसार गति और आनुपूर्वी आयुष्य के अनुरूप होती है। शुभ आयुष्य के देव और मनुष्यो की गति और आनुपूर्वी भी शुभ होती है।

(४) जिस नामकर्म से शुभ देवानुपूर्वी प्राप्त होती है उसे 'शुभ देवानुपूर्वी नामकर्म' कहते हैं। जिस देव का आयुष्य शुद्ध होता है उसकी आनुपूर्वी भी शुद्ध होती है (गा० ६)।

जिस कर्म के उदय से वक्रगति से देवगति की ओर आते हुए जीव के आकाश प्रदेश की श्रेणी के अनुसार उत्पत्ति क्षेत्र के अभिमुख गति होती है उसे 'शुभ देवानुपूर्वी नामकर्म' कहते हैं।

(५) जिस नामकर्म से विशुद्ध पचेन्द्रिय जीवों की जाति—कोटि प्राप्त होती है उसे 'शुभ पचेन्द्रिय नामकर्म' कहते हैं (गा० ६)।

(६) जिस नामकर्म से जीव को निर्मल औदारिक शरीर मिलता है उसको 'शुभ औदारिक शरीर नामकर्म' कहते हैं (गा० १०)।

उदार अर्थात् स्थूल। स्थूल औदारिक वर्गणा के पुद्गलो से निर्मित शरीर अथवा मोक्ष प्राप्ति में साधन रूप होने से उदार—प्रधान शरीर औदारिक कहलाता है।

(७) जिस नामकर्म से निर्मल वैक्रिय शरीर मिलता है उसे 'शुभ वैक्रिय शरीर नामकर्म' कहते हैं (गा० १०)।

छोटे, बडे, मोटे, पतले आदि विविध प्रकार के रूप—विक्रियाओ को करने में समर्थ शरीर को वैक्रिय शरीर कहते हैं। यह वैक्रिय वर्गणाओ के पुद्गलो से रचित शरीर है। देवो का शरीर ऐसा ही होता है।

यह शरीर स्वाभाविक और लब्धिकृत दोनो प्रकार का होता है।

(८) जिस नामकर्म से निर्मल आहारक शरीर मिलता है उसे 'शुभ आहारक शरीर नामकर्म' कहते हैं (गा० १०)।

आहारक शरीर चौदह पूर्वधर लब्धिधारी मुनियो के होता है। सशय होने पर उसके निवारण के लिए अन्य क्षेत्र में स्थित तीर्थङ्कर अथवा केवलज्ञानी के पास जाने के लिए वह अपनी लब्धि द्वारा हस्तप्रमाण तेजस्वी शरीर धारण करता है। यह शरीर आहारक वर्गणा के पुद्गलो से रचित होता है। इसकी स्थिति [illegible]

(९) जिस नामकर्म से निमित्त तैजस शरीर की प्राप्ति होती है उसको 'शुभ तैजस शरीर नामकर्म' कहते हैं (गा० १०)।

पाचन क्रिया करनेवाला शरीर तैजस शरीर कहलाता है। यह तैजस वर्गणा के पुद्गलों से रचित होता है। तेजोलेश्या और शीतलेश्या का कारण तैजस शरीर ही होता है।

(१०) जिस नामकर्म से निर्मल कार्मण शरीर की प्राप्ति होती है उसको 'शुभ कार्मण शरीर नामकर्म' कहते हैं (गा १)।

कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्म प्रदेशों में प्रवेश कर कर्म रूप में परिणत होते हैं। इन कर्मों का समूह ही कार्मण शरीर है।

(११) जिस नामकर्म से औदारिक शरीर के अङ्गोपांग सुन्दर होते हैं उसको 'शुभ औदारिक अङ्गोपांग नामकर्म' कहते हैं (गा १)।

(१२) जिस नामकर्म से वैक्रियक शरीर के अङ्गोपांग सुन्दर होते हैं उसको 'शुभ वैक्रियक शरीर अङ्गोपांग नामकर्म' कहते हैं (गा १)।

(१३) जिस नामकर्म से आहारक शरीर के अङ्गोपांग सुन्दर होते हैं उसे 'शुभ आहारक अंगोपांग नामकर्म' कहते हैं (गा १)।

यह स्मरण रखना चाहिए कि अंगोपांग केवल औदारिक वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों के ही होते हैं, तैजस और कार्मण शरीर के नहीं। जिस तरह जल का स्वयं का आकार नहीं होता पर वह बरतन (पात्र) के अनुसार आकार ग्रहण करता है उसी तरह तैजस और कार्मण शरीर का आकार अन्य शरीरों के आकार की तरह होता है। इसलिए उनके अंगोपांग नहीं होते।

(१४) जिस कर्म के उदय से प्रथम संहनन—वज्रऋषभनाराच की प्राप्ति होती है उसे 'शुभ वज्रऋषभनाराच नामकर्म' कहते हैं (गा ११)।

अस्थियों के परस्पर गठन को संहनन कहते हैं। वज्र=कील। ऋषभ=पट। नाराच= मर्कटबन्ध। जहाँ अस्थियाँ मर्कट-बंध से बंधी हों उनपर अस्थि का पट हो बीच में अस्थि की कील हो—शरीर की अस्थियों का ऐसा बन्धन 'वज्रऋषभनाराच संहनन' कहलाता है। मोक्ष ऐसे संहननवाले व्यक्ति को ही मिलता है।

(१५) जिस नामकर्म के उदय से प्रथम संस्थान—समचतुरस्र की प्राप्ति होती है उसे शुभ समचतुरस्र संस्थान नामकर्म कहते हैं (गा ११)।

सम=समान। चतुर=चार। अस्त्रि=वाजू।

पर्यंकासन मे स्थित होने पर जिस पुरुष के वायें कधे और दाहिने घुटने, दाहिने कधे और वायें घुटने, दोनो घुटनो के वीच का अन्तर तथा ललाट और पर्यंक के वीच का अन्तर—ये चारो अन्तर समान हो उसे समचतुरस्रसस्थान कहते हैं।

(१६-१९) जिन नामकर्मों से शुभ वर्ण, शुभ गध, शुभ रस और शुभ स्पर्श मिलते हो अथवा जिन कर्मों से शरीर के वर्ण, गध, रस और स्पर्श शुभ होते हो[१], उन कर्मो को क्रमश 'शुभ वर्ण नामकर्म', 'शुभ गन्ध नामकर्म', 'शुभ रस नामकर्म' और 'शुभ स्पर्श नामकर्म' कहते हैं (गा० १२-१५)।

(२०) जिस नामकर्म के उदय से जीव में स्वतन्त्र रूप से चलने-फिरने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है उसे 'शुभ त्रस नामकर्म' कहते हैं। जिस जीव में धूप से छाया में और छाया से धूप मे आने आदि रूप शक्ति हो वह त्रस जीव है (गा० १७)।

(२१) जिस नामकर्म के उदय से जीव का शरीर नेत्रो से देखा जा सके ऐसा स्थूल हो, उसे 'शुभ वादर नामकर्म' कहते हैं (गा० १७)।

(२२) जिस नामकर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, उसे 'शुभ प्रत्येक शरीरी नामकर्म' कहते हैं (गा० १८)।

(२३) जिस नामकर्म के उदय से जीव स्वयोग पर्याप्तियाँ पूरी कर सके—शरीर, इन्द्रियादि की पूर्णताएँ प्राप्त कर सके, उसे 'शुभ पर्याप्त नामकर्म' कहते हैं[२] (गा० १८)।

(२४) जिस नामकर्म के उदय से शरीरके अवयव दाँत, अस्थि आदि मजबूत हों उसे 'शुभ स्थिर नामकर्म' कहते हैं (गा० २१)।

(२५) जिस नामकर्म से जीव के नाभि से मस्तक तक के भाग—अग शुभ हो उसे 'शुभ नामकर्म' कहते हैं (गा० १९)।

(२६) जिस नामकर्म से जीव सवका प्रिय होता है उसे 'शुभ सौभाग्य नामकर्म' कहते हैं (गा० २०)।

(२७) जिस नामकर्म के उदय से जीव को सुस्वर की प्राप्ति होती है, उसे 'शुभ सुस्वर नामकर्म' कहते हैं (गा० २०)।

१—श्री नवतत्त्वप्रकरणम् ६।१९ की वृत्ति 'वणणचउक' त्ति यदुदयाज्जीवस्य शुभो वर्ण शुभो गन्ध शुभो रस शुभ स्पर्श स्यादिति वर्णचतुष्कम्।

२—वही यदुदयादाहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासनि श्वासभाषामनोभि परिपूर्णता स्यात्

(२८) जिस नामकर्म के उदय से जीव का वचन आदेय—लोगों में मान्य हो उसे 'शुभ आदेय नामकर्म' कहते हैं (गा० २१)।

(२९) जिस नामकर्म के उदय से जीव को यश और कीर्ति की प्राप्ति होती है उसे 'शुभ यशःकीर्ति नामकर्म' कहते हैं[1] (गा० २१)।

(१०) जिस नामकर्म के उदय से सर्वजीवापेक्षा शरीर हलका अथवा भारी नहीं होता उसे 'शुभ अगुरुलघु नामकर्म' कहते हैं (गा० २२)।

(११) जिस नामकर्म के उदय से अपनी जीत और अन्य की हार होती है उसे 'शुभ पराघात नामकर्म' कहते हैं (गा० २२)।

(१२) जिस नामकर्म के उदय से जीव सुखपूर्वक श्वासोच्छ्वास ले सकता है उसे 'शुभ श्वासोच्छ्वास नामकर्म' कहते हैं (गा० २३)।

(१३) जिस नामकर्म के उदय से जीव स्वयं शीतल होते हुए भी उष्ण तापयुक्त होता है उसे 'शुभ आतप नामकर्म' कहते हैं[2] (गा० २३)।

(१४) जिस नामकर्म से जीव शीतल प्रकाशयुक्त होता है उसे 'शुभ उद्योत नामकर्म' कहते हैं (गा० २४)।

(१५) जिस नामकर्म से जीव को हंस आदि जैसी सुन्दर चाल—गति प्राप्त होती है उसे 'शुभ (विहायो) गति नामकर्म' कहते हैं (गा० २४)।

(१६) जिस नामकर्म से जीव का शरीर फोड़े फुन्सियों से रहित होता है उसे 'शुभ निर्माण नामकर्म' कहते हैं अथवा जिस कर्म से जीव के अवयव यथास्थान व्यवस्थित होते हैं वह 'शुभ निर्माण नामकर्म' है[3] (गा० २५)।

(१७) जिस नामकर्म के उदय से तीर्थङ्करत्व प्राप्त होता है उसे 'शुभ तीर्थङ्कर नामकर्म' कहते हैं (गा० २५)।

६—स्वामीजी का विशेष मन्तव्य (ढाल गा० २६-२९)

स्वामीजी के मत से कुछ तिर्यञ्चों की गति और आनुपूर्वी शुभ है और इसलिए पुण्य की प्रकृति मानी जानी चाहिए। उदाहरणस्वरूप युगलिया आदि तिर्यञ्चों की। इसी तरह प्रथम संहनन और प्रथम संस्थान के सदृश अस्थियाँ और आकार विशेष जिस संहनन और

१—'शुभ त्रस नामकर्म' से लेकर 'शुभ यशःकीर्ति नामकर्म' तक (१०-२९) त्रसदशक कहलाता है।

२—श्री नवतत्त्वप्रकरणम् ११९६ की वृत्ति : अनुष्णप्रकाशविशिष्ट तापवच्छरीरं भवति तत्सूर्यबिम्बस्यातपनामकर्म।

३—वही : [illegible]

सस्थान में हो उन्हें भी पुण्योत्पन्न मानना चाहिए। क्योकि पुण्योदय के विना वैसी अस्थियो और आकारो का होना सम्भव नही मालूम देता। स्वामीजी कहते हैं—"मैंने जो कहा है वह अपनी वुद्धि से विचार कर कहा है। अन्तिम प्रमाण तो केवलज्ञानी के वचनो को ही मानना चाहिए।"

१०—उच्च गोत्र कर्म (ढाल गा० ३०-३१)

जिस कर्म के उदय से उच्चकुल आदि की प्राप्ति होती है उसे 'उच्च गोत्र कर्म' कहा गया है। उच्च देव और उच्च मनुष्य उच्च गोत्र कर्मवाले होते हैं।

उच्च गोत्र कर्म से कई प्रकार की विशेषतायें प्राप्त होती हैं—जाति-विशिष्टता, कुल-विशिष्टता, वल-विशिष्टता, रूप-विशिष्टता, तपोविशिष्टता, श्रुत-विशिष्टता, लाभ-विशिष्टता और ऐश्वर्य-विशिष्टता। इस कर्म के उदय से मनुष्य को जाति, कुल, वल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य विषयक सम्मान व प्रतिष्ठा मिलती है।

ढाल गाथा ३१ के साथ चार शुभ कर्मों का विवेचन समाप्त होता है।

तत्त्वार्थसूत्र में साता वेदनीयकर्म, शुभ आयुष्यकर्म, शुभ नामकर्म, उच्च गोत्रकर्म के उपरांत सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, रति, पुरुष वेद इन प्रकृतियो को भी पुण्यरूप कहा गया है

"सद्वे द्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्" (८ २६)

दिगम्वरीय परम्परा में इस सूत्र के स्थान में दो सूत्र हैं—"सद्वे द्यशुभायु नामगोत्राणि पुण्यम्" (२५) और "अतोऽन्यत् पापम् (२६)"। इनसे स्पष्ट है कि यह परम्परा सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, रति और पुरुषवेद को पुण्य प्रकृति स्वीकार नही करती।

इस विषय में प्रज्ञाचक्षु पण्डित सुखलालजी लिखते हैं "श्वेताम्वरीय परम्परा के प्रस्तुत सूत्र में पुण्यरूप से निर्देशित सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद ये चार प्रकृतियाँ दूसरे ग्रन्थो में वर्णित नहीं हैं। इन चार प्रकृतियो को पुण्य स्वरूप मानने वाला मत-विशेष वहु प्राचीन हो ऐसा लगता है, कारण कि प्रस्तुत सूत्र में प्राप्त उसके उल्लेख के उपरान्त भाष्य वृत्तिकार ने भी मतभेद दर्शानेवाली कारिकाएँ दी हैं और लिखा है कि इस मतव्य का रहस्य सम्प्रदाय का विच्छेद होने से हम नही जानते, चौदह पूर्वधर जानते होंगे[1]।"

१—तत्त्वार्थसूत्र (गु० वृ० आ०) सू० ८. २६ की पाद टिप्पणी पृ० ३४२।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पुण्य कर्म की सर्वमान्य प्रकृतियाँ ४२ हैं :

१—सातावेदनीय कर्म की	१	(गा० ३)
२—शुभ आयुष्य कर्म की	३	(गा ७)
३—शुभ नामकर्म की	३७	(गा १-२१)
४—उच्च गोत्रकर्म की	१	(गा० १०)
	कुल ४२	

इन ४२ प्रकृतियों का उल्लेख संक्षेप में इस प्रकार मिलता है :

सा उच्चगोअ-मणुदुग सुरदुग पंचिंदिजाइ पणदेहा।
आइतितणूणुवंगा आइमसंघयण-संठाणा ॥
वन्नचउक्का गुरुलहु परघा ऊसास आयवुज्जोअं।
सुभखगइ निमिण-तसदस सुरनरतिरिआउ तित्थयरं ॥
तस-बायर-पज्जत्तं पत्तेयं थिरं सुभं च सुभगं च।
सुस्सर आइज्ज जसं तसाइदसगं इमं होइ[1] ॥

११—कर्मों के नाम गुणनिष्पन्न हैं (गा ३२ ३४)

कर्म का नाम उसकी प्रकृति—गुण के अनुरूप होता है। उदाहरण स्वरूप जो साता (सुख) उत्पन्न करता है वह सातावेदनीय कर्म कहलाता है। जिसके जैसा कर्म उदय में होता है वैसा ही उसको फल मिलता है। जैसे जिसके सातावेदनीय कर्म का उदय है उसे सुख की प्राप्ति होती है। जिस मनुष्य के जिस कर्म के उदय से जैसा गुण उत्पन्न होता है उसीके अनुसार उसकी संज्ञा होती है। जैसे सातावेदनीय कर्म के उदय से जिस जीव को सुख होता है वह सुखी कहलाता है। यही बात सब कर्मों के विषय में समझनी चाहिए।

कर्म पुद्गल की पर्याय है। पुद्गलों के—कर्मों के—जो सातावेदनीय आदि भिन्न भिन्न नाम हैं वे जीव के साथ पुद्गलों के सम्बन्ध से घटित हैं।

जीव गुणकर धार्मिक वचन बोलता तीर्थङ्कर आदि कहलाता है इसका कारण यह है कि वह पुद्गलों के द्वारा उत्पन्न बना है।

१—नवतत्त्व प्रकरण (विवेचन सहित) ११ १० १२

पुद्गल के जो शुभ नाम है जैसे 'तीर्थङ्कर नाम कर्म', 'उच्चगोत्र नामकर्म' वे इस-कारण से हैं कि इन पुद्गलो ने जीव को शुद्ध—स्वच्छ किया है।

जिन पुद्गलो के सयोग से जीव सुखी, तीर्थङ्कर आदि कहलाता है वे कर्म भी उत्तम सज्ञा से घोषित किये जाते हैं—उन्हें पुण्य कहा जाता है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि पुद्गल जीव से पर वस्तु है, पुद्गल-सबद्ध होने से ही जीव को ससार-भ्रमण करना पडता है फिर पुद्गल से जीव के शुद्ध होने की बात किस तरह घटती है ? इसका उत्तर इस प्रकार है जिस तरह तालाब मे गन्दा जल रहने से वह गदा कहलाता है और स्वच्छ जल रहने से स्वच्छ। उसी तरह पाप कर्मो से जीव मलिन कहलाता है और पुण्य कर्मो से शुद्ध। जिस तरह स्वच्छ या अस्वच्छ जल के सूखने पर ही तालाब रिक्त होता है और भूमि प्रगट होती है वैसे ही शुद्ध-अशुद्ध दोनो प्रकार के कर्म पुद्गलो के क्षय होने से ही जीव शुद्ध-स्वभाव अवस्था में प्रगट होता है। इस तरह पुण्य कर्मो से जीव के शुद्ध होने की बात पापकर्मो के परिशाटन की अपेक्षा से है।

पुण्य का अर्थ है—जो आत्मा को पवित्र करे[1]। अशुभ—पाप कर्मो से मलिन हुई आत्मा क्रमश शुभ कर्मो का—पुण्य कर्मो का अर्जन करती हुई पवित्र होती है गन्दी नहीं रहती, स्वच्छ होती है। जैसे कुपथ्य आहार से रोग बढता है, पथ्य आहार से रोग घटता है और पथ्य-अपथ्य दोनो प्रकार के आहार का त्याग करने से जीव शरीर से रहित होता है वैसे ही पाप से दुःख होता है, पुण्य से सुख होता है, और पुण्य-पाप दोनो से रहित होने से मोक्ष होता है।

१२—पुण्य कर्म के फल (गा० ३५-४५) :

किस प्रकृति के पुण्य कर्म से किस बात की प्राप्ति होती है, इसका विवेचन (गा० ४ से ३१ में) कर चुकने के बाद प्रस्तुत गाथाओ में स्वामीजी ने पुण्योदय से प्राप्त होने वाले सुखो का सामान्य वर्णन किया है। उपसहारात्मक रूप से स्वामीजी कहते हैं "पुण्योदय से ही जीवो को (१) उच्च पदवियाँ, (२) सयोगिक सुख, (३) शारीरिक स्वस्थता, (४) बल और वैभव, (५) सुख-सपदा और समृद्धि, (६) सर्व प्रकार के परिग्रह; (७) सुशील, सुन्दर और विनयी स्त्री और सतान तथा पारिवारिक सुख और (८) सुन्दर

१—पुन्य नाम पुनाति आत्मान पवित्रीकरोतीति पुन्यम्

व्यक्तित्व (रूप की सुन्दरता वर्ण आदि की अच्छता मधुर प्रिय बोली आदि) प्राप्त होते हैं।"

स्वामीजी पुनः कहते हैं 'इतना ही नहीं देवगति और पल्योपम सागरोपम के दिव्य सुख भी पुण्य के ही फल हैं।"

पुण्योदय से प्राप्त सांसारिक सुखों की यह परिगणना उदाहरण स्वरूप है। जो भी सांसारिक सुख हैं वे पुण्य के फल हैं। सुन्दर शरीर रूप से सुन्दर इन्द्रिय रूप से सुन्दर वर्णादि रूप से सुन्दर उपयोग—परिभोग पदार्थों के रूप में और इसी तरह अन्य अनेक रूप से पुद्गलों का शुभ परिणमन पुण्योदय के कारण ही होता है। पुण्योदय से शुभ रूप में परिणमन कर पुद्गल जीव को संसार में नाना प्रकार के सुख देते हैं, जिनकी गिनती सम्भव नहीं।

स्वामीजी का उपर्युक्त कथन उत्तराध्ययन के अध्ययन ३ से समर्थित है। वहाँ कहा गया है -

उत्कृष्ट शील के पालन से जीव उत्तरोत्तर विमान वासी देव होते हैं, सूर्य-चन्द्र की तरह प्रकाशमान होते हुये वे मानते हैं कि हमारा यहाँ से च्यवन नहीं होगा। देव संबंधी सुख प्राप्त हुये और इच्छानुसार रूप बनाने की शक्तिवाले देव सैकड़ों पूर्व वर्षों तक विमानों में रहते हैं। वे देव अपने स्थान का आयु क्षय होने पर वहाँ से च्यवकर मनुष्य योनि प्राप्त करते हैं, वहाँ उन्हें दस अंगों की प्राप्ति होती है। क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, पशु और दास-दासी—ये चार काम स्कन्ध प्राप्त होते हैं। वह मित्र ज्ञाति और उच्च गोत्रवाला होता है। वह सुन्दर, निरोग महाबुद्धिशाली सर्वप्रिय यशस्वी और बलवान होता है[१]।"

इसी सूत्र में अन्यत्र कहा है[२]

"गृहस्थ हो या साधु सुव्रतों का पालन करनेवाला देवलोक में जाता है। व्रतशाली सुव्रती औदारिक शरीर को छोड़कर देवलोक में जाता है। जो संवृत भिक्षु होता है वह या तो सिद्ध होता है या महाऋद्धिशाली देव। वहाँ देवों के आवास उत्तरोत्तर ऊपर रहे हुये हैं। वे आवास स्वल्प मोहवाले द्युतिमान देवों से युक्त हैं। वे देव दीर्घ आयुवाले ऋद्धिमत तेजस्वी, इच्छानुसार रूप बनानेवाले नवीन वर्ण के समान और अनेक सूर्यों

१—उत्त० ३ १४ १८

२—उत्त० ५ २१ २४-२८

की दीप्तिवाले होवे हैं। गृहस्थ हो या भिक्षु जिन्होने कषायो को शान्त कर दिया है, वे सयम और तप का पालन कर देवलोक में जाते हैं।"

१३—पौद्गलिक सुखों का वास्तविक स्वरूप (गा० ४६-५१) :

पुण्य से प्राप्त सुखो का वर्णन कर स्वामीजी प्रस्तुत गाथाओ मे सार रूप से कहते हैं—"इन सुखो को जो सुख कहा गया है वह ससारापेक्षा से। इस ससार में जो नाना प्रकार के दु ख हैं उनकी अपेक्षा से ये सुख हैं। यदि उनकी तुलना मोक्ष-सुखो—आत्मिक सुखो से की जाय तो ये सुखाभास रूप ही प्रतीत होगे।" यही बात स्वामीजी ने प्रारम्भिक दोहो में कही है। इस पर टिप्पणी १(३),(४) मे कुछ प्रकाश डाला जा चुका है।

पौद्गलिक सुख और मोक्ष-सुख का पार्थक्य इस प्रकार है :

(१) पौद्गलिक सुख सापेक्ष होते हैं। एक अवस्था मे अच्छे लगते है दूसरी मे वैसे नहीं भी लगते। जैसे जो भोजन निरोगावस्था मे स्वादिष्ट लगता है वही रोगावस्था मे रुचिकर नही होता। मुक्त आत्मा के सुख निरतर सुख रूप होते हैं।

(२) पौद्गलिक सुख स्थायी नही होते, प्राप्त होकर चले भी जाते हैं। मुक्ति के सुख स्थायी हैं, एक वार प्राप्त होने पर त्रिकाल स्थिर रहते हैं।

(३) पौद्गलिक सुख विभाव अवस्था—रुग्णावस्था के सुख हैं, मोक्ष-सुख शुद्ध आत्मा का सहज स्वाभाविक आनन्द है।

जिस तरह पाण्डु रोग वाले व्यक्ति को सभी वस्तुयें पीली ही पीली नजर आती हैं हालांकि वे वैसी नही होतीं वैसे ही इन्द्रियो के विषयो से सम्वन्धित पौद्गलिक सुख मोह-ग्रस्त मनुष्य को सुख रूप लगते हैं हालांकि वे वास्तव में वैसे नही होते। विषय सुखो में मधुरता और आनन्द का अनुभव जीव की विकारग्रस्त अवस्था का सूचक है जवकि मोक्ष-सुख आत्मा की स्वाभाविक स्थिति का परिणाम है।

स्वामीजी ने इसे एक मौलिक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है। पाँव-रोगी को खुजलाना सुखप्रद होता है। जैसे खुजलाना पाँव-रोग के कारण सुख रूप मालूम देता है वैसे ही वैषयिक—पौद्गलिक सुख कभी सुखप्रद नही होते पर मोहग्रस्त आत्मा को मधुर लगते हैं।

(४) पौद्गलिक सुख जीव के साथ पुण्य रूपी पुद्गल के सयोग के कारण उत्पन्न होते हैं—वे पुण्योदय से होते हैं पर आत्मिक सुख जीव के साथ परवस्तु के सयोग से उत्पन्न

नहीं होते । आत्मा के प्रदेशों से परवस्तु के एकान्त क्षय होने पर अपने आप वस्तु धर्म के रूप में प्रकट होते हैं अतः स्वाभाविक हैं।

(५) सांसारिक सुखों का आधार पौद्गलिक वस्तुएं होती हैं। इन सुखों के अनुभव के लिये पुद्गलों के भोग की आवश्यकता रहती है। मोक्ष सुख में ऐसी बात नहीं है। उसमें बाह्याधार की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरण स्वरूप पौद्गलिक सुख वर्ण गंध, रस स्पर्श और शब्द संबंधी भोग उपभोग से सम्बन्ध रखते हैं जबकि मोक्ष सुख के लिये इन भोगोपभोग वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। वे आत्मधाम में सहज रमवस्त हैं। इस तरह एक सापेक्ष है और दूसरा निरपेक्ष।

(६) पौद्गलिक सुख नाशवान है। 'कुसग्गमित्ता इमे कामा' (उत्त ७ २४)—काम भोग कुशाग्र पर स्थित जलबिन्दु के समान अस्थिर हैं। इष्ट वस्तुओं का क्षण-क्षण वियोग देखा जाता है। यह वियोग स्वयं दुःख रूप है। शरीर और इन्द्रियों के स्वयं नाशवान होने से उनसे प्राप्त सुख भी नाशवान हैं। आत्मिक सुख इन्द्रिय जन्य नहीं होते और इसलिये शाश्वत हैं। आत्मा अमूर्त है। वह नित्य पदार्थ है। आत्मिक सुख उसका निजी गुण है। आत्मा की तरह उसका सुख भी अमर है। आत्मिक सुख अर्थात् शुद्धात्मा का सुख। यह आत्मा के आवरण के क्षय होने से प्रकट होता है, अतः यह सुख आत्मा की तरह ही अक्षय अव्यय अव्याबाध और अनन्त है।

(७) पौद्गलिक सुख भोगते समय अच्छे लगते हैं परन्तु फलावस्था में दुःखदायी होते हैं। जैसे किंपाक फल वर्ण गंध रस और स्पर्श में सुन्दर और खाने में स्वादिष्ट होता है पर पचने पर प्राणों को ही हरण कर लेता है, वैसे ही पौद्गलिक सुख भोगते समय सुख प्रद लगते हैं पर विपाक अवस्था में दारुण दुःख देते हैं[1]। उनके सुख क्षणिक हैं और दुःख की परम्परा अनन्त है। मोक्ष सुख जैसे आरम्भ में होते हैं वैसे ही अन्त में होते हैं। वे हमेशा सुख रूप होते हैं।

१—उत्त १ २

जहा य किंपागफला मणोरमा रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
तं खुड्डए जीविय पच्चमाणा एओवमा कामगुणा विवागे॥

—उत्त १४ १३

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण उ कामभोगा॥

सक्षेप मे "इन्द्रियो से लब्ध सुख दु ख रूप ही हैं क्योकि वे पराधीन हैं, बाधा सहित हैं, विच्छिन्न है, विषम है और बधन के कारण है। वे आत्म-समुत्थ —विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अव्युच्छिन्न नही होते[1] ।"

इस तरह स्वयसिद्ध है कि पौद्गलिक सुख वास्तविक सुख रूप नही केवल सुखाभास है।

१४—पुण्य की वाञ्छा से पाप का बंध होता है (गा० ५२-५३) :

स्वामीजी ने इस ढाल के चौथे दोहे मे कहा है 'पुन पदारथ शुभ कर्म छै, तिणरी मूल न करणी चाय।' पुण्य की इच्छा क्यो नही करनी चाहिए—इसी बात को यहाँ विशेष रूप से स्पष्ट किया है।

पुण्य की कामना का अर्थ क्या है ? उसका अर्थ है कामभोगो की इच्छा करना, विषय-सुखो को भोगने की इच्छा करना। जो कामभोग—विषय-सुखो को पाने या भोगने की इच्छा करता है उसके एकान्त पाप का बंधन होता है, यह सहज ही बोध-गम्य है। इससे ससार मे बार-बार जन्म-मरण करना पडता है। भव-भ्रमण की परम्परा बढती है। ससार की वृद्धि होती है। नरक-निगोद के दुःख भोगने पडते हैं। विषय-सुख की कामना से उलटा वियोग-जनित दु ख होता है।

उत्तराध्ययन में कहा है 'भोगा विसफलोवमा ?' भोग विषफल की तरह है। 'पच्छा कढुयविवागा' वे भोग के समय मधुर लगते हैं पर विपाकावस्था में उनका फल कटुक होता है। 'अणुबधदुहावहा[2]' भोग परपरा दु ख के कारण है। उसी सूत्र मे कहा है—'जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई[3] ।'—जो कामभोग में गृद्ध होता है वह अकेला नरक में जाता है।

स्वामीजी ने जो कहा है उसका आधार ऐसे ही आगम वाक्य है।

१५—पुण्य-बध के हेतु (गा० ५४-५६) :

इन गाथाओ में स्वामीजी ने निम्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये है

(१) पुण्य की कामना से पुण्य उत्पन्न नही होता। वह धर्म-करनी का सहज फल है।

१—(क) प्रवचनसार १ ७६

(ख) वही १.१२

२—उत्त० १९ ११

३—उत्त० ५.५

(२) निरवद्य योग, भली लेश्या, भले परिणाम से निर्जरा होती है, पुण्य आनुषंगिक रूप से सहज ही लगते हैं।

(३) निर्जरा की करनी से ही पुण्य लगते हैं[१]। पुण्य प्राप्त करने की अन्य क्रिया नहीं है।

स्वामी कार्त्तिकेय लिखते हैं "क्षमा, मार्दव आदि दस प्रकार के धर्म पापकर्म का नाश करनेवाले और पुण्य कर्म को उत्पन्न करनेवाले कहे गये हैं परन्तु पुण्य के प्रयोजन इच्छा से इन्हें नहीं करना चाहिए। जो पुण्य को भी चाहता है वह पुरुष संसार ही को चाहता है क्योंकि पुण्य सुगति के बंध का कारण है और मोक्ष पुण्य के भी क्षय से होता है। जो कषाय सहित होता हुआ विषय सुख की तृष्णा से पुण्य की अभिलाषा करता है उसके विशुद्धता दूर है। पुण्य विशुद्धिमूलक है—विशुद्धि से ही उत्पन्न होते हैं। क्योंकि पुण्य की वांछा से तो पुण्य बंध होता नहीं और वांछारहित पुरुष के पुण्य का बंध होता है ऐसा जानकर यतीश्वरो! पुण्य में आदर (वांछा) मत करो।"

स्वामीजी के मन्तव्य और स्वामी कार्त्तिकेय के मन्तव्य में केवल वस्तु-विषयक समानता ही नहीं शब्दों की भी आश्चर्यजनक समानता है।

श्लोक ४-८[२] का भावार्थ देते हुए पं० महेन्द्रकुमारजी जैन लिखते हैं

"सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, शुभगोत्र तो पुण्यकर्म कहे गये हैं। चार घातिया कर्म, असाता वेदनीय, अशुभ नाम, अशुभ आयु और अशुभ गोत्र ये पापकर्म कहे गये हैं। दस लक्षण धर्म (क्षमा, मार्दव आदि) को पाप का नाश करनेवाला और पुण्य को उत्पन्न करनेवाला कहा है सो केवल पुण्योपार्जन का अभिप्राय रख कर। इनका सेवन उचित नहीं क्योंकि पुण्य भी बंध ही है। ये धर्म तो पाप जो घातिया कर्म हैं उनका

१—द्वादशानुप्रेक्षा : ४०८-४११

> एदे दहप्पयारा पावकम्मस्स णासिया भणिया।
> पुण्णस्स य संजणया पर पुण्णत्थं ण कायव्वा॥
> पुण्णं पि जो समिच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि।
> पुण्णं सुगइ हेदुं पुण्णखएणेव णिव्वाणं॥
> जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए।
> दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि॥
> पुण्णासए ण पुण्णं जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती।
> इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म आयरं कुणह॥

२—पा० टि० १ का प्रथम श्लोक

नाश करनेवाले हैं और अघातियों में अशुभ प्रकृतियो का नाश करते हैं। पुण्यकर्म ससार के अभ्युदय को देते हैं इसलिए इनसे (दस धर्म से) पुण्य का भी व्यवहार अपेक्षा बध होता है सो स्वयमेव होता ही है, उसकी वांछा करना तो ससार की वांछा करना है और ऐसा करना तो निदान हुआ, मोक्षार्थी के यह होता नही है। जैसे किसान खेती अनाज के लिए करता है उसके घास स्वयमेव होती है उसकी वांछा क्यो करे ? वैसे ही मोक्षार्थी को पुण्य बध की वांछा करना योग्य नहीं[1] [2]"

यह स्वामीजी के उद्‌गारो पर सहज सुन्दर टीका है।

मन, वचन, काया की निष्पाप-प्रवृत्ति को शुभ योग या निरवद्य योग कहते हैं।

आत्मा की एक प्रकार की वृत्ति विशेष को लेश्या कहते हैं। लेश्याएँ छ हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल। प्रथम तीन लेश्याएँ अधर्म लेश्याएँ कहलाती हैं और अन्तिम तीन धर्म लेश्याएँ। अधर्म लेश्याएँ दुर्गति की कारण हैं और धर्म लेश्याएँ सुगति की।

साश्रव, अगुप्त, अविरत, तीव्र आरम्भ में परिणत आदि योगों से समायुक्त मनुष्य कृष्ण लेश्या के परिणामवाला, ईर्ष्यालु, विषयी, रसलोलुप, प्रमत्त, आरम्भी आदि योगों से समायुक्त मनुष्य नील लेश्या के परिणामवाला, और वक्र, कपटी, मिथ्यादृष्टि, आदि योगो से समायुक्त मनुष्य कापोत लेश्या के परिणामवाला होता है।

नम्र, अचपल, दान्त, प्रियधर्मी, दृढधर्मी, पापभीरू, आत्महितैषी आदि योगो से समायुक्त पुरुष तेजो, प्रशांतचित्त, दान्तात्मा, जितेन्द्रिय आदि योगो से समायुक्त पुरुष पद्म, और आर्त्त तथा रौद्रध्यान को त्याग धर्म और शुक्लध्यान को ध्यानेवाला आदि योगों से समायुक्त व्यक्ति शुक्ल लेश्या में परिणमन करनेवाला होता है।

परिणाम दो तरह के होते हैं—शुभ अथवा अशुभ। परिणाम अर्थात् आत्मा के अध्यवसाय।

स्वामीजी कहते हैं निरवद्य योग, धर्म लेश्या और शुभ परिणामो से कर्मों की निर्जरा होती है, सचित पाप-कर्म आत्म प्रदेशो से दूर होते हैं। ऐसे समय पुण्य स्वयमेव आत्म-प्रदेशो में गमन करते हैं। पुण्य कर्मों के लिए स्वतन्त्र क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। शुभ योग से जब निर्जरा होती है तो आत्मप्रदेशो के कम्पन से आनुषगिक रूप से पुण्य कर्मों का बध होता है।

१—द्वादशानुप्रेक्षा पृ० २८३-४

पुण्य की कामना का अर्थ है—कामभोगों की कामना। कामभोगों की कामना करना—अविरति है, आर्त्तध्यान है, अनुपशान्तता भाव है, आत्मभाव को छोड़ परभाव में रमण है। वह न निरवद्य योग है, न शुभ लेश्या है और न शुभ परिणाम। किन्तु सावद्य योग अशुभ लेश्या और अशुभ परिणाम है। इससे पुण्य नहीं होता पाप का बंध होता है।

१६—पुण्य काम्य क्यों नहीं (गा० ५७—५८)

इन गाथाओं में स्वामीजी ने दो बातें कही हैं

(१) पुण्य चतुःस्पर्शी कर्म है। उसकी वाञ्छा करनेवाला कर्म और धर्म का अन्तर नहीं जानता।

(२) पुण्य प्राप्त करने की कामना से जो निर्जरा की क्रिया करता है वह करनी को खोता है और इस मनुष्य भव को हारता है।

जो आत्मा को कर्मों से रिक्त करे वह धर्म है[1]। संयम और तप धर्म के ये दो भेद हैं[2]। संयम से नये कर्मों का आस्रव रुकता है, तप से संचित कर्मों का परिशाटन होकर आत्मा परिशुद्ध होती है[3]। धार्मिक पुरुष संयम और तप के द्वारा कर्मक्षय में प्रयत्नशील होता है[4]। जो पुण्य की कामना करता है वह उल्टा कर्मार्थी है। क्योंकि पुण्य और कुछ नहीं चतुःस्पर्शी कर्म है[5]। जो पुण्य की कामना करता है वह संसार की

१—उत्त० २८.३३ :

एयं चयरित्तकरं चारित्तं होइ आहियं ॥

२—उत्त० १९.७७ :

एवं धम्मं चरिस्सामि संजमेण तवेण य ॥

३—उत्त० २९ प्र० २६, २७

संजमेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ।

तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? तवेणं वोदाणं जणयइ ॥

४—उत्त० ३३.२५ :

तम्हा एएसि कम्माणं अणुभागा वियाणिया।

एएसिं संवरे चेव खवणे य जए बुहो ॥

५—पुण्य किस तरह पुद्गल की पर्याय है यह पहले (टिप्पणी २ पृ० १५४) बताया जा चुका है। कर्कश मृदु गुरु लघु शीत उष्ण स्निग्ध और रूक्ष ये आठ स्पर्श हैं। ये आठों स्पर्श पुद्गल में एक साथ नहीं रहते। कर्कश मृदु में से कोई एक, गुरु लघु में से कोई एक, शीत उष्ण में से कोई एक, स्निग्ध रूक्ष में से कोई एक, इस तरह चार स्पर्श उत्कृष्ट में एक साथ रह सकते हैं। परमाणु में स्निग्ध रूक्ष शीत उष्ण इन चार स्पर्शों में से कोई दो अविरोधी स्पर्श होते हैं। कर्म-स्कंध में चार अविरुद्ध स्पर्श होते हैं

ही कामना करता है क्योकि ससार-भ्रमण केवल पाप से ही नही होता पुण्य से भी होता है तथा मोक्ष भी पुण्य और पाप दोनो के क्षय से प्राप्त होता है[1]।

इस तरह स्पष्ट है कि पुण्यार्थी धर्म और कर्म के मर्म को नही जानता। जो रहस्य-भेदी आत्मार्थी है वह धर्म की कामना करेगा, कर्म की नही।

"जो पौद्गलिक कामभोगो की वांछा करता है वह मनुष्य-भव को हारता है"—स्वामीजी के इस कथन के पीछे उत्तराध्ययन के समूचे सातवें अध्ययन की भावना है। वहाँ कहा गया है "जिस प्रकार खिला-पिला कर पुष्ट किया गया चर्वीयुक्त, बड़े पेट और स्थूल देहवाला एलक पाहुन के लिए निश्चित होता है उसी प्रकार अधर्मिष्ट निश्चित रूप से नरक के लिए होता है। जिस प्रकार कोई मनुष्य एक काकिणी के लिए हजार मुद्राएँ खो देता है, और कोई राजा अपथ्य आम खाकर राज्य को खो देता है उसी प्रकार देवो के कामभोगो से मनुष्यो के कामभोग तुच्छ हैं, देवो के कामभोग और आयु मनुष्यो से हजारों गुण अधिक हैं। प्रज्ञावान की देवगति में अनेक नयुत वर्ष की स्थिति होती है, उस स्थिति को दुर्बुद्धि मनुष्य सौ वर्ष की छोटी आयु में हार जाता है। जिस प्रकार तीन व्यापारी मूल पूजी लेकर गये। उनमें एक ने लाभ प्राप्त किया। दूसरा मूल पूजी लेकर वापस आया। तीसरा मूलधन खोकर लौटा। मनुष्य-भव मूल पूजी के समान है, देवगति लाभ के समान है। नरक और तिर्यञ्च गति मूल पूजी को खोने के समान है। विषय-सुखो का लोलुपी मूर्ख जीव देवत्व और मनुष्यत्व को हार जाता है। वह हारा हुआ जीव सदा नरक और तिर्यञ्च गति में बहुत लम्बे काल तक दुःख पाता है जहाँ से निकलना दुर्लभ होता है[2]।"

१७—त्याग से निर्जरा—भोग से कर्म-बन्ध (गा० ५६)

स्थानाङ्ग में कहा है "शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श ये पाँच कामगुण हैं। जीव इन पाँच स्थानों में आसक्त होते हैं, रक्त होते हैं, मूर्च्छित होते हैं, गृद्ध होते हैं, लीन होते हैं और नाश को प्राप्त करते हैं।

१—उत्त० २१ २४

दुविह खवेऊण य पुण्णपावं, निरगणे सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्द व महाभवोघ, समुद्दपाले अपुणागमं गए॥

२—उत्त० ७. २,४,११-१६

पुण्य की कामना का अर्थ है—कामभोगों की कामना। कामभोगों की कामना करना—अविरति है, आत्मघात है, अनुपशान्तता भाव है, आत्मभाव को छोड़ परभाव में रमण है। वह न निरवद्य योग है, न शुभ लेश्या है और न शुभ परिणाम। किन्तु सावद्य योग अशुभ लेश्या और अशुभ परिणाम है। इससे पुण्य नहीं होता, पाप का बंध होता है।

१६—पुण्य काम्य क्यों नहीं (गा० ५७-५८)

इन गाथाओं में स्वामीजी ने दो बातें कही हैं

(१) पुण्य चतुःस्पर्शी कर्म है। उसकी वाञ्छा करनेवाला कर्म और धर्म का अन्तर नहीं जानता।

(२) पुण्य प्राप्त करने की कामना से जो निर्जरा की क्रिया करता है वह करनी को खोता है और इस मनुष्य भव को हारता है।

जो आत्मा को कर्मों से रिक्त करे वह धर्म है[1]। संयम और तप धर्म के ये दो भेद हैं। संयम से नये कर्मों का आस्रव रुकता है, तप से संचित कर्मों का परिशाटन होकर आत्मा परिशुद्ध होती है[3]। धार्मिक पुरुष संयम और तप के द्वारा कर्मक्षय में प्रयत्नशील होता है[4]। जो पुण्य की कामना करता है वह उल्टा कर्मार्थी है। क्योंकि पुण्य और कुछ नहीं चतुःस्पर्शी कर्म है[5]। जो पुण्य की कामना करता है वह संसार की

१—उत्त० २८ ३३ :

एवं चयरित्तकरं चारित्तं होइ आहियं ॥

२—उत्त १९ ७७

एवं धम्मं चरिस्सामि संजमेण तवेण य ॥

३—उत्त० २९ प्र २६ २७

संजमएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? संजमएणं अणण्हयत्तं जणयइ।
तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? तवेणं वोदाणं जणयइ ॥

४—उत्त ३३ २५ :

तम्हा एएसि कम्माणं अणुभागा वियाणिया।
एएसि संवरे चेव खवणे य जए बुहो ॥

५—पुण्य किस तरह पुद्गल की पर्याय है यह पहले (टिप्पणी २ पृ० १४४) बताया जा चुका है। कर्कश मृदु गुरु लघु, शीत उष्ण स्निग्ध और रूक्ष ये आठ स्पर्श हैं। ये आठों स्पर्श पुद्गल में एक साथ नहीं रहते। कर्कश मृदु में से कोई एक, गुरु लघु में से कोई एक शीत उष्ण में से कोई एक स्निग्ध रूक्ष में से कोई एक, इस तरह चार स्पर्श उत्कृष्ट में एक साथ रह सकते हैं। परमाणु में स्निग्ध रूक्ष शीत, उष्ण इन चार स्पर्शों में से कोई दो अविरोधी स्पर्श होते हैं। कर्म-स्कंध में चार अविरुद्ध स्पर्श होते हैं

इसी सूत्र मे अन्यत्र कहा है "शब्दादि विषयो से निवृत्त नहीं होनेवाले का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है। कामभोगो से निवृत्त होनेवाले का आत्मार्थ नष्ट नही होता[1]।"

अन्यत्र कहा है . "घर, मणि, कुण्डलादि आभूषण, गाय, घोडादि पशु और दास-दासी इन सवका त्याग करनेवाला कामरूपी देव होता है[2]।"

दिगम्बराचार्य भी ऐसा ही मानते है। इस विषय मे आचार्य कुन्दकुन्द के कथन का सार इस प्रकार है

"निश्चय ही विविध पुण्य शुभ परिणाम से उत्पन्न होते है। ये देवो तक सर्व ससारी जीवो के विषयतृष्णा उत्पन्न करते हैं। पुन उदीर्णतृष्ण, तृष्णा से दु खित और दु खसतप्त वे विषय सौख्यो की आमरण इच्छा करते हैं और उनको भोगते हैं। सुरो के भी स्वभावसिद्ध सौख्य नही है। वे भी देह की वेदना से आर्त्त हुए रम्य विषयो मे रमण—क्रीडा करते हैं। सुखो में अभिरत वज्रायुधधारी इन्द्र तथा चक्रवर्ती शुभ उपयोगात्मक भोगो से देहादि की वृद्धि करते हैं[3]।"

पाप से प्रत्यक्ष दु ख होता है और पुण्य से प्राप्त भोगो में आसक्ति से दु ख होता है। ऐसी स्थिति में "जो 'पुण्य और पाप इनमें विशेषता नहीं', इस प्रकार नही मानता वह मोहसछन्न घोर, अपार ससार में भ्रमण करता है। जो विदितार्थ पुरुष द्रव्यो में राग अथवा द्वेष को नही प्राप्त होता वह देहोद्भव दु ख को नष्ट करता है[4]।"

१—उत्त० ७. २५-२६ .

इह कामाणियट्टस्स अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउय मग्ग ज भुज्जो परिभस्सई॥
इह कामाणियट्टस्स अत्तट्ठे नावरज्झई।
पूइदेहनिरोहेण भवे देवि त्ति मे सुय॥

२—उत्त० ६ ५

गवास मणिकुडल पसवो दासपोरुस।
सव्वमेय चइत्ताण कामरूवी भविस्ससि॥

३—प्रवचनसार १ ७४, ७५, ७१, ७२,

४—वही १. ७७-७८

"इन पाँच को अच्छी तरह न जाना हो, उनका त्याग न किया हो तो वे जीव के लिए अहित के कर्त्ता, अशुभ के कर्त्ता, असामर्थ्य को उत्पन्न करने वाले, अनिःश्रेयस के करने वाले और संसार को करने वाले होते हैं। इन पाँच को अच्छी तरह जाना हो, उनका त्याग किया हो तो वे जीव के लिए हित के कर्त्ता, शुभ के कर्त्ता, सामर्थ्य को उत्पन्न करने वाले, निःश्रेयस को करने वाले और सिद्धि को देने वाले होते हैं।

"इन पाँचों का त्याग करने से जीव सुगति में जाता है और त्याग न करने से दुर्गति में जाता है"[1]।

स्वामीजी का कथन इस आगम-वाक्य से पूर्णतः समर्थित है।

पुण्य से नाना प्रकार के ऐश्वर्य और सुख की वस्तुएँ और प्रसाधन मिलते हैं। जो इनका त्याग करता है उसके कर्मों का क्षय होता है, और साथ ही सहज भाव से पुण्य का बंधन होता है पर जो प्राप्त भोगों और सुखों का गृद्धि भाव से सेवन करता है उसके स्निग्ध कर्मों का बंधन होता है जिन्हें दूर करना महा कठिन कार्य होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है: "जो भोगासक्त होता है वह कर्म से लिप्त होता है। अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में भ्रमण करता है, अभोगी—त्यागी जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है। गीले और सूखे मिट्टी के दो गोले फेंके जाँय तो गीला दीवार से चिपक जाता है, सूखा नहीं चिपकता। वैसे ही कामलालसा में मूर्च्छित दुर्बुद्धि के कर्म चिपक जाते हैं। जो कामभोगों से विरक्त होते हैं उसके कर्म नहीं चिपकते[2]।"

१—ठाणांग ५।१।३९०: पंच कामगुणा प० तं०—सद्दा रूवा गंधा रसा फासा ३, पंचहिं ठाणेहिं जीवा सज्जंति तं० सद्देहिं जाव फासेहिं ४ एवं रज्जंति ५ मुच्छंति ६ गिज्झंति ७ अज्झोववज्जंति ८ पंचहिं ठाणेहिं जीवा विणिघायमावज्जंति तं०—सद्देहिं जाव फासेहिं ९ पंच ठाणा अपरिण्णाता जीवाणं अहिताते असुभाते अक्खमाते अणिस्सेयसाते अणाणुगामियत्ताते भवंति तं०—सद्दा जाव फासा १०, पंच ठाणा सुपरिण्णाता जीवाणं हिताते सुभाते जाव आणुगामियत्ताए भवंति तं०—सद्दा जाव फासा ११ पंच ठाणा अपरिण्णाता जीवाणं दुग्गतिगमणाए भवंति तं०—सद्दा जाव फासा १२, पंच ठाणा परिण्णाता जीवाणं सुगतिगमणाए भवंति तं०—सद्दा जाव फासा १३

२—उत्त० २५।४१-४३:

उवलेवो होइ भोगेसु अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे अभोगी विप्पमुच्चई॥
उल्लो सुक्को य दो छूढा गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई॥
एवं लग्गन्ति दुम्मेहा जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति जहा से सुक्कगोलए॥

इसी सूत्र मे अन्यत्र कहा है . "शब्दादि विषयो से निवृत्त नहीं होनेवाले का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है। कामभोगो से निवृत्त होनेवाले का आत्मार्थ नष्ट नही होता[1] ।"

अन्यत्र कहा है · "घर, मणि, कुण्डलादि आभूषण, गाय, घोडादि पशु और दास-दासी इन सबका त्याग करनेवाला कामरूपी देव होता है[2] ।"

दिगम्बराचार्य भी ऐसा ही मानते है। इस विषय में आचार्य कुन्दकुन्द के कथन का सार इस प्रकार है

"निश्चय ही विविध पुण्य शुभ परिणाम से उत्पन्न होते है। ये देवो तक सर्व ससारी जीवो के विषयतृष्णा उत्पन्न करते हैं। पुन उदीर्णतृष्ण, तृष्णा से दु खित और दु खसतप्त वे विषय सौख्यो की आमरण इच्छा करते हैं और उनको भोगते हैं। सुरो के भी स्वभावसिद्ध सौख्य नही है। वे भी देह की वेदना से आर्त्त हुए रम्य विषयो में रमण—क्रीडा करते हैं। सुखो में अभिरत वज्रायुधधारी इन्द्र तथा चक्रवर्ती शुभ उपयोगात्मक भोगो से देहादि की वृद्धि करते हैं[3] ।"

पाप से प्रत्यक्ष दु ख होता है और पुण्य से प्राप्त भोगो में आसक्ति से दु ख होता है। ऐसी स्थिति में "जो 'पुण्य और पाप इनमे विशेषता नही', इस प्रकार नही मानता वह मोहसछन्न घोर, अपार ससार में भ्रमण करता है। जो विदितार्थ पुरुष द्रव्यो मे राग अथवा द्वेष को नही प्राप्त होता वह देहोद्भव दु ख को नष्ट करता है[4] ।"

१—उत्त० ७. २५-२६ ·

इह कामाणियट्टस्स अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउय मग्ग ज भुज्जो परिभस्सई॥
इह कामाणियट्टस्स अत्तट्ठे नावरज्झई।
पूइदेहनिरोहेण भवे देवि त्ति मे सुय॥

२—उत्त० ६ ५

गवास मणिकुडल पसवो दासपोरुस।
सव्वमेय चइत्ताण कामरूवी भविस्ससि॥

३—प्रवचनसार १ ७४, ७५, ७१, ७२,

४—वही १ ७७-७८

पुन पदारथ (ढाल २)

दुहा

१—नव प्रकारे पुन नीपजे ते करणी निरवद जांण।
बयांलीस प्रकारे भोगवे, तिणरी बुधवंत करजो पिछांण॥

२—पुन नीपजे तिण करणी मझे, तिहां निरजरा निश्चे जांण।
तिण करणी री छें जिण आगना, तिण मांहे शंक म आंण॥

३—केई साधू बाजे जैन रा, त्यां दीधी जिण मारग में फूट।
पुन कहे कुपातर नें दीयां, त्यांरी गई अभिंतर फूट॥

४—काचो पाणी अणगल पावे तेहनें, कहें छें पुन नें धर्म।
ते जिण मारग सूं वेगला, भूला अग्यांनी भर्म॥

५—साख बिना अनेरा सर्व में सचित अचित दीयां कहे पुन।
नवे नांव लेवे ठाणा अंग रो, ते तो पाठ बिना छें अर्थ सुन॥

६—किणही एक ठाणा अंग मझे, घाल्यो छें अर्थ विपरीत।
ते पिण सगला ठाणा अंग में नहीं जोय करो तहतीक॥

७—पुन नीपजे छें किण विधे जोवो सूतर मांय।
श्री वीर जिणेसर भाषीयो, ते सुणजो चित्त ल्याय॥

पुण्य पदार्थ (ढाल : २)

दोहा

१—पुण्य नौ प्रकार से उत्पन्न होता है। जिस करनी से पुण्य होता है उसे निरवद्य जानो। पुण्य ४२ प्रकार से भोग में आता है। बुद्धिमान इसकी पहचान करे[1]।

पुण्य के नवो हेतु निरवद्य हैं

२—जिस करनी से पुण्य होता है उसमें निर्जरा भी निश्चय ही जानो। निर्जरा की करनी में जिन-आज्ञा है इसमें जरा भी शका मत करो[2]।

पुण्य की करनी में निर्जरा की नियमा

३—कई जैन साधु कहलाने पर भी जिन-मार्ग को पीठ दिखाकर कुपात्र को दान देने में पुण्य बतलाते है। उनकी आभ्यतरिक आँखे फूट चुकी हैं।

कुपात्र और सचित्त दान में पुण्य नही (दो० ३-६)

४—जो बिना छाना हुआ कच्चा पानी पिलाने में पुण्य और धर्म बतलाते है वे जिन-मार्ग से दूर है। वे अज्ञानवश भ्रम में भूले हुए हैं।

५—साधु के अतिरिक्त अन्य सबको भी सचित्त-अचित्त देने में वे पुण्य कहते हैं और (अपने कथन की पुष्टि में) स्थानाङ्ग सूत्र का नाम लेते हैं, परन्तु मूल में ऐसा पाठ न होने से यह अर्थ शून्यवत् है।

६—ऐसा विपरीत अर्थ भी स्थानांग की किसी एक प्रति में घुसा दिया गया है परन्तु सब प्रतियों में नहीं है। देख कर जांच करो[3]।

७—पुण्य उपार्जन किस प्रकार होता है इसके लिए सूत्र देखो! सूत्रों में इस सम्बन्ध में वीर जिनेश्वर ने जो कहा है उसे चित्त लगा कर सुनो।

ढाल : २

१—पुण्य शुभ योग से उत्पन्न होता है। शुभ योग जिन आज्ञा में है। शुभ योग निर्जरा की करनी है, उससे पुण्य सहज ही आकर लगते हैं।

शुभ योग निर्जरा के हेतु हैं, पुण्य बंध सहज फल है

२—जिस करनी से निर्जरा होती है, उसकी आज्ञा स्वयं जिन भगवान देते हैं। निर्जरा की करनी करते समय पुण्य अपने ही आप उत्पन्न (संचय) होता है जिस तरह गेहूँ के साथ तुष।

निर्जरा के हेतु जिन-आज्ञा में हैं

३—जहाँ पुण्योपार्जन होगा वहाँ निर्जरा निश्चय ही होगी, जिस करनी से पुण्य की उत्पत्ति होगी वह निश्चय ही निरवद्य होगी। सावद्य करनी से पुण्य नहीं होता। (इसका खुलासा करता हूँ) चतुर और विज्ञ जन सुनें[४]।

जहाँ पुण्य होता है वहाँ निर्जरा और शुभ योग की नियमा है

४—स्थानाङ्ग सूत्र के तृतीय स्थानक में कहा है कि हिंसा करने से, झूठ बोलने से तथा साधु को अशुद्ध आहार देने से—इन तीन बातों से जीव के अल्प आयुष्य का बंध होता है। यह अल्प आयुष्य पाप कर्म की प्रकृति है।

अशुभ अल्पायुष्य के हेतु सावद्य हैं

५-६-वहीं कहा है कि जीवों की हिंसा न करने से, झूठ नहीं बोलने से और तथारूप श्रमण निर्ग्रन्थ को चारों प्रकार के प्रासुक निर्दोष आहार देने से—इन तीन बातों से दीर्घ आयुष्य का बंध होता है। यह दीर्घ आयुष्य पुण्य में है[५]।

शुभ दीर्घायु के हेतु निरवद्य हैं

ढाल २

[राजा रामजी हो रेन मासी —ए देशी]

१—पुन नीपजे सुभ जोग सूं रे लाल, सुभ जोग जिण आगन्या मांय हो। भविक जन।
ते करणी छै निरजरा तणी रे लाल, पुन सहिजां लागे छै आय हो॥ भविक जन॥
पुन नीपजे सुभ जोग सूं रे लाल॥

२—जे करणी करे निरजरा तणी रे लाल तिणरी आगन्या देवे जगनाथ हो। भ०।
तिण करणी करतां पुन नीपजे रे लाल ज्यूं खाखलो गोहूं रे हुवे साथ हो॥ भ० पु०॥

३—पुन नीपजे तिहां निरजरा हुवे रे लाल ते करणी निरवद जाण हो।
सावद्य करणी में पुन नहीं नीपजे रे लाल, ते सुणज्यो चुतर सुजाण हो॥

४—हिंसा कीधां झूठ बोलीयां रे लाल साधु में देवे असुध अहार हो।
तिण सूं अल्प आउखो बंधे तेहनें रे लाल ते आख्यो पाप मझार हो॥

५—लांबो आउखो बंधे तीन बोल सूं रे लाल लांबो आउखो छै पुन मांय हो।
ते हिंसा न करे प्राणी जीव री रे लाल वले बोले नहीं मूसावाय हो॥

६—तथारूप श्रमण निग्रंथ में रे लाल देवे फासू निरदोष च्यारूं आहार हो।
यां तीनां बोलां पुन नीपजे रे लाल ठाणा अंग तीजा ठाणा मझार हो॥

---

*बाद की प्रत्येक गाथा के अन्त में इसी तरह 'भविक जन' और 'पुन नीपजे सुभ जोग सूं रे लाल' की पुनरावृत्ति है।

ढाल : २

१—पुण्य शुभ योग से उत्पन्न होता है। शुभ योग जिन आज्ञा में है। शुभ योग निर्जरा की करनी है, उससे पुण्य सहज ही आकर लगते हैं।

शुभ योग निर्जरा के हेतु हैं, पुण्य बंध सहज फल है

२—जिस करनी से निर्जरा होती है, उसकी आज्ञा स्वयं जिन भगवान देते हैं। निर्जरा की करनी करते समय पुण्य अपने ही आप उत्पन्न (संचय) होता है जिस तरह गेहूँ के साथ तुष।

निर्जरा के हेतु जिन-आज्ञा में हैं

३—जहाँ पुण्योपार्जन होगा वहाँ निर्जरा निश्चय ही होगी, जिस करनी से पुण्य की उत्पत्ति होगी वह निश्चय ही निरवद्य होगी। सावद्य करनी से पुण्य नहीं होता। (इसका खुलासा करता हूँ) चतुर और विज्ञ जन सुनें[४]।

जहाँ पुण्य होता है वहाँ निर्जरा और शुभ योग की नियमा है

४—स्थानाङ्ग सूत्र के तृतीय स्थानक में कहा है कि हिंसा करने से, झूठ बोलने से तथा साधु को अशुद्ध आहार देने से—इन तीन बातों से जीव के अल्प आयुष्य का बंध होता है। यह अल्प आयुष्य पाप कर्म की प्रकृति है।

अशुभ अल्पायुष्य के हेतु सावद्य हैं

५-६-वहीं कहा है कि जीवों की हिंसा न करने से, झूठ नहीं बोलने से और तथारूप श्रमण निर्ग्रन्थ को चारों प्रकार के प्रासुक निर्दोष आहार देने से—इन तीन बातों से दीर्घ आयुष्य का बंध होता है। यह दीर्घ आयुष्य पुण्य में है[५]।

शुभ दीर्घायु के हेतु निरवद्य है

७—हिंसा करीयां मूठ बोलीयां रे लाल, साधू नें हेले निंदे ताम हो।
आहार अमनोगम अपीयकारी दीये रे लाल, तो असुम लांबो आउषो बंधाम हो॥

८—सुभ लांबो आउखो बंधे इण विधे रे लाल, ते पिण आउखो पुन मांय हो।
ते हिंसा न करे प्राणी जीव री रे लाल, वले बोले नहीं मूसावाय हो॥

९—तथारूप समण निग्रंथ नें रे लाल करे वंदणा नें नमसकार हो।
पीतकारी देहरावें च्यारू आहार नेंरे लाल ठाणा अंग तीजा ठाणा मझार हो॥

१ —एहीज पाठ भगोती सूतर मझे रे लाल, पांचमें सतक पष्ठम उदेश हो।
संका हुवे तो निरणों करो रे लाल तिणमें कूड़ नहीं लवलेस हो॥

११—वंदणा करतां खपावे नीच गोत नें रे लाल ऊंच गोत बंधे वले ताम हो।
ते वंदणा करण री जिण आगना रे लाल उतराधेन गुणतीसमां मांय हो॥

१२—धर्मकथा कहे तेहुनें रे लाल बंधे किल्याणकारी कम हो।
उतराधेन गुणतीसमा अधेन में रे लाल तिहां पिण निरजरा धर्म हो॥

१३—करे वीयावच तेहुनें रे लाल बंधे तीथंकर नाम कम हो।
उतराधेन गुणतीसमां अधेन में रे लाल तिहां पिण निरजरा धम हो॥

१४—वीसां बोलां करेनें जीवड़ो रे लाल करमां री कोड़ खपाय हो।
जब बांधे तीर्थंकर नाम कर्म ने रे लाल गिनाता आठमा अधेन मांय हो॥

७—इसी तरह स्थानाङ्ग सूत्र के तृतीय स्थानक में कहा है कि हिंसा करने से, झूठ बोलने से, साधुओं की अवहेलना और निन्दा कर उनको अप्रिय, अमनोज्ञ (अरुचिकर) आहार देने से—इन तीन बातों से अशुभ दीर्घ आयुष्य का बंध होता है।

अशुभ दीर्घायुष्य के हेतु सावद्य हैं

८-६—वहीं कहा है कि हिंसा न करने से, मिथ्या न बोलने से और तथारूप श्रमण निर्ग्रंथ को वन्दन-नमस्कार कर उसको चारों प्रकार के प्रीतिकारी आहार दान देने से शुभ दीर्घ आयुष्य कर्म का बंध होता है[६]। यह पुण्य है।

शुभ दीर्घायुष्य के हेतु निरवद्य हैं

१०—ऐसा ही पाठ भगवती सूत्र के पंचम शतक के षष्ठ उद्देशक में है। किसी को शंका हो तो देख कर निर्णय कर ले। इसमें जरा भी झूठ नहीं है[७]।

भगवती में भी ऐसा ही पाठ

११—वंदना करता हुआ जीव नीच गोत्र का क्षय करता है और उसके उच्च गोत्र कर्म का बंध होता है। वंदना करने की जिन आज्ञा है। उत्तराध्ययन सूत्र का २६ वाँ अध्ययन इसका साक्षी है[८]।

वंदना से पुण्य और निर्जरा दोनों

१२—उत्तराध्ययन सूत्र के २६ वे अध्ययन में कहा है कि धर्म-कथा करते हुए जीव शुभ कर्म का बंध करता है। साथ ही वहाँ धर्म-कथा से निर्जरा होने का भी उल्लेख है[९]।

धर्म-कथा से पुण्य और निर्जरा दोनों

१३—उत्तराध्ययन सूत्र के २६ वें अध्ययन में यह भी कहा है कि वैयावृत्य करने से तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध होता है। साथ ही वहाँ वैयावृत्य से निर्जरा होने का उल्लेख भी है[१०]।

वैयावृत्य से पुण्य और निर्जरा दोनों

१४—ज्ञाता सूत्र के आठवें अध्ययन में यह बात कही गई है कि जीव २० बातों से कर्मों की कोटि का क्षय करता है और उनसे उसके तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध होता है[११]।

जिन बातों से कर्म-क्षय होता है उन्हीं से तीर्थंकर गोत्र का बंध

१५—सुबाहु कुमर आदि दस जणा रे लाल त्यां साधां नें असणादिक वेहराय हो।
त्यां बांध्यो मातखो मिनख रो रे लाल, कह्यो विपाक सुतर रे मांय हो॥

१६—प्राण भूत जीव सत्व नें रे लाल दुख न दे उपजावे सोग नांय हो।
अझुरणया नें अतिप्पणया रे लाल, अपिट्टणया परिताप नहीं दे ताम हो॥

१७—ए छ प्रकारे बंधे साता वेदनी रे लाल उलट्या कीधां असाता पाप हो।
भगोती सतर्पव सातमें रे लाल छठा उदेसा मांय हो॥

१८—करकस वेदनी बंधे जीवरे रे लाल अठारे पाप सेव्यां बन्धाय हो।
नहीं सेव्यां बंधे अकरकस वेदनी रे लाल भगोती सातमां सतक छठा मांय हो॥

१६—कालोदाई पूछयो भगवान नें रे लाल सुतर भगोती मांहि ए रेस हो।
किल्याणकारी कर्म किण विध बंधे रे लाल सातमें सतक दसमें उदेस हो॥

२०—अठारे पाप थानक नहीं सेवीयां रे लाल किल्याणकारी कर्म बंधाय हो।
अठारे पाप थानक सेवे तेहु सू रे लाल, बंध अकिल्याणकारी कर्म थाय हो॥

२१—प्रांण भूत जीव सत्व नें रे लाल बहु सबदे च्यारूंइ मांहि हो।
त्यांरी करे अणुकम्पा दया आणनें रे लाल दुःख सोग उपजावे नांहि हो॥

२२—अझूरणया नें अतिप्पणया रे लाल अपिट्टण्या नें अपरिताप हो।
यां षवदे सुं बंधे साता वेदनी रे लाल यां उलट्या सुं बंधे असाता पाप हो॥

१५—विपाक सूत्र में उल्लेख है कि सुबाहु कुमार आदि दस जनों ने साधुओं को अशनादि देकर मनुष्य-आयुष्य को बांधा[१२]।

निरवद्य सुपात्र दान का फल मनुष्य-आयुष्य

१६-१७-भगवती सूत्र के सातवें शतक के छठे उद्देशक में जिन भगवान ने ऐसा कहा है कि प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को दु ख नहीं देने से, शोक उत्पन्न नहीं करने से, न झूराने* से, वेदना न करने से, न पीटने से और प्रतापना न देने से इस तरह छ प्रकार से साता वेदनीय कर्म का बध होता है और इसके विपरीत आचरण से असाता-वेदनीय कर्म का बध होता है[१३]।

साता वेदनीय कर्म के छ बध हेतु निरवद्य है

१८—भगवती सूत्र के सातवे शतक के छठे उद्देशक में कहा है कि अठारह पापों के सेवन करने से कर्कश वेदनीय कर्म का बध होता है और इन पापों के सेवन न करने से अकर्कश वेदनीय कर्म का बध होता है[१४]।

कर्कश - अकर्कश वेदनीय कर्म के बध हेतु क्रमशः सावद्य निरवद्य हैं

१९-२०-भगवती सूत्र के सातवें शतक के दसवें उद्देशक में कालोदाई ने भगवान से प्रश्न किया कि कल्याणकारी कर्मों का बध कैसे होता है ? उत्तर में भगवान ने बतलाया कि अठारह पाप स्थानकों के सेवन नहीं करने से कल्याणकारी कर्म का बध होता है और इन्हीं अठारह पाप स्थानकों के सेवन से अकल्याणकारी कर्म का बध होता है[१५]।

पापो के न सेवन से कल्याणकारी कर्म सेवन से अकल्याण-कारी कर्म

२१-२२-बहु प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व इनके प्रति दया लाकर अनुकम्पा करने से, दु ख उत्पन्न नहीं करने से, शोक उत्पन्न नहीं करने से, न झूराने से, न रुलाने से, न पीटने से और प्रतापना न देने से, इस प्रकार १४ बोलों से साता वेदनीय कर्म का बध होता है[१६]।

सातावेदनीय कर्म के बध हेतुओ का अन्य उल्लेख

---

*दूसरों को दु खी करना।

२३—माहा आरंभी नें माहा परिग्रही रे लाल करे पंचिंद्रि नी घात हो।
मद मांस तणो भखण कर रे लाल तिण पाप सूं नरक में जात हो॥

२४—माया कपट नें गूढ माया करे रे लाल बले बोलै मूसावाय हो।
कूडा तोला नें कूडा मापा करे रे लाल तिण पाप सूं तिरजंच थाय हो॥

२५—प्रकत रो भद्रीक नें वनीत छ रे लाल दया नें अमछर भाव आंण हो।
तिण सूं बंधे आउखो मिनख रो रे लाल ते करणी निरवद पिछांण हो॥

२६—पाले सरागपणे साधूपणो रे लाल बले श्रावक रा वरत बार हो।
बाल तपसा नें अकाम निरजरा रे लाल यां सूं पामे सुर अवतार हो॥

२७—काया सरल भाव सरल सूं रे लाल बले भाषा सरल पिछांण हो।
जेहवो करे तेहवो मुख सूं कहे रे लाल यांसूं बंधे सुभ नाम कर्म आंण हो॥

२८—ए च्यारूं बोल बांका वरतीयां रे लाल बंधे असुभ नाम करम हो।
ते सावद्य करणी छै पाप री रे लाल तिणमें नहीं निरजरा धर्म हो॥

२९—जात कुल बल रूप नो रे लाल तप लाभ सुतर ठाकुराय हो।
ए आठोंई मद करे नहीं रे लाल तिणसूं ऊंच गोत बंधाय हो॥

३०—ए आठोंई मद करे तेहनें रे लाल बंधे नीच गोत कर्म हो।
ते सावद्य करणी पाप री रे लाल तिणमें नहीं पुन धर्म हो॥

२३—महा आरम्भ, महा परिग्रह, पचेन्द्रिय जीव की घात तथा मद्य-मांस के भक्षण से पाप-संचय कर जीव नरक मे जाता है[१७]। — नरकायु के बंध हेतु

२४—माया—कपट से, गूढ़ माया से, झूठ बोलने से, झूठे तोल, झूठे माप से जीव तिर्यञ्च (योनि मे उत्पन्न) होता है[१८]। — तिर्यञ्चायु के बध हेतु

२५—प्रकृति के भद्र और विनयवान होने से, दया से और अमात्सर्य भाव से जीव मनुष्य आयु का बध करता है। भद्रता, विनय, दया और अकपट भाव ये निरवद्य कर्त्तव्य हैं[१९]। — मनुष्यायुष्य के बध हेतु

२६—साधु के सराग चारित्र के पालन से, श्रावक के बारह व्रत रूप चारित्र के पालन से, बाल तपस्या और अकाम निर्जरा से सुर अवतार—देव-भव प्राप्त होता है[२०]। — देवायुष्य के बध हेतु

२७-२८-कायिक सरलता से, भावों की सरलता से, भाषा की सरलता से तथा जैसी कथनी वैसी करनी से जीव शुभ नामकर्म का बध करता है। इन्ही चार बातों की विपरीतता से अशुभ नामकर्म का बध होता है। कायिक कपटता आदि सावद्य कार्य हैं। ये पाप के हेतु हैं। इनसे निर्जरा नहीं होती[२१]। — शुभ-अशुभ नाम-कर्म के बध हेतु

२९-३०-जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, सूत्र (की जानकारी) और ठकुराई इन आठों मदों (अभिमानों) के न करने से जीव के उच्च गोत्र का बध होता है और इन्ही आठों मदों के करने से नीच गोत्र का बध होता है। मद करना सावद्य—पाप क्रिया है। इसमें धर्म (निर्जरा) और पुण्य नहीं है[२२]। — उच्च गोत्र और नीच गोत्र कर्म के बध हेतु

३१—ग्यांनावर्णी नें दरसणावर्णी रे लाल वले मोहणी नें अंतराय हो।
ये च्यारूंइ एकंत पाप कर्म छै रे लाल, त्यांरी करणी नहीं आग्या मांय हो॥

३२—वेदनी आउखो नांम गोत छ रे लाल ए च्यारूंई कर्म पुन पाप हो।
तिणमें पुन री करणी निरवद कही रे लाल तिणरी आग्या दे जिन आप हो॥

३३—ए भगवती सतक आठ में रे लाल नवमां उदेसा मांय हो।
पुन पाप तणी करणी तणो रे लाल ते जाणे समदिष्टी न्याय हो॥

३४—करणी करे नीहाणो नहीं करे रे लाल चोखा परिणामां समकतवंत हो।
समाय जोग वरते तेहनो रे लाल खिमा करी परीसह खमंत हो॥

३५—पांचूं इन्द्री नें वस कीयां रे लाल वले माया कपट रहीत हो।
अपासत्थपणो ग्यांनादिक तणो रे लाल समणपणे सुं सहीत हो॥

३६—हितकारी प्रवचन आठां तणो रे लाल धर्मकथा कहै विसतार हो।
यां दसां बोलां बंधे जीव रे रे लाल किल्याणकारी कर्म श्रीकार हो॥

३७—ते किल्याणकारी कर्म पुन छै रे लाल, त्यांरी करणी पिण निरवद जांण हो।
ते ठाणा अंग दसमें ठाणे कह्यो रे लाल तिहां जोय करो पिछांण हो॥

३८—अन पुने पांण पुने कह्यो रे लाल लेण सेण वस्त्र पुन जांण हो।
मन पुने वचन काया पुने रे लाल नमसकार पुने नवमो पिछांण हो॥

३१—ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म ये चारों एकान्त पाप हैं। जिस करनी से इन कर्मों का बंध होता है वह जिन-आज्ञा में नहीं है[२३]।

ज्ञाणावरणीय आदि चार पाप कर्म

३२—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र ये चारों कर्म पुण्य और पाप दोनों रूप हैं। पुण्य रूप वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म जिस करनी से होते हैं वह करनी निरवद्य है। इस करनी की आज्ञा भगवान देते हैं[२४]।

वेदनीय आदि चार पुण्य कर्मों की करनी निरवद्य है

३३—पुण्य पाप की करनी का अधिकार भगवती सूत्र के आठवें शतक के नवें उद्देशक में आया है। उसका न्याय सम्यक् दृष्टि समझते हैं[२५]।

भगवती ८ ९ का उल्लेख द्रष्टव्य

३४-३७-करनी कर निदान—फल की इच्छा न करने से, शुभ परिणाम और सम्यक्त्व से, समाधि योग में प्रवर्तन से, क्षमापूर्वक परिषह सहन करने से, पाँचों इन्द्रियों को वश करने से, माया और कपट से रहित होने से, ज्ञानादि की उपासना से, श्रमणत्व से, आठ प्रवचन माताओं से संयुक्त होने से, धर्म-कथा कहने से,—इन दस बोलों से जीव के कल्याणकारी कर्मों का बंध होता है। ये कल्याणकारी कर्म पुण्य हैं और इनको प्राप्त करने की करनी भी स्पष्टत निरवद्य है। ये दस बोल स्थानाङ्ग सूत्र के दसवें स्थानक में कहे हैं। देख कर पुण्य-करनी की पहिचान करो[२६]।

कल्याणकारी कर्म बंध के दस बोल निरवद्य हैं

३८—अन्न पुण्य, पान पुण्य, स्थान पुण्य, शय्या पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काया पुण्य और नमस्कार पुण्य—इस तरह नौ पुण्य (भगवान ने) कहे हैं।

नौ पुण्य

३६—पुन्य बंधे नव प्रकार सूं रे लाल ते नवोई निरवद बांध हो।
ते नवोई बोलां में जिण आगना रे लाल तिणरी करज्यो पिछाण हो॥

४ —कोई कहै नवोई बोल समचे कह्या रे लाल, सावद्य निरवद्य न कह्या तांम हो।
सचित अचित पिण नहीं कह्या रे लाल, पातर कुपातर रो पिण नहीं नांम हो॥

४१—तिणसूं सचित्त अचित्त दोनूं कह्या रे लाल पातर कुपातर नें दीयां तांम हो।
पुन नीपजे दीधां सकल में रे लाल ते झूठ बोले सुतर रो ले ले नांम हो॥

४२—साध श्रावक पातर नें दीयां रे लाल तीर्थंकर नामादिक पुन थाय हो।
अनेरां ने दान दीधां थकां रे लाल अनेरी पुन प्रकत बंधाय हो॥

४३—इम कहै नाम लेई ठाणा अंग नों रे लाल नवमा ठाणा में अर्थ दिखाय हो।
ते अथ अणहुंतो घालीयो रे लाल ते भोलां मे खबर न काय हो॥

४४—जो अनेरां नें दीयां पुन नीपजे रे लाल जब टलीयो नहीं जीव एक हो।
कुपातर में दीयां पुन किहां थकी रे लाल समझो आंण ववेक हो॥

४५—पुन रा नव बोल ता समचे कह्या रे लाल उण ठामें तो नही छै नीराल हो।
ज्यूं वदणा वीयावच पिण समचे कही रे लाल ते गुणवंत सूं लेजो संभाल हो॥

४६—वंदणा कीयां करावे नीच गोत में रे लाल उंच गोत कर्म बंधाय हो।
तीर्थंकर गोत बंधे वीयावच कीयां रे लाल ते पिण समचे कह्या छै ताय हो॥

३९—पुण्य बध इन्हीं नौ प्रकार से होता है। ये सब बोल निरवद्य हैं। इन सबमें जिन भगवान की आज्ञा है। बुद्धिमान इस बात की पहचान करें[२७]।

पुण्य के नवों बोल निरवद्य व जिन-आज्ञा में हैं

४०-४१-कई कहते हैं कि भगवान ने नवों बोल समुच्चय—(बिना किसी अपेक्षा के) कहे हैं। सावद्य-निरवद्य, सचित्त-अचित्त, पात्र-अपात्र का भेद नहीं किया है। इसलिए सचित्त-अचित्त दोनों प्रकार के अन्न आदि देने का भगवान ने कहा है, तथा पात्र-कुपात्र दोनों को देने को कहा है सबको देने में पुण्य है। ऐसा कहने वाले सूत्रों का नाम लेकर झूठ बोलते हैं।

नवो बोल क्या अपेक्षा रहित हैं? (गा० ४०-४४)

४२—वे कहते हैं कि साधु श्रावक इन पात्रों को देने से तीर्थङ्कर नामादि पुण्य प्रकृतियों का बध होता है तथा अन्य लोगों को दान देने से अन्य पुण्य प्रकृति का बध होता है।

४३—वे स्थानाङ्ग सूत्र का नाम लेकर ऐसा कहते हैं और नवे स्थानक में अर्थ दिखलाते हैं। परन्तु न होता हुआ अर्थ वहाँ घुसा दिया गया है—भोले लोगों को इसकी खबर नहीं है।

४४—यदि 'अन्य को' देने से भी पुण्य होता है तब तो एक भी जीव बाकी नहीं रहता। परन्तु कुपात्र को देने से पुण्य कैसे होगा? यह विवेक पूर्वक समझने की बात है[२८]।

४५—पुण्य के नौ बोल समुच्चय (बिना खुलासा) कहे गये हैं, स्थानाङ्ग सूत्र के ९ वें स्थानक में कोई निचोड़ नहीं है। इसी तरह वदना और वैयावृत्य के बोल भी समुच्चय कहे हैं। गुणी इनका मर्म समझ लें।

समुच्चय बोल अपेक्षा रहित नहीं (गा० ४५-५४)

४६—वदना करता हुआ जीव नीच गोत्र को खपाता है और उच्च गोत्र का बध करता है तथा वैयावृत्य करने से तीर्थंकर गोत्र का बध करता है। ये भी समुच्चय बोल हैं।

४७—तीर्थंकर गोत बंध बीस बोल सूं रे लाल त्यांमें पिण समचे बोल अनेक हो।
समचे बोल घणा छै सिधंत में रे लाल, त्यांमें शुभ समचे विसर अनेक हो॥

४८—जो अन पुने समचे दीधां सकल में रे लाल तो नवोई समचे जांण हो।
हिवे निरणो कहूं छूं नवां ही तणो रे लाल ते सुणज्यो चुतर सुजांण हो॥

४९—अन सचित अचित दीधां सकल में रे लाल जो पुन नीपजे छै ताम हो।
तो इमहीज पुन पांणी दीधां रे लाल लेण सेण वसतर पुन तांम हो॥

५०—इमहीज मन पुने समचे हुवे रे लाल तो मन मूंडोइ वरत्यां पुन थाय हो।
वले वचन पुणे पिण समचे हुवे रे लाल मूंडो बोल्यांई पुन बंधाय हो॥

५१—काय पुने पिण समचे हुवे रे लाल तो काया सूं हिंसा कीयां पुन होय हो।
नमसकार पुने पिण समचे हुवे रे लाल तो सकल नें नम्यां पुन बोय हो॥

५२—मन वचन काया माठा वरतीयां रे लाल जो लागे छै एकंत पाप हो।
तो नवोंई बोल इम जांणजो रे लाल उथप गई समचे री थाप हो॥

५३—मन वचन काया सूं पुन नीपजे रे लाल, ते निरवद वरत्यां होय हो।
तो नवोंई बोल इम जांणजो रे लाल सावद्य में पुन न कोय हो॥

४७—इसी प्रकार २० बातों से तीर्थङ्कर गोत्र का बंध बतलाया गया है। उनमें भी अनेक बोल समुच्चय हैं। इस प्रकार सिद्धान्त में (जैन सूत्रों में) समुच्चय बोल अनेक हैं। बिना विवेक उन्हें कौन समझ सकता है ?

नौ बोलो की समझ (गा० ४८-५४)

४८—यदि सभी को अन्न-दान देने से अन्न पुण्य होता हो तब तो सभी बोलों के सम्बन्ध में यह बात समझो। अब मै नवों ही बोलों का निर्णय करता हूं। चतुर विज्ञ इसको सुनें।

४९—यदि सचित्त-अचित्त सब अन्न सब को देने से पुण्य होता है तब तो पानी, स्थान, शय्या, वस्त्र आदि भी सचित्त-अचित्त सब सबको देने से पुण्य होगा।

५०—इसी तरह यदि मन पुण्य भी समुच्चय हो तब तो मन को दुष्प्रवृत्त करने से भी पुण्य होगा तथा वचन पुण्य भी समुच्चय हो तो दुर्वचन से भी पुण्य बंधना चाहिए।

५१—यदि काया पुण्य भी समुच्चय हो तो काया से हिंसा करने पर भी पुण्य होना चाहिए। इसी तरह नमस्कार पुण्य भी समुच्चय हो तो सबको नमस्कार करने से पुण्य होना चाहिए।

५२—अब यदि मन, वचन और काया की दुष्प्रवृत्ति से एकान्त—केवल पाप ही लगता हो तब तो नवों ही बोलों के सबन्ध में यह बात जानो। इस प्रकार समुच्चय की बात उठ जाती है।

५३—अब यदि यह मान्यता हो कि मन, वचन तथा काया की निरवद्य प्रवृत्ति से पुण्य होता है तब नवों ही बोलों के सम्बन्ध में यह समझो। सावद्य से कोई पुण्य नहीं होता।

५४—नमसकार अनेरा में कीयां थकां रे लाल जो लागे छै एकस पाप हो।
सो अनादिक सचित दीयां थकां रे लाल, कुण करसी पुन री थाप हो॥

५५—निरवद करणी में पुन नीपजे रे लाल सावद्य करणी सूं लागे पाप हो।
ते सावद्य निरवद किम जांणीये रे लाल निरवद में आग्या दे जिण आप हो॥

५६—अन पांणी पातर में वेहरावीयां रे लाल सेण सयण वस्त्र वेहराय हो।
त्यांरी श्रीजिण देवे आगना रे लाल तिण ठामें पुन बंधाय हो॥

५७—अन पाणी अनेरा में दीयां रे लाल सेण सेण वसतर देवे ताय हो।
त्यांरी देवे नहीं जिण आगन्या रे लाल तिणरे पुन किहां थी बंधाय हो॥

५८—सुपातर नें दीयां पुन नीपजे रे लाल ते करणी जिण आगना मांय हो।
जो अनेरा में दीयांई पुन नीपजै रे लाल तिणरी जिण आगना नहीं कांय हो॥

५९—ठाम ठाम सुतर में देखलो रे लाल निरजरा में पुन री करणी एक हो।
पुन हुवे तिहां निरजरा रे लाल, तिहां जिन आगनां छै वसेष हो॥

६०—नव प्रकारे पुन नीपजे रे लाल ते भोगवे बयांलीस प्रकार हो।
ते पुन उदे हुवे जीवरे रे लाल सुख साता पामें संसार हो॥

६१—ए पुन तणा सुख कारिमा रे लाल ते विणसतां नहीं वार हो।
तिणरी वंछा नहीं कीजीये रे लाल ज्यूं पामें भव पार हो॥

५४—यदि पांच पदों को छोड कर अन्य को नमस्कार करने से एकान्त पाप लगाता हो तब अन्नादि सचित्त देने में कौन पुण्य की स्थापना करेगा[२९] ?

५५—पुण्य निरवद्य करनी से होता है, सावद्य करनी से पाप लगाता है। सावद्य निरवद्य की पहचान यह है कि निरवद्य कार्यों की खुद भगवान आज्ञा देते हैं।

सावद्य करनी से पाप का बंध होता है (गा० ५५-५८)

५६—पात्र को (निर्दोष एषणीय) अशन, पान आदि वहराने तथा स्थान, शय्या, वस्त्र आदि देने की जिन देव आज्ञा करते हैं। इनसे पुण्य का बंध होता है।

५७—अन्न-पानी आदि तथा स्थान, शय्या, वस्त्र, पात्र अन्य को देने की जिन भगवान आज्ञा नहीं देते। इसलिये ऐसे दान से जीव के पुण्य-बंध कैसे हो सकता है ?

५८—सुपात्र को देने से पुण्य होता है। यह करनी जिन-आज्ञा सम्मत है, यदि अन्य किसी को देने से भी पुण्य होता है तो उसके लिए जिन-आज्ञा क्यों नहीं है[३०] ?

५९—स्थान-स्थान पर सूत्रों में देख लो कि निर्जरा और पुण्य की करनी एक है। जहाँ पुण्य होता है वहाँ निर्जरा भी होती है और जहाँ निर्जरा होती है वहाँ विशेष रूप से जिन-आज्ञा है।

पुण्य और निर्जरा की करनी एक है

६०—पुण्य नौ प्रकार से उत्पन्न होता है तथा वह ४२ प्रकार से भोग में आता है। जीव के पुण्य का उदय होने से वह संसार में सुख पाता है।

पुण्य की ९ प्रकार से उत्पत्ति ४२ प्रकार से भोग

६१—पुण्य-जात सुख क्षणिक हैं। उनके विनाश होते देर नहीं लगती, इन सुखों की कभी वांछा नहीं करनी चाहिए जिससे कि संसार रूपी समुद्र के पार पहुँचा जा सके।

पुण्य अवाञ्छनीय मोक्ष वाञ्छनीय (गा० ६१-६३)

६२—जिण पुन तणी वंछा करी रे लाल तिण वंछीया काम नें भोग हो।
संसार वधे कामभोग सूं रे लाल, तिहां पामें जन्म मरण सोग हो॥

६३—वंछा कीजे एक मुगत री रे लाल, ओर वंछा म कीजे लिगार हो।
जे पुन तणी वंछा करें रे लाल, ते गया जमारो हार हो॥

६४—संवत अठारे तपाले समे रे लाल काती सुद चोथ विसपतवार हो।
पुन नीपजे ते ओलखायवा रे लाल, जोड़ कीधी कोठारया मझार हो॥

९२—जो पुण्य की कामना करता है वह कामभोगों की ही कामना करता है। कामभोग से संसार की वृद्धि होती है तथा प्राणी जन्म, मृत्यु और शोक को प्राप्त करता है।

९३—कामना केवल एक मुक्ति की करनी चाहिए। अन्य कामना किञ्चित भी नहीं करनी चाहिए। जो पुण्य की वांछा करता है, वह मनुष्य-भव को हारता है[31]।

९४—पुण्य की उत्पत्ति कैसे होती है यह बताने के लिए सं० १८४३ की कार्त्तिक सुदी ४ गुरुवार को यह जोड़ कोठारचा गांव में की है। रचना-काल

पुण्य पदार्थ (ढाल २)

टिप्पणियाँ

१—पुण्य के हेतु और पुण्य का भोग (दो० १)

स्थानाङ्ग सूत्र में कहा है[1]—'पुण्य नौ प्रकार का है—अन्न पुण्य, पान पुण्य, वस्त्र पुण्य, लयन[2] पुण्य, शयन[3] पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य और नमस्कार पुण्य।'

यहाँ पुण्य का अर्थ है—पुण्य कर्म की उत्पत्ति के हेतु कार्य। अन्न, पान, वस्त्र, स्थान, शयन के निरवद्य दान से, शुभप्रवृत्त मन, वचन, काया से तथा मुनि को नमस्कार से पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है। अतः कार्य और कारण को एक मान पुण्य के कारणों को पुण्य की संज्ञा दी गयी है।

स्थानाङ्ग के टीकाकार श्री अभयदेव ने अपनी टीका में नवविध पुण्य को बतलाने वाली निम्न गाथा उद्धृत की है :

> अन्नं पानं च वस्त्रं च आलयः शयनासनम्।
> शुश्रूषा वंदनं तुष्टिः पुण्यं नवविधं स्मृतम्॥

इस गाथा में बताये हुए पुण्यों में छः तो वे ही हैं जो मूल स्थानाङ्ग में उल्लिखित हैं किन्तु मन, वचन और काय के स्थान में यहाँ आसन पुण्य, शुश्रूषा पुण्य और तुष्टि पुण्य हैं। नवविध पुण्य की यह परम्परा अवश्य ही प्रामाणिक नहीं है।

१—ठाणाङ्ग ९. ३. ६७६

नवविधे पुन्ने पं० तं० अन्नपुन्ने पाणपुन्ने, वत्थपुन्ने लेणपुन्ने, सयणपुन्ने मणपुन्ने वतिपुन्ने, कायपुन्ने, नमोक्कारपुन्ने

२—गृह, स्थान

३—शय्या—संस्तारक-बिछाने की वस्तु

दिगम्बर ग्रन्थो में प्रतिग्रहण, उच्चस्थापन, पाद-प्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, मन शुद्धि, वचन-शुद्धि, काय-शुद्धि और एषण (भोजन) शुद्धि इन नौ को नौ पुण्य कहा है[1] । इन नौ पुण्यो में बहुमान की उन विधियो का सकलन है जो दिगम्बर मत से एक दाता को दान देते समय मुनि के प्रति सम्पन्न करनी चाहिए[2] ।

स्वामीजी नौ प्रकार के पुण्यो से उन्ही पुण्यो की ओर सकेत करते हैं जिनका उल्लेख 'स्थानाङ्ग' आगम में है ।

स्वामीजी कहते हैं—**"नव प्रकारे पुन नीपजे, ते करणी निरवद जांण"**—अन्न-दान आदि पुण्य के कारण तभी होते हैं जब वे निरवद्य होते हैं । जब अन्न-दान आदि सावद्य होते हैं तब उनसे पुण्य का बंध नहीं होता ।

यह पहले बताया जा चुका है कि कर्मों के दो विभाग होते हैं—(१) पुण्य और (२) पाप । पुण्य का स्वभाव है सुखानुभूति उत्पन्न करना । पाप का स्वभाव है दु खानुभूति उत्पन्न करना । पुण्य और पाप दोनो ही के अनेक अन्तरभेद हैं । और प्रत्येक भेद की अपनी-अपनी विशिष्ट प्रकृति अथवा स्वभाव है । पुण्य कर्म के ४२ भेद पहले बताये जा चुके हैं । प्रत्येक भेद अपने स्वभाव के अनुसार फल देता है । कर्मों का यह फल देना ही उनका भोग है । पुण्य कर्म अपने अन्तरभेदो की विवक्षा से ४२ प्रकार से उदय में आता है । दूसरे शब्दो में कहा जाता है—जीव पुण्य कर्म का फल भोग ४२ प्रकार से करता है ।

२—पुण्य की करनी में निर्जरा और जिन-आज्ञा की नियमा (दो० २):

स्वामीजी यहाँ दो सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं :

१—जिस करनी—क्रिया से पुण्य का बंध होता है उससे निर्जरा अवश्य होती है ।

२—वह क्रिया जिन-आज्ञा में होती है—जिनानुमोदित होती है ।

स्वामीजी ने इन दोनों ही सिद्धान्तो पर बाद में विस्तृत प्रकाश डाला है (देखिए गा० १-२ आदि) । वही टिप्पणियो मे विस्तृत विवेचन भी है ।

१—पडिगहणमुच्चठाणं पादोदकमच्चण च पणम च ।
भणवयणकायछद्धी एसणछद्धी य णवविह पुण्ण ॥

२—सागारधर्मामृत ५. ४५

३—'साधु के सिवा दूसरों को अन्नादि देने से तीर्थंकर पुण्य प्रकृति से भिन्न पुण्य प्रकृति का बंध होता है' इस प्रतिपादन की अयौक्तिकता (दो० २३)

'अन्न पुण्य' आदि के साथ विशेषात्मक अथवा व्याख्यात्मक शब्द नहीं है। अतः इसका अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है

१—पंच महाव्रतधारी मुनि को जो योग्य पात्र है, प्रासुक एषणीय आहार आदि का देना अन्न पुण्य आदि है।

२—पात्रापात्र के भेदातिरिक्त चाहे जो भी हो उसे सचित्त-अचित्त अन्न आदि का देना अन्न पुण्य आदि है।

स्वामीजी कहते हैं—"अन्न पुण्य आदि की पहली व्याख्या ही ठीक है। क्योंकि निरवद्य दान से ही पुण्य हो सकता है सावद्य दान से नहीं। अपात्र को सचित्त-अचित्त देना सावद्य दान है वह पुण्य का हेतु नहीं।" उदाहरणस्वरूप स्वामीजी कहते हैं—"जल के एक बिन्दु में असंख्य अप्कायिक जीव हैं। उसमें वनस्पति जीवों की नियमा है। धान्यादि भी सचित्त हैं। जो इन सजीव चीजों का दान करता है उसके पुण्य का बंध कैसे होगा। मुनि ऐसी अप्रासुक वस्तुओं को लेते ही नहीं। वे प्रासुक अचित्त वस्तुए लेते हैं। इन वस्तुओं को अपात्र ही ले सकते हैं। अपात्र-दान सावद्य है।

स्वामीजी कहते हैं कि जो सावद्य दान में पुण्य बतलाते हैं वे ज्ञान चक्षुओं को खो चुके।

स्वामीजी के समय में कई जैन-साधु ऐसी प्ररूपणा करते रहे कि पंचमहाव्रतधारी साधु को आहार आदि देने से तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बंध होता है और साधु के सिवा अन्य को देने से अन्य पुण्य प्रकृति का बंध होता है—ऐसा स्थानाङ्ग में लिखा है।

स्वामीजी कहते हैं – स्थानाङ्ग के मूल पाठ में ऐसा कुछ नहीं है। जैसे अंक के बिना शून्य का कोई मूल्य नहीं रहता वैसे ही पाठ बिना ऐसा अर्थ करना 'अप्रामाणिक' है। फिर ऐसा अर्थ भी स्थानांग की सब प्रतियों में नहीं है। किसी-किसी प्रति में जो ऐसा अर्थ देखा जाता है वह स्पष्टतः बाद में जोड़ा हुआ है।

स्थानाङ्ग के उस सूत्र की जिसमें नौ पुण्यों का उल्लेख है, टीका करते हुए अभय देव सूरि लिखते हैं

"पात्रायान्नदानाद् यस्तीर्थकरनामादिपुण्यप्रकृतिबन्धस्तदन्नपुण्यमेवं सर्वत्र"—अर्थात् पात्र को अन्न देने से तीर्थंकर नामादि पुण्यप्रकृति का बन्ध होता है। अतः अन्न दान

'अन्न पुण्य' कहलाता है। इसी प्रकार पान से लेकर शयन पुण्य तक जानना चाहिए।

यहाँ पात्र-दान से तीर्थंकर आदि पुण्य-प्रकृति का बंध कहा है न कि हर किसी को अन्नादि देने से। पात्र अप्रासुक नही लेता। अत पात्र को प्रासुक देने से ही पुण्य होता है। उत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति का बध भावो की तीव्रता के साथ सम्बन्धित है। भावो मे उत्कृष्ट तीव्रता होने से निरवद्य दान से तीर्थंकर पुण्य-प्रकृति का बध होता है अन्यथा अन्य पुण्य-प्रकृतियो का। इसका अर्थ यह कदापि नही हो सकता कि साधु को देने से तीर्थंकर पुण्य-प्रकृति आदि का बध होता है और अन्य को देने से अन्य पुण्य प्रकृतियो का।

४—पुण्य-बध के हेतु और उसकी प्रक्रिया (गाथा १-३) :

इस ढाल के दोहे १, २ और इन गाथाओ में जो सिद्धान्त दिए गए हैं वे इस प्रकार हैं

(१) पुण्य शुभ योग से उत्पन्न होता है।

(२) शुभ योग से निर्जरा होती है और पुण्य सहज रूप से उत्पन्न होता है।

(३) जहाँ पुण्य होगा वहाँ निर्जरा अवश्य होगी।

(४) सावद्य करणी से पुण्य नही होता।

(५) पुण्य की करणी में जिनाज्ञा है।

हम नीचे इनपर क्रमश विचार करेंगे।

(१) पुण्य शुभ योग से उत्पन्न होता है इस विषय में कुछ प्रकाश पूर्व में डाला जा चुका है (देखिए पृ० १५८ टि० ५)। 'योग' का अर्थ है कर्म, क्रिया, व्यापार। योग तीन हैं—कायिक कर्म, वाचिक कर्म और मानसिक कर्म। हिंसा करना, चोरी करना, अब्रह्मचर्य का सेवन करना, आदि अशुभ कायिकयोग हैं। सावद्य बोलना, झूठ बोलना, कटु बोलना, चुगली करना आदि अशुभ वाचिकयोग हैं। दुर्ध्यान, किसी को मारने का विचार, ईर्ष्या, असूया आदि अशुभ मानसिक योग हैं। जो इनसे विपरीत कायिक आदि योग वे शुभ हैं[1]।

हिंसा न करना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना शुभ काययोग हैं। सत्य, हित, मित बोलना शुभ काययोग है। अर्हत आदि की भक्ति, तपोरुचि, श्रुत-विनयादि शुभ मनोयोग हैं[2]। सिद्धसेन कहते हैं—धर्मध्यान, शुक्लध्यान का ध्यान

१—तत्त्वार्थसूत्र ६.१ भाष्य

२—राजवार्तिक ६.३ वार्तिक अहिंसाऽस्तेयब्रह्मचर्यादि शुभ काययोग'। सत्यहितमित भाषणादि शुभोवाग्योग। अर्हदादिभक्तितपोरुचिश्रुतविनयादि शुभो मनोयोग।

कुशल मनोयोग है। मूर्च्छाभाव परिग्रह—अशुभ योग है। मूर्च्छा न रखना कुशल मनोयोग है[१]।

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है—काया वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन—हलन चलन योग है[२]।

जिस तरह मकान के द्वार तालाब के नाला और नौका के छिद्र होता है वैसे ही जीव के योग होता है। जैसे मकान के द्वार से प्राणी घर में प्रवेश करता है वैसे ही योग से कर्म पुद्गल आत्म-प्रदेशों में आस्रव करते हैं, जैसे नाले के द्वारा तालाब में जल इकट्ठा होता है वैसे ही योग द्वारा कर्म आत्म प्रदेशों में इकट्ठ होते हैं, जैसे छिद्र द्वारा नौका में जल भरता है वैसे ही योग द्वारा आत्म प्रदेशों में कर्म संचित होते हैं[३]।

योगयुक्त जीव के आत्म प्रदेशों के परिस्पन्दन से कर्म-वर्गणा के पुद्गल आत्मा में प्रवेश करते हैं। यदि योग शुभ होता है तो कर्म पुण्य रूप होते हैं। यदि योग अशुभ होता है तो कर्म पाप रूप होते हैं।

(२) शुभ योग से निर्जरा होती है और पुण्य सहज रूप से उत्पन्न होता है:

इस सम्बन्ध में कुछ प्रकाश पूर्व में डाला जा चुका है (देखिये पृ० १७१४ टि १५)। स्वामीजी ने अन्यत्र लिखा है—जब जीव शुभ कर्तव्य—निरवद्य क्रिया करता है तब कर्मों का क्षय होता है। इससे जीव के सर्व आत्म प्रदेशों में हलन चलन होती है, जिससे आत्म प्रदेशों में कर्मों का आस्रव होता है। जब शुभ योग के समय जीव के आत्म प्रदेशों में स्पन्दन होता है तब सहचर नामकर्म के उदय से पुण्य-कर्म आत्म प्रदेशों में प्रवेश पाते हैं। मन-वचन-काया के योग प्रशस्त और अप्रशस्त दो तरह के होते हैं। अप्रशस्त योगों से पाप का प्रवेश होता है। प्रशस्त योगों से निर्जरा होती है। निर्जरा होते समय आत्म प्रदेशों का भी परिस्पन्दन होता है उससे पुण्य-कर्म आकृष्ट होकर आत्म-

१—तत्त्वार्थसूत्र ६.१ की वृत्ति अनभिध्याद्यकर्मकुशलव्यापाराभिध्या चेति मनोयोग कुशलः, मूर्च्छाकषायः परिग्रह इति मनोव्यापार एव।

२—सर्वार्थसिद्धि ६.१ की वृत्ति
कर्म क्रिया इत्यनर्थान्तरम्। कायवाङ्मनसां कर्म कायवाङ् मनःकर्म योग इत्याख्यायते आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगः

३—(क) तेरा द्वार
(ख) तत्त्वार्थसूत्र भाष्य शुभाशुभयोः कर्मणोरास्रव आस्रवः सरः सलिलावाहिनिर्वाहिस्रोतोवत्

प्रदेशो में स्थान पाते हैं। प्रशस्त योग से ये कर्म विपाकावस्था में अच्छे फल के देने वाले होते हैं इसलिये पुण्य कहलाते हैं[१]।

(३) जहां पुण्य होगा वहां निर्जरा अवश्य होगी · स्वामीजी ने आगे चलकर भिन्न-भिन्न सूत्रो के अनेक पाठ दिए हैं जिससे इस सिद्धान्त की वास्तविकता स्वयसिद्ध होती है। जहां निर्जरा होती है वहां पुण्य नही भी हो सकता है। लेकिन जहां पुण्य होगा वहां निर्जरा अवश्य होगी। शुभ योगो से निर्जरा होती है और प्रासगिक रूप से पुण्य का बध (देखिये गाथा ४-३७ तथा टिप्पणी ५-२६)।

(४) सावद्य करनी से पुण्य नहीं होता बाद मे स्वामीजी ने सूत्रो से अनेक उद्धरण दिये हैं उनसे यह बात स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। इसके लिए पाठक देख गाथा ४-३७ तथा टिप्पणी ५-२६।

(५) पुण्य की करनी में जिन-आज्ञा है श्वेताम्बर आचार्यो ने शुभ योग से पुण्य का बध माना है और दिगम्बर आचार्यो ने शुभ उपयोग से। जब पुण्य भी बधन रूप है तब प्रश्न है उसके उत्पादक शुभ योग अथवा शुभ उपायोग हेय हैं अथवा ग्राह्य ?

ब्रह्मदेव कहते हैं "जो ज्ञानदर्शनचारित्रमय रत्नत्रयी रूप मोक्ष-मार्ग को नही जानता, वही निश्चय नय से हेय होने पर भी पुण्य को उपादेय समझ उसे करता है[२]।" (यहाँ पुण्य का अर्थ है पुण्य को उत्पन्न करने वाले शुभ उपयोग।) जो यह नही जानता है कि बध और मोक्ष का हेतु 'निज' है वही पुण्य और पाप दोनो को

१—निरजरा री निरवद करणी करतां, करम तणो खय जानो रे।
जीव तणां परदेश चले छें, त्यांसू पुन लागे छें आंणो रे॥ ४२ ॥
निरजरा री करणी करें तिण काले, जीव रा चाले सर्व परदेशो रे।
जब सहचर नाम करम सू उदे भाव, तिणसू पुन तणो परवेशो रे॥ ४३ ॥
मन वचन काया रा जोग तीनूइ, पसत्थ नें अपसत्थ चाल्या रे।
अपसत्थ जोग तो पाप ना दुवार, पसत्थ निरजरा री करणी में घाल्या रे॥ ४४ ॥

२—परमात्मप्रकाश २ ५३ की टीका ·
निजशुद्धात्मानुभूतिरुचिविपरीत मिथ्यादर्शन स्वशुद्धात्मप्रतीतिविपरीत मिथ्याज्ञानं निजशुद्धात्मद्रव्यनिश्चलस्थितिविपरीत मिथ्याचारित्रमित्येतत्त्र कारण, तस्मात्त्रया-द्विपरीत भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूप मोक्षस्य कारणमिति योऽसौ न जानाति स एव पुण्यपापद्वय निश्चयनयेन हेयमपि मोहवशात्पुण्यमुपादेय करोति पाप हेय करोतीति भावार्थ·

मोह से करता है[1] । जो दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय आत्मा को नहीं जानता वही जीव पुण्य और पाप दोनों को मोक्ष का कारण जानकर करता है[2] ।' यहाँ प्रश्न उठता है—परमतवादी पुण्य और पाप को समान मानकर स्वच्छंद रहते हैं, फिर उनको दोष क्यों दिया जाय ? इसका उत्तर ब्रह्मदेव इस प्रकार देते हैं 'जब शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप तीन गुप्ति से गुप्त वीतराग निर्विकल्प समाधि को पाकर ध्यान में मग्न हुए पुण्य और पाप को समान जानते हैं तब तो जानना योग्य है। परन्तु जो मूढ़ परम समाधि को न पाकर भी गृहस्थ अवस्था में दान, पूजा आदि शुभ क्रियाओं को छोड़ देते हैं और मुनि-पद में छह आवश्यक कर्मों को छोड़ते हैं, वे दोनों बातों से भ्रष्ट होते हैं। वे न तो यती हैं, न श्रावक ही। वे निंदा योग्य ही हैं। तब उनको दोष ही है, ऐसा जानना[3] ।

दिगम्बर विद्वानों की दृष्टि से शुभ अशुभ और शुद्धोपयोग का स्थान इस प्रकार है 'पंच परमेष्ठी की वंदना अपने अशुभ कार्यों की निन्दा और प्रतिक्रमण पुण्य के कारण हैं (मोक्ष के कारण नहीं) इसलिए ज्ञानी पुरुष इन तीनों में से एक भी न तो करता न कराता न करते हुए को भला जानता है[4] । एक ज्ञानमय शुद्ध पवित्र भाव को छोड़ कर अन्य वंदन नियम और प्रतिक्रमण करना ज्ञानियों को युक्त नहीं[5] । वन्दना करो, निन्दा करो प्रतिक्रमण लेकिन जिसके अशुद्ध भाव हैं उसके नियम से संयम नहीं हो सकता[6] । शुद्धोपयोगियों के ही संयम शील तप होते हैं शुद्धों के ही सम्यक् दर्शन और सम्यक्ज्ञान होते हैं, शुद्धों के कर्मों का नाश होता है। इसलिए शुद्ध उपयोग ही प्रधान है । विशुद्ध भाव ही आत्मीय है। शुद्ध भाव को ही धर्म समझ कर अंगीकार करो। वही चारों गतियों के दुःखों में पड़े हुए इस जीव को आनन्द स्थान में रखता है । मुक्ति का मार्ग एक शुद्ध भाव ही है[9] । शुभ परिणाम से धर्म—

१—परमात्मप्रकाश २. ५३
२—वही २. ५४
३—वही २. ५५ की टीका
४—वही २. ६४
५—वही २. ६५
६—वही २. ६६
७—वही २. ६७
८—वही २. ६८
९—वही २. ६९

पुण्य मुख्यता से होता है। अशुभ परिणामों से अधर्म—पाप होता है। इन दोनो से रहित—शुद्ध परिणाम से कर्म का बंध नही होता[1] ।"

"श्री वीतराग देव, द्वादशांग शास्त्र और मुनिवरो की भक्ति करने से पुण्य होता है लेकिन कर्मक्षय नही होता[2] । इस कथन के भाव का स्फोटन ब्रह्मदेव ने अपनी टीका में इस प्रकार किया है

"सम्यक्त्व पूर्वक देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति से मुख्यत तो पुण्य ही होता है, मोक्ष नही होता। प्रश्न उठता है, यदि पुण्य मुख्यता से मोक्ष का कारण नही तो त्याज्य ही है ग्रहण योग्य नही। यदि ग्रहण योग्य नही तो भरत, सगर, राम, पांडवादि ने निरन्तर पच परमेष्ठि के गुण-स्मरण क्यो किये और दान-पूजादि शुभ क्रियाओ से पुण्य का उपार्जन क्यो किया ? इसका उत्तर यह है—जैसे परदेश में स्थित कोई रामादि पुरुष अपनी प्यारी सीतादि स्त्री के पास से आये हुए किसी पुरुष से बातें करता है, उसका सम्मान करता है, यह सब कारण उसकी अपनी प्रिया के हैं। उसी तरह वे भरत आदि महान् पुरुष वीतराग परमानन्दरूप मोक्ष-लक्ष्मी के सुख अमृत रस के प्यासे हुए ससार की स्थिति के छेदन के लिए, विषय-कषाय से उत्पन्न हुए आर्त्त-रौद्र ध्यानो के नाश के हेतु श्री पच परमेष्ठि के गुणो का स्मरण करते हैं और दान-पूजादि करते हैं। पच परमेष्ठि की भक्ति आदि शुभ क्रियाओ से जो भक्त आदि हैं उनके बिना चाहे पुण्य प्रकृति का आश्रव होता है। जैसे किसान की दृष्टि अन्न पर होती है तृण, भूसादि पर नही, वैसे उन्हें बिना चाहा पुण्य का बन्ध सहज ही होता है[3] ।"

आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—"यदि श्रामण्य में अर्हदादि में भक्ति, प्रवचन—आगम में अभियुक्तो में वत्सलता होती है वह शुभ उपयोग युक्त चर्या होती है। सरागचर्या में श्रमणो में उत्पन्न श्रम—खेद को दूर करना, वन्दन-नमस्कार सहित अभ्युत्थान, अनुगमन की प्रतिपत्ति निन्दित नही है। निश्चय ही सम्यग्दर्शन और ज्ञान का उपदेश देना, शिष्य ग्रहण करना, उनका पोषण करना आदि सराग-सयमियो की चर्या है। जो मुनि सदा काल चार प्रकार के श्रमण-सघ का षट्काय जीवो की विराधनारहित उपकार करता है वह सराग-सयमियो में प्रधान होता है[4] ।

१—परमात्मप्रकाश २ ७१

२—वही २ ६१

३—वही २ ६१ की टीका

४—प्रवचनसार ३ ४६-४७-४८-४९

"वह श्रमण जिसे पदार्थ और सूत्र सुविदित हैं, जो संयम और तप से संयुक्त है, जो वीतराग है और जिसको सुख-दुख सम हैं शुद्ध उपयोगवाला है[1]।

'सिद्धान्त के अनुसार श्रमण शुद्धोपयोगयुक्त और शुभोपयोगयुक्त दो तरह के होते हैं। उनमें जो शुद्धोपयोगयुक्त होते हैं वे आस्रव रहित होते हैं। बाकी आस्रव सहित होते हैं[2]।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि दिगम्बर आचार्यों के अनुसार एक सीमा के बाद शुभयोग हेय हैं। जब तक मुनि शुद्धोपयोग की अवस्था में नहीं पहुँचता तब तक शुभयोग विहित हैं। मुनि को शुद्धोपयोग की अवस्था में पहुँचना चाहिये। फिर उसके लिए वन्दन प्रतिक्रमण आदि क्रियाएं भी हेय हैं। शुभयोगों को पुण्य की कामना से तो कभी करना ही नहीं चाहिए।

श्री विनय विजयजी कहते हैं— 'संयति मुनियों के भी शुभयोग शुभकर्मों का आस्रव करते हैं, जीव को कर्मरहित नहीं करते। शुभयोग भी मोक्ष-सुख को प्राप्त करनेवाली स्वर्ण-शृंखला के समान हैं। अतः शुभ योगास्रव का भी परिहार करे[3]।

स्वामीजी ने लिखा है— 'जब मुनि आहार गमनागमन आदि शुभयोगों को करता है तब निर्जरा के साथ-साथ आनुषंगिक फल के रूप में पुण्य कर्मों का आस्रव भी होता है। जब मुनि शुभमार्गों का सेवन करता है—जैसे उपवास आदि तपस्या करता है तब उसके निर्जरा होती है, पुण्य का आस्रव नहीं होता। जब तक वह शुभयोगों में प्रवृत्त होता है तब तक उसके निर्जरा के साथ-साथ पुण्य का भी बंध होता है। चारित्रिक विकास के तेरहवें गुण स्थान में भी मुनि अयोगी नहीं होता। दिगम्बर आचार्यों के अनुसार वह शुद्धोपयोगी होगा। श्वेताम्बर मत से उसके भी पुण्यकर्म का बंध होता है। आनुषंगिक रूपसे पुण्य कर्मों का बन्धन होने पर भी शुभयोग हेय नहीं क्योंकि वास्तव में वे निर्जरा के ही हेतु हैं। गेहूँ के साथ पयाल की तरह पुण्य तो अनायास आकर्षित होते हैं।

१—प्रवचनसार १ १४

२—वही १ ४४

३—शान्त सुधारस ७ ७

> शुद्धा योगा रे यदपि यतात्मनां। स्रवन्ते शुभकर्माणि ॥
> काञ्चननिगडांस्तान्यपि जानीयात्। हतनिर्वृतिशर्माणि ॥

५—अशुभ अल्पायुष्य और शुभ दीर्घायुष्य के बंध-हेतु (गा० ४-६) :

गाथा ४ में 'स्थानाङ्ग' के जिस पाठ का उल्लेख है वह इस प्रकार है :

तिहि ठाणेहि जीवा अप्पाउअत्ताते कम्म पगरिंति, त०—पाणे अतिवातित्ता भवति मुस वइत्ता भवइ तहारूव समणं वा माहण वा अफासुएण अणेसणिज्जेण असणपाण-खाइमसाइमेण पडिलाभित्ता भवइ, इच्चेतेहि तिहि ठाणेहि जीवा अप्पाउअत्ताते कम्म पगरेंति। (३. १ १२५)।

यहाँ अल्पायुष्यकर्म बध के तीन हेतु कहे गये हैं :

१—प्राणातिपात,

२—मृषावाद और

३—तथारूप[1] श्रमण[2] माहन[3] को अप्रासुक[4] अनेषणीय[5] आहार का प्रतिलाभ।

प्राणियो की हिंसा करना, झूठ बोलना, मूलगुणधारी श्रमण-साधु को सचित्त और अकल्प्य आहार देना ये तीनो ही कर्म सावद्य हैं। अशुभ योग हैं। जिन-आज्ञा के बाहर हैं। इनसे अल्पायुष्य का बध होता है और वह पाप-कर्म की प्रकृति है।

गाथा ५-६ में 'स्थानाङ्ग' के जिस पाठ की सूचना है वह इस प्रकार है :

तिहि ठाणेहि जीवा दीहाउअत्ताते कम्म पगरेंति, त०—णो पाणे अतिवातित्ता भवइ णो मुस वतित्ता भवति तथारूव समण वा माहणं वा फासुएसणिज्जेण असण-पाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ, इच्चेतेहिं तिहि ठाणेहि जीवा दीहाउयत्ताए कम्म पगरेंति। (३ १ १२५)।

यहाँ दीर्घायुष्यकर्म बध के तीन हेतु कहे हैं

१—प्राणातिपात न करना,

२—मृषा न बोलना और

३—तथारूप श्रमण निर्ग्रंथ को प्रासुक एषणीय आहार से प्रतिलाभित करना।

१—तथा तत्प्रकार रूप—स्वभावो नेपथ्यादि वा यस्य स तथारूप दानोचित इत्यर्थ

२—श्राम्यति—तपस्यतीति श्रमण - तपोयुक्तस्त

३—मा हन इत्याचष्टे य पर स्वय हनननिवृत्त सन्निति स माहनो मूलगुणधरस्तं

४—प्रगता असव —असुमन्त प्राणिनो यस्मात् तत्प्रासुक तन्निषेधादप्रासुक सचेतन-मित्यर्थ

५—एष्यते—गवेष्यते उद्गमादिदोषविकलतया साधुभिर्यत्तदेषणीय—कल्प्य तन्निषेधादनेषणीय तेन

ये तीनों बंध-हेतु निरवद्य हैं। शुभ योग हैं। भगवान की आज्ञा में हैं। दीर्घायुष्य पुण्यकर्म की प्रकृति है। उसका बंध शुभ योगों से है, यह इस पाठ से सिद्ध है।

'स्थानाङ्ग सूत्र' में कहा है : प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादान-विरमण, मैथुनविरमण और परिग्रहविरमण—इन पाँच स्थानों से जीव कर्म-रज को धोता है :

पंचहिं ठाणेहिं जीवा रयं वमंति, तं—पाणातिवातवेरमणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं (५ २ ४११)

इससे यह भी सिद्ध होता है कि जिन योगों से दीर्घायुष्य कर्म का बंध बतलाया गया है उनसे कर्मों की निर्जरा भी होती है।

६—अशुभ-शुभ दीर्घायुष्यकर्म के बंध-हेतु (गा० ७-९)

तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति तंजहा पाणे अतिवातित्ता भवइ मुसं वइत्ता भवइ तहारूवं समणं वा माहणं वा हीलेत्ता निंदित्ता खिंसेत्ता गरहित्ता अवमाणित्ता अन्नयरेणं अमणुन्नेणं अपीतिकारएणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति (३ १ १२५)

यहाँ अशुभ दीर्घायुष्यकर्म के बंध-हेतु इस प्रकार कहे गये हैं :

१—प्राणातिपात,

२—मृषावाद और

३—तथारूप श्रमण निर्ग्रन्थ की हीलना निन्दा खिंसा गर्हा और अपमान करते हुए अमनोज्ञ और अप्रीतिकारक आहार का प्रतिलाभ।

प्राणातिपात आदि अशुभ योग हैं। सावद्य हैं। जिन-आज्ञा के विरुद्ध हैं। तीव्र परिणाम पूर्वक इन अशुभ कर्त्तव्यों को करने से अशुभ दीर्घायुष्य का बंध होता है।

शुभ दीर्घायुष्यकर्म के बंध-हेतुओं का पृथक् पाठ इस प्रकार है :

तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति तंजहा—नो पाणे अतिवातित्ता भवइ नो मुसं वइत्ता भवइ तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता नमंसित्ता सक्कारित्ता सम्माणेत्ता कल्लाणं मंगलं देवयं चेतियं पज्जुवासेत्ता मणुन्नेणं पीतिकारएणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता भवइ इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा सुहदीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति (३ १ १२५)।

यहाँ शुभ दीर्घायुष्यकर्म के बंध-हेतु इस प्रकार कहे गये हैं :

१—प्राणातिपात न करना

२—मृषा न बोलना और

३—तथारूप श्रमण माहन को वदन-नमस्कार, सत्कार-सम्मान कर, उस कल्याणरूप, मगलरूप, देवत चैत्य की पर्युपासना कर उसे मनोज्ञ, प्रियकारी आहार से प्रतिलाभित करना।

शुभ दीर्घायुष्यकर्म पुण्य की प्रकृति है। उसके यहाँ वर्णित वध-हेतु भी शुभ हैं।

'समवायाङ्ग' में कहा है—निर्जरा पाँच हैं प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण, मैथुनविरमण और परिग्रहविरमण

पच निज्जरट्ठाणा पन्नत्ता, तजहा—पाणाइवायाओ वेरमण, मुसावायाओ वेरमणं, अदिन्नादाणाओ वेरमण, मेहुणाओ वेरमण, परिग्गहाओ वेरमणं (५ ६)।

इस पाठ को 'स्थानाङ्ग' के उपर्युक्त पाठ के साथ पढने से यह स्पष्ट है कि जिन वोलो से शुभायुष्यकर्म का वध वतलाया गया है उनसे निर्जरा भी होती है।

७—अशुभ-शुभ आयुष्यकर्म का बध और भगवतीसूत्र (गा० १०):

यहाँ 'भगवती सूत्र' के जिस पाठ का उल्लेख है, वह इस प्रकार है

कहं ण भते ! जीवा असुभदीउयत्ताए कम्म पकरेंति ? गोयमा ! पाणे अइवाएत्ता, मुस वइत्ता, तहारूव समण वा, माहण वा हीलित्ता निंदित्ता खिसित्ता गरहित्ता अवमन्नित्ता अन्नयरेणं अमणुन्नेण अपीतिकारएण असण-पाण-खाइम-साइमेण पडिलाभेत्ता एव खलु जीवा असुमदीहाउयत्ताए कम्म पकरेंति (५ ६)।

कह ण भते ! जीवा सुभदीहाउयत्ताय कम्म पकरेंति ?

गोयमा ! नो पाणे अइवाइत्ता नो मुस वइत्ता तहारूव समण वा माहणं वा वदित्ता वा नमसित्ता जाव पज्जुवासित्ता अन्नयरेण मणुन्नेण पीतिकारएण असणपाणखाइमसाइमेण पडिलाभेत्ता एव खलु जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति (५ ६)।

'भगवती' का यह पाठ गौतम और भगवान् महावीर के प्रश्नोतर रूप मे है जब कि 'स्थानाङ्ग' का पाठ 'भगवती' के उत्तर मात्र का सकलन है। दोनो पाठो का अर्थ एक ही है। यह पाठ भी इसी वात को सिद्ध करता है कि पुण्य-कर्म के वध-हेतु शुभ योग रूप होते हैं और पापकर्म के वध-हेतु अशुभ योग रूप।

८—वंदना से निर्जरा और पुण्य दोनों (गा० ११).

'उत्तराध्ययन' का सम्बधित पाठ इस प्रकार है :

वन्दणएणं भन्ते जीवे कि जणयइ। व० नीयागोय कम्म खवेइ। उच्चागोयं कम्म

निबन्धइ । सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ दाहिणभावं च णं जणयइ ॥
(२९.१०)

शिष्य ने पूछा— 'भगवन् ! जीव वन्दना से क्या उत्पन्न करता है ?' भगवान महावीर ने उत्तर दिया— नीच गोत्रकर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्रकर्म का बंध करता है, अप्रतिहत सौभाग्य तथा आज्ञा-फल प्राप्त करता है और दाक्षिण्य भाव उत्पन्न करता है ।

'वन्दना' का अर्थ है मुनियों का स्तवन करना । यह शुभ योग है । नीच गोत्रकर्म का क्षय निर्जरा है । उच्च गोत्र का बंध पुण्य-कर्म प्रकृति का बंध है । शुभ योग से निर्जरा होती है और सहज रूप से पुण्य का बंध होता है, यह सिद्धान्त इस प्रश्नोत्तर से अच्छी तरह सिद्ध होता है ।

६—धर्मकथा से निर्जरा और पुण्य दोनों (गा० १२)

'उत्तराध्ययन सूत्र के जिस पाठ का यहाँ संकेत है, वह इस प्रकार है :

धम्मकहाए णं भन्ते जीवे किं जणयइ । ध० निज्जरं जणयइ । धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ । पवयणपभावेणं जीवे आगमिसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबन्धइ ॥ २९.२३

इसका अर्थ है :

'हे भन्ते ! धर्मकथा से जीव क्या उत्पन्न करता है ?' 'वह निर्जरा करता है । धर्मकथा से प्रवचन की प्रभावना होती है । प्रवचन की प्रभावना से जीव आगामिक काल में भद्र रूप कर्मों का बंध करता है ।'

धर्मकथा स्वाध्याय तप का भेद है[1] । तप का लक्षण ही कर्मों को दूर करना है । टीकाकार ने धर्मकथा से शुभानुबन्धि शुभकर्म का बंध बतलाया है[2] ।

यहाँ भी शुभ योग से निर्जरा और पुण्य दोनों कहे हैं । धर्मकथा करना निरवद्य शुभ योग है, निरवद्य है और जिन-आज्ञा में है ।

१—उत्त० ३० ३४

वायणा पुच्छणा चेव तहेव परियट्टणा ।
अणुप्पेहा धम्मकहा सज्झाओ पंचहा भवे ॥

२—धर्मकथया आगमिष्यतीति आगमः—आगामी कालस्तस्मिन् भद्रकत्वा—भद्रता सततकल्याणोपलक्षितं कर्म निबध्नाति शुभानुबन्ध्यशुभमुपार्जयतीति भावः

१०—वैयावृत्य से निर्जरा और पुण्य दोनों (गा० १३) :

यहाँ 'उत्तराध्ययन' के जिस पाठ की ओर सकेत है वह इस प्रकार है :

वेयावच्चेणं भन्ते जीवे किं जणयइ । वे० तित्थयरनामगोत्त कम्मं निबन्धइ ॥ (२६ ४३) इसका अर्थ यह है ·

"भन्ते ! वैयावृत्य से जीव क्या उत्पन्न करता है ?" "वह तीर्थंकर नामकर्म का वध करता है ।"

निरवद्य वैयावृत्य शुभ योग है । वैयावृत्य आभ्यतरिक तपो मे से एक तप है[1] । अत उससे निर्जरा स्वयसिद्ध है । उसका फल पुण्य प्रकृति का बंध भी है ।

११—तीर्थङ्कर नामकर्म के बंध-हेतु (गा० १४) ·

इस विषय का 'ज्ञाताधर्मकथा' का पाठ इस प्रकार है

इमेहिं य ण वीसाएहि य कारणेहिं आसेवियबहुलीकएहि तित्थयरनामगोय कम्म निव्वत्तेइ तजहा—

अरहंतसिद्धपवयणगुरुथेरबहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छल्लया य तेसिं अभिक्ख नाणोवओगोय ॥ १ ॥
दसणविणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो ।
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥ २ ॥
अपुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पहावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्त लहइ सो उ ॥ ३ ॥

नायाधम्मकहाओ ८

यहाँ तीर्थंकर नामकर्म के वध-हेतुओ की सख्या बीस बतलायी गयी है जबकि 'तत्त्वार्थसूत्र' में इनकी सख्या १६ ही प्राप्त है । तत्त्वार्थसूत्रकार ने (१) सिद्ध-वत्सलता, (२) स्थविर-वत्सलता, (३) तपस्वी-वत्सलता और (४) अपूर्व ज्ञानग्रहण इन चार हेतुओ को सूत्रगत नही किया । भाष्य में 'प्रवचन वात्सलत्व' की व्याख्या में वृद्ध और तपस्वी के सग्रह-उपग्रह-अनुग्रह को अवश्य ग्रहण किया है ।

१—उत्त० ३०, ३०

पायच्छित्त विणओ वेयावच्च तहेव सज्झाओ ।
झाण च विओसग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो ॥

हम यहाँ आगमोक्त बीसों हेतुओं का तत्त्वार्थभाष्य सर्वार्थसिद्धि टीका और सिद्धसेन टीका आदि के आधार से स्पष्टीकरण कर रहे हैं

जिन बोलों से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है वे इस प्रकार हैं

(१) अरिहंत-वत्सलता घनघातिय कर्मों का नाश कर केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त करने वाले अर्हतों की आराधना—सेवा[1] । 'तत्त्वार्थसूत्र' में इसके स्थान पर 'अर्हद्भक्ति'— परमभावविशुद्धियुक्तभक्ति' (६ २१ और भाष्य) है । भक्ति अर्थात् परम—उत्कृष्ट भाव-विशुद्धि युक्त अनुराग[2] ।

श्री सिद्धसेनगणि ने यहाँ भक्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है—'सद्भूत अतिशयों का कीर्तन वन्दन सेवा पुष्प धूप, गन्ध से अर्चन आमलक प्रतिमाप्रतिष्ठापन और स्नानविधिरूप भक्ति[3] । यह अर्थ मूल सूत्र भाष्यानुसारी नहीं यह स्पष्ट है। 'परमभावविशुद्धियुक्तभक्तिः' इसका अर्थ इन्होंने यथासंभव अभिगमन वन्दन पर्युपासन आदि भी किया है[4] और वही ठीक है ।

(२) सिद्ध-वत्सलता । सिद्धों की आराधना—स्तव गुणगान[5] ।

(३) प्रवचन-वत्सलता । तत्त्वार्थ—प्रवचनभक्ति' । श्रुतज्ञान—सिद्धान्त का गुणगान[6] । अर्हत् शासन के अनुष्ठायी श्रुतधर बाल वृद्ध तपस्वी शैक्ष ग्लान आदि का संग्रह-उपग्रह-अनुग्रह । बछड़े पर गाय जिस तरह स्नेह रखती है उस तरह साधर्मिक पर निष्काम स्नेह[7] ।

१—जयाचार्य (भ्रमविध्वंसनम्) पृ० १८१-८२

२—सर्वार्थसिद्धि : भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः

३—सिद्धसेन टीका सद्भूतातिशयोत्कीर्तनवन्दनसेवापुष्पधूपगन्धाभ्यर्चनादिप्रतिमाप्रतिष्ठापनस्नपनविधिरूपा

४—सिद्धसेन टीका यथासम्भवमभिगमनवन्दनपर्युपासनयथाविहितक्रियाकलापप्रवचनस्थानलक्षणा

५—जयाचार्य (भ्रमविध्वंसनम्) पृ० १८२

६—जयाचार्य (भ्रमविध्वंसनम्) पृ० १८२

७—(क) भाष्य अर्हच्छासनानुष्ठायिनां श्रुतधराणां बालवृद्धतपस्विशैक्षग्लानादीनां च संग्रहोपग्रहानुग्रहकारित्वं प्रवचनवत्सलत्वमिति ।

(ख) सर्वार्थसिद्धि वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम् ।

सिद्धसेन के अनुसार 'प्रवचन-भक्ति' का अर्थ है—आगम—श्रुतज्ञान का विहित-क्रम-पूर्वक श्रवण, श्रद्धान आदि[१]।

(४) गुरु-वत्सलता धर्म-गुरु का विनय[२]। 'तत्त्वार्थसूत्र' मे इसके स्थान में 'आचार्य-भक्ति' है।

(५) स्थविर-वत्सलता ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध स्थविर साधुओ का विनय[३]।

(६) बहुश्रुत वत्सलता बहुआगम अभ्यासी साधु का विनय। इसके स्थान में 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'बहुश्रुत-भक्ति' है।

(७) तपस्वी-वत्सलता एक उपवास से आरम्भ कर बडी-बडी तपस्याओ से युक्त मुनियो की सेवा-भक्ति[४]।

(८) अभिक्ष्णज्ञानोपयोग : अभीक्ष्ण मुहु मुहु—प्रतिक्षण। ज्ञान अर्थात् द्वादशांग-प्रवचन। उपयोग अर्थात् प्रणिधान—सूत्र, अर्थ और उभय में आत्मव्यापार, आत्म-परिणाम। वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, धर्मोपदेश का अभ्यास[५]। जीवादि पदार्थ विषयक ज्ञान में सतत जागरूकता[६]।

(९) दर्शन-विशुद्धि जिनो द्वारा उपदिष्ट तत्त्वो में शकादि दोषरहित निर्मल रुचि, प्रीति, दृष्टि, दर्शन का होना[७]। तत्त्वो में निर्मल श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन का होना।

१—देखिए पृ० २१४ पा० टि० ४

२—जयाचार्य (भ्रमविध्वसनम्) पृ० ३८२

३—वही पृ० ३८२

४—वही पृ० ३८२

५—सिद्धसेन टीका

६—सर्वार्थसिद्धि · जीवादिपदार्थस्वतत्त्वविषये सम्यग्ज्ञाने नित्य युक्तता अभीक्ष्णज्ञानोपयोग

७—(क) सिद्धसेन टीका।

(ख) सर्वार्थसिद्धि जिनेन भगवताऽर्हत्परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षवर्त्मनि रुचिर्दर्शनविशुद्धि

१०—विनय : तत्त्वार्थ : विनय संपन्नता। सम्यग्ज्ञानादि रूप मोक्ष मार्ग और उसके साधन आदि में उचित सत्कार आदि विनय से युक्त होना[1]। ज्ञान, दर्शन चारित्र और उपचार विनय से युक्त होना[2]।

११—आवश्यक। तत्त्वार्थ : आवश्यकापरिहाणि। सामायिक आदि छह आवश्यकों का भावपूर्वक अनुष्ठान करना, उनका भावपूर्वक कभी भी परित्याग न करना[3]।

१२—शील-व्रतानतिचार : हिंसा, असत्य आदि से विरमण रूप मूल गुणों को व्रत कहते हैं। उन व्रतों के पालन में उपयोगी उत्तर गुणों को शील कहते हैं। उनके पालन में जरा भी प्रमाद न करना। उनका अनतिचार पालन करना। व्रत और शील में निरवद्य वृत्ति[4]।

१३—क्षणलव संवेग : तत्त्वार्थ 'अभीक्ष्ण संवेग'। सांसारिक भोगों के प्रति सतत—नित्य उदासीनता[5]।

१४—तप : अनशन आदि तप। शक्ति को न छिपाकर मोक्षमार्ग के अनुकूल शरीर-क्लेश यथाशक्ति तप है[6]।

१—सर्वार्थसिद्धि : सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षमार्गेषु तत्साधनेषु च गुर्वादिषु स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरो विनयस्तेन सम्पन्नता विनयसम्पन्नता।

२—(क) जयाचार्य (भ्रम विध्वंसनम्) पृ० १८९

(ख) सिद्धसेन टीका

३—(क) भाष्य : सामायिकादीनामावश्यकानां भावतोऽनुष्ठानस्यापरिहाणिः।

(ख) सर्वार्थसिद्धि : षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालं प्रवर्तनमावश्यकापरिहाणिः।

४—(क) भाष्य : शीलव्रतेष्वात्यन्तिको भृशमप्रमादोऽनतिचारः।

(ख) सिद्धसेन टीका : शीलमुत्तरगुणाः पिण्डविशुद्धिसमितिभावना (तपः) प्रतिमा अभिग्रहलक्षणा व्रतमुपात्तं पञ्च महाव्रतानि रात्रिभक्तविरतिपर्यवसानानि।

(ग) सर्वार्थसिद्धि : अहिंसादिषु व्रतेषु तत्परिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतीचारः।

५—सर्वार्थसिद्धि : संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः

६—सर्वार्थसिद्धि : अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधि कायक्लेशस्तपः

१५—त्याग · साधु को प्रासुक एषणीय दान । यथाशक्ति यथाविधि प्रयुज्यमान आहार, अभय और ज्ञान-दान यथाशक्ति त्याग है[1] ।

सिद्धसेन ने 'त्याग' का अर्थ भूतो को और विशेषत यतियो को दान देना किया है। यतियो के अतिरिक्त अन्य भूतो को दिया गया दान 'त्याग' की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आता । अभयदेव ने यतिजनोचित दान को ही त्याग कहा है ।

१६—वैयावृत्त्य । तत्त्वार्थ. : 'सघसाधुवैयावृत्त्यकरण'। दिगबरीय पाठ में 'सघ' शब्द नही है । सघ का अर्थ सिद्धसेन ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका किया है[2] । इनके अनुसार वैयावृत्त्य का अर्थ है सघ तथा साधुओ की प्रासुक आहारादि से सेवा करना[3] । दिगम्बरीय पाठ में 'सघ' शब्द न होने से साधुओ के अतिरिक्त श्रावक-श्राविकाओ की वैयावृत्त्य का भाव नही आता । वैयावृत्त्य का आगमिक अर्थ है दस-विध सेवा अर्थात् आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष, कुल, गण, सघ और सार्धमिक की सेवा । यहाँ सघ का अर्थ है गण—समुदाय[4] । सार्धमिक का अर्थ है समान धर्मवाला साधु अथवा

१—(क) भाष्य : यथाशक्तिस्त्यागः

(ख) नायाधम्मकहाओ ८ ६९ अभयदेव टीका चियाए त्यागेन—यतिजनोचित दानेन

(ग) सर्वार्थसिद्धि त्यागो दानम् । तत्त्रिविधम्—आहारदानमभयदान ज्ञानदान चेति । तच्छक्तितो यथाविधि प्रयुज्यमान त्याग इत्युच्यते ।

(घ) सिद्धसेन टीका स्वस्य न्यायार्जितस्यानुकम्पानिर्जितात्मानुग्रहालम्बन भूतेभ्यो विशेषतस्तु विधिना यतिजनाय दानम् ।

२—सिद्धसेन टीका सङ्घ —समूह सम्यक्त्वज्ञानचरणानां तदाधारश्च साध्वादिश्चतुर्विधः।

३—सिद्धसेन टीका · व्यावृत्तस्य भावो वैयावृत्त्य, साधूनां, मुमुक्षूणां प्रासुकाहारोपधि-शय्यास्तथा भेषज विश्रामणादिषु पूर्वत्र च व्यावृत्तस्य मनोवाक्काये शुद्ध परिणामो वैयावृत्त्यमुच्यते ।

४—(क) ठाणाङ्ग ५ १-३९७ टीका · कुलं—चान्द्रादिकं साधुसमुदायविशेषरूप प्रतीत, गण —कुलसमुदाय सङ्घो—गणसमुदाय ।

(ख) भगवती ८-८ की वृत्ति : समूहंण—ति समूह—साधुसमुदाय प्रतीत्य, तत्र कुलं चान्द्रादिकं, तत्समूहो गणः कोटिकादि, तत्समूहस्सघं, प्रत्यनीकता चैतेषामवर्णवादादिभिरिति ।

साधर्मी[1]। गणि सिद्धसेन का संघ शब्द का अर्थ समूहास्पद है। 'सर्वार्थसिद्धि' में इसका अर्थ किया है— 'गुणियों में—साधुओं में दुःख पड़ने पर निरवद्य विधि से उसे दूर करना[2]।'

१७—समाधि : इसके स्थान में 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'संघसाधुसमाधिकरण' है। दिगंबरीय पाठ में 'संघ' शब्द नहीं है। जैसे भाण्डागार में आग लग जाने पर बहुत से लोगों का उपकार होने से आग को शान्त किया जाता है उसी प्रकार अनेक व्रत और शील से समृद्ध मुनि के तप करते हुए किसी कारण से विघ्न उत्पन्न होने पर उसका संधारण करना—शान्त करना साधु-समाधि है[3]।

'समाधि' का अर्थ है चित्तस्वास्थ्य[4]। सिद्धसेन ने इसका अर्थ किया है—स्वस्थता निराकुलता का सम्पादन।

१८—अपूर्व ज्ञान-ग्रहण : अप्राप्त ज्ञान का ग्रहण करना।

१९—श्रुति-भक्ति : सिद्धान्त की भक्ति।

२०—प्रवचन-प्रभावना : 'तत्त्वार्थसूत्र' में इसके स्थान पर 'मार्ग प्रभावना' है। अभिमान छोड़ ज्ञानादि मोक्ष मार्ग को जीवन में उतारना और दूसरों को उसका उपदेश दे कर उसका प्रभाव बढ़ाना[5]।

आचार्य पूज्यपाद ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है— 'ज्ञान तप दान और जिन-पूजा के द्वारा धर्म का प्रकाश करना[6]।'

यह व्याख्या आचार्य उमास्वाति की स्वोपज्ञ उपर्युक्त व्याख्या से भिन्न है। दान और जिन-पूजा को प्रवचन प्रभावना का अंग मानना मूल आगमिक व्याख्या से बहुत दूर है।

१—(क) ठाणाङ्ग ५ ३ ४६७ टीका

साधर्मिकः समानधर्मा लिङ्गतः प्रवचनतश्चेति

(ख) ठाणाङ्ग ३ ४ ३१२ टीका : साहम्मिय—त्ति समानो धर्मः सधर्मस्तेन चरन्तीति साधर्म्मिकाः—साधवः

२—सर्वार्थसिद्धि : गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्त्यम्।

३—सर्वार्थसिद्धि : यथा भाण्डागारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात् तथानेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनेस्तपसः कुतश्चित्प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्सन्धारणं समाधिः

४—भावाभम्मसाणो ८ ६६ अभयदेव टीका।

५—भाष्य : सम्यग्दर्शनादेर्मोक्षमार्गस्य निहत्य मानं करणोपदेशाभ्यां प्रभावना

६—सर्वार्थसिद्धि : ज्ञानतपोदानजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना

तीर्थङ्कर बंधकर्म के जो हेतु आगमिक परम्परा तथा श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रंथकारो के द्वारा प्रतिपादित हैं वे सब शुभ योग रूप हैं। उनके अर्थ में बाद में जो अन्तर आया वह स्पष्ट कर दिया गया है। उनमें से अनेक बोल बारह प्रकार के तपो के भेद हैं, जिनमें निर्जरा स्वयसिद्ध है। इस तरह सावद्य योगो से निर्जरा और साथ ही पुण्य का बंध होता है, यह अच्छी तरह से सिद्ध है।

१२—निरवद्य सुपात्र दान से मनुष्य-आयुष्य का वंध (गा० १५) :

'सुख विपाक सूत्र' में सुबाहु कुमार का कथा-प्रसग इस रूप मे है

एक बार भगवान महावीर हस्तिशीर्ष नामक नगर मे पधारे। वहाँ के राजा अदीनशत्रु का पुत्र सुबाहु कुमार उनके दर्शन के लिए गया। वह इष्ट, इष्टरूप, कान्त, कान्तरूप, प्रिय, प्रियरूप, मनोज्ञ, मनोज्ञरूप, मनोहर, मनोहररूप, सौम्य, सुभग, प्रियदर्शन और सुरूप था। गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—"भन्ते! सुबाहु-कुमार को ऐसी इष्टता, सुरूपता और उदार मनुष्य-ऋद्धि कैसे प्राप्त हुई है? पूर्व भव में वह क्या था?" भगवान महावीर ने बतलाया—'पूर्व भव में सुबाहु कुमार हस्तिनापुर नगर का सुमुख नामक गाथापति था। एक बार धर्मघोष नामक स्थविर हस्तिनापुर पधारे। उनके सुदत्त नामक अनगार महीने-महीने का तप करते थे। एक बार मासिक तपस्या के पारण के दिन सामुदानिक गोचरी के लिए वे हस्तिनापुर में गये। सुदत्त अनगार को आते हुए देख कर सुमुख गाथापति अत्यन्त हर्षित और सन्तुष्ट हुआ। वह आसन से उठ बैठा। फिर आसन से उतर उसने जूते उतारे। एक-साटिक उत्तरासन लगा सात-आठ हाथ सामने गया और तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा कर वन्दन-नमस्कार किया। वदना और नमस्कार कर वह भत्तघर—रसोईघर की ओर गया। 'अपने हाथ से विपुल अशन-पान-खाद्य और स्वाद्य का दान दूगा'—ऐसा सोच तुष्ट—प्रमुदित हुआ। देते समय भी तुष्ट—प्रमुदित हुआ। देकर भी तुष्ट—प्रमुदित हुआ। शुद्ध द्रव्य, शुद्ध दाता, शुद्ध पात्र होने से तथा तीन करण तीन योगो की शुद्धिपूर्वक सुदत्त अनगार को दान देने से सुमुख गाथापति ने ससार को परीत—सक्षिप्त किया, मनुष्य-आयुष्य का बंध किया[1]। सुमुख गाथापति बहुत दिनो तक जीवित रहा और वहाँ से

१—वंदित्ता णमसित्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सएण हत्थेण विपुलेण असणपाणखाइमसाइमेण पडिलाभिस्सामि त्ति तुट्ठे, पडिलाभेमाणे वि तुट्ठे पडिलाभिएत्ति तुट्ठे। तए ण तस्स सुमुहस्स गाहावइस्स तेण दव्वसुद्धेण दायगसुद्धेण पत्तसुद्धेण तिविहेण तिकरणसुद्धेण सुदत्ते अणगारे पडिलाभिए समाणे संसारे परित्तीकते मणुस्साउए निबद्धे

कालकर हस्तिशीर्ष नगर में अदीनशत्रु के यहाँ धारिणी की कुक्षि से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ है। गौतम! सुबाहु कुमार ने इस प्रकार दान देने से इस तरह आदि उदार मनुष्य ऋद्धि प्राप्त की है।"

इसी तरह 'सुख विपाक सूत्र' के शेष ६ अध्ययनों में भद्रनन्दि कुमार, सुजात कुमार सुवासव कुमार, जिनदास धनपति कुमार, महाबल कुमार, भद्रनन्दि कुमार, महचन्द्र कुमार और वरदत्त कुमार के संसार परीत—संक्षिप्त करने और मनुष्य-आयुष्य प्राप्त करने का उल्लेख है।

निरवद्य सुपात्र दान से निर्जरा और साथ ही पुण्य-कर्म का बंध होता है, यह इन प्रकरणों से प्रकट है।

१३—साता-असाता वेदनीयकर्म के बंध-हेतु (गा० १६ १७)

यहाँ 'भगवतीसूत्र' के जिस पाठ का उल्लेख है वह इस प्रकार है

कहं णं भन्ते! जीवाणं सातावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति? गोयमा! पाणाणुकंपयाए भूयाणुकंपयाए जीवाणुकंपयाए सत्ताणुकंपयाए बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति।

कहं णं भन्ते! जीवाणं असायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति? गोयमा! परदुक्खणयाए परसोयणयाए परजूरणयाए परतिप्पणयाए परपिट्टणयाए परपरियावणयाए बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जाव परियावणयाए एवं खलु गोयमा! जीवाणं असायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति। (७ ६)

गौतम "भन्ते! जीव साता वेदनीय कर्म का बंध कैसे करते हैं?'

महावीर 'गौतम! प्राणानुकम्पा[१] से भूतानुकम्पा से जीवानुकम्पा से सत्त्वानुकम्पा से बहु प्राणी भूत जीव और सत्त्वों को दुःख[२] न करने से शोक[३] न करने से

१—अनुकम्पा: जैसे मुझे दुःख अप्रिय है वैसे ही दूसरे प्राण भूत जीव और सत्त्वों को है इस भावना से किसी को क्लेश उत्पन्न न करना।

'अनुग्रह से दुःख द्रवार्द्र चित्त वाले का दूसरे की पीड़ा को अपनी ही मानने का भाव।

२—दुःख पीड़ा रूप आरम्भ परिणाम।

३—शोक: शोचन—दैन्य; उपकारी से सम्बन्ध तोड़ कर विकलता उत्पन्न करना।

अजूरण[4] से, अटिप्पण[5] से, अपिट्टन[6] से, अपरितापन से। हे गौतम ! इस तरह जीव साता वेदनीय कर्म का वध करते हैं।"

गौतम . "भन्ते जीव असाता वेदनीय कर्म का वध कैसे करते हैं ?"

महावीर : "गौतम ! परदु ख से, परशोक से, परजूण से, परटिप्पण से, परपिट्टन से, परपरितापन से, बहु प्राणी, भूत, जीव और सत्वो को दु ख देने से, शोक करने से, जूण से, टिप्पण से, पिट्टन से, परितापन से। इस तरह गौतम! जीव असाता वेदनीय कर्म करता है।"

'तत्त्वार्थसूत्र' में साता और असाता वेदनीय कर्म के वंध-हेतु इस प्रकार वतलाये गये हैं .

भूतव्रत्यनुकम्पा दान सरागसयमादि योग क्षान्ति शौचमिति सद्वेद्यस्य (६.१३)
द खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य। ६ १२

(१) भूत-अनुकम्पा, (२) व्रती अनुकम्पा, (३) दान, (४) सरागसयम आदि योग (५) क्षान्ति और (६) शौच—ये साता वेदनीय कर्म के हेतु हैं।

(१) दु ख, (२) शोक, (३) ताप, (४) आक्रन्दन, (५) वध और (६) परिदेवन—ये असाता वेदनीय कर्म के हेतु हैं।

सरागसयम के वाद के 'आदि' शब्द द्वारा भाष्य और 'सर्वार्थसिद्धि' दोनो मे अकाम निर्जरा और वाल तप को ग्रहण किया गया है।

यह स्पष्ट है कि सातावेदनीय कर्म के जो बध-हेतु 'तत्त्वार्थसूत्र' में प्रतिपादित हैं वे आगमिक उल्लेख से भिन्न हैं। आगम में दान, सरागसयम, सयमासयम, अकाम-निर्जरा और वाल तप इनमें से एक का भी उल्लेख नही है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'व्रती-अनुकम्पा' को अलग स्थान दिया है पर आगम में वैसा नही है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में वर्णित इन सब हेतुओ का सम्यक् अर्थ करने पर ये सब भी निरवद्य ठहरते हैं।

जीवो को दु ख आदि देना सावद्य कार्य है। दु खादि न देना निरवद्य है। जीवो को दु ख आदि न देने से निर्जरा होती है, यह पहले सिद्ध किया जा चुका है। यहाँ उनसे सातावेदनीय कर्म का वध कहा गया है, जो पुण्य कर्म है। इस तरह शुभ योग निर्जरा और आनुषंगिक रूप से पुण्य के हेतु सिद्ध होते हैं।

४—जूरण शरीरापचयकारी शोक।

५—टिप्पण ऐसा शोक जिससे अश्रु लालादि का क्षरण होने लगे।

६—पिट्टन यष्ट्यादि से ताडन।

१४—कर्कश अकर्कश वेदनीय कर्म के बंध-हेतु (गा० १८)

यहाँ उल्लिखित संवाद 'भगवतीसूत्र' में इस प्रकार है

कहं णं भंते ! जीवाणं कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ? गोयमा ! पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं एवं खलु गोयमा ! जीवाणं कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ।

'भन्ते ! जीव कर्कश वेदनीय कर्म का बंध कैसे करते हैं ?'

"गौतम ! प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य[1] से । हे गौतम ! जीव इस प्रकार कर्कश वेदनीय कर्म का बंध करते हैं ।"

कहं णं भन्ते ! जीवा अकक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ? गोयमा ! पाणाइवायवेरमणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं कोहविवेगेणं जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगेणं एवं खलु गोयमा ! जीवाणं अकक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति । (७.६)

'भन्ते ! जीव अकर्कश वेदनीय कर्म का बंध कैसे करते हैं ?

'गौतम ! प्राणातिपात यावत् परिग्रहविरमण से क्रोध-विवेक यावत् मिथ्यादर्शनशल्य विवेक से । हे गौतम ! इस तरह जीव अकर्कश वेदनीय कर्म का बंध करते हैं ।"

यह पहले बताया जा चुका है कि प्राणातिपात आदि के विरमण से निर्जरा होती है । यहाँ उनके विरमण से अकर्कश वेदनीय कर्म का बंध बताया गया है, जो पुण्य कर्म है । इस प्रकार प्राणातिपात विरमण आदि शुभयोगों से निर्जरा और बंध दोनों का होना प्रमाणित होता है ।

१५—अकल्याणकारी-कल्याणकारी कर्मों के बंध-हेतु (गा० १९-२०) :

'भगवतीसूत्र' में कालोदायी का वार्तालाप प्रसंग इस प्रकार है

अत्थि णं भंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? हंता अत्थि । कहं णं भंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? ..कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले तस्स णं आवाए भद्दए भवइ तओ पच्छा विपरिणममाणे विपरिणममाणे दुरूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ।

१—प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह पाप इस प्रकार हैं : प्राणातिपात, मृषावाद अदत्तादान मैथुन परिग्रह क्रोध मान माया लोभ राग द्वेष कलह अभ्याख्यान पैशुन्य परपरिवाद, रति-अरति मायामृषा और मिथ्यादर्शनशल्य ।

अत्थि ण भते ! जीवाण कल्लाणा कम्मा कल्लाणफलविवागसंजुत्ता कज्जन्ति ? हता ! अत्थि । कह ण भते ! जीवाण कल्लाणा कम्मा जाव कज्जन्ति ?...कालोदाई ! जीवाण पाणाइवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगे जाव मिच्छादसणसल्लविवेगे तस्स ण आवाए नो भद्दए भवइ तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए जाव नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ एवं खलु कालोदाई ! जीवाण कल्लाणा कम्मा जाव कज्जति । (७.१०)

इसका भावार्थ इस प्रकार है :

"भगवन् ! जीवो के किये हुये पाप-कर्मो का परिपाक पापकारी होता है ?" "कालोदायी ! होता है।" "भगवन् ! यह कैसे होता है ?" "कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक शुद्ध (परिपक्व), अठारह प्रकार के व्यजनो से परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है, वह (भोजन) आपातभद्र (खाते समय अच्छा) होता है, किन्तु ज्यों-ज्यो उसका परिणमन होता है त्यो-त्यो उसमे दुर्गन्ध पैदा होती है—वह परिणाम-भद्र नही होता। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य (अठारह प्रकार के पाप कर्म) आपातभद्र और परिणाम विरस होते हैं। कालोदायी ! इस तरह पाप-कर्म पाप-विपाक वाले होते हैं।"

"भगवन् ! जीवो के किये हुये कल्याण-कर्मो का परिपाक कल्याणकारी होता है ?" "कालोदायी ! होता है।" "भगवन् ! कैसे होता है ?" "कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक शुद्ध (परिपक्व) अठारह प्रकार के व्यजनो से परिपूर्ण, औषधि-मिश्रित भोजन करता है, वह आपातभद्र नही लगता, किन्तु ज्यो-ज्यों उसका परिणमन होता है त्यो-त्यो उसमें सुरूपता, सवर्णता और सुखानुभूति उत्पन्न होती है— वह परिणामभद्र होता है। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपातविरति यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विरति आपातभद्र नहीं लगती, किन्तु परिणामभद्र होती है। कालोदायी ! इस तरह कल्याण-कर्म कल्याण-विपाक वाले होते हैं।"

इस प्रसग में पाप कर्म पाप-विपाक वाले और कल्याण कर्म कल्याण-विपाक वाले कहे गये हैं। प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य इन अठारह पापो के सेवन से पाप-कर्म का बध और उनकी विरति से कल्याणकर्म का बध कहा गया है। यहाँ भी प्रकारान्तर से—शुभयोग से ही पुण्य-कर्म की प्राप्ति कही गई है। प्राणातिपातविरति यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से निर्जरा होती ही है।

१६—साता-असाता वेदनीय कर्म के बंध-हेतु विषयक अन्य पाठ (गा० २१-२२)

इन गाथाओं में 'भगवतीसूत्र' के जिस पाठ का संकेत है वह इस प्रकार है :

सायावेयणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ? गोयमा ! पाणाणुकंपयाए भूयाणुकंपयाए एवं जहा सत्तमसए दुस्समाउद्देसए जाव अपरियावणयाए सायावेयणिज्जकम्मासरीरप्पओगनामाए कम्मस्स उदएणं सायावेयणिज्जकम्मा जाव बंधे। असायावेयणिज्ज—पुच्छा। गोयमा ! परदुक्खणयाए परसोयणयाए जहा सत्तमसए दुस्समाउद्देसए जाव परियावणयाए असायावेयणिज्जकम्मा० जाव पओगबंधे। (८१)

इस पाठ का अर्थ वही है जो टिप्पणी १३ में दिये हुए पाठ का है। इस पाठ से भी शुभयोग से ही पुण्य-कर्म का बंध ठहरता है।

१७—नरकायुष्य के बंध हेतु (गा० २३)

इस विषय में 'भगवतीसूत्र' का पाठ इस प्रकार है :

नेरइयाउयकम्मासरीर-पुच्छा। गोयमा ! महारंभयाए, महापरिग्गहयाए, कुणिमाहारेणं, पंचिंदियवहेणं नेरइयाउयकम्मासरीरप्पओगनामाए कम्मस्स उदएणं नेरइयाउयकम्मा सरीर० जाव पओगबंधे। (८१)

यहाँ नरकायुष्यकार्मणशरीरप्रयोग बंध के हेतु इस प्रकार बताये गये हैं :

१—महा आरम्भ

२—महा परिग्रह,

३—मांसाहार,

४—पंचेन्द्रिय जीवों का वध और

५—नरकायुष्यकार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

'ठाणाङ्ग' में इस विषय का पाठ इस प्रकार है :

चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पगरेंति, तंजहा—महारंभताते महापरिग्गहयाते पंचिंदियवहेणं कुणिमाहारेणं (४ ४ ३७३)

'तत्त्वार्थसूत्र' में बहुआरम्भ, बहुपरिग्रह और रौद्रत्व और वन-रौद्रत्व को नरकायुष्य के बंध-हेतु कहे हैं :

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः। (६ १६)
निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्। (६ १९)

आगम उल्लिखित हेतुओं में तीव्र-रौद्रत्व और वन-रौद्रत्व का नाम नहीं है। नरकायुष्य अशुभ है। उसके बंध-हेतु भी अशुभ हैं।

१८—तिर्यंच आयुष्य के बंध-हेतु (गा० २४) :

इन बध-हेतुओ का वर्णन 'भगवती सूत्र' में इस प्रकार है :

तिरिक्खजोणियाउअकम्मासरीर—पुच्छा । गोयमा ! माइल्लयाए, नियडिल्लयाए अलियवयणेण कूडतुल-कूडमाणेण, तिरिक्खजोणियाउअकम्मा० जाव पयोगबधे ।
(भग० ८.६)

यहाँ तिर्यंचायुष्कार्मणशरीरप्रयोगवध के निम्न हेतु कहे गये हैं :

(१) मायावीपन,

(२) निकृति भाव—कापट्य,

(३) अलीक वचन—झूठ,

(४) झूठे तोल-माप और

(५) तिर्यंचायुष्कार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय ।

'स्थानाङ्ग' का पाठ इस प्रकार है :

चउहि ठाणेहि जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्मं पगरेंति, त०—माइल्लताते णियडिल्लताते अलियवयणेण कूडतुलकूडमाणेण (४ ४ ३७३)

'तत्त्वार्थसूत्र' में माया, नि शीलत्व और अव्रतत्व—ये तिर्यंच-आयुष्यबंध के हेतु कहे गये हैं माया तैर्यग्योनस्य (६ १७), नि शीलव्रतत्व च सर्वेषाम् (६.१९) ।

आगमोक्त और 'तत्त्वार्थसूत्र' में वर्णित हेतुओ का पार्थक्य स्वय स्पष्ट है ।

अशुभ तिर्यंच आयुष्य के बध-हेतु भी अशुभ हैं ।

१९—मनुष्यायुष्य के बध-हेतु (गा० २५) :

'भगवतीसूत्र' में मनुष्यायुष्य कर्म के बध-हेतुओ का वर्णन इस प्रकार है

मणुस्साउयकम्मासरीर—पुच्छा । गोयमा ! पगइभद्दयाए, पगइविणीययाए, साणुक्कोसणयाए, अमच्छरियाए, मणुस्साउयकम्मा० जाव पयोगबधे । (८.९)

मनुष्यायुष्कार्मणशरीरप्रयोगवध के हेतु ये हैं

(१) प्रकृति की भद्रता,

(२) प्रकृति की विनीतता,

(३) सानुक्रोशता—सदयता,

(४) अमात्सर्य और

(५) मनुष्यायुष्कार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय ।

इस विषय में 'स्थानाङ्ग' का पाठ इस प्रकार है

चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्सत्ताते कम्मं पगरेंति तंजहा—पगतिभद्दताते पगति विणीययाए साणुक्कोसयाते अमच्छरिताते। (४ ४ ३७३)

'तत्त्वार्थसूत्र' में मनुष्यायुष्य के बंध-हेतु इस प्रकार वर्णित हैं

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य। (६ १८)

'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार (१) अल्पारम्भ (२) अल्पपरिग्रह, (३) मार्दव और (४) आर्जव—ये चार मनुष्यायुष्य कर्म के बंध-हेतु हैं।

आगमोक्त और इन हेतुओं का सार्थक्य स्पष्ट है।

शुभ मनुष्यायुष्य के बंध-हेतु भी शुभ हैं।

२०—देवायुष्य के बंध-हेतु (गा० २६):

देवायुष्य के बंध-हेतुओं का वर्णन 'भगवती सूत्र' के पाठ में इस प्रकार है

देवाउयकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! सरागसंजमेणं, संजमासंजमेणं, बालतवोकम्मेणं, अकामनिज्जराए, देवाउयकम्मासरीर जाव पयोगबंधे। (८ ९)

यहाँ देवायुष्यकार्मण शरीरप्रयोगबंध के बंध-हेतु निम्न रूप से बताये गये हैं:

(१) सरागसंयम[1]

(२) संयमासंयम[2]

(३) बालतप-कर्म[3]

(४) अकामनिर्जरा[4] और

(५) देवायुष्यकार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

१—सकषाय चारित्र। कषायावस्था में सर्व प्राणातिपातविरमण, सर्व मृषावादविरमण, सर्व अदत्तादानविरमण, सर्व मैथुनविरमण और सर्व परिग्रहविरमण रूप पाँच महाव्रतों का पालन। यह सरागसंयम है।

२—पापों के आंशिक त्याग रूप देश-संयम। स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान, स्वदारसंतोष, स्थूल परिग्रहविरमणव्रत, दिक्परिमाण, उपभोग-परिभोगपरिमाण, अनर्थदण्डविरमण, सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथिसंविभाग व्रतों का पालन।

३—बाल अर्थात् मिथ्यात्वी। उसकी निरवद्य तप क्रिया को बालतपकर्म कहते हैं।

४—कर्म निर्जरा के हेतु अनशन आदि करना सकाम तप है। बिना अभिलाषा—परवशता से—भूख, तृषा प्रभृति के परिषहों को सहन करना अकाम निर्जरा है।

इस विषयक 'स्थानाङ्ग' का पाठ इस प्रकार है

चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्म पगरेंति, तजहा—सरागसजमेण सजमासजमेण बालतवोकम्मेण अकामणिज्जराए। (४ ४.३७३)

'तत्त्वार्थसूत्र' का पाठ इस प्रकार है

सरागसयमसयमासयमाकामनिर्जराबालतपांसि देवस्य। (६.२०)

यहाँ यह विशेष ध्यान देने की बात है कि इन हेतुओ को तत्त्वार्थकार ने साता वेदनीय कर्मबध के हेतुओ में भी स्थान दिया है।

शुभ देवायुष्य कर्मबध के हेतु भी शुभ हैं।

२१—शुभ-अशुभ नामकर्म के बंध-हेतु (गा० २७-२८):

यहाँ सकेतित 'भगवतीसूत्र' का पाठ इस प्रकार है :

सुभनामकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! काउज्जुययाए, भावुज्जुययाए, भासुज्जुययाए अविसवादणजोगेण, सुभनामकम्मासरीर० जाव पयोगबधे। असुभनामकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! कायअणुज्जुययाए, भावअणुज्जुययाए, भासअणुज्जुययाए, विसवायणाजोगेण, असुभनामकम्मा० जाव पयोगबधे (८ ६)।

शुभ नामकार्मणशरीरप्रयोगबध के हेतु इस प्रकार हैं

(१) काया की ऋजुता,

(२) भाव की ऋजुता,

(३) भाषा की ऋजुता,

(४) अविसवादनयोग—जैसी कथनी वैसी करनी और

(५) शुभ नामकार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

अशुभ नामकार्मणशरीरप्रयोगबध के हेतु इस प्रकार हैं

(१) काया की अनृजुता,

(२) भाव की अनृजुता,

(३) भाषा की अनृजुता,

(४) विसवादन योग—जैसी कथनी वैसी करनी का अभाव और

(५) अशुभनामकार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

'तत्त्वार्थसूत्र' में इस विषय का पाठ इस प्रकार है

योगवक्रता विसवादन चाशुभस्य नाम्न। (६.२१)

विपरीतं शुभस्य। (१२२)

शुभ नामकर्म के बंध-हेतु शुभ हैं और अशुभ नामकर्म के अशुभ।

२९—उच्च-नीच गोत्र के बंध-हेतु (गाथा २६-३०) :

'भगवतीसूत्र' में उच्च गोत्रकर्म के बंध-हेतु का जो वर्णन आया है वह इस प्रकार है

उच्चागोयकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! जातिअमदेणं, कुलअमदेणं बलअमदेणं रूवअमदेणं तवअमदेणं सुयअमदेणं लाभअमदेणं इस्सरियअमदेणं उच्चागोयकम्मासरीर० जाव पयोगबन्धे। नीयागोयकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! जातिमदेणं कुलमदेणं बलमदेणं जाव इस्सरियमदेणं नीयागोयकम्मासरीर जाव पयोगबन्धे (८६)

उच्चगोत्रकार्मणशरीरप्रयोगबंध के हेतु ये हैं

(१) जाति-मद न होना

(२) कुल-मद न होना

(३) बल-मद न होना

(४) रूप-मद न होना

(५) तप-मद न होना

(६) श्रुत-मद न होना

(७) लाभ-मद न होना

(८) ऐश्वर्य-मद न होना और

(९) उच्चगोत्रकार्मणशरीरप्रयोग नामकर्म का उदय।

नीचगोत्रकार्मणशरीरप्रयोगबंध के हेतु ये हैं

(१) जाति-मद

(२) कुल-मद

(३) बल-मद

(४) रूप-मद

(५) तप-मद

(६) श्रुत-मद

(७) लाभ-मद

( ) ऐश्वर्य-मद और

(९) नीचगोत्रकार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

'तत्वार्थसूत्र' में उच्च गोत्र तथा नीच गोत्र के बंध-हेतु इस प्रकार हैं

परात्मनिन्दाप्रशसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य (६.२४)

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य। (६.२५)

इन पाठो के अनुसार परनिन्दा, आत्मप्रशसा, सदगुणो का आच्छादन और असद्गुणो के प्रकाशन ये नीच गोत्र के बध-हेतु हैं और इनसे विपरीत अर्थात् परप्रशसा, आत्मनिन्दा आदि उच्च गोत्र के बध-हेतु हैं।

शुभ उच्च गोत्र के बध-हेतु शुभ हैं और नीच गोत्र के बध-हेतु अशुभ हैं।

२३—ज्ञानावरणीय आदि चार पाप कर्मों के बंध-हेतु (गा० ३१) :

कर्म आठ हैं। पुण्य और पाप इन दो कोटियो की अपेक्षा से वर्गीकरण करने पर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चारो एकांत पाप की कोटि में आते हैं (देखिए पृ० १५५-६ टि० ३ (१))।

बध-हेतुओ की दृष्टि से पाप कर्मों के बध-हेतु भी पाप रूप हैं। जिस करनी से पाप कर्मो का बध होता है वह सावद्य और जिन-आज्ञा के बाहर होती है। ज्ञानावरणीय आदि चार एकान्त पाप कर्मो के बध-हेतु नीचे दिये जाते हैं, जिनसे यह कथन स्वत प्रमाणित होगा।

१—ज्ञानावरणीय कर्म के बध-हेतु

(१) ज्ञान-प्रत्यनीकता,

(२) ज्ञान-निह्नव,

(३) ज्ञानान्तराय,

(४) ज्ञान-प्रद्वेप,

(५) ज्ञानाशातना और

(६) ज्ञान-विसवादन योग।

२—दर्शनावरणीय कर्म के बध-हेतु

(१) दर्शन-प्रत्यनीकता,

(२) दर्शन-निह्नव,

(३) दर्शनान्तराय,

(४) दर्शन-प्रद्वेप,

(५) दर्शनाशातना और

(६) दर्शन-विसवादन योग।

३—मोहनीय कर्म के बंध-हेतु

(१) तीव्र क्रोध

(२) तीव्र मान

(३) तीव्र माया,

(४) तीव्र लोभ

(५) तीव्र दर्शन मोहनीय और

(६) तीव्र चारित्रमोहनीय।

४—अन्तराय कर्म के बंध-हेतु

(१) दानान्तराय

(२) लाभान्तराय

(३) भोगान्तराय

(४) उपभोगान्तराय और

(५) वीर्यान्तराय।

२४—वेदनीय आदि पुण्य कर्मों की निरवद्य करनी (गा० ३२)

ज्ञानावरणीय आदि चार एकान्त पाप-कर्मों के उपरान्त वेदनीय आयुष्य नाम और गोत्र ये चार कर्म और हैं तथा इनके दो-दो भेद हैं

१—सातावेदनीय	असातावेदनीय
२—शुभ आयुष्य	अशुभ आयुष्य
३—शुभ नाम	अशुभ नाम
४—उच्च गोत्र	नीच गोत्र

इनमें से सातावेदनीय आदि चार पुण्य कोटि के हैं और असातावेदनीय आदि चार पाप कोटि के (देखिए पृ० १५५ टि० १)।

इनके बंध हेतुओं का उल्लेख किया जा चुका है तथा यह बताया जा चुका है कि पुण्य रूप सातावेदनीय आदि कर्मों के बंध-हेतु शुभ योग और पाप रूप असातावेदनीय आदि कर्मों के बंध-हेतु अशुभ योग रूप हैं।

उपसंहारात्मक रूप से स्वामीजी ने इसी बात को यहाँ पुनः दुहराया है।

२५—'भगवती सूत्र' में पुण्य-पाप की करनी का उल्लेख (गा० ३३) :

'भगवती सूत्र' शतक ८ उद्देशक ९ से वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म के बंध-हेतुओं से सम्बन्धित पाठों के अवतरण ऊपर दिये जा चुके हैं। ज्ञानावरणीय आदि चार एकान्त पाप कर्मों के बंध-हेतु विषयक पाठ क्रमश वहाँ इस प्रकार मिलते हैं

(१) णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ? गोयमा ! नाणपडिणीययाए, णाणणिण्हवणयाए, णाणंतराएणं, णाणप्पदोसेणं, णाणच्चासायणयाए, णाणविसंवादणाजोगेणं णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगनामाए कम्मस्स उदएणं णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे।

(२) दरिसणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ? गोयमा ! दंसणपडिणीययाए, एवं जहा णाणावरणिज्जं, नवरं दंसणनाम घेत्तव्वं, जाव दंसणविसंवादणाजोगेणं दंसणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओनामाए कम्मस्स उदएणं जाव पओगबंधे।

(३) मोहणिज्जकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा ! तिव्वकोहयाए, तिव्वमाणयाए, तिव्वमाययाए, तिव्वलोभयाए, तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए, तिव्वचरित्तमोहणिज्जयाए मोहणिज्जकम्मासरीरप्पओग० जाव पओगबंधे।

(४) अंतराइयकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा ! दाणंतराएणं, लाभंतराएणं, भोगंतराएणं, उवभोगंतराएणं, वीरियंतराएणं अंतराइयकम्मासरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं अंतराइयकम्मासरीरप्पयोगबंधे।

२६—कल्याणकारी कर्म-बंध के दस बोल (गा० ३४-३७) :

भिन्न-भिन्न पुण्य कर्मों के बंध-हेतुओं का पृथक्-पृथक् विवरण पहले आ चुका है। इन गाथाओं में स्वामीजी ने 'स्थानाङ्ग सूत्र' के दसवें स्थानक के उस पाठ का मर्म उपस्थित किया है, जिसमें भद्र कर्मों के प्रधान बंध-हेतुओं का समुच्चय रूप से संकलन है। वह पाठ इस प्रकार है

दसहिं ठाणेहिं जीवा आगमेसिभद्दत्ताए कम्मं पगरेंति तं०—अणिदाणताते, दिट्ठिसपन्नयाए, जोगवाहियत्ताते, खंतिखमणताते, जिइंदियताते, अमाइल्लताते, अपासत्थताते, सुसामण्णताते, पवयणवच्छल्लयाते, पवयणउब्भावणताए। (१० ७५८)

इसका भावार्थ है—दस स्थानकों से—बातों से जीव आगामी भव में भद्र रूपकर्म प्राप्त करता है

उठता। सबको सब तरह के भोजन और पेय देने से पुण्य कर्म होता है।

अन्न पुण्य, पान पुण्य आदि का इस प्रकार अर्थ करना स्वामीजी की दृष्टि से न्याय-सगत नहीं। उनके विचार से इस प्रकार का अर्थ करना जिन-प्रवचनो के विपरीत है। अपात्र दान से कभी पुण्य नही होता।

२६—पुण्य के नौ बोलों की समझ और अपेक्षा (गा० ४५-५४)

सूत्रो में अनेक बोल विना अपेक्षा के दिये हुये हैं। उदाहरण स्वरूप—वदना का बोल (गा० ११ और टिप्पणी ८)। सूत्र मे मात्र इतना ही उल्लेख है कि वदना से मनुष्य नीच गोत्र का क्षय करता है और उच्च गोत्र का बध। किसकी वदना से ऐसा फल मिलता है, इसका वहाँ उल्लेख नही। वैसे ही वैयावृत्त्य के बोल में कहा है कि वैयावृत्त्य से तीर्थंकर गोत्र का बध होता है। किसकी वैयावृत्त्य से तीर्थंकर गोत्र का बध होता है इसका भी उल्लेख नही। सोच-विचार कर इन बोलो की अपेक्षा—सगति बैठानी पडती है। इसी प्रकार इन नौ बोलो के सबध में भी समझना चाहिए। इन नौ बोलो का वही सगतार्थ होगा जो कि आगम का अविरोधी अर्थात् निरवद्य-प्रवृत्ति का द्योतक होगा क्योकि यह दिखाया जा चुका है कि पुण्य कर्मों की प्रकृतियो के बध-हेतुओ में एक भी ऐसा कार्य नही आता जो सावद्य हो।

स्वामीजी का तर्क है कि नौ बोलो में नमस्कार-पुण्य का भी उल्लेख है। किसे नमस्कार करने से पुण्य होता है, इसका वहाँ कोई स्पष्टीकरण नहीं है, परन्तु इससे हर किसी को नमस्कार करना पुण्य का हेतु नही होता। 'नमोक्कार सूत्र' में भगवान ने पाँच नमस्य-पद बतलाये हैं, उन्हीको नमस्कार करने से पुण्य होता है, अन्य लोगो को नमस्कार करने से नही।

इसी प्रकार मन पुण्य, वचन पुण्य और काय पुण्य का उल्लेख है, परन्तु दुष्प्रवृत्त मन, वचन और काय से पुण्य नही होगा, उनकी शुभ प्रवृत्ति से ही पुण्य होगा। उसी प्रकार अन्न पुण्य, पान पुण्य का अर्थ भी पात्र-अपात्र, सचित्त-अचित्त और एषणीय-अनेषणीय के भेदाधार पर करना होगा। आगमो के अनुसार निर्ग्रंथ साधु को अचित्त, एषणीय अन्न-पान आदि का देना ही पुण्य है। अन्य दान निरवद्य या पुण्य-बध के हेतु नही। स्वामीजी कहते हैं

(१) यदि अन्न पुण्य, पान पुण्य का अर्थ करते समय पात्र-अपात्र, कल्प्य-अकल्प्य और अचित्त-सचित्त के विवेक की आवश्यकता नही और सर्व दानो मे पुण्य हो तो उस हालत में स्थान, शय्या और वस्त्र पुण्य के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होगी। मन

पुण्य वचन पुण्य और काय पुण्य में भी शुभ-अशुभ प्रवृत्ति का अन्तर रखने की आवश्यकता नहीं होगी हर प्रकार के मन प्रवर्तन से पुण्य होगा। इसी प्रकार नमस्कार पुण्य में भी नमस्य को लेकर भेद करने की आवश्यकता नहीं रहेगी हर किसी को नमस्कार करने से पुण्य होगा। इस तरह 'शुभ योग से पुण्य होता है' यह सर्व मान्य सिद्धान्त ही अर्थशून्य हो जायगा।

(२) यदि नमस्कार पुण्य केवल पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करने से ही मानते हैं और मन वचन तथा काय पुण्य केवल उनके शुभ प्रवर्तन में तो उस हालत में समुच्चय की स्थापना नहीं टिक सकती। केवल अन्न पुण्य और पान पुण्य को ही समुच्चय—अपेक्षा रहित मानने का कोई कारण नहीं, सबको अपेक्षा रहित मानना चाहिए। यदि नमस्कार पुण्य मन पुण्य वचन पुण्य और काय पुण्य को सापेक्ष मानते हों तो उस परिस्थिति में अन्न पुण्य पान पुण्य आदि को भी सापेक्ष मानना होगा और यही कहना होगा कि निग्रन्थ-श्रमण को प्रासुक और एषणीय कल्प्य वस्तु देने से ही पुण्य होता है।

(३) दान के सम्बन्ध में श्रमणोपासक का बारहवाँ अतिथिसंविभागव्रत विशेष विधासूचक है। जहाँ कहीं भी इस व्रत का उल्लेख आया है वहाँ पर श्रमण-निर्ग्रंथ को अचित्त निर्दोष अन्न आदि देने की बात कही गई है। उदाहरण स्वरूप 'सूत्रकृताङ्ग' में कहा है

"श्रमणोपासक निग्रन्थ-श्रमणों को प्रासुक एषणीय और स्वीकार करने योग्य अशन पान खाद्य स्वाद्य वस्त्र पात्र, कंबल रजोहरण औषधि भषज्य पीठ, पाट शय्या और स्थान देते रहते हैं[1]।"

भगवती सूत्र' में तुंगिका नगरी के श्रावकों के वर्णन में भी ऐसा ही उल्लेख है[2]। 'उपासकदशाङ्ग सूत्र' के प्रथम अध्ययन में आनन्द श्रावक ने इसी रूप में बारहवें व्रत को धारण किया है[3]। 'सूत्रकृताङ्ग' में आगे जाकर लिखा है इस प्रकार

१—सूत्रकृताङ्ग २ २ ३९ : समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पीठफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा विहरंति।

२—भगवती २ ५ : समणे निग्गंथे फासु—एसणिज्जेणं असण—पाण—खाइम—साइमेणं, वत्थ—पडिग्गह—कंबल—पायपुंछणेणं, पीढ—फलग—सेज्जा-संथारएणं ओसह—भेसज्जेणं पडिलाभेमाणा अहापडिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

३—उपासकदशा १ ५८ : कप्पइ मे समणे निग्गन्थे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थकम्बलपडिग्गहपायपुंछणेणं पीढफलगसिज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेण य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए।

जीवन विताने वाले श्रमणोपासक आयुष्य पूरा होने पर मरण पाकर, महाऋद्धि वाले तथा महाद्युति वाले देवलोको में से कोई एक देवलोक में जन्म पाते हैं[1] ।" इससे प्रकट होता है कि पुण्य का सचय श्रमण-निर्ग्रंथो को अन्न आदि देने से ही होता है और अन्न पुण्यादि का अर्थ इसी रूप में करना अभीष्ट है ।

(४) विचार करने पर मालूम देगा कि पुण्य-सचय के जो नौ वोल वताए गये हैं वे वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य कर्मो की शुभ प्रकृतियो के वध-हेतुओ की सक्षिप्त सूचि-रूप हैं । इन वध-हेतुओ को सामने रखकर ही नौ वोलो का अर्थ करना उचित होगा । वहाँ तथारूप श्रमण-माहन को अशनादि देने से पुण्य कहा है, सर्व दान में नही ।

'सुमगला टीका' में पुण्य-वध के हेतुओ की व्याख्या करते हुए लिखा है "सुपात्रो को—तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, स्थविर और मुनियो को अन्न देना, सुपात्रो को निरवद्य स्थान देना, सुपात्रो को वस्त्र देना, सुपात्रो को निर्दोष प्रासुक जल प्रदान करना, सुपात्रो को सस्तारक प्रदान करना, मानसिक शुभ सकल्प, वाचिक शुभ व्यापार, कायिक शुभ व्यापार और जिनेश्वर, यति प्रभृतियो का वदन-नमस्कार-पूजन आदि ये नौ पुण्य-वध के हेतु हैं[2] ।"

नौ पुण्यो की यह व्याख्या सम्पूर्णत शुद्ध है और स्वामीजी की व्याख्या से पूर्णरूपेण मिलती है । मूल शब्द 'नमोक्कार पुन्ने' है, जिसमें पुष्पादि से पूजन करने का समावेश

१—सूत्रकृताङ्ग २.२ ३६ ते ण एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइ वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणति पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइ भत्ताइं पच्चक्खायति बहूइ भत्ताइ पच्चक्खाएत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेन्ति बहूइं भत्ताइ अणसणाए छेइत्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति, तजहा—महड्डिएसु महज्जुइएसु जाव महासुक्खेसु

२—श्रीनवतत्त्वप्रकरणम् (सुमङ्गला टीका पृ० ४८-४९) सुपात्रेभ्य तीर्थकरगणधराऽऽचार्यस्थविरमुनिभ्योऽन्नप्रदान (१) सुपात्रेभ्यो निरवद्यवसतेर्वितरणम् (२) सुपात्रेभ्यो वाससां प्रदानम् (३) सुपात्रेभ्यो निर्दुष्टप्रासुकजलप्रदानम् (४) सुपात्रेभ्य सस्तारकस्य प्रदानम् (५) मनस शुभसकल्प (६) वाच शुभव्यापार (७)कायस्य शुभव्यापार (८) जिनेश्वरयतिप्रभृतीनां नमनवदनपूजनादीनि (९) इत्येतानि नव पुण्यबन्धस्य हेतुत्वेनोदाहृतानि, तथा चोक्त श्रीमत् स्थानाङ्गसूत्रे—"णवविधे-पुण्णे-अन्नपुन्ने १ पाणपुन्ने २ वत्थपुन्ने ३ लेण-पुन्ने ४ सयणपुन्ने ५ मणपुन्ने ६ वतिपुन्ने ७ कायपुन्ने ८ नमोक्कार पुन्ने ।"

नहीं होता। पूजन' शब्द द्वारा पुष्पादि से द्रव्यपूजा का संकेत किया गया है तो वह अवश्य दोषरूप है।

यह व्याख्या देने के बाद उसी टीका में लिखा है

"तीर्थंकर भगवान्, मोक्षमार्गानुयायी मुनि ही सुपात्र हैं।

"देश विरतिवान् गृहस्थ तथा सम्यक्दृष्टि पात्र हैं।

"दीन करुणा के पात्र अंगोपांग से हीन व्यक्ति भी पात्रों के उदाहरण में सम्मिलित हैं।

"इन दो के अतिरिक्त शेष सभी अपात्र हैं।

"सुपात्रों को धर्मबुद्धि से दिये गये प्रासुक अशनादि के दान से अशुभ कर्मों की महती निर्जरा तथा महान् पुण्य-बंध होता है।

"देश विरति तथा सम्यक्दृष्टि श्रावकों को अन्नादि देने से मुनियों के दान की अपेक्षा अल्प पुण्य-बंध तथा अल्प निर्जरा होती है।

"अंग विहीनादि को अनुकंपा की बुद्धि से दान देने से श्रावकों को दान देने की अपेक्षा भी अल्पतर पुण्य-बंध होता है।

"कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति किसी के घर दान के लिए जाता है और उसे यह सोच कर दान देना पड़ता है कि अपने घर आये इस व्यक्ति को यदि कुछ नहीं देता हू तो इससे अपने अर्हत् धर्म की लघुता होगी। ऐसा सोच कर दान देने वाला व्यक्ति अल्पतम पुण्य-बंध प्राप्त करता है।

"करुणा के वशीभूत होकर कुत्ते कबूतर प्रभृति पशुओं को अभय दान तथा अन्न दान देने से पात्रत्व के अभाव में भी करुणा के कारण निश्चित रूप पुण्य-बंध होता ही।

"सत्य स्याद्वादमत से पराङ्मुख अपने घर में आए हुये ब्राह्मण कापालिक तथा तापसों को धर्म का भाजन समझ कर अथवा यह समझ कर कि इन्हें भी दान देने से पुण्य बंध होगा—दान न दे। लेकिन मेरे द्वार पर आया हुआ कोई भी व्यक्ति निराश होकर लौट न जाय और यदि वह बिना अन्नादि को पाए ही लौटता है तो इससे जनधर्म की जुगुप्सा होगी अथवा ऐसा करने से मेरे दाक्षिण्य गुण में कमी आयेगी ऐसा सोच कर सात्विक बुद्धि से जिनधर्म से विमुख व्यक्तियों को भी यथाशक्ति अन्नादि दान दे दान गुण की उपबृंहणा तथा धर्म प्रभावना होती है'[1]।'

१– श्रीजवतत्त्वप्रकरणम् (सुमंगला टीका) पृ ४९

'सुमगला टीका' के उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि स्वस्थ मिथ्यात्वियो को इच्छापूर्वक देने के अतिरिक्त सबको अन्न देने मे कम या अधिक पुण्य होता है। तत्त्व निर्णय में दान के निषेध की शका करने की आवश्यकता नही। तथ्य यह है कि आगमो में सुपात्र अर्थात् श्रमण-निर्ग्रंथ को छोड कर अन्य किसी को अन्नादि देने से पुण्य होता है, ऐसा विधान कही भी दृष्टिगोचर नही होता।

श्रावक के बारहवें व्रत अतिथि-सविभाग का स्वरूप बताते हुये तत्त्वार्थसूत्रकार कहते हैं

"न्यायागत, कल्पनीय अन्नपानादि द्रव्यो का, देश-काल-श्रद्धा-सत्कार के क्रम से, अपने अनुग्रह की प्रकृष्ट बुद्धि से सयतियो को दान करना अतिथिसविभागव्रत है[1]।"

न्यायागत का अर्थ है—अपनी वृत्ति के अनुष्ठान—सेवन से प्राप्त—अर्थात् अपने[2]।

कल्पनीय का अर्थ है—उद्गमादि-दोष-वर्जित[3]।

अन्नपानादि द्रव्यो का अर्थ है—अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, प्रतिश्रय सस्तार और भेषजादि वस्तुएँ[4]।

देश-काल-श्रद्धा-सत्कार के क्रम से का अर्थ है—देश, काल के अनुसार श्रद्धा—विशुद्ध परिणाम और सत्कार—अभ्युत्थान, आसन दान, वदन अनुव्रजनादि की परिपाटी के साथ[5]।

अनुग्रह की प्रकृष्ट बुद्धि का अर्थ है—मैं पच महाव्रत युक्त साधु को दे रहा हू, इसमें मेरा अनुग्रह—कल्याण है, इस उत्कृष्ट भावना से[6]।

१—तत्त्वार्थसूत्र ७ १६ भाष्य अतिथिसंविभागो नाम न्यायागतानां कल्पनीयाना-मन्नपानादीनां द्रव्याणां देशकालश्रद्धासत्कारक्रमोपेत परयात्मानुग्रहबुद्धया सयतेभ्यो दानमिति।

२—सिद्धसेन टीका ७.१६ न्यायोद्विजक्षत्रियविट्शूद्राणां च स्ववृत्त्यनुष्ठानम्।. तेन तादृशा न्यायेनागतानाम्।

३—वही कल्पनीयानामिति उद्गमादिदोषवर्जितानाम्

४—वही अशनीयपानीयखाद्यस्वाद्यवस्त्रपात्रप्रतिश्रयसस्तारभेषजादीनाम्। पुद्गल-विशेषाणाम्।

५—वही श्रद्धा विशुद्धश्चित्तपरिणाम पात्राद्यपेक्ष। सत्कारोऽभ्युत्थानासनदानवन्दनानु-व्रजनादि। क्रम परिपाटी। देशकालापेक्षो य पाको निर्वृत्त स्वगेहे तस्य पेयादिक्रमेण दानम्।

६—वही परयेति प्रकृष्टया आत्मनोऽनुग्रहबुद्धया ममायमनुग्रहो महाव्रतयुक्ते साधुभि· क्रियते यदशनीयाद्यादक्षत इति।

संयतियों को—इसका अर्थ है—मूल उत्तर गुण से सम्पन्न संयतात्माओं को। महा व्रतयुक्त साधुओं को[1]।

भाष्य-पाठ के 'कल्पनीय' 'श्रद्धा-सत्कार' 'अनुग्रह-बुद्धि' और 'संयति' शब्द और इन शब्दों की 'सिद्धसेन टीका' से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वार्थकार ने संयतियों—साधुओं को ही इस व्रत का पात्र साधुओं के ग्रहण योग्य वस्तुओं को ही कल्पनीय देय द्रव्य माना है। मूल सूत्र स्पर्शी दिगम्बरीय टीका और वार्तिक[2] भी इसीका समर्थन करते हैं। सार यह है कि बारहवें व्रत के 'अतिथि' शब्द की व्याख्या में साधु के अतिरिक्त किसी अन्य को दान देने का विधान नहीं है। ऐसी हालत में दूसरों को दान देने में पुण्य की स्थापना करना स्वतंत्र कल्पना है।

दान की परिभाषा 'तत्त्वार्थ सूत्र' में अन्यत्र इस प्रकार है 'अनुग्रह के लिये अपनी वस्तु का उत्सर्ग करना दान है' (अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ७ ३३)। वहीं लिखा है 'विधि देयवस्तु, दाता और ग्राहक की विशेषता से उसकी (दान की) विशेषता है' (विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ७ ३४)। भाष्य में 'पात्रेऽतिसर्गो दानम्' अर्थात् पात्र के लिये अतिसर्ग करना—त्याग करना दान कहा है। 'पात्र विशेष' की व्याख्या करते हुये भाष्य में लिखा है 'पात्रविशेषः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपःसम्पन्नता इति।' सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की सम्पन्नता से पात्र में विशेषता आती है। 'सर्वार्थसिद्धि' में भी मोक्ष के कारण मूल गुणों से युक्त रहना पात्र की विशेषता बताई है (मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः ७ ३९)। द्रव्य विशेष की व्याख्या करते हुये लिखा

१—वही : अतः संयता मूलोत्तरसम्पन्नास्तेभ्य संयतात्मभ्यो दानमिति

२—(क) सर्वार्थसिद्धि ७ २१ : संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः। मोक्षार्थमभ्युद्यताय अतिथये संयमपरायणाय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवद्या भिक्षा देया। धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनाद्युपबृंहणानि दातव्यानि। औषधमपि योग्यमुपयोजनीयम्। प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति

(ख) राजवार्तिक ७ २१ चारित्रलाभबलोपेतत्वात् संयममविनाशयन् अततीत्यतिथिः

(ग) श्रुतसागरी ७ २१ : संयममविराधयन् अतति भोजनाय गच्छति य सोऽतिथिः। यो मोक्षार्थं उद्यतः संयमतत्परः शुद्धश्च भवति तस्मै निर्मलेन चेतसा अनवद्या भिक्षा दातव्या धर्मोपकरणानि च रत्नत्रयवर्धकानि प्रदेयानि औषधमपि योग्यमेव देयम् आवासश्च परमधर्मश्रद्धया प्रदातव्य

है जिससे स्वाध्याय, तप आदि की वृद्धि होती है वह द्रव्य विशेष है (तप'स्वाध्यायपरि-वृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेष ७ ३६) ।

उपर्युक्त विवेचन से भी स्पष्ट है कि दान की विशेष रूप से स्वतत्र व्याख्या करते हुए भी वहां पात्र में असयतियो को स्थान नही दिया है ।

'भगवती सूत्र' मे असयतियो को 'प्रासुक अप्रासुक-अशन पानादि' देने मे एकान्त पाप कहा है :

समणोवासगस्स ण भंते ! तहारूव असंजयं अविरय-पडिहय-पच्चक्खायपाव-कम्म फासुएण वा, अफासुएण वा, एसणिज्जेण वा, अणेसणिज्जेण वा असण-पाण० जाव कि कज्जइ ? गोयमा ! एगंतसो से पावे कम्मे कज्जइ, नत्थि से कावि निज्जरा कज्जइ (८ ६) ।

ऐसी स्थिति में किसी भी परिस्थिति में दिये गये असयति दानो में पुण्य की प्ररूपणा नही की जा सकती ।

पूर्व विवेचन में भिन्न-भिन्न पुण्य कर्मो के बध-हेतुओ के उल्लेख आये हैं । पुण्य-बध के इन हेतुओ में सार्वभौम दान को कही भी स्थान नही है । तथारूप श्रमण-निर्ग्रंथ को प्रासुक एषणीय आहारादि के दान से ही पुण्य प्रकृति का बध बतलाया है । तथ्य यही है कि अन्न-पुण्य, पान-पुण्य आदि की व्याख्या करते हुये पात्र रूप में साधु को ही स्वीकार करना आगमानुसारी व्याख्या है ।

३०—सावद्य-निरवद्य कार्य का आधार (गा० ५५-५८) :

स्वामीजी ने गाथा ४४ से ५४ तक यह सिद्ध किया है कि सावद्य दान से पुण्य कर्म का बध नही होता । सार्वभौम रूप से कहा जाय तो इसका आशय यह होगा कि सावद्य कार्य से पुण्य-कर्म का बध नही होता, निरवद्य कार्य से पुण्य-कर्म का बध होता है ।

प्रश्न होता है—निरवद्य कार्य और सावद्य कार्य का आधार क्या है ? स्वामीजी यहां बताते हैं—जिस कार्य में जिन-आज्ञा होती है वह निरवद्य कार्य होता है और जिस कार्य में जिन-आज्ञा नहीं होती वह सावद्य कार्य है ।

उदाहरण स्वरूप जीवों का घात करना, असत्य बोलना आदि अठारह पापो का सेवन जिन-आज्ञा में नही है । ये सावद्य कार्य हैं । हिंसा न करना, झूठ न बोलना आदि जिन-आज्ञा में हैं । ये निरवद्य कार्य हैं ।

निरवद्य कार्य में प्रयुक्त मन, वचन और काय के योग शुभ हैं और सावद्य कार्य में

संयतियों को—इसका अर्थ है—मूल उत्तर गुण से सम्पन्न संयतात्माओं को। महाव्रतयुक्त साधुओं को[1]।

भाष्य-पाठ के 'कल्पनीय' 'श्रद्धा-सत्कार' 'अनुग्रह-बुद्धि' और 'संयति' शब्द और इन शब्दों की 'सिद्धसेन टीका' से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वार्थकार ने संयतियों—साधुओं को ही इस व्रत का पात्र साधुओं के ग्रहण योग्य वस्तुओं को ही कल्पनीय देय द्रव्य माना है। मूल सूत्र स्पर्शी दिगम्बरीय टीका और वार्तिक[2] भी इसीका समर्थन करते हैं। सार यह है कि बारहवें व्रत के 'अतिथि' शब्द की व्याख्या में साधु के अतिरिक्त किसी अन्य को दान देने का विधान नहीं है। ऐसी हालत में दूसरों को दान देने में पुण्य की व्याख्या करना स्वतंत्र कल्पना है।

दान की परिभाषा 'तत्त्वार्थ सूत्र' में अन्यत्र इस प्रकार है 'अनुग्रह के लिये अपनी वस्तु का उत्सर्ग करना दान है' (अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ७.३३)। वहीं लिखा है 'विधि देयवस्तु, दाता और ग्राहक की विशेषता से उसकी (दान की) विशेषता है' (विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ७.३४)। भाष्य में 'आत्मपरानुग्रहार्थं स्वस्य द्रव्यजातस्यान्नपानवस्त्रादेः पात्रेऽतिसर्गो दानम्' अर्थात् पात्र के लिये अतिसर्ग करना—त्याग करना दान कहा है। 'पात्र विशेष' की व्याख्या करते हुये भाष्य में लिखा है 'पात्रविशेषः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपःसम्पन्नता इति।' सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की सम्पन्नता से पात्र में विशेषता आती है। 'सर्वार्थसिद्धि' में भी मोक्ष के कारण मूल गुणों से युक्त रहना पात्र की विशेषता बताई है (मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः ७.३९)। द्रव्य विशेष की व्याख्या करते हुये लिखा

१—वही : ऋत संयता मूलोत्तरगुणसम्पन्नास्तेभ्यः संयतात्मभ्यो दानमिति

२—(क) सर्वार्थसिद्धि ७.२१ : संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः। मोक्षार्थमभ्युद्यताय अतिथये संयमपरायणाय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवद्या भिक्षा देया। धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनाद्युपबृंहणानि दातव्यानि। औषधमपि योग्यमुपयोजनीयम्। प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति

(ख) राजवार्तिक ७.२१ : चारित्रलाभबलोपेतत्वात् संयममविनाशयन् अततीत्यतिथिः

(ग) श्रुतसागरी ७.२१ संयममविराधयन् अतति मोक्षार्थं गच्छति य सोऽतिथिः। यो मोक्षार्थं उद्यतः संयमतत्परः शुद्धश्च भवति तस्मै निर्मलचेतसा अनवद्या भिक्षा दातव्या धर्मोपकरणानि च रत्नत्रयवर्द्धकानि प्रदातव्यानि औषधमपि योग्यमेव देयम् आवासश्च परमधर्मश्रद्धया प्रदातव्यः

है जिससे स्वाध्याय, तप आदि की वृद्धि होती है वह द्रव्य विशेष है (तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेष ७ ३९)।

उपर्युक्त विवेचन से भी स्पष्ट है कि दान की विशेष रूप से स्वतंत्र व्याख्या करते हुए भी वहाँ पात्र में असयतियो को स्थान नही दिया है।

'भगवती सूत्र' में असयतियो को 'प्रासुक अप्रासुक-अशन पानादि' देने मे एकान्त पाप कहा है :

समणोवासगस्स ण भंते ! तहारूव असंजयं अविरय-पडिहय-पच्चक्खायपावकम्म फासुएण वा, अफासुएण वा, एसणिज्जेण वा, अणेसणिज्जेण वा असणपाण० जाव किं कज्जइ ? गोयमा ! एगंतसो से पावे कम्मे कज्जइ, नत्थि से कावि निज्जरा कज्जइ (८ ६)।

ऐसी स्थिति में किसी भी परिस्थिति में दिये गये असयति दानो में पुण्य की प्ररूपणा नही की जा सकती।

पूर्व विवेचन में भिन्न-भिन्न पुण्य कर्मो के बध-हेतुओ के उल्लेख आये हैं। पुण्य-बध के इन हेतुओ में सार्वभौम दान को कही भी स्थान नही है। तथारूप श्रमण-निग्रंथ को प्रासुक एषणीय आहारादि के दान से ही पुण्य प्रकृति का बध बतलाया है। तथ्य यही है कि अन्न-पुण्य, पान-पुण्य आदि की व्याख्या करते हुये पात्र रूप में साधु को ही स्वीकार करना आगमानुसारी व्याख्या है।

३०—सावद्य-निरवद्य कार्य का आधार (गा० ५५-५८) :

स्वामीजी ने गाथा ४४ से ५४ तक यह सिद्ध किया है कि सावद्य दान से पुण्य कर्म का बध नही होता। सार्वभौम रूप से कहा जाय तो इसका आशय यह होगा कि सावद्य कार्य से पुण्य-कर्म का बंध नही होता, निरवद्य कार्य से पुण्य-कर्म का बध होता है।

प्रश्न होता है—निरवद्य कार्य और सावद्य कार्य का आधार क्या है ? स्वामीजी यहाँ बताते हैं—जिस कार्य में जिन-आज्ञा होती है वह निरवद्य कार्य होता है और जिस कार्य में जिन-आज्ञा नही होती वह सावद्य कार्य है।

उदाहरण स्वरूप जीवों का घात करना, असत्य बोलना आदि अठारह पापो का सेवन जिन-आज्ञा में नही है। ये सावद्य कार्य हैं। हिंसा न करना, झूठ न बोलना आदि जिन-आज्ञा में हैं। ये निरवद्य कार्य हैं।

निरवद्य कार्य में प्रयुक्त मन, वचन और काय के योग शुभ हैं और सावद्य कार्य में

प्रयुक्त मन वचन और काय के योग अशुभ।

संयति साधुओं को अशनादि देने से संयम का पोषण होता है। संयम का पोषक होने से संयति-दान जिन आज्ञा में है और निरवद्य कार्य है। उसमें प्रवृत्ति शुभ योग रूप है और उससे पुण्य का बंध होता है। अन्य दानों से असंयम का पोषण होता है। उनमें जिन-आज्ञा नहीं। वे सावद्य कार्य हैं। उनमें प्रवृत्त होना अशुभ योग रूप है और उससे पाप का बंध होता है।

आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं : "शुभ परिणामनिर्वृत्त योग शुभ है और अशुभ परिणामनिर्वृत्त योग अशुभ। शुभ-अशुभ कर्मों के कारण योग शुभ या अशुभ नहीं होते। यदि ऐसा हो तो शुभ योग ही न हो, क्योंकि शुभ योग को भी ज्ञानावरणादि कर्मों के बंध का कारण माना है[1]।"

श्रुतसागरी तत्त्वार्थवृत्ति में इतना विशेष है : शुभाशुभ कर्म के हेतु मात्र से यदि योग शुभ-अशुभ हो तो सयोगी केवली के भी शुभाशुभ कर्म का प्रसंग उपस्थित होगा। पर ऐसा नहीं होता। पुनः शुभ योग भी ज्ञानावरणादि कर्मों के बंध का कारण होता है। यथा किसी ने कहा—'हे शिष्य ! तुम उपवासी हो अतः पठन मत करो विश्राम लो।' हित परिणाम से ऐसा कहने वाले का चित्त अभिप्राय होता है—अभी विश्राम लेने पर वह बाद में अधिक तप और श्रुताध्ययन कर सकेगा। उसके परिणाम विशुद्ध होने से तप और श्रुत का वर्जन करने पर भी वह अशुभास्रव का भागी नहीं होता। 'आप्त मीमांसा' में कहा भी है—स्व और पर में उत्पन्न होने वाला सुख-दुःख यदि विशुद्धिपूर्वक है तो पुण्यास्रव होगा यदि संक्लेशपूर्वक है तो पापास्रव होगा[2]।

१—सर्वार्थसिद्धि ६. ३ टीका : कथं योगस्य शुभाशुभत्वम् ? शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभः। न पुनः शुभाशुभकर्मकारणत्वेन। यद्येवमुच्यते शुभयोग एव न स्यात्, शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात्।

२—श्रुतसागरी वृत्ति ६. ३ : न तु शुभाशुभकर्महेतुमात्रत्वेन शुभाशुभौ योगौ वर्तेते। तथा सति सयोगकेवलिनोऽपि शुभाशुभकर्मप्रसङ्गः स्यात्, न च तथा। ननु शुभयोगोऽपि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुर्वर्तते। यथा केनचिदुक्तम्—'भो शिष्य त्वमुपोषितो वर्तसे तत त्वं पठनं मा कुरु विश्रम्यताम्' इति तेन हितमप्युक्तमपि ज्ञानावरणादि प्रयोक्तुर्भवति तत एव एवाशुभयोगोऽङ्गीक्रियताम् शुभयोग एव नास्ति, सत्यम्, स यदा हितस्य परिणामेन पठनं निषेधयति तदा तस्य वक्तुरेवं अभिप्रायो वर्तते—'यदि इदानीमयं विश्राम्यति तदाग्रे अस्य बहुतरं तपःश्रुतादिकं भविष्यति' इत्यभिप्रायस्य तपःश्रुतादिकं वारयतोऽपि अशुभास्रवभाग् न स्यात् विशुद्धिमात्रपरिणामहेतुत्वादिति। तदुक्तम्— विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम्। पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद् व्यर्थस्तवार्हतः॥ (आप्त मीमांसा श्लोक ९५)

इस सम्बन्ध में प्रज्ञाचक्षु प. सुखलालजी लिखते हैं—"योग के शुभत्व और अशुभत्व का आधार भावना की शुभाशुभता है। शुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग शुभ, और अशुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग अशुभ है। कार्य—कर्म-बध की शुभाशुभता पर योग की शुभाशुभता अवलम्बित नही, क्योकि ऐसा मानने से सारे योग अशुभ ही कहलायेंगे, कोई शुभ नही कहलायेगा, क्योकि शुभ योग भी आठवें आदि गुण स्थानो में अशुभ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के वन्ध का कारण होता है (इसके लिए देखो हिन्दी 'कर्म-ग्रन्थ' भाग चौथा "गुण स्थानो मे वध विचार" ; तथा हिन्दी 'कर्म ग्रन्थ' भाग २)[1] ।"

उपर्युक्त तीनो उद्धरणो में जो बात कही गई है वह अत्यन्त अस्पष्ट तथा सदिग्ध है। उल्लिखित 'कर्म-ग्रन्थो' के सदर्भों में भी इस सबन्ध में कोई विशेष प्रकाश डालने वाली बात नही। शुभयोग से ज्ञानावरणीय कर्म के बध का उल्लेख किसी भी आगम में प्राप्त नही है।

इसी भावनावाद का सहारा लेकर ही हरिभद्रसूरि जैसे विद्वान् आचार्य ने द्रव्य-स्नान[2] और पुष्प-पूजा[3] को अशुद्ध कहते हुए भी उनमें पुण्य की प्ररूपणा की है।

स्वामीजी ने प्रकारान्तर से इस भावनावाद का यहाँ खण्डन किया है। उनकी दृष्टि से भावना, आशय अथवा उद्देश्य से योग शुभ-अशुभ होता है, यह सिद्धान्त ही अशुद्ध है। सर्दी के दिन हैं। शीत के कारण एक जैन साधु कांप रहा है। एक मनुष्य उसे कांपता हुआ देखकर शीत-निवारण के लिये अग्नि जला कर उसे तपाता है। स्वामीजी

१—तत्त्वार्थसूत्र (तृ० आ० गुज०) पृ० २५२

२—अष्टकप्रकरण स्नानाष्टक ३—४

कृत्वेदं यो विधानेन देवतातिथिपूजनम्।
करोति मलिनारम्भी तस्यैतदपि शोभनम्॥
भावशुद्धिनिमित्तत्वात्तथानुभवसिद्धित ।
कथञ्चिद्दोषभावेऽपि तदन्यगुणभावत ॥

३—वही पूजाष्टकम् २-४

शुद्धागमैर्यथालाभ प्रत्यग्रै शुचिभाजनै ।
स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि पुष्पैर्जात्यादिसम्भवै ॥
अष्टापायविनिर्मुक्ततदुत्थगुणभूतये ।
दीयते देवदेवाय या साऽशुद्धेत्युदाहृता ॥
सङ्कीर्णैषा स्वरूपेण द्रव्याद्भावप्रसक्तित ।
पुण्यबन्धनिमित्तत्वाद् विज्ञेया सर्वसाधनी ॥

अन्यत्र कहते हैं—यदि भावना से योग शुभ हो तो यह योग भी शुभ होगा। दूसरा मनुष्य जब साधु को अनुकम्पावश सचित्त जल देता है। यदि भावना से योग शुभ हो तो साधु को सचित्त जल देना भी शुभ योग होगा।

आगम में अग्नि को लोहे के शस्त्र-अस्त्रों की अपेक्षा भी अधिक तीक्ष्ण और पापकारी शस्त्र कहा गया है। प्राणियों के लिए यह बात स्पष्ट है। कहा है—"साधु अग्नि सुलगाने की कभी इच्छा न करे। प्रकाश और शीत आदि के निवारण के लिए भी किञ्चित भी अग्नि का आरम्भ न करे। वह अग्नि का कभी सेवन न करे[1]।"

इसी तरह साधु के लिए सचित्त जल का वर्जन है। कहा है—'निर्जन पथ में अत्यन्त तृषा से आतुर हो जाने और जिह्वा के सूख जाने पर भी साधु शीतोदक का सेवन न करे[2]।'

साधु को अकल्प्य का सेवन कराना जहाँ उसके व्रतों का भङ्ग करना है वहाँ अग्नि सुलगाने और सचित्त जल देने में भी हिंसा है। ऐसी हालत में भावना से शुभाशुभ योग का निर्णय करना सिद्धान्त-सम्मत नहीं। जो जिन-आज्ञा के बाहर की क्रिया करता है उसकी भावना उसके आशय और उद्देश्य शुभ नहीं कहे जा सकते।

स्वामीजी आगे कहते हैं—एक मनुष्य साधुओं को वंदन करने की भावना से घर से निकलता है। रास्ते में अयत्नापूर्वक चलता है। जीवों का घात होता है। यदि भावना से योग शुभ हो तो जीवों का घात करते हुए अयत्नापूर्वक चलना भी शुभ होगा।

१—(क) दशवैकालिक सूत्र ६ ३३ ३५

जायतेयं न इच्छन्ति पावगं जलइत्तए।
तिक्खमन्नयरं सत्थं सव्वओ वि दुरासयं॥
भूयाणमेसमाघाओ हव्ववाहो न संसओ।
तं पईव-पयावट्ठा संजया किंचि नारभे॥

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र : २.७

न मे निवारणं अत्थि छवित्ताणं न विज्जई।
अहं तु अग्गिं सेवामि इइ भिक्खू न चिन्तए॥

२—उत्तराध्ययन सूत्र २.४,५ :

तओ पुट्ठो पिवासाए दोगुंछी लज्जसंजए।
सीओदगं न सेविज्जा वियडस्सेसणं चरे॥
छिन्नावाएसु पन्थेसु आउरे सुपिवासिए।
परिसुक्कमुहादीणे तं तितिक्खे परीसहं॥

एक श्रावक धर्म-लाभ की भावना से खुले मुँह स्वाध्याय-स्तवन करता है। यदि भावना से योग शुभ हो तो जीवो का घात करते हुए खुले मुह स्तवन आदि करना भी शुभ योग होगा[1]।

जो परिणामवाद अशुद्ध द्रव्य पूजा मे पुण्य का प्ररूपक हुआ उसकी आलोचना करते हुए स्वामीजी कहते हैं—"कई कहते हैं कि अपने परिणाम अच्छे होने चाहिए फिर जीव-हिंसा का पाप नही लगता। जो दूसरे जीवो के प्राणो को लूटता है उसके परिणाम भला अच्छे कैसे हैं? आगमो में कहा है—अर्थ, अनर्थ और धर्म के हेतु जीव-घात करने मे पाप होता है। फिर भी कई कहते हैं, धर्म के लिए जीव-हिंसा से पाप का बंध नही होता क्योकि परिणाम विशुद्ध हैं। जो उदीर कर जीव-हिंसा कर रहा है उसके परिणामो को अच्छे बतलाना निरी विवेकरहित बात है[2]।"

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) : विरत इविरत री चौपई ढाल ८ २,३,४,६,८ :

साध नें तपावें अगन सू अग्यांनी, ते तो पाप अठारां में पेंहलों रे।
तिण मांहें पुन परूपें अग्यांनी, तिणने पिडत कहीजें के गेंहलो रे॥
साधु नें तपायां में पुन परूपें, ते तो मूढ मिथ्याती छे पूरो रे।
अगन री हिंसा में पाप न जाणें, ते मत निश्चेंइ कूडो रे॥
सभाय स्तवन कहें मुख उघाडें, जब वाउ जीवां री हुवें घातो रे।
केइ कहें वाउकाय रो पाप न लागे, आ उंध मती री छे वातो रे॥
साधां नें वांदण जाता मारग में, तस थावर री हुवें घातो रे।
ज्यां सू जीव मूआ ज्यांनें पाप न सरधें, त्यारा घट मांहें घोर मिथ्यातो रे॥
विण उपीयोगे मारग मांहें चालें, कदे न मरे जीव किण वारो रे।
तो पिण वीर कह्यों छें तिण नें, छ काय रो मारणहारो रे॥

२—(क) वही · ढा० ६. दोहा १-३ :

जिण आगम मांहें इम कह्यों, श्री जिण मुख सू आप।
अर्थ अनर्थ धर्म कारणें, जीव हणया छें पाप॥
केइ अग्यांनी इम कहें, धर्म काजें हणें जीव कोय।
चोखा परिणांमा जीव मारीया, त्यांरो जावक पाप न होय॥
जीव मारें छे उदीर ने, तिणरा चोखा कहें परिणांम।
ते ववेक विकल छध बुध विनां, वले जेंनी धरावें नांम॥

(ख) वही ढा० १२ ३४,३६

जीव मार्यां हो पाप लागे नहीं,
चोखा चाहीजें निज परिणांम हो॥
तिणरा चोखा परिणांम किहां थकी,
पर जीवां रा लूटें छें प्रांण हो॥

ऐसी परिस्थिति में शुभ-अशुभ योग का निर्णायक तत्त्व भावना या उद्देश्य नहीं परन्तु वह कार्य जिन-आज्ञा सम्मत है या नहीं यह तत्त्व है। यदि कार्य जिन-आज्ञा सम्मत है तो उसमें मन, वचन, काय की प्रवृत्ति शुभ योग है और यदि कार्य जिन-आज्ञा सम्मत नहीं तो उसमें प्रवृत्ति अशुभ योग है

मन वचन काया रा योग तीनूंई, सावद्य निरवद्य जांणों।
निरवद्य जोगां री छै जिण आग्या, तिणरी करो पिछांणो रे॥
जोग नाम व्यापार तणों छै, ते भला नें भूंडा व्यापार।
भला जोगां री जिण आगना छै माठा जोग जिण आगना बार रे॥
मन वचन काया भली परवरतावो गृहस्थ नें कहें जिनराय।
ते काया भली किम विध परवरतावें तिणरो विवरो सुणों चित्त ल्याय।
निरवद किरतब मांहें काया परवरतावें तिण किरतब नें काय जोग जांणों।
तिण किरतब री छै जिण आग्या किरतब नें करो आमेलांणो रे[1]॥

स्वामीजी ने कहा है ध्यान, लेश्या परिणाम और अध्यवसाय ये चारों ही शुभ-अशुभ दोनों तरह के होते हैं। शुभ ध्यान शुभ लेश्या शुभ परिणाम और शुभ अध्यवसाय इन चारों में ही जिन-आज्ञा है। अशुभ ध्यान अशुभ लेश्या अशुभ परिणाम और अशुभ अध्यवसाय इन चारों में जिन-आज्ञा नहीं[2]।

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) : जिनाग्या री चौपई ढाल १.१८-२१

२—वही ढा० १ १२-१६ :

धर्म नें शुकल दोनूं ध्यांन में जिण आगना दीधी बारूंबार रे।
आरत रुद्र ध्यांन माठा बेहूं यांनें ध्यावें ते आगना बार रे।
तेजू पदम शुकल लेस्या भली त्यांमें जिण आगना नें निरजरा धर्म रे।
तीन माठी लेस्या में आगना नहीं तिण सूं बंधे पाप कर्म रे।
भला परिणांमां में जिण आगना, माठा परिणांम आगना बार रे।
भला परिणांम निरजरा नीपजें, माठा परिणांमां पाप दुवार रे॥
भला अधवसाय में जिण आगना आगना बारें माठा अधवसाय रे।
भला अधवसाय सूं निरजरा हुवें माठा अधवसाय सूं पाप बंधाय रे॥
ध्यांन लेस्या परिणांम अधवसाय च्यारू भला में आगना जांम रे।
च्यारू माठा में जिण आगना नहीं यांरा गुणां री कीजो पिछांण रे॥

शुभ ध्यान, शुभ लेश्या, शुभ परिणाम और शुभ अध्यवसाय चारो शुभ और प्रशस्त भाव हैं। इनसे निर्जरा के साथ पुण्य का बध होता है । अशुभ ध्यान, अशुभ लेश्या, अशुभ परिणाम और अशुभ अध्यवसाय चारो अशुभ और अप्रशस्त भाव हैं। इनसे पाप कर्मों का बध होता है। इन्हे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। साधु की वंदना करना निरवद्य कार्य है। साधु-वदन का ध्यान, लेश्या, परिणाम और अध्यवसाय शुभ मनोयोग रूप हैं। यतनापूर्वक साधु की स्तुति करना शुभ वचन योग है। उठ-बैठ कर वदना करना शुभ काय योग है। परदार-सेवन का ध्यान, लेश्या, परिणाम और अध्यवसाय अशुभ मनोयोग रूप हैं। वचन और काय से उस ओर प्रवृत्ति करना अशुभ वचन और काय योग हैं।

भावना साधु-वदन की होने पर भी वचन और काय के योग अशुभ हो सकते हैं। भावना की शुद्धि से योगो मे उस समय तक शुद्धि नही आयेगी जब तक वे अपने आप मे प्रशस्त और यतनापूर्वक नही हैं। स्वामीजी ने इस बात को इस प्रकार कहा है :

"एक मनुष्य साधु की वदना करने के उद्देश्य से घर से निकलता है। उद्देश्य साधु-वदन का होने पर भी जाते समय वह मार्ग में जैसे कार्य करेगा वैसे ही फल उसे मिलेंगे। रास्ते में सावद्य-निरवद्य जैसे उसके तीनो योग होंगे उसी अनुसार उसके अलग-अलग पुण्य-पाप का बध होगा। यदि मन योग शुभ होगा तो उससे एकान्त निर्जरा होगी तथा वचन और काय के योग अशुभ होंगे तो उनसे एकान्त पाप होगा। कदाचित् काय और वचन योग शुभ होंगे तो उनसे धर्म होगा, मन योग अशुभ होगा तो उससे पाप लगेगा। अगर तीनो ही योग शुभ होगे तो जरा भी पाप का बध नही होगा। अगर तीनों योग अशुभ होगे तो केवल पाप का बध होगा। इस प्रकार वन्दना के उद्देश्य से रास्ते में जाते समय तीनो योगो का भिन्न-भिन्न व्यापार हो सकता है। जो योग अशुभ होगा उससे पाप और जो योग शुभ होगा उससे पुण्य का बध होगा, इसमें अन्तर नही पड सकता। दूध और जल की तरह सावद्य और निरवद्य के फल भिन्न-भिन्न हैं। साधु के पास पहुचने पर यदि वह भाव सहित साधु की वन्दना करता है तो उसके कर्मों का क्षय होता है। साधु-वन्दन के लिए जाना, वहाँ से लौटना और साधु के समीप पहुचने पर उसकी वन्दना करना—ये तीनों भिन्न-भिन्न कर्तव्य हैं। उसका जाना साधु की वन्दना करने के लिए है, उसका आना घर के लिए है। साधु की वन्दना करना उक्त दोनो कार्यों से भिन्न है। ये तीनो कर्तव्य एक नही हैं[1]।"

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) विरत इविरत री चौपई ढाल ९.१२-१९

ऐसी परिस्थिति में शुभ-अशुभ योग का निर्णायक तत्त्व भावना या उद्देश्य नहीं परन्तु यह कार्य जिन-आज्ञा सम्मत है या नहीं यह तत्त्व है। यदि कार्य जिन-आज्ञा सम्मत है तो उसमें मन, वचन, काय की प्रवृत्ति शुभ योग है और यदि कार्य जिन-आज्ञा सम्मत नहीं तो उसमें प्रवृत्ति अशुभ योग है :

मन वचन काया रा जोग तीनूंई सावद्य निरवद्य जांणों।
निरवद्य जोगां री श्री जिण आग्न्या, तिणरी करो पिछांणो रे॥
जोग नाम व्यापार तणों छें, ते भला नें भूंडा व्यापार।
भला जोगां री जिण आगन्या छें, माठा जोग जिण आगन्या बार रे॥
मन वचन काया भली परवरतावो ग्रहस्थ नें कहें जिणराय।
ते काया भली किण विध परवरतावें तिणरो विवरो सुणों चित ल्याय।
निरवद्य किरतब मांहें काया परवरतावें तिण किरतब नें काय जोग जांणों।
तिण किरतब री छें जिण आग्न्या किरतब नें करो मागेवांणो रे[1]॥

स्वामीजी ने कहा है ध्यान लेश्या परिणाम और अध्यवसाय ये चारों ही शुभ-अशुभ दोनों तरह के होते हैं। शुभ ध्यान शुभ लेश्या शुभ परिणाम और शुभ अध्यवसाय इन चारों में ही जिन-आज्ञा है। अशुभ ध्यान अशुभ लेश्या अशुभ परिणाम और अशुभ अध्यवसाय इन चारों में जिन-आज्ञा नहीं[2]।

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) जिनाग्या री चौपई ढाल १ १८ ११

२—वही ढा० १ १२-१६ :

धर्म नें सुकल दोनूं ध्यान में जिण आगन्या दीधी वारूंवार रे।
आरत रुद्र ध्यान माठा बेहूं यांनें ध्यावें ते आगन्या बार रे।
तेजू पदम सुकल लेस्या भली त्यांमें जिण आगन्या नें निरजरा धर्म रे।
तीन माठी लेस्या में आगन्या नहीं तिण सूं बंधे पाप कर्म रे।
भला परिणामां में जिण आगन्या माठा परिणाम आगन्या बार रे।
भला परिणाम निरजरा नीपजें, माठा परिणामां पाप दुवार रे॥
भला अधवसाय में जिण आगन्या आगन्या बारें माठा अधवसाय रे।
भला अधवसाय सूं निरजरा हुवें माठा अधवसाय सूं पाप बंधाय रे॥
ध्यांन लेस्या परिणाम अधवसाय च्यारूं भलां में आगन्या जांण रे।
च्यारूं माठा में जिण आगन्या नहीं यांरा गुणां री कीजो पिछांण रे॥

३१—उपसंहार (गा० ५६-६३)

इन गाथाओ मे जो बातें कही गयी हैं वे प्राय पुनरुक्त हैं। इन गाथाओ के उपसहारात्मक होने से इसी ढाल के प्रारभिक भावो की उनमे पुनरुक्ति हो यह स्वाभाविक है। पुण्य की प्रथम ढाल सवत् १८५५ की कृति है। यह दूसरी ढाल सवत् १८४३ की कृति है। प्रथम ढाल में विषय को जिस रूप में उठाया गया है, द्वितीय ढाल मे विषय को उसी रूप में समाप्त किया गया है। प्रथम ढाल के प्रारभिक दोहो तथा गाथा सख्या ५२-५८ तक में जो बात कही गयी है वही बात इस ढाल में ६१-६३ सख्या की गाथाओ में है। ६०वी गाथा में जो बात है वही प्रारभिक दोहा सख्या १ में है। ५६वी गाथा में सार रूप में उसी बात की पुनरुक्ति है जो इस ढाल का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। उपसहार के रूप में यहाँ निम्न बातें कही गयी हैं :

(१) निर्जरा और पुण्य की करनी एक है। जहाँ पुण्य होगा वहाँ निर्जरा होगी ही। जिस कार्य में निर्जरा है वह जिन भगवान की आज्ञा में है।

इस विषय में यथेष्ट प्रकाश टिप्पणी ४ (पृ० २०३-२०८) में डाला जा चुका है। पुण्य-हेतुओ का विवेचन और उस सम्बन्ध में दी हुई सारी टिप्पणियाँ इस पर विस्तृत प्रकाश डालती हैं।

(२) पुण्य नौ प्रकार से उत्पन्न होता है, ४२ प्रकार से भोग में आता है।

इसके स्पष्टीकरण के लिये देखिये टिप्पणी १ (पृ० २००-१)।

अन्न-पुण्य, पान-पुण्य आदि पुण्य के नौ प्रकारों मे मन-पुण्य, वचन-पुण्य और काय-पुण्य भी समाविष्ट हैं। मन, वचन और काय के प्रशस्त व्यापारों की सख्या निर्दिष्ट करना सभव नही। ऐसी हालत में नौ की सख्या उदाहरण स्वरूप है, अन्तिम नही। मन, वचन और काय के सर्व प्रशस्त योग पुण्य के हेतु हैं। पुण्य-बध के हेतुओ का जो विवेचन पूर्व में आया है उसमें मन-पुण्य, वचन-पुण्य और काय-पुण्य के अनेक उदाहरण सामने आये हैं।

'विशेषावश्यकभाष्य' में सात वेदनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, पुरुषवेद, रति, शुभायु, शुभ नाम, शुभ गोत्र—इन प्रकृतियो को पुण्यप्रकृति कहा गया है[1]। शुभायु में

१—विशेषावश्यकभाष्य १६४६ :

> सात सम्म हास पुरिस-रति-छभायु-णाम-गोत्राइं।
> पुण्णं सेस पावं णेयं सविवागमविवागं॥

परिणामवाद का असर दान-व्यवस्था पर भी हुआ। आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'भिक्षाष्टक' में कहा है—'जो यति ध्यानादि से युक्त, गुरु-आज्ञा में तत्पर और सदा अनारम्भी होता है और शुभ आशय से भ्रमर की तरह भिक्षाटन करता है तो उसकी भिक्षा 'सर्वसम्पत्करी' है। जो मुनि दीक्षा लेकर भी उसके विरुद्ध वर्तन करता है और सदारम्भी होता है उसकी भिक्षा 'पौरुषघ्नी' होती है। अन्य क्रिया करने में असमर्थ गरीब अन्धा, पंगु आदि मनुष्य आजीविका के लिए भिक्षा मांगता है तो वह 'वृत्ति भिक्षा' है। उक्त तीनों तरह के भिक्षुओं को भिक्षा देने वाले व्यक्ति को क्षेत्रानुसार फल मिलता है अथवा देने वाले के आशय के अनुसार फल मिलता है, क्योंकि विशुद्ध आशय फल को देने वाला है'[1]।

ऐसी ही विचारधारा को लक्ष्य कर उपर्युक्त आचार्यों में स्वामीजी ने कहा है—"पात्र को प्रासुक एषणीय आदि कल्प्य वस्तुएं देने से पुण्य होता है। अन्य किसी को कल्प्य-अकल्प्य देने से पुण्य का बन्ध नहीं है।" स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है

पातर कुपातर हर कोइ नें देवें तिण नें कहीजें दातार।
तिणमें पातर दान मुगत रो पावडीयों कुपातर सूं रूलें संसार रे॥
अधर्मी जीवां ने दान देवें छें, ते एकंत अधर्म दान।
धर्मी नें दान निरदोषण देवें, ते धर्म दान कह्यों भगवान रे॥
सुपातर नें दीयां संसार घटें छें कुपातर नें दीयां वधें संसार।
ए वीर वचन साचा कर जांणों तिणमें शंका नहीं छें लिगार रे[2]॥
जो दान सुपातर ने दीयों तिणमें श्री जिण आग्या जांण रे।
कुपातर दान में आगना नहीं तिणरी बुधवंत करज्यो पिछांण रे॥
पातर कुपातर दोनूं ने दीयां मिश्र जांणे तेह्यां में धर्म रे।
धर्म होसी सुपातर दान में कुपातर में दीयां पाप कर्म रे॥
खेतर कुखेतर श्री जिणवर कह्या चोथें ठांणे ठांणायंग मांय रे।
सुखेतर में दीयां जिण आगना कुखेतर में आग्या नहीं कांय रे[3]॥

१—अष्टकप्रकरण : भिक्षाष्टक ५.८ :

दातॄणामपि चैताभ्यः फलं क्षेत्रानुसारतः।
विज्ञेयमाशयाद्वापि स विशुद्धः फलप्रदः॥

२—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) : विरत इविरत री चौपई : ढाल ११ ५ ४६ ४७

३—वही : जिनाग्या री चौपई : ढाल १ १२ १४ १६

"वे पुण्य अच्छे नही जो जीव को राज्य देकर शीघ्र ही दुःख उत्पन्न करें[१]।" "यद्यपि असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप ये दोनो एक दूसरे से भिन्न हैं, और अशुद्धनिश्चयनय से भावपुण्य और भावपाप ये दोनो भी आपस में भिन्न हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनय से पुण्य-पाप रहित शुद्धात्मा से दोनो ही भिन्न और बंधरूप होने से दोनो समान ही हैं। जैसे कि सोने की वेडी और लोहे की वेडी ये दोनो ही वन्ध के कारण होने से समान हैं[२]।" "पुण्य से घर में धन होता है, धन से मद, मद से मतिमोह (बुद्धिभ्रम) और मतिमोह से पाप होता है, इसलिए ऐसा पुण्य हमारे न होवे[३]।"

काम-भोगो की इच्छा—निदान के दुष्परिणाम का हृदयस्पर्शी वर्णन 'दशाश्रुतस्कध'[४] में प्राप्त है। वहाँ सुचरित्र—तप, नियम और ब्रह्मचर्य वास के वदले में मानुषिक काम-भोगो की कामना करने वाले श्रमण-श्रमणियो के विषय मे कहा गया है :

"ऐसे साधु या साध्वी जब पुन मनुष्य-भव प्राप्त करते हैं तव उनमें से कई तथारूप श्रमण-माहन द्वारा दोनो समय केवली-प्रतिपादित धर्म सुनाये जाने पर भी उसे सुनें, यह सम्भव नही। वे केवली प्रतिपादित धर्म सुनने के अयोग्य होते हैं। वे महा इच्छावाले, महा आरम्भी, महा परिग्रही, अधार्मिक और दक्षिणगामी नैरयिक होते हैं तथा आगामी जन्म में दुर्लभवोधि होते हैं।

"कोई धर्म को सुन भी ले पर यह सभव नही कि वह धर्म पर श्रद्धा कर सके, विश्वास कर सके, उसपर रुचि कर सके। सुनने पर भी वह धर्म पर श्रद्धा करने में असमर्थ होता है। वह महा इच्छावाला, महा आरभी, महा परिग्रही और अधार्मिक होता है। वह दक्षिणगामी नैरयिक और दूसरे जन्म में दुर्लभवोधि होता है।

१—परमात्मप्रकाश २.५७ :

म पुणु पुण्णइँ भल्लाइँ णाणिय ताइँ भणंति।
जीवहँ रज्जइँ देवि लहु दुक्खइँ जाइँ जणंति॥

२—वही २.५५ की टीका :

यद्यप्यसद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापे परस्परभिन्ने भवतस्तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावपुण्यपापे भिन्ने भवतस्तथापि शुद्धनिश्चयनयेन पुण्यपापरहितशुद्धात्मन सकाशाद्विलक्षणे सुवर्णलोहनिगलवद्बन्धं प्रति समाने एव भवत।

३—वही २.६० :

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो।
मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ॥

४—दशा : १०

देव मनुष्य और तिर्यञ्च की आयु का समावेश है। शुभ नामकर्म प्रकृति में ३७ प्रकृतियों का समावेश है। इस तरह 'विशेषावश्यकभाष्य' के अनुसार ये ४२ प्रकृतियां शुभ होने से पुण्य रूप हैं।

'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार भी पुण्य की ४२ प्रकृतियां हैं। आगम में सम्यक्त्व मोहनीय हास्य पुरुषवेद, रति इन्हें पुण्य की प्रकृति नहीं माना गया है। इन्हें न गिनने से पुण्य की प्रकृतियां ४२ ही रहती हैं[1] (देखिये टिप्पणी १० पृ ११७-८)। बांधे हुए पुण्य कर्म ४२ प्रकार से उदय में आते हैं और अपनी प्रकृति के अनुसार फल देते हैं। यही पुण्य का भोग है।

(२) जो पुण्य की वांछा करता है वह कामभोगों की वांछा करता है। कामभोगों की वांछा से संसार की वृद्धि होती है।

इस विषय में प्रथम ढाल के दोहे १ ५ और तत्संबंधी टिप्पणी १ (पृ० ११० ११) द्रष्टव्य है। इस संबंध में एक प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य का निम्न चिन्तन प्राप्त है

निश्चय-प्रवचन में 'पुण्य और पाप दोनों से मुक्त होना ही मोक्ष है[2]।' "जिसके पुण्य और पाप दोनों ही नहीं होते वही निरंजन है[3]।

पुण्य से स्वर्गादि के सुख मिलते हैं और पाप से नरकादि के दुःख ऐसा सोच कर जो पुण्य कर्म उत्पन्न करने के लिये शुभ क्रिया करता है वह पाप कर्म का बंध करता है। जैसे पाप दुःख का कारण है वैसे ही पुण्य से प्राप्त भोग-सामग्री का सेवन भी दुःख का कारण है, अतः पुण्य कर्म काम्य नहीं है।

"जो जीव पुण्य और पाप दोनों को समान नहीं मानता वह जीव मोह से मोहित हुआ बहुत काल तक दुःख सहता हुआ भटकता है[4]।"

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : भाष्यसहित नवतत्त्वप्रकरणम्
 बायं उच्चगोयं सम्मत्तं हासपुरिसरइ ।
 तित्थि न आइंसि तहा बायाल पुण्णपगईओ ॥ ७ ॥

२—परमात्मप्रकाश २ ६३:
 पावें णारउ तिरिउ जिउ पुण्णें अमरु वियाणु ।
 मोक्खहं जाइ णिव्वाणु ॥

३—परमात्मप्रकाश १ २१:
 अस्ति न पुण्यं न पापं यस्य ।
 स एव निरञ्जनो भाव ॥

४—परमात्मप्रकाश २.५५
 जो णवि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ ।
 सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ ॥

"वे पुण्य अच्छे नही जो जीव को राज्य देकर शीघ्र ही दुःख उत्पन्न करें[1] ।" "यद्यपि असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप ये दोनो एक दूसरे से भिन्न हैं , और अशुद्धनिश्चयनय से भावपुण्य और भावपाप ये दोनो भी आपस में भिन्न हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनय से पुण्य-पाप रहित शुद्धात्मा से दोनो ही भिन्न और बंधरूप होने से दोनो समान ही हैं। जैसे कि सोने की वेडी और लोहे की वेडी ये दोनो ही बन्ध के कारण होने से समान हैं[2] ।" "पुण्य से घर मे धन होता है, धन से मद, मद मे मतिमोह (बुद्धिभ्रम) और मतिमोह से पाप होता है , इसलिए ऐसा पुण्य हमारे न होवे[3] । "

काम-भोगो की इच्छा—निदान के दुष्परिणाम का हृदयस्पर्शी वर्णन 'दशाश्रुतस्कंध'[4] में प्राप्त है। वहाँ सुचरित्र—तप, नियम और ब्रह्मचर्य वास के बदले में मानुषिक काम-भोगो की कामना करने वाले श्रमण-श्रमणियो के विषय मे कहा गया है:

"ऐसे साधु या साध्वी जब पुन मनुष्य-भव प्राप्त करते हैं तब उनमें से कई तथारूप श्रमण-माहन द्वारा दोनो समय केवली-प्रतिपादित धर्म सुनाये जाने पर भी उसे सुनें, यह सम्भव नही। वे केवली प्रतिपादित धर्म सुनने के अयोग्य होते हैं। वे महा इच्छावाले, महा आरम्भी, महा परिग्रही, अधार्मिक और दक्षिणगामी नैरयिक होते हैं तथा आगामी जन्म में दुर्लभबोधि होते हैं।

" कोई धर्म को सुन भी ले पर यह सभव नही कि वह धर्म पर श्रद्धा कर सके, विश्वास कर सके, उसपर रुचि कर सके। सुनने पर भी वह धर्म पर श्रद्धा करने मे असमर्थ होता है। वह महा इच्छावाला, महा आरंभी, महा परिग्रही और अधार्मिक होता है। वह दक्षिणगामी नैरयिक और दूसरे जन्म में दुर्लभबोधि होता है।

१—परमात्मप्रकाश २ ५७ :

म पुणु पुण्णइँ भल्लाइँ णाणिय ताइँ भणंति ।
जीवहँ रज्जइँ देवि लहु दुक्खइँ जाइँ जणंति ॥

२—वही २ ५५ की टीका :

यद्यप्यसद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापे परस्परभिन्ने भवतस्तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावपुण्यपापे भिन्ने भवतस्तथापि शुद्धनिश्चयनयेन पुण्यपापरहितशुद्धात्मन सकाशाद्विलक्षणे सुवर्णलोहनिगलवद्बन्धं प्रति समाने एव भवत ।

३—वही २ ६० :

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो ।
मइ-मोहेण य पाव ता पुण्ण अम्ह मा होउ ॥

४—दशा · १०

कोई धर्म को सुन लेता है, उस पर श्रद्धा विश्वास और रुचि भी करने लगता है पर सम्भव नहीं कि वह शीलव्रत गुणव्रत विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास को ग्रहण कर सके।

'कोई तथारूप श्रमण-माहन द्वारा प्ररूपित धर्म सुन सकता है, उसपर श्रद्धा विश्वास और रुचि करने लगता है तथा शीलव्रतादि भी ग्रहण कर सकता है पर यह संभव नहीं कि वह मुंडित हो घर से निकल अनगारिता ग्रहण कर सके।

"कोई तथारूप श्रमण-माहन द्वारा केवली प्ररूपित धर्म सुनता है उसपर श्रद्धा विश्वास और रुचि करता है तथा मुण्ड हो घर से निकल अनगारिता—प्रव्रज्या ग्रहण करता है पर संभव नहीं कि वह इसी जन्म में इसी भव में सिद्ध हो—सर्व दुःखों का अन्त कर सके।"

इस प्रकार निदान कर्म का पाप रूप फल-विपाक होता है।

जो तप आदि कृत्यों के फलस्वरूप कामभोगों की कामना करता है और जो तप मात्र से केवल कर्मक्षय के लिए तपस्या करता है उन दोनों के फल विपाक का विवरण 'उत्तराध्ययन सूत्र' के चित्तसंभूत अध्ययन में बड़े ही मार्मिक ढंग से दिया गया है। यह प्रकरण दशाश्रुतस्कंध में प्ररूपित उक्त सिद्धान्त का सोदाहरण विवेचन है। उसका संक्षिप्त सार नीचे दिया जा रहा है।

काम्पिल्य नगर में चूलनी रानी की कुक्षि से उत्पन्न हो सम्भूत महर्द्धिक महा यशस्वी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त हुआ। चित्त पुरिमताल नगर के विशाल श्रेष्ठि कुल में उत्पन्न हो धर्म सुनकर दीक्षित हुआ। एक बार काम्पिल्य नगर में चित्त और सम्भूत दोनों मिले और आपस में सुख-दुःख फल विपाक की बातें करने लगे।

सम्भूत बोले—'हम दोनों भाई एक दूसरे के वश में रहने वाले एक दूसरे से प्रेम करने वाले और एक दूसरे के हितैषी थे। दशार्ण देश में हम दोनों दास थे कालिंजर पर्वत पर मृग गंगा के किनारे हंस और काशी में चाण्डाल थे। हम देवलोक में महर्द्धिक देव थे। यह हम दोनों का छठा भव है जिसमें हम एक दूसरे से पृथक् हुए हैं।'

चित्त बोले—"राजन्! तुमने मन से निदान किया था उस कर्म-फल के विपाक से हमारा वियोग हुआ है।

१—उत्त० १३.८

कम्मा नियाणप्पगडा तुमे राय विचिन्तिया।

तेसिं फलविवागेण विप्पओगमुवागया॥

सम्भूत बोले—"हे चित्त ! मैंने पूर्व जन्म मे सत्य और शौचयुक्त कर्म किये थे उनका फल यहां भोग रहा हू । क्या तुम भी वैसा ही फल भोग रहे हो ?"

चित्त बोले—"मनुष्यो का सुचीर्ण—सदाचरण सफल होता है । किए हुए कर्मों का फल भोगे विना मुक्ति नही होती । मेरी आत्मा भी पुण्य के फलस्वरूप उत्तम द्रव्य और कामभोगो से युक्त थी । पर मैं अल्पाक्षर और महान अर्थवाली गाथा को सुनकर ज्ञानपूर्वक चारित्र मे युक्त होकर श्रमण हुआ हूँ ।"

सम्भूत बोले—"हे भिक्षु ! नृत्य, गीत और वाद्ययन्त्रो से युक्त ऐसी स्त्रियो के परिवार के साथ इन भोगो को भोगो । यह प्रव्रज्या तो निश्चय ही दु खकारी है ।"

चित्त बोले—"राजन् ! अज्ञानियो के प्रिय किन्तु अन्त मे दुख दाता—काम-गुणो मे वह सुख नहीं है, जो काम-विरत, शील-गुण में रत रहने वाले तपोधनी भिक्षुओ को होता है ।

"राजन् ! चाण्डाल-भव में कृत धर्माचरण के शुभ फलस्वरूप यहाँ तुम महा प्रभावशाली ऋद्धिमत और पुण्य-फल से युक्त हो । राजन् ! इस नाशवान जीवन मे जो अतिशय पुण्यकर्म नही करता है, वह धर्माचरण नही करने से मृत्यु के मुह मे जाने पर शोक करता है । उसके दु ख को ज्ञातिजन नही बटा सकते, वह स्वय अकेला ही दु ख भोगता है, क्योकि कर्म कर्त्ता का ही अनुसरण करते हैं । यह आत्मा अपने कर्म के वश होकर स्वर्ग या नरक मे जाता है । पाञ्चालराज ! सुनो तुम महान आरम्भ करने वाले मत बनो ।"

सम्भूत बोले—"हे साधु ! आप जो कहते हैं उसे मैं समझता हूं, किन्तु हे आर्य ! ये भोग बन्धनकर्त्ता हो रहे हैं, जो मेरे जैसे के लिए दुर्जय हैं । हे चित्त ! मैंने हस्तिनापुर में महाऋद्धिशाली नरपति (और रानी) को देखकर कामभोग मे आसक्त हो अशुभ निदान किया था, उसका प्रतिक्रमण नही करने से मुझे यह फल मिला है । इससे मैं धर्म को जानता हुआ भी काम-भोगो मे मूर्च्छित हूँ[1] । जिस प्रकार कीचड में फँसा हुआ हाथी स्थल को देखकर भी किनारे नही आ सकता उसी प्रकार काम-गुणो में आसक्त हुआ मैं साधु के मार्ग को जानता हुआ भी अनुसरण नही कर सकता ।"

१—उत्त० १३ २८-२९

हत्थिणपुरम्मि चित्ता दट्ठूण नरवइ महिड्ढीयं ।
कामभोगेसु गिद्धेण नियाणमसुह कड ॥
तस्स मे अपडिकन्तस्स इम एयारिस फल ।
जाणमाणो वि ज धम्म कामभोगेसु मुच्छिओ ॥

चित्त बोले—"राजन् ! तुम्हारी भोगों को छोड़ने की बुद्धि नहीं है, तुम आरम्भ-परिग्रह में आसक्त हो। मैंने व्यर्थ ही इतना बकवाद किया। अब मैं जाता हूँ।

साधु के वचनों का पालन नहीं कर और उत्तम काम-भोगों को भोगकर पाञ्चाल राज ब्रह्मदत्त प्रधान नरक में उत्पन्न हुए।

महर्षि चित्त काम भोगों से विरक्त हो उत्कृष्ट चारित्र और तप तथा सर्वश्रेष्ठ संयम का पालन कर सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

आगम में चार बातें दुर्लभ कही गई हैं (क) मनुष्य-जन्म (ख) धर्म-श्रवण (ग) श्रद्धा और (घ) संयम में वीर्य[1]। निदान का ऐसा पाप फल-विपाक होता है कि इन चारों की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। इस तरह निदान से संसार की वृद्धि होती है, मुक्ति-मार्ग शीघ्र हाथ नहीं आता।

(४) वांछा एक मुक्ति की ही करनी चाहिए, पुण्य अथवा सांसारिक सुखों की नहीं।

आगम में कहा है कोई इहलोक के लिए तप न करे परलोक के लिए तप न करे; कीर्ति-श्लोक के लिए तप न करे एक निर्जरा (कर्म-क्षय) के लिए तप करे और किसी के लिए नहीं। यही तप-समाधि है[2]।" "कोई इहलोक के लिए आचार—चारित्र का पालन न करे परलोक के लिए आचार का पालन न करे कीर्ति-श्लोक के लिए आचार का पालन न करे पर अरिहंतों द्वारा प्ररूपित हेतु के लिए ही आचार का पालन करे अन्य किसी हेतु के लिए नहीं। यही आचार-समाधि है[3]।

१—उत्त ३ १ :

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्तं सुइ सद्धा संजमंमि य वीरियं ॥

२—दशवैकालिक ९ ४ ७

नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्ति-वण्ण-सद्द सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा चउत्थं पयं भवइ ॥ ७ ॥

३—वही ९ ४ ९

चउव्विहा खलु आयार-समाही भवइ, तं जहा। नो इहलोगट्ठयाए आयार महिट्ठिज्जा नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा नो कित्ति-वण्ण-सद्द सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा नन्नत्थ आरहन्तेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा चउत्थं पयं भवइ।

"जिसके और कोई आशा नहीं होती, और जो केवल निर्जरा के लिए तप करता है, वह पुराने पाप कर्मों को धुन डालता है[1] ।"

स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है

"निर्वद्य जोग तो साधु प्रवर्तावै ते कर्मक्षय करवाने प्रवर्तावै छै। निर्वद्य जोग प्रवर्तायां महानिर्जरा हुवै छै। कर्मा री कोड खपै छै। इण कारणे प्रवर्तावै छै। पिण पुन्य लगावाने प्रवर्तावै नहीं। जो पुन्य लगावाने जोग प्रवर्तावै तो जोग अशुभ हीज हुवै। पुन्य री चावना ते जोग अशुभ छै।

"शुभ जोग प्रवर्तावतां पुन्य लागै छै ते साधु रै सारे नहीं। आपरा कर्म काटण नैं जोग प्रवर्तायां वीतराग नी आज्ञा छै। तिण सू निर्वद्य जोग आज्ञा माँहि छै।

"निर्वद्य जोग पुन्य ग्रहै छै। ते टालवा री साधु री शक्ति नहीं। निर्वद्य जोग सू पुन्य लागै ते सहजै लागे छै। तिण उपर साधु राजी पिण नहीं। जाणपणा माँहि पिण यू जाणे छै—ए पुन्य कर्म ने काटणा छै। इणने काट्यां विना मोनें आत्मीक सुख हुवै नहीं।

"इण पुन्य सू तो पुद्गलीक सुख पामै छै। तिण उपर तो राजी हुयां सात आठ पाडूवा कर्म बधे तिण सू साधु चारित्रियां ने राजी होणो नहीं[2] ।"

जो सर्व काम, सर्व राग आदि से रहित हो केवल मोक्ष के लिए धर्म-क्रिया करता है उसे किस प्रकार मुक्ति प्राप्त होती है, इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है। एक बार श्रमण भगवान महावीर ने कहा

" हे आयुष्मान् श्रमणो! मैंने निर्ग्रंथ-धर्म का प्रतिपादन किया है। यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, प्रतिपूर्ण है, केवल है, सशुद्ध है, नैयायिक है, शल्य का नाश करने वाला है, सिद्धि-मार्ग है, मुक्ति-मार्ग है, निर्याण-मार्ग है, निर्वाण-मार्ग है और अविसदिग्ध-मार्ग है। यह सर्व दु खो के क्षय का मार्ग है। इस मार्ग मे स्थित जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं और परिनिवृत्त हो सर्व दु खो का अन्त करते हैं।

१—दशवैकालिक ६ ४ ८

विविह-गुण-तवो-रए य निच्चं
भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराण-पावगं
जुत्तो सया तव-समाहिए॥

२—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड २) टीकम डोसी री चर्चा

चित्त बोले—"राजन् ! तुम्हारी भोगों को छोड़ने की बुद्धि नहीं है, तुम आरम्भ परिग्रह में आसक्त हो। मैंने व्यर्थ ही इतना बकवाद किया। अब मैं जाता हूँ।

साधु के वचनों का पालन नहीं कर और उत्तम काम-भोगों को भोगकर पाञ्चाल राज ब्रह्मदत्त प्रधान नरक में उत्पन्न हुए।

महर्षि चित्त काम-भोगों से विरक्त हो उत्कृष्ट चारित्र और तप तथा सर्वश्रेष्ठ संयम का पालन कर सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

आगम में चार बातें दुर्लभ कही गई हैं (क) मनुष्य-जन्म (ख) धर्म-श्रवण (ग) श्रद्धा और (घ) संयम में वीर्य[1]। निदान का ऐसा पाप फल-विपाक होता है कि इन चारों की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। इस तरह निदान से संसार की वृद्धि होती है, मुक्ति-मार्ग शीघ्र हाथ नहीं आता।

(४) वांछा एक मुक्ति की ही करनी चाहिए, पुण्य अथवा सांसारिक सुखों की नहीं।

आगम में कहा है "कोई इहलोक के लिए तप न करे परलोक के लिए तप न करे, कीर्ति-श्लोक के लिए तप न करे एक निर्जरा (कर्म-क्षय) के लिए तप करे और किसी के लिए नहीं। यही तप-समाधि है[2]।" "कोई इहलोक के लिए आचार—चारित्र का पालन न करे परलोक के लिए आचार का पालन न करे कीर्ति-श्लोक के लिए आचार का पालन न करे पर अर्हतों द्वारा प्रकपित हेतु के लिए ही आचार का पालन करे, अन्य किसी हेतु के लिए नहीं। यही आचार-समाधि है[3]।

१—उत्त० ३.१ :

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं ॥

२—दशवैकालिक ९.४.७

नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा नो कित्ति-वण्ण-सद्द सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा चउत्थं पयं भवइ ॥ ७ ॥

३—वही ९.४.९

चउव्विहा खलु आयार-समाही भवइ, तं जहा। नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा नन्नत्थ आरहन्तेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा चउत्थं पयं भवइ।

: ५ :

पाप पदार्थ

"जो निग्रन्थ इस प्रवचन में उपस्थित हो, सर्व काम सर्व राग सब संग, सब स्नेह से रहित हो सर्व चरित्र में परिवृद्ध—दृढ़ होता है उसे अनुत्तर ज्ञान से अनुत्तर दर्शन से और अनुत्तर शान्ति-मार्ग से अपनी आत्मा को भावित करते हुए अनन्त अनुत्तर, निर्व्याघात निरावरण सम्पूर्ण प्रतिपूर्ण और श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवलदर्शन की उत्पत्ति होती है।

"फिर वह भगवान अर्हत्, जिन केवली सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है। फिर वह देव मनुष्य और असुरों की परिषद् में उपदेश आदि करता है। इस प्रकार बहुत वर्षों तक केवली-पर्याय का पालन कर आयु को समाप्त देख भक्त-प्रत्याख्यान करता है और अनेक भक्तों का अनशन द्वारा छेदन कर अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास में सिद्ध होता है और सर्व दुःखों का अन्त कर देता है।

'हे आयुष्मान् श्रमणो! निदानरहित क्रिया का यह कल्याण रूप फल-विपाक है जिससे कि निर्ग्रन्थ इसी जन्म में सिद्ध हो सब दुःखों का अन्त करता है'[1]

1—दशाश्रुतस्कंध दशा १

: ४ :

पाप पदार्थ

दोहा

१—पाप पदार्थ हेय है। वह जीव के लिए अत्यन्त भयकर है। वह घोर, रुद्र, डरावना और जीव को दु ख देने वाला है। — पाप पदार्थ का स्वरूप

२—पाप पुद्गल-द्रव्य है। इन पुद्गलों को जीव ने आत्म-प्रदेशों से लगा लिया है। इनसे जीव को दु ख उत्पन्न होता है। अत इन पुद्गलों का नाम पाप कर्म है। — पाप की परिभाषा

३—जब जीव बुरे-बुरे कार्य करता है तब ये (पाप कर्म रूपी) पुद्गल आकर्षित हो आत्म-प्रदेशों से लग जाते हैं। उदय में आने पर इन कर्मों से दु ख उत्पन्न होता है। इस तरह जीव के दु ख स्वयकृत हैं। — पाप और पाप-फल स्वयकृत हैं

४—पापोदय से जब दु ख उत्पन्न हों तब मनुष्य को क्षोभ नही करना चाहिए। जीव जैसे कर्म करता है वैसे ही फल उसे भोगने पड़ते हैं। इसमें पुद्गलों का कोई दोष नहीं है[1]। — जैसी करनी वैसी भरनी

५—पाप-कर्म और पाप की करनी ये एक दूसरे से भिन्न हैं[2]। अब मैं पाप कर्मों के स्वरूप को यथातथ्य भाव से प्रकट करता हूँ। चित्त को स्थिर रखकर सुनना। — पाप कर्म और पाप की करनी भिन्न-भिन्न हैं

४

पाप पदारथ

दुहा

१—पाप पदारथ पाडूओ ते जीव नें घणो भयंकार।
ते घोर रुद्र छै बीहांमणो जीव नें दुःख नों दातार॥

२—पाप तो पुदगल द्रव्य छै, त्यांनें जीव लगाया ताम।
तिणसूं दुःख उपजै छै जीव रे, त्यांरो पाप कर्म छै नाम॥

३—जीव खोटा खोटा किरतब करे, जब पुदगल लागे ताम।
ते उदय आयां दुःख उपजे, ते आप कमाया काम॥

४—ते पाप उदय दुःख उपजे जब कोई म करजो रोस।
आप कीधा जिसा फल भोगवे, कोई पुदगल रो नहीं दोस॥

५—पाप कर्म नें करणी पाप री दोनूं जूआ जूआ छै ताम।
त्यांनें जथातथ परगट करूं ते सुणजो राख चित ठाम॥

: ४ :

पाप पदार्थ

दोहा

१—पाप पदार्थ हेय है। वह जीव के लिए अत्यन्त भयकर है। वह घोर, रुद्र, डरावना और जीव को दु ख देने वाला है।

पाप पदार्थ का स्वरूप

२—पाप पुद्गल-द्रव्य है। इन पुद्गलों को जीव ने आत्म-प्रदेशों से लगा लिया है। इनसे जीव को दु ख उत्पन्न होता है। अत इन पुद्गलों का नाम पाप कर्म है।

पाप की परिभाषा

३—जब जीव बुरे-बुरे कार्य करता है तब ये (पाप कर्म रूपी) पुद्गल आकर्षित हो आत्म-प्रदेशों से लग जाते हैं। उदय में आने पर इन कर्मों से दु ख उत्पन्न होता है। इस तरह जीव के दु ख स्वयकृत हैं।

पाप और पाप-फल स्वयकृत हैं

४—पापोदय से जब दु ख उत्पन्न हों तब मनुष्य को क्षोभ नहीं करना चाहिए। जीव जैसे कर्म करता है वैसे ही फल उसे भोगने पड़ते हैं। इसमें पुद्गलों का कोई दोष नहीं है[1]।

जैसी करनी वैसी भरनी

५—पाप-कर्म और पाप की करनी ये एक दूसरे से भिन्न हैं[2]। अब मैं पाप कर्मों के स्वरूप को यथातथ्य भाव से प्रकट करता हूँ। चित्त को स्थिर रखकर सुनना।

पाप कर्म और पाप की करनी भिन्न-भिन्न हैं

४

पाप पदारथ

दुहा

१—पाप पदारथ पाडूओ ते जीव में घणो भयंकार।
ते घोर रुद्र छै बीहांमणो जीव में दुःख नों दातार॥

२—पाप तो पुदगल द्रव्य छै, त्यांनि जीव लगाया ताम।
तिणसूं दुःख उपजे छै जीव रे, त्यांरो पाप कर्म छै नाम॥

३—जीव खोटा खोटा किरतब करे जब पुदगल लागे ताम।
ते उदय आयां दुख उपजे, ते आप कमाया काम॥

४—ते पाप उदय दुख उपजे जब कोई म करजो रोस।
आप कीया जिसा फल भोगवे कोई पुदगल रो नहीं दोस॥

५—पाप कर्म में करणी पाप री दोनूं जूआ जूआ छै ताम।
त्यांनें जथातथ परगट करूं ते सुणजो राख चित्त ठांम॥

ढाल : १

१—जिन भगवान ने चार घनघाती कर्म कहे हैं। इन कर्मों को अभ्रपटल—बादलों की तरह समझो। जिस तरह बादल चन्द्रमा को ढक लेते हैं उसी प्रकार इन कर्मों ने जीव को आच्छादित कर उसके स्वाभाविक गुणों को विकृत (फीका) कर दिया है।

घनघाती कर्म और उनका सामान्य स्वभाव

२—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घनघाती कर्म है। कर्मों के ये ज्ञानावरणीय आदि नाम क्रमशः आत्मा के उन-उन ज्ञानादि गुणों को विकृत करने से पड़े हैं।

घनघाती कर्मों के नाम

३—ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देता। दर्शनावरणीय कर्म दर्शन को उत्पन्न होने से रोकता है। मोहनीय कर्म जीव को मतवाला कर देता है। अन्तराय कर्म अच्छी वस्तु की प्राप्ति में बाधक होता है।

प्रत्येक का स्वभाव

४—ये कर्म चतु:स्पर्शी रूपी पुद्गल है। जीव ने बुरे कृत्यों से इन्हें आत्म-प्रदेशों से लगाया है। इनके उदय से जीव के (अज्ञानी आदि) बुरे नाम पड़ते हैं। जो कर्म जैसी बुराई उत्पन्न करता है उसका नाम भी उसीके अनुसार है।

गुण-निष्पन्न नाम (गा ४-५)

५—ज्ञानावरणीय आदि चारों कर्मों की प्रकृतियाँ एक दूसरे से भिन्न है। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार इनके भिन्न-भिन्न नाम हैं। ये कर्म जीव के भिन्न-भिन्न गुणों को रोकते-अटकाते हैं। अब मै इनके स्वरूप को कुछ विस्तार से कहूँगा[3]।

ढाल १

(मेघकुमार हाथी रा भव में)

१—घनघातीया च्यार कर्म जिण भाख्या, ते मेघपटल बादल ज्यूं जाणो।
त्यां जीव तणा निज गुण नें बिगाड्या चंद बादल ज्यूं जीव कर्म ढकाणो॥
पाप कर्म अन्तःकरण ओलखीजें॥

२—ग्यांनावर्णी नें दर्शनावर्णीय मोहणी नें अन्तराय छै नाम।
जीव रा जेहवा जेहवा गुण बिगाड्या, तेहवा तेहवा कर्मां रा नाम॥

३—ग्यांनावर्णी कर्म ग्यांन आवा न दे, दर्शनावर्णी दर्शण आवे दे नांही।
मोह कर्म जीव नें करे मतवालो अंतराय आडी वस्तु आवे छै नांही॥

४—ए कर्म तो पुदगल रूपी चोफरसी त्यांनें खोटी करणी करे जीव लगाया।
त्यांरा उदा सूं खोटा खोटा जीव रा नाम तेहवा इज खोटा नाम कर्म रा कहाया॥

५—यां च्यारूं कर्मां री जुदी जुदी प्रकृत जूआ जूआ छै त्यांरा नाम।
त्यांसूं जूआ जूआ जीव रा गुण अटक्या त्यांरो थोड़ो सो विस्तार कहूं छूं तांम॥

ढाल : १

१—जिन भगवान ने चार घनघाती कर्म कहे है। इन कर्मों को अभ्रपटल—बादलों की तरह समझो। जिस तरह बादल चन्द्रमा को ढक लेते है उसी प्रकार इन कर्मों ने जीव को आच्छादित कर उसके स्वाभाविक गुणों को विकृत (फीका) कर दिया है।

घनघाती कर्म और उनका सामान्य स्वभाव

२—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घनघाती कर्म हैं। कर्मों के ये ज्ञानावरणीय आदि नाम क्रमश आत्मा के उन-उन ज्ञानादि गुणों को विकृत करने से पड़े हैं।

घनघाती कर्मों के नाम

३—ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देता। दर्शनावरणीय कर्म दर्शन को उत्पन्न होने से रोकता है। मोहनीय कर्म जीव को मतवाला कर देता है। अन्तराय कर्म अच्छी वस्तु की प्राप्ति में बाधक होता है।

प्रत्येक का स्वभाव

४—ये कर्म चतु स्पर्शी रूपी पुद्गल हैं। जीव ने बुरे कृत्यों से इन्हें आत्म-प्रदेशों से लगाया है। इनके उदय से जीव के (अज्ञानी आदि) बुरे नाम पड़ते हैं। जो कर्म जैसी बुराई उत्पन्न करता है उसका नाम भी उसीके अनुसार है।

गुण-निष्पन्न नाम (गा ४-५)

५—ज्ञानावरणीय आदि चारों कर्मों की प्रकृतियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार इनके भिन्न-भिन्न नाम है। ये कर्म जीव के भिन्न-भिन्न गुणों को रोकते-अटकाते है। अब मै इनके स्वरूप को कुछ विस्तार से कहूँगा[3]।

६—ग्यानावर्णी कर्म री प्रकृत पांचे, तिणसूं पांचोइ ग्यान जीव न पावे।
मत ग्यानावर्णी मतग्यान रे आडी, सुरत ग्यानावर्णी सुरत ग्यान न आवे॥

७—अवधि ग्यानावर्णी अवधि ग्यान नें रोके मनपरज्यावर्णी मनपरज्या आडी।
केवल ग्यानावर्णी केवल ग्यान रोके यां पांचां में पांचमी प्रकृत जाडी॥

८—ग्यानावर्णी कर्म षयउपसम हुवे, जब पामें छै च्यार ग्यान।
केवल ज्ञानावर्णी तो खयोपसम न हुवे आ तो खय हुवां पामें केवलग्यान॥

९—दर्शणावर्णी कर्म री नव प्रकृत छै, ते देखवानें सुणवादिक आडी।
जीवां नें आवक कर देवे आंधा त्यां में केवल दर्शणावर्णी सगलां में जाडी॥

१०—चषू दर्शणावर्णी कर्म उदे सूं जीव चषू रहीत हुवे अथ अयाण।
अचषू दर्शणावर्णी कर्म रे जोगे, च्यारूं इंद्रीयां री पर आवे हाण॥

११—अवधि दर्शणावर्णी कर्म उदे सूं अवधि दर्शन न पामें जीवो।
केवल दर्शणावर्णी तणे परसंगे, उपजे नहीं केवल दरसण दीवो।

१२—निद्रा सुतो तो सुखे जगायो जागे, निद्रा २ उदे दुखे जागे छै ताम।
बेठां उभां जीव में नींद आवे तिण नींद तणो छ प्रचला नाम॥

१३—प्रचला २ नींद उदे सूं जीव में हालतां चालतां नींद आवे।
पांचमीं नींद छै कठिण थीणोदी तिण नींद में जीव आवक बल आवे॥

६-७—ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियां है। जिनसे जीव पांच ज्ञानों को नहीं पाता। मतिज्ञानावरणीय कर्म मतिज्ञान के लिए रुकावट स्वरूप होता है। श्रुतज्ञानावरणीय कर्म श्रुतज्ञान को नहीं आने देता। अवधिज्ञानावरणीय कर्म अवधिज्ञान को रोकता है। मन पर्यवावरणी कर्म मन पर्यव-ज्ञान को नहीं होने देता और केवलज्ञानावरणीय केवल-ज्ञान को रोकता है। इन पांचों में पांचवीं प्रकृति सबसे अधिक घनी होती है।

ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियो का स्वभाव (गा.६-७)

८—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जीव (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्यवज्ञान) चार ज्ञान प्राप्त करता है। केवलज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम नहीं होता, उसके क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त होता है[४]।

इसके क्षयोपशम आदि से निष्पन्न भाव

९—दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियाँ हैं, जो नाना रूप से देखने और सुनने में बाधा करती है। ये जीव को बिलकुल अधा कर देती है। इनमे केवलदर्शनावरणीय कर्म प्रकृति सबसे अधिक घनी होती है।

दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियाँ (गा ९-१५)

१०—चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के उदय से जीव चक्षुहीन—बिलकुल अधा और अजान हो जाता है। अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के योग से(अवशेष) चार इन्द्रियों की हानि हो जाती है।

११—अवधिदर्शनावरणीय कर्म के उदय से जीव अवधिदर्शन को नहीं पाता तथा केवलदर्शनावरणीय कर्म-प्रसग से केवल-दर्शन रूपी दीपक प्रकट नहीं होता।

१२-३-जो सोया हुआ प्राणी जगाने पर सहज जागता है—उसकी नींद 'निद्रा' है, 'निद्रा निद्रा' के उदय से जीव कठिनाई से जागता है। बैठे-बैठे, खड़े-खड़े जीव को नींद आती है—उसका नाम 'प्रचला' है। जिस निद्रा के उदय से जीव को चलते-फिरते नींद आती है वह 'प्रचला-प्रचला' है। पाँचवीं निद्रा 'स्त्यानगृद्धि' है। इससे जीव बिलकुल दब जाता है। यह निद्रा बड़ी कठिन—गाढ़ होती है।

६—ग्यानावर्णी कर्म री प्रकृत पांच, तिणसूं पांचोइ ग्यांन जीव न पावे।
मत ग्यानावर्णी मतग्यान रे आडी सुरत ग्यांनावर्णी सुरत ग्यांन न आवे॥

७—अवधि ग्यांनावर्णी अवधि ग्यांन नें रोके मनपरज्यावर्णी मनपरज्या आडी।
केवल ग्यांनावर्णी केवल ग्यांन रोके यां पांचां में पांचमी प्रकत गाढी॥

८—ग्यांनावर्णी कर्म षयउपसम हुवें जब पामें छे च्यार ग्यांन।
केवल ज्ञानावर्णी तो षयोपसम न हुवें, आ तो षय हुवा पामें केवलग्यांन॥

९—दर्शणावर्णी कर्म री नव प्रकत छे, ते देखवानें गुणआदिक आडी।
जीवां में आंधक कर देवे आंधा त्यां में केवल दर्शणावर्णी सगलां में गाढी॥

१०—चषू दर्शणावर्णी कर्म उदे सूं जीव चषू रहीत हुवे अप मर्यांन।
अचषू दर्शणावर्णी कर्म रे जोगे च्यारूं इंद्रीयां री पर आवे हांन॥

११—अवधि दर्शणावर्णी कर्म उदे सूं अवधि दर्शन न पामें जीवो।
केवल दर्शणावर्णी तणे परसंगे, उपजे नहीं केवल दरसण दीवो।

१२—निन्द्रा सुतो तो सुखे जगाया जागे, निन्द्रा २ उदे दुखे जागे छे तांम।
ज्यां उमां जीव नें नींद आवे तिण नींद तणो छे प्रचला नाम॥

१३—प्रचला २ नींद उदे सूं जीव में हालतां चालतां नींद आवे।
पांचमीं नींद छे कठिण थीणोद्धी निद्रा नींद सूं जीव जाबा दब जावे॥

१४—उपर्युक्त पाँच निद्राओं तथा चक्षु, अचक्षु, अवधि तथा केवल इन चार दर्शनावरणीय कर्मों से जीव बिलकुल अंधा हो जाता है—उसे बिलकुल दिखाई नहीं देता। देखने की अपेक्षा से दर्शनावरणीय कर्म पूरा अंधेरा कर देता है।

इसके क्षयोपशम आदि से निष्पन्न भाव

१५—दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से जीव को चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन क्षयोपशम दर्शन प्राप्त होते है। इस कर्म के सम्पूर्ण क्षय से केवलदर्शनरूपी दीपक घट में प्रकट होता है[५]।

मोहनीय कर्म का स्वभाव और उसके भेद (गा १६-१७)

१६—तीसरा घनघाती कर्म मोहनीय कर्म है। उसके उदय से जीव मतवाला हो जाता है। इस कर्म के उदय से जीव सच्ची श्रद्धा की अपेक्षा मूढ़ और मिथ्यात्वी होता है तथा उसके बुरे कार्यों का परिहार नहीं होता।

१७—जिन भगवान ने मोहनीय कर्म के दो भेद कहे हैं. (१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय। यह मोहनीय कर्म सम्यक्त्व और चारित्र—जीव के इन दोनों स्वाभाविक गुणों को बिगाड़ता है।

दर्शनमोहनीय के उदय आदि से निष्पन्न भाव (गा १८-२०)

१८—जब दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होता है तब शुद्ध सम्यक्त्वी जीव भी मिथ्यात्वी हो जाता है। जब चारित्रमोहनीय कर्म उदय में होता है तब जीव चारित्र खोकर छ प्रकार के जीवों का घाती हो जाता है।

१९-२०-दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से शुद्ध श्रद्धान—सम्यक्त्व नहीं आता। इसके उपशम होने पर जीव निर्मल उपशम सम्यक्त्व पाता है। इस कर्म के बिलकुल क्षय होने पर शाश्वत क्षायक सम्यक्त्व और क्षयोपशम होने पर क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है[६]।

चारित्रमोहनीय कर्म और उसके उदय आदि से निष्पन्न भाव

२१-२-चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से सर्वविरति रूप चारित्र नहीं आता। इस कर्म के उपशम होने से जीव निर्मल उपशम चारित्र पाता है और इसके सम्पूर्ण क्षय से उत्कृष्ट क्षायक चारित्र की प्राप्ति होती है। इसके क्षयोपशम से जीव चार क्षयोपशम चारित्र प्राप्त करता है।

१४—पांच निद्रा नें च्यार दर्शणावर्णी थी जीव अंध हुवे आंख न सुझे सिगारो।
देखण आश्री दर्शणावर्णी कर्म, जीव रे आवरण कीयो अपारो॥

१५—दर्शणावर्णी कर्म षयउपसम हुवे जब तीन षयउपषम दर्शन पामें छै चीतो।
दर्शणावर्णी आवरण षय होवे जब, केवल दर्शण पामें ज्यूं घट दीवो॥

१६—तीजो घनघातीयो मोह कर्म छै, तिणरा उदा सूं जीव होवे मतवालो।
सुधी श्रद्धा रे विष मूढ मिथ्याती माठा किरतब रो पिण न होवे टालो॥

१७—मोहणी कर्म तणा दोय भेद कह्या जिण दर्शण मोहणी नें चारित मोहणी कर्म।
इण जीव रा निज गुण दोय बिगाड्या, एक समकत नें दूजो चारित धर्म॥

१८—दर्शण मोहणी उदे हुवे जब, सुध समकती जीव रो हुवे मिथ्याती।
चारित मोहणी कर्म उदे हुवे जब चारित खोयनें हुवे छ काय रो घाती॥

१९—दर्शण मोहणी कर्म उदे सूं सुधी सरधा समकत जावे।
दर्शण मोहणी उपसम हुवे जब उपसम समकत निरमली पावे॥

२०—दर्शण मोहणी आवरण षय होवे, जब षायक समकित सासती पावे।
दर्शण मोहणी षयउपसम हुवे जब, षयउपसम समकत जीव में आवे॥

२१—चारित मोहणी कर्म उदे सूं सब विरत चारित नहीं आवे।
चारित मोहणी उपसम हुवे जब उपसम चारित निरमलो पावे॥

२२—चारित मोहणी आवर षय हुवे तो षायक चारित आवे श्रीकार।
चारित मोहणी षयोपसम षयउपसम [illegible] च्यार॥

१४—उपर्युक्त पाँच निद्राओं तथा चक्षु, अचक्षु, अवधि तथा केवल इन चार दर्शनावरणीय कर्मों से जीव बिलकुल अधा हो जाता है—उसे बिलकुल दिखाई नहीं देता। देखने की अपेक्षा से दर्शनावरणीय कर्म पूरा अंधेरा कर देता है।

इसके क्षयोपशम आदि से निष्पन्न भाव

१५—दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से जीव को चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन क्षयोपशम दर्शन प्राप्त होते हैं। इस कर्म के सम्पूर्ण क्षय से केवलदर्शनरूपी दीपक घट में प्रकट होता है[५]।

मोहनीय कर्म का स्वभाव और उसके भेद (गा १६-१७)

१६—तीसरा घनघाती कर्म मोहनीय कर्म है। उसके उदय से जीव मतवाला हो जाता है। इस कर्म के उदय से जीव सच्ची श्रद्धा की अपेक्षा मूढ़ और मिथ्यात्वी होता है तथा उसके बुरे कार्यों का परिहार नहीं होता।

१७—जिन भगवान ने मोहनीय कर्म के दो भेद कहे हैं (१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय। यह मोहनीय कर्म सम्यक्त्व और चारित्र—जीव के इन दोनों स्वाभाविक गुणों को बिगाड़ता है।

दर्शनमोहनीय के उदय आदि से निष्पन्न भाव (गा १८-२०)

१८—जब दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होता है तब शुद्ध सम्यक्त्वी जीव भी मिथ्यात्वी हो जाता है। जब चारित्रमोहनीय कर्म उदय में होता है तब जीव चारित्र खोकर छ प्रकार के जीवों का घाती हो जाता है।

१९-२०-दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से शुद्ध श्रद्धान—सम्यक्त्व नहीं आता। इसके उपशम होने पर जीव निर्मल उपशम सम्यक्त्व पाता है। इस कर्म के बिलकुल क्षय होने पर शाश्वत क्षायक सम्यक्त्व और क्षयोपशम होने पर क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है[६]।

चारित्रमोहनीय कर्म और उसके उदय आदि से निष्पन्न भाव

२१-२-चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से सर्वविरति रूप चारित्र नहीं आता। इस कर्म के उपशम होने से जीव निर्मल उपशम चारित्र पाता है और इसके सम्पूर्ण क्षय से उत्कृष्ट क्षायक चारित्र की प्राप्ति होती है। इसके क्षयोपशम से जीव चार क्षयोपशम चारित्र प्राप्त करता है।

२३—जीव तणा उदै भाव नीपनां ते कर्म तणा उदा सूं पिछांणो।
जीव रा उपसम भाव नीपना, ते कर्म तणा उपसम सूं जाणो॥

२४—जीव रा खायक भाव नीपनां, ते तो कर्म तणो खय हुवां सूं तांम।
जीव रा खयोपसम भाव नीपनां खयउपसम कर्म हुवां सूं नांम॥

२५—जीव रा जेहवा जेहवा भाव नीपनां ते जेहवा जेहवा छै जीव रा नाम।
ते नाम पाया छै कर्म संजोग विजोगे, तेहवाइज कर्मां रा नाम छ तांम॥

२६—चारित मोहणी तणी छै पंचवीस प्रकृत, त्यां प्रकृत तणा छै जूआजूआ नांम।
त्यांरा उदा सूं जीव तणा नांम तेहवा, कर्म नें जीव रा जूआ जूआ परिणाम॥

२७—जीव अनंत उतकष्टो क्रोध करे जब, जीव रा दुष्ट घणा परिणांम।
तिणनें अनुताणुबंधीयो क्रोध कह्यो जिण ते कषाय आतमा छै जीव रो नाम॥

२८—जिण रा उदा सूं उतकष्टो क्रोध करे छै, ते उतकष्टा उदे आया छै तांम।
ते उदे आया छै जीव रा संच्या त्यांरो अणुताणबंधी क्रोध छै नांम॥

२९—तिण सूं कांयक थोडो अप्रत्याखानी क्रोध तिण सूं कांयक थोडो प्रत्याख्यान।
तिण सूं कांयक थोडा छै संजल रो क्रोध आ क्रोध री चोकडी कही भगवान॥

३०—इण रीते मान री चोकडी कहणी माया में लोभ री चोकडी इम जाणो।
च्यार चोकडी प्रसंगे कर्मां रा नाम, कर्म प्रसंगे जीव रा नाम पिछांणो॥

कर्मोदय आदि और भाव (गा. २३-२५)

२३-२५-जीव के जो औदयिक भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें कर्म के उदय से जानो। जीव के जो औपशमिक भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें कर्म के उपशम से जानो। जीव के जो क्षायिक भाव उत्पन्न होते हैं वे कर्म के क्षय से होते हैं तथा क्षयोपशम भाव कर्म के उपशम से। जीव के जो-जो भाव (औदयिक आदि) उत्पन्न होते है उन्हीं के अनुसार जीवों के नाम हैं। कर्मों के सयोग या वियोग से जैसे-जैसे नाम जीवों के पडते हैं वैसे-वैसे उन कर्मों के भी पड़ जाते हैं।

चारित्र मोहनीय कर्म की २५ प्रकृतियाँ (गा. २६-३६)

२६—चारित्रमोहनीय कर्म की २५ प्रकृतियाँ हैं, जिनके भिन्न-भिन्न नाम है। जिस प्रकृति का उदय होता है उसीके अनुसार जीव का नाम पड जाता है। ये कर्म और जीव के भिन्न-भिन्न परिणाम हैं।

क्रोध चौकडी

२७—जब जीव अत्यन्त उत्कृष्ट क्रोध करता है तो उसके परिणाम भी अत्यन्त दुष्ट होते हैं, ऐसे क्रोध को जिन भगवान ने अनन्तानुबन्धी क्रोध कहा है। ऐसे क्रोध वाले जीव का नाम कषाय आत्मा है।

२८—जिन कर्मों के उदय से जीव उत्कृष्ट क्रोध करता है वे कर्म भी उत्कृष्ट रूप से उदय में आए हुए होते हैं। जो कर्म उदय में आते हैं वे जीव द्वारा ही सचित किए हुए होते हैं और उनका नाम अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

२९—अनन्तानुबन्धी क्रोध से कुछ कम उत्कृष्ट अप्रत्याख्यान क्रोध होता है और उससे कुछ कम उत्कृष्ट सज्वलन क्रोध होता है। जिन भगवान ने यह क्रोध की चौकडी बतलाई है।

मान, माया और लोभ चौकडी

३०—इसी प्रकार मान की चौकडी कहनी चाहिए। *माया और* लोभ की चौकडी भी इसी तरह समझो। इन चार चौकडियों के प्रसग से कर्मों के नाम भी वैसे ही हैं तथा कर्मों के प्रसग से जीव के नाम भी वैसे ही जानो।

२३—जीव तणा उदे भाव नीपनां ते कर्म तणा उदा सूं पिछांणो।
जीव रा उपसम भाव नीपना ते कर्म तणा उपसम सूं जाणो॥

२४—जीव रा खायक भाव नीपनां ते तो कर्म तणो खय हुवां सूं तांम।
जीव रा खयोपसम भाव नीपनां खयउपसम कर्म हुवां सूं नांम॥

२५—जीव रा जेहवा जेहवा भाव नीपनां ते जेहवा जेहवा छै जीव रा नांम।
ते नाम पाया छै कर्म संजोग विजोगे तेहवाइज कर्मां रा नाम छ तांम॥

२६—चारित मोहणी तणी छै पंचवीस प्रकृत त्यां प्रकृत तणा छै जूआजूआ नाम।
त्यांरा उदा सूं जीव तणा नाम तेहवा, कर्म में जीव रा जूआ जूआ परिणाम॥

२७—जीव अनंत उतकष्टो क्रोध करे जब जीव रा दुष्ट घणा परिणाम।
तिणनें अनुताणुबंधीयो क्रोध कह्यो जिण ते कषाय आतमा छै जीव रो नाम॥

२८—जिण रा उदा सूं उतकष्टो क्रोध करे छै, ते उतकष्टा उदे आया छै तांम।
ते उदे आया छै जीव रा संच्या त्यांरो अणुताणबंधी क्रोध छै नांम॥

२९—तिण सूं कांयक थोड़ो अप्रत्याखानी क्रोध तिण सूं कांयक थोड़ो प्रत्याख्यान।
तिण सु कांयक थोड़ा छै संजल रो क्रोध आ क्रोध री चोकड़ी कही भगवान॥

३०—इण रीते मान री चोकड़ी कहणी माया में लोभ री चोकड़ी इम जाणो।
च्यार चोकड़ी प्रसंगे कर्मां रा नाम, कर्म प्रसंगे जीव रा नाम पिछांणो॥

३१—जीव क्रोध की प्रकृति से क्रोध, मान की प्रकृति से मान, माया की प्रकृति से माया-कपट और लोभ की प्रकृति से लोभ करता है।

३२—क्रोध करने से जीव क्रोधी कहलाता है और जो प्रकृति उदय में आती है वह क्रोध-प्रकृति कहलाती है। इसी प्रकार मान, माया और लोभ इनको भी पहचानना चाहिए।

हास्यादि प्रकृतियाँ

३३—हास्य-प्रकृति के उदय से जीव हँसता है, रति-अरति प्रकृति के उदय से रति-अरति को बढ़ाता है। भय-प्रकृति के उदय से जीव भय पाता है तथा शोक-प्रकृति के उदय से जीव शोक-ग्रस्त होता है।

जुगुप्सा प्रकृति
तीन वेद

३४-३५-जुगुप्सा-प्रकृति के उदय से जुगुप्सा होती है। स्त्री-वेद के उदय से विकार बढ़कर पुरुष की अभिलाषा होती है। यह अभिलाषा बढ़ते-बढ़ते बहुत बिगाड़ कर डालती है। पुरुष-वेद के उदय से स्त्री की और नपुंसक-वेद के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों की अभिलाषा होती है। जिन भगवान ने कर्मों को वेद तथा कर्मोदय से जीव को सवेदी कहा है।

चारित्र-मोहनीय कर्म का सामान्य स्वरूप

३६—मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव मिथ्यात्वी होता है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव कुकर्मी होता है। कुकर्मी, अनार्य, हिंसा-धर्मी आदि हल्के नाम इसी कर्म के उदय से होते हैं[७]।

अन्तराय कर्म और उसकी प्रकृतियाँ (गा० ३७-४२)

३७—चौथा घनघाती कर्म अन्तराय कर्म है। जिन भगवान ने इसकी पाँच प्रकृतियाँ कही है। ये प्रकृतियाँ चतुःस्पर्शी पुद्गल हैं। इन प्रकृतियो के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

दानांतराय कर्म
लाभांतराय कर्म

३८—दानांतराय प्रकृति दान मे विघ्नकारी होती है। लाभांतराय कर्म के कारण वस्तु का लाभ नहीं हो सकता—मनोज्ञ शब्दादि रूप पौद्गलिक सुखों का लाभ नहीं हो सकता।

३१—जीव क्रोध करें क्रोध री प्रकत सूं, मांन करें मांन री प्रकत सूं तांम।
माया कपट करें छें माया री प्रकत सूं, लोभ करें छें लोभ री प्रकत सूं तांम॥

३२—क्रोध करें तिण सूं जीव क्रोधी कहायो उदे आइ ते क्रोध री प्रकत कहांणी।
इण हीज रीत मान माया नें लोभ, यांनें पिण लेजो इण ही रीत पिछांणी॥

३३—जीव हसे छें हास्य री प्रकत उदे सूं रित अरित री प्रकत सूं रित अरित थाय।
भय प्रकत उदे हुआ भय पांमें जीव सोग प्रकत उदे जीव नें सोग थाय॥

३४—दुगंछा आवें दुगंछा प्रकत उदे सूं अस्त्री वेद उदे सूं वेदे विकार।
तिणमें पुरष तणी अभिलाषा होवे, पछे बेंतो २ हुवे बोहत विगाड़॥

३५—पुरष वेद उदे अस्त्री नीं अभिलाषा निपुंसक वेद उदे हुवे दोयां री चाय।
करम उदे सूं सवेदी नांम कह्यों जिण करमां नें पिण वेद कह्या जिण राय॥

३६—मिथ्यात उदे जीव हुवो मिथ्याती चारित मोह उदे जीव हुवो कुकरमी।
इत्यादिक माठा २ छें जीव रा नांम कले अनाय हिंसाधर्मी॥

३७—चोथो घनघातीयो अंतराय करम छें, तिणरी प्रकत पांच कही जिण तांम।
ते पांचूंई प्रकत पुदगल चोफरसी, त्यां प्रकत रा छें जूजूआ नांम॥

३८—दानांतराय छें दांन रे आडी लाभांतराय सूं वस्त लाभ सके नांहीं।
मन गमता पुदगल नां सुख जे लाभ न सके सब्दादिक कांई॥

३१—जीव क्रोध की प्रकृति से क्रोध, मान की प्रकृति से मान, माया की प्रकृति से माया-कपट और लोभ की प्रकृति से लोभ करता है।

३२—क्रोध करने से जीव क्रोधी कहलाता है और जो प्रकृति उदय मे आती है वह क्रोध-प्रकृति कहलाती है। इसी प्रकार मान, माया और लोभ इनको भी पहचानना चाहिए।

३३—हास्य-प्रकृति के उदय से जीव हँसता है, रति-अरति प्रकृति के उदय से रति-अरति को बढ़ाता है। भय-प्रकृति के उदय से जीव भय पाता है तथा शोक-प्रकृति के उदय से जीव शोक-ग्रस्त होता है।

हास्यादि प्रकृतियाँ

३४-३५-जुगुप्सा-प्रकृति के उदय से जुगुप्सा होती है। स्त्री-वेद के उदय से विकार बढकर पुरुष की अभिलाषा होती है। यह अभिलाषा बढ़ते-बढते बहुत बिगाड़ कर डालती है। पुरुष-वेद के उदय से स्त्री की और नपुसक-वेद के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों की अभिलाषा होती है। जिन भगवान ने कर्मो को वेद तथा कर्मोदय से जीव को सवेदी कहा है।

जुगुप्सा प्रकृति
तीन वेद

३६—मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव मिथ्यात्वी होता है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव कुकर्मी होता है। कुकर्मी, अनार्य, हिंसा-धर्मी आदि हल्के नाम इसी कर्म के उदय से होते हैं[७]।

चारित्र-मोहनीय कर्म का सामान्य स्वरूप

३७—चौथा घनघाती कर्म अन्तराय कर्म है। जिन भगवान ने इसकी पाँच प्रकृतियाँ कही हैं। ये प्रकृतियाँ चतुस्पर्शी पुद्गल है। इन प्रकृतियों के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

अन्तराय कर्म और उसकी प्रकृतियाँ (गा० ३७-४२)

३८—दानातराय प्रकृति दान मे विघ्नकारी होती है। लाभांतराय कर्म के कारण वस्तु का लाभ नहीं हो सकता—मनोज्ञ शब्दादि रूप पौद्‌गलिक सुखों का लाभ नहीं हो सकता।

दानातराय कर्म
लाभांतराय कर्म

३९—भोगांतराय नां करम उदे सूं, भोग मिलीया ते भोगवणी नावे।
उपभोगांतराय करम उदे सूं उपभोग मिलीया तोही भोगवणी नहीं आवे॥

४०—वीर्य अंतराय रा करम उदे थी, तीनूं ई वीर्य गुण हीणा थावे।
उठाणादिक हीणा भाव पांचूं ई, जीव तणी सकत वायक घट जावे॥

४१—अनंतो बल प्राक्रम जीव तणो छें, तिणनें एक अंतराय करम सूं घटायो।
तिण करम नें जीव ल्यायां सूं लागो आप तणो कीयो आपरे उदे आयो॥

४२—पांचूं अन्तराय जीव तणा गुण दाब्या जेहवा गुण दाब्या छें तेहवा करमां रा नांम।
ए तो जीव रे प्रसंगे नांम करम रा, पिण सभाव दोयां रो जूजूओ ताम॥

४३—ए तो च्यार घनघातीया करम कह्या जिण हिवें अघातीया करम छें च्यार।
त्यां म पुन नें पाप दोनूं कह्या जिण हिवें पाप तणो कहूं छूं विसतार॥

४४—जीव असाता पावे पाप करम उदे सू तिण पाप रो असाता वेदनी नांम।
जीव रा संचीया जीव नें दुःख देवे असाता वेदनी पुद्गल परिणाम॥

४५—नारकी रो आउखो पाप री प्रकृत केइ तिर्यंच रो आउखो पिण पाप।
असनी मिनख में केई सनी मिनख रो पाप री प्रकृत दीसे छें विस्तार॥

३९—भोगान्तराय कर्म के उदय से भोग-वस्तुओं के मिलने पर भी उनका सेवन—उपभोग नहीं हो सकता तथा उपभोगांतराय कर्म के उदय से मिली हुई उपभोग-वस्तुओं का भी सेवन नहीं हो सकता। भोगांतराय कर्म उपभोगांतराय कर्म

४०—वीर्यान्तराय कर्म के उदय से तीनों ही वीर्य-गुण हीन पड जाते है। उत्थानादिक पाँचों ही हीन हो जाते हैं—जीव की शक्ति बिलकुल घट जाती है। वीर्यान्तराय कर्म

४१—जीव का बल—पराक्रम अनन्त है। जीव स्वोपार्जित एक अन्तराय कर्म से उसको घटा देता है। कर्म जीव के लगाने पर ही लगता है। खुद का किया हुआ खुद के ही उदय में आता है।

४२—पाँचों अन्तराय कर्मों ने जीव के भिन्न-भिन्न गुणों को आच्छादित कर रखा है। आच्छादित गुण के अनुसार ही कर्मों के नाम हैं। कर्मों के ये नाम जीव-प्रसग से है। परन्तु जीव और कर्म दोनों के स्वभाव जुदे-जुदे हैं[८]।

४३—जिन भगवान ने ये चार घनघाति कर्म कहे हैं। अघाति कर्म भी चार है। जिन भगवान ने इनको पुण्य-पाप दोनों प्रकार का कहा है। अब मै अघाति पाप कर्मों का विस्तार कहता हूँ। चार अघाति कर्म

४४—जिस कर्म के उदय से जीव असाता—दु ख पाता है उस पापकर्म का नाम असातावेदनीय कर्म है। जीव के स्वय के सचित कर्म ही उसे दु ख देते है। असातावेदनीय कर्म पुद्गलों का परिणाम विशेष है[९]। असातावेदनीय कर्म

४५—नारक जीवों का आयुष्य पाप प्रकृति है, कई तिर्यचो क आयुष्य भी पाप है। असज्ञी मनुष्य और कई सज्ञी मनुष्यों की आयु भी पापरूप मालूम देती है[१०]। अशुभ आयुष्य कर्म (गा० ४५-४६)

४६—त्यांरो आउखो पाप कह्यों छें जिणेसर, त्यांरी गति आणुपूर्वी पिण दीसें छें पाप।
गति आणुपूर्वी दीसें आउखा लारे, इणरो निरणो तो जांणें जिणेसर आप॥

४७—च्यार संघेयण हाड पाडूआ छें, ते असुभ नांम करम उदे सूं जांणों।
च्यार संठांण में आकार भूंडा ते असुभ नांम करम सूं मिलीया छें आंणों॥

४८—वर्ण गंध रस फरस माठा मिलीया ते अणगमता नें असुंदर अजोग।
ते पिण असुभ नांम करम उदे सूं एहवा पुदगल दुखकारी मिल्या छें संजोग॥

४९—सरीर उपंग बंधण नें संघातण त्यांमें केकांरि माठा र छ असठ अजोग।
ते पिण असुभ नांम करम उदे सूं अणगमता पुदगल रो मिले छें संजोग॥

५०—थावर नांम उदे छें थावर रो दसको तिण दसका रा दस बोल पिछांणो।
नांम करम उदे छें जीव रा नांम एहवा इण नांम करमा रा जांणों॥

५१—थावर नांम करम उदे जीव थावर हूओ तिण सूं आघो पाछो सरकणी नावें।
सूक्ष्म नांम उदे जीव सूक्ष्म हूओ छें सूक्ष्म सरीर सगला सूं नान्हो पावें॥

५२—साधारण नांम सूं जीव साधारण हूओ एकण सरीर में अनंता रहे ताम।
अपरज्यापता नांम सूं अपरज्यापतो मरे छें, तिण सूं अपरज्यापतो छें जीव रो नांम॥

५३—अथिर नांम सूं तो जीव अथिर कहांणो सरीर अथिर ढीलो पाय।
दुभ नाम उदे जीव दुभ कहांणो नाभ नीचलो सरीर पाडूओ थावे॥

४६—जिन भगवान ने जिनके आयुष्य को पाप कहा है उनकी गति और आनुपूर्वी भी पाप मालूम देती है। ऐसा मालूम देता है कि गति और आनुपूर्वी आयु के अनुरूप होती है। पर निश्चित रूप से तो जिनेश्वर भगवान ही जानते हैं।

अशुभ नामकर्म की प्रकृतियाँ
अशुभ गति नामकर्म अशुभ आनुपूर्वी नामकर्म

४७—चार सहननों में जो बुरे हाड हैं उन्हें अशुभ नामकर्म के उदय से जानो। इसी प्रकार चार सस्थानों में जो बुरे आकार है वे भी अशुभ नामकर्म के उदय से प्राप्त हैं।

सहनन नामकर्म
सस्थान नामकर्म

४८—अत्यन्त निकृष्ट—अमनोज्ञ वर्ण, गध, रस, स्पर्श की प्राप्ति अशुभ नामकर्म के उदय से ही होती है। इस कर्म के सयोग से ही ऐसे दु खकारी पुद्गल मिलते हैं।

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श नामकर्म

४६—कइयों के शरीर, उपांग, बंधन और सघातन अत्यन्त निकृष्ट होते हैं। अशुभ नामकर्म के उदय से ही ऐसा होता है। इन अमनोज्ञ पुद्गलों का सयोग इसके उदय से है।

शरीर-अङ्गोपाङ्ग-बधन-सघातन नामकर्म

५०—स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर-दशक होता है। इसके दस बोल है। नामकर्म के उदय से जीव के जैसे नाम होते हैं वैसे ही नाम कर्मों के होते है।

स्थावर नामकर्म

५१—स्थावर नामकर्म के उदय से जीव स्थावर होता है। उससे आगे-पीछे हटा नहीं जाता। सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जीव सूक्ष्म होता है जिससे उसे सब शरीर सूक्ष्म प्राप्त होते हैं।

सूक्ष्म नामकर्म

५२—साधारण शरीर नामकर्म से जीव साधारण-शरीरी होता है। उसके एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। अपर्याप्त नामकर्म से जीव अपर्याप्त अवस्था में ही मृत्यु प्राप्त करता है। इसी कारण वह जीव अपर्याप्त कहलाता है।

साधारण शरीर नामकर्म अपर्याप्त नामकर्म

५३—अस्थिर नामकर्म के उदय से जीव अस्थिर कहलाता है। इससे उसे बिलकुल ढीला—अस्थिर शरीर प्राप्त होता है। अशुभ नामकर्म के उदय से जीव अशुभ कहलाता है। इस कर्म के कारण नाभि के नीचे का शरीर—भाग बुरा होता है।

अस्थिर नासकर्म
अशुभ नामकर्म

५४—दुभग नांम थकी जीव हुवे दोभागी अणगमतो लागे न गमे लोकां में लिगार।
दुःस्वर नांम थकी जीव हुवे दुःस्वरीयो तिणरो कंठ असुभ नहीं थीकार॥

५५—अणादेज नांम करम रा उदा थी तिणरो वचन कोइ न करें अंगीकार।
अजस नांम थकी जीव हुओ अजसीयो, तिणरो अजस बोले लोक बारंबार॥

५६—उपघात नांम करम रा उदे थी, पेलो जीतें में आप पांमें घात।
दुम गइ नांम करम संजोगे, तिणरी चाल किण्हीं नें दीठी न सुहात॥

५७—नीच गोत उदे नीच हुवो लोकां में ऊंच गोत तणा तिणरी गिणे छें छोत।
नीच गोत थकी जीव रुप न पांमें, पोता रो संचीयो उदे आयो नीच गोत

५८—पाप तणी प्रकृत ओलखावण काजे, जोड़ कीधी श्री दुवारा सहर मभार।
संवत अठारे पचावर्ने वरसे जेठ सुदी तीज नें बृहस्पतवार॥

५४—दुर्भग नामकर्म के उदय से जीव दुर्भागी होता है—वह दूसरों को अप्रिय लगता है। किसीको नही सुहाता। दु:स्वर नामकर्म से जीव दु:स्वर वाला होता है। उसका कंठ उत्तम नहीं होता—अशुभ होता है। — दुर्भग नामकर्म; दु:स्वर नामकर्म

५५—अनादेय नामकर्म के उदय से जीव के वचनों को कोई अंगीकार नहीं करता। अयश नामकर्म के उदय से जीव अयशस्वी होता है–लोग बार-बार उसका अयश करते हैं। — अनादेय नामकर्म; अयशकीर्ति नामकर्म

५६—अपघात नामकर्म के उदय से दूसरे की जीत होती है और जीव स्वयं घात को प्राप्त है। विहायोगति नामकर्म के संयोग से जीव की चाल किसी को भी देखी नहीं सुहाती[११]। — अपघात नामकर्म; अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म

५७—नीच गोत्रकर्म के उदय से जीव लोक में निम्न होता है। उच्च गोत्र वाले उससे छूत करते हैं। नीच गोत्र से जीव हर्षित नहीं होता। परन्तु नीच गोत्र भी अपना किया हुआ ही उदय में आता है[१२]। — नीच गोत्र कर्म

५८—पाप-प्रकृतियों की पहचान के लिये यह जोड़ श्रीजी द्वार में सं० १८५५ वर्ष की जेठ सुदी ३ गुरुवार को की है। — रचना-स्थान और काल

टिप्पणियाँ

१—पाप पदार्थ का स्वरूप (दो० १-४)

इन प्रारम्भिक दोहों में निम्न बातों का प्रतिपादन है :

(१) पाप चौथा पदार्थ है।

(२) जो कर्म विपाकावस्था में अत्यन्त अपथ्य भयंकर एवं भयभीत करनेवाला तथा दारुण दुःख को देनेवाला होता है उसे पाप कहते हैं।

(३) पाप पुद्गल है। वह चतुःस्पर्शी रूपी पदार्थ है।

(४) पाप-कर्म स्वयंकृत है। पापास्रव जीव के अशुभ कार्यों से होता है।

(५) पापोत्पन्न दुःख स्वयंकृत है। दुःख के समय क्षोभ न कर समभाव रखना चाहिये।

अब हम नीचे इन पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

(१) पाप चौथा पदार्थ है :

श्रमण भगवान महावीर ने पुण्य और पाप दोनों का स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में उल्लेख किया है। जो पुण्य और पाप को नहीं मानते वे अन्यतीर्थी कहे गये हैं[1]। ऐसे मत को ध्यान में रखते हुए ही भगवान महावीर ने कहा है— 'ऐसी संज्ञा मत रखो कि पुण्य और पाप नहीं हैं। ऐसी संज्ञा रखो कि पुण्य और पाप हैं।'[2] भगवान महावीर के श्रमणोपासक पुण्य और पाप दोनों तत्त्वों के जानकार होते थे। ऐसा उल्लेख अनेक आगमों में है[3]।

पुण्य और पाप पदार्थों को लेकर जो अनेक विकल्प हो सकते हैं उनका निराकरण विशेषावश्यकभाष्य में देखा जाता है। वे विकल्प इस प्रकार हैं[4] :

१—सूयगडं १.१.१२ :

नत्थि पुण्णे व पावे वा नत्थि लोए इओ वरे।
सरीरस्स विणासेणं विणासो होइ देहिणो॥

२—देखिए पृष्ठ १५ टि० १(१)

३—सूयगडं २.७.६९ : से जहाणामए समणोवासगा भवंति अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरवेयणाणिज्जराकिरियाहिगरणबंधमोक्खकुसला।

४—विशेषावश्यकभाष्य गा० १९ ॥

मन्नसि पुण्णं पावं साधारणमहव दो वि भिन्नाइं।
होज्ज न वा कम्मं चिय सभावओ भवपवंचोऽयं॥

(क) मात्र पुण्य ही है, पाप नही है।

(ख) मात्र पाप ही है, पुण्य नहीं है।

(ग) पुण्य और पाप एक ही साधारण वस्तु है।

(घ) पुण्य-पाप जैसी कोई वस्तु नही, स्वभाव से सर्व प्रपच हैं।

नीचे क्रमश इन वादो पर विचार किया जाता है :

(क) 'मात्र पुण्य ही है, पाप नही है'—इस मत को माननेवालो का कहना है कि जिस प्रकार पथ्याहार की क्रमिक वृद्धि से आरोग्य की क्रमश वृद्धि होती है, उसी प्रकार पुण्यकी वृद्धि से क्रमश सुख की वृद्धि होती है। जिस प्रकार पथ्याहारकी क्रमश हानि से आरोग्य की हानि होती है अर्थात् रोग बढता है उसी प्रकार पुण्य की हानि होने से दुःख बढता है। जिस प्रकार पथ्याहार का सर्वथा त्याग होने से मृत्यु होती है उसी प्रकार पुण्य के सर्वथा क्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार एक पुण्य से ही सुख-दु ख दोनो घटते हैं अत पाप को अलग मानने की आवश्यकता नही। पुण्य का क्रमश उत्कर्ष शुभ है। पुण्य का क्रमश अपकर्ष अशुभ है। उसका सम्पूर्ण क्षय मोक्ष है अत पाप कोई भिन्न पदार्थ नही[1]।

इसका उत्तर इस प्रकार प्राप्त है— दु ख की बहुलता तदनुरूप कर्म के प्रकर्ष से ही सम्भव है पुण्य के अपकर्ष से नही। जिस प्रकार सुख के प्रकृष्ट अनुभव का कारण उसके अनुरूप पुण्य का प्रकर्ष माना जाता है वैसे ही प्रकृष्ट दु खानुभव का कारण भी तदनुरूप किसी कर्म का प्रकर्ष होना चाहिए, और वह पाप-कर्म का प्रकर्ष है। पुण्य शुभ है, अत बहुत अल्प होने पर भी उसका कार्य शुभ होना चाहिए। वह अशुभ तो हो ही नही सकता। जिस प्रकार अल्प सुवर्ण से छोटा सुवर्ण घट सम्भव है मिट्टी का नही उसी प्रकार कम अधिक पुण्य से जो कुछ होगा वह शुभ ही होगा अशुभ नही हो सकता। अत अशुभ का कारण पाप भी मानना होगा। यदि दु ख पुण्य के अपकर्ष से हो तो प्रकारान्तर से सुख के साधनो का अपकर्ष ही उसका कारण होगा परन्तु दु ख के लिए दु ख के साधनो के प्रकर्ष की भी अपेक्षा है। जिस प्रकार सुख के

१—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा० १९०९

पुराणुक्करिसे सुभता तरतमजोगावकरिसतो हाणी।

तस्सेव खये मोक्खो पत्थाहारोवमाणातो ॥

(ख) गणधरवाद पृ० १३५

साधनों के प्रकर्ष-अपकर्ष के लिए पुण्य का प्रकर्ष-अपकर्ष आवश्यक है उसी प्रकार दुःख के साधनों के प्रकर्ष-अपकर्ष के लिए पाप का प्रकर्ष-अपकर्ष मानना आवश्यक है। पुण्य के अपकर्ष से इष्ट साधनों का अपकर्ष हो सकता है, पर अनिष्ट साधनों की वृद्धि नहीं हो सकती। उसका स्वतन्त्र कारण पाप है[1]।

(ख) जो केवल पाप को मानते हैं, पुण्य को नहीं उनका कहना है कि जब पाप को तत्त्व रूप में स्वीकार कर लिया गया है तब पुण्य को मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि पाप का अपकर्ष ही पुण्य है। जिस प्रकार अपथ्याहार की वृद्धि होने से रोग की वृद्धि होती है, उसी प्रकार पाप की वृद्धि होने से अधमता की प्राप्ति होती है अर्थात् दुःख बढ़ता है। जिस प्रकार अपथ्याहार की कमी से आरोग्य की वृद्धि होती है उसी प्रकार पाप के अपकर्ष से शुभ की अर्थात् सुख की वृद्धि होती है। जब अपथ्याहार का सर्वथा त्याग होता है तब परम आरोग्य की प्राप्ति होती है वैसे ही पाप के सर्वथा नाश से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार एक मात्र पाप मानने से ही सुख-दुःख दोनों घटते हैं। फिर पुण्य को अलग मानने की आवश्यकता नहीं[2]।

इन तर्कों का उत्तर इस प्रकार है: केवल पुण्य को मानने के विपक्ष में जो दलीलें हैं वे ही विपरीत रूप में यहाँ लागू होती हैं। जिस प्रकार पुण्य के अपकर्ष से दुःख नहीं हो सकता उसी प्रकार पाप के अपकर्ष से सुख नहीं हो सकता। यदि अधिक विष अधिक नुकसान करता है तो अल्प विष अल्प नुकसान करेगा—फायदा नहीं कर

१—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा० १९११-१३

कम्मप्पकरिसजणियं तदवस्सं पगरिसाणुभूईओ।
सोक्खप्पगरिसभूई जह दुक्खप्पगरिसप्पभवा॥
तह बज्झसाहणप्पगरिसंगभावादिहन्नहा न तयं।
विवरीयबज्झसाहणबलप्पकरिसं अवेक्खेज्जा॥
देहो णावचयकओ पुण्णुक्करिसे व मुत्तिमत्ताओ।
होज्ज व स हीणतरओ कहमसुभतरो महल्लो य॥

(ख) गणधरवाद पृ० १८७-१

२—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा० १९१०

पावुक्करिसेऽहमया तरतमजोगावकरिसओ सुभया।
तस्सेव खए मोक्खो अपत्थभत्तोवमाणाओ॥

(ख) गणधरवाद पृ० १६५

सकता। इसी प्रकार पाप का अपकर्ष थोडा दु ख दे सकता है पर सुख का कारण अन्य तत्त्व ही हो सकता है और वह पुण्य है[1]।

(ग) जो पुण्य-पाप को सकीर्ण—मिश्रित मानते हैं उनका कहना है कि जिस प्रकार अनेक रगो के मिलने से एक साधारण सकीर्ण वर्ण बनता है, जिस प्रकार विविध रगी मेचकमणि एक ही होती है अथवा सिंह और नर के रूप को धारण करने वाला नरसिंह एक है उसी प्रकार पाप और पुण्य सज्ञा प्राप्त करने वाली एक ही साधारण वस्तु है। इस साधारण वस्तु मे जब एक मात्रा पुण्य बढ जाता है तब वह पुण्य और जब एक मात्रा पाप बढ जाता है तब वह पाप कहलाती है। पुण्याश के अपकर्ष से वह पाप और पापांश के अपकर्ष से वह पुण्य कहलाता है[2]।

इसका उत्तर इस प्रकार है कोई कर्म पुण्य-पाप उभय रूप नही हो सकता क्योकि ऐसे कर्म का कोई कारण नही। कर्म का कारण योग है। किसी एक समय मे योग शुभ होता है अथवा अशुभ परन्तु शुभाशुभ रूप नही होता। अत उसका कार्य कर्म भी पुण्य रूप शुभ अथवा पापरूप अशुभ होता है, पुण्य-पाप उभय रूप नही। मन, वचन और काय इन तीन साधनो के भेद से योग के तीन भेद हैं। प्रत्येक योग के द्रव्य और भाव दो भेद हैं। मन, वचन और काययोग में जो प्रवर्तक पुगद्ल हैं वे द्रव्य योग कहलाते हैं और मन-वचन-काय का जो स्फुरण-परिस्पद है वह भी द्रव्य योग है। इन दोनो प्रकार के द्रव्य योग का कारण अध्यवसाय है और वह भावयोग कहलाता है। इनमें से जो द्रव्ययोग हैं उनमे शुभाशुभता भले ही हो परन्तु उनका कारण अध्यवसाय रूप जो भावयोग है वह एक समय मे शुभ अथवा अशुभ होता है, उभयरूप सभव नही। द्रव्ययोग को भी जो उभयरूप कहा है वह भी व्यवहारनय की अपेक्षा से। वह भी निश्चयनय की अपेक्षा से एक समय में शुभ या अशुभ ही होता है। तत्त्वचिंता के समय व्यवहार की अपेक्षा निश्चयनय

१—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा० १६३४ :

एत चिय विवरीत जोएज्जा सव्वपावपक्खे वि।
ण य साधारणरूव कम्मं तक्कारणाभावा॥

(ख) गणधरवाद पृ० १४३

२—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा० १६११ ·

साधारणवरणादि व अध साधारणमधेगमत्ताए।
उक्करिसावकरिसतो तस्सेव य पुरणपावक्खा॥

(ख) गणधरवाद पृ० १३५-६

की दृष्टि का प्राधान्य मानना चाहिये। अध्यवसाय स्थानों में शुभ अथवा अशुभ ये दो भेद हैं पर शुभाशुभ ऐसा तृतीय भेद नहीं मिलता। अतः अध्यवसाय जब शुभ होता है तब पुण्य कर्म और जब अशुभ होता है तब पाप कर्म का बंध होता है। शुभाशुभ रूप कोई अध्यवसाय नहीं कि जिससे शुभाशुभ रूप कर्म का बंध संभव हो अतः पुण्य और पाप स्वतंत्र ही मानने चाहिए संकीर्ण मिश्रित नहीं। प्रश्न हो सकता है भावयोग को शुभाशुभ उभयरूप न मानने का क्या कारण है? इसका उत्तर यह है—भावयोग ध्यान और लेश्यारूप है। और ध्यान धर्म अथवा शुक्ल शुभ या आर्त अथवा रौद्र अशुभ ही एक समय में होता है पर वह शुभाशुभ हो ही नहीं सकता। ध्यानविरति होने पर लेश्या भी तेजसादि कोई एक शुभ अथवा कापोती आदि कोई एक अशुभ होती है, पर उभय रूप लेश्या नहीं होती। अतः ध्यान और लेश्यारूप भावयोग भी या तो शुभ अथवा अशुभ एक समय में होता है। अतः भावयोग के निमित्त से बंधने वाले कर्म भी पुण्यरूप शुभ अथवा पापरूप अशुभ ही होता है। अतः पाप और पुण्य को स्वतंत्र मानना चाहिए[1]।

यदि उन्हें संकीर्ण माना जाय तो सर्व जीवों को उसका कार्य मिश्ररूप में अनुभव में आना चाहिए, अर्थात् केवल सुख या केवल दुःख का अनुभव नहीं होना चाहिए, परन्तु सुख-दुःख मिश्रित रूप में अनुभव में आना चाहिए। पर ऐसा नहीं होता। देवों में केवल सुख का ही विशेष रूप से अनुभव होता है और नारकों में केवल दुःख का विशेष अनुभव होता है। संकीर्ण कारण से उत्पन्न कार्य में भी संकीर्णता ही होनी चाहिए। ऐसा संभव नहीं कि जिसका संकर हो उसमें से कोई एक ही उत्कट रूप से कार्य में उत्पन्न हो और दूसरा कोई कार्य उत्पन्न न करे। अतः सुख के अतिशय का जो निमित्त हो उसे, दुःख के अतिशय में जो निमित्त हो उससे भिन्न ही मानना चाहिए। पुण्य और पाप सर्वथा संकर ही हो तो एक की वृद्धि होने से दूसरे की भी वृद्धि होनी चाहिए।

१—विशेषावश्यकभाष्य गा० १९३५-३७ :

कम्मं जोगनिमित्तं सुभोऽसुभो वा स एगसमयम्मि ।
होज्ज न उभयरूवो कम्मं पि तओ तयणुरूवं ॥
ननु मण-वइ-कायजोगा सुभासुभा वि समयम्मि दीसंति ।
दव्वम्मि मीसभावो भवेज्ज न उ भावकरणम्मि ॥
झाणं सुभमसुभं वा न उ मीसं जं च झाणविरमे वि ।
लेसा सुभाऽसुभा वा सुभमसुभं वा तओ कम्मं ॥

पुण्यांश की वृद्धि से पापांश की हानि सभव नही होगी। और न पापांश की वृद्धि से पुण्यांश की हानि। जिस तरह देवदत्त की वृद्धि होने से यज्ञदत्त की वृद्धि नही होती अत वे भिन्न-भिन्न हैं उसी प्रकार पापांश की वृद्धि से पुण्यांश की वृद्धि नही होती और पुण्यांश की वृद्धि से पापांश की नही होती, अत पुण्य और पाप दोनो का स्वतत्र अस्तित्व है[1]।

(घ) 'पुण्य-पाप जैसी कोई वस्तु ही नही है, स्वभाव से ही ये सब भवप्रपच हैं'—यह सिद्धान्त युक्ति से बाधित है। ससार में जो सुख-दु ख की विचित्रता है वह स्वभाव से नही घट सकती। स्वभाव को वस्तु नही मान सकते कारण कि आकाशकुसुम की तरह वह अत्यन्त अनुपलब्ध है। अत्यन्त अनुपलब्ध होने पर भी यदि स्वभाव का अस्तित्व माना जाय तो फिर अत्यन्त अनुपलब्ध मान कर पुण्य-पाप रूप कर्म को क्यो अस्वीकार किया जाता है? अथवा कर्म का ही दूसरा नाम स्वभाव है ऐसा मानने में क्या दोष है? पुन स्वभाव से विविध प्रकार के प्रतिनियत आकार वाले शरीरादि कार्यों की उत्पत्ति सभव नही, कारण कि स्वभाव तो एक ही रूप है। नाना प्रकार के सुख-दु ख की उत्पत्ति विविध कर्म विना सभव नही। स्वभाव एक रूप होने से उसे कारण नही माना जा सकता। यदि स्वभाव वस्तु हो तो प्रश्न उठता है वह मूर्त है या अमूर्त? यदि वह मूर्त है तो फिर नाममात्र का भेद हुआ। जिन जिसे पुण्य-पाप कर्म कहते हैं उसे ही स्वभाव-वादी स्वभाव कहते हैं। यदि स्वभाव अमूर्त है तो वह कुछ भी कार्य आकाश की तरह नही कर सकता, तो फिर देहादि अथवा सुख रूप कार्य करने की तो वात ही दूर। यदि स्वभाव को निष्कारणता माना जाय तो घटादि की तरह खरशृङ्ग की भी उत्पत्ति क्यो नही होती?

पुनः उत्पत्ति निष्कारण नहीं मानी जा सकती। स्वभाव को वस्तु का धर्म माना जाय तो वह जीव और कर्म का पुण्य और पापरूप परिणाम ही सिद्ध होगा। कारणा-नुमान और कार्यानुमान द्वारा इसकी सिद्धि होती है। जिस प्रकार कृपि-क्रिया का कार्य शालि-यव-गेहू आदि सर्वमान्य हैं उसी प्रकार दानादि क्रिया का कार्य पुण्य और हिंसादि क्रिया का कार्य पाप स्वीकार करना होगा। क्रिया कारण होने से उसका कोई कार्य मानना होगा। वह कार्य और कुछ नही जीव और कर्म का पुण्य और पाप रूप परिणाम

१—गणधरवाद पृ० १५०-१

है। पुनः देहादि का कोई कारण होना चाहिए क्योंकि वह कार्य है जैसे घट। देहादि का जो कारण है वही कर्म है।

कर्म पुण्य और पाप दो प्रकार का मानना चाहिए, कारण शुभ देहादि कार्य से उसके कारणभूत पुण्य-कर्म का और अशुभ देहादि कार्य से उसके कारणभूत पाप-कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। पुनः शुभ क्रियारूप कारण से शुभ कर्म पुण्य की निष्पत्ति होती है और अशुभ क्रियारूप कारण से अशुभ कर्म पाप की निष्पत्ति होती है। इससे भी कर्म के पुण्य और पाप ऐसे दो भेद स्वभाव से ही भिन्नजातीय सिद्ध होते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि देहादि के कारण माता पितादि प्रत्यक्ष हैं तो फिर अदृष्ट कर्म क्यों माना जाय ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि दृष्ट कारण माता-पिता ही होते हैं फिर भी एक पुत्र सुन्दर देहयुक्त और दूसरा कुरूपा देखा जाता है अतः दृष्ट कारण माता-पिता से भिन्न अदृष्ट कारण पुण्य और पाप-कर्म मानने चाहिए। कहा है—"दृष्ट हेतु होने पर भी कार्यविशेष असंभव हो तो कुलाल के यत्न की तरह एक अन्य अदृष्ट हेतु का अनुमान होता है। और वह कर्त्ता का शुभ या अशुभ कर्म है"।

दूसरी तरह से भी कर्म के पुण्य और पाप ये दो भेद सिद्ध होते हैं। सुख और दुःख दोनों कार्य हैं। उनके कारण भी क्रमशः उनके अनुरूप ही होने चाहिए। जिस प्रकार घट का अनुरूप कारण मिट्टी के परमाणु हैं और पट का अनुरूप कारण तन्तु है, उसी प्रकार सुख के अनुरूप कारण पुण्य-कर्म और दुःख के अनुरूप कारण पाप-कर्म का अस्तित्व मानना होगा[1]।

(२) पाप कर्म की परिभाषा

आचार्य पूज्यपाद ने पाप की परिभाषा इस प्रकार दी है—'पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्।' जो आत्मा को पवित्र—करे प्रसन्न करे वह पुण्य अथवा जिसके द्वारा आत्मा पवित्र हो—प्रसन्न हो वह पुण्य है। पुण्य का उलटा पाप है। जो आत्मा को शुभ से बचाता है—आत्मा में शुभ परिणाम नहीं होने देता वह पाप है[2]।

१—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा० १६१२-२१

(ख) गणधरवाद पृ० १३६ १३६

२—सर्वार्थसिद्धि ६.३ की टीका

३—तत्त्वार्थवार्तिक ६.३.५ तत्प्रतिद्वन्द्विरूपं पापम्। पाति रक्षति आत्मानं अस्माच्छुभ परिणामादिति पापाभिधानम्

यद्यपि सोने या लोहे की बेडी की तरह दोनो ही आत्मा की परतन्त्रता के कारण हैं फिर भी इष्ट और अनिष्ट फल के भेद से पुण्य और पाप में भेद है । जो इष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय-विषयादि का हेतु है वह पुण्य है तथा जो अनिष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय-विषयादि का कारण है वह पाप है[1] ।

आचार्य जिनभद्र कहते हैं—"जो स्वय शोभन वर्ण, गध, रस और स्पर्शयुक्त होता है और जिसका विपाक भी शुभ होता है वह पुण्य है, और उससे जो विपरीत होता है वह पाप है। पुण्य और पाप दानो पुद्गल हैं। वे न अति बादर हैं न अति सूक्ष्म[2] ।" "सुख और दु ख दोनो कार्य होने से दोनो के अनुरूप कारण होने चाहिए। जिस प्रकार घट का अनुरूप कारण मिट्टी के परमाणु हैं और पट का अनुरूप कारण तन्तु, उसी प्रकार सुख का अनुरूप कारण पुण्यकर्म और दु ख का अनुरूप कारण पापकर्म है[3] ।"

कहा है—

पुगद्लकर्म शुभ यत्तत्पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम् ।
यदशुभमथ तत्पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम् ॥

स्वामीजी ने पाप की अधमता को जघन्य, अति भयकर, घोर रुद्र आदि शब्दो द्वारा व्यक्त किया है। पाप पदार्थ उदय में आने पर अत्यन्त दारुण कष्ट देता है। यह सर्व मान्य है।

१—तत्त्वार्थवार्तिक ६.३ ६ · उभयमपि पारतन्त्र्यहेतुत्वात् अविशिष्टमिति चेत् ; न ; इष्टानिष्टनिमित्तभेदात्तद्भेदसिद्धे । स्यान्मतम्—यथा निगलस्य कनकमयस्यायसस्य चाऽस्वतन्त्रीकरणफल तुल्यमित्यविशेष , तथा पुण्य पाप चात्मन पारतन्त्र्यनिमित्तम-विशिष्टमिति . यदिष्टगतिजातिशरीरेन्द्रियविषयादिनिर्वर्तक तत्पुण्यम् । अनिष्टगतिजातिशरीरेन्द्रियविषयादिनिर्वर्तक यत्तत्पापमित्यनयोरय भेद ।

२—विशेषावश्यकभाष्य १९४० :

सोभणवण्णातिगुणं सुभाणुभाव जं तयं पुण्ण ।
विवरीतमतो पाव ण बातर णातिसुहुमं च ॥

३—विशेषावश्यकभाष्य १९२१ :

सुह-दुक्खाणं कारणमणुरूवं कज्जभावतोऽवस्सं ।
परमाणवो घडस्स व कारणमिह पुण्णपावाइं ॥

सुख-दु ख की अमूर्तता के कारण, अमूर्त सिद्ध नहीं हो सकता।

कार्यानुरूप कारण के सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि यद्यपि ससार में सब ही तुल्यातुल्य हैं फिर भी कारण का ही एक विशेष स्वपर्याय कार्य है अत उसे इस दृष्टि से अनुरूप कहा जाता है। कार्य सिवाय सारे पदार्थ उसके अकार्य हैं—परपर्याय हैं अत उस दृष्टि से उन सबको कारण से अननुरूप—असमान कहा गया है। तात्पर्य यह है कि कारण कार्य-वस्तुरूप में परिणत होता है परन्तु उससे भिन्न दूसरी वस्तुरूप में परिणत नही होता। दूसरी सारी वस्तुओ के साथ कारण की अन्य प्रकार से समानता होने पर भी इस दृष्टि से अर्थात् परपर्याय की दृष्टि से कार्यभिन्न सारी वस्तुएँ कारण से असमान—अननुरूप हैं।

यहाँ प्रश्न होता है—सुख और दु ख ये अपने कारण पुण्य-पाप के स्वपर्याय कैसे हैं? इसका उत्तर है—जीव और पुण्य का सयोग ही सुख का कारण है। उस सयोग का ही स्वपर्याप सुख है। जीव और पाप का सयोग दु ख का कारण है। उस सयोग का ही स्व-पर्याय दु ख है। पुन जैसे सुख को शुभ, कल्याण, शिव इत्यादि कहा जा सकता है उसी तरह उसके कारण पुण्य को भी उन शब्दो द्वारा कहा जा सकता है। पुन दु ख जैसे अशुभ, अकल्याण, अशिव इत्यादि सज्ञा को प्राप्त होता है उसी प्रकार उसका कारण पापद्रव्य भी इन्ही शब्दो से प्रतिपादित होता है, इसी से विशेष रूप से सुख-दुख के अनुरूप कारण के तौर पर पुण्य-पाप कहे गये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे नीलादि पदार्थ मूर्त होने पर भी तत्प्रतिभासी अमूर्त ज्ञान को उत्पन्न करते हैं वैसे ही मूर्त कर्म भी अमूर्त सुखादि को उत्पन्न करता है। अथवा जैसे अन्नादि दृष्ट पदार्थ सुख के मूर्त कारण हैं उसी प्रकार कर्म भी मूर्त कारण है।

प्रश्न होता है—कर्म दिखाई नही देता, अदृष्ट है तो फिर उसे मूर्त कैसे माना जाय? उसे अमूर्त क्यो न कहा जाय? इसका उत्तर यह है कि देहादि मूर्त वस्तु में निमित्त-मात्र बनकर कर्म घट की तरह बलाधायक होता है अत वह मूर्त है। अथवा जिस तरह घट को तेल आदि मूर्त वस्तुओ से बल मिलता है वैसे ही कर्म को भी विपाक देने में चद-नादि मूर्त वस्तुओ द्वारा बल मिलने से कर्म भी घट की तरह मूर्त है। कर्म के कारण देहादि रूप कार्य मूर्त हैं अत कर्म भी मूर्त होना चाहिए। जिस प्रकार परमाणु का कार्य घटादि मूर्त होने से परमाणु मूर्त अर्थात् रूपादि वाला होता है उसी प्रकार कर्म का कार्य शरीर मूर्त होने से कर्म भी मूर्त है।

यहाँ प्रश्न होता है—यदि देहादि कार्य मूर्त होने से कारण कर्म मूर्त है तो सुख दु खादि

अमूर्त होने से उनका कारण कर्म अमूर्त होना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि कर्म के मूर्त अथवा अमूर्त होने से उसके सब कार्य मूर्त अथवा अमूर्त होंगे ऐसा नहीं। सुख आदि अमूर्त कार्य का केवल कर्म ही कारण नहीं आत्मा भी उसका कारण है और कर्म भी कारण है। दोनों में भेद यह है कि आत्मा समवायी कारण है और कर्म समवायी कारण नहीं है। अतः सुख-दु:खादि अमूर्त कार्य होने से उसके समवायी कारण आत्मा का अनुमान हो सकता है। और सुख-दु:खादि की अमूर्तता के कारण कर्म में अमूर्तता का अनुमान करने का कोई प्रयोजन नहीं। अतः देहादि कार्य के मूर्त होने से उसके कारण कर्म को भी मूर्त मानना चाहिए, इस कथन में दोष नहीं'।

(४) पाप-कर्म स्वकृत हैं। पापास्रव जीव के अशुभ कार्यों से होता है

इस सम्बन्ध में एक बड़ा ही सुन्दर वार्तालाप भगवती सूत्र (६ ३) में मिलता है। विस्तृत होने पर भी उस वार्तालाप का अनुवाद यहाँ दे रहे हैं।

"हे गौतम! जिस तरह अहत—बिना पहना हुआ पहन कर धोया हुआ, या धुलकर सीधा उतारा हुआ वस्त्र जैसे-जैसे काम में लाया जाता है उसके सर्व ओर से पुद्गल रज लगती रहती है, सर्व ओर से उसके पुद्गल रज का चय होता रहता है और कालान्तर में वह वस्त्र मसोते की तरह मला और दुर्गन्ध युक्त हो जाता है, उसी तरह हे गौतम! यह निश्चित है कि महाकर्मवाले महाक्रियावाले महास्रववाले और महावेदनावाले जीव के सब ओर से पुद्गलों का बंध होता है, सब ओर से कर्मों का चय—संचय—होता है, सब ओर से पुद्गलों का उपचय होता है सदा—निरन्तर पुद्गलों का बंध होता है सदा—निरन्तर पुद्गलों का चय—संचय होता है, सदा—निरन्तर पुद्गलों का उपचय होता है और उस जीव की आत्मा सदा—निरन्तर दुरूपभाव में दुर्वर्णभाव में दुर्गन्धभाव में दु:रसभाव में, दु:स्पर्शभाव में अनिष्टभाव में असुन्दरभाव में अप्रियभाव में अशुभभाव में अमनोज्ञभाव में अमनोगम्यभाव में अनीप्सितभाव में अनभिध्यितभाव में जघन्यभाव में अनूर्ध्वभाव में दु:खभाव में और असुखभाव में बार बार परिणाम पाती रहती है।

"हे भगवन्! वस्त्र के जो पुद्गलास्रव होता है वह प्रयास से—आत्मा के करने से होता है या बिना प्रयास से—अपने आप?

"हे गौतम! वस्त्र के मलोपचय प्रयोग से भी होता है और अपने आप भी।"

1—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा १६११-१६

(ख) तत्त्वार्थवार्त्तिक ५ १९। १९।

"हे भगवन ! जिस तरह वस्त्र के मलोपचय-प्रयोग से भी होता है और अपने आप भी, उसी तरह क्या जीवो के भी कर्मोपचय, प्रयोग और अपने आप दोनो प्रकारसे होता है ?"

"हे गौतम ! जीवो के कर्मोपचय-प्रयोग से होता है—आत्मा के करने से होता है, अपने आप नही होता।

"हे गौतम ! जीव के तीन प्रकार के प्रयोग कहे हैं—मन प्रयोग, वचन प्रयोग और काया प्रयोग। इन तीन प्रकार के प्रयोगो द्वारा जीवो के कर्मोपचय होता है। अत जीवों के कर्मोपचय प्रयोग से हैं विस्रसा से नही—अपने आप नही।"

अन्य आगमो में भी कहा है—"सर्व जीव अपने आस-पास छहो दिशाओ में रहे हुए कर्म-पुद्गलो को ग्रहण करते हैं और आत्मा के सर्व प्रदेशो के साथ सर्व कर्मों का सर्व प्रकार से बधन होता है[1]।"

जिस तरह कोई पुरुष शरीर में तेल लगा कर खुले शरीर खुले स्थान में बैठे तो तेल के प्रमाण से उसके सारे शरीर से रज चिपकती है, उसी प्रकार रागद्वेष से स्निग्ध जीव कर्मवर्गणा में रहे हुए कर्मयोग्य पुद्गलो को पाप-पुण्य रूप में ग्रहण करता है। कर्मवर्गणा के पुद्गलो से सूक्ष्म ऐसे परमाणु और स्थूल ऐसे औदारिक आदि शरीर योग्य पुद्गलो का कर्मरूप ग्रहण नही होता। पुन जीव स्वय आकाश के जितने प्रदेशो में होता है उतने ही प्रदेशो मे रहे हुए पुद्गलो का अपने सर्व प्रदेशो द्वारा ग्रहण करता है। कहा है : "एक प्रदेश में रहे हुए अर्थात् जिस प्रदेश में जीव होता है उस प्रदेश में रहे हुए कर्म-योग्य पुद्गल का जीव अपने सर्व प्रदेश द्वारा बांधता है। उसमें हेतु जीव के मिथ्यात्वादि हैं। यह बध आदि अर्थात् नया और परपरा से अनादि भी होता है।"

प्रश्न हो सकता है—समूचे लोक के प्रत्येक आकाश-प्रदेश में पुद्गल-परमाणु शुभा-शुभ भेद के बिना भरे हुए हैं। जिस प्रकार पुरुष का तेल-स्निग्ध शरीर छोटे बडे रज-कणो का भेद करता है पर शुभाशुभ का भेद किये बिना ही जो पुद्गल उसके ससर्ग में आते हैं उन्हें ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीव भी स्थूल और सूक्ष्म के विवेकपूर्वक कर्म-योग्य पुद्गलो का ही ग्रहण करे यह उचित है। पर ग्रहण-काल में ही वह उसमें शुभा-शुभ का विभाग कर दो में से एक का ग्रहण करे और दूसरे का नही—यह कैसे होता है ?

१—उत्त० ३३ . १८

सव्वजीवाण कम्मं तु सगहे छद्दिसागय।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्वं सव्वेण बद्धग।

इसका उत्तर इस प्रकार है—जब तक जीव कर्म-पुद्गलों को ग्रहण नहीं करता तब तक वे पुद्गल शुभ या अशुभ दोनों विशेषणों से विशिष्ट नहीं होते अर्थात् वे अविशिष्ट ही होते हैं, पर जीव जैसे ही उन कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है अध्यवसाय रूप परिणाम और आश्रय की विशेषता के कारण उन कर्म-पुद्गलों को शुभ या अशुभ रूप परिणत कर देता है। जीव का जैसा शुभ या अशुभ अध्यवसायरूप परिणाम होता है उसके आधार से ग्रहण काल में ही कर्म में शुभत्व अथवा अशुभत्व उत्पन्न होता है और कर्म के आश्रयभूत जीव का ऐसा एक स्वभाव विशेष है कि जिसके कारण उस प्रकार कर्म का परिणमन करता हुआ ही वह उसे ग्रहण करता है। पुन: कर्म का भी ऐसा स्वभाव विशेष है कि शुभ अशुभ अध्यवसाय वाले जीव द्वारा शुभाशुभ परिणाम को प्राप्त होता हुआ ही गृहीत होता है।

आहार समान होने पर भी परिणाम और आश्रय की विशेषता के कारण उसके विभिन्न परिणाम देखे जाते हैं, जैसे कि गाय और सर्प को एक ही आहार देने पर भी गाय जो कुछ खाती है वह दूध रूप में परिणमित होता है और सर्प जो कुछ खाता है उसे विष रूप में परिणमन करता है। जिस प्रकार खाद्य में उस उस आश्रय में जाकर उस उस रूप में परिणत होने का परिणाम—स्वभाव विशेष है वही तरह खाद्य का उपयोग करने वाले आश्रय में भी उस उस वस्तु को उस उस रूप में परिणत करने का सामर्थ्य विशेष है। यही बात गृहीत कर्म और ग्रहण करने वाले जीव के विषय में समझनी चाहिए। पुन: एक ही शरीर में अविशिष्ट अर्थात् एकरूप आहार लेने पर भी उसमें से सार और असार एस दोनों परिणाम तत्काल हो जाते हैं। जिस प्रकार शरीर खाये हुए भोजन को रस एक और मांस रूप सार तत्त्व में और मलमूत्र जैसे असार तत्त्व में परिणत कर देता है उसी तरह एक ही जीव गृहीत साधारण कर्म को अपने शुभाशुभ परिणामों द्वारा पुण्य और पाप रूप परिणत कर देता है[1]।

१—विशेषावश्यकभाष्य गा १६४१ ४८

गेण्हइ तज्जोगं चिय रेणुं पुरिसो जधा कयब्भंगो।
एगक्खेत्तोगाढं जीवो सव्वप्पएसेहिं॥
अविसिट्ठपोग्गलघणे लोए थूलतणुकम्मपविभागो।
जुज्जेज्ज गहणकाले सुभासुभविवेयणं कत्तो॥
अविसिट्ठं चिय तं सो परिणामाऽऽसयसभावओ खिप्पं।
कुणइ सुभमसुभं वा गहणे जीवो जहाऽऽहारं॥
परिणामाऽऽसयवसओ धेणूए जधा पओ विसमहिस्स।
तुल्लो वि तदाहारो तह पुण्णापुण्णपरिणामो॥
जह वेगसरीरम्मि वि सारासारपरिणामयामेति।
अविसिट्ठो वाहारो तह कम्मसुभासुभविभागो॥

(५) पापोत्पन्न दुःख स्वयकृत हैं, दु:ख के समय क्षोभ न कर समभाव रखना चाहिए।

श्रमण भगवान महावीर ने कर्म-वन्ध को ससार का कारण वतलाया है[1]। उन्होने कहा है—"इस जगत मे जो भी प्राणी हैं वे स्वयकृत कर्मों से ही संसार-भ्रमण करते हैं। फल भोगे विना सचित कर्मों से छुटकारा नही मिलता[2]।"

इसी तरह उन्होने कहा है "सुचीर्ण कर्मो का फल शुभ होता है और दुश्चीर्ण कर्मो का फल अशुभ। शुभ आचरण से पुण्य का वध होता है और उसका फल सुखरूप होता है। अशुभ आचरण से पाप का वध होता है और उसका फल दु ख रूप होता है। जैसे सदाचार सफल होता है वैसे ही दुराचार भी सफल होता है[3]।"

जिस तरह स्वयकृत पुण्य के फल से मनुष्य वचित नही रहता वैसे ही स्वयकृत पाप का फल भी उसे भोगना पडता है। कहा है—"जिस तरह पापी चोर सेंध के मुह में पकडा जाकर अपने ही दुष्कृत्यो से दु ख पाता है वैसे ही जीव इस लोक अथवा परलोक में पाप कर्मो के कारण दु ख पाता है। फल भोगे विना कृतकर्मो से मुक्ति नही[4]।" "सर्व प्राणी स्वकर्म कृत कर्मो से ही अव्यक्त दु ख से दु खी होते हैं[5]।"

जीव पूर्वकृत कर्मो के ही फल भोगते हैं—'वेदंति कम्माइ पुरेकडाइं' (सुय० १.५.

१—उत्त० १४ १९

... .संसारहेउ च वयंति वन्धं ॥

२—सुयगड १ २ १ ४ ·

जमिण जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहइ, णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥

३—ओववाइय ५६ ·

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति,
फुसइ पुण्णपावे, पच्चायंति जीवा, सफले कल्लाणपावए।

४—(क) उत्त० १३ १० ·

सव्व सुचिण्णं सफल नराण कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

(ख) उत्त० ४ ३ ·

तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एव पया पेच्च इह च लोए कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥

५—सुयगड १ २ ३ : १८ ·

सव्वे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो।
हिंडति भयाउला सढा, जाइजरामरणेहिऽभिद्दुत्ता ॥

२१)। जो जीव दुःखी हैं वे यहाँ अपने किये हुए दुष्कृत्यों से दुःखी हैं—'दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं (सूय० १ ५ १ १९)। जैसा दुष्कृत होता है, वैसा ही उसका भार होता है—'जहा कडं कम्म तहासि भारे' (सूय १ ५ १ २६)।

स्वामीजी ने इन्हीं आगमिक वचनों के आधार पर कहा है कि दुःख स्वयं कमाये हुए होते हैं— ते आप कमाया काम । आप कीधां जिसा फल भोगवे कोई दुसमण रो नहीं दोस'। जब जीव दुष्कृत्य करता है तब पापकर्म का बंध होता है। जब पापकर्म का उदय होता है तब दुःख उत्पन्न होता है। यह जैसी करनी वैसी भरनी है, इसमें दोष कर्म पुद्गलों का नहीं अपनी दुष्ट आत्मा का है। "आत्मा ही सुख-दुःख को उत्पन्न करने वाला और न करने वाला है। आत्मा ही सदाचार से मित्र और दुराचार से अमित्र—शत्रु है[१]।"

भगवान महावीर के समय में एक वाद था जो सुख-दुःख को सांगतिक मानता था। उस मत का कहना था—"दुःख स्वयंकृत नहीं है, फिर वह अन्यकृत तो हो ही कैसे सकता है ? सद्धिक हो अथवा असद्धिक जो सुख दुःख है वह न स्वयंकृत है न परकृत, वह सांगतिक है[२]।" भगवान ने इस मत की आलोचना करते हुये कहा है— ऐसा कहने वाले अपने को पंडित भले ही मानें, पर वे बाल हैं[३]।" वे पार्श्वस्थ हैं। 'न ते दुक्खविमोक्खया (सूय० १ १ २ ५)—वे दुःख छुड़ाने में समर्थ नहीं हैं।

स्वामी जी कहते हैं— जो दुःख स्वयंकृत है उसका फल भोगते समय दुःख नहीं

१—उत्त २ ३६ ३७ :
अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ॥

२—सूयगडं १ १ २ २ ३
न तं सयं कडं दुक्खं कओ अन्नकडं च णं ?
सुहं वा जइ वा दुक्खं सेहियं वा असेहियं॥
सयं कडं न अन्नेहिं वेदयंति पुढो जिया।
संगइअं तं तहा तेसिं इहमेगेसि आहियं॥

३—वही १ १ २ ४
एवमेयाणि जंपंता बाला पंडियमाणिणो।
निययानिययं संतं, अयाणंता अबुद्धिया॥

करना चाहिये। इस दु ख से मुक्त होने का रास्ता दु ख, शोक, सताप करना नही पर यह सोचना है कि मैंने जो किया यह उसीका फल है। मैं नही करूँगा तो आगे मुझे दु ख नही होगा। अतः मैं आज से दुष्कृत्य नही करूँगा।" "किये हुए कर्म से छुटकारा या तो उन्हें भोगने से होता है अथवा तप द्वारा उनका क्षय करने से[1]।"

आगम में कहा है—"प्रत्येक मनुष्य सोचे—मैं ही दु खी नही हूँ, ससार में प्राणी प्राय दु खी ही है। दु खो से स्पृष्ट होने पर क्रोधादि रहित हो उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे—मन मे दु ख न माने[2]।"

जो मनुष्य दु ख उत्पन्न होने पर शोक-विह्वल होता है, वह मोह-ग्रस्त हो कामभोग की लालसा से पाप और आरम्भ में प्रवृत्त होता है और अधिक दु ख का सचय करता है।

मनुष्य सुख के लिये व्याकुल न हो—'साय नो परिदेवए' (उत्त० २.८)। जो पाप-दृष्टि—सुख-पिपासु होता है वह आत्मार्थ का नाश करता है—'पावदिट्ठी विहम्मई' (उत्त० २ २२)। यदि कोई मनुष्य मारे तो मनुष्य सोचे—"मेरे जीव का कोई विनाश नही कर सकता[3]।" "मनुष्य अदीन-वृत्ति पूर्वक अपनी प्रज्ञा को स्थिर रखे। दु ख पडने पर उन्हें समभाव से सहन करे[4]।" "जो दुष्कर को करते हैं और दु सह को सहते हैं, उनमें से कई देवलोक को जाते हैं और कई नीरज हो सिद्धि को प्राप्त करते हैं[5]।"

१—दशवैकालिक प्रथम चूलिका १८

पावाण च खलु भो कडाण कम्माणं पुव्वि दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कन्ताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता।

२—सुय० १ २ १ १३

णवि ता अहमेव लुप्पये, लुप्पंती लोअंसि पाणिणो।
एव सहिएहिं पासए, अणिहे से पुट्ठे अहियासए॥

३—उत्त० २ २७

नत्थि जीवस्स नासु त्ति एव पेहेज्ज संजए॥

४—उत्त० २.३२

अदीणो थावए पन्न पुट्ठो तत्थहियासए॥

५—दश० ३.१४

दुक्कराइ करेत्ताणं दुस्सहाइ सहेत्तु य।
के एत्थ देवलोगेसु केई सिज्झन्ति नीरया॥

२१)। जो जीव दुःखी हैं वे यहाँ अपने किये हुए दुष्कर्मों से दुःखी हैं—'दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं' (सूय १ ५ १ १९)। जैसा दुष्कृत होता है, वैसा ही उसका भार होता है—'जहा कडं कम्म तहासि भारे' (सूय १ ५ १ २६)।

स्वामीजी ने इन्हीं आगमिक वचनों के आधार पर कहा है कि दुःख स्वयं कमाये हुए होते हैं— ते आप कमाया काम। 'आप कीयां जिसा फल भोगवे कोई उणरा ते नहीं दोस'। जब जीव दुष्कृत्य करता है तब पापकर्म का बंध होता है। जब पापकर्म का उदय होता है तब दुःख उत्पन्न होता है। यह जैसी करनी वैसी भरनी है, इसमें दोष कर्म पुद्गलों का नहीं अपनी दुष्ट आत्मा का है। 'आत्मा ही सुख-दुःख को उत्पन्न करने वाला और न करने वाला है। आत्मा ही सदाचार से मित्र और दुराचार से अमित्र—शत्रु है'[1]।

भगवान महावीर के समय में एक वाद था जो सुख-दुःख को सांगतिक मानता था। उस मत का कहना था— दुःख स्वयंकृत नहीं है, फिर वह अन्यकृत तो हो ही कैसे सकता है? सैद्धिक हो अथवा असैद्धिक जो सुख दुःख है वह न स्वयंकृत है न परकृत, वह सांगतिक है[2]।" भगवान ने इस मत की आलोचना करते हुये कहा है— ऐसा कहने वाले अपने को पंडित भले ही मानें, पर वे बाल हैं[3]।" वे पार्श्वस्थ हैं। 'न ते दुक्खविमोक्खया' (सूय १ १ २ ५)—वे दुःख छुड़ाने में समर्थ नहीं हैं।

स्वामी जी कहते हैं—"जो दुःख स्वयंकृत है उसका फल भोगते समय दुःख नहीं

१—उत्त २० ३६, ३७ :

अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ॥

२—सूयगडं १ १ २ २, ३

न तं सयं कडं दुक्खं कओ अन्नकडं च णं?
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं॥
सयं कडं न अन्नेहिं, वेदयंति पुढो जिया।
संगइयं तं तहा तेसिं इहमेगेसि आहियं॥

३—वही १ १ २ ४

एवमेयाणि जंपंता बाला पंडियमाणिणो।
निययानिययं संतं अयाणंता अबुद्धिया॥

करना चाहिये। इस दुःख से मुक्त होने का रास्ता दुःख, शोक, संताप करना नहीं पर यह सोचना है कि मैंने जो किया यह उसीका फल है। मैं नहीं करूँगा तो आगे मुझे दुःख नहीं होगा। अतः मैं आज से दुष्कृत्य नहीं करूँगा।" "किये हुए कर्म से छुटकारा या तो उन्हें भोगने से होता है अथवा तप द्वारा उनका क्षय करने से[1]।"

आगम में कहा है—"प्रत्येक मनुष्य सोचे—मैं ही दुःखी नहीं हूँ, संसार में प्राणी प्रायः दुःखी ही है। दुःखों से स्पृष्ट होने पर क्रोधादि रहित हो उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे—मन में दुःख न माने[2]।"

जो मनुष्य दुःख उत्पन्न होने पर शोक-विह्वल होता है, वह मोहग्रस्त हो कामभोग की लालसा से पाप और आरम्भ में प्रवृत्त होता है और अधिक दुःख का संचय करता है।

मनुष्य सुख के लिये व्याकुल न हो—'साय नो परिदेवए' (उत्त० २.८)। जो पाप-दृष्टि—सुख-पिपासु होता है वह आत्मार्थ का नाश करता है—'पावदिट्ठी विहम्मई' (उत्त० २.२२)। यदि कोई मनुष्य मारे तो मनुष्य सोचे—"मेरे जीव का कोई विनाश नहीं कर सकता[3]।" "मनुष्य अदीन-वृत्ति पूर्वक अपनी प्रज्ञा को स्थिर रखे। दुःख पड़ने पर उन्हें समभाव से सहन करे[4]।" "जो दुष्कर को करते हैं और दुःसह को सहते हैं, उनमें से कई देवलोक को जाते हैं और कई नीरज हो सिद्धि को प्राप्त करते हैं[5]।"

१—दशवैकालिक : प्रथम चूलिका १८ :

पावाणं च खलु भो कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता।

२—सूय० १.२.१.१३ :

णवि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंती लोअंसि पाणिणो।
एवं सहिएहिं पासए, अणिहे से पुट्ठे अहियासए॥

३—उत्त० २.२७ :

नत्थि जीवस्स नासु त्ति एवं पेहेज्ज संजए॥

४—उत्त० २.३२ :

अदीणो थावए पन्नं पुट्ठो तत्थऽहियासए॥

५—उत्त० ३.२० :

[illegible]

सुख-दुःख स्वयंकृत होते हैं या परकृत ?—यह प्रश्न बुद्ध के सामने भी आया। नीचे पूरा प्रसंग दिया जाता है। बुद्ध बोले

'भिक्षुओ ! कुछ श्रमण-ब्राह्मणों का यह मत है यह दृष्टि है कि जो कुछ भी कोई आदमी सुख दुःख या अदुःख-असुख अनुभव करता है वह सब पूर्व-कर्मों के फलस्वरूप अनुभव करता है।"

'भिक्षुओ ! कुछ श्रमण-ब्राह्मणों का यह मत है, यह दृष्टि है कि जो कुछ भी कोई आदमी सुख दुःख या अदुःख-असुख अनुभव करता है वह सब ईश्वर-निर्माण के कारण अनुभव करता है।"

'भिक्षुओ ! कुछ श्रमण-ब्राह्मणों का यह मत है, यह दृष्टि है कि जो कुछ भी आदमी सुख, दुःख या अदुःख-असुख अनुभव करता है वह सब बिना किसी हेतु के बिना किसी कारण के।"

'भिक्षुओ ! जिन श्रमण-ब्राह्मणों का यह मत है, यह दृष्टि है कि जो कुछ भी कोई आदमी सुख दुःख या अदुःख-असुख अनुभव करता है वह सब पूर्व-कर्मों के फलस्वरूप अनुभव करता है, उनके पास जाकर मैं उनसे प्रश्न करता हूँ—आयुष्मानो ! क्या सचमुच तुम्हारा यह मत है कि जो कुछ भी कोई आदमी सुख दुःख या अदुःख असुख अनुभव करता है वह सब पूर्व-कर्मों के फलस्वरूप अनुभव करता है ? मेरे ऐसा पूछने पर वे "हाँ" उत्तर देते हैं।

'तब उनसे मैं कहता हूँ—तो आयुष्मानो ! तुम्हारे मत के अनुसार पूर्व-जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी चोरी करने वाले होते हैं, पूर्व-जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी अब्रह्मचारी होते हैं, पूर्व-जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी झूठ बोलने वाले होते हैं, पूर्व जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी चुगल-खोर होते हैं, पूर्व जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी कठोर बोलने वाले होते हैं, पूर्व-जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी व्यर्थ बकवास करने वाले होते हैं, पूर्व जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी लोभी होते हैं, पूर्व-जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी क्रोधी होते हैं, तथा पूर्व-जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी मिथ्यादृष्टि वाले होते हैं। भिक्षुओ ! पूर्वकृत कर्म को ही सार रूप ग्रहण कर लेने से यह करना योग्य है और यह करना अयोग्य है इस विषय में संकल्प नहीं होता प्रयत्न नहीं होता। जब यह करना योग्य है और यह करना अयोग्य है, इस विषय में ही यथार्थ-ज्ञान नहीं   प्रकार के मूढ़-स्मृति,

असयत लोगो का अपने आप को धार्मिक श्रमण कहना भी सहेतुक नही होता[1] ।"

ठीक इसी तर्क पर उन्होने उपर्युक्त अन्य दो वादो का खण्डन किया ।

पहली दृष्टि जैन-दृष्टि का एक अंश है । बुद्ध का स्वयं का मत इस प्रकार था· "जो मनुष्य मन, वचन और काय से सवृत होता है, उसके दु ख का कारण नही रहता, उसके दुःख आना सभव नही[2] ।" भगवान महावीर का कथन था· "कोई मनुष्य सवृत हो जाय तो भी पूर्वकृत पाप-कर्म का विपाक बाकी हो तो उसे दु ख भोगना पड़ता है ।"

ठाणाङ्ग का निम्न सवाद भी भगवान महावीर के विचारो के अन्य पक्ष को प्रकट करता है ।

"हे भदन्त ! अन्यतीर्थिक कर्म कैसे भोगने पडते हैं इस विषय मे हमसे विवाद करते हैं । 'किये हुए कर्म भोगने पडते हैं'—इस विषय में उनका प्रश्न नही है । 'किए हुए कर्म होने पर भी भोगने नही पडते'—इस विषय मे भी उनका प्रश्न नही है । 'नही किया हुआ कर्म नही भोगना पडता'—ऐसा भी उनका विवाद नही है । परन्तु वे कहते हैं—'नही किये हुए भी कर्म भोगने पडते हैं—जीव ने दु खदायक कर्म न किया हो और नही करता हो तो भी दु ख भोगना पडता है ।' वे कहते हैं—इस बात को तुम लोग निर्ग्रंथ क्यो नही मानते ?"

भगवान बोले "हे श्रमण निर्ग्रंथो ! जो ऐसा कहते हैं वे मिथ्या कहते हैं । मेरी प्ररूपणा तो ऐसी है—दु खदायक कर्म जिन जीवों ने किया है या जो करते हैं, उन जीवो को ही दु ख की वेदना होती है, दूसरो को नही ।"

२–पाप-कर्म और पाप की करनी (दो० ५) :

इस विषय में दो बातें मुख्य रूप से चर्चनीय हैं

(१) पाप-कर्म और पाप की करनी भिन्न-भिन्न हैं ।

(२) आशय से ही योग शुभ नही होता ।

नीचे इन पहलुओ पर क्रमश विचार किया जा रहा है ।

१—अगुत्तरनिकाय ३ ६१

२—वही ४.१९५

३—(क) ठाणाङ्ग ३ २ १६७

अह पुण . .एवं परूवेमि—किच्च दुक्ख फुस्स दुक्खं कज्जमाणकडं दुक्ख कट्टु २ पाणा भूया जीवा सत्ता वेयण वेयतित्ति

(ख) [illegible]

(१) पाप-कर्म और पाप की करनी एक दूसरे से भिन्न हैं

'ठाणाङ्ग' में अठारह पाप कहे हैं—(१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) अदत्तादान (४) मैथुन (५) परिग्रह, (६) क्रोध (७) मान, (८) माया, (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान (१४) पैशुन्य (१५) पर परिवाद (१६) रति-अरति (१७) माया-मृषा और (१८) मिथ्यादर्शनशल्य।[1]

ये भेद वास्तव में पाप-पदार्थ के नहीं हैं परन्तु पाप-पदार्थ के बन्ध-हेतुओं के हैं। प्राणातिपात आदि पाप-पदार्थ के निमित्त कारण हैं। अतः उपचार से प्राणातिपात आदि क्रियाओं को पाप कहा है।

एक बार गौतम ने पूछा—'भगवन्! प्राणातिपात मृषावाद यावत् मिथ्यादर्शनशल्य कितने वर्ण कितने गंध कितने रस और कितने स्पर्श वाले हैं?' भगवान ने उत्तर दिया—'ये पाँच वर्ण दो गंध पाँच रस और चार स्पर्श वाले होते हैं।'[2]

उपर्युक्त वार्तालाप से प्राणातिपात आदि पौद्गलिक मालूम देते हैं, अन्यथा उनमें वर्णादि होने का कथन नहीं मिलता।

प्रश्न उठता है—प्राणातिपात आदि एक ओर वर्णादि युक्त पुद्गल कहे गये हैं और दूसरी ओर क्रिया रूप बतलाये गये हैं, इसका क्या कारण है?

श्रीमद् जयाचार्य ने इस प्रश्न का उत्तर अपनी 'झीणी चर्चा' नामक कृति की ढाल में दिया है। वे लिखते हैं—'भगवती सूत्र में प्राणातिपात आदि के वर्णादि

१—ठाणाङ्ग : १.४८

एगे पाणातिवाए जाव एगे परिग्गहे। एगे कोहे जाव लोभे। एगे पेज्जे एगे दोसे जाव एगे परपरिवाए। एगा अरतिरती। एगे मायामोसे एगे मिच्छादंसणसल्ले।

२—भग० १२.५

अह भंते! पाणाइवाए, मुसावाए, अदिन्नादाणे, मेहुणे परिग्गहे एस णं कतिवण्णे कतिगंधे कतिरसे कतिफासे पण्णत्ते? गोयमा! पंचवण्णे दुगंधे पंचरसे चउफासे पण्णत्ते। अह भंते! कोहे एस णं कतिवण्णे जाव—कतिफासे पण्णत्ते? गोयमा! पंचवण्णे दुगंधे पंचरसे, चउफासे पण्णत्ते। अह भंते! माणे एस णं कतिवण्णे? गोयमा! पंचवण्णे जहा कोहे तहेव। अह भंते! माया एस णं कतिवण्णे पण्णत्ते? गोयमा! पंचवण्णे जहेव कोहे। अह भंते! लोभे एस णं कतिवण्णे? जहेव कोहे। अह भंते! पेज्जे दोसे कलहे जाव मिच्छादंसणसल्ले—एस णं कतिवण्णे? जहेव कोहे तहेव चउफासे।

कहे गए हैं उसका भेद यह है कि वहाँ प्राणातिपात आदि कर्मों का विवेचन है, प्राणातिपात आदि क्रियाओ का नही।" वे लिखते हैं—"जिस कर्म के उदय से जीव दूसरे के प्राणो का हनन करता है, उस कर्म को प्राणातिपात स्थानक कहते हैं। मन, वचन और काय से हिंसा करना प्राणातिपात आस्रव है। प्राणातिपात करने से जिनका बध होता है वे सात आठ अशुभ कर्म हैं। यही बात 'भगवती सूत्र' में वर्णित बाद के मिथ्यादर्शनशल्य तक के स्थानको के विषय मे समझनी चाहिए। जैसे—जिस कर्म के उदय से जीव झूठ बोलता है वह मृषावाद पाप-स्थानक है। झूठ बोलना मृषावाद आस्रव है। झूठ बोलने से जिनका बध होता है वे दुःखदायी सात आठ कर्म हैं। यावत् जिस कर्म के उदय से जीव मिथ्या-श्रद्धान करता है वह मिथ्यादर्शनशल्य कर्म-स्थानक है। मिथ्या-श्रद्धान करना मिथ्यात्व आस्रव है। इससे जिनका आस्रव होता है वे सात आठ कर्म हैं[1]।"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कर्म-हेतु और कर्म जुदे-जुदे हैं। हेतु या क्रिया वह है जिससे कर्म बधते हैं। कर्म वह है जो क्रिया का फल हो अथवा जिसका उदय उस क्रिया का कारण हो।

१—झीणी चर्चा ढा० २२.१–४, २०, २१, २२, २४ .

जिण कर्म ने उदय करी जी, हणै कोई पर प्राण।
तिण कर्म ने कहिये सहीजी, प्राणातिपात पापठाण॥
हिंसा करै त्रिहुं योग सूं जी, आस्रव प्राणातिपात।
आय लागै तिके अशुभ कर्म छै जी, सात आठ साक्षात॥
जिण कर्म ने उदय करी जी, बोलै झूठ अयाण।
तिण कर्म ने कहिये सही जी, मृषावाद पापठाण॥
झूठ बोलै तिण ने कह्या जी, आस्रव मृषावाद ताहि।
आय लागै तिके अशुभ कर्म छै जी, सात आठ दुखदाय॥
मायादिक ठाणा तिके जी, इमहिज कहिये विचार।
ज्यांरा उदय थी जे जे नीपजै जी, ते कहिये आस्रव द्वार॥
जिण कर्म ने उदय करी जी, ऊंधो श्रद्धै जाण।
तिण कर्म ने कह्यो अठारमो जी, मिथ्यादर्शण पापठाण॥
ऊंधो सरधै तिण ने कह्यो जी, आस्रव प्रथम मिथ्यात।
आय लागै तिके अशुभ कर्म छै जी, सात आठ साक्षात॥
भगवती शतक बारमें जी, पचम उदेश मझार।
ते सहु पापठाणा अछै जी, तिणस्यूं वर्णादिक कह्या विचार॥ . .

निम्न दो प्रसंग इस विषय को और भी स्पष्ट कर देते हैं

एक बार गौतम ने पूछा— भगवन् ! जीव गुरुत्वभाव को शीघ्र कैसे प्राप्त करता है ?" भगवान महावीर ने उत्तर दिया— प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से।" गौतम ने पूछा— जीव शीघ्र लघुत्व (हल्कापन) कैसे पाता है ?" भगवान ने उत्तर दिया "प्राणातिपात-विरमण यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विरमण से।" इसके बाद गौतम को सम्बोधन कर भगवान ने कहा— गौतम ! जीव-हिंसा आदि अठारह पापों से संसार को बढ़ाते, लम्बा करते और उसमें बार-बार भ्रमण करते हैं और इन अठारह पापों की निवृत्ति से जीव संसार को घटाते हैं, उसे ह्रस्व करते हैं और उसे लांघ जाते हैं। हल्का पन संसार को घटाना संसार को संक्षिप्त करना संसार को लांघ जाना—ये चारों प्रशस्त हैं। भारीपन, संसार को बढ़ाना लम्बा करना और उसमें भ्रमण करना ये चारों अप्रशस्त हैं[1]।

यही बात भगवती सूत्र १२ २ में भी कही गयी है। दूसरा प्रसंग इस प्रकार है

"भगवन् ! जीव शीघ्र भारी कैसे होता है और फिर हल्का कैसे होता है ?"

"गौतम ! यदि कोई मनुष्य एक बड़े सूखे छिद्र रहित सम्पूर्ण तूंबे को दाभ से लपेट कर उस पर मिट्टी का लेप करे और फिर धूप में सुखाकर दुबारा लेप करे और इस तरह आठ बार मिट्टी का लेप करके उसे गहरे पानी में डाले तो वह तूंबा डूबता या नहीं ? इसी तरह हिंसा, झूठ, चोरी मैथुन परिग्रह यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से अपनी आत्मा को वेष्टित करता हुआ मनुष्य शीघ्र ही कर्म-रज से भारी हो जाता है और उसकी अधोगति होती है। गौतम ! जल में डूबे हुए तूंबे के ऊपर का लेप जब गल कर नष्ट हो जाता है तो तूंबा ऊपर उठता है। इसी तरह एक-एक कर सारे लेप गल जाते हैं तो हल्का होकर तूंबा पुनः पानी पर तैरने लगता है। इसी तरह हिंसा यावत् मिथ्यादर्शनशल्य इन अठारह पापों के त्याग से जीव कर्म रजों के संस्कार से रहित होकर अपनी स्वाभाविकता को प्राप्त कर ऊर्ध्वगति पा अजरामर हो जाता है[2]।"

जीव कर्म-हेतु और कर्म के परस्पर सम्बन्ध को बोध कथनों से समझा जा सकता है[3]।

१—भगवती १ ९

२—ज्ञाताधर्मकथा १ अ ६

३—तत्त्वार्थ स्थानांग द्वार

प्रथम कथन :

(क) तालाब के नाला होता है, उसी तरह जीव के कर्म-हेतु होते हैं।

(ख) मकान के द्वार होता है, उसी तरह जीव के कर्म-हेतु होते हैं।

(ग) नाव के छिद्र होता है, उसी तरह जीव के कर्म-हेतु होते हैं।

द्वितीय कथन :

(क) तालाब और नाला एक होता है उसी तरह जीव और कर्म-हेतु एक हैं।

(ख) मकान और द्वार एक होता है उसी तरह जीव और कर्म-हेतु एक हैं।

(ग) नाव और छिद्र एक होता है उसी तरह जीव और कर्म-हेतु एक हैं।

तृतीय कथन

(क) जिससे जल आता है वह नाला होता है, उसी तरह जिससे कर्म आते हैं वे कर्म-हेतु हैं।

(ख) जिससे मनुष्य आता है वह द्वार है, उसी तरह जिससे कर्म आते हैं वे कर्म-हेतु हैं।

(ग) जिससे जल भरता है वह छिद्र कहलाता है, उसी तरह जिससे कर्म आते हैं वह कर्म-हेतु हैं।

चतुर्थ कथन :

(क) जल और नाला भिन्न हैं, उसी तरह कर्म और कर्म-हेतु भिन्न हैं।

(ख) मनुष्य और द्वार भिन्न हैं, उसी तरह कर्म और कर्म-हेतु भिन्न हैं।

(ग) जल और नौका के छिद्र भिन्न हैं, उसी तरह कर्म और कर्म-हेतु भिन्न है।

पञ्चम कथन

(क) जल जिससे आवे वह नाला है पर नाला जल नही, उसी तरह जिनसे कर्म आवें वे हेतु हैं पर कर्म हेतु नही।

(ख) मनुष्य जिससे आवे वह द्वार है पर मनुष्य द्वार नहीं, उसी तरह जिनसे कर्म आवें वे हेतु हैं पर कर्म हेतु नही।

(ग) जल जिनसे आवे वह छिद्र है पर जल छिद्र नहीं, उसी तरह जिनसे कर्म आवें वे हेतु हैं पर कर्म हेतु नहीं।

प्राणातिपात आदि क्रियाएँ पाप रूप हैं—अशुभ योग के भेद हैं। पर पाप-कर्म केवल अशुभ योगों से ही नहीं बंधते। मिथ्यात्व अविरति प्रमाद और कषाय—ये भी आस्रव हैं। इन हेतुओं से भी कर्मों का आस्रव होता है। मिथ्या-श्रद्धान करना मिथ्यात्व है[1] हिंसा आदि पाप-कार्यों का प्रत्याख्यान न होना अविरति है[2] धर्म में अनुत्साह-भाव—अरुचि-भाव प्रमाद है[3] क्रोध-मान-माया-लोभ से आत्म प्रदेशों का मलीन होना कषाय है[4]।

ये सभी कर्म-हेतु कर्मों से भिन्न हैं।

(२) आस्रव से ही योग शुभ नहीं होता :

एक विद्वान लिखते हैं: 'अप्रशस्त भाव से सेवन किये हुये प्राणातिपात आदि पापस्थानक पाप-कर्म के बन्ध-हेतु होते हैं। प्रशस्त भाव से सेवन किये गये वे पाप स्थानक पुण्य के हेतु भी हैं। उदाहरण स्वरूप ख्यात्यादि की आकांक्षा से दूसरे की वंचना करना अप्रशस्त माया है। जैसे वणिकों या इन्द्रजालिकों की माया। व्याध से मृग को झूठ बोलकर छिपा देना प्रशस्त माया है। झूठ बोलकर रोगी को कड़वी दवा पिलाना भी इसी श्रेणी में आता है। कोई व्यक्ति दीक्षा के लिये उपस्थित है और उसके पिता आदि आत्मीय जन उसकी दीक्षा में विघ्न डालने वाले हैं, ऐसे अवसर पर उन लोगों से यह कहना—'हे भाई! मैंने बड़ा ही खराब स्वप्न देखा है और उससे यह पता चलता है कि तुम्हारा लड़का अल्पायु है—थोड़े ही दिनों में मर जायगा' प्रशस्त माया है। 'सम्यक् यति-आचार ग्रहण कर सकें' इस हेतु से कहे गये ये वचन भी धर्म रक्षित द्वारा समर्थित हैं

१—झीणी चर्चा ढा० २२.१२
ऊंधो सरधे जिणने तेहनो जी आस्रव प्रथम मिथ्यात।
२—जे जे सावद्य काम त्याग्या नहीं छै त्यांरी आसा वांछा रही लागी।
तिण जीव तणा परिणाम छै मैला अव्रत भाव आस्रव छै सागी रे॥
३—झीणी चर्चा ढा० २१.१.१८
असंख्याता जीव रा प्रदेश में अणउछाहपणो अधिकाय।
ते दीसे तीर्थं जीवां रूपू छलोजी प्रमाद आस्रव थाय॥
४—वही ढा० २२.१२.११
क्रोध रूपू लिगरया प्रदेश में जी ते आस्रव कहिए कषाय।
वैरी क्रोध करे उपजी अशुभ जोग कहिवाय।
निरंतर लिगरया प्रदेश में जी कहिये आस्रव कषाय॥

अमाय्येव हि भावेन माय्येव नु भवेत् क्वचित् ।
पश्येत् स्वपरयोर्यत्र सानुबन्धं हितोदयम्[1] ॥

इस भावनावाद, परिणामवाद, हेतुवाद अथवा आशयवाद के विषय मे पूर्व मे काफी प्रकाश डाला जा चुका है[2] । आगम में भावनावाद का उल्लेख परवाद के रूप में है। इसकी तीव्र आलोचना भी की गई है ।

भावनावादी मानते थे— "जो जानता हुआ मन से हिंसा करता है पर काया से हिंसा नही करता, अथवा नही जानता हुआ केवल काया से हिंसा करता है, वह स्पर्श मात्र कर्म-फल का अनुभव करता है क्योकि यह सावद्य कर्म अव्यक्त है। तीन आदान हैं, जिनसे पाप किया जाता है—स्वय करना, नौकरादि अन्य से कराना और मन से भला जानना, परन्तु भाव विशुद्धि से मनुष्य निर्वाण को प्राप्त करता है। जैसे विपत्ति के समय यदि असयमी पिता पुत्र को मारकर, उसका भोजन करे तो वह पाप का भागी नही होता वैसे ही विशुद्ध मेधावी भाव विशुद्धि के कारण पाप करते हुये भी कर्म से लिप्त नही होता[3] ।"

१—नवतत्त्वप्रकरणम् (सुमङ्गला टीका) पापतत्त्वम् पृ० ५५-५६ :

अप्रशस्ताशयेन सेव्यमाना पापस्थानका ज्ञानाऽऽवरणादिपापप्रकृतीनां बन्धहेतव उक्ता, कतिपयेषु रागादिषु पापस्थानकेषु सेव्यमानेषु प्रशस्ताशयेन पुन्यबन्धोऽपि भवति अप्रशस्ता माया यद्द्रव्यादिकांक्षया परवञ्चना वणिजामिन्द्रजालिकादीना वा, प्रशस्ता तु व्याधाना मृगापलपने व्याधिमतां कटुकौषधादिपाने दीक्षोपस्थितस्य विघ्नकर पित्रादीनां पुर कुस्वप्नो मया दृष्टोऽल्पाऽऽयुष्कसूचक इत्यादिका स्वपर-हितहेतु स्वपितु सम्यग् यत्याचारग्रहणार्थं श्रीआर्यरक्षितप्रयुक्तमायेव ।

२—पुण्य पदार्थ (ढाल २) टिप्पणी ३० पृ० २३९-२४६

३—सूयगड १ १ २ २५-२९

जाण काएणऽणाउट्टी, अबुहो ज च हिंसति ।
पुट्ठो सवेदइ पर, अवियत्त खु सावज्ज ॥
सतिमे तउ आयाणा, जेहि कीरइ पावगं ।
अभिकम्मा य पेसा य, मणसा अणुजाणिया ॥
एते उ तउ आयाणा, जेहि कीरइ पावगं ।
एव भावविसोहीए, निव्वाणमभिगच्छइ ॥
पुत्त पिया समारब्भ, आहारेज्ज असजए ।
भुजमाणो य मेहावी, कम्मणा नोवलिप्पइ ॥
मणसा जे पउस्सति, चित्त तेसि ण विज्जइ ।
अणवज्जमतह तेसि, ण ते सवुडचारिणो ॥

इसकी आलोचना इस रूप में मिलती है :

कर्म की चिन्ता से रहित उन क्रियावादियों का दर्शन संसार को ही बढ़ाने वाला है। जो मन से प्रद्वेष करता है, उसका चित्त विशुद्ध नहीं कहा जा सकता। उसके कर्म का बंध नहीं होता—ऐसा कहना असत्य है, क्योंकि उसका आचरण संवृत नहीं है। पूर्वोक्त दृष्टि के कारण सुख और गौरव में आसक्त मनुष्य अपने दर्शन को शरणदाता मान पाप का सेवन करते हैं। जिस प्रकार जन्मांध पुरुष छिद्रवाली नौका पर चढ़कर पार जाने की इच्छा करता है परन्तु मध्य में ही डूब जाता है, उसी प्रकार मिथ्या दृष्टि अनार्य श्रमण संसार से पार जाना चाहते हैं परन्तु वे संसार में ही पर्यटन करते हैं[1]।"

२—घाति और अघाति कर्म (गा० १-५)

जीवों के कर्म अनादि काल से हैं। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि कालीन है। पहले जीव और फिर कर्म अथवा पहले कर्म और फिर जीव ऐसा क्रम नहीं है। जीव ने कर्मों को उत्पन्न नहीं किया और न कर्मों ने जीव को उत्पन्न किया है क्योंकि जीव और कर्म इन दोनों का ही आदि नहीं है। अनादि जीव बद्ध कर्मों के हेतु को पाकर अनेक प्रकार के भावों में परिणमन करता है। इस परिणमन से उसको पुण्य पाप कर्मों का बंध होता रहता है। विषय-कषायों से रागी-मोही जीव के जीव प्रदेशों में जो परमाणु लगते हैं, बंधते हैं उन परमाणुओं के स्कंधों को कर्म कहते हैं[2]।

१—सूयगडं १।१।२।२४, २६-३२

अहावरं पुरक्खायं किरियावाइदरिसणं ।
कम्मचिंतापणट्ठाणं संसारस्स पवड्ढणं ॥
इच्चेयाहि य दिट्ठीहिं सातागारवणिस्सिया ।
सरणं ति मन्नमाणा सेवंती पावगं जणा ॥
जहा अस्साविणिं नावं जाइअंधो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागंतुं अंतरा य विसीयई ॥
एवं तु समणा एगे मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
संसारपारकंखी ते संसारं अणुपरियट्टंति ॥

२—परमात्मप्रकाश १।५९, ६०, ६२

जीवहँ कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण ।
कम्में जीउ वि जणिउ णवि दोहिँ वि आइ ण जेण ॥
एहु ववहारेँ जीवडउ हेउ लहेविणु कम्मु ।
बहुविह-भावेँ परिणवइ तेण जि धम्मु अहम्मु ॥
विसय-कसायहिँ रंगियहँ जे अणुया लग्गंति ।
जीव-पएसहँ मोहियहँ ते जिण कम्म भणंति ॥

आत्मा के साथ बंधे हुए ये कर्म सामान्य तौर पर सुख-दु ख के कारण हैं। सगति से कर्म ही ससार-वधन उत्पन्न करते हैं। विछुडने पर ये ही मुक्ति प्रदान करते हैं[1]। जिन कर्मो से वद्ध जीव ससार-भ्रमण करता है वे आठ हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म[2]। इन आठ कर्मों के दो वर्ग होते हैं—(१) घाति कर्म और (२) अघाति कर्म। घाति कर्म चार हैं और अघाति कर्म भी चार। घाति अघाति प्रकृति की अपेक्षा से आठ कर्मों का विभाजन इस प्रकार होता है

घाति कर्म	अघाति कर्म
१—ज्ञानावरणीय कर्म	
२—दर्शनावरणीय कर्म	
३—	वेदनीय कर्म
४—मोहनीय कर्म	
५— ..	आयुष्य कर्म
६—	नाम कर्म
७— ---	गोत्र कर्म
८—अन्तराय कर्म	

जो कर्म आत्म से वध कर उसके स्वाभाविक गुणो की घात करते हैं उन्हें घाति कर्म कहते हैं। जिस प्रकार बादल सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश को आच्छादित कर

१—परमात्मप्रकाश १ ६४-६५

दुक्खु वि सुक्खु वि बहु-विहउ जीवहँ कम्मु जणेइ।
अप्पा देक्खइ मुणइ पर णिच्छउ एउँ भणेइ॥
बधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ।
अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ॥

२—(क) उत्त० ३३ १-३
(ख) ठाणाङ्ग ८ ३ ५९६
(ग) प्रज्ञापना २३ १

उनकी रश्मियों को बाहर नहीं आने देते उसी प्रकार घाति कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्रकट नहीं होने देते।

अघाति कर्म वे हैं जो आत्मा के प्रधान गुणों को हानि नहीं पहुंचाते परन्तु आत्मा के सुख-दुःख आयुष्य आदि की स्थितियाँ उत्पन्न करते हैं।

प्रत्येक आत्मा में सत्तारूप से आठ मुख्य गुण वर्तमान हैं पर कर्मावरण से वे प्रकट नहीं हो पाते। ये आठ गुण इस प्रकार हैं

१—अनन्त ज्ञान	५—आत्मिक सुख
२—अनन्त दर्शन	६—अटल अवगाहन
३—क्षायक सम्यकत्व	७—अमूर्तिकत्व और
४—अनन्त वीर्य	८—अगुरुलघुभाव

ज्ञानावरणीय कर्म जीव की अनन्त ज्ञान-शक्ति के प्रादुर्भाव को रोकता है। दर्शनावरणीय कर्म जीव की अनन्त दर्शन-शक्ति को प्रकट नहीं होने देता। मोहनीय कर्म आत्मा की सम्यक् श्रद्धा को रोकता है। अन्तराय कर्म अनन्त वीर्य को प्रकट नहीं होने देता।

वेदनीय कर्म अव्याबाध सुख को रोकता है। आयुष्य कर्म अटल अवगाहन—शाश्वत स्थिरता को नहीं होने देता। नाम कर्म अरूपी अवस्था नहीं होने देता। गोत्र कर्म अगुरुलघुभाव को रोकता है।

इस तरह अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त चारित्र अनन्त वीर्य—इस अनन्त चतुष्टय की घात करने वाले चार कर्म घाति कर्म हैं। अवशेष अघाति कर्म हैं[1]।

घाति कर्मों के क्षय से आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी होता है और उसके अघाति कर्मों का बन्ध भी उसी भव में मुक्तावस्था के पहले समय में क्षय को प्राप्त होता है। इस तरह सर्व कर्मों का क्षय कर आत्मा मुक्त होता है। जिसके घाति कर्म सम्पूर्ण क्षय को प्राप्त नहीं होते उसके अघाति कर्म भी नष्ट नहीं होते और उस जीव को संसार भ्रमण करते रहना पड़ता है।

१—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ९ :

आवरणमोहविग्घं घादी जीवगुणघादणत्तादो।
आउगणामं गोदं वेयणियं तह अघादित्ति ॥

स्वामीजी ने गाथा १ से ४२ में चार घनघाति कर्मों के स्वरूप पर प्रकाश डाला है और ४४ से ५७ तक की गाथाओं में अघाति कर्मों के स्वरूप पर।

घाति-अघाति दोनों प्रकार के पाप-कर्मों के बंध-हेतु प्रधानत अशुभ योग हैं। उमास्वाति ने योगो के कार्य-भेद को बताते हुए तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ६ में कहा है

शुभ पुण्यस्य। ३।

अशुभ पापस्य। ४।

इन दो सूत्रों के स्थान में दिगम्बर परम्परा के पाठ में एक ही सूत्र मिलता है

शुभ पुण्यस्याशुभ पापस्य ॥ ३ ॥

दोनो परम्पराओं के शाब्दिक अर्थ में भेद नहीं। दोनों के अनुसार मन, वचन और काय के शुभ योग पुण्य के आस्रव हैं और अशुभ योग पाप के। पर व्याख्या मे विशेष अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

अकलङ्कदेव तत्त्वार्थवार्त्तिक मे लिखते हैं "हिंसा, चोरी, मैथुन आदि अशुभ काय-योग हैं। असत्य बोलना, कठोर बोलना, आदि अशुभ वचनयोग हैं। हिंसक विचार, ईर्ष्या, असूया आदि अशुभ मनोयोग हैं। इत्यादि अनन्त प्रकार के अशुभ योग से भिन्न शुभ योग भी अनन्त प्रकार का है। अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि शुभ काययोग हैं। सत्य, हित, मित बोलना शुभ वाग्योग है। अर्हन्त-भक्ति, तप की रुचि, श्रुत का विनय आदि शुभ मनोयोग हैं।

"शुभ परिणाम पूर्वक होने वाला योग शुभ योग है तथा अशुभ परिणाम से होने-वाला अशुभ योग है। शुभ अशुभ कर्म का कारण होने से योग में शुभत्व या अशुभत्व नहीं है, क्योंकि शुभ योग भी ज्ञानावरण आदि अशुभ कर्मो के बन्ध में भी कारण होता है। 'शुभ पुण्यस्य' यह निर्देश अघातिया कर्मो में जो पुण्य और पाप हैं, उनकी अपेक्षा से है। अथवा 'शुभ योग पुण्य का ही कारण है'—ऐसा अर्थ नहीं है पर 'शुभ योग ही पुण्य का कारण है'—ऐसा अर्थ है। अत शुभ योग पाप का भी हेतु हो सकता है। पुन सूत्रों का अर्थ अनुभाग-बंध की अपेक्षा लगाना चाहिए अन्यथा वे दोनो निरर्थक हो जायेंगे क्योंकि कहा है—'आयु और गति को छोड कर शेष कर्मो की उत्कृष्ट स्थितियो का बन्ध उत्कृष्ट सक्लेश से होता है और जघन्य स्थितिबंध मन्द सक्लेश से।' अनुभाग बन्ध प्रधान है। वही सुख-दु ख रूप फल का निमित्त होता है। उत्कृष्ट शुभ परिणाम अशुभ कर्म के जघन्य अनुभाग के भी कारण होते हैं पर बहुत शुभ के कारण होने से 'शुभ पुण्यस्य' सार्थक है। जैसे थोडा अपकार करने पर भी बहुत उपकार करने वाला भी

उपकार करने वाला माना जाता है। कहा भी है—'विशुद्धि से शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होता है तथा संक्लेश से अशुभ प्रकृतियों का। जघन्य अनुभाग बन्ध का क्रम इससे उल्टा है, अर्थात् विशुद्धि से अशुभ का जघन्य और संक्लेश से शुभ का जघन्य बन्ध होता है'।[1]

प्रस्तुत सूत्रों की मर्यादा पर विचार करते हुए पं॰ सुखलालजी लिखते हैं—"संक्लेश कषाय की मंदता के समय होने वाला योग शुभ और संक्लेश की तीव्रता के समय होने वाला योग अशुभ कहलाता है। जिस प्रकार अशुभ योग के समय प्रथम आदि गुणस्थानों में ज्ञानावरणीय आदि सारी पुण्य-पाप प्रकृतियों का यथासम्भव बन्ध होता है, वैसे ही छट्ठे आदि गुणस्थानों में शुभ के समय भी सारी पुण्य-पाप प्रकृतियों का यथासम्भव बंध होता ही है। अतः प्रस्तुत विधान को मुख्यतया अनुभागबन्ध की अपेक्षा से समझना चाहिए[2]।"

हालाँकि यह दलील अकलङ्कदेव की दलील से भिन्न है फिर भी निष्कर्ष एक ही है।

सिद्धसेनगणि अपनी टीका में लिखते हैं "शुभ परिणाम के अनुबन्ध से शुभ योग होता है। पुण्य कर्म के ४२ भेद कहे गये हैं। शुभ योग उनके आस्रव का हेतु है। भाष्य के 'शुभो योगः पुण्यस्यास्रवो भवति' का आशय है—शुभ योग पुण्य का आस्रव है, पाप का नहीं। प्राणातिपात आदि से निवृत्ति, सत्यादि, अपरुषभाषादि शुभ योग हैं। भाष्यकार का यह निश्चित मत है कि शुभ योग पुण्य का ही आस्रव है पाप का नहीं। प्राणातिपात आदि अशुभ योग हैं। अशुभ योग ८२ प्रकार के पाप-कर्मों के आस्रव का हेतु है। जिस तरह शुभ योग पुण्य का ही आस्रव होता है, कभी भी पाप का नहीं वैसे ही अशुभ योग पाप का ही आस्रव है कभी भी पुण्य का नहीं। शुभ योग पुण्य कर्म का हेतु है—इसके द्वारा—'वह पाप का हेतु नहीं' यह नियति प्रतिपादित होती है, 'शुभ योग निर्जरा का हेतु नहीं'—यह निषेध नहीं। शुभ योग पुण्य और निर्जरा का कारण है[3]।"

१—तत्त्वार्थवार्तिक ६।३।१०

२—तत्त्वार्थसूत्र (गु॰ ए॰ आ॰) पृ॰ १५१

३—तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ६।३–४ सिद्धसेन :

शुभो योगः पुण्यस्य न जातुचित् पापस्यापीति एवं नियमोऽस्ति भाष्यतः शुभो योगः, स पुण्यस्यैवास्रवो न पापस्येत्यभिप्रायो नियतमिदमिति भाष्यकारो ... अवधारणात् व्याख्या शुभो योगः स पुण्यस्यास्रवो भवति न कदाचित् पापस्य एवमशुभः पापस्यैव न कदाचित्पुण्यस्यास्रवः। शुभः पुण्यस्यैव न पापस्येति नियम्यते न तु निर्जराहेतुत्वमिष्यते। न हि पुण्यस्य निर्जरायाश्च कारणं शुभो योगः

अकलङ्कदेव और सिद्धसेन के विचारो का पार्थक्य स्वय स्पष्ट है। शुभ योग मे ज्ञानावरणीय आदि घाति कर्मों का आस्रव मानना अथवा अशुभ कर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध मानना श्वेताम्बर आगमिक विचारधारा से बहुत दूर पडता है। स्वामीजी ने आगमिक विचारधारा को अग्रस्थान देते हुए पुण्य का बन्ध शुभ योग से और पाप का बन्ध अशुभ योग से ही प्रतिपादित किया है।

४—ज्ञानावरणीय कर्म (गा० ७-८):

जीव चेतन पदार्थ है। वह ज्ञान और दर्शन से जाना जाता है। ज्ञान और दर्शन दोनो का सग्राहक शब्द उपयोग है। इसीलिए आगम में कहा है—'जीवो उवओग लक्खणो'[1]। ज्ञान को साकार उपयोग कहते हैं और दर्शन को निराकार उपयोग। जो उपयोग पदार्थों के विशेष धर्मों का—जाति, गुण, क्रिया आदि का बोधक होता है वह ज्ञानोपयोग है, जो पदार्थों के सामान्य धर्म का अर्थात् सत्ता मात्र का बोधक होता है उसे दर्शनोपयोग कहते हैं।

ज्ञान वह है जिसमे वस्तु विशेष धर्मों के साथ जानी जाती हो। ऐसा ज्ञान जिसके द्वारा आच्छादित हो उस कर्म को ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान को आवृत करने वाले इस कर्म की कपडे की पट्टी से तुलना की गयी है। जिस प्रकार आँखो पर कपडे की पट्टी लगा लेने से चक्षु-ज्ञान रुक जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से आत्मा को पदार्थों के जानने में रुकावट हो जाती है[2]। ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ—अवान्तर भेद पाँच हैं[3]

१—उत्त० २८.१०:

वत्तणालक्खणो कालो जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेण दंसणेणं च सुहेण य दुहेण य॥

२—(क) प्रथम कर्मग्रन्थ ९

एसिं ज आवरणं पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं।

(ख) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २१

पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीण।
जह एदेसिं भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा॥

(ग) ठाणाङ्ग २ ४ १०५ में उद्धृत

सरउग्गयससिनिम्मलयरस्स जीवस्स छायण जमिह।
णाणावरणं कम्मं पडोवमं होइ एवं तु॥

३—(क) उत्त० ३३ ४

नाणावरणं पचविहं सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं च तइयं मणनाण च केवलं॥

(ख) प्रज्ञापना २३ २

(१) आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय कर्म। इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे आभिनिबोधिक या मतिज्ञान कहते हैं। यह परोक्ष ज्ञान है। जो ऐसे ज्ञान को नहीं होने देता उसे आभिनिबोधिक अथवा मतिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(२) श्रुतज्ञानावरणीय कर्म। शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यह भी परोक्ष ज्ञान है। जो ऐसे ज्ञान को नहीं होने देता उस कर्म को श्रुतज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(३) अवधिज्ञानावरणीय कर्म। इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना रूपी पदार्थों के मर्यादित प्रत्यक्ष ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। जो कर्म ऐसे ज्ञान को नहीं होने देता उसे अवधिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(४) मनःपर्यायज्ञानावरणीय कर्म। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को मर्यादित रूप से जानना मनःपर्यायज्ञान है। यह भी प्रत्यक्ष ज्ञान है। जो कर्म ऐसे ज्ञान को न होने दे उसे मनःपर्यायज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(५) केवलज्ञानावरणीय कर्म। सर्व द्रव्य और पर्यायों को युगपत् भाव से प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। जो ऐसे ज्ञान को प्रकट न होने दे उस कर्म को केवलज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाती और देशघाती दो प्रकार के होते हैं[1]। जो प्रकृति स्वघात्य ज्ञान गुण का सम्पूर्ण घात करे वह सर्वघाती ज्ञानावरणीय है। और जो स्वघात्य ज्ञान गुण का आंशिक घात करे वह देशघाती ज्ञानावरणीय है।

मतिज्ञानावरणीय आदि प्रथम चार ज्ञानावरणीय कर्म देशघाती हैं और केवलज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाती।

केवलज्ञानावरणीय सर्वघाती कहलाने पर वह भी आत्मा के ज्ञानगुण को सर्वथा आवृत नहीं कर सकता। ऐसा होने से जीव और अजीव में कोई अन्तर नहीं रह पायेगा। निगोद के जीवों के उत्कट ज्ञानावरणीय कर्म होता है परन्तु उनके भी अनन्त गुण अव्यक्त ज्ञानमात्र है। केवलज्ञानावरणीय कर्म को सर्वघाती कहा गया है वह अनन्त आवरण की अपेक्षा से। जिस प्रकार घनघोर बादल से सूर्य और चन्द्र ढक जाते हैं फिर

१—ठाणाङ्ग २ ४ १ ५ :
णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पं० तं०—देसणाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव

(१) आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय कर्म। इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे आभिनिबोधिक या मतिज्ञान कहते हैं। यह परोक्ष ज्ञान है। जो ऐसे ज्ञान को नहीं होने देता उसे आभिनिबोधिक अथवा मतिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(२) श्रुतज्ञानावरणीय कर्म। शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यह भी परोक्ष ज्ञान है। जो ऐसे ज्ञान को नहीं होने देता उस कर्म को श्रुतज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(३) अवधिज्ञानावरणीय कर्म। इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना रूपी पदार्थों के मर्यादित प्रत्यक्ष ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। जो कर्म ऐसे ज्ञान को नहीं होने देता उसे अवधिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(४) मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्म। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को मर्यादित रूप से जानना मनःपर्यवज्ञान है। यह भी प्रत्यक्ष ज्ञान है। जो कर्म ऐसे ज्ञान को न होने दे उसे मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(५) केवलज्ञानावरणीय कर्म। सर्व द्रव्य और पर्यायों को युगपत भाव से प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। जो ऐसे ज्ञान को प्रकट न होने दे उस कर्म को केवलज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाती और देशघाती दो प्रकार के होते हैं[१]। जो प्रकृति स्वघात्य ज्ञान गुण का सम्पूर्ण घात करे वह सर्वघाती ज्ञानावरणीय है। और जो स्वघात्य ज्ञान गुण का आंशिक घात करे वह देशघाती ज्ञानावरणीय है।

मतिज्ञानावरणीय आदि प्रथम चार ज्ञानावरणीय कर्म देशघाती हैं और केवलज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाती।

केवलज्ञानावरणीय सर्वघाती कहलाने पर वह भी आत्मा के ज्ञानगुण को सर्वथा आवृत नहीं कर सकता। ऐसा होने से जीव और अजीव में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। निगोद के जीवों के उत्कृष्ट ज्ञानावरणीय कर्म होता है परन्तु उनके भी अत्यन्त सूक्ष्म अव्यक्त ज्ञानमात्र है। केवलज्ञानावरणीय कर्म को सर्वघाती कहा गया है वह प्रबलतम आवरण की अपेक्षा से। जिस प्रकार घनघोर बादल से सूर्य और चन्द्र ढक जाते हैं फिर

१—ठाणाङ्ग २.४.१०५ :

णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पं० तं०—देसणाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव

भी दिवस और रात्रि का विभाग हो सके उतना उनका प्रकाश तो अनावृत्त रहता ही है, उसी प्रकार केवलज्ञानावरणीय से आत्मा का केवलज्ञान गुण चाहे जितनी प्रबलता के साथ आवृत हो, तो भी केवलज्ञान का अनन्तवाँ भाग अनावृत रहता है। केवलज्ञानावरणीय कर्म से जितना अंश अनावृत रह जाता है—उस अंश को भी आवृत करनेवाले भिन्न-भिन्न शक्ति वाले मतिज्ञानावरणीय आदि चार दूसरे आवरण हैं। वे अंश को आवरण करने वाले होने से देशावरणीय कहलाते हैं[१]।

आगम में कहा है "ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव जानने योग्य को भी नहीं जानता, जानने का कामी होने पर भी नहीं जानता, जान कर भी नहीं जानता। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव आच्छादितज्ञान वाला होता है। जीव द्वारा बांधे हुए ज्ञानावरणीय कर्म के दस प्रकार के अनुभाव हैं :

१—श्रोत्रावरण	२—श्रोत्र-विज्ञानावरण
३—नेत्रावरण	४—नेत्र-विज्ञानावरण
५—घ्राणावरण	६—घ्राण-विज्ञानावरण
७—रसावरण	८—रस-विज्ञानावरण
९—स्पर्शावरण	१०—स्पर्श-विज्ञानावरण[२]।"

१—(क) स्थानांग-समवायांग पृ० ६४-६५

(ख) ठाणाङ्ग २.४.१०५ की टीका :

देशं—ज्ञानस्याऽऽभिनिबोधिकादिमावृणोतीति देशज्ञानावरणीयम्, सर्वं ज्ञानं—केवलाख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानावरणीयं, केवलावरणं हि आदित्यकल्पस्य केवलज्ञान-रूपस्य जीवस्याच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पमिति तत्सर्वज्ञानावरणं, मत्याद्या-वरणं तु घनातिच्छादितादित्येषत्प्रभाकल्पस्य केवलज्ञानदेशस्य कटकुड्यादिरूपावरण-तुल्यमिति देशावरणमिति

२—प्रज्ञापना २३.१ :

गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प दसविधे अणुभावे पन्नत्ते, तंजहा—सोतावरणे, सोयविण्णाणावरणे, नेत्तावरणे, नेत्तविण्णाणावरणे, घाणावरणे, घाणविण्णाणावरणे, रसावरणे, रसविण्णाणावरणे, फासावरणे, फासविण्णाणावरणे, जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं वा उदएणं जाणियव्वं ण जाणति, जाणिउकामेवि ण याणति, जाणित्तावि न याणति, उच्छन्नणाणी यावि भवति णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं

जब ज्ञानावरणीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय होता है तब केवलज्ञान प्रकट होता है। सम्पूर्ण क्षय न होकर क्षयोपशम होता है तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान उत्पन्न होते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीस सागरोपम की होती है[1]।

इस कर्म के बंध-हेतुओं का उल्लेख पहले आ चुका है। (देखिए—पुण्य पदार्थ (ढा० २) टि० २१ पृ० २२९)

ज्ञानावरणीय कर्म के बंध-हेतुओं की व्याख्या इस प्रकार है

(१) ज्ञान-प्रत्यनीकता : ज्ञान या ज्ञानी की प्रतिकूलता। इसके स्थान में तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञान-मात्सर्य है, जिसका अर्थ है दूसरा मेरे बराबर न हो जाय इस दृष्टि से ज्ञानदान न करना।

(२) ज्ञान-निह्नव अभय देव ने इसका अर्थ किया है—ज्ञान या ज्ञानियों का अपलपन। तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में इसका अर्थ इस प्रकार मिलता है—ज्ञान को छिपाना। वस्तु का स्वरूप मालूम होने पर भी पूछने पर न बताना।

(३) ज्ञानान्तराय : किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालना।

(४) ज्ञान-प्रद्वेष ज्ञान या ज्ञानी के प्रति द्वेष-भाव—अप्रीति। तत्त्वार्थसूत्र में इसके स्थान पर 'तत्प्रदोष' है जिसका अर्थ है—ज्ञान, ज्ञानी या ज्ञान के साधनों के प्रति मत्सर।

(५) ज्ञानाशातना ज्ञान या ज्ञानी की हीलना। तत्त्वार्थसूत्र में इसके स्थान पर 'आसादन' है। ज्ञान देनेवाले को रोकना ज्ञानासादन।

(६) ज्ञान-विसंवादन योग : ज्ञान या ज्ञानी के विसंवाद—व्यभिचार-दर्शन की प्रवृत्ति। इसके स्थान पर तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञानोपघात हेतु है। प्रशस्त ज्ञान अथवा ज्ञानी में दोष निकालना।

१—उत्त० ३३ १९-२०

उदहीसरिसनामाण तीसई कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होइ अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥
आवरणिज्जाण दुण्हं पि वेयणिज्जे तहेव य।
अन्तराए य कम्मम्मि ठिई एसा वियाहिया॥

५—दर्शनावरणीय कर्म (गा० ९-१५) :

पदार्थों के आकार के अतिरिक्त अर्थों की विशेषता को ग्रहण किये बिना केवल सामान्य का ग्रहण करना दर्शन है[1]। जो कर्म ऐसे दर्शन का आवरणभूत होता है, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ—अवान्तरभेद नौ कहे गये हैं[2]

(१) **चक्षुदर्शनावरणीय कर्म**। चक्षु द्वारा होनेवाले सामान्य बोध को चक्षुदर्शन कहते हैं। उसको आवृत करनेवाला कर्म चक्षुदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। इस कर्म के उदय से जीव के आँखें नही होती अथवा आँखें होने पर भी ज्योति नष्ट हो जाती है।

(२) **अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म**। नेत्रो को छोड कर अन्य इन्द्रियो और मन के द्वारा होने-वाला सामान्य बोध अचक्षुदर्शन है। उसको आवृत करनेवाला कर्म अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। इस कर्म के उदय से नेत्र से भिन्न अन्य इन्द्रियाँ—श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय तथा मन नहीं होते अथवा होने पर भी अकार्यकारी होते हैं।

(३) **अवधिदर्शनावरणीय कर्म**। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्यो का जो सामान्य बोध होता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं। ऐसे दर्शन को आवृत करनेवाला कर्म अवधिदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

(४) **केवलदर्शनावरणीय कर्म**। सर्व द्रव्य और पर्यायो का युगपत् साक्षात सामान्य अवबोध केवलदर्शन कहलाता है। उसे आवृत करनेवाला कर्म केवलदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

(५) **निद्रा**। जिससे सुख से जाग सके ऐसी नीद उत्पन्न हो उसे निद्रा दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

(६) **निद्रानिद्रा**। जो कर्म ऐसी नीद उत्पन्न करे कि सोया हुआ व्यक्ति कठिनाई से जाग सके उसे निद्रानिद्रा दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

१—ज सामन्नग्गहण भावाण नेव कट्टु आगार।
अविसेसिऊण अत्थे दसणमिह वुच्चए समये॥

२—(क) उत्त० ३३ ५-६

निद्दा तहेव पयला निद्दानिद्दा पयलपयला य।
तत्तो य थीणगिद्धी उ पचमा होइ नायव्वा॥
चक्खुमचक्खूओहिस्स दसणे केवले य आवरणे।
एव तु नवविगप्प नायव्व दसणावरण॥

(७) प्रचला। जिस कर्म से खड़े-खड़े या बैठे-बैठे भी नींद आवे उसे प्रचला दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

(८) प्रचला-प्रचला। जिस कर्म से चलते-फिरते भी नींद आवे उसे प्रचला-प्रचला दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

(९) स्त्यानर्द्धि (स्त्यानगृद्धि)। जिस कर्म से दिन में सोचा हुआ काम निद्रा में किया जाय ऐसा कर्म आवे उसे स्त्यानर्द्धि दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

गोम्मटसार में निद्रा-पंचक के विषय में निम्न विवेचन मिलता है[1]

१—'स्त्यानगृद्धि' के उदय से जगाने के बाद भी जीव सोता रहता है, यद्यपि वह काम करता व बोलता है।

२—'निद्रा निद्रा' के उदय से जीव आँखें नहीं खोल सकता।

३—'प्रचला प्रचला' के उदय से लार गिरती है और अंग चलते—काँपते हैं।

४—'निद्रा' के उदय से चलता हुआ जीव ठहरता है, बैठता है और गिर जाता है।

५—'प्रचला' के उदय से जीव के नेत्र कुछ खुले रहते हैं और वह सोते हुए भी थोड़ा-थोड़ा जानता है और बार-बार मंद-मंद सोता है।

निद्रा-पंचक के क्रम में श्वेताम्बरीय और दिगम्बरीय ग्रंथों में जो भेद है वह उपर्युक्त दोनों वर्णनों से स्वयं स्पष्ट है। 'प्रचला प्रचला' 'निद्रा' और 'प्रचला' इन भेदों के अर्थ में भी विशेष अन्तर है।

तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बरीय पाठ और भाष्य में 'निद्रा' आदि के बाद 'वेदनीय' शब्द रखा गया है[2]। दिगम्बरीय पाठ में इसके बाद 'वेदनीय' शब्द नहीं है। सर्वार्थसिद्धिटीका

१—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २३—२५:

थीणुदयेणुट्ठविदे सोवदि कम्मं करेदि जप्पदि य।
णिद्दाणिद्दुदयेण य ण दिट्ठिमुग्घादिदुं सक्को॥
पयलापयलुदयेण य वहेदि लाला चलंति अंगाइं।
णिद्दुदये गच्छंतो ठाइ पुणो वइसइ पडेई॥
पयलुदयेण य जीवो ईसुम्मीलिय सुवेइ सुत्तोवि।
ईसं ईसं जाणदि मुहुं मुहुं सोवदे मंदं॥

२—तत्त्वार्थसूत्र ८.८:

निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च

में प्रत्येक के साथ 'दर्शनावरणीय कर्म' जोड लेने का कहा गया है[1]।

इस कर्म को 'वित्तिसम'—दरवान के सदृश कहा जाता है, जिस प्रकार दरवान राजा को नहीं देखने देता वैसे ही यह वस्तुओं के समान्य बोध को रोकता है[2]।

दर्शनावरणीय कर्म भी दो कोटि का होता है—(१) देश और (२) सर्व। चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनावरणीय कर्म देश कोटि के हैं और शेष छह सर्व कोटि के[3]। सर्वघाती दर्शनावरणीय कर्मों में केवलदर्शनावरणीय कर्म प्रगाढतम है।

सर्वघाती दर्शनावरणीय कर्मों के उदय से जीव का दर्शन गुण प्रगाढ़ रूप से आच्छादित हो जाता है पर इस गुण का सर्वावरण तो केवलदर्शनावरणीय कर्म के उदय की किसी अवस्था में भी नहीं होता। नन्दीसूत्र में कहा है—"पूर्ण ज्ञान का अनन्तवाँ भाग तो जीव मात्र के अनावृत रहता है, यदि वह आवृत हो जाए तो जीव अजीव बन जाय। मेघ कितना ही गहरा हो, फिर भी चांद और सूर्य की प्रभा कुछ-न-कुछ रहती ही है। यदि ऐसा न हो तो रात-दिन का विभाग ही मिट जाय[4]।" सर्वज्ञानावरणीय कर्म के विषय मे नदी मे जो बात कही गयी है वही सर्वदर्शनावरणीय कर्म के विषय में भी लागू पडती है।

१—तत्त्वार्थसूत्र ८ ७ सर्वार्थसिद्धि

इह निद्रादिभिर्दर्शनावरण सामानाधिकरण्येनाभिसम्बध्यते—निद्रादर्शनावरण निद्रानिद्रादर्शनावरणमित्यादि।

२—(क) प्रथम कर्मग्रथ ६

दसणचउ पणनिद्दा वित्तिसम दसणावरण॥

(ख) देखिए पृ० ३०३ पा० टि० २ (ख)

(ग) ठाणाङ्ग २ ४.१०५ की टीका

दसणसीले जीवे दसणघाय करेइ ज कम्म।
त पडिहारसमाणं दंसणवरण भवे जीवे॥

३—ठाणाङ्ग . २ ४ १०५ :

दरिसणावरणिज्जे कम्मे एव चेव

टीका—देशदर्शनावरणीय चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणीयम्, सर्वदर्शनावरणी: तु निद्रापञ्चक केवलदर्शनावरणीयं चेत्यर्थ, भावना तु पूर्ववदिति

४—नदी० सूत्र ४२ .

सव्वजीवाणंपि अ ण अक्खरस्स अणतभागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुण सोऽवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्त पाविज्जा,—"सुट्ठवि मेहसमुदये होइ पभा चंदसूराण।"

दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जीव देखने योग्य वस्तु को भी नहीं देख पाता। देखने की इच्छा होने पर भी नहीं देख पाता। देख कर भी नहीं देख पाता। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जीव आच्छादितदर्शनवाला होता है।

दर्शनावरण कर्म के उक्त नौ भेदों के अनुसार नौ अनुभाव हैं

१—निद्रा	६—चक्षुदर्शनावरण
२—निद्रानिद्रा	७—अचक्षुदर्शनावरण
३—प्रचला	८—अवधिदर्शनावरण
४—प्रचला प्रचला	और
५—स्त्यानर्द्धि	९—केवलदर्शनावरण[1]।

ज्ञानावरणीय कर्म की तरह इस दर्शनावरणीय कर्म की भी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की होती है[2]।

ज्ञानावरणीय कर्म के बंध हेतुओं का नामोल्लेख पहले आ चुका है। देखिए—पुण्य पदार्थ (ढा० २) टि० २१ पृ० २२९। दर्शनावरणीय कर्म के बंध-हेतु वे ही हैं जो ज्ञानावरणीय कर्म के बंध हेतु हैं। केवल ज्ञान के स्थान में दर्शन शब्द ग्रहण करना चाहिए। फल भी समान है।

दर्शनावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से केवल दर्शन उत्पन्न होता है, जिससे जीव की अनन्त दर्शन-शक्ति प्रकट होती है। जब क्षय न होकर केवल क्षयोपशम होता है तब चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन दर्शन प्रकट होते हैं।

१—प्रज्ञापना २३.१

गोयमा ! दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प नवविहे अणुभावे पन्नत्ते, तंजहा—निद्दा निद्दानिद्दा पयला पयलापयला थीणद्धी चक्खुदंसणावरणे, अचक्खुदंसणावरणे ओहिदंसणावरणे, केवलदंसणावरणे, जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं पासियव्वं वा न पासति पासिउकामेवि न पासति पासित्ता वि न पासति उच्छन्नदंसणी यावि भवति दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं।

२—उत्त० ३३.१९-२

पृ० ३६ पा० टि० १ में उद्धृत

६-७—मोहनीय कर्म (गा० १६-३६) :

जो कर्म मूढता उत्पन्न करे उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। यह कर्म स्व-पर विवेक में तथा स्वरूप-रमण में बाधा पहुँचाता है। इस कर्म की तुलना मद्य के साथ की जाती है। 'मज्ज व मोहणीयं' (प्रथम कर्मग्रन्थ १३)। जिस तरह मदिरा-पान से मनुष्य परवश हो जाता है और उसे अपने और पर के स्वरूप का भान नही रहता तथा अपने हिताहित का विवेक भूल जाता है वैसे ही इस कर्म के प्रभाव से जीव को तत्त्व-अतत्त्व का भेदज्ञान नही रहता और वह दुष्कृत्यो मे फस जाता है[1]।

मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है—(१) दर्शन-मोहनीय और (२) चारित्र-मोहनीय[2]। यहाँ दर्शन का अर्थ है श्रद्धा, तत्त्वनिष्ठा, सम्यक् दृष्टि अथवा सम्यक्त्व। जो कर्म सम्यक् दृष्टि उत्पन्न न होने दे, तत्त्व-अतत्त्व का भेद-ज्ञान न होने दे उसे दर्शन-मोहनीय कर्म कहते हैं। जो सम्यक् चारित्र—आचरण को न होने दे उसे चारित्र मोहनीय कर्म कहते हैं।

दर्शन-मोहनीय कर्म तीन प्रकार का होता है[3]—

(१) **सम्यक्त्व-मोहनीय**[4] : जो कर्म सम्यक्त्व का प्रकट होना तो नही रोकता पर औपशमिक अथवा क्षायक सम्यक्त्व (निर्मल अथवा स्थिर सम्यक्त्व) को उत्पन्न नही होने देता उसे सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म कहते हैं।

(२) **मिथ्यात्व-मोहनीय** · जो कर्म तत्त्वो में श्रद्धा उत्पन्न नही होने देता और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करता है, उसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म कहते हैं।

(३) **सम्यक्मिथ्यात्व-मोहनीय** जो कर्म चित्त की स्थिति को चलायमान रखता है—

१—(क) ठाणाङ्ग २.४ १०५ की टीका

जह मज्जपाणमूढो लोए पुरिसो परव्वसो होइ।
तह मोहेणवि मूढो जीवो उ परव्वसो होइ॥

(ख) देखिए पृ० ३०३ पा० टि० २ (ख)

२—(क) उत्त० ३३.८

(ख) ठाणाङ्ग २.४ १०५

(ग) प्रज्ञापना २३.२

३—उत्त० ३३.९

४—प्रज्ञापना (२३.२) में सम्यक्त्व मोहनीय आदि को सम्यक्त्व वेदनीय आदि कहा है।

तत्त्वों में श्रद्धा भी नहीं होने देता और अश्रद्धा भी नहीं होने देता उसे सम्यक्‌मिथ्यात्व मोहनीय कर्म कहते हैं।

इनमें मिथ्यात्व-मोहनीय सर्वघाती कहलाता है और अन्य दो देशघाती।

चारित्र-मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है—(१) कषाय-मोहनीय और (२) नो-कषाय-मोहनीय।

कष अर्थात् संसार। आय अर्थात् प्राप्ति। जिससे संसार की प्राप्ति हो उसे कषाय कहते हैं। क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय हैं। श्री नेमिचन्द्र लिखते हैं—'जीव के कर्म-क्षेत्र का कर्षक होने से आचार्यों ने इसे कषाय कहा है। इससे सुख तथा दुःख रूपी प्रचुर सस्य उत्पन्न होता है तथा संसार की मर्यादा बढ़ती है[1]।" जो कषाय के सहवर्ती सहचर होते हैं अथवा जो कषायों को उत्तेजित करते हैं उन हास्य शोक, भय आदि को नो-कषाय कहते हैं[2]। इसके स्थान में दिगम्बर ग्रन्थों में अकषाय का प्रयोग है। नो-कषाय अथवा अकषाय का अर्थ कषाय का अभाव नहीं होता पर ईषत् कषाय है[3]। हास्य आदि स्वयं कषाय न होकर दूसरे के बल पर कषाय बन जाते हैं। जैसे कुत्ता स्वामी का इशारा पाकर काटने दौड़ता है और स्वामी के इशारे से ही वापस आ जाता है उसी तरह क्रोधादि कषायों के बल पर ही हास्यादि नो-कषायों की प्रवृत्ति होती है, क्रोधादि के अभाव में ये निर्बल रहते हैं। इसलिए इन्हें ईषत्‌कषाय अकषाय या नो-कषाय कहते हैं[4]।

कषाय-मोहनीय सोलह प्रकार का है और (२) नो-कषाय-मोहनीय सात अथवा नौ प्रकार का[5]।

१—गोम्मटसार (जीव-काण्ड) २८२ :

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं बेंति॥

२—कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकषायता॥

३—सर्वार्थसिद्धि ८ ९ :

ईषदर्थ नञः प्रयोगादीषत्कषायोऽकषाय इति।

४—तत्त्वार्थवार्तिक ८ ९ १०

५—(क) उत्त० ३३ १० ११

चरित्तमोहणं कम्मं दुविहं तं वियाहियं।
कसाय मोहणिज्जं तु नोकसायं तहेव य॥
सोलसविहभेएणं कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा कम्मं च नोकसायजं॥

(ख) प्रज्ञापना २३ २ ...

चारित्र मोहनीय के भेद इस प्रकार है

१-४—**अनन्तानुबधी क्रोध-मान-माया-लोभ :** जो कर्म ऐसे उत्कृष्ट क्रोध आदि उत्पन्न करते हैं कि जिनके प्रभाव से जीव को अनन्त काल तक ससार-भ्रमण करना पडता है क्रमश अनन्तानुबधी क्रोध, अ० मान, अ० माया और अ० लोभ कहलाते हैं[1]।

५-८—**अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ** जो कर्म ऐसे क्रोध-मान-माया-लोभ को उत्पन्न करें कि जिनसे सम्यकत्व तो न रुके पर प्रत्याख्यान—थोडी भी पाप-विरति न हो सके उन्हें क्रमश अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, अ० मान, अ० माया और अ० लोभ कहते हैं[2]।

९-१२—**प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ** जो कर्म ऐसे क्रोध-मान-माया-लोभ को उत्पन्न करें कि जिनसे सम्यक्त्व और देश प्रत्याख्यान तो न रुकें पर सर्व प्रत्याख्यान न हो सके—सर्व सावद्य विरति न हो सके उन्हें क्रमश प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, प्र० मान, प्र० माया और प्र० लोभ कहते हैं[3]।

१३-१६—**सज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ** जो कर्म ऐसे क्रोध आदि उत्पन्न करें कि जिनसे सर्वप्रत्याख्यान होने पर भी यथाख्यात चारित्र न हो पावे उन्हे क्रमश सज्वलन-क्रोध, स० मान, स० माया और स० लोभ कहते हैं।

दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—'स' का प्रयोग एकीभाव अर्थ मे है। सयम के साथ अवस्थान होने से एक होकर जो ज्वलित होते हैं या जिनके सद्भाव में भी सयम चमकता रहता है वे सज्वलन कषाय हैं[4]।

१—(क) अनन्तान्यनुबध्नन्ति यतो जन्मानि भूतये।
तताेऽनन्तानुबन्ध्याख्या क्रोधाद्येषु नियोजिता ॥
(ख) सयोजयन्ति यन्नरमनन्तसख्यैर्भवै कपायास्ते।
सयोजनताऽनन्तानुवन्धिता वाप्यस्तेपाम् ॥

२—स्वल्पमपि नोत्सहेद् येषां प्रत्याख्यानमिहोदयात्।
अप्रत्याख्यानसज्ञाऽतो द्वितीयेषु निवेशिता ॥

३—सर्वसावद्यविरति प्रत्याख्यानमुदाहृतम्।
तदावरणसज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता ॥

४—सर्वार्थसिद्धि ८ ९ :
समेकीभावे वर्तते। सयमेन सहावस्थानादेकीभूय ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्स्येषु सत्स्वपीति सज्वलना क्रोधमानमायालोभा।

श्वेताम्बर विद्वानों ने इसके मत का स्फोटन करते हुए लिखा है— 'जो कर्म संयम और सर्व पाप की विरति से युक्त यति को भी क्रोधादि युक्त करता है—अप्रशमभाव युक्त करता है उसे संज्वलन-कषाय कहते हैं। शब्दादि विषयों को प्राप्त कर जिससे जीव बार-बार कषाय युक्त होता है वह संज्वलन कषाय है[१]।'

अनन्तानुबंधी कषाय सम्यग्दर्शन का उपघात करनेवाला होता है। जिस जीव के अनन्तानुबंधी क्रोध आदि में से किसी का उदय होता है उसके सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता। यदि पहले सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया हो और पीछे अनन्तानुबंधी कषाय का उदय हो जाय तो वह उत्पन्न हुआ सम्यग्दर्शन भी नष्ट हो जाता है[२]।

अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से किसी भी तरह की एकदेश या सर्वदेश विरति नहीं होती। इस कषाय के उदय से संयुक्त जीव महाव्रत या श्रावक के व्रतों को धारण नहीं कर सकता[३]।

प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से विरताविरति—एकदेश रूप संयम होने पर भी सकल चारित्र नहीं हो पाता[४]।

संज्वलन कषाय के उदय से यथाख्यात चारित्र का लाभ नहीं होता[५]।

यही बात दिगम्बर ग्रंथों में भी कही है[६]।

१—(क) संज्वलयन्ति यतिं यत्संविग्नं सर्वपापविरतमपि।
तस्मात् संज्वलना इत्यप्रशमकरा निरुच्यन्ते।

(ख) शब्दादीन् विषयान् प्राप्य संज्वलयन्ति यतो मुहुः।
ततः संज्वलनाह्वानं चतुर्थमिहोच्यते॥

२—तत्त्वा० ८.१ भाष्य अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते। पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति।

३—तत्त्वा० ८.१ भाष्य : अप्रत्याख्यानकषायोदयाद्विरतिर्न भवति।

४—तत्त्वा० ८.१ भाष्य : प्रत्याख्यानावरणकषायोदयाद्विरताविरतिर्भवत्युत्तमचारित्रलाभस्तु न भवति।

५—तत्त्वा० ८.१ संज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति।

६—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८३ :
सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे।
घादंति वा कषाया चउसोल असंखलोगमिदा॥

अनन्तानुबंधी कषाय की स्थिति यावज्जीवन की, अप्रत्याख्यानी कषाय की एक वर्ष की, प्रत्याख्यानी कषाय की चार मास की और सज्वलन कषाय की स्थिति एक पक्ष की होती है[1]। दिगम्बर ग्रथो मे अनन्तानुबन्धी की स्थिति सख्यात-असख्यात-अनन्त भव, अप्रत्याख्यानी की ६ मास, प्रत्याख्यानी की एक पक्ष और सज्वलन की एक अन्तर्मुहूर्त की कही गयी है[2]।

श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनो ही के मत से जीव अनन्तानुबधी कषाय की अवस्था मे नरक गति, अप्रत्याख्यानी कषाय की अवस्था मे तिर्यञ्च गति, प्रत्याख्यानी कषाय की अवस्था में मनुष्य गति और सज्वलन कषाय की अवस्था में देव गति को प्राप्त करते हैं[3]।

क्रोध खरावर्त—जल के आवर्त—भ्रमर की तरह होता है। मान उन्नतावर्त—पर्वत् आदि जैसी ऊँची जगह के चक्राव की तरह होता है। माया गूढावर्त—वनस्पति की गाठ की तरह होती है और लोभ आमिषावर्त—मांस के लिए पक्षी के चक्कर काटने की तरह होता है[4]।

अनन्तानुबधी क्रोध पर्वत की रेखा—दरार की तरह अमिट होता है। अप्रत्याख्यानी क्रोध पृथ्वीतल की रेखा–दरार की तरह कठिनाई से शांत होनेवाला होता है। प्रत्याख्यानी क्रोध वालू की रेखा की तरह शीघ्र मिटनेवाला होता है। संज्वलन क्रोध जल की रेखा की तरह और भी शीघ्र मिटनेवाला होता है[5]। गोम्मटसार में भी यही उदाहरण है[6]।

१—प्रथम कर्मग्रन्थ गा० १८

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरियनरअमरा।
सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा॥

२—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ४६

अतोमुहूत्त पक्ख छम्मास सखऽसखणतभव।
सजलणमादियाण वासणकालो दु णियमेण॥

३—(क) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८४-२८७, (नीचे पा० टि० ६, तथा ० २१६ पा० टि० २ ४ ६ में उद्धृत)

(ख) उपर्युक्त पा० टि० १

४—ठाणाङ्ग ४ ३ ३८५

५—वही ४ २ ३११

६—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८४

सिलपुढविभेदधूलीजलराइसमाणओ हवे कोहो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो॥

श्वेताम्बर विद्वानों ने इसके मत का स्फोटन करते हुए लिखा है— जो कषाय संविग्न और सर्व पाप की विरति से युक्त यति को भी क्रोधादि युक्त करता है—अप्रशमभाव युक्त करता है उसे संज्वलन-कषाय कहते हैं। शब्दादि विषयों को प्राप्त कर जिससे जीव बार-बार कषाय युक्त होता है वह संज्वलन कषाय है[१]।"

अनन्तानुबंधी कषाय सम्यग्दर्शन का उपघात करनेवाला होता है। जिस जीव के अनन्तानुबंधी क्रोध आदि में से किसी का उदय होता है उसके सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता। यदि पहले सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया हो और पीछे अनन्तानुबंधी कषाय का उदय हो जाय तो वह उत्पन्न हुआ सम्यग्दर्शन भी नष्ट हो जाता है[२]।

अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से किसी भी तरह की एकदेश या सर्वदेश विरति नहीं होती। इस कषाय के उदय से संयुक्त जीव महाव्रत या श्रावक के व्रतों को धारण नहीं कर सकता[३]।

प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से विरताविरति—एकदेश रूप संयम होने पर भी सकल चारित्र नहीं हो पाता[४]।

संज्वलन कषाय के उदय से यथाख्यात चारित्र का लाभ नहीं होता[५]।

यही बात दिगम्बर ग्रंथों में भी कही है[६]।

१—(क) संज्वलयति यतिं यत्संविग्नं सर्वपापविरतमपि।
तस्मात् संज्वलना इत्यप्रशमकरा निरुच्यन्ते।
(ख) शब्दादीन् विषयान् प्राप्य संज्वलयति यतो मुहुः।
ततः संज्वलनाह्वानं चतुर्थमिहोच्यते॥

२—तत्त्वा ८ १ भाष्य अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते। पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति।

३—तत्त्वा ८ १ भाष्य अप्रत्याख्यानकषायोदयाद्विरतिर्न भवति।

४—तत्त्वा ८ १ भाष्य प्रत्याख्यानावरणकषायोदयाद्विरताविरतिर्भवत्युत्तमचारित्रलाभस्तु न भवति।

५—तत्त्वा ८ १ : संज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति।

६—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८३ :
सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे।
घादंति वा कसाया चउसोल असंखलोगमिदा॥

२०—भय मोहनीय . जो कर्म निमित्त से या अनिमित्त ही भय उत्पन्न करे उसे भय मोहनीय कर्म कहते हैं।

२१—शोक मोहनीय जो कर्म शोक उत्पन्न करे उसे शोक मोहनीय कर्म कहते हैं।

२२—जुगुप्सा मोहनीय जो कर्म घृणा उत्पन्न करे उसे जुगुप्सा मोहनीय कर्म कहते हैं[1]। आचार्य पूज्यपाद जुगुप्सा की परिभाषा इस प्रकार करते हैं · ' यदुदयादात्मदोष-सवरण परदोषाविष्करण सा जुगुप्सा ।" अर्थात् जिसके उदय से आत्म-दोषो के सवरण—छिपाने की और पर-दोषो के आविष्करण—ढूढने की प्रवृत्ति होती है वह जुगुप्सा है।

२३—स्त्री-वेद जिस तरह पित्त के उदय से मधुर रस की अभिलाषा होती है वैसे ही जो कर्म पुरुष की अभिलाषा उत्पन्न करे उसे स्त्री-वेद कर्म कहते हैं। "जिसके उदय से जीव स्त्री-वेद सम्बन्धी भावो को प्राप्त होता है वह स्त्री-वेद है[2] ।"

स्त्री-वेद करीपाग्नि की तरह होता है। स्त्री की भोग इच्छा गोबर की आग की तरह धीरे-धीरे प्रज्वलित होती है और चिर काल तक धधकती रहती है[3]।

(२४) पुरुष-वेद जिस तरह श्लेष्म के उदय से आम्ल रस की अभिलाषा होती है वैसे ही जो कर्म स्त्री की अभिलाषा उत्पन्न करे उसे पुरुष वेद कर्म कहते हैं। आचार्य पूज्यपाद पुरुषवेद की परिभाषा इस प्रकार करते है · "जिसके उदय से जीव पुरुष सबधी भावो को प्राप्त होता है वह पुवेद है[4]।"

पुरुष वेद तृणाग्नि के सदृश होता है जैसे तृण की अग्नि शीघ्र जलती और बुझती है वैसे ही पुरुष शीघ्र उत्तेजित और शान्त होता है[5]।

(२५) नपुसक-वेद जिस तरह पित्त और श्लेष्म दोनो के उदय से मज्जिका की अभिलाषा होती है वैसे ही जो कर्म स्त्री और पुरुष दोनो की अभिलाषा उत्पन्न करे उसे नपुसक-वेद

१—प्रथम कर्मग्रन्थ २१

जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा।
सनिमित्तमन्नहावा त इह हासाइ मोहणिय ॥

२—तत्त्वा० ८ ९ सर्वार्थसिद्धि

यदुदयात्स्त्रैणान्भावान्प्रतिपद्यते स स्त्रीवेद

३—प्रथम कर्मग्रन्थ २२

पुरिसित्थितदुभयपइ अहिलसो जव्वसा हवइ सोउ।
थीनरनपुवेउदओ फुफुमतणनगरदाहसमो ॥

४—तत्त्वा० ८ ९ सर्वार्थसिद्धि

यस्योदयात्पौस्नान्भावानास्कन्दति स पुवेद

५—देखिए उपर्युक्त पा० टि० ३

अनन्तानुबंधी मान शल-स्तम्भ की तरह, अप्र० मान अस्थि-स्तम्भ की तरह प्र० मान दारु-स्तम्भ की तरह तथा सं मान तिनिसलता-स्तम्भ जैसा होता है[1]। गोम्मटसार में तिनिसलता के स्थान में 'वेत'—बेत है[2]।

अनन्तानुबंधी माया बांस की मूल की तरह अप्र० माया मेष के सींग की तरह, प्र माया गोमूत्र की धार की तरह और सं माया बांस की ऊपरी छाल की तरह वक्र होती है[3]। तत्त्वार्थभाष्य में सं० माया को निर्लेखनसदृशी कहा है। गोम्मटसार में खुरपी के सदृश[4]।

अनन्तानुबंधी लोभ किरमिच से रंगे वस्त्र की तरह, अप्र लोभ कर्दम से रंगे वस्त्र की तरह, प्र लोभ खंजन से रंगे हुए वस्त्र की तरह और सं लोभ हल्दी से रंगे हुए वस्त्र की तरह होता है[5]। गोम्मटसार में खंजन के रंग के स्थान में तनमल'—शरीर मल का उदाहरण है[6]। तत्त्वार्थभाष्य में किरमिच के रंग की जगह लाक्षाराग और खंजन के रंग के स्थान में कुसुम्भराग है[7]।

१७—हास्य मोहनीय : जो कर्म निमित्त से या अनिमित्त ही हास्य उत्पन्न करे उसे हास्य मोहनीय कर्म कहते हैं।

१८—रति मोहनीय जो कर्म रुचि प्रीति, राग उत्पन्न करे उसे रति मोहनीय कर्म कहते हैं।

१९—अरति मोहनीय जो कर्म अरुचि अप्रीति रूप उत्पन्न करता है उसे अरति मोहनीय कर्म कहते हैं।

१—ठाणाङ्ग ४.२.२९१

२—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८४

सलहिकट्ठवेत्तं णियभेएणणुहरंतओ माणो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो॥

३—ठाणाङ्ग ४.२.२९३

४—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८६

वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं॥

५—ठाणाङ्ग ४.२.२९३

६—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८७ :

किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दरायेण सरिसओ लोहो।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो॥

७—तत्त्वा ८.१० भाष्य :

अस्य लोभस्य तीव्रादिभावाश्रितानि निदर्शनानि भवन्ति। तद्यथा—लाक्षारागसदृशः कर्दमरागसदृशः कुसुम्भरागसदृशो हारिद्ररागसदृश इति।

पांच है सम्यक्त्व-वेदनीय, मिथ्यात्व-वेदनीय, सम्यग्मिथ्यात्व वेदनीय, कषाय-वेदनीय और नो-कषाय-वेदनीय[1]।

मोहनीय कर्म के बंध-हेतुओ का उल्लेख करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है "केवल-ज्ञानी, श्रुत, सघ, धर्म और देवो का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का बंध-हेतु है और कषाय के उदय से होनेवाला तीव्र आत्म-परिणाम चारित्रमोहनीय कर्म का[2]।"

निरावरण ज्ञानी को केवली कहते हैं[3]। केवली द्वारा प्ररूपित और गणधरो द्वारा रचित सांगोपांग ग्रंथ श्रुत हैं। रत्नत्रय से युक्त श्रमणो का गण सघ है अथवा रत्नत्रय से युक्त श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विद गण सघ है। पचमहाव्रत का जो साधन रूप है वह धर्म है अथवा अहिंसा लक्षण है जिसका वह धर्म है[4]। भवनवासी आदि देव हैं। केवली आदि का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का बंध-हेतु है। अवर्णवाद का अर्थ है 'असद्भूतदोषोदभावनम्'—जो दोष नही है उसका उद्भावन करना—कथन करना।

आगम मे कहा है—"अरिहन्तो का अवर्णवाद, धर्म का अवर्णवाद, आचार्य-उपाध्यायो का अवर्णवाद, सघ का अवर्णवाद और देवो का अवर्णवाद—इन पांच अवर्णवादो के होने से जीव धर्म की प्राप्ति नही कर सकता[5]।"

१—प्रज्ञापना २३ १

गोयमा! मोहणिज्जस्स कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव पंचविधे अणुभावे पन्नते तजहा—सम्मत्तवेयणिज्जे, मिच्छत्तवेयणिज्जे, सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे कसायवेयणिज्जे, नोकषायवेयणिज्जे।

२—तत्त्वा० ६ १४-१५

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।

कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्र मोहस्य।

३—सर्वार्थसिद्धि ६.१३ निरावरणज्ञाना केवलिन।

४—(क) तत्त्वा० भाष्य ६.१४ चातुर्वर्ण्यस्य सङ्घस्य पञ्चमहाव्रतसाधनस्य धर्मस्य

(ख) सर्वार्थसिद्धि ६.१३ रत्नत्रयोपेत श्रमणगण सघ। अहिंसालक्षणस्तदागम-देशितो धर्म।

५—ठाणाङ्ग ४.२६

कम कहते हैं। 'जिसके उदय से जीव नपुंसक संबंधी भावों को प्राप्त होता है वह नपुंसक-वेद है[1]।"

नपुंसक-वेद नगरदाह के समान है। जैसे नगरी की आग बहुत दिनों तक जलती रहती है और उसके बुझने में भी बहुत दिन लगते हैं उसी प्रकार नपुंसक की भोगेच्छा चिरकाल तक निवृत्त नहीं होती[2]।

तत्त्वार्थभाष्य में पुरुषवेद स्त्रीवेद और नपुंसकवेद की तुलना क्रमशः तृण काष्ठ और करीषाग्नि के साथ की गई है[3]। श्री नेमिचन्द्र ने इनकी तुलना तृण कारीष और इष्टपाक—भट्टी की अग्नि के साथ की है[4]। नपुंसकवेद को लेकर वे लिखते हैं 'नपुंसक कलुषचित्त वाला होता है। उसका वेदानुभव भट्टी की अग्नि की तरह अत्यन्त तीव्र होता है[5]।"

कर्मग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र और गोम्मटसार की तुलनाओं में स्पष्ट अन्तर है।

उपर्युक्त २१ प्रकृतियों में अनन्तानुबन्धी कषाय अप्रत्याख्यानी कषाय और प्रत्याख्यानी कषाय ये बारह कषाय सर्वघाती हैं[6]।

मोह कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि और चरित्रहीन बनता है। इसके अनुभाव

१—तत्त्वा ८ ९ सर्वार्थसिद्धि
यदुदयान्नापुंसकान्भावानुपव्रजति स नपुंसकवेदः

२—देखिए पृ ३१० पा टि ३

३—तत्त्वा ८ ९ भाष्य
तत्र पुरुषवेदादीनां तृणकाष्ठकरीषाग्नयो निदर्शनानि भवन्ति

४—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २७६ :
तिणकारिसिट्ठपागग्गिसरिसपरिणामवेयणुम्मुक्का।
अवगयवेदा जीवा सयसंभवणंतवरसोक्खा ॥

५—वही २७४ :
णवित्थी णव पुमं णउंसओ उहयलिंगविदिरित्तो।
इट्ठावग्गिसमाणगवेदणगरुओ कलुसचित्तो ॥

६—(क) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ३९ :
केवलणाणावरणं दंसणछक्कं कसायबारसयं।
मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधम्हि ॥

(ख) ठाणाङ्ग ४ ४ १ ५ टीका में उद्धृत
केवलणाणावरणं दंसणछक्कं च मोहबारसगं।
ता सव्वघाइसण्णा भवंति मिच्छत्तवीसइमं ॥

पाँच है सम्यक्त्व-वेदनीय, मिथ्यात्व-वेदनीय, सम्यग्मिथ्यात्व-वेदनीय, कषाय-वेदनीय और नो-कषाय-वेदनीय[1]।

मोहनीय कर्म के बध-हेतुओ का उल्लेख करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है "केवल-ज्ञानी, श्रुत, सघ, धर्म और देवो का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का बध-हेतु है और कषाय के उदय से होनेवाला तीव्र आत्म-परिणाम चारित्रमोहनीय कर्म का[2]।"

निरावरण ज्ञानी को केवली कहते हैं[3]। केवली द्वारा प्ररूपित और गणधरो द्वारा रचित सांगोपांग ग्रथ श्रुत हैं। रत्नत्रय से युक्त श्रमणो का गण सघ है अथवा रत्नत्रय से युक्त श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विद गण सघ है। पचमहाव्रत का जो साधन रूप है वह धर्म है अथवा अहिंसा लक्षण है जिसका वह धर्म है[4]। भवनवासी आदि देव हैं। केवली आदि का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का बध-हेतु है। अवर्णवाद का अर्थ है असद्भूतदोषोदभावनम्'—जो दोष नही है उसका उद्भावन करना—कथन करना।

आगम मे कहा है—"अरिहन्तो का अवर्णवाद, धर्म का अवर्णवाद, आचार्य-उपाध्यायो का अवर्णवाद, सघ का अवर्णवाद और देवो का अवर्णवाद—इन पांच अवर्णवादो के होने से जीव धर्म की प्राप्ति नही कर सकता[5]।"

१—प्रज्ञापना २३ १

गोयमा! मोहणिज्जस्स कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव पचविधे अणुभावे पन्नते तजहा—सम्मतवेयणिज्जे, मिच्छत्तवेयणिज्जे, सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे कसायवेयणिज्जे, नोकषायवेयणिज्जे।

२—तत्त्वा० ६ १४-१५

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।

कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्र मोहस्य।

३—सर्वार्थसिद्धि ६.१३ निरावरणज्ञाना केवलिन।

४—(क) तत्त्वा० भाष्य ६.१४ चातुर्वर्ण्यस्य सङ्घस्य पञ्चमहाव्रतसाधनस्य धर्मस्य

(ख) सर्वार्थसिद्धि ६.१३ रत्नत्रयोपेत श्रमणगण सघ। अहिंसालक्षणस्तदागम-देशितो धर्म।

५—ठाणाङ्ग ४ २६

कम कहते हैं। जिसके उदय से जीव नपुंसक संबंधी भावों को प्राप्त होता है वह नपुंसक-वेद है[१]।"

नपुंसक-वेद नगरदाह के समान है। जैसे नगरी की आग बहुत दिनों तक जलती रहती है और उसके बुझने में भी बहुत दिन लगते हैं उसी प्रकार नपुंसक की भोगेच्छा चिरकाल तक निवृत्त नहीं होती[२]।

तत्त्वार्थभाष्य में पुरुषवेद स्त्रीवेद और नपुंसकवेद की तुलना क्रमशः तृण काष्ठ और करीषाग्नि के साथ की गई है[३]। श्री नेमचन्द्र ने इनकी तुलना तृण कारीष और इष्टपाक—भट्ठी की अग्नि के साथ की है[४]। नपुंसकवेद को लेकर वे लिखते हैं "नपुंसक अनुपस्थित वाला होता है। उसका वेदानुभव भट्ठी की अग्नि की तरह अत्यन्त तीव्र होता है[५]।"

क्रमशः तत्त्वार्थसूत्र और गोम्मटसार की तुलनाओं में स्पष्ट अन्तर है।

उपर्युक्त २५ प्रकृतियों में अनन्तानुबन्धी कषाय अप्रत्याख्यानी कषाय और प्रत्याख्यानी कषाय ये बारह कषाय सर्वघाती हैं[१]।

मोह कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि और चरित्रहीन बनता है। इसके अनुभाव

१—तत्त्वा० ८.९ सर्वार्थसिद्धि
यदुदयान्नापुंसकान्भावानुपव्रजति स नपुंसकवेदः
२—देखिए पृ० ३१० पा० टि० ३
३—तत्त्वा० ८.१ भाष्य
तत्र पुरुषवेदादीनां तृणकाष्ठकरीषाग्नयो निदर्शनानि भवन्ति
४—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २७१
तिणकारिसिट्ठपागग्गिसरिसपरिणामवेयणुम्मुक्का।
अवगयवेदा जीवा सयसंभवणंतवरसोक्खा ॥
५—वही २७५
णवित्थी णेव पुमं णउंसओ उहयलिंगविदिरित्तो।
इट्ठावग्गिसमाणगवेदणगरुओ कलुसचित्तो ॥
६—(क) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ३९ :
केवलणाणावरणं दंसणछक्कं कसायबारसयं।
मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधम्हि ॥
(ख) ठाणाङ्ग ९.४.१०५ टीका में उद्धृत
केवलणाणावरणं दंसणछक्कं च मोहबारसगं।
ता सव्वघाइसन्ना भवंति मिच्छत्तवीसइमं ॥

पाँच है सम्यक्त्व-वेदनीय, मिथ्यात्व-वेदनीय, सम्यग्मिथ्यात्व-वेदनीय, कषाय-वेदनीय और नो-कषाय-वेदनीय[1]।

मोहनीय कर्म के बंध-हेतुओ का उल्लेख करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है "केवल-ज्ञानी, श्रुत, संघ, धर्म और देवो का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का बंध-हेतु है और कषाय के उदय से होनेवाला तीव्र आत्म-परिणाम चारित्रमोहनीय कर्म का[2]।"

निरावरण ज्ञानी को केवली कहते हैं[3]। केवली द्वारा प्ररूपित और गणधरो द्वारा रचित सांगोपांग ग्रंथ श्रुत हैं। रत्नत्रय से युक्त श्रमणो का गण संघ है अथवा रत्नत्रय से युक्त श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध गण संघ है। पंचमहाव्रत का जो साधन रूप है वह धर्म है अथवा अहिंसा लक्षण है जिसका वह धर्म है[4]। भवनवासी आदि देव हैं। केवली आदि का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का बंध-हेतु है। अवर्णवाद का अर्थ है असद्भूतदोषोद्भावनम्'—जो दोष नही है उसका उद्भावन करना—कथन करना।

आगम मे कहा है—"अरिहन्तो का अवर्णवाद, धर्म का अवर्णवाद, आचार्य-उपाध्यायो का अवर्णवाद, संघ का अवर्णवाद और देवो का अवर्णवाद—इन पांच अवर्णवादो के होने से जीव धर्म की प्राप्ति नही कर सकता[5]।"

१—प्रज्ञापना २३ १

गोयमा! मोहणिज्जस्स कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव पंचविधे अणुभावे पन्नते तंजहा—सम्मत्तवेयणिज्जे, मिच्छत्तवेयणिज्जे, सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे कसायवेयणिज्जे, नोकसायवेयणिज्जे।

२—तत्त्वा० ६ १४-१५

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।

कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्र मोहस्य।

३—सर्वार्थसिद्धि ६.१३ निरावरणज्ञाना केवलिन।

४—(क) तत्त्वा० भाष्य ६.१४ चातुर्वर्ण्यस्य सङ्घस्य पञ्चमहाव्रतसाधनस्य धर्मस्य

(ख) सर्वार्थसिद्धि ६.१३ रत्नत्रयोपेत श्रमणगण संघ। अहिंसालक्षणस्तदागम-देशितो धर्म।

५—ठाणाङ्ग ४ २६

दर्शनमोहनीय कर्म कैसे बंधता है इस विषय में आगम में निम्न वार्तालाप मिलता है[1]।

'हे भगवन् ! जीव कांक्षामोहनीय (दर्शनमोहनीय) कर्म किस प्रकार बाँधते हैं ?

'हे गौतम ! प्रमादरूप हेतु से और योग रूप निमित्त से जीव कांक्षामोहनीय कर्म का बंध करते हैं।'

'हे भगवन् ! वह प्रमाद कैसे होता है ?

'हे गौतम ! वह प्रमाद योग से होता है।"

'हे भगवन् ! वह योग किस से होता है ?"

'हे गौतम ! वह योग वीर्य से उत्पन्न होता है।

'हे भगवन् ! वह वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?

'हे गौतम ! वह वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है।"

"हे भगवन् ! यह शरीर किस से उत्पन्न होता है ?"

'हे गौतम ! यह शरीर जीव से उत्पन्न होता है। जब ऐसा है तब उत्थान, कर्म बल वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम है।"

सर्वार्थसिद्धि में चारित्र-मोहनीय कर्म के बंध हेतुओं का विस्तार इस रूप में मिलता है

स्वयं कषाय करना, दूसरों में कषाय उत्पन्न करना, तपस्वीजनों के चारित्र में दूषण लगाना, संक्लेश को पैदा करने वाले लिङ्ग (वेष) और व्रत को धारण करना आदि कषायवेदनीय के आस्रव हैं[2]।

सत्य धर्म का उपहास करना, दीन मनुष्य की दिल्लगी उड़ाना, कुत्सित राग को बढ़ानेवाला हँसी-मजाक करना, बहुत बकने व हँसने की आदत रखना आदि हास्य वेदनीय के आस्रव हैं[3]।

१—भगवती १.३

२—सर्वार्थसिद्धि ६.१४ : तत्र स्वपरकषायोत्पादनं तपस्विजनवृत्तदूषणं संक्लिष्टलिङ्गव्रतधारणादिः कषायवेदनीयस्यास्रवः।

३—वही ६.१४ : सद्धर्मोपहसनदीनातिहासकन्दर्पोपहासबहुप्रलापोपहासशीलतादिर्हास्यवेदनीयस्य।

नाना प्रकार की क्रीडाओ मे लगे रहना, व्रत और शील के पालन करने में रुचि न रखना आदि रतिवेदनीय के आस्रव हैं[1]।

दूसरो मे अरति उत्पन्न हो और रति का विनाश हो ऐसी प्रवृत्ति करना और पापी लोगो की सगति करना आदि अरति वेदनीय के आस्रव है[2]।

स्वय शोकातुर होना, दूसरो के शोक को वढाना तथा ऐसे मनुष्य का अभिनन्दन करना आदि शोकवेदनीय के आस्रव हैं[3]।

भय रूप अपना परिणाम और दूसरे को भय पैदा करना आदि भयवेदनीय के आस्रव के कारण हैं[4]।

सुखकर क्रिया और सुखकर आचार से घृणा करना और अपवाद करने मे रुचि रखना आदि जुगुप्सावेदनीय के आस्रव हैं[5]।

असत्य बोलने की आदत, अति सधानपरता, दूसरे के छिद्र ढूँढना और बढा हुआ राग आदि स्त्रीवेद के आस्रव हैं[6]।

क्रोध का अल्प होना, ईर्ष्या नही करना, अपनी स्त्री मे सतोप करना आदि पुरुषवेद के आस्रव हैं[7]।

प्रचुर मात्रा में कषाय करना, गुप्त इन्द्रिनो का विनाश करना और परस्त्री से बलात्कार करना आदि नपुसकवेदनीय के आस्रव हैं[8]।

मोहनीय कर्म के बध-हेतुओ का नामोल्लेख भगवती में इस प्रकार मिलता है—(१) तीव्र क्रोध, (२) तीव्र मान, (३) तीव्र माया, (४) तीव्र लोभ, (५) तीव्र दर्शन-

---

१—सर्वार्थसिद्धि ६ १४ विचित्रक्रीडनपरताव्रतशीलारुच्यादि रतिवेदनीयस्य।

२—वही ६ १४ परारतिप्रादुर्भावनरतिविनाशनपापशीलससर्गादि अरतिवेदनीयस्य।

३—वही ६.१४ स्वशोकोत्पादनपरशोकप्लुताभिनन्दनादि शोकवेदनीयस्य।

४—वही ६ १४ स्वभयपरिणामपरभयोत्पादनादिर्भयवेदनीयस्य।

५—वही ६ १४ कुशलक्रियाचारजुगुप्सापरिवादशीलत्वादिर्जुगुप्सावेदनीयस्य।

६—वही ६ १४ अलीकाभिधायितातिसन्धानपरत्वपररन्ध्रप्रेक्षित्वप्रवृद्धरागादि स्त्रीवेदनीयस्य।

७—वही ६ १४ स्तोकक्रोधानुत्सुकत्वस्वदारसन्तोषादि पुंवेदनीयस्य।

८—वही ६ १४ प्रचुरकषायगुह्येन्द्रियव्यपरोपणपराङ्गनावस्कन्दनादिर्नपुसकवेदनीयस्य।

दर्शनमोहनीय कर्म कैसे बंधता है इस विषय में आगम में निम्न वार्तालाप मिलता है[1] ।

"हे भगवन् ! जीव कांक्षामोहनीय (दर्शनमोहनीय) कर्म किस प्रकार बाँधते हैं ?

"हे गौतम ! प्रमादरूप हेतु से और योग रूप निमित्त से जीव कांक्षामोहनीय कर्म का बंध करते हैं ।"

"हे भगवन् ! यह प्रमाद कैसे होता है ?

"हे गौतम ! वह प्रमाद योग से होता है ।"

"हे भगवन् ! वह योग किस से होता है ?"

"हे गौतम ! वह योग वीर्य से उत्पन्न होता है ।"

"हे भगवन् ! वह वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?

"हे गौतम ! वह वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है ।

"हे भगवन् ! यह शरीर किस से उत्पन्न होता है ?"

"हे गौतम ! यह शरीर जीव से उत्पन्न होता है । जब ऐसा है तब उत्थान, कर्म बल वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम हैं ।"

सर्वार्थसिद्धि में चारित्र-मोहनीय कर्म के बंध हेतुओं का विस्तार इस रूप में मिलता है

स्वयं कषाय करना दूसरों में कषाय उत्पन्न करना तपस्वीजनों के चारित्र में दूषण लगाना संक्लेश को पैदा करने वाले लिङ्ग (वेष) और व्रत को धारण करना आदि कषायवेदनीय के आस्रव हैं[2] ।

सत्य धर्म का उपहास करना दीन मनुष्य की दिल्लगी उड़ाना कुत्सित राग को बढ़ानेवाला हंसी-मजाक करना बहुत बकने व हंसने की आदत रखना आदि हास्य वेदनीय के आस्रव हैं[3] ।

१—भगवती १ ३

२—सर्वार्थसिद्धि ६ १४ तत्र स्वपरकषायोत्पादनं तपस्विजनवृत्तदूषणं संक्लिष्टलिङ्गव्रतधारणादि कषायवेदनीयस्यास्रवः ।

३—वही ६ १४ : सद्धर्मोपहसनदीनातिहासकन्दर्पोपहासबहुप्रलापोपहासशीलतादि हास्यवेदनीयस्य ।

(१२-१३) ब्रह्मचारी नहीं होने पर भी अपने को ब्रह्मचारी प्रसिद्ध--व्यक्त करना, तथा कपट रूप से विषय सुखो मे आसक्त रहना।

(१४) गाव की जनता अथवा स्वामी के द्वारा समर्थ और धनवान बन जाने पर, फिर उन्ही लोगो के प्रति ईर्ष्या दोष या कलुषित मन से उनके सुखो में अन्तराय देने का सोचना या विघ्न उपस्थित करना।

(१५) अपने भर्ता—पालन करने वाले की हिंसा करना।

(१६) राष्ट्र-नायक, वणिक्-नायक अथवा किसी महा यशस्वी श्रेष्ठी को मारना।

(१७) नेता-स्वरूप अथवा अनेक प्राणियो के त्राता सदृश पुरुष को मारना।

(१८) दीक्षाभिलाषी, दीक्षित, सयत और सुतपस्वी पुरुष को धर्म से भ्रष्ट करना।

(१९) अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन युक्त जिनो की निन्दा करना।

(२०) सम्यग्ज्ञानदर्शन युक्त न्याय मार्ग की बुराई करना, धर्म के प्रति द्वेष और निन्दा के भावो का प्रचार करना।

(२१) जिस आचार्य या उपाध्याय की कृपा से श्रुत और विनय की शिक्षा प्राप्त हुई हो उसी की निन्दा करना।

(२२) आचार्य और उपाध्याय की सुमन से सेवा न करना।

(२३) अबहुश्रुत होते हुए भी अपने को बहुश्रुत व्यक्त करना और स्वाध्यायी न होने पर भी अपने को स्वाध्यायी व्यक्त करना।

(२४) तपस्वी न होते हुए भी अपने को तपस्वी घोषित करना।

(२५) सशक्त होते हुए भी अस्वस्थ अन्य साधु साध्वियो की सेवा इस भाव से न करना कि वे उसकी सेवा नही करते।

(२६) सर्वतीर्थो का भेद तथा धर्म-विमुख करने वाली हिंसात्मक और कामोत्तेजक कथाओ का बार-बार कहना।

(२७) आत्म-श्लाघा या मित्रता प्राप्ति के लिए अधार्मिक वशीकरण आदि योगो का बार-बार प्रयोग करना।

(२८) मानुषिक या दैविक भोगो की अतृप्ति पूर्वक अभिलाषा करना।

(२९) देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, बल और वीर्य की निन्दा करना।

(३०) 'जिन' के समान पूजा की इच्छा से नही देखते हुए भी मैं देव, यक्ष और गुह्यो को देख रहा हूँ ऐसा कहना।

मोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटा-कोटि सागरोपम की होती है[१]।

१—उत्त० ३३ २१

उदहीसरिसनामाण सत्तरि कोडिकोडीओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

मोहनीय और (६) तीव्र चारित्र मोहनीय[1]।

अन्य आगमों में मोहनीय कर्म के ३० बंध-हेतुओं का उल्लेख मिलता है[2]। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं

(१) त्रस प्राणियों को जल में डुबाकर जल के आक्रमण से उन्हें मारना।

(२) किसी प्राणी के नाक, मुख आदि इन्द्रिय-द्वारों को हाथ से ढँक अथवा अवरुद्ध कर मारना।

(३) बहुत प्राणियों को किसी स्थान में अवरुद्ध कर चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर धुए से दम घोंटकर मारना।

(४) दुष्ट चित्त से किसी प्राणी के उत्तमांग—सिर पर प्रहार करना है और मस्तक को फोड़कर विदीर्ण करना।

(५) किसी प्राणी के मस्तक को गीले चर्म से आवेष्टित करना।

(६) छल पूर्वक बार-बार भाले या डंडे से किसी को पीटकर अपने कार्य पर प्रसन्न होना या हँसना।

(७) अपने दोषों को छिपाना माया को माया से आच्छादित करना, झूठ बोलना सत्यार्थ का गोपन करना।

(८) किसी निर्दोष व्यक्ति पर मिथ्या आरोप कर अपने दुष्ट कार्यों को उसके सिर मढ़कर उसे कलंकित करना।

(९) जानते हुए भी किसी परिषद में सत्य-मृषा (सच और झूठ मिश्रित) कहना।

(१०) राजा का मंत्री होकर उसके प्रति जनता में विद्रोह कराना या विश्वासघात करना।

(११) बाल-ब्रह्मचारी नहीं होने पर भी अपने को बाल ब्रह्मचारी कहना तथा स्त्री-विषयक भोगों में लिप्त रहना।

१—भगवती ८ ९

गोयमा ! तिव्वकोहयाए, तिव्वमाणयाए, तिव्वमायाए, तिव्वलोभयाए, तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए, तिव्वचरित्तमोहणिज्जयाए

२—(क) समवायाङ्ग सम ३
(ख) दशाश्रुतस्कन्ध ९ ६
(ग) आवश्यक अ ४

(१२-१३) ब्रह्मचारी नही होने पर भी अपने को ब्रह्मचारी प्रसिद्ध--व्यक्त करना, तथा कपट रूप से विषय सुखो मे आसक्त रहना।

(१४) गांव की जनता अथवा स्वामी के द्वारा समर्थ और धनवान बन जाने पर, फिर उन्ही लोगो के प्रति ईर्ष्या दोष या कलुषित मन से उनके सुखो मे अन्तराय देने का सोचना या विघ्न उपस्थित करना।

(१५) अपने भर्ता—पालन करने वाले की हिंसा करना।

(१६) राष्ट्र-नायक, वणिक्-नायक अथवा किसी महा यशस्वी श्रेष्ठी को मारना।

(१७) नेता-स्वरूप अथवा अनेक प्राणियो के त्राता सदृश पुरुष को मारना।

(१८) दीक्षाभिलाषी, दीक्षित, सयत और सुतपस्वी पुरुष को धर्म से भ्रष्ट करना।

(१९) अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन युक्त जिनो की निन्दा करना।

(२०) सम्यग्ज्ञानदर्शन युक्त न्याय मार्ग की बुराई करना, धर्म के प्रति द्वेष और निन्दा के भावो का प्रचार करना।

(२१) जिस आचार्य या उपाध्याय की कृपा से श्रुत और विनय की शिक्षा प्राप्त हुई हो उसी की निन्दा करना।

(२२) आचार्य और उपाध्याय की सुमन से सेवा न करना।

(२३) अबहुश्रुत होते हुए भी अपने को बहुश्रुत व्यक्त करना और स्वाध्यायी न होने पर भी अपने को स्वाध्यायी व्यक्त करना।

(२४) तपस्वी न होते हुए भी अपने को तपस्वी घोषित करना।

(२५) सशक्त होते हुए भी अस्वस्थ अन्य साधु-साध्वियो की सेवा इस भाव से न करना कि वे उसकी सेवा नही करते।

(२६) सर्वतीर्थों का भेद तथा धर्म-विमुख करने वाली हिंसात्मक और कामोत्तेजक कथाओ का बार-बार कहना।

(२७) आत्म-श्लाघा या मित्रता प्राप्ति के लिए अधार्मिक वशीकरण आदि योगो का बार-बार प्रयोग करना।

(२८) मानुषिक या दैविक भोगो की अतृप्ति पूर्वक अभिलाषा करना।

(२९) देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, बल और वीर्य की निन्दा करना।

(३०) 'जिन' के समान पूजा की इच्छा से नही देखते हुए भी मैं देव, यक्ष और गुह्यो को देख रहा हूँ ऐसा कहना।

मोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटा-कोटि सागरोपम की होती है[१]।

१—उत्त० ३३ २१

उदहीसरिसनामाणं सत्तरिं कोडिकोडीओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

८—अन्तराय कर्म (गा० ३७-४२) :

अन्तराय का अर्थ है बीच में उपस्थित होना—विघ्न करना—व्याघात करना। जो कर्म क्रिया सक्ति भोग और बल-स्फोटन करने में अवरोध उपस्थित करे उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। इसकी तुलना राजा के भण्डारी के साथ की जाती है। राजा की दान देने की इच्छा होने पर भी यदि भण्डारी कहे कि खजाने में कुछ नहीं है तो राजा दान नहीं दे पाता वैसे ही अन्तराय कर्म के उदय से जीव की स्वाभाविक अनन्त काम-शक्ति कुण्ठित हो जाती है[1]।

अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं

(१) दान-अन्तराय कर्म इसका उदय दान देने में विघ्नकारी होता है। जो कर्म दान नहीं देने देता वह दानान्तराय कर्म है। मनुष्य सत्पात्र दान में पुण्य जानता है प्रासुक एषणीय वस्तु भी पास में होती है, सुपात्र संयमी—साधु भी उपस्थित होता है इस तरह सारे संयोग होने पर इस कर्म के उदय से जीव दान नहीं दे पाता।

(२) लाभ-अन्तराय कर्म यह वस्तुओं की प्राप्ति में बाधक होता है। जो कर्म उदित होने पर शब्द-गंध-रस-स्पर्श के लाभ अथवा ज्ञान-दर्शन चारित्र-तप आदि के लाभ को रोकता है वह लाभान्तराय कर्म कहलाता है। द्वारका जैसी नगरी में घूमते रहने पर भी ढंढण ऋषि को भिक्षा न मिली यह लाभान्तराय कर्म का उदय था।

(३) भोग-अन्तराय कर्म : जो वस्तु एक बार ही भोगी जा सके उसे भोग कहते हैं जैसे—खाद्य पेय आदि। जो कर्म भोग्य वस्तुओं के होने पर भी उन्हें भोगने नहीं देता उसे भोगान्तराय कर्म कहते हैं। दाँतों में पीड़ा होने पर सरस भोजन नहीं खाया जा सकता—यह भोगान्तराय कर्म का उदय है।

(४) उपभोग-अन्तराय कर्म : जो वस्तु बार-बार भोगी जा सके उसे उपभोग कहते हैं जैसे—मकान वस्त्र आदि। जो कर्म उपभोग वस्तुओं के होने पर भी उन्हें भोगने नहीं देता उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते हैं। वस्त्र आभूषण आदि होने पर भी बलभ्य के कारण उनका उपभोग न कर सकना उपभोग-अन्तराय कर्म का उदय है।

1—(क) ठाणाङ्ग २ ४ १ ५ की टीका

जीवं चादानादिकं चान्तरा एति—पततीत्यन्तरायम्, इदं चैवं—

जह राया दाणाई न कुणई भंडारिए विकूलंमि।

एवं जेणं जीवो कम्मं तं अंतरायंति ॥

(ख) देखिए पृ १ ३ पा टि २ (ग)

(५) वीर्य-अन्तराय कर्म वीर्य एक प्रकार की शक्ति विशेष[1] है। बौद्ध ग्रथो में भी इसी अर्थ मे वीर्य शब्द का प्रयोग मिलता है[2]। योग—मन-वचन-काय के व्यापार—वीर्य से उत्पन्न होते हैं[3]। ससारी जीव मे सत्तारूप मे अनन्त वीर्य होता है[4]। जो कर्म आत्मा के वीर्य-गुण का अवरोधक होता है—उसे वीर्यान्तराय कर्म कहते हैं। निर्वलता इसी कर्म का फल होता है[5]। कहा है 'वीर्य, उत्साह, चेष्टा, शक्ति पर्यायवाची शब्द हैं। जिस कर्म के उदय से कल्पायुष्यवाला युवा भी अल्प प्राणतावाला होता है उसे वीर्यान्तराय कर्म कहते हैं[6]।"

वीर्य तीन हैं (१) वाल-वीर्य जिसके थोडे भी त्याग-प्रत्याख्यान नही होते, जो अविरत होता है उस वाल का वीर्य वाल-वीर्य कहलाता है। (२) पण्डित-वीर्य जो सर्वविरत होता है उस पण्डित का वीर्य पण्डित वीर्य है। (३) वाल-पण्डित वीर्य जो कुछ अश मे त्यागी है और कुछ अश में अविरत, उस वाल-पण्डित का वीर्य वाल-पण्डित वीर्य है। वीर्यान्तराय कर्म इन तीनो प्रकार के वीर्यो का अवरोध करता है। इस कर्म के प्रभाव से जीव के उत्थान[7], कर्म[8], वल[9], वीर्य[10], और पुरुषकार-पराक्रम[11] क्षीण—हीन होते हैं।

१—ठाणाङ्ग १० १ ७४०

२—अगुत्तरनिकाय ५ १

३—भगवती १ ३

४—भगवती १ ८

५—यदुदयात् नीरोगस्य तरुणस्य बलवतोऽपि निर्वीर्यता स्यात् स वीर्यन्तराय

६—तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ८ १४ सिद्धसेन
तत्र कस्यचित् कल्पस्याप्युपचितवपुषोऽपि यूनोऽप्याल्पप्राणता यस्य कर्मण उदयात स वीर्यान्तराय इति।

७—उत्थान—चेष्टाविशेष (ठा० १.१ ४२ टीका)

८—कर्म—भ्रमणादि क्रिया (वही)

९—वल—शरीर-सामर्थ्य (वही)

१०—वीय—जीव से प्रभव शक्तिविशेष (वही)

११—पुरुषकार—अभिमान विशेष। पराक्रम—अभिमान विशेष को पूरा करने का प्रयत्न विशेष (वही पुरुषकारश्च—अभिमानविशेष पराक्रमश्च—पुरुषकार एव निष्पादितस्वविषय इति विग्रहे द्वन्द्वैकवद्भाव)

८—अन्तराय कर्म (गा० ३७-४२) :

अन्तराय का अर्थ है बीच में उपस्थित होना—विघ्न करना—व्याघात करना। जो कर्म क्रिया शक्ति भोग और बल-स्फोटन करने में अवरोध उपस्थित करे उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। इसकी तुलना राजा के भण्डारी के साथ की जाती है। राजा की दान देने की इच्छा होने पर भी यदि भण्डारी कहे कि खजाने में कुछ नहीं है तो राजा दान नहीं दे पाता वैसे ही अन्तराय कर्म के उदय से जीव की स्वाभाविक अनन्त कार्य-शक्ति कुण्ठित हो जाती है[1]।

अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं :

(१) *दान-अन्तराय कर्म : इसका उदय दान देने में विघ्नकारी होता है।* जो कर्म दान नहीं देने देता वह दानान्तराय कर्म है। मनुष्य सत्पात्र दान में पुण्य जानता है प्रासुक एषणीय वस्तु भी पास में होती है, सुपात्र संयमी—साधु भी उपस्थित होता है इस तरह सारे संयोग होने पर इस कर्म के उदय से जीव दान नहीं दे पाता।

(२) लाभ-अन्तराय कर्म : यह वस्तुओं की प्राप्ति में बाधक होता है। जो कर्म उदित होने पर शब्द-गंध रस-स्पर्श के लाभ अथवा ज्ञान-दर्शन चारित्र-तप आदि के लाभ को रोकता है वह लाभान्तराय कर्म कहलाता है। द्वारका जैसी नगरी में घूमते रहने पर *भी ढंढण ऋषि को भिक्षा न मिली यह लाभान्तराय कर्म का उदय था।*

(३) भोग-अन्तराय कर्म : जो वस्तु एक बार ही भोगी जा सके उसे भोग कहते हैं जैसे—खाद्य पेय आदि। जो कर्म भोग्य वस्तुओं के होने पर भी उन्हें भोगने नहीं देता उसे भोगान्तराय कर्म कहते हैं। दाँतों में पीड़ा होने पर सरस भोजन नहीं खाया जा सकता—यह भोगान्तराय कर्म का उदय है।

(४) उपभोग-अन्तराय कर्म : जो वस्तु बार-बार भोगी जा सके उसे उपभोग कहते हैं जैसे—मकान वस्त्र आदि। जो कर्म उपभोग वस्तुओं के होने पर भी उन्हें भोगने नहीं देता उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते हैं। वस्त्र आभूषण आदि होने पर भी वैधव्य के कारण उनका उपभोग न कर सकना उपभोग-अन्तराय कर्म का उदय है।

१—(क) ठाणाङ्ग २.४.१०५ की टीका :

जीवं चार्थसाधनं चान्तरा एति—पततीत्यन्तरायम्, इदं चैवं—

जह राया दाणाई ण कुणई भंडारिए विकूलंमि।

एवं जेणं जीवो कम्मं तं अंतरायंति॥

(ख) देखिए पृ० ३ ३ पा० टि० २ (ग)

(५) वीर्य-अन्तराय कर्म . वीर्य एक प्रकार की शक्ति विशेष[1] है। बौद्ध ग्रंथो में भी इसी अर्थ में वीर्य शब्द का प्रयोग मिलता है[2]। योग—मन-वचन-काय के व्यापार—वीर्य से उत्पन्न होते है[3]। ससारी जीव मे सत्तारूप मे अनन्त वीर्य होता है[4]। जो कर्म आत्मा के वीर्य-गुण का अवरोधक होता है—उसे वीर्यान्तराय कर्म कहते हैं। निर्बलता इसी कर्म का फल होता है[5]। कहा है 'वीर्य, उत्साह, चेष्टा, शक्ति पर्यायवाची शब्द हैं। जिस कर्म के उदय से कल्पायुष्यवाला युवा भी अल्प प्राणतावाला होता है उसे वीर्यान्तराय कर्म कहते है[6]।"

वीर्य तीन हैं (१) बाल-वीर्य जिसके थोडे भी त्याग-प्रत्याख्यान नही होते, जो अविरत होता है उस बाल का वीर्य बाल-वीर्य कहलाता है। (२) पण्डित-वीर्य जो सर्वविरत होता है उस पण्डित का वीर्य पण्डित वीर्य है। (३) बाल-पण्डित वीर्य जो कुछ अश में त्यागी है और कुछ अश में अविरत, उस बाल-पण्डित का वीर्य बाल-पण्डित वीर्य है। वीर्यान्तराय कर्म इन तीनो प्रकार के वीर्यो का अवरोध करता है। इस कर्म के प्रभाव से जीव के उत्थान[7], कर्म[8], बल[9], वीर्य[10], और पुरुषकार-पराक्रम[11] क्षीण—हीन होते हैं।

१—ठाणाङ्ग १० १ ७४०

२—अगुत्तरनिकाय ५ १

३—भगवती १ ३

४—भगवती १ ८

५—यदुदयात् नीरोगस्य तरुणस्य बलवतोऽपि निर्वीर्यता स्यात् स वीर्यन्तराय

६—तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ८ १४ सिद्धसेन .
तत्र कस्यचित् कल्पस्याप्युपचितवपुषोऽपि यूनोऽप्याल्पप्राणता यस्य कर्मण उदयात् स वीर्यान्तराय इति ।

७—उत्थान—चेष्टाविशेष (ठा० १.१४२ टीका)

८—कर्म—भ्रमणादि क्रिया (वही)

९—बल—शरीर-सामर्थ्य (वही)

१०—वीय—जीव से प्रभव शक्तिविशेप (वही)

११—पुरुपकार—अभिमान विशेष। पराक्रम—अभिमान विशेष को पूरा करने का प्रयत्न विशेष (वही पुरुषकारश्च—अभिमानविशेष पराक्रमश्च—पुरुषकार एव निष्पादितस्वविषय इति विग्रहे द्वन्द्वैकवद्भाव)

अन्तराय कर्म के दो भेद कहे गये हैं—

(१) प्रत्युत्पन्नविनाशी अ० कर्म—जिसके उदय से लब्ध वस्तुओं का विनाश हो और (२) पिहित आगामी-पथ अ० कर्म—लभ्य वस्तु के आगामी-पथ का—लाभ-मार्ग का अवरोध[1]।

इस कर्म के पाँच अनुभाव हैं—दानान्तराय लाभान्तराय भोगान्तराय और वीर्यान्तराय[2]।

श्री नेमिचन्द्र लिखते हैं—'अघाति होने पर भी अन्तराय कर्म को जो अघाति कर्मों के बाद रखा है उसका कारण यह है कि यह अघाति कर्मों के समान ही है क्योंकि यह कितना ही गाढ़ क्यों न हो जीव के वीर्य गुण को सर्वथा सम्पूर्णतः आच्छादित नहीं कर सकता[3]।

उत्थान, कर्म बल वीर्य पुरुषकार-पराक्रम ये जीव के परिणाम विशेष हैं। ये वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होते हैं।

केवलज्ञानावरणीय आदि पूर्व वर्णित घाति कर्मों के क्षय के साथ ही सब वीर्य अन्तराय कर्म का क्षय हो जाता है। इसके क्षय से निरतिशय—अनन्त वीर्य उत्पन्न होता है।

अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटाकोटी सागरोपम की होती है[4]।

१—ठाणाङ्ग २ ४ १ ४ १

अंतराइए कम्मे दुविहे पं० तं०—पडुप्पन्नविणासिए चेव पिहितआगामिपहं ।

२—प्रज्ञापना २३ १ १९

गोयमा ! अंतराइयस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पंचविहे अणुभावे पन्नत्ते, तंजहा दाणंतराए लाभंतराए, भोगंतराए, उवभोगंतराए वीरियंतराए जं वेदेति पोग्गलं वा जाव वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं वा तेसिं वा उदएणं अंतराइ कम्मं वेदेति

३—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) १७ :

घादीवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो ।
णामतियणिमित्तादो विग्घं पडिदं अघादिचरिमम्हि ॥

४—उत्त ३३ १९

अन्तराय कर्म के बंध-हेतुओं का नामोल्लख पहले आ चुका है[1]। हेमचन्द्रसूरि कहते हैं : "दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—इनमें कारण या विना कारण विघ्न करना अन्तराय कर्म के आस्रव हैं[2]।"

अन्तराय कर्म के विवेचन के साथ घनघाती-कर्मों का विवेचन सम्पूर्ण होता है। इन चार घनघाती-कर्मों में ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय ये दो आवरण-स्वरूप हैं। मोहनीय-कर्म विवेक को विकृत करता है। अन्तराय-कर्म विघ्न-रूप है।

प्रथम दो आवरणीय कर्मों के क्षय से जीव को निर्वाण रूप, सम्पूर्ण प्रतिपूर्ण अव्याहत, निरावरण, अनन्त और सर्वोत्तम केवल-ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होता है। जीव अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ तथा सर्वभावदर्शी होता है। विवेक को दूपित करने वाले मोहनीयकर्म के क्षय से शुद्ध अनन्त चारित्र उत्पन्न होता है। अन्तराय कर्म के क्षय से अनन्त-वीर्य प्रकट होता है। इस तरह घनघाती कर्मों का क्षय अनन्त-चतुष्टय की प्राप्ति का कारण होता है।

६—असाता वेदनीय-कर्म (गा० ४३-४४)

जिस कर्म से सुख दुःख का वेदन—अनुभव हो उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। वेदनीय कर्म दो प्रकार का है—(१) साता वेदनीय और (२) असाता वेदनीय। इस कर्म की तुलना मधु-लिप्त तलवार की धार से की गई है[3]। तलवार की धार में लगे हुये मधु को जीभ से चाटने के समान साता वेदनीय और तलवार की धार से जीभ के कटने की तरह असाता वेदनीय कर्म हैं[3]। जिस कर्म के उदय से सुख का अनुभव हो वह

१—देखिए पुण्य पदार्थ (ढा० २) टिप्पणी २३ पृ० २३०

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : सप्ततत्त्वप्रकरणम् गा० ११०.

दाने लाभे च वीर्ये च, तथा भोगोपभोगयोः।
सव्याजाव्याज विघ्नोन्तरायकर्मण आस्रवाः ॥

३—(क) ठाणाङ्ग २.४.१०५ टीका तथा वेद्यते—अनुभूयत इति वेदनीय, सातं—सुखं तद्रूपतया वेद्यते यत्तत्तथा, दीर्घत्व प्राकृतत्वात्, इतरद्—एतद्विपरीतम्, आह च—

महुलित्तनिसियकरवालधार जीहाए जारिस लिहणं।
तारिसय सुहदुहउप्पायगं मुणह ॥

(ख) प्रथम कर्मग्रन्थ १२ :

महुलित्तखग्गधारालिहण व दुहाउ वेयणिय ॥

अन्तराय कर्म के दो भेद कहे गये हैं—

(१) प्रत्युत्पन्नविनाशी अ० कर्म—जिसके उदय से लब्ध वस्तुओं का विनाश हो और

(२) पिहित-आगामी-पथ अ० कर्म—लभ्य वस्तु के आगामी-पथ का—लाभ-मार्ग का अवरोध[1]।

इस कर्म के पाँच अनुभाव हैं—दानान्तराय लाभान्तराय भोगान्तराय और वीर्यान्तराय[2]।

श्री नेमिचन्द्र लिखते हैं—'अघाति होने पर भी अन्तराय कर्म को जो घाति कर्मों के साथ रखा है उसका कारण यह है कि वह घाति कर्मों के समान ही है क्योंकि वह कितना ही गाढ़ क्यों न हो जीव के वीर्य गुण को सर्वथा सम्पूर्णतः आच्छादित नहीं कर सकता[3]।

उत्थान कर्म बल वीर्य पुरुषकार-पराक्रम ये जीव के परिणाम विशेष हैं। ये वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होते हैं।

केवलज्ञानावरणीय आदि पूर्व वर्णित घाति कर्मों के क्षय के साथ ही सब वीर्य अन्तराय कर्म का क्षय हो जाता है। इसके क्षय से निरतिशय—अनन्त वीर्य उत्पन्न होता है।

अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटाकोटी सागरोपम की होती है[4]।

१—ठाणाङ्ग २ ४ १ ५

अंतराइए कम्मे दुविहे पं० तं०—पडुप्पन्नविणासिए चेव पिहितआगामिपहं।

२—प्रज्ञापना २३ १ १९

गोयमा ! अंतराइयस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पंचविहे अणुभावे पन्नत्ते तंजहा दाणंतराए लाभंतराए, भोगंतराए, उवभोगंतराए, वीरियंतराए जं वेदेति पोग्गलं वा जाव वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं वा तेसिं वा उदएणं अंतराइं कम्मं वेदेति

३—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) १७ :

घादीवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो।
णामतियणिमित्तादो विग्घं पडिदं अघादिचरिमम्हि ॥

४—उत्त ३३ १९

श्रमण बोले · "भगवन् ! यह दु ख किसने किया ?"

भगवान बोले · "जीव ने ही यह दु ख अपने प्रमाद से उत्पन्न किया है ।"

श्रमण बोले—"भगवन् ! इस दु ख को कैसे भोगना चाहिए ?"

भगवान बोले—"अप्रमत्त हो इस दु ख को भोगना चाहिए[1]"। "अनगार विचारे—इस सुन्दर शरीरवाले अरिहत भगवान तक जब कर्मों को क्षय करनेवाले तपः कर्म को ग्रहण करते हैं तो मैं भी वैसा क्यो न करूँ ? यदि मैं ऐसे कष्टो को सहन नही करूँगा, तो मेरे कर्मों का नाश कैसे होगा ? उनके नाश करने का तो यही उपाय है कि कष्टो को सहन किया जाय । यह चौथी सुखशय्या है[2] ।"

१०—अशुभ आयुष्य-कर्म (गा० ४५-४६)

नाना गति के जीवो की जीवन-अवधि का निर्यामक कर्म आयुष्य-कर्म कहलाता है । इस कर्म की तुलना कारागृह से की जाती है[3] । जिस प्रकार अपराधी को न्यायाधीश कारागृह की सजा दे दे तो इच्छा करने पर भी अपराधी उससे मुक्त नही हो सकता, उसी प्रकार जब तक आयु-कर्म रहता है तब तक आत्मा देह का त्याग नही कर सकता । इसी प्रकार आयु शेष होने पर जीव देह-स्थित नही रह सकता । आयुष्य-कर्म न सुख का कर्त्ता है और न दु ख का । आयुष्य-कर्म देह-स्थित जीव को केवल अमुक काल मर्यादा तक धारण कर रखता है[4] । कहा है--"जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हलिव्व णरं" (गो० कर्म० ११)

श्री अकलङ्कदेव ने आयुष्य की परिभाषा इस प्रकार की है "जिसके होने पर जीव जीवित और जिसके अभाव में वह मृत कहलाता है वह आयु है । आयु भवधारण का हेतु है[5]"

१—ठाणाङ्ग ३ १ १६६

२—ठाणाङ्ग ४.३ ३२५

३—प्रथम कर्मग्रन्थ २३ :

सुरनरतिरिनिरयाऊ हडिसरिसं . ।

४—ठाणाङ्ग २.४ १०५ टीका :

दुक्ख न देइ आउ नविय सुहं देइ चउसुवि गईसुं ।
दुक्खसुहाणाहारं धरेइ देहट्ठियं जीयं ॥

५—तत्त्वार्थवार्तिक ८.१०.२ :

यद्भावाभावयोर्जीवितमरण तदायु · ।२। यस्य भावात् आत्मन· जीवितं भवति यस्य चाभावात् मृत इत्युच्यते तद्भवधारणमायुरित्युच्यते ।

साता वेदनीय है। जिस कर्म के उदय से जीव को दुःख रूप अनुभव हो वह असाता वेदनीय है।

पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं होते। इष्ट अनिष्ट का भाव अज्ञान और मोह से उत्पन्न होता है—राग द्वेष से उत्पन्न होता है। अनुकूल विषयों के न मिलने से तथा प्रतिकूल विषयों के संयोग से जो दुःख होता है वह असाता वेदनीय कर्म के उदय का परिणाम है। उसके फल स्वरूप अनेक प्रकार के—शारीरिक और मानसिक दुःखों का अनुभव होता है[1]।

असाता वेदनीय कर्म आठ प्रकार के हैं। (१) अमनोज्ञ शब्द (२) अमनोज्ञ रूप (३) अमनोज्ञ स्पर्श (४) अमनोज्ञ गंध (५) अमनोज्ञ रस (६) मन दुःखता (७) वाग् दुःखता और (८) काय दुःखता[2]।

असाता वेदनीय के अनुभाव इन्हीं आठ भेदों के अनुसार तद्रूप आठ हैं[3]।

अमनोज्ञ शब्द रूप गंध स्पर्श और इनसे होनेवाला दुःख तथा मानसिक वाचिक और कायिक दुःखता असाता वेदनीय कर्म के उदय का परिणाम है।

असाता वेदनीय कर्म के बंध-हेतुओं का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है[4]।

एक बार श्रमण भगवान महावीर ने गौतमादि श्रमणों को बुलाकर पूछा—"श्रमणो! जीव को किसका भय है?"

श्रमण बोले—"भगवन्! हम नहीं जानते। आप ही हमें बतावें?"

भगवान ने उत्तर दिया—"श्रमणो! जीवों को दुःख का भय है।"

१—तत्त्वा० ८.८ : सर्वार्थसिद्धि : यदुदयाद्देवादिगतिषु शरीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम्। प्रशस्तं वेद्यं सद्वेद्यमिति। यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम्। अप्रशस्तं वेद्यमसद्वेद्यमिति।

२—प्रज्ञापना २३.१.१५ :
असायावेयणिज्जे णं भंते! कम्मे कतिविहे पन्नत्ते? गोयमा! अट्ठविहे पन्नत्ते, तंजहा—अमणुन्ना सद्दा जाव कायदुहया।

३—प्रज्ञापना २३.१.८ :
असायावेयणिज्जस्स णं भंते! कम्मस्स जीवस्स तहेव पुच्छा उत्तरं च णवरं अमणुन्ना सद्दा जाव कायदुहया एस णं गोयमा! असायावेयणिज्जे कम्मे एस णं गोयमा! असायावेयणिज्जस्स जाव अट्ठविहे अणुभावे पन्नत्ते॥

४—देखिए पुण्य पदार्थ (ढाल १) टि० ११ १४ १५ (पृ० १२ -२१० २१४)

श्रमण बोले · "भगवन् ! यह दु ख किसने किया ?"

भगवान बोले · "जीव ने ही यह दु ख अपने प्रमाद से उत्पन्न किया है।"

श्रमण बोले—"भगवन् ! इस दु ख को कैसे भोगना चाहिए ?"

भगवान बोले—"अप्रमत्त हो इस दु ख को भोगना चाहिए[1]"। "अनगार विचारे—इस सुन्दर शरीरवाले अरिहत भगवान तक जव कर्मों को क्षय करनेवाले तपः कर्म को ग्रहण करते हैं तो मैं भी वैसा क्यो न करूँ ? यदि मैं ऐसे कष्टो को सहन नही करूँगा, तो मेरे कर्मों का नाश कैसे होगा ? उनके नाश करने का तो यही उपाय है कि कष्टो को सहन किया जाय। यह चौथी सुखशय्या है[2]।"

१०—अशुभ आयुष्य-कर्म (गा० ४५-४६) ·

नाना गति के जीवो की जीवन-अवधि का नियमिक कर्म आयुष्य-कर्म कहलाता है। इस कर्म की तुलना कारागृह से की जाती है[3]। जिस प्रकार अपराधी को न्यायाधीश कारागृह की सजा दे दे तो इच्छा करने पर भी अपराधी उससे मुक्त नही हो सकता, उसी प्रकार जव तक आयु-कर्म रहता है तव तक आत्मा देह का त्याग नही कर सकता। इसी प्रकार आयु शेष होने पर जीव देह-स्थित नही रह सकता। आयुष्य-कर्म न सुख का कर्त्ता है और न दु ख का। आयुष्य-कर्म देह-स्थित जीव को केवल अमुक काल मर्यादा तक धारण कर रखता है[4]। कहा है--"जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हलिव्व णरं" (गो० कर्म० ११)

श्री अकलङ्कदेव ने आयुष्य की परिभाषा इस प्रकार की है "जिसके होने पर जीव जीवित और जिसके अभाव में वह मृत कहलाता है वह आयु है। आयु भवधारण का हेतु है[5]"

१—ठाणाङ्ग ३ १ १६६

२—ठाणाङ्ग ४.३.३२५

३—प्रथम कर्मग्रन्थ २३ .

सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिस. . ।

४—ठाणाङ्ग २ ४. १०५ टीका .

दुक्खं न देइ आउ नविय सुहं देइ चउसुवि गईसु।
दुक्खसुहाणाहारं धरेइ देहट्ठियं जीयं॥

५—तत्त्वार्थवार्तिक ८ १० २ :

यद्भावाभावयोर्जीवितमरणं तदायु : ।२। यस्य भावात् आत्मन जीवितं भवति यस्य चाभावात् मृत इत्युच्यते तद्भवधारणमायुरित्युच्यते। -

जिस कर्म के उदय से जीव को अमुक गति—भव का जीवन बिताना पड़े उसे आयुष्य-कर्म कहते हैं। इसके अनुभाव चार हैं—नरकायुष्य, तिर्यञ्चायुष्य, मनुष्यायुष्य और देवायुष्य[1]।

गतियों की अपेक्षा से आयुष्य-कर्म चार प्रकार के हैं :

(१) नरकायुष्य कर्म : जिसका उदय तीव्र शीत और तीव्र उष्ण वेदनावाले नरकों में दीर्घजीवन का निमित्त होता है वह नरकायुष्य-कर्म कहलाता है[2]।

(२) तिर्यञ्चायुष्य कर्म : जिसके उदय से क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण आदि अनेक उपद्रवों के स्थानभूत तिर्यञ्च-भव में वास हो उसे तिर्यञ्चायुष्य कर्म कहते हैं[3]।

(३) मनुष्यायुष्य कर्म : जिसके उदय से शारीरिक और मानसिक सुख-दु:ख से समाकुल मनुष्य-भव में जन्म हो उसे मनुष्यायुष्य कर्म कहते हैं[4]।

(४) देवायुष्य कर्म : जिसके उदय से शारीरिक और मानसिक अनेक सुखों से प्राय: युक्त देवों में जन्म हो उसे देवायुष्य कर्म कहते हैं[5]।

नरकायुष्य कर्म निश्चय ही अशुभ है और पाप-कर्म की कोटि का है। स्वामीजी के मत से कुदेव, कुमनुष्य और कई तिर्यञ्चों का आयुष्य भी अशुभ है और पाप-कर्म की कोटि का है (देखिए टि० ७ पृ० ११०-१२)।

अशुभ आयुष्य कर्म के बंध-हेतुओं का विवेचन पहले आ चुका है (देखिए टि० ५ पृ० २०१; टि० ६ पृ० २१...; टि० ७ पृ० २११; टि० १७ पृ० २२४; टि० १८ पृ० २२५)।

१—प्रज्ञापना २३.१
　गोयमा ! आउयस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव चउव्विहे अणुभावे पन्नत्ते तंजहा—नेरइयाउते तिरियाउते, मणुयाउए देवाउए।

२—तत्त्वार्थवार्तिक ८.१०.५ :
　नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं तन्नारकायुः

३—वही ८.१०.६
　क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिकृतोपद्रवप्रचुरेषु तिर्यक्षु यस्योदयाद्वसनं तत्तैर्यग्योनम्

४—वही ८.१०.७ :
　शारीरमानससुखदुःखभूयिष्ठेषु मनुष्येषु जन्मोदयात् मनुष्यायुः

५—वही ८.१०.८ :
　शारीरमानससुखप्रायेषु देवेषु जन्मोदयात् देवायुः

११—अशुभ नाम कर्म (गा० ४६-५६) :

नाम कर्म का अर्थ करते हुए कहा गया है—"जो कर्म जीव को गत्यादि पर्यायो को अनुभव करने के लिए बाध्य करे वह नाम कर्म है[1] ।"

श्री नेमिचन्द्र लिखते हैं "जो कर्म जीवो मे गति आदि के भेद उत्पन्न करता है, जो देहादि की भिन्नता का कारण है तथा जिससे गत्यतर जैसे परिणमन होते हैं वह नाम कर्म है[2] ।"

इस कर्म की तुलना चित्रकार से की गई है। जिस प्रकार चतुर चित्रकार विचित्र वर्णो से शोभन-अशोभन, अच्छे-बुरे, रूपो को करता है उसी प्रकार नाम कर्म इस ससार में जीव के शोभन-अशोभन, इष्ट-अनिष्ट अनेक रूप करता है। जो कर्म विचित्र पर्यायो मे परिणमन का हेतु होता है वह नामकर्म है[3] ।

नाम कर्म दो प्रकार के होते हैं (१) शुभ और (२) अशुभ। जो शुभ हैं वे पुण्य रूप हैं और जो अशुभ हैं वे पाप रूप[4] ।

शुभ नाम कर्म के कुल भेद साधारणत ३७ माने जाते हैं[5] और अशुभ नाम कर्म के कुल ३४[6] ।

नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ और उनके उपभेद का पुण्य पाप रूप वर्गीकरण निम्न प्रकार है

१—प्रज्ञापना २३ १.२८८ टीका

नामयति—गत्यादि पर्यायानुभवन प्रति प्रवयणति जीवमिति नाम

२—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) १२

गदिआदि जीवभेद देहादी पोग्गलाण भेद च।
गदियतरपरिणमन करेदि णाम अणेयवि ॥

३—ठाणाङ्ग २-४ १०५ टीका

विचित्रपर्यायैर्नमयति—परिणमयति यज्जीव तन्नाम, एतत्स्वरूप च—
जह चित्तयरो निउणो अणेगरूवाइ कुणइ रूवाइं।
सोहणमसोहणाइ चोक्खमचोक्खेहि वण्णेहि ॥
तह नामंपि हु कम्म अणेगरूवाइं कुणइ जीवस्स ।
सोहणमसोहणाइं इट्ठाणिट्ठाइ लोयस्स ॥

४—उत्त० ३३.१३

नामं कम्म तु दुविह सुहमसुहं च आहियं ।
सुहस्स उ बहू भेया एमेव असुहस्सवि ॥

५—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह : नवतत्त्वप्रकरणम् ७ भाष्य ३७

सत्तत्तीसं नामस्स, पयईओ पुन्नमाहु (हु) ता य इमो ।

६—वही ८ भाष्य ४६

मोह छव्वीसा एसा, एसा पुण होइ नाम चउतीसा ।

उत्तर प्रकृतियाँ		रूपभेद	
		पुण्यरूप	पापरूप
१—गतिनाम	१		नरकगतिनाम (१)
	२		तिर्यञ्चगतिनाम (२)
	३	मनुष्यगतिनाम (१)	
	४	देवगतिनाम (२)	
२—जातिनाम	५		एकेन्द्रियजातिनाम (३)
	६		द्वीन्द्रियजातिनाम (४)
	७		त्रीन्द्रियजातिनाम (५)
	८		चतुरिन्द्रियजातिनाम (६)
	९	पञ्चेन्द्रियजातिनाम (३)	
३—शरीरनाम	१०	औदारिकशरीरनाम (४)	
	११	वैक्रियशरीरनाम (५)	
	१२	आहारकशरीरनाम (६)	
	१३	तैजसशरीरनाम (७)	
	१४	कार्मणशरीरनाम (८)	
४—शरीर-अङ्गोपांगनाम	१५	औदारिकशरीर-अङ्गोपांग नाम (९)	
	१६	वैक्रियशरीर-अङ्गोपांगनाम (१०)	
	१७	आहारकशरीर-अंगोपाङ्गनाम (११)	
५—संहननलाम	१८	वज्रऋषभनाराचसंहननलाम (१२)	
	१९		ऋषभनाराचसंहननलाम (७)
	२०		नाराचसंहननलाम (८)
	२१		अर्द्धनाराचसंहननलाम (९)
	२२		कीलिकासंहननलाम (१०)
	२३		सेवार्तसंहननलाम (११)

६—संस्थाननाम	२४	समचतुरस्रसंस्थाननाम (१३)	
	२५		न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थाननाम (१२)
	२६		सादिसस्थाननाम (१३)
	२७		वामनसस्थाननाम (१४)
	२८		कुब्जसस्थाननाम (१५)
	२९		हुडसस्थाननाम (१६)
७—वर्णनाम	३०	शुभवर्णनाम (१४)	
	३१		अशुभवर्णनाम (१७)
८—गन्धनाम	३२	सुरभिगधनाम (१५)	
	३३		दुरभिगधनाम (१८)
९—रसनाम	३४	शुभरसनाम (१६)	
	३५		अशुभरसनाम (१९)
१०—स्पर्शनाम	३६	शुभस्पर्शनाम (१७)	
	३७		अशुभस्पर्शनाम (२०)
११—अगुरुलघुनाम	३८	अगुरुलघुनाम (१८)	
१२—उपघातनाम	३९		उपघातनाम (२१)
१३—पराघातनाम	४०	पराघातनाम (१९)	
१४—आनुपूर्वीनाम	४१		नरकानुपूर्वीनाम (२२)
	४२		तिर्यञ्चानुपूर्वीनाम (२३)
	४३	मनुष्यानुपूर्वीनाम (२०)	
	४४	देवानुपूर्वीनाम (२१)	
१५—उच्छ्वासनाम	४५	उच्छ्वासनाम (२२)	
१६—आतपनाम	४६	आतपनाम (२३)	
१७—उद्योतनाम	४७	उद्योतनाम (२४)	
१८—विहायोगतिनाम	४८	प्रशस्तविहायोगतिनाम (२५)	
	४९		अप्रशस्तविहायोगतिनाम (२४)
१९—त्रसनाम	५०	त्रसनाम (२६)	

२०—स्थावरनाम	५१		स्थावरनाम	(२५)
२१—सूक्ष्मनाम	५२		सूक्ष्मनाम	(२६)
२२—बादरनाम	५३ बादरनाम	(२७)		
२३—पर्याप्तनाम	५४ पर्याप्तनाम	(२८)		
२४—अपर्याप्तनाम	५५		अपर्याप्तनाम	(२७)
२५—साधारण-शरीरनाम	५६		साधारणशरीरनाम	(२८)
२६—प्रत्येकशरीर नाम	५७ प्रत्येकशरीरनाम	(२९)		
२७—स्थिरनाम	५८ स्थिरनाम	(३०)		
२८—अस्थिरनाम	५९		अस्थिरनाम	(२९)
२९—शुभनाम	६ शुभनाम	(३१)		
३ —अशुभनाम	६१		अशुभनाम	(३०)
३१—सुभगनाम	६२ सुभगनाम	(३२)		
३२—दुर्भगनाम	६३		दुर्भगनाम	(३१)
३३—सुस्वरनाम	६४ सुस्वरनाम	(३३)		
३४—दुःस्वरनाम	६५		दुःस्वरनाम	(३२)
३५—आदेयनाम	६६ आदेयनाम	(३४)		
३६—अनादेयनाम	६७		अनादेयनाम	(३३)
३७—यशःकीर्तिनाम	६८ यशःकीर्तिनाम	(३५)		
३८—अयशःकीर्ति-नाम	६९		अयशःकीर्तिनाम	(३४)
३९—निर्माणनाम	७ निर्माणनाम	(३६)		
४ —तीर्थंकरनाम	७१ तीर्थंकरनाम	(३७)		

उपर्युक्त विवेचन में क्रम ५ में उल्लिखित शरीर-अंगोपांग उत्तर-प्रकृति के बाद आगमों में 'शरीरबंधननाम' और 'शरीरसंघातनाम' इन दो उत्तर प्रकृतियों का नामोल्लेख अधिक है। इस तरह नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियों की कुल संख्या ४०+२=४२ होती है। आगमों में इसी संख्या का उल्लेख पाया जाता है[1]।

१—समवायांग सम ४२; प्रज्ञापना २३.२.२९३

जो कर्म पहले बंधे हुए तथा वर्तमान में बंधनेवाले औदारिक आदि शरीर के पुद्गलो का आपस में लाख के समान सम्बन्ध करता है उस कर्म को बन्धननामकर्म कहते हैं।

जैसे दताली तृण-समूह को इकट्ठा करती है वैसे ही जो कर्म गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो को इकट्ठा करता है—उनका सानिध्य करता है उसे संघातनामकर्म कहते हैं।

शरीर के पांच भेदो के अनुसार इन दोनो उत्तर प्रकृतियो के अवान्तर भेद निम्न प्रकार पांच-पांच हैं :

शरीरबंधननाम
(१) औदारिकशरीरबंधननाम
(२) वैक्रियशरीरबंधननाम
(३) आहारकशरीरबंधननाम
(४) तैजसशरीरबंधननाम
(५) कार्मणशरीरबंधननाम

शरीरसंघातनाम
(१) औदारिकशरीरसंघातनाम
(२) वैक्रियशरीरसंघातनाम
(३) आहारकशरीरसंघातनाम
(४) तैजसशरीरसंघातनाम
(५) कार्मणशरीरसंघातनाम

इसी तरह वर्णनाम (क्र० ७), रसनाम (क्र० ९) और स्पर्शनाम (क्र० १०) के वर्णित दो दो कुल ६ उपभेदों के स्थान मे उनके उपभेद आगम में इस प्रकार उपलब्ध हैं
वर्णनाम—कृष्णवर्णनाम, नीलवर्णनाम, लोहितवर्णनाम, हारिद्रवर्णनाम, श्वेतवर्णनाम।
रसनाम—तिक्तरसनाम, कटुरसनाम, कषायरसनाम, आम्लरसनाम, मधुररसनाम।
स्पर्शनाम—कर्कशस्पर्शनाम, मृदुस्पर्शनाम, गुरुस्पर्शनाम, लघुस्पर्शनाम, स्निग्धस्पर्शनाम, रूक्षस्पर्शनाम, शीतस्पर्शनाम, उष्णस्पर्शनाम।

यहाँ उक्त उत्तर प्रकृतियो को गिनने से नामकर्म के कुल भेद ६५ (७१−६)+५+५+५+५+८=९३ होते हैं। यही संख्या श्वेताम्बर दिगम्बर सर्वमान्य है[1]।

१—(क) प्रज्ञापना २३.२.२९३
(ख) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) : २२

नाम कर्म की पुण्य-प्रकृतियों का विवेचन पुण्य पदार्थ की ढाल में किया जा चुका है। पाप प्रकृतियों का विवेचन यहाँ गा० ४५ से ५६ में है। यहाँ उनपर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है

(१) नरकगतिनाम नारकत्व आदि पर्याय-परिणति को गति कहते हैं। जिस कर्म का उदय नरक-भव की प्राप्ति का कारण हो उसे 'नरकगतिनाम कर्म' कहते हैं।

(२) तिर्यञ्चगतिनाम : जिस कर्म के उदय से तिर्यञ्च भव की प्राप्ति हो उसे 'तिर्यञ्च गतिनाम कर्म' कहते हैं। पशु, पक्षी तथा वृक्ष आदि एकेन्द्रिय जीव इसी कर्म के उदय वाले हैं।

(३) एकेन्द्रियजातिनाम : जो कर्म जीव की जाति—सामान्यकोटि का नियामक हो उसे जातिनाम कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव केवल स्पर्शनेन्द्रिय का धारक एकेन्द्रिय पृथ्वी, अप्, वायु, तैजस और वनस्पतिकाय जाति का जीव हो उसे एकेन्द्रियजाति नामकर्म' कहते हैं

(४) द्वीन्द्रियजातिनाम : जिस कर्म के उदय से जीव द्वीन्द्रिय—स्पर्श और जिह्वा मात्र धारण करने वाली जीव-जाति में जन्म ग्रहण करे उसे 'द्वीन्द्रियजाति नाम कर्म' कहते हैं। कृमी सीप शंख आदि द्वीन्द्रिय जाति के जीव हैं।

(५) त्रीन्द्रियजातिनाम जिस कर्म के उदय से जीव त्रीन्द्रिय—स्पर्श जिह्वा और घ्राण मात्र धारण करनेवाली जीव-जाति में जन्म ग्रहण करे उसे 'त्रीन्द्रियजातिनामकर्म' कहते हैं। कुन्थु पिपीलिका आदि इस कर्म के उदयवाले जीव हैं।

(६) चतुरिन्द्रियजातिनाम : जिस कर्म के उदय से जीव चतुरिन्द्रिय—स्पर्श जिह्वा घ्राण और चक्षु मात्र धारण करनेवाली जीव-जाति में जन्म ग्रहण करे उसे 'चतुरिन्द्रिय-जातिनामकर्म' कहते हैं। मक्खिका मशक कीट, पतंग आदि इसी कर्म के उदयवाले हैं।

(७) ऋषभनाराचसंहनननाम : हाड़बंध की विशिष्ट रचना का निमित्त कर्म संहनननाम कर्म कहलाता है। जिस कर्म के उदय से ऋषभनाराचसंहनन प्राप्त हो वह 'ऋषभनाराच-संहनननामकर्म' है। दोनों ओर अस्थियाँ मर्कट-बन्ध से बँधी हों और उनके ऊपर पट्ट की तरह अन्य अस्थि का वेष्टन हो वैसे अस्थिबंध को 'ऋषभनाराचसंहनन' कहते हैं।

(८) नाराचसंहनननाम : जिस कर्म के उदय से नाराचसंहनन प्राप्त हो उसे 'नाराचसंहनन-नामकर्म' कहते हैं। ऊपर ऋषभ=पट्ट का वेष्टन न हो केवल दोनों ओर मर्कट-बंध हो उस अस्थिबंध को नाराचसंहनन कहते हैं।

(९) **अर्द्धनाराचसंहनननाम** जिस कर्म के उदय से अर्द्धनाराचसहन न प्राप्त हो उसे 'अर्द्धनाराचसहनननामकर्म' कहते हैं। जिस अस्थि-बंध में एक ओर मर्कट-बंध हो और दूसरी ओर अस्थि-कीलिका का बंध उसे अर्द्धनाराचसहनन कहते हैं।

(१०) **कीलिकासहनननाम** . जिस कर्म के उदय से कीलिकासहनन प्राप्त हो उसे 'कीलिकासहनननामकर्म' कहते हैं। जिस बंध में दोनो ओर अस्थियाँ अस्थि-कीलिकाओ से बंधी हो उसे कीलिकासहन कहते हैं।

(११) **सेवार्तसहनननाम** . जिस कर्म के उदय से सेवार्तसहनन प्राप्त हो उसे 'सेवार्त-सहनननामकर्म' कहते हैं। इस बंध में अस्थियो के किनारे परस्पर मिले होते हैं, उनमें कीलिका-बंध भी नही होता।

(१२) **न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थाननाम** शरीर की विविध आकृतियो के निमित्त कर्म को सस्थाननाम कहते हैं। जिस कर्म के उदय से न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थान प्राप्त हो वह 'न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थाननामकर्म' कहलाता है। न्यग्रोध=वट। वटवृक्ष की तरह नाभि के ऊपर का भाग प्रमाणानुसार और लक्षणयुक्त हो और नीचे का भाग वैसा न हो उसे न्यग्रोधपरिमण्डलसस्थान कहते हैं।

(१३) **सादिसंस्थाननाम** जो कर्म सादिसस्थान का निमित्त हो उसे 'सादिसस्थान नामकर्म' कहते हैं। नाभि के नीचे के अग प्रमाणानुसार और लक्षणयुक्त हो और नाभि के ऊपर के अग वैसे न हो उसे सादिसस्थान कहते हैं।

(१४) **वामनसस्थाननाम** जो कर्म वामनसस्थान का हेतु हो उसे 'वामनसस्थान नामकर्म' कहते हैं। हाथ, पैर, मस्तक और ग्रीवा प्रमाणानुसार और लक्षणयुक्त हो परन्तु छाती, उदर आदि अवयव वैसे न हो वह वामनसंस्थान है।

(१५) **कुब्जसस्थाननाम** . जो कर्म कुब्जसस्थान का हेतु हो उसे 'कुब्जसस्थाननामकर्म' कहते हैं। हाथ, पैर, मस्तक और ग्रीवा प्रमाणानुसार और लक्षणयुक्त न हो बाकी अवयव वैसे हो वह कुब्जसस्थान है।

(१६) **हुंडसस्थाननाम** जो कर्म हुडसस्थान का निमित्त हो उसे 'हुडसस्थाननामकर्म' कहते हैं। इस सस्थान मे सब अवयव प्रमाणरहित और लक्षणहीन होते हैं।

(१७) **अशुभवर्णनाम** : जिस कर्म के उदय से शरीर कृष्णादिक अशुभ वर्णवाला होता है उसे 'अशुभवर्णनामकर्म' कहते हैं।

(१८) दुरभिगंधनाम : जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर अशुभ गंधवाला होता है उसे 'दुरभिगंधनामकर्म' कहते हैं।

(१९) अशुभरसनाम : जिस कर्म के उदय से शरीर तिक्त आदि अशुभ रसवाला होता है उसे 'अशुभरसनामकर्म' कहते हैं।

(२०) अशुभस्पर्शनाम : जो कर्म कर्कश आदि अशुभ स्पर्श का निमित्त होता है उसे 'अशुभस्पर्शनामकर्म' कहते हैं।

(२१) उपघातनाम : जिस कर्म के उदय से जीव अपने अधिक या विकृत अवयवों द्वारा दुःख पावे अथवा जो कर्म जीव के उपघात—स्वेच्छा मरण का कारण हो उसे 'उपघातनामकर्म' कहते हैं।

(२२) नरकानुपूर्वीनाम : विग्रहगति से जन्मान्तर में जाते हुए जीव को आकाश प्रदेश की श्रेणि के अनुसार गमन कराने वाले कर्म को आनुपूर्वीनाम कहते हैं। जो कर्म नरक गति के सम्मुख गमन कराता है उसे 'नरकानुपूर्वीनामकर्म' कहते हैं।

(२३) तिर्यञ्चानुपूर्वीनाम : जो कर्म जीव को तिर्यञ्च गति के सम्मुख गमन करावे उसे 'तिर्यञ्चानुपूर्वीनामकर्म' कहते हैं।

(२४) अप्रशस्तविहायोगतिनाम : जो कर्म गति का नियामक हो उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। जो कर्म अशुभ गति उत्पन्न करे उसे 'अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्म' कहते हैं। हाथी वृषभ आदि की गति प्रशस्त और ऊँट गधे आदि की गति अप्रशस्त कहलाती है।

(२५) स्थावरनाम : जिस कर्म के उदय से जीव स्वतंत्र रूप से गमनागमन न कर सके उसे 'स्थावरनामकर्म' कहते हैं। पृथ्वी अप् वायु, तेजस और वनस्पतिकाय जीव इसी कर्म के उदयवाले होते हैं। उनमें स्वतंत्र रूप से गमन करने की शक्ति नहीं है।

(२६) सूक्ष्मनाम : जिस कर्म के उदय से ऐसा सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो कि जो चर्मचक्षु से देखा न जा सके 'सूक्ष्मनामकर्म' कहलाता है। कितने ही बादर पृथ्वीकायिक आदि जीव अदृष्टिगोचर होते हैं पर असंख्य शरीरों के मिलने पर वे दिखाई देने लगते हैं। सूक्ष्म जीवों के असंख्य शरीर इकट्ठे हो जायें तो भी वे दिखाई नहीं देते।

(२७) अपर्याप्तनाम : जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न कर सके और पहले ही मरण को प्राप्त हो उसे 'अपर्याप्तनामकर्म' कहते हैं।

(२८) साधारणशरीरनाम : जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का साधारण—एक

शरीर हो उसे 'साधारणशरीरनामकर्म' कहते हैं। आलू, अदरक आदि इसी कर्म के उदय वाले जीव हैं।

(२९) अस्थिरनाम जिसके उदय से जिह्वा, कान, भौंह आदि अस्थिर अवयव हो उसे 'अस्थिरनामकर्म' कहते हैं।

(३०) अशुभनाम जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ—अप्रशस्त होते हैं उसे 'अशुभनामकर्म' कहते हैं।

(३१) दुर्भगनाम जिस कर्म के उदय से उपकार करते पर भी मनुष्य अप्रिय हो उसे 'दुर्भगनामकर्म' कहते हैं।

(३२) दुःस्वरनाम जिस कर्म के उदय से अप्रिय लगे ऐसा खराब स्वर हो उसे 'दुःस्वरनामकर्म' कहते हैं।

(३३) अनादेयनाम : जिस कर्म के उदय से वचन लोकमान्य न हो उसे 'अनादेयनामकर्म' कहते हैं।

(३४) अयशःकीर्तिनाम जिस कर्म के उदय से अपयश या अपकीर्ति हो उसे 'अयशःकीर्तिनामकर्म' कहते हैं।

नामकर्म की पूर्वोक्त ४२ प्रकृतियो मे बंधन और संघात प्रकृतियो के जो पाँच-पाँच भेद हैं (देखिए पृ० ३३४-५) उन्हें भी पुण्य और पाप मे विभक्त किया जा सकता है। स्वामी जी ने गा० ४९ मे कहा है—"इनमे से शुभ बंधन और संघात पुण्यरूप हैं और अशुभ पापरूप।"

'नवतत्त्वप्रकरण' मे तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्चानुपूर्वी की गिनती पाप प्रकृतियो में की गयी है और तिर्यञ्चायुष्य की गणना पुण्य प्रकृतियो में[1]। इस का कारण यह माना जाता है कि तिर्यञ्चायुष्य के उदय के बाद तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्चानुपूर्वी जीव को अनिष्ट अथवा दुःखरूप नही लगती। तत्त्वार्थभाष्य में नरायुष्य और देवायुष्य को ही पुण्य प्रकृतियो में गिना है अतः तिर्यञ्चायुष्य स्पष्टतः पाप प्रकृतियो में आती है[2]। स्वामीजी कहते हैं "कई तिर्यञ्चो का आयुष्य पाप प्रकृति रूप होता है। जिस तिर्यञ्च का आयुष्य अशुभ है उसकी गति और आनुपूर्वी भी अशुभ है। जिस तिर्यञ्च का आयुष्य शुभ है उसकी गति और आनूपूर्वी भी शुभ है (गा० ४६)।"

१—नवतत्त्वप्रकरण गा० १४, १२

२—तत्त्वा० ८.२६ भाष्य शुभमायुष्कं मानुषं दैवं च

अशुभ नामकर्म के १४ अनुभाव—विपाक शुभनामकर्म के अनुभावों से ठीक उलट हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) अनिष्ट शब्द (२) अनिष्ट रूप (३) अनिष्ट गंध (४) अनिष्ट रस (५) अनिष्ट स्पर्श (६) अनिष्ट गति (७) अनिष्ट स्थिति (८) अनिष्ट लावण्य (९) अनिष्ट यशोकीर्ति, (१०) अनिष्ट बल वीर्य पुरुषकार-पराक्रम (११) अनिष्ट स्वरता (१२) हीनस्वरता (१३) दीनस्वरता और (१४) अकान्तस्वरता[१]।

अशुभनामकर्म के बंध-हेतु शुभनामकर्म के बंध-हेतुओं से ठीक विपरीत हैं। इनका विवेचन पहले किया जा चुका है (देखिए पृ० ३२७ टि० २१)। प्रथम कर्मग्रन्थ में लिखा है— 'सरल और गौरव रहित जीव शुभनामकर्म का बंध करता है और अन्यथा अशुभनामकर्म का[२]।" गौरव तीन प्रकार का है (१) ऋद्धि-गौरव (२) रस-गौरव और (३) सात-गौरव। धन सम्पत्ति से अपने को बड़ा समझना ऋद्धि-गौरव है। रसों से अपना गौरव समझना रस-गौरव है। आरोग्य सुख आदि का गर्व सात-गौरव है। इस तरह यहाँ कपट भाव और तीन गौरव से अशुभनामकर्म का बंध बतलाया है।

तत्त्वार्थसूत्र में अशुभ नामकर्म के बंध हेतुओं के विषय में निम्न सूत्र प्राप्त है—'योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः'। योगवक्रता का अर्थ है—'कायवाङ्मनोयोगवक्रता' (भाष्य)। यहाँ गौरव के स्थान में 'विसंवादन' है। श्री हेमचन्द्र सूरि कहते हैं योग वक्रता ठगना माया-प्रयोग, मिथ्यात्व पैशुन्य चलचित्तता नकली सुवर्णादि का बनाना झूठी साक्षी वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श को अन्यथा करना अंगोपांग को गलवाना यंत्रकर्म पिंजर कम कूट मान-तौल कूटकर्म अन्यनिन्दा आत्मप्रशंसा हिंसा आदि पाँच पाप कठोर असभ्य वचन मद वाचालता आक्रोश सौभाग्य-उपघात कामणक्रिया, परकौतूहल परिहास वेश्यादि को अलङ्कार दान दावाग्निदीपन देवपूजादि के बहाने गंधादि को चराना तीव्र कषाय चत्य-आराम और प्रतिमाओं का विनाश और अङ्गारादि व्यापार—ये सब अशुभ नामकर्म के आस्रव हैं[३]। अशुभ नामकर्म के बंध-हेतुओं का यह प्रतिपादन निश्चय ही बाद का परिवर्धित रूप है।

आगमिक और इन बंध-हेतुओं में जो अन्तर है वह तुलना से स्वयं स्पष्ट होगा।

१—प्रज्ञापना २३.१

२—प्रथम कर्मग्रन्थ ५१

सरलो अगारविल्लो सुहनाम अन्नहा असुहं ॥

३—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह: सप्ततत्त्वप्रकरणम् ४४-१

१२—नीचगोत्रकर्म (गा० ५७) :

पूज्यता, अपूज्यता आदि भावो को उत्पन्न करनेवाले कर्म को गोत्रकर्म कहते हैं। इसकी तुलना कुम्हार से की गई है। जैसे कुम्हार लोक-पूज्य कलश और लोक-निन्द्य मद्य-घट का निर्माण करता है वैसे ही यह कर्म जीव के व्यक्तित्व को श्लाघ्य-अश्लाघ्य बनाता है[1]। जिस कर्म के उदय से जीव उच्चावच कहलाता है वह गोत्रकर्म है[2]।

दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद ने इसकी परिभाषा इस रूप मे दी है—"जिसके उदय से गर्हित कुलो मे जन्म होता है वह नीचगोत्रकर्म है[3]।"

गोत्रकर्म की यह परिभाषा ऐकांतिक है। तत्त्वार्थकार के स्वोपज्ञ भाष्य में इसका स्वरूप इस प्रकार मिलता है "उच्चगोत्रकर्म देश, जाति, कुल, स्थान, मान, सत्कार, ऐश्वर्य आदि विषयक उत्कर्ष का निर्वर्तक होता है। इसके विपरीत नीचगोत्र-कर्म चाण्डाल, नट, व्याध, पारिधि, मत्स्यबध—धीवर, दास्यादि भावो का निर्वर्तक है[4]।

उच्च और नीचगोत्रकर्म के उपभेद और उनके अनुभावो का आगम में इस प्रकार उल्लेख है[5]

१—(क) ठाणाङ्ग २ ४.१०५ टीका

जह कुभारो भंडाइं कुणइ पुज्जेयराइं लोयस्स।
इय गोय कुणइ जिय लोए पुज्जेयरावत्थ॥

(ख) प्रथम कर्मग्रन्थ ५२

गोय दुहुच्चनीयं कुलाल इव सुघडभुभलाईय।

२—प्रज्ञापना २३ १ २८८ टीका

यद्वा कर्मणोऽपादानविवक्षा गूयते—शब्द्यते उच्चावचै शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण उदयात् गोत्र।

३—तत्त्वा० ८ १२ सर्वार्थसिद्धि

यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्। यदुदयाद्गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्,

४—तत्त्वा० ८ १३ भाष्य

उच्चैर्गोत्रं देशजातिकुलस्थानमानसत्कारैश्वर्याद्युत्कर्षनिर्वर्तकम्। विपरीत नीचैर्गोत्र चण्डालमुष्टिकव्याधमत्स्यबधदास्यादिनिर्वर्तकम्।

५—प्रज्ञापना २३ १ २९२, २३ २ २९३

१—जाति-उच्चगोत्र जाति—मातृपक्षीय विशिष्टता	१—जाति-नीचगोत्र जातिविहीनता—मातृपक्षीय-विशिष्टता का अभाव
२—कुल-उच्चगोत्र कुल—पितृपक्षीय विशिष्टता	२—कुल-नीचगोत्र कुलविहीनता—पितृपक्षीय-विशिष्टता का अभाव
३—बल-उच्चगोत्र बल विषयक विशिष्टता	३—बल-नीचगोत्र : बलविहीनता
४—रूप उच्चगोत्र रूप-विषयक विशिष्टता	४—रूप-नीचगोत्र रूपविहीनता
५—तप-उच्चगोत्र तप विषयक विशिष्टता	५—तप-नीचगोत्र तपविहीनता
६—श्रुत-उच्चगोत्र श्रुत विषयक विशिष्टता	६—श्रुत-नीचगोत्र श्रुतविहीनता
७—लाभ-उच्चगोत्र लाभ-विषयक विशिष्टता	७—लाभ-नीचगोत्र लाभविहीनता
८—ऐश्वर्य-उच्चगोत्र ऐश्वय विषयक विशिष्टता	८—ऐश्वर्य-नीचगोत्र ऐश्वर्यविहीनता

इससे यह स्पष्ट है कि जीव की व्यक्तित्व विषयक विशिष्टता अथवा अविशिष्टता का निमित्त कर्म गोत्रकर्म है।

उच्चगोत्रकर्म पुण्य रूप है और नीचगोत्रकर्म पाप रूप।

जाति विशिष्टता कुल-विशिष्टता यावत् ऐश्वय-विशिष्टता उच्चगोत्रकर्म के विपाक हैं। ये आठ मद स्थान हैं[1]। अहंभाव के कारण हैं। जो इनको पाकर अभिमान करता है उसके नीचगोत्रकर्म का बंध होता है। जो अभिमान नहीं करता उसको पुन ये ही विशिष्टताए प्राप्त होती हैं[2]। जो अनात्मवादी होता है उसके लिए जाति आदि की विशिष्टताए अहित की कर्ता हैं। जो आत्मार्थी होता है उसके लिए ये ही हितकर्ता के रूप में परिणत हो जाती हैं।

१—ठाणाङ्ग ८ १ ६ ६

२—वही ६ ३ ७ १

३—भगवती ८ ६

मूल पाठ पृ २५८ पर उद्धृत है

४—ठाणाङ्ग ६ ३ ४६६

जातिविहीनता, कुलविहीनता यावत् ऐश्वर्यविहीनता नीचगोत्रकर्म के विपाक हैं। नीचगोत्रकर्म के उदय से मनुष्य को अपमान, दीनता, अवहेलना आदि का अनुभव होता है। इनसे मनुष्य मन मे दुःख करने लगता है। स्वामीजी कहते हैं—ये हीनताएँ भी स्वयकृत हैं। निश्चय रूप मे परकृत नही। ऐसी स्थिति में दूसरो को इनका कारण समझ अपना आपा नही खोना चाहिए, समभाव रखना चाहिए। जो अपनी अविशिष्टताओ को समभावपूर्वक सहन करता है उसके विशिष्ट तप होता है और निर्जरा के साथ-साथ पुण्यकर्म का बध होता है। आगम मे कहा है "मनुष्य सोचे यदि मैं इन दुःखो को सम्यक् रूप मे सहन नही करता, क्षमा नही करता तो मुझे ही नये कर्मो का बधन होगा। और यदि मैं इन्हे सम्यक् रूप से सहन करूगा तो इससे मेरे कर्मो की सहज ही निर्जरा होगी[1]।"

नीचगोत्रकर्म के बध-हेतुओ का विवेचन पहले किया जा चुका है[2]।

श्री हेमचन्द्र सूरिने इनका सकलन इस रूप में किया है

> परस्य निन्दावज्ञोपहासा सद्गुणलोपनम्।
> सदसद्दोषकथनमात्मनस्तु प्रशंसनम्॥
> सदसद्गुणशंसा च, स्वदोषाच्छादन तथा।
> जात्यादिभिर्मदश्चेति, नीचैर्गोत्राश्रवा अमी॥
> नीचैर्गोत्राश्रवविपर्यासो विगतगर्वता।
> वाक्कायचित्तैर्विनय, उच्चैर्गोत्राश्रवा अमी॥[3]

गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की है[4]।

चार अघाति कर्मो का विवेचन यहाँ सम्पूर्ण होता है।

१—ठाणाङ्ग ५ १ ४०६
२—देखिए पृ० २२८ टि० २२
३—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह सप्ततत्त्वप्रकरणम् १०७-१०६
४—उत्त० ३३ २३

> उदहीसरिसनामाण वीसई कोडिकोडीओ।
> नामगोत्ताण उक्कोसा अट्ठ मुहुत्ता जहन्निया॥

१—जाति-उच्चगोत्र जाति—मातृपक्षीय विशिष्टता	१—जाति-नीचगोत्र जातिविहीनता—मातृपक्षीय विशिष्टता का अभाव
२—कुल-उच्चगोत्र कुल—पितृपक्षीय विशिष्टता	२—कुल-नीचगोत्र कुलविहीनता—पितृपक्षीय-विशिष्टता का अभाव
३—बल-उच्चगोत्र बल विषयक विशिष्टता	३—बल-नीचगोत्र : बलविहीनता
४—रूप उच्चगोत्र रूप विषयक विशिष्टता	४—रूप-नीचगोत्र रूपविहीनता
५—तप उच्चगोत्र तप विषयक विशिष्टता	५—तप-नीचगोत्र तपविहीनता
६—श्रुत-उच्चगोत्र श्रुत विषयक विशिष्टता	६—श्रुत-नीचगोत्र श्रुतविहीनता
७—लाभ-उच्चगोत्र लाभ-विषयक विशिष्टता	७—लाभ-नीचगोत्र लाभविहीनता
८—ऐश्वर्य-उच्चगोत्र ऐश्वर्य-विषयक विशिष्टता	८—ऐश्वर्य-नीचगोत्र ऐश्वर्यविहीनता

इससे यह स्पष्ट है कि जीव की व्यक्तित्व विषयक विशिष्टता अथवा अविशिष्टता का निमित्त कर्म गोत्रकर्म है।

उच्चगोत्रकर्म पुण्य रूप है और नीचगोत्रकर्म पाप रूप।

जाति विशिष्टता कुल-विशिष्टता यावत् ऐश्वर्य-विशिष्टता उच्चगोत्रकर्म के विपाक हैं। ये आठ मद स्थान हैं[1]। अहंभाव के कारण हैं। जो इनको पाकर अभिमान करता है उसके नीचगोत्रकर्म का बंध होता है। जो अभिमान नहीं करता उसको पुनः ये ही विशिष्टताएं प्राप्त होती हैं[2]। जो अनात्मवादी होता है उसके लिए जाति आदि की विशिष्टताएं अहित की कर्त्ता हैं। जो आत्मार्थी होता है उसके लिए ये ही हितकर्त्ता के रूप में परिणत हो जाती हैं।

१—ठाणाङ्ग ८ ३ १ ६
२—वही ३ १ ७ १
३—भगवती ८ ६
मूल पाठ पृ २२८ पर उद्धृत है
४—ठाणाङ्ग १ ३ ४३१

: ५ :

आस्रव पदार्थ

पुण्य और पाप पदार्थ के विवेचन में कर्मों की मूल प्रकृतियों, उनकी उत्तरप्रकृतियों और उपभेदों का वर्णन आ चुका है। पाठकों की सुविधा के लिए नीचे उन्हें एकत्र रूप से दिया जा रहा है

मूल प्रकृतियाँ	उत्तर प्रकृतियाँ	पाप प्रकृतियाँ (साधारणतः मान्य)	पुण्य प्रकृतियाँ (साधारणतः मान्य)
१—ज्ञानावरणीय	५	५	×
२—दर्शनावरणीय	९	९	×
३—वेदनीय	२	१ (असात)	१ (सात)
४—मोहनीय	२८	२६	×
५—आयुष्य	४	१ (नरकायुष्य)	३ (देव मनुष्य तिर्यञ्च)
६—नाम	४२	३४	३७
७—गोत्र	२	१ (नीच)	१ (उच्च)
८—अन्तराय	५	५	×
	९७[3]	८२[4]	४२[5]

मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों में से सम्यक्त्वमिथ्यात्व और सम्यक्त्वमोहनीय को पाप प्रकृतियों में नहीं लिया है। इसका कारण यह है कि जीव इनका स्वतन्त्र रूप से बंध नहीं करता। मिथ्यात्वमोहनीय की क्षीणता से ये उत्पन्न होती हैं। ये प्रकृतियाँ जीव के सत्ता रूप से विद्यमान रहती हैं पर उनका स्वतंत्र बंध न होने से इनको पाप प्रकृतियों में नहीं गिना है।

१—तत्त्वार्थसूत्र का मतभेद बताया जा चुका है पृ० १२६

२—प्रज्ञापना २३. १

कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ

३—समवायाङ्ग सम० ९७

अट्ठण्हं कम्मपगडीणं सत्तणउइं उत्तरपगडीओ पण्णत्ताओ

४—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरण गा० ८

नाणंतरायदसगं दंसणनव मोहपयडछव्वीसं ।
नामस्स चउतीसं तिण्हं एगेग पावाओ ॥

५—वही ९

सायं उच्चागोयं सत्ततीसं तु नामपयडीओ ।
तिन्नि य आउगि तहा बायालं पुण्णपयडीओ ॥

: ५ :

आस्रव पदार्थ

दोहा

१—पाँचवाँ पदार्थ आस्रव है। इसको आस्रव-द्वार भी कहा जाता है। आस्रव कर्म आने के द्वार है। ये द्वार और कर्म भिन्न-भिन्न है[1]।

आस्रव की परिभाषा

आस्रव और कर्म भिन्न हैं।

२—आस्रव-द्वार जीव है क्योकि जीव के भले-बुरे परिणाम ही आस्रव है। भले परिणाम पुण्य के और बुरे परिणाम पाप के द्वार है[2]।

पाप और पुण्य के आस्रव अच्छे-बुरे परिणाम

३—कई मूर्ख मिथ्यात्वी जीव आस्रव को अजीव कहते हैं। उन्हें जीव-अजीव की पहचान नहीं। उनके मिथ्यात्व की गहरी नींव है।

आस्रव जीव है (दो० ३-४)

४—आस्रव निश्चय ही जीव है। श्री वीर ने ऐसा कहा है। सूत्रों मे जगह-जगह ऐसी प्ररूपणा है। अब उन सूत्र-साखों को सुनो[3]।

५—अब मै पहिले आस्रवों का—पाप आने के द्वारों का यथातथ्य वर्णन करता हूँ[4]। एकाग्र चित्त से सुनो।

ढाल: १

१—स्थानाङ्ग सूत्र मे पांच आस्रव-द्वार कहे गये हैं। ये द्वार महा विकराल है। उनसे निरंतर पाप आते रहते है।

आस्रव-द्वार पांच हैं

५

आश्रव पदारथ

दुहा

१—आश्रव पदारथ पांचमों, तिणनें कहीजे आश्रव दुवार।
ते करम आवा रा छें बारणा ते बारणा नें करम न्यार ॥

२—आश्रव दुवार तो जीव छें, जीव रा भला मूंडा परिणांम।
भला परिणांम पुन रा बारणा मूंडा पाप तणा छें तांम ॥

३—केइ मूढ मिथ्याती ओकडा आश्रव में कहें छें अजीव।
त्यां जीव अजीव न ओलख्या, त्यांरे मोटी मिथ्यात री नींव ॥

४—आश्रव तो निश्चेइ जीव छें, थी वीर गया छें भाख।
ठांम २ सिधांत में भाषीयो ते सुणजो सूतर नीं साख ॥

५—हिवे पाप आवा नां बारणा त्यांरी कहूं छूं तांम।
ते समातम परगट करूं ते सुणो राखे चित ठांम ॥ पा० ॥

ढाल १

(जिवा रा भाव एण एण गुंज)

१—ठांणा अंग सूतर रे मझार पत्या छें पांच आश्रव दुवार।
ते दुवार छें माठा परिणाम त्यां न पाप आवे दगपार ॥

२—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग ये पांच आस्रव-द्वार हैं। ये पाँचों निश्चय ही जीव के परिणाम है[५]। — आस्रव-द्वारों के नाम

३—पदार्थों की अयथार्थ प्रतीति करना मिथ्यात्व आस्रव है। अयथार्थ प्रतीति साक्षात् जीव के ही होती है। मिथ्यात्व आस्रव का अवरोध करने वाला सम्यक्त्व संवर-द्वार है। — मिथ्यात्व आस्रव

४—अत्याग-भाव अविरति आस्रव है। अत्याग-भाव जीव के अशुभ परिणाम हैं। इस अविरति को निवारण करने वाली विरति संवर-द्वार है। — अविरति आस्रव (गा० ४-५)

५—जिन द्रव्यों का त्याग नहीं किया जाता है उनकी आशा-वांछा बनी रहती है। यह अविरति जीव का परिणाम है। इसके त्याग से संवर होता है।

६—प्रमाद आस्रव भी जीव का अशुभ परिणाम है। प्रमाद आस्रव के निरोध से अप्रमाद संवर होता है। — प्रमाद आस्रव

७—उसी तरह कपाय आस्रव जीव का कपाय रूप परिणाम है। कपाय आस्रव से पाप लगते हैं। अकपाय से मिट जाते हैं। — कपाय आस्रव

८—सावद्य निरवद्य योगों—व्यापारों को योग-आस्रव कहते है। अच्छे-बुरे परिणामों का अवरोध करना अयोग संवर है। इस प्रकार पाँच आस्रव-द्वार है[६]। — योग आस्रव

९—उपर्युक्त पाँचों आस्रव उन्मुक्त द्वार है, जिनसे कर्मों का आगमन होता है। ये पाँचों आस्रव-द्वार जीव के परिणाम हैं और इन परिणामों के कारण कर्म लगते है। — आस्रव-द्वारों का सामान्य स्वभाव

२—मिथ्यात इविरत नें कषाय परमाद जोग छें ताम।
ए पांचूंई आश्रव दुवार छें ताम, निश्चें जीव तणा परिणाम॥

३—ऊंधो सरधे ते आश्रव मिथ्यात ऊंधो सरधे जीव साख्यात।
तिण आश्रव नों रूंधण हारो ते समकत संवर दुवारो॥

४—अत्याग भाव इविरत छें ताम, जीव तणा माठा परिणाम।
तिण इविरत नें दव निवार ते व्रत छें संवर दुवार॥

५—नहीं त्याग्या छें ज्यां दरबां री आसा वांछा लगी रही ज्यांरी।
ते इविरत जीव रा परिणाम तिणनें त्याग्यां हुवें संवर आम॥

६—परमाद आश्रव छें ताम ए पिण जीव रा मैला परिणाम।
परमाद आश्रव त्याग जब अपरमाद संवर थाय॥

७—कषाय आश्रव छें आम जीव रा कषाय परिणाम।
तिण सूं पाप लागे छें आम ते अकषाय सूं मिट जाय॥

८—सावद्य निरवद्य जोग व्यापार ए पांचूंई आश्रव दुवार।
रूंधे भला भूंडा परिणाम अजोग संवर तिणरो नांम॥

९—ए पांचूंई आश्रव उघाड़ा दुवार करम आवे यां दुवार मझार।
दुवार तो जीव ना परिणाम त्यां सूं करम लागे छें ताम॥

२—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच आस्रव-द्वार हैं। ये पांचों निश्चय ही जीव के परिणाम हैं[१]।

आस्रव-द्वारों के नाम

३—पदार्थों की अयथार्थ प्रतीति करना मिथ्यात्व आस्रव है। अयथार्थ प्रतीति साक्षात् जीव के ही होती है। मिथ्यात्व आस्रव का अवरोध करने वाला सम्यक्त्व संवर-द्वार है।

मिथ्यात्व आस्रव

४—अत्याग-भाव अविरति आस्रव है। अत्याग-भाव जीव के अशुभ परिणाम है। इस अविरति का निवारण करने वाली विरति संवर-द्वार है।

अविरति आस्रव (गा० ४-५)

५—जिन द्रव्यों का त्याग नहीं किया जाता है उनकी आशा-वांछा बनी रहती है। यह अविरति जीव का परिणाम है। इसके त्याग से संवर होता है।

६—प्रमाद आस्रव भी जीव का अशुभ परिणाम है। प्रमाद आस्रव के निरोध से अप्रमाद संवर होता है।

प्रमाद आस्रव

७—उसी तरह कषाय आस्रव जीव का कषाय रूप परिणाम है। कषाय आस्रव से पाप लगते हैं। अकषाय से मिट जाते हैं।

कषाय आस्रव

८—सावद्य निरवद्य योगों—व्यापारों को योग-आस्रव कहते हैं। अच्छे-बुरे परिणामों का अवरोध करना अयोग संवर है। इस प्रकार पाँच आस्रव-द्वार हैं[६]।

योग आस्रव

९—उपर्युक्त पाँचों आस्रव उन्मुक्त द्वार हैं, जिनसे कर्मों का आगमन होता है। ये पाँचों आस्रव-द्वार जीव के परिणाम हैं और इन परिणामों के कारण कर्म लगते हैं।

आस्रव-द्वारों का सामान्य स्वभाव

१०—यांरा ढांकणा संवर दुवार, आश्रव दुवार नों रूंधणहार।
नवा करम नों रोकणहार, ए पिण जीव रा गुण थीकार॥

११—इम ठिण कह्यो चोथा अंग मझारो पांच आश्रव नें संवर दुवारो।
आश्रव करमां रो करता उपाय करम आश्रव सूं लागे छें आय॥

१२—उतराधन गुणतीसमां माह्यों, पडिक्कमणा रो फल बतायो।
व्रतां रा छिद्र ढकायो बले आश्रव दुवार रूंधायो॥

१३—उतराधेन गुणतीसमां माह्यों पचखाण रो फल बतायो।
पचखाण सूं आश्रव रूंधायो आवता करम ते मिट जायो॥

१४—उतराधेन तीसमां रे माह्यों जल नां आगम रूंधायो।
जब पांणी आवतो मिट जावे ज्यूं आश्रव रूंध्यां करम नावें।

१५—उतराधन उगणीसमां माह्यों माठा दुवार ढांक्या कह्यां ताह्यो।
करम आवा नां ठांम मिटायो जब पाप न लागे आयो॥

१६—ढांकीया कह्या आश्रव दुवार जब पाप न बंध लिगार।
कह्यों छें दसवीकालिक मझार चोथा अधन में आश्रव दुवार॥

१७—रूंध पांचूंई आश्रव दुवार ते भीखू मोटा अणगार।
ते तो दसवीकालिक मझार तीजे अधन मझे निस्तार॥

१०—आस्रव-रूपी उन्मुक्त द्वार को अवरुद्ध करने—बंद करनेवाले संवर द्वार है। आस्रव-द्वार को रूंधनेवाले और नए कर्मों के प्रवेश को रोकनेवाले उत्तम गुण जीव के ही है[७]।

आस्रव का प्रतिपक्षी संवर

११—इसी तरह चौथे अङ्ग में पांच आस्रव और पांच संवर-द्वार कहे हैं[८]। आस्रव कर्मों का कर्त्ता, उपाय है। कर्म आस्रव के द्वारा ही आकर लगते हैं।

पांच पांच आस्रव-संवर-द्वार

१२—उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में प्रतिक्रमण करने का फल व्रतों के छिद्र का रूंधन और आस्रव-द्वार का अवरोध होना बतलाया है[९]।

आस्रव-द्वार का वर्णन कहाँ-कहाँ है ?
उत्त० २९.११

१३—उसी सूत्र के उसी अध्ययन में प्रत्याख्यान का फल आस्रव का रुकना—नए कर्मों के प्रवेश का बंद होना बतलाया है[१०]।

उत्त० २९.१३

१४—उसी सूत्र के ३० वें अध्ययन में कहा है कि जिस तरह नाले को रोक देने से पानी का आना रुक जाता है उसी तरह आस्रव के रोक देने से नए कर्म नहीं आते[११]।

उत्त० ३०.५-६

१५—उसी सूत्र के १९ वें अध्ययन में अशुभ द्वारों को रोकने का उपदेश है। कर्म आने के मार्ग को रोक देने से पाप नहीं लगता[१२]।

उत्त० १९.४४

१६—दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन में कहा है कि आस्रव-द्वार को बन्द कर देनेसे पाप कर्म जरा भी नहीं बंधते[१३]। तीसरे अध्ययन में भी आस्रव का उल्लेख है।

दशवैकालिक ४.९
३.११

१७—जो पाँचों आस्रव-द्वारों का निरोध करता है वह भिक्षु महा अनगार है। यह उल्लेख भी दशवैकालिक सूत्र में है। इसका निश्चय सूत्र देखकर करो[१४]।

दशवैकालिक १०.५

१८—पैंहलो मनोजोग रूंधे ते सुध पछे वचन काय जोग रूंध।
उतराधेन गुणतीसमां मांहि आश्रव रूंधणा चाल्या छें ताहि॥

१९—पांच कह्या छें अधम दुवार, ते तो प्रश्नव्याकरण मझार।
वले पांच कह्या संवर दुवार, यां दोयां रो घणों विसतार॥

२०—ठांणा अंग पांचमा ठांणा मांहि आश्रव दुवार पडिकमणो ताहि।
पडिकम्यां पाछो रूंधाए दुवार फेर पाप न लागे लिगार॥

२१—फूटी नाव रो दिष्टंत आश्रव ओलखायो भगवंत।
भगोती तीजा सतक मझार तीजे उदेसे छें विसतार॥

२२—वले फूटी नावा रे दिष्टंत आश्रव ओलखायो भगवंत।
भगोती पेंहला सतक मझार छठ्ठ उदेस छें विसतार॥

२३—ए तो कह्या छें आश्रव दुवार वले अनेक छें सूतर मझार।
ते पूरा केम कहिवाय सगला रो एकज न्याय॥

२४—आश्रव दुवार कह्या ठांम ठांम ते तो जीव तणा परिणांम।
त्यांनें अजीव कहें मिथ्याती खोटी सरधा तणा पखपाती॥

२५—करमां ने ग्रहे ते जीव दरब ग्रहे तेहीज छें आश्रव।
ते जीव तणा परिणांम त्यां सूं करम लागे छें तांम॥

१८—उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वे अध्ययन में क्रमश मनोयोग, वचनयोग और काययोग आस्रव के रूँधने की बात आई है। वहाँ मन, वचन और काय के शुद्ध योगों के स्वरण की बात है[१५]।	उत्त० २९ ३७, ५३-५५ ७२
१९—प्रश्नव्याकरण सूत्र मे पाँच आस्रव-द्वार और पांच संवर-द्वार कहे गये हैं और इन दोनों का वहां बहुत विस्तार से वर्णन है[१६]।	प्रश्नव्याकरण
२०—स्थानाङ्ग के ५वें स्थानक में आस्रव-द्वार-प्रतिक्रमण का उल्लेख है। प्रतिक्रमण कर लेने पर आस्रव-द्वार बन्द हो जाते हैं, जिससे फिर पाप-कर्म नहीं लगते[१७]।	स्थानाङ्ग ५ ३ ४६७
२१-२२-भगवान ने आस्रव को फूटी नौका का उदाहरण देकर समझाया है। इसका विस्तार भगवती सूत्र के तृतीय शतक के तृतीय उद्देशक तथा उसी सूत्र के पहिले शतक के छट्ठे उद्देशक में है[१८]।	भगवती ३ ३, १ ६
२३—और भी बहुत से सूत्रों में आस्रव-द्वार का वर्णन आया है। सबका एक ही न्याय है। यहाँ पूरा कैसे कहा जा सकता है[१९]?	
२४—आस्रव-द्वार का वर्णन जगह-जगह आया है। आस्रव जीव के परिणाम हैं। उनको जो अजीव कहते हैं वे मिथ्यात्वी हैं और खोटी श्रद्धा के पक्षपाती हैं[२०]।	आस्रव जीव कैसे है ?
२५—जो कर्मों को ग्रहण करता है वह जीव द्रव्य है। कर्म आस्रव के द्वारा ग्रहण होते हैं। ये आस्रव जीव के परिणाम हैं। जीव के परिणामों से कर्म ग्रहण होते हैं[२१]।	आस्रव जीव के परिणाम हैं

२६—जीव नें पुदगल रो मेल तीजा दरब तणो नहीं भेल।
जीव लगावे जांण २ जद पुदगल लागे छें आंण॥

२७—तेहिज पुदगल छें पुन पाप त्यांरो करता छें जीव आप।
करता तेहिज आश्रव जांणों तिण में संका मूल म आंणों॥

२८—जीव छें करमा रो करता सूतर में पाठ अपारा।
कह्यो पेंहला अंग मझारो, जीव करमां रो करतारो॥

२९—ते पेंहलो इग उदेसो संभालो ए तो करता कह्यो भिखूं कालो।
जीव सरूप मों इणकार, तीन करणे कह्यो करतार॥

३०—करता तेहिज आश्रव तांम जीव रा भला मूंडा परिणांम।
परिणांम ते आश्रव दुवार, ते जीव तणो व्यापार॥

३१—करता करणी हेतू में उपाय ए करमो रा करता कहाय।
यां सूं करम लागे छें आय त्यां नें आश्रव कह्या जिण राय॥

३२—सावद्य करणी सूं पाप लागे तिण सूं दुःख भोगवसी आगे।
सावद्य करणी नें कहें अजीव ते तो निरचें मिथ्याती जीव॥

३३—जोग सावद्य निरवद्य चाल्या, त्यांनें जीव दरब में घाल्या।
जोग आतमा कही छें तांम जोग में कह्या जीव परिणांम॥

२६—जीव और पुद्गल का सयोग होता है। तीसरे द्रव्य—और किसी द्रव्य का सयोग नहीं होता। जीव जब इच्छा कर पुदगल लगाता है तब ही वे आकर लगते है।

जीव ही पुद्गलो को लगाता है।

२७—इस तरह जो ग्रहण किए हुए पुद्गल है, वे ही पुण्य या पाप रूप है। इन पुण्य और पाप कर्मो का कर्त्ता खुद जीव ही है और जो कर्त्ता है उसी को आस्रव समझो। इसमे जरा भी शका मत लाओ[२२]।

ग्रहण किए हुए पुद्गल ही पुण्य-पाप रूप हैं

२८—जीव कर्मो का कर्त्ता है। इस सम्बन्ध मे सूत्रों मे अनेक पाठ मिलते हे। पहिले अङ्ग में जीव को कर्मों का कर्त्ता कहा है।

जीव कर्त्ता है (२८-२९)

२९—पहिले अङ्ग के पहिले उद्देश मे जीव-स्वरूप का वर्णन आया है। वहाँ पर जीव को तीनों कालों में कर्त्ता बताया गया है। वहाँ जीव को त्रिकरण से कर्त्ता कहा है।

३०—जीव के भले-बुरे परिणाम ही कर्मो के कर्त्ता हे। ये परिणाम ही आस्रव-द्वार है। ये परिणाम जीव के व्यापार हैं।

जीव अपने परिणामो से कर्त्ता है

३१—कर्मो के कर्ता, कर्म की करनी, कर्म-ग्रहण के हेतु और उपाय ये चारो ही कर्मो के कर्त्ता कहलाते है। इनसे कर्म आकर लगते है इसलिए भगवान ने इन्हें आस्रव कहा है[२३]।

कर्त्ता, करनी, हेतु, उपाय चारो कर्त्ता हैं

३२—सावद्य करनी से पाप-कर्म लगते हैं, जिससे भविष्य में जीव को दुःख भोगना पड़ता है। सावद्य करनी को जो अजीव कहते है वे निश्चय ही मिथ्यात्वी जीव है।

योग जीव हैं (३२-३४)

३३—योग सावद्य और निरवद्य दो तरह के कहे गये है। उनकी गिनती जीव द्रव्य मे की गई है। इसीलिए योग-आत्मा का कथन आया हे। योगो को जीव-परिणाम कहा गया है।

३४—जोग छै ते जीव व्यापार, जोग छ तेहिज आश्रव दुवार।
आश्रव तेहिज जीव निसक तिण में मूल म आंणो सक॥

३५—लेस्या भली ने भूंडी चाली, त्यानें पिण जीव दरब में घाली।
लेस्या उदे भाव जीव छै ताम लेस्या ते जीव परिणाम॥

३६—लेस्या करमां सूं आतम लेस, ते तो जीव तणा परदेस।
त पिण आश्रव जीव निसंक, त्यांरा धानक कह्या असंख॥

३७—मिथ्यात इविरत नें कषाय उदे भाव छें जीव रा ताम।
कषाय आतमा कही छें ताम यांनें कह्या छें जीव परिणाम॥

३८—ए पांचूंई छें आश्रव दुवार करम तणा करतार।
ए पांचूं छें जीव साख्यात तिण में संका नहीं तिलमात॥

३९—आश्रव जीव तणा परिणाम नवमं ठांण कह्यो छें आंम।
जीवरा परिणाम छें जीव त्यानें किहल कहें छें अजीव॥

४ —नवमं ठांण ठाणा अग माहि, आश्रव करम ग्रहे छें ताहि।
करम ग्रहे त आश्रव जीव ग्राहीया आवे ते पुदगल अजीव॥

४१—ठाणा अंग दसम ठांणे दस बोल उंधा कुण जाणें।
उंधा जाणें तेहिज मिथ्यात तेहिज आश्रव जीव साख्यात॥

३४—योग जीव के व्यापार है और योग ही आस्रव-द्वार है। इस तरह जो आस्रव है वे निःशंक रूप से जीव है। इसमें जरा भी शंका मत करो[२४]।

लेश्या जीव का परिणाम है (गा० ३५-३६)

३५—लेश्या शुभ और अशुभ कही गयी है। उन्हे भी जीव द्रव्य मे शुमार किया गया है। लेश्या जीव का उदयभाव है अत जीव है। लेश्या जीव का परिणाम है।

३६—लेश्या आत्मा को कर्मो से लिप्त करती है—अर्थात् जीव प्रदेशों को लिप्त करती है। यह भी आस्रव है—जीव है इसमे शंका नहीं। इसके असंख्यात स्थानक कहेग ये है[२५]।

मिथ्यात्वादि जीव के उदयभाव हैं

३७—मिथ्यात्व, अव्रत और कषाय ये जीव के उदयभाव है। इसीलिए कषाय-आत्मा कही गयी है। इनको जीव-परिणाम कहा गया है[२६]।

योग आदि पाँचो आस्रव जीव हैं (गा० ३८-४८)

३८—ये योग आदि पाँचों आस्रव-द्वार है और कर्मो के कर्त्ता है। ये पाँचो ही साक्षात् जीव हैं। इसमें जरा भी शंका नही है[२७]।

आस्रव जीव के परिणाम हैं (गा० ३९-४०)

३९—आस्रव जीव के परिणाम हैं ऐसा स्थानाङ्ग के नवे स्थानक मे कहा है। जीव के परिणाम जीव होते हैं, उन्हें अज्ञानी अजीव कहते है।

४०—स्थानाङ्ग सूत्र के नवें स्थानक में जो कर्मों को ग्रहण करता है उसे आस्रव कहा है। जो कर्मों को ग्रहण करता है वह आस्रव जीव है। जो ग्रहण हो कर आते है वे पुद्गल अजीव है[२८]।

मिथ्यात्व आस्रव जीव है

४१—स्थानाङ्ग सूत्र के दसवें स्थानक में दस बोल कहे है। उनको उल्टा श्रद्धना मिथ्यात्व आस्रव है। इन बोलों को उल्टा कौन श्रद्धता है? जो उल्टा श्रद्धता है वह मिथ्यात्व आस्रव साक्षात् जीव है[२९]।

४२—पांच आश्रव में इविरत ताम माठी लेस्या तणा परिणाम।
माठी लेस्या तो जीव छें ताय, तिणरा लखण अजीव किम थाय।

४३—जीव न लखणा सूं पिछांणो जीव रा लखण जीव मांनो।
जीव रा लखण में अजीव थापे ते तो वीर मो वचन उथापे।

४४—च्यार सगन्या कही जिणराय ते पिण पाप तणा छें उपाय।
पाप रो उपाय ते आश्रव ते आश्रव जीव दरब।

४५—भला में भूंडा अधवसाय त्यां नें आश्रव कह्या जिणराय।
भला स तो लागे छें पुन भूंडा सूं लागे पाप जन।

४६—आरत नें रुद्र ध्यान त्यांमें आश्रव कह्या भगवान।
आश्रव पाप तणा छें दुवार, दुवार तेहिज जीव व्यापार।

४७—पुन न पाप आवानां दुवार, ते करम तणा करतार।
करमां रो करता आश्रव जीव तिण नें कहें अग्यांनी अजीव।

४८—जे आश्रव में अजीव जांणें, ते पीपल बांधी मूरख ज्यूं तांणें।
करम लगावे ते आश्रव ते निरचेंई जीव दरब।

४९—आश्रव नें कह्यों रूंधाणो आ जिन जी रा मुख री वांणो।
ओ जीसा दरब रूंधाणो जीसो दरब थिर थपाणो।

४२—पांच आस्रव और अविरति अशुभ लेश्या के परिणाम हैं। अशुभ लेश्या जीव है। उसके लक्षण अजीव कैसे हो सकते हैं[30]? — आस्रव अशुभ लेश्या के परिणाम हैं

४३—जीव की पहचान उसके लक्षणों से करो। जीव के लक्षणों को जीव समझो। जो जीव के लक्षणों को अजीव स्थापित करता है वह वीर के वचनों का उत्थापन करता है[31]। — जीव के लक्षण अजीव नहीं होते

४४—जिन भगवान ने चार सज्ञाएँ कही हैं। वे भी पाप आने की हेतु—उपाय हैं। पाप का उपाय आस्रव है और जो आस्रव है वह जीव द्रव्य है[32]। — सज्ञाएँ जीव हैं

४५—जिन भगवान ने शुभ और अशुभ इन दोनों अध्यवसायों को आस्रव कहा है। भले अध्यवसाय से पुण्य और बुरे अध्यवसाय से जघन्य पाप लगते हैं[33]। — अध्यवसाय आस्रव हैं

४६—आर्त्त और रौद्र ध्यान को भगवान ने आस्रव कहा है। आस्रव पाप कर्म आने के द्वार हैं और जो द्वार हैं वे जीव के व्यापार हैं[34]। — आर्त्त रौद्र ध्यान आस्रव हैं

४७—जो पुण्य और पाप आने के द्वार है वे कर्मों के कर्त्ता हैं। कर्मों का कर्त्ता आस्रव जीव है। उसको अज्ञानी ही अजीव कहते हैं। — कर्मों के कर्त्ता जीव हैं (गा० ४७-४८)

४८—जो आस्रव को अजीव जानता है वह मूर्ख की तरह पीपल को बाँध कर खींचता है। जो कर्मों को लगाते हैं वे आस्रव हैं और वे निश्चय ही जीव द्रव्य हैं[35]।

४९—स्वयं भगवान ने अपने मुँह से आस्रव को रूँधना कहा है। आस्रव रूँधने से कौन सा द्रव्य रूँधता है और कौन-सा द्रव्य स्थिर होता है? — आस्रव-निरोध से क्या रुकता या स्थिर होता है?

५०—विपरीत तत्त्व कुण जांणे कुण मांहें उलटी तांणे।
कुण हिंसादिक रो अत्यागी कुण री वछा रहे कांई॥

५१—सावद्यादिक कुण अभिलाखे कषाय भाव कुण राखे।
कुण मन जोग रो व्यापारो कुण चिन्तवे म्हारों थारो॥

५२—इंद्रयां नें कुण मोकली मेलें सावद्यादिक न कुण मेले।
इणनें मोकली मेले ते आश्रव तेहिज छें जीव दरब॥

५३—मुख सूं कुण भूंडो बोले काया सूं कुण माठो डोले।
ए जीव दरब नों व्यापार पुदगल पिण वरते छें लार॥

५४—जीव रा चलाचल परदेस, त्यांनें थिर थापे दिढ करेस।
जब आश्रव दरब रुंधाणो तब तेहिज संवर थपाणो॥

५५—चलाचल जीव परदेस सारा परदेसां करम प्रवेस।
सारा परदेसां करम ग्रहता सारा परदेसां करमां रा करता॥

५६—त्यां परदेसां रो थिर करणहार, तेहिज संवर दुवार।
अथिर परदेस ते आश्रव ते निश्चेंई जीव दरब॥

५७—जोग परिणामीक में उदे भाव त्यामें जीव कह्या इण न्याय।
अजीव तो उदे भाव नाहीं ते देखलो सूतर मांहीं॥

५०—तत्त्व को विपरीत कौन जानता है और कौन उल्टी—मिथ्या खींचतान करता है? हिंसा आदि का अत्यागी कौन होता है? किसके आशा-वांछा लगी रहती है?

मिथ्या श्रद्धान आदि आश्रव जीव के होते हैं अत जीव हैं (गा० ५०-५३)

५१—शब्दादिक भोगों की अभिलाषा कौन करता है? कषाय भाव कौन रखता है? मनोयोग किसके होता है? और कौन अपनी और परायी सोचता है?

५२—इन्द्रियों को कौन प्रवृत्त करता है, शब्दादिक को कौन ग्रहण करता है? इन्द्रिय आदि की प्रवृति आस्रव है और जो आस्रव है वह जीव द्रव्य है।

५३—मुख से कौन बुरा बोलता है? शरीर से कौन बुरी क्रियाएँ करता है? ये सब कार्य जीव द्रव्य के ही व्यापार हैं और पुद्गल इनके अनुगामी हैं[३६]।

५४—जीव के प्रदेश चलाचल (चंचल) हैं। उनको दृढ़तापूर्वक स्थिर करने से आस्रव द्रव्य का निरोध होता है। और तभी सवर द्रव्य कायम होता है।

आस्रव का निरोध सवर की उत्पत्ति

५५—जीव के प्रदेश चलाचल (चंचल) होते हैं। सर्व प्रदेशों से कर्मों का प्रवेश होता है। सर्व प्रदेश कर्म ग्रहण करते हैं। सर्व प्रदेश कर्मों के कर्त्ता हैं।

सर्व प्रदेश कर्मों के कर्त्ता हैं

५६—इन प्रदेशों को स्थिर करने वाला ही सवर-द्वार है। अस्थिर प्रदेश आस्रव हैं और वे निश्चय ही जीव द्रव्य हैं[३७]।

संवर और आस्रव में अन्तर

५७—योग पारिणामिक और उदयभाव है इसीलिए योग को जीव कहा है। अजीव तो उदयभाव नहीं होता, यह सूत्र में जगह-जगह देखा जा सकता है[३८]।

योग जीव कैसे?

५०—विपरीत सरध कुण आंणें, कुण मांहें उपजी तांणे।
कुण हिंसादिक रो अत्यागी, कुण री वंछा रहै लागी॥

५१—सबदादिक कुण अभिलाखे, कषाय भाव कुण राखे।
कुण मन जोग रो व्यापारो, कुण चिन्तवे म्हारा थारो॥

५२—इंद्रयां नें कुण मोकली मेलें, सब्दादिक में कुण खेले।
इणनें मोकली मेले ते आस्रव, तेहिज छें जीव दरब॥

५३—मुख सूं कुण मूंठो बोले, काया सूं कुण माठो खेले।
ए जीव दरब नों व्यापार, पुदगल पिण करता में धार॥

५४—जीव रा चलाचल परदेस, त्यांनें थिर थाप थिर करेस।
जब आस्रव दरब रुंधाणो, जब तेहिज संवर बखाणो॥

५५—चलाचल जीव परदेस, सारा परदेसां करम प्रवेस।
सारा परदेसां करम ग्रहता, सारा परदेसां करमां रा करता॥

५६—त्यां परदेसां रो थिर करणहार, तेहिज संवर दुवार।
अथिर परदेस ते आस्रव, ते निश्चेई जीव दरब॥

५७—भोग परिभोगीक नें उदे भाव, त्यांनें जीव कह्या इण न्याव।
अजीव तो उदे भाव नांहीं, ते देखलो सूतर मांहीं॥

५८—पुण्य का आगमन निरवद्य योग से होता है। निरवद्य करनी निर्जरा की हेतु है। पुण्य तो सहज ही आकर लगते है। इसलिए योग को आस्रव में डाला है[३०]। — योग आस्रव कैसे ?

५९—ससार के जो काम है वे सब आस्रव है—जीवों के परिणाम है। इनकी क्या गिनती कराऊँ[४०] ? — सर्व कार्य आस्रव

६०—कर्मों को लगानेवाला पदार्थ आस्रव है और आस्रव जीव द्रव्य है। जो आकर लगते है वे अजीव कर्म-पुद्गल है। और जो कर्म लगाता है वह निश्चय ही जीव है। — कर्म, आस्रव और जीव (गा० ६०-६१)

६१—कर्मों का कर्त्ता जीव द्रव्य है। यह कर्म-कर्तृत्व ही आस्रव है। जो किए जाते है वे कर्म कहलाते है। वे पुद्गल है, जो आ-आ कर लगते है[४१]।

६२—जिनके गाढ़ मिथ्यात्व का अंधेरा है वे आस्रव-द्वार को नही पहचानते। उनको बिलकुल ही सुलटा नहीं दीखता। वे दिन-दिन अधिक उलझते जाते है। — मिथ्यात्वी को आस्रव की पहचान नही होती

६३—जीव को आठ कर्म घेरे हुए है। वे प्रवाह रूप से जीव के अनादि काल से लगे हुए है। उनमे चार कर्म घातिय कर्म है, जो मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं होने देते। — मोहकर्म के उदय से होनेवाले सावद्य कार्य योग आस्रव हैं (गा० ६३-६५)

६४—अन्य कर्मों से तो जीव आच्छादित होता है परन्तु मोहकर्म से जीव बिगड़ता है। बिगड़ा हुआ जीव सावद्य व्यापार करता है। वे ही आस्रव-द्वार हैं।

६५—चारित्र मोह के उदय से जीव मतवाला हो जाता है जिससे सावद्य कार्यों से अपना बचाव नहीं कर सकता। जो सावद्य कार्यों का सेवन करने वाला है वही आस्रव-द्वार है[४२]।

५८—पुन निरवद्य जोगां सूं लागे छें आम ते करणी निरजरा री छें ताम।
पुन सहजां लागे छें आम तिण सूं जोग छें आस्रव तांम॥

५९—जे जे संसार नां छें कांम त्यांरा जुआ २ रा कहूं नांम।
ते सगला छें आश्रव तांम ते सगला छें जीव परिणाम॥

६०—करमां ने लगावें ते आश्रव तेहिज छें आश्रव जीव दरब।
लागे ते पुदगल अजीव लगावें ते निश्चेंई जीव॥

६१—करमां रो करता जीव दरब करतापणो तेहिज आश्रव।
कीधा हुआ ते करम कहिवाय ते तो पुद्गल लागे छें आय॥

६२—ज्यांरे गूढ मिथ्यात अंधारो ते नहीं पिछांणे आश्रव दुवारो।
त्यांनें समजी तो मूल न सूझे, विम २ इधक अलूझे॥

६३—जीव रे करम आठ छें भाख, ते ज्यां रह्या पाठानुसार।
ज्यांमें घातीया करम छें च्यार, मोख मारग रोकणहार॥

६४—और करमां सूं जीव दबाय मोह करम थकी बिगडाय।
बिगड्यो करें सावद्य व्यापार तेहिज आश्रव दुवार॥

६५—चारित मोह उदे मतवालो तिण सूं सावद्य रो न हुवे टालो।
सावद्य रो करणहारो तेहिज आश्रव दुवारो॥

५८—पुण्य का आगमन निरवद्य योग से होता है। निरवद्य करनी निर्जरा की हेतु है। पुण्य तो सहज ही आकर लगते है। इसलिए योग को आस्रव में डाला है[३०]।

योग आस्रव कैसे ?

५९—ससार के जो काम हे वे सब आस्रव है—जीवों के परिणाम है। इनकी क्या गिनती कराऊँ[४०] ?

सर्व कार्य आस्रव

६०—कर्मों को लगानेवाला पदार्थ आस्रव है और आस्रव जीव द्रव्य है। जो आकर लगते है वे अजीव कम-पुद्गल है। और जो कर्म लगाता है वह निश्चय ही जीव है।

कर्म, आस्रव और जीव (गा० ६०-६१)

६१—कर्मो का कर्त्ता जीव द्रव्य है। यह कर्म-कर्तृत्व ही आस्रव है। जो किए जाते हे वे कर्म कहलाते है। वे पुद्गल है, जो आ-आ कर लगते है[४१]।

६२—जिनके गाढ़ मिथ्यात्व का अंधेरा है वे आस्रव-द्वार को नहीं पहचानते। उनको बिलकुल ही सुलटा नहीं दीखता। वे दिन-दिन अधिक उलझते जाते हैं।

मिथ्यात्वी को आस्रव की पहचान नही होती

६३—जीव को आठ कर्म घेरे हुए हैं। वे प्रवाह रूप से जीव के अनादि काल से लगे हुए हें। उनमे चार कर्म घातिय कर्म है, जो मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं होने देते।

मोहकर्म के उदय से होनेवाले सावद्य कार्य योग आस्रव हैं (गा० ६३-६५)

६४—अन्य कर्मो से तो जीव आच्छादित होता है परन्तु मोहकर्म से जीव बिगडता है। बिगड़ा हुआ जीव सावद्य व्यापार करता है। वे ही आस्रव-द्वार हें।

६५—चारित्र मोह के उदय से जीव मतवाला हो जाता है जिससे सावद्य कार्यो से अपना बचाव नही कर सकता। जो सावद्य कार्यो का सेवन करने वाला है वही आस्रव-द्वार है[४२]।

६६—वसण मोह उदे सरधें उंधो हाये मारग न आवें सुधो।
उंधी सरधा रो सरदणहारो, ते मिथ्यात आश्रव दुवारो॥

६७—मूढ कहें आश्रव नें रूपी वीर कह्यो आश्रव नें अरूपी।
सूतरां में कह्यो ठाम ठाम आश्रव नें अरूपी ताम॥

६८—पांच आश्रव नें इविरत ताम माठी लेस्या तणा परिणांम।
माठी लेस्या अरूपी छें ताय तिणरा रूपम रूपी किम थाय॥

६९—उजला नें मेला कह्या जोग मोह करम संजोग विजोग।
उजला जोग मेला थाय करम झरीयां उजल होय जाय॥

७०—उत्तराधेन गुणतीसमां मांय जोगसच्चे कह्यो जिणराय।
जोगसच्चे निरदोष में थाप्या त्यां में साधां रा गुण मांहें थाप्या॥

७१—साधां रा गुण छें सुध मांन त्यांनें अरूपी कह्या भगवान।
त्यां जोग आश्रव नें रूपी थाप्या त्यां वीर नां वचन उथाप्या॥

७२—ठांणा अग तीजा ठांणा मझार जोग जीव रो व्यापार।
तिण सूं अरूपी छें भाव जोग रूपी सरधे ते सरधा अजोग॥

७३—जोग आतमा जीव अरूपी त्यां जोगां नें मूढ कहे रूपी।
जोग जीव तणा परिणांम ते निरचें अरूपी छें तांम॥

६६—दर्शन मोह के उदय से जीव विपरीत श्रद्धा करता है। उसके सच्चा मार्ग हाथ नहीं आता। विपरीत श्रद्धा करने वाला ही मिथ्यात्व आस्रव-द्वार है[८३]।

मिथ्यात्व का कारण दर्शन मोहनीय कर्म

६७—मूर्ख आस्रव को रूपी कहते हैं। भगवान वीर ने आस्रव को अरूपी कहा है। सूत्रों में जगह-जगह आस्रव को अरूपी कहा है।

आस्रव अरूपी है

६८—पाँच आस्रव और अव्रत को अशुभ लेश्या का परिणाम कहा है। अशुभ लेश्या अरूपी है। उसके लक्षण रूपी किस तरह होंगे ?

अशुभ लेश्या के परिणाम रूपी नहीं हो सकते

६९—मोह कर्म के सयोग-वियोग से योग क्रमश उज्ज्वल या मैले कहे गये हैं। मोह कर्म के सयोग से उज्ज्वल योग मलिन हो जाते हैं। कर्मों की निर्जरा से अशुभ योग उज्ज्वल हो जाते हैं।

महकर्म के सयोग-वियोग से कर्म उज्जल मलिन

७०—उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में जिन भगवान ने 'योग सत्य' का उल्लेख किया है। 'योग सत्य' निर्दोष है। उसको साधुओं के गुणों के अन्तर्गत किया है।

योग सत्य

७१—साधुओं के गुणों को शुद्ध मानो। उनको भगवान ने अरूपी कहा है। जिसने योग आस्रव को रूपी स्थापित किया है उसने वीर के वचनों को उत्थापित किया है।

योग आस्रव अरूपी है (गा० ७१-७३)

७२—भावयोग वीर्य का ही व्यापार है इसलिए अरूपी है। स्थानाङ्ग सूत्र के तृतीय स्थानक में ऐसा कहा है। उसे जो रूपी श्रद्धता है उसकी श्रद्धा अयथार्थ है।

७३—योग आत्मा जीव है। अरूपी है। उन योगो को मूढ़ रूपी कहते है। योग जीव के परिणाम है और परिणाम निश्चय ही अरूपी हैं[८४]।

६६—वसण मोह उदे सरधे उंधो ह्यांथे मारग न आवे सुधो।
उंधी सरधा रो सरदणहारो ते मिथ्यात आश्रव धुवारो॥

६७—मूढ कहे आश्रव में रूपी वीर कह्यों आश्रव में अरूपी।
सूतरां में कह्यों ठाम ठाम आश्रव नें अरूपी ताम॥

६८—पांच आश्रव में इविरत ताम माठी लेस्या तणा परिणाम।
माठी लेस्या अरूपी छें ताय तिणरा लखण रूपी किम थाय॥

६९—उजला में मेला कह्या जोग मोह करम संजोग विजोग।
उजला जोग मेला थाय करम झरीयां उजल होय जाय॥

७०—उत्तराधेन गुणतीसमा मांय जोगसच्चे कह्यों जिणराय।
जोगसच्चे निरदोष नें थाप्या त्यां नें साधां रा गुण मांहें थाप्या॥

७१—साधां रा गुण छें सुध मांन त्यांनें अरूपी कह्या भगवांन।
त्यां जोग आश्रव नें रूपी थाप्या त्यां वीर नां वचन उथाप्या॥

७२—छंणा अग तीजा ठांणा मझार जोग जीव रो व्यापार।
तिण सूं अरूपी छें भाव जोग रूपी सरधे ते सरधा अजोग॥

७३—जोग आतमा जीव अरूपी त्यां जोगां में मूढ कहे रूपी।
जोग जीव तणा परिणाम ते निश्चे अरूपी छें ताम॥

७४—आस्रव को जीव श्रद्धाने के लिये यह जोड पाली शहर में रचना-सवत् स० १८५५ की आश्विन सुदी द्वादशी रविवार को की है ।

७४—आस्रव जीव सरधावण ताय जोड़ कीधीं छै पाली मांय
संवत अठारे पचावना मझार, आसोज सुद बारस रविवार ॥

शब्द मिलता है[1]। अन्य आगमो में भी यह शब्द पाया जाता है[2]। स्वामीजी कहते हैं—"आस्रव-द्वार शब्द आस्रव पदार्थ का ही द्योतक और उसका पर्यायवाची है। आस्रव पदार्थ अर्थात् वह पदार्थ जो आत्म-प्रदेशो में कर्मो के आने का द्वार हो—प्रवेश-मार्ग हो।"

(३) आस्रव कर्म आने का द्वार है : जिस तरह कूप में जल आने का मार्ग उसके अन्तः स्रोत होते हैं, नौका में जल-प्रवेश के निमित्त उसके छिद्र होते हैं और मकान मे प्रवेश करने का साधन उसका द्वार होता है उसी तरह जीव के प्रदेशो मे कर्म के आगमन का मार्ग आस्रव पदार्थ है। कर्मों के प्रवेश का हेतु—उपाय—साधन—निमित्त होने से आस्रव पदार्थ को आस्रव-द्वार कहा जाता है[3]।

(४) आस्रव और कर्म भिन्न-भिन्न हैं—एक नहीं : जिस तरह छिद्र और उससे प्रविष्ट होनेवाला जल एक नही होता, जिस तरह द्वार और उससे प्रविष्ट होनेवाले प्राणी पृथक् होते हैं वैसे ही आस्रव और कर्म एक नही पृथक्-पृथक् हैं। आस्रव कर्मागमन का हेतु है। और जो आगमन करते—आते हैं वे जड कर्म हैं। कर्म इसलिए कर्म है कि वह जीव द्वारा मिथ्यात्वादि हेतुओ से किया जाता है। हेतु इसलिए हेतु हैं कि इनसे जीव कर्मो को करता है—उन्हें आत्म-प्रदेशो में ग्रहण करता है[4]। आस्रव साधन हैं और कर्म कार्य। आस्रव जीव के परिणाम या उसकी क्रियाएँ हैं और कर्म उसके फल। श्री हेमचन्द्र सूरि लिखते हैं : "जो कर्म-पुद्‌गलों के ग्रहण का हेतु है वह आस्रव कहा जाता है। जो ग्रहण होते हैं वे ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म हैं[5]।" (इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए पृ० २९२-२९६)

१—(क) ठाणाङ्ग ५.२. ४१८

(ख) समवायाङ्ग सम० ५

२—(क) प्रश्नव्याकरण प्र० श्रु०

(ख) उत्त० २९ १३

३—समवायाङ्ग सम० ५ टीका :

आस्रवद्वाराणि—कर्मोपदानोपाया .. सवरस्य कर्मानुपादानस्य द्वाराणि उपाया. सवरद्वाराणि

यम कर्मग्रन्थ १ :

ीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो भएणए कम्म

ावतत्त्वसाहित्यसग्रह सप्ततत्त्वप्रकरणम् गा० ६२ :

ा कर्मपुद्‌गलादानहेतु प्रोक्त स आश्रव ।

र्माणि चाष्टधा ज्ञानावरणीयादि भेदत ॥

टिप्पणियाँ

१—आस्रव पदार्थ और उसका स्वभाव (दो० १)

इस दोहे में चार बातें कही गयी हैं

(१) पाँचवाँ पदार्थ आस्रव है।

(२) आस्रव पदार्थ को आस्रव-द्वार कहते हैं।

(३) आस्रव कर्म आने का द्वार है।

(४) आस्रव और कर्म भिन्न-भिन्न हैं—एक नहीं।

नीचे इन बातों पर क्रमशः प्रकाश डाला जाता है

(१) पाँचवाँ पदार्थ आस्रव है : श्वेताम्बर आगमों में भी सद्भाव पदार्थों को गिनाते समय पाँचवें स्थान पर आस्रव का नामोल्लेख है[१]। दिगम्बर आचार्यों ने भी नौ पदार्थों में पाँचवें स्थान पर इस पदार्थ का उल्लेख किया है[२]। इस तरह श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों इस पदार्थ को स्वीकार करते हैं। जिस तरह तालाब में जल होने से यह सहज ही सिद्ध होता है कि उसके जल आने का मार्ग भी है वैसे ही संसारी जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध मानने लगने के बाद उन कर्मों के आने का मार्ग भी होना ही चाहिए, यह स्वयंसिद्ध है। कर्मों के आने का हेतु-मार्ग आस्रव पदार्थ है। इसीलिए आगम में कहा है : 'मत विश्वास करो कि आस्रव नहीं है पर विश्वास करो कि आस्रव है[३]।"

(२) आस्रव पदार्थ को आस्रव-द्वार कहते हैं : स्थानाङ्ग तथा समवायाङ्ग में आस्रव-द्वार

१—(क) उत्त० २८.१४

(ख) ठाणाङ्ग ९.३.६६५

२—(क) पञ्चास्तिकाय १.८

(ख) द्रव्यसंग्रह २.२८

३—सूयगडं २.५.१७ :

णत्थि आसवे संवरे वा णेवं सण्णं निवेसए।

शब्द मिलता है[1]। अन्य आगमो में भी यह शब्द पाया जाता है[2]। स्वामीजी कहते हैं—"आस्रव-द्वार शब्द आस्रव पदार्थ का ही द्योतक और उसका पर्यायवाची है। आस्रव पदार्थ अर्थात् वह पदार्थ जो आत्म-प्रदेशो में कर्मो के आने का द्वार हो—प्रवेश-मार्ग हो।"

(३) आस्रव कर्म आने का द्वार है : जिस तरह कूप मे जल आने का मार्ग उसके अन्तः स्रोत होते हैं, नौका में जल-प्रवेश के निमित्त उसके छिद्र होते हैं और मकान में प्रवेश करने का साधन उसका द्वार होता है उसी तरह जीव के प्रदेशो में कर्म के आगमन का मार्ग आस्रव पदार्थ है। कर्मों के प्रवेश का हेतु—उपाय—साधन—निमित्त होने से आस्रव पदार्थ को आस्रव-द्वार कहा जाता है[3]।

(४) आस्रव और कर्म भिन्न-भिन्न हैं—एक नहीं : जिस तरह छिद्र और उससे प्रविष्ट होनेवाला जल एक नही होता, जिस तरह द्वार और उससे प्रविष्ट होनेवाले प्राणी पृथक् होते हैं वैसे ही आस्रव और कर्म एक नही पृथक्-पृथक् हैं। आस्रव कर्मागमन का हेतु है। और जो आगमन करते—आते हैं वे जड कर्म हैं। कर्म इसलिए कर्म है कि वह जीव द्वारा मिथ्यात्वादि हेतुओ से किया जाता है। हेतु इसलिए हेतु हैं कि इनसे जीव कर्मो को करता है—उन्हें आत्म-प्रदेशो में ग्रहण करता है[4]। आस्रव साधन हैं और कर्म कार्य। आस्रव जीव के परिणाम या उसकी क्रियाएँ हैं और कर्म उसके फल। श्री हेमचन्द्र सूरि लिखते हैं : "जो कर्म-पुद्गलो के ग्रहण का हेतु है वह आस्रव कहा जाता है। जो ग्रहण होते हैं वे ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म हैं[5]।" (इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए पृ० २९२-२९६)

१—(क) ठाणाङ्ग ५.२. ४१८
(ख) समवायाङ्ग सम० ५

२—(क) प्रश्नव्याकरण प्र० श्रु०
(ख) उत्त० २९ १३

३—समवायाङ्ग सम० ५ टीका :
आस्रवद्वाराणि—कर्मोपदानोपाया... सवरस्य कर्मानुपादानस्य द्वाराणि उपाया. संवरद्वाराणि

४—प्रथम कर्मग्रन्थ १ :
कीरइ जिएण हेउहिं, जेण तो भण्णए कम्मं

५—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह सप्ततत्त्वप्रकरणम् गा० ६२ :
य कर्मपुद्गलादानहेतु' प्रोक्त स आश्रव ।
कर्माणि चाष्टधा ज्ञानावरणीयादि भेदत ॥

२—आस्रव शुभ अशुभ परिणामानुसार पुण्य अथवा पाप का द्वार है (दो० २)

इस दोहे में दो बातें कही गई हैं

(१) जीव के परिणाम आस्रव हैं।

(२) भले परिणाम पुण्य के आस्रव हैं और बुरे परिणाम पाप के।

नीचे क्रमशः इन सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है

(१) जीव के परिणाम आस्रव हैं : जिस तरह नौका में जल भरता है उसका कारण नौका का छिद्र है और मकान में मनुष्य प्रविष्ट होता है उसका कारण मकान का द्वार है वैसे ही जीव के प्रदेशों में कर्म के आगमन हेतु उसके परिणाम हैं। जीव के परिणाम ही आस्रव-द्वार हैं। परिणाम का अर्थ है मिथ्यात्व प्रमाद आदि भाव जिनमें जीव परिणमन करता है।

(२) भले परिणाम पुण्य के आस्रव हैं और बुरे परिणाम पाप के : जीव जिन भावों में परिणमन करता है वे शुभ या अशुभ होते हैं। शुभ भाव पुण्य के आस्रव हैं और अशुभ परिणाम पाप के। जिस तरह सर्प द्वारा ग्रहण किया हुआ दूध विष रूप में परिणत होता है और मनुष्य द्वारा ग्रहण किया हुआ दूध पौष्टिक तत्त्व के रूप में, उसी तरह बुरे परिणामों से आत्मा में संचित कर्मवर्गणा के पुद्गल पाप रूप में परिणमन करते हैं और भले परिणामों से आत्मा में संचित कर्मवर्गणा के पुद्गल पुण्य रूप में।

श्री हेमचन्द्रसूरि ने इस विषय का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। वे लिखते हैं 'मन-वचन-काय की क्रिया को आस्रव कहते हैं। शुभ आस्रव शुभ—पुण्य का हेतु है और अशुभ आस्रव अशुभ—पाप का हेतु। चूँकि जीव के मन-वचन-काय के क्रिया-रूप योग शुभाशुभ कर्म का स्राव करते हैं अतः वे आस्रव कहलाते हैं। मैत्र्यादि भावनाओं से वासित चित्त शुभ कर्म उत्पन्न करता है और कषाय तथा विषय से वासित चित्त अशुभ कर्म। श्रुतज्ञानाश्रित सत्यवचन शुभ कर्म उत्पन्न करता है और उससे विपरीत वचन अशुभ कर्म। इसी तरह सुगुप्त शरीर से जीव शुभ कर्म ग्रहण करता है और निरन्तर आरंभवाला जीव-हिंसक काया के द्वारा अशुभ कर्म[1]।

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : सप्ततत्त्वप्रकरणम् ५९–६ :

मनोवचनकायानां यस्मात् कर्म स आश्रवः ।
शुभः शुभस्य हेतुः स्यादशुभस्त्वशुभस्य सः ॥
मनोवाक्कायकर्माणि योगा कर्म शुभाशुभम् ।
यदाश्रवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीर्तिताः ॥
मैत्र्यादिवासितं चेतः कर्म सूते शुभात्मकम् ।
कषायविषयाक्रान्तं वितनोत्यशुभं पुनः ॥
शुभार्जनाय निर्मिथ्यं श्रुतज्ञानाश्रितं वचः ।
विपरीतं पुनर्ज्ञेयमशुभार्जनहेतवे ॥
शरीरेण सुगुप्तेन शरीरी चिनुते शुभम् ।

३—आस्रव जीव है (दो० २-४) .

इन दोहो में दो बाते कही गयी हैं

(१) आस्रव जीव है, अजीव नही।

(२) आस्रव को अजीव मानना मिथ्यात्व है।

इन दोनो पर नीचे क्रमश प्रकाश डाला जाता है

(१) आस्रव जीव है : पहले बताया जा चुका है कि आस्रव जीव-परिणाम हैं। जीव-परिणाम जीव से भिन्न नही, जीव ही है अतः आस्रव जीव है। जिस तरह नौका का छिद्र नौका से और मकान का द्वार मकान से पृथक् नही होता वैसे ही आस्रव जीव से भिन्न नही। आस्रव जीव है यह एक आंकिक सत्य है। इसे निम्न रूप मे रखा जा सकता है

आस्रव = जीव-परिणाम
जीव-परिणाम = जीव
आस्रव = जीव

इस विषय में विस्तृत विवेचन बाद में दिया गया है।

(२) आस्रव को अजीव मानना मिथ्यात्व है मुख्य पदार्थ दो हैं—एक जीव और दूसरा अजीव। नौ पदार्थ मे अन्य सात की इन्ही दो पदार्थों में परिगणना होती है। कई आस्रव को जीव पदार्थ के अन्तर्गत मानते हैं और कई अजीव पदार्थ के अन्तर्गत। स्वामीजी कहते हैं "आस्रव सहज तर्क से जीव सिद्ध होता है। आगम मे भी आस्रव को जीव कहा गया है। ऐसी परिस्थिति में आस्रव को अजीव मानना विपरीत श्रद्धान है—मिथ्यात्व है।" आगम मे कहा है—जो जीव को अजीव श्रद्धता है वह मिथ्यात्वी है और जो अजीव को जीव श्रद्धता है वह मिथ्यात्वी है। अत जीव होने पर भी आस्रव को अजीव मानना मिथ्यात्व है।

इस विषय का भी विस्तृत विवेचन बाद मे दिया गया है।

४—ढाल का विषय (दो० ४-५) .

आस्रव जीव है या अजीव ? इस प्रश्न का समाधान ही प्रस्तुत ढाल का मुख्य विषय है। इन दोहो में स्वामीजी इसी प्रश्न के विवेचन करने की प्रतिज्ञा करते हैं। इस चर्चा के पूर्व आस्रव के भेद और उनके सामान्य स्वरूप कथन की प्रतिज्ञा भी स्वामीजी ने यहाँ की है।

५—आस्रवों की संख्या (गा० १-२)

आस्रव कितने हैं इस विषय में भिन्न-भिन्न प्रतिपादन मिलते हैं

१—आचार्य कुन्दकुन्द के मत से आस्रव ४ हैं—(१) मिथ्यात्व आस्रव (२) अविरति आस्रव (३) कषाय आस्रव और (४) योग आस्रव[1]। श्री विनयविजयजी ने भी आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण करते हुए इन चार को ही आस्रव कहा है[2]।

२—वाचक उमास्वाति के मत से आस्रव ४२ हैं—(१) पाँच इन्द्रियाँ (२) चार कषाय (३) पाँच अव्रत (४) पचीस क्रियाएँ और (५) तीन योग[3]। अनेक श्वेताम्बर आचार्यों ने इसी पद्धति से आस्रव का निरूपण किया है[4]।

३—आस्रव के भेद २० भी प्रसिद्ध हैं[5]: (१) मिथ्यात्व आस्रव (२) अविरति आस्रव (३) प्रमाद आस्रव (४) कषाय आस्रव (५) योग आस्रव (६) प्राणातिपात आस्रव (७) मृषावाद आस्रव (८) अदत्तादान आस्रव (९) मैथुन आस्रव (१०) परिग्रह आस्रव (११) श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव (१२) चक्षुरिन्द्रिय आस्रव (१३) घ्राणेन्द्रिय आस्रव (१४) रसने-

---

१—समयसार ४ १६४ १६५

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिंपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो॥

२—शान्तसुधारस : आस्रव भावना ३

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगसंज्ञा-।
श्चत्वारः सुकृतिभिरास्रवाः प्रदिष्टाः॥

३—तत्त्वा० ६ १ २ ६

कायवाङ्मनःकर्म योगः। स आस्रवः
अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः

४—शान्तसुधारस : आस्रव भावना ४

इन्द्रियाव्रतकषाययोगजाः। पंच पंचचतुरन्वितास्त्रयः॥
पंचविंशतिरसत्क्रिया इति। नेत्रवेदपरिसंख्ययाप्यमी॥

५—पचीस बोल : बोल १४। इन २० आस्रवों का एक स्थल पर उल्लेख किसी आगम में देखने में नहीं आया। इनका आधार इस प्रकार दिया जा सकता है:

१-५ ठाणाङ्ग ५ २ ४१८; समवायाङ्ग सम ५
६-१० प्रश्नव्याकरण प्रथम श्रुतस्कंध अ० १-५
११-१५ ठाणाङ्ग : १ १०६

न्द्रिय आस्रव (१५) स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव (१६) मन आस्रव (१७) वचन आस्रव (१८) काय आस्रव (१९) भण्डोपकरण आस्रव और (२०) शुचिकुशाग्र मात्र का सेवनास्रव।

४—स्वामीजी कहते है आस्रव पांच हैं·

(१) मिथ्यात्व आस्रव

(२) अविरति आस्रव

(३) प्रमाद आस्रव

(४) कषाय आस्रव और

(५) योग आस्रव

इस कथन के लिए स्वामीजी ठाणाङ्ग का प्रमाण देते हैं। ठाणाङ्ग का पाठ इस प्रकार है "पच आसवदारा प० तं मिच्छत्त अविरई पमाओ कसाया जोगा।" स्वामीजी का कथन समवायांग से भी समर्थित है। वहाँ भी ऐसा ही पाठ है—"पच आसवदारा पन्नता, तजहा—मिच्छत्त अविरई पमाया कसाय जोगा।"

आगम के अनुसार स्वामीजी ने जिन मिथ्यात्व आदि को आस्रव कहा है, उन्ही को उमास्वाति ने वध-हेतु कहा है "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव (८.१)।"

६—आस्रवों की परिभाषा (गा० ३-८)

इन गाथाओ मे स्वामीजी ने पांच आस्रवो की परिभाषा दी है और साथ ही सक्षेप मे प्रत्येक आस्रव के प्रतिपक्षी सवर का भी स्वरूप बतलाया है। पांचो आस्रवो की व्याख्या क्रमश इस प्रकार है

१—मिथ्यात्व आस्रव . उल्टी श्रद्धा को मिथ्यात्व कहते हैं। (१) अधर्म को धर्म समझना, (२) धर्म को अधर्म समझना, (३) कुमार्ग को सन्मार्ग समझना, (४) सन्मार्ग को कुमार्ग समझना, (५) अजीव को जीव समझना, (६) जीव को अजीव समझना, (७) असाधु को साधु समझना, (८) साधु को असाधु समझना, (९) अमूर्त को मूर्त समझना और (१०) मूर्त को अमूर्त समझना—ये दस मिथ्यात्व हैं[१]।

अन्य आगम में कहा है—"ऐसी सज्ञा मत करो कि लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, आश्रव-सवर, वेदना-निर्जरा, क्रिया-अक्रिया, क्रोध-मान,

१—ठाणाङ्ग १० १ ७३४

२—सुयगड २ ५ १२-२८

माया-लोभ, राग-द्वेष, चतुरन्त संसार, देव-देवी, सिद्धि-असिद्धि, सिद्धि का निज-स्थान, साधु-असाधु और कल्याण-पाप नहीं हैं, पर संज्ञा करो कि लोक-अलोक जीव-अजीव आदि सब हैं[1]। इस उपदेश से भिन्न दृष्टि का रखना मिथ्यात्व आश्रव है।

मिथ्यात्व पाँच प्रकार का कहा गया है। उनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है :

(१) आभिग्रहिक मिथ्यात्व : तत्त्व की परीक्षा किये बिना किसी सिद्धान्त को ग्रहण कर दूसरे का खण्डन करना

(२) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व : गुणदोष की परीक्षा किये बिना सब मंतव्यों को समान समझना

(३) सांशयिक मिथ्यात्व : देव गुरु और धर्म के स्वरूप में संदिग्ध बुद्धि रखना

(४) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व : अपनी मान्यता को असत्य समझ लेने पर भी उसे पकड़े रहना और

(५) अनाभोगिक मिथ्यात्व : विचार और विशेष ज्ञान के अभाव में अर्थात् मोह की प्रबलतम अवस्था में रही हुई मूढ़ता।

आचार्य पूज्यपाद ने मिथ्यात्व के भेदों के सम्बन्ध में निम्न विचार दिये हैं—मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है :

(१) नैसर्गिक : दूसरे के उपदेश बिना मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से जीवादि पदार्थों का अश्रद्धान रूप भाव नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है।

(२) परोपदेशपूर्वक : अन्य दर्शनी के निमित्त से होनेवाला मिथ्यादर्शन परोपदेशपूर्वक कहलाता है। यह क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक चार प्रकार का होता है[2]।

उमास्वाति ने इनको क्रमशः अनभिगृहीत और अभिगृहीत मिथ्यात्व कहा है। इनका उल्लेख आगम में भी है[3]।

१—तत्त्वा० ८.१ सर्वार्थसिद्धि :

मिथ्यादर्शनं द्विविधम्, नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशात् यदाविर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणं तन्नैसर्गिकम्। परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधम्, क्रियाक्रियावाद्यज्ञानिकवैनयिकविकल्पात्।

२—तत्त्वा० ८.१ भाष्य :

तत्राभ्युपेत्यासम्यग्दर्शनपरिग्रहोऽभिगृहीतमज्ञानिकादीनां त्रयाणां त्रिषष्टानां कुवादिशतानाम्। शेषमनभिगृहीतम्।

३—ठाणाङ्ग २.१

आचार्य पूज्यपाद ने मिथ्यात्व के अन्य पांच भेद भी बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं

(१) यही है, इसी प्रकार का है इस प्रकार धर्म और धर्मी में एकान्तरूप अभिप्राय रखना 'एकान्त मिथ्यादर्शन' है। जैसे यह सब जगत परब्रह्म रूप ही है, या सब पदार्थ अनित्य ही हैं या नित्य ही हैं[1]।

(२) सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ मानना, केवली को कवलाहार मानना और स्त्री सिद्ध होती है इत्यादि मानना 'विपर्यय मिथ्यादर्शन' है[2]।

यहां जो उदाहरण दिये हैं वे श्वेताम्बर-दिगम्बरो के मतभेद के सूचक हैं। श्वेताम्बरो की इन मान्यताओ को दिगम्बरो ने मिथ्यात्व रूप से प्रतिपादित किया है। इस मिथ्यात्व के सार्वभौम उदाहरण हैं जीव को अजीव समझना, अजीव को जीव समझना आदि (देखिए पृ० ३७३ टि० ६ १)।

(३) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो मिल कर मोक्षमार्ग हैं या नही इस प्रकार सशय रखना 'सशय मिथ्यादर्शन' है[3]।

(४) सब देवता और सब मतो को एक समान मानना 'वैनयिक मिथ्यादर्शन' है[4]।

(५) हिताहित की परीक्षा रहित होना 'अज्ञानिक मिथ्यादर्शन' है[5]।

मिथ्यात्व का अवरोध सम्यक्त्व से होता है। सम्यक्त्व का अर्थ है—सही दृष्टि, सम्यक् श्रद्धान। मिथ्यात्व आस्रव है। सम्यक्त्व सवर है। मिथ्यात्त्व से कर्म आते हैं। सम्यक्त्व से रुकते हैं।

मिथ्या श्रद्धान जीव करता है। अजीव नही कर सकता। मिथ्या श्रद्धा जीव का भाव—परिणाम है।

१—तत्त्वा० ८.१ सर्वार्थसिद्धि :

तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्त. "पुरुष एवेद सवम्" इति वा नित्य एव वा अनित्य एवेति

२—वही .

सग्रन्थो निर्ग्रन्थ , केवली कवलाहारी, स्त्री सिध्यतीत्येवमादि विपर्यय ।

३—वही .

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्ग स्याद्वा न वेत्यन्यतरपक्षापरिग्रह संशय ।

४—वही :

सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शन वैनयिकम्

५—वही :

हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम्

२—अविरति आस्रव : अविरति अर्थात् अत्याग भाव । हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि अठारह पाप, भोग-उपभोग वस्तुएं तथा सावद्य कार्यों से विरत न होना—प्रत्याख्यानपूर्वक उनका त्याग करना अविरति है[1] ।

आचार्य पूज्यपाद ने षट् जीवनिकाय और षट् इन्द्रियों की अपेक्षा से अविरति बारह प्रकार की कही है ।

अविरति जीव का अशुभ परिणाम है । अविरति का विरोधी तत्त्व विरति है । अविरति आस्रव है । विरति संवर है । विरति अविरति को दूर करती है ।

जिन पाप पदार्थ अथवा सावद्य कार्यों का मनुष्य त्याग नहीं करता उनके प्रति उसकी इच्छाएँ खुली रहती हैं । उसकी भोगवृत्ति उनमुक्त रहती है । यह उनमुक्तता ही अविरति आस्रव है । त्याग द्वारा इच्छाओं का संवरण करना—उनकी उनमुक्तता को संयमित करना संवर है ।

अविरति अत्यागभाव है और प्रमाद अनुत्साह भाव । अत्यागभाव और अनुत्साह भाव को एक ही मान कोई कह सकता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं । इसका उत्तर देते हुए अकलङ्कदेव कहते हैं— "नहीं । ऐसा नहीं । दोनों एक नहीं हैं । अविरति के अभाव में भी प्रमाद रह सकता है । विरत भी प्रमादी देखा जाता है । इससे दोनों आस्रव अपने स्वभाव से भिन्न हैं[3] ।"

३—प्रमाद आस्रव : स्वामीजी ने इस आस्रव की परिभाषा आलस्यभाव—धर्म के प्रति अनुत्साह का भाव किया है । आचार्य पूज्यपाद ने भी ऐसी ही परिभाषा दी है—"स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः" कुशल में अनादरभाव प्रमाद है ।

१—तत्त्व० ७ १; ८ १ सर्वार्थसिद्धि :

तेभ्यो विरमणं विरतिर्व्रतमित्युच्यते । व्रतमभिसन्धिकृतो नियम इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा । तत्प्रतिपक्षभूता अविरतिर्ग्राह्या ।

२—(क) तत्त्वा० ८ १ सर्वार्थसिद्धि

अविरतिर्द्वादशविधा, षट्कायषट्करणविषयभेदात् ।

(ख) तत्त्वार्थवार्तिक ८ १ २९ :

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायषट्कस्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रमनोविषयेषु इष्टासंयमा विरतिविरहात् द्वादशविधा अविरतिः

३—तत्त्वार्थवार्तिक ८ १ ३१ :

अविरते प्रमादस्य चाविशेष इति [illegible] विरतस्यापि प्रमाददर्शनात् ।

प्रमाद के भेदो पर विचार करते हुए उन्होने लिखा है : "शुद्धयष्टक और उत्तम क्षमा आदि विषयक भेदसे प्रमाद अनेक प्रकार का है[1] ।" श्री अकलङ्कदेव ने इसी बात को पल्लवित करते हुए लिखा है : "भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भैक्ष्य, शयन, आसन, प्रतिष्ठापन और वाक्यशुद्धि आत्मक आठ सयम तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, शौच, सत्य, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य आदि इन दस धर्मों मे अनुत्साह या अनादर का भाव प्रमाद है । इस तरह यह प्रमाद अनेक प्रकार का है[2] ।"

आचार्य उमास्वाति ने कुशल मे अनादर के साथ-साथ 'स्मृति-अनवस्थान' और 'योग-दुष्प्रणिधान' को भी प्रमाद का अङ्ग माना है[3] । योगो की दुष्प्रवृत्ति क्रिया रूप होने से प्रमादास्रव में उसका समावेश उचित नही लगता, क्योकि इससे प्रमादास्रव और योगास्रव मे भेद नही रह पाता ।

मद, निद्रा, विषय, कषाय, विकथादि को भी प्रमाद कहा जाता है । पर यहाँ प्रमाद का अर्थ आत्म-प्रदेशवर्ती अनुत्साह है, मद, निद्रा, आदि नही । क्योकि क्रिया रूप मद आदि मन-वचन-काय योग के व्यापार रूप हैं । योगजनित कार्यों का समावेश योग आस्रव में होता है, प्रमाद आस्रव में नही । श्री जयाचार्य लिखते हैं

अप्रमाद सवर आवा न दे, जे कर्म उदय थी ताय ।
अणउछाह आलस भाव ने जी, ते तीजो आस्रव जणाय ॥
मन वचन काया रा व्यापार स्यू जी, तीजो आस्रव जूदो जणाय ।
जोग आस्रव छै पांचमो जी, प्रमाद तीजो ताहि ॥
असख्याता जीवरा प्रदेश में अणउछापणो अधिकाय ।
ते दीसैं तीनू जोगा स्यू जुदोजी, प्रमाद आस्रव ताय ॥
मद विषय कषाय उदीरनें जी, भाव नींद मे विकथा ताय ।
ए पांचू जोग रूप प्रमाद छै जी, तिण स्यू जोग आस्रव में जणाय[4] ॥

१—तत्त्वा० ८ १ सर्वार्थसिद्धि

प्रमादोऽनेकविध , शुद्ध्यष्टकोत्तमक्षमादिविषयभेदात्

२—तत्त्वार्थवार्तिक ८.१.३०

भावकाय ..वाक्यशुद्धिलक्षणाष्टविधसयम—उत्तमक्षमा.., ब्रह्मचर्यादिविषयानुत्साह-भेदादनेकविध प्रमादोऽवसेय:

३—तत्त्वा० ८.१

प्रमाद स्मृत्यनवस्थान कुशलेष्वनादरो योगदुष्प्रणिधान चैव प्रमाद ।

४—झीणीचर्चा ढा० २२.१८-२०,२३

२—अविरति आस्रव : अविरति अर्थात् अत्याग भाव । हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन परिग्रह आदि अठारह पाप भोग-उपभोग वस्तुएं तथा सावद्य कार्यों से विरत न होना—प्रत्याख्यानपूर्वक उनका त्याग न करना अविरति है[1] ।

आचार्य पूज्यपाद ने षट् जीवनिकाय और षट् इन्द्रियों की अपेक्षा से अविरति बारह प्रकार की कही है[2] ।

अविरति जीव का अशुभ परिणाम है। अविरति का विरोधी तत्त्व विरति है। अविरति आस्रव है। विरति संवर है। विरति अविरति को दूर करती है।

जिन पाप पदार्थ अथवा सावद्य कार्यों का मनुष्य त्याग नहीं करता उनके प्रति उसकी इच्छाएँ खुली रहती हैं। उसकी भोगवृत्ति उन्मुक्त रहती है। यह उन्मुक्तता ही अविरति आस्रव है। त्याग द्वारा इच्छाओं का संवरण करना—उनकी उन्मुक्तता को संयमित करना संवर है।

अविरति अत्यागभाव है और प्रमाद अनुत्साह भाव। अत्यागभाव और अनुत्साह भाव को एक ही मान कोई कह सकता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं। इसका उत्तर देते हुए अकलङ्कदेव कहते हैं—"नहीं। ऐसा नहीं। दोनों एक नहीं है। अविरति के अभाव में भी प्रमाद रह सकता है। विरत भी प्रमादी देखा जाता है। इससे दोनों आस्रव अपने स्वभाव से भिन्न है[3] ।"

३—प्रमाद आस्रव : स्वामीजी ने इस आस्रव की परिभाषा धर्मस्यमाव—धर्म के प्रति अनुत्साह का भाव किया है। आचार्य पूज्यपाद ने भी ऐसी ही परिभाषा दी है— "स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः" कुशल में अनादरभाव प्रमाद है।

१—तत्त्वा० ७.१; ८.१ सर्वार्थसिद्धि
तस्मो विरमणं विरतिर्व्रतमित्युच्यते । व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति वा । तत्प्रतिपक्षभूता अविरतिर्ग्राह्या ।

२—(क)तत्त्वा० ८.१ सर्वार्थसिद्धि
अविरतिर्द्वादशविधा; षट्कायषट्करणविषयभेदात् ।
(ख)तत्त्वार्थवार्तिक ८.१.१९ :
पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायवधात्मोऽव्रतरसस्पर्शनघ्राणेन्द्रियेषु इच्छासंयमा-विरतिभेदात् द्वादशविधा अविरतिः

३—तत्त्वार्थवार्तिक ८.१.३९ :
अविरतस्य प्रमादस्य चाविशेष इति [illegible] प्रमाददर्शनात् ।

मे जो उष्णता का भाव विद्यमान रहता है वह कषाय आस्रव है। ग्यारहवें गुणस्थान मे क्रोधादि का उपशम हो जाने से जब उदय का कर्त्तव्य दूर हो जाता है तब अकषाय सवर होता है।"

यदि कोई कहे कि कषाय और अविरति मे कोई अन्तर नही क्योकि दोनो ही हिंसादि के परिणाम रूप हैं तो यह कहना अनुचित होगा। श्री अकलङ्कदेव कहते हैं "दोनो को एक मानना ठीक नहीं क्योकि दोनो में कार्य-कारण का भेद है। कषाय कारण है और प्राणातिपात आदि अविरति कार्य है[1]।"

कषाय आस्रव का प्रतिपक्षी अकषाय सवर है। कषाय से कर्म आते हैं। सवर से रुकते हैं।

५—योग आस्रव मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति को योग कहते हैं। मन, वचन और काय से कृत, कारित और अनुमति रूप प्रवृत्ति योग है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय आस्रव प्रवृत्ति रूप नही भाव रूप हैं, योग प्रवृत्ति रूप है। योग से आत्म-प्रदेशो मे स्पन्दन होता है, मिथ्यात्व आदि में वैसी बात नहीं।

मन-वचन-काय के कर्म शुभ और अशुभ दो तरह के होते हैं। अशुभ कर्म योगास्रव के अन्तर्गत आते हैं और उनसे पाप का आस्रव होता है। शुभयोग निर्जरा के हेतु हैं। उनसे कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा के साथ-साथ पुण्य का आस्रव होता है। इस दृष्टि से निर्जरा के हेतु शुभ योगो को भी योगास्रव में समझा जाता है। श्री जयाचार्य लिखते है :

शुभ योगां ने सोय रे, कहिये आश्रव निर्जरा।
तास न्याय अवलोय रे, चित्त लगाई सांभलो॥
शुभ जोगां करी तास रे, कर्म कटे तिण कारणे।
कही निर्जरा जास रे, करणी लेखे जाणवी॥
ते शुभ जोग करीज रे, पुण्य बधे तिण कारणे॥
आश्रव जास कहीज रे, वारु न्याय विचारिये॥

१—तत्त्वार्थवार्तिक ८ १.३३ कषायाऽविरत्योरभेद इति चेत्, न, कार्यकारणभेदोपपत्ते। कारणभूताहि कषाया कार्यात्मिकाया हिंसाद्यविरतेरर्थान्तरभूता इति।

प्रमाद जीव का परिणाम है। प्रमाद का संयम करने से अप्रमाद होता है। प्रमाद आस्रव है। अप्रमाद संवर। अप्रमाद-संवर प्रमाद-आस्रव को अवरुद्ध करता है।

४—कषाय आस्रव : जीव के क्रोधादि रूप परिणाम को कषाय आस्रव कहते हैं। क्रोधादि करना कषाय आस्रव नहीं है। क्रोधादि करना योगों की प्रवृत्ति रूप होने से योग आस्रव में आता है। इस विषय में भी जयाचार्य का निम्न विवेचन प्राप्त है

क्रोध स्यूं बिगड्या प्रदेश नें जी ते आस्रव कहिये कषाय।
आप आगे तिके असुभ कर्म छै जी पुद्गल जाणो न्याय॥
उदेरी क्रोध करे तसुजी असुभ जोग कहिवाय।
निरंतर बिगड्या प्रदेश ने जी, कहिये आस्रव कषाय॥
नवमे दसमे गुणठाण छै जी शुभ लेस्या शुभ जोग।
तिण क्रोधादिक स्यूं बिगड्या प्रदेश में जी कषाय आस्रव प्रयोग॥
ताप लोह तप अगनी थकी जी काढ्या संडासा स्यूं बार।
थोड़ी वेल्यां स्यूं लालपणो मिट्योजी, तातपणो रह्यो लार॥
ते लोह स्याम वर्ण थयो जी तिण रे तातपणा रे प्रभाव।
कपड़ो पूलो मेल्ये ऊपरे जी ते भस्म होवे ते प्रस्ताव॥
तिम तातपणो असुभ जोग नो नहीं सातमा थी आगे ताहि।
ते पिण क्रोधादिक रा उदय थकी जी तस रूप स्यूं आस्रव कषाय॥
क्रोध मान माया लोभ सर्वथा जी उपशमाया इग्यारमें गुण ठाण।
उदय नो विरतन मिट गयो जी जब अकषाय संवर जाण* ॥

इसका भावार्थ है—'जो उदीर कर क्रोध करता है उसके अशुभ योग होता है। प्रदेशों का निरंतर कषाय-कलुषित होना कषाय आस्रव है। नवें दसवें गुणस्थान में शुभ लेश्या और शुभ योग होते हैं पर वहाँ कषाय आस्रव कहा गया है। इसका कारण क्रोधादि से कलुषित आत्म-प्रदेश हैं। अग्नि में तपते हुए लाल लोहे को यदि संडास से बाहर निकाल लिया जाता है तो कुछ समय बाद उसकी ललाई तो दूर हो जाती है पर उष्णता बनी ही रहती है। लोहे के पुन: श्याम वर्ण हो जाने पर भी उस पर रखा हुआ रूई का फूआ उष्णता के कारण तुरन्त भस्म हो जाता है। उसी तरह क्रोधादि कर्मों का उदयभाव सातवें गुणस्थान से आगे नहीं आता पर क्रोधादि के उदय से आत्म-प्रदेशों

* [illegible]

में जो उष्णता का भाव विद्यमान रहता है वह कषाय आस्रव है। ग्यारहवें गुणस्थान मे क्रोधादि का उपशम हो जाने से जब उदय का कर्त्तव्य दूर हो जाता है तब अकषाय संवर होता है।"

यदि कोई कहे कि कषाय और अविरति में कोई अन्तर नही क्योंकि दोनो ही हिंसादि के परिणाम रूप हैं तो यह कहना अनुचित होगा। श्री अकलङ्कदेव कहते हैं "दोनो को एक मानना ठीक नही क्योंकि दोनो में कार्य-कारण का भेद है। कषाय कारण है और प्राणातिपात आदि अविरति कार्य है[1]।"

कषाय आस्रव का प्रतिपक्षी अकषाय संवर है। कषाय से कर्म आते हैं। संवर से रुकते हैं।

५—योग आस्रव : मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति को योग कहते हैं। मन, वचन और काय से कृत, कारित और अनुमति रूप प्रवृत्ति योग है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय आस्रव प्रवृत्ति रूप नही भाव रूप हैं, योग प्रवृत्ति रूप है। योग से आत्म-प्रदेशो मे स्पन्दन होता है, मिथ्यात्व आदि मे वैसी बात नही।

मन-वचन-काय के कर्म शुभ और अशुभ दो तरह के होते हैं। अशुभ कर्म योगास्रव के अन्तर्गत आते हैं और उनसे पाप का आस्रव होता है। शुभयोग निर्जरा के हेतु हैं। उनसे कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा के साथ-साथ पुण्य का आस्रव होता है। इस दृष्टि से निर्जरा के हेतु शुभ योगो को भी योगास्रव में समझा जाता है। श्री जयाचार्य लिखते है :

शुभ योगां ने सोय रे, कहिये आश्रव निर्जरा।
तास न्याय अवलोय रे, चित्त लगाई सांभलो॥
शुभ जोगां करी तास रे, कर्म कटे तिण कारणे।
कही निर्जरा जास रे, करणी लेखे जाणवी॥
ते शुभ जोग करीज रे, पुण्य बंधे तिण कारणे॥
आश्रव जास कहीज रे, वारु न्याय विचारिये॥

१—तत्त्वार्थवार्तिक ८ १ ३२ कषायाऽविरत्योरभेद इति चेत्, न, कार्यकारणभेदोपपत्तेः। कारणभूताहि कषाया कार्यात्मिकाया हिंसाद्यविरतेरर्थान्तरभूता इति।

उपर्युक्त आस्रवों का गुणस्थानों के साथ जो सम्बन्ध है उसको आचार्य पूज्यपाद ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है :

'मिथ्यादृष्टि जीव के एक साथ पाँचों सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि के अविरति आदि चार संयतासंयत के विरति-अविरति, प्रमाद, कषाय और योग प्रमत्त संयत के प्रमाद कषाय और योग अप्रमत्त संयत आदि चार के योग और कषाय तथा उपशान्तकषाय क्षीणकषाय और सयोगीकेवली के एक योग बन्ध हेतु होता है। अयोगीकेवली के कोई बन्ध-हेतु नहीं होता'।[1]

श्री जयाचार्य ने इस विषय में निम्न प्रकाश डाला है[2]

> पहिले तीजे मिथ्यात निरंतर चौथा लगा सब गुणठाण व्याप।
> निरंतर देश अव्रत पञ्चमे तिण सूं समय २ लागे पाप॥
> छठे प्रमाद आस्रव निरन्तरे, दशमा लग निरन्तर कषाय॥
> निरन्तर पाप लागे तह मे तीनूं जोगां स्यूं छूटो कषाय॥
> अब आवे गुणठाणे सातवें प्रमाद रो नहीं लगे पाप।
> अकषाई हुआं स्यूं कषाय रो नहीं लागे पाप संताप॥

पहले और तीसरे गुणस्थान में निरन्तर मिथ्यात्व रहता है। अविरति पहले से चौथे गुणस्थान तक व्याप्त है। पाँचवें गुणस्थान में निरन्तर देश अविरति रहती है, जिससे समय-समय पाप लगता रहता है। छठे गुणस्थान में निरन्तर प्रमाद आस्रव होता है। दसवें गुणस्थान तक निरन्तर कषाय होता है, जिससे निरंतर पाप लगता है। यह कषाय आस्रव योग आस्रव से भिन्न है। सातवें गुणस्थान में आने पर प्रमाद का पाप नहीं लगता। अकषायी होने पर कषाय का पाप नहीं लगता।

इन आस्रव भेदों की युगपत्ता के विषय में उमास्वाति लिखते हैं[3]

'मिथ्यादर्शन आदि पाँच हेतुओं में पूर्व पूर्व के हेतु होने पर आगे-आगे के हेतुओं का सद्भाव नियत है परन्तु उत्तरोत्तर हेतु के होने पर पूर्व पूर्व के हेतुओं का होना नियत नहीं है।

१—तत्त्वा० ८.१ सर्वार्थसिद्धि

२—झीणीचर्चा ढा० १.४४-४६

३—तत्त्वा० ८.१ भाष्य :

एषां मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतूनां पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्सति नियतमुत्तरेषां भावः। उत्तरोत्तरभावे तु पूर्वेषामनियम इति।

आस्रव के २० भेद :

आस्रव के २० वीस भेदो को मानने वाली परम्परा का उल्लेख पहले आया है। उन वीस भेदो में आरम्भ के पांच भेद तो वही उक्त मिथ्यात्वादि हैं। अवशेप १५ योग आस्रव के भेदमात्र हैं। इन भेदो को भी उदाहरण-स्वरूप ही कहा जा सकता है क्योकि मन, वचन और काय की असख्य, अनन्त प्रवृत्तियां हो सकती हैं। २० भेदो का सक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है

१—पूर्ववत्

२— ,,

३— ,,

४— ,,

५— ,,

६—प्राणातिपात आस्रव : मन, वचन, काय और करने, कराने, अनुमोदन के विविध भङ्गो से जीव हिंसा करना।

७—मृपावाद आस्रव उपर्युक्त तीन करण एव तीन योग के विविध भङ्गो से झूठ वोलना।

८—अदत्तादान आस्रव उपर्युक्त तीन करण एव तीन योग के विविध भङ्गों से चोरी करना।

९—मैथुन आस्रव उपर्युक्त तीन करण एव तीन योग के विविध भङ्गो से मैथुन का सेवन करना।

१०—परिग्रह आस्रव उपर्युक्त तीन करण एव तीन योग के विविध भङ्गो से परिग्रह रखना।

११—श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव कान को शब्द सुनने में प्रवृत्त करना।

१२—चक्षुरिन्द्रिय आस्रव · आँखो को रूप देखने में प्रवृत्त करना।

१३—घ्राणेन्द्रिय आस्रव नाक को गध सूघने मे प्रवृत्त करना।

१४—रसनेन्द्रिय आस्रव : जिह्वा को रस-ग्रहण करने मे प्रवृत्त करना।

१५—स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव शरीर को स्पर्श करने मे प्रवृत्त करना।

१६—मन आस्रव मन से नाना प्रकार की प्रवृत्ति करना।

१७—वचन आस्रव वचन से नाना प्रकार की प्रवृत्ति करना।

१८—काय आस्रव काया से नाना प्रकार की प्रवृत्ति करना।

१९—भण्डोपकरण आस्रव : वस्तुओ को यतनापूर्वक रखना उठाना।

२०—शुचिकुशाग्रमात्र आस्रव शुचि, कुशाग्र आदि के सेवन जितनी भी प्रवृत्ति।

उपर्युक्त आस्रवों का गुणस्थानों के साथ जो सम्बन्ध है उसको आचार्य पूज्यपाद ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है :

मिथ्यादृष्टि जीव के एक साथ पाँचों सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि के अविरति आदि चार संयतासंयत के विरति-अविरति, प्रमाद, कषाय और योग प्रमत्त संयत के प्रमाद कषाय और योग अप्रमत्त संयत आदि चार के योग और कषाय तथा उपशान्तकषाय क्षीणकषाय और सयोगीकेवली के एक योग बन्ध हेतु होता है। अयोगीकेवली के कोई बन्ध-हेतु नहीं होता[1]।

श्री जयाचार्य ने इस विषय में निम्न प्रकार कहा है[2]

> पहिले तीजे मिथ्यात निरंतरे चौथा लग सर्व इव्रत थाय।
> निरंतर देश अव्रत पञ्चमे, तिण सूं समय २ लागे पाप॥
> छठे प्रमाद आस्रव निरन्तरे दशमा लग निरन्तर कषाय॥
> निरन्तर पाप लागे तेह थी तीनूं जोगां स्यूं हुवो बढाय॥
> सप्त आवे गुणठाणे सातवें प्रमाद रो नहीं लागे पाप।
> अकषाई हुवां स्यूं कषाय रो नहीं लागे पाप संताप॥

पहले और तीसरे गुणस्थान में निरन्तर मिथ्यात्व रहता है। अविरति पहले से चौथे गुणस्थान तक व्याप्त है। पाँचवें गुणस्थान में निरन्तर देश अविरति रहती है, जिससे समय-समय पाप लगता रहता है। छठे गुणस्थान में निरन्तर प्रमाद आस्रव होता है। दसवें गुणस्थान तक निरन्तर कषाय होता है, जिससे निरंतर पाप लगता है। यह कषाय आस्रव योग आस्रव से भिन्न है। सातवें गुणस्थान में आने पर प्रमाद का पाप नहीं लगता। अकषायी होने पर कषाय का पाप नहीं लगता।

इन आस्रव भेदों की गुणपरता के विषय में उमास्वाति लिखते हैं

'मिथ्यादर्शन आदि पाँच हेतुओं में पूर्व पूर्व के हेतु होने पर आगे-आगे के हेतुओं का सद्भाव निश्चित है परन्तु उत्तरोत्तर हेतु के होने पर पूर्व पूर्व के हेतुओं का होना निश्चित नहीं है[3]।

१—तत्त्वा० ८ १ सर्वार्थसिद्धि

२—झीणीचर्चा ढा० ११ गा० ४६

३—तत्त्वा० ८ १ भाष्य

पूर्वां मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतूनां पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्सति नियतमुत्तरेषां भावः। उत्तरोत्तरभावे तु पूर्वेषामनियम इति।

२१—समादानक्रिया आस्रव संयत का अविरति या असंयम के सन्मुख होना। अपूर्व-अपूर्व विरति को छोड़ कर तपस्वी का सावद्य कार्य मे प्रवृत्त होना[1]।

२२—ईर्यापथक्रिया आस्रव ईर्यापथ कर्मबन्ध की कारणभूत क्रिया।

२३—प्रादोषिकीक्रिया आस्रव : क्रोध के आवेश से होनेवाली क्रिया[2]।

२४—कायिकीक्रिया आस्रव दुष्टभाव से युक्त होकर उद्यम करना[3]।

२५—आधिकरणिकीक्रिया आस्रव हिंसा के उपकरणो को ग्रहण करना[4]।

२६—पारितापिकीक्रिया आस्रव : दु खोत्पन्न कारी क्रिया[5]।

२७—प्राणातिपातिकीक्रिया आस्रव : आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणो का वियोग करने वाली क्रिया।

२८—दर्शनक्रिया आस्रव : रागार्द्र हो प्रमाद-वश रमणीय रूप देखने की इच्छा[6]।

२९—स्पर्शनक्रिया आस्रव : स्पर्श करने योग्य सचेतन-अचेतन वस्तु के स्पर्श का अनुबन्ध—अभिलाषा[7]।

१—ठाणाङ्ग ५ २ ४१९ में इसके स्थान पर 'समुदाणकिरिया'—समुदानक्रिया का उल्लेख है। टीका में इसका अर्थ किया है 'कर्म्मोपादानम्' अर्थात् तीन प्रकार के योग द्वारा आठ प्रकार के कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने रूप क्रिया।

२—ठाणाङ्ग २ ६० में इसके स्थान में 'प्राद्वेषिकीक्रिया' है। टीका—प्रद्वेषो-मत्सरस्तेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी। जीव अथवा ठोकर आदि लगने से अजीव पाषाणादि के प्रति क्रोध का होना।

३—ठाणाङ्ग में इस क्रिया के दो भेद मिलते हैं (१) अनुपरतकायक्रिया—सावद्य से अविरत मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि की कायक्रिया। (२) दुष्प्रयुक्तकायक्रिया—दुष्प्रयुक्त मन, वचन, काय की क्रिया (ठा० २ ६० और टीका)

४—अधिकरण का अर्थ है अनुष्ठान अथवा बाह्यवस्तु खड्ग आदि। तत्सम्बन्धी क्रिया आधिकरणिकीक्रिया। आगम में इसके दो भेद मिलते हैं—निवर्त्तना—नये अस्त्र-शस्त्रों का बनाना और संयोजना—शस्त्रों के अङ्गों की संयोजना करना (ठाणाङ्ग ५ २ ४१९ और टीका)

५—आगम में इसके दो भेद बताये गये हैं—(१) स्वहस्तपारितापनिकी—अपने हाथ से अपने या दूसरे को परिताप देना। और (२) परहस्तपारितापनिकी—दूसरे से परिताप पहुंचाना (ठाणाङ्ग २ ६० और टीका)।

६—आगम में इसका नाम 'दिट्ठिया'—दृष्टिकी मिलता है। अश्व आदि सजीव और चित्रकर्म आदि निर्जीव वस्तु देखने के लिए गमन आदि रूप क्रिया (ठाणाङ्ग ५.२.४१९ और टीका)।

७—आगम में 'पुट्ठिया'—पृष्टिका, स्पृष्टिका नाम मिलता है। अर्थ है रागादि से स्पर्श या प्रश्न करने रूप क्रिया (ठाणाङ्ग २ ६०,५ २.४१९)।

आस्रव के ४२ भेद

आस्रव के ४२ भेदों का विवरण इस प्रकार है :

इंदियकसायअव्वयकिरिया पणचउपंचपणवीसा ।
जोगा तिण्णेव भवे बायाल आसवो होई[1] ॥ ५ ॥

१-५—इन्द्रिय आस्रव : आस्रव के २० भेदों के विवेचन में वर्णित श्रोत्रेन्द्रिय से स्पर्शनेन्द्रिय तक के पाँच आस्रव (क्रम ११-१५)।

६—क्रोध आस्रव : अप्रीति करना।

७—मान आस्रव : गर्व करना।

८—माया आस्रव : परवञ्चना करना।

९—लोभ आस्रव : मूर्च्छा भाव करना।

१०-१४—अविरति आस्रव : आस्रव के २० भेदों में वर्णित प्राणातिपात से मैथुन तक के पाँच आस्रव (क्रम ६-१०)।

१५-१७—योग आस्रव : आस्रव के २० भेदों में वर्णित मन आस्रव, वचन आस्रव और काय आस्रव (क्रम १६-१८)।

१८—[2]सम्यक्त्वक्रिया आस्रव : सम्यक्त्व वर्द्धिनी क्रिया। जीवादि पदार्थों में श्रद्धान लक्षण वाले सम्यक्त्व को उत्पन्न करने और बढ़ाने वाली क्रिया।

१९—मिथ्यात्वक्रिया आस्रव : मिथ्यात्व की हेतु प्रवृत्ति। जीवादि तत्त्वों में अश्रद्धा रूप लक्षण वाले मिथ्यात्व को उत्पन्न करने और बढ़ाने वाली कुदेव कुगुरु और कुशास्त्र की उपासना स्तवन आदि रूप क्रिया[3]।

२०—प्रयोगक्रिया आस्रव : कायादि द्वारा गमनागमन आदि रूप प्रवृत्ति।

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : नवतत्त्वप्रकरण (श्री देवगुप्त सूरि प्रणीत)

२—यहाँ से क्रियाओं की व्याख्या आरम्भ होती है।

आगमों के स्थलों को देखने से क्रियाओं की संख्या २७ आती है (स्थानाङ्ग २.१; ५.२.४१९; भगवती ३.३)। आस्रव के ४२ भेदों की गणना में सभी आचार्यों ने क्रियाएँ २५ ही मानी हैं। २७ क्रियाओं में से एक परम्परा प्रेमक्रिया और द्वेषक्रिया को छोड़ देती है। दूसरी परम्परा इन्हें ग्रहण कर सम्यक्त्वक्रिया और मिथ्यात्वक्रिया को छोड़ देती है।

क्रियाओं के अर्थ की दृष्टि से भी दो परम्पराएँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती हैं। श्री सिद्धसेन गणि और आ० पूज्यपाद की व्याख्याएँ कुछ स्थलों को छोड़ कर प्रायः मिलती-जुलती हैं। यहाँ मूल में इन्हीं को दिया है। इन दोनों की अर्थ व्याख्याएँ आगम टीकाकारों से विशिष्ट रूप से भिन्न हैं। अन्तर पाद-टिप्पणियों में प्रदर्शित है।

३—स्थानाङ्ग २.१ की टीका के अनुसार जीव का सम्यग्दर्शन रूप व्यापार अथवा सम्यग्दर्शनयुक्त जीव का व्यापार सम्यक्त्वक्रिया है और जीव का मिथ्यात्व रूप व्यापार अथवा मिथ्यादृष्टि जीव का व्यापार मिथ्यात्वक्रिया है।

२१—समादानक्रिया आस्रव : संयत का अविरति या असंयम के सन्मुख होना। अपूर्व-अपूर्व विरति को छोड़ कर तपस्वी का सावद्य कार्य में प्रवृत्त होना[1]।

२२—ईर्यापथक्रिया आस्रव : ईर्यापथ कर्मबन्ध की कारणभूत क्रिया।

२३—प्रादोपिकीक्रिया आस्रव : क्रोध के आवेश से होनेवाली क्रिया[2]।

२४—कायिकीक्रिया आस्रव : दुष्टभाव से युक्त होकर उद्यम करना[3]।

२५—आधिकरणिकीक्रिया आस्रव : हिंसा के उपकरणों को ग्रहण करना[4]।

२६—पारितापिकीक्रिया आस्रव : दुःखोत्पन्न कारी क्रिया[5]।

२७—प्राणातिपातिकीक्रिया आस्रव : आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणों का वियोग करने वाली क्रिया।

२८—दर्शनक्रिया आस्रव : रागार्द्र हो प्रमाद-वश रमणीय रूप देखने की इच्छा[6]।

२९—स्पर्शनक्रिया आस्रव : स्पर्श करने योग्य सचेतन-अचेतन वस्तु के स्पर्श का अनुबन्ध—अभिलाषा[7]।

१—ठाणाङ्ग ५.२.४१९ में इसके स्थान पर 'समुदाणकिरिया'—समुदानक्रिया का उल्लेख है। टीका में इसका अर्थ किया है 'कर्म्मोपादानम्' अर्थात् तीन प्रकार के योग द्वारा आठ प्रकार के कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने रूप क्रिया।

२—ठाणाङ्ग २.६० में इसके स्थान में 'प्राद्वेपिकीक्रिया' है। टीका—प्रद्वेषो-मत्सरस्तेन निर्वृत्ता प्राद्वेपिकी। जीव अथवा ठोकर आदि लगने से अजीव पाषाणादि के प्रति क्रोध का होना।

३—ठाणाङ्ग में इस क्रिया के दो भेद मिलते हैं : (१) अनुपरतकायक्रिया—सावद्य से अविरत मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि की कायक्रिया। (२) दुष्प्रयुक्तकायक्रिया—दुष्प्रयुक्त मन, वचन, काय की क्रिया (ठा० २.६० और टीका)

४—अधिकरण का अर्थ है अनुष्ठान अथवा बाह्यवस्तु खड्ग आदि। तत्सम्बन्धी क्रिया आधिकरणिकीक्रिया। आगम में इसके दो भेद मिलते हैं—निवर्त्तना—नये अस्त्र-शस्त्रों का बनाना और संयोजना—शस्त्रों के अङ्गों की संयोजना करना (ठाणाङ्ग ५.२.४१९ और टीका)

५—आगम में इसके दो भेद बताये गये हैं—(१) स्वहस्तपारितापनिकी—अपने हाथ से अपने या दूसरे को परिताप देना। और (२) परहस्तपारितापनिकी—दूसरे से परिताप पहुंचाना (ठाणाङ्ग २.६० और टीका)।

६—आगम में इसका नाम 'दिट्ठिया'—दृष्टिकी मिलता है। अश्व आदि सजीव और चित्रकर्म आदि निर्जीव वस्तु देखने के लिए गमन आदि रूप क्रिया (ठाणाङ्ग ५.२.४१९ और टीका)।

७—आगम में 'पुट्ठिया'—पृष्टिका, स्पृष्टिका नाम मिलता है। अर्थ है रागादि से स्पर्श या प्रश्न करने रूप क्रिया (ठाणाङ्ग २.६०,५.२.४१९)।

१ —प्रात्ययिकीक्रिया आस्रव : प्राणातिपात के अपूर्व—नये अधिकरणों का उत्पादन[1]।

११—समन्तानुपातक्रिया आस्रव : मनुष्य, पशु आदि के आने-जाने, उठने-बैठने के स्थानों में मल का त्याग[2]।

१२—अनाभोगक्रिया आस्रव : अप्रमार्जित और अशोधी हुई भूमि पर काय आदि का निक्षेप[3]।

१३—स्वहस्तक्रिया आस्रव : जो क्रिया दूसरों द्वारा करने की हो उसे अभिमान या रोषवश स्वयं कर लेना[4]।

१४—निसर्गक्रिया आस्रव : पापादान आदि रूप प्रवृत्ति विशेष की अनुमति अथवा पापार्थ में प्रवृत्त का भावतः अनुमोदन[5]।

१५—विदारण क्रिया आस्रव : अन्य द्वारा आचरित अप्रकाशनीय सावद्य आदि कार्यों का प्रकाशन[6]।

१—इसका अर्थ इस प्रकार भी मिलता है—बाह्य वस्तु प्रतीत्य—आश्रित्य भवा प्रातीत्यिकी'। बाह्य वस्तु का आश्रय लेकर जो क्रिया होती है। (ठाणाङ्ग २.१ टीका)।

२—इसके स्थान में आगम में सामन्तोवणिवाइया—सामन्तोपनिपातिकीक्रिया का उल्लेख है। अपने रूपवान् घोड़े आदि और निर्जीव रथ आदि की प्रशंसा सुन कर हर्षित होने रूप क्रिया। (ठाणाङ्ग २.१; ५.२.४१९ और टीका)

३—अनाभोगप्रत्यया। उपयोग रहित होकर वस्तुओं का ग्रहण करना अथवा उपयोग रहित होकर प्रमार्जन करना। ठा० २.१ में कहा है—अणाभोगवत्तिया किरिया दुविहा पं० तं० अणाउत्तआइयणता चेव अणाउत्तपमज्जणता चेव।

४—इसके आगम में दो भेद कहे गये हैं—जीव स्वाहस्तिकी क्रिया—अपने हाथ से गृहीत तीतर आदि द्वारा दूसरे जीव को मारना। अथवा अपने हाथ से जीव का ताड़न। अजीवस्वाहस्तिकी क्रिया—अपने हाथ से गृहीत खड्ग आदि निर्जीव वस्तु द्वारा जीव को मारना अथवा अजीव का ताड़न करना (ठाणाङ्ग २.१ टीका)।

५—'नेसत्थिया' निसर्जनं निसृष्टं क्षेपणमित्यर्थः तत्र भवा तदेव वा। अर्थात् यन्त्र द्वारा जीव और अजीव को दूर करने रूप क्रिया। जैसे कुएँ से जल निकालना अथवा धनुष बन्दूक आदि से गोली व बाण फेंकना। (ठाणाङ्ग २.१० और ५.२.४१९ टीका)।

६—ठाणाङ्ग २.१ टीका में वियारिणी अथवा वैतारिणी ऐसे नाम दिये हैं। जीव-अजीव को विदीर्ण करना विदारिणी क्रिया है। यह जीव को ठगता है ऐसा कहना अथवा गुण न होने पर भी अपने की दृष्टि से ऐसा कहना कि तू गुण में अमुक के समान है जीववैतारिणी क्रिया है। गुण न होने पर भी एक अचेतन वस्तु को दूसरी अचेतन वस्तु के समान कहना अजीव वैतारिणी क्रिया है।

३६—आज्ञाव्यापादिकीक्रिया आस्रव . चारित्रमोहनीय के उदय से आवश्यक आदि के विषय में शास्त्रोक्त आज्ञा को न पाल सकने के कारण अन्यथा प्ररूपणा करना[1] ।

३७—अनाकांक्षाक्रिया आस्रव . धूर्तता और आलस्य के कारण प्रवचन मे उपदिष्ट कर्त्तव्य विधि मे प्रमादजनित अनादर[2] ।

३८—प्रारम्भक्रिया आस्रव : छेदन, भेदन, विसर्जन आदि क्रिया मे स्वय तत्पर रहना और दूसरे के आरम्भ करने पर हर्षित होना[3] ।

३९—पारिग्राहिकीक्रिया आस्रव : परिग्रह का विनाश न हो इस हेतु से की गई क्रिया[4] ।

४०—मायाक्रिया आस्रव : ज्ञान, दर्शन आदि के विषय मे निकृति—वन्चन—छल करना[5] ।

४१—मिथ्यादर्शनक्रिया आस्रव मिथ्यादृष्टि से क्रिया करने-कराने मे लगे हुए पुरुष को प्रशसा आदि द्वारा दृढ करना[6] ।

१—आगम में इसका नाम 'आज्ञापनी' है । आज्ञा करने से होने वाली क्रिया । 'आणवणिया' आज्ञापनस्य—आदेशनस्येयमाज्ञापनमेव वा । आदेशनरूप क्रिया (ठाणाङ्ग २ ६० टीका) । उमास्वाति ने इसका नाम आनयनक्रिया दिया है (तत्त्वा० ६ ६ भाष्य) ।

२—ठाणाङ्ग २ ६० में इसका नाम अनवकांक्षाप्रत्यया दिया है । अपने अथवा दूसरे के शरीर की अनवकांक्षा—अनपेक्षा । अणवकखवत्तिया किरिया दुविहा पं० त० आयशरीर अणवकखवत्तिया चेव परसरीरअणवकखवत्तिया चेव ।

३—आगम में इसका नाम आरंभिया 'आरंभिकीक्रिया' दिया है । आरम्भणमारम्भ तत्र भवा । आगम में इसके दो भेद कहे गये है । जिससे जीवों का उपमर्दन हो उसे जीवारम्भक्रिया और जिससे अजीव वस्तुओं का आरम्भ हो उसे अजीवारम्भक्रिया कहते हैं (ठाणाङ्ग २ ६० टीका) ।

४—'परिग्गहिया'—परिग्रहे भवा परिग्रहिकी—परिग्रह में होने वाली । आगम में जीव और अजीव सम्बन्ध से इसके भी दो भेद बतलाये गये हैं (ठाणाङ्ग २.६० तथा टीका) ।

५—'मायावत्तिया चेव' माया—शाठ्य प्रत्ययो-निमित्त यस्या कर्मबन्धक्रियाया व्यापारस्य वा सा । छल या कपट रूप क्रिया (ठाणाङ्ग २.६० टीका) ।

६—आगम में इसका नाम 'मिच्छादसणवत्तिया'—मिथ्यादर्शनप्रत्यया मिलता है । मिथ्यादर्शन—मिथ्यात्वं प्रत्ययो यस्या सा । आगम में इसके दो भेद बताये हैं । अप्रशस्त आत्मभाव को प्रशस्त देखना—आत्मभाववंकनता है और कूटलेख आदि से दूसरे को ठगना—परभाववंकनता है (ठाणाङ्ग २ ६० टीका) ।

४२—[1]अप्रत्याख्यानक्रिया आस्रव : संयमघाति कर्म की पराधीनता से पाप से अनिवृत्ति ।

जिस तरह आस्रव के २० भेदों में से अन्तिम पन्द्रह का योगास्रव में समावेश होता है उसी तरह ४२ भेदों में सब के सब योगास्रव में समाहित होते हैं। मन-वचन-काय के सर्व कार्य सावद्य योगास्रव हैं। जिन अठारह पापों का पूर्व में उल्लेख आया है वे भी योग रूप ही हैं। विविध कर्मों के बन्ध-हेतुओं में जो भी क्रिया रूप व्यापार हैं उन सब को योगास्रव का भेद समझना चाहिए।

●—आस्रव और संवर का सामान्य स्वरूप (गा० ९-१०)

गा० १-८ में स्वामीजी ने पाँच आस्रव और साथ ही पाँच संवर की परिभाषाएँ दी हैं। यहाँ पाँच आस्रव और पाँच संवर के सामान्य स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। आस्रव और संवर दोनों जीव परिणाम हैं। जीव का मिथ्या श्रद्धारूप परिणाम मिथ्यात्व, अत्याग भावरूप परिणाम अविरति, अनुत्साहरूप परिणाम प्रमाद, क्रोधादिरूप परिणाम कषाय और मन-वचन-काय के व्यापाररूप परिणाम योग है। इस तरह पाँचों आस्रव जीव के परिणाम हैं। इसी तरह सम्यक् श्रद्धारूप परिणाम सम्यक्त्व, देश सर्व त्यागरूप परिणाम विरति, प्रमादरहिततारूप परिणाम अप्रमाद, कषायरहिततारूप परिणाम अकषाय और अव्यापाररूप परिणाम अयोग संवर है।

आस्रव और संवर दोनों जीव-परिणाम होने पर भी स्वभाव में एक दूसरे से भिन्न हैं। आस्रव जीव की उन्मुक्तता है। संवर उसकी गुप्ति। आस्रव कर्मों को आने देते हैं। संवर उनको रोकते हैं। आस्रव कर्मों के आने के द्वार—उपाय हैं। संवर उनको रोकने के द्वार—उपाय हैं। श्री अभयदेव लिखते हैं—"जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आने के लिए जो द्वार की तरह द्वार—उपाय हैं वे आस्रव-द्वार हैं। जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आगमन के निरोध के लिए जो द्वार—उपाय हैं वे संवर द्वार हैं। मिथ्यात्व आदि आस्रवों के क्रमशः विपर्यय रूप सम्यक्त्व आदि संवर हैं[2]।"

१—तत्त्वा० ६.६ भाष्य में क्रियाओं के नाम इस प्रकार हैं :

तद्यथा—सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथाः कायाधिकरणप्रदोषपरितापन-प्राणातिपाताः दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपातानाभोगाः, स्वहस्तनिसर्गविदारणानयनानवकाङ्क्षा आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रिया इति ॥

२—ठाणाङ्ग ५.२.४१८ :

आश्रवणं—जीव तडागे कर्मजलस्य संगलनमाश्रवः कर्मनिबन्धनमित्यर्थः, तस्य द्वाराणीव द्वाराणि—उपाया आश्रवद्वाराणीति। तथा संवरणं—जीवतडागे कर्मजलस्य निरोधनं संवरस्तस्य द्वाराणि—उपायाः संवरद्वाराणि—मिथ्यात्वादीनामा-श्रवाणां क्रमेण विपर्ययाः सम्यक्त्वविरत्यप्रमादाकषायित्वायोगित्वलक्षणाः

८—आस्रव कर्मों का कर्त्ता, हेतु, उपाय है (गा० ११)

स्वामीजी ने ढाल की पहली गाथा मे "स्थानाङ्ग में पाँच आस्रवद्वार कहे हैं"—ऐसा उल्लेख करते हुए गा० २ से ८ मे इन पाँचो द्वारो के नाम और उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। वहाँ आस्रव के प्रतिपक्षी सवर पदार्थ के स्वरूप पर भी कुछ विवेचन है जिससे कि आस्रव पदार्थ का स्वभाव स्पष्ट रूप से हृदयांकित हो सके। फिर गा० ९-१० मे पांच आस्रव और सवर के सामान्य स्वरूप का बोध दिया है। स्वामीजी कहते हैं . "ठाणाङ्ग की तरह चौथे अङ्ग समवायाङ्ग मे भी पाँच आस्रव द्वार और पाँच सवर कहे गये हैं।" वह पाठ इस प्रकार है

> "पच आसवदारा पन्नत्ता, तंजहा—मिच्छत्तं अविरई पमाया कसाया जोगा पच सवरदारा पन्नत्ता, तजहा—सम्मत्तं विरई अप्पमत्तया अकसाया अजोगया (सम० ५)।"

स्वामीजी कहते हैं—"आस्रव का जहाँ भी विवेचन है उस स्थल को देखने से यह स्पष्ट होता है कि वह कर्मो के आने का द्वार, हेतु, उपाय, निमित्त है। आस्रव महा विकराल द्वार है क्योकि कर्म जैसा कोई रिपु नही। आस्रव उसके लिए सदा उन्मुक्त द्वार है।

९—प्रतिक्रमण विषयक प्रश्न और आस्रव (गा० १२)

स्वामीजी ने गा० ११ में आस्रव को कर्मो का कर्त्ता, हेतु, उपाय कहा है। आस्रव का स्वरूप ऐसा ही है अन्यथा नही इस तथ्य को हृदयङ्गम कराने के लिए स्वामीजी ने गा० १२ से २२ मे आगमो के कई स्थलो का सदर्भ दिया है। आस्रव द्वार रूप, छिद्र रूप है यह आगम के उल्लिखित सदर्भो से भली भाँति स्पष्ट होता है।

पहला सदर्भ उत्तराध्ययन के २९ वे अध्ययन का है। मूल पाठ इस प्रकार है

"पडिक्कमणेण भन्ते जीवे किं जणयइ॥ प० वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिदिए विहरइ॥११॥"

"हे भते! प्रतिक्रमण से जीव किस फल को उत्पन्न करता है?"

"हे शिष्य! प्रतिक्रमण से जीव व्रतो के छिद्रो को ढकता है। जिस जीव के व्रतो के छिद्र ढक जाते हैं वह निरुद्धास्रव होता है, असबलचारित्र होता है, आठ प्रवचन-

४२—[1]अप्रत्याख्यानक्रिया आस्रव : संयमघाति कर्म की पराधीनता से पाप से अनिवृत्ति।

जिस तरह आस्रव के २० भेदों में से अन्तिम पन्द्रह का योगास्रव में समावेश होता है उसी तरह ४२ भेदों में सब के सब योगास्रव में समाहित होते हैं। मन-वचन-काय के सब कार्य सावद्य योगास्रव हैं। जिन अठारह पापों का पूर्व में उल्लेख आया है वे भी योग रूप ही हैं। विविध कर्मों के बन्ध-हेतुओं में जो भी क्रिया रूप व्यापार हैं उन सब को योगास्रव का भेद समझना चाहिए।

७—आस्रव और संवर का सामान्य स्वरूप (गा० ६-१०)

गा० ६-८ में स्वामीजी ने पाँच आस्रव और साथ ही पाँच संवर की परिभाषाएँ दी हैं। यहाँ पाँच आस्रव और पाँच संवर के सामान्य स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। आस्रव और संवर दोनों जीव परिणाम हैं। जीव का मिथ्या श्रद्धारूप परिणाम मिथ्यात्व अत्याग भावरूप परिणाम अविरति अनुत्साहरूप परिणाम प्रमाद क्रोधादिरूप परिणाम कषाय और मन वचन काय के व्यापाररूप परिणाम योग हैं। इस तरह पाँचों आस्रव जीव के परिणाम हैं। इसी तरह सम्यक् श्रद्धारूप परिणाम सम्यक्त्व देश सर्व त्यागरूप परिणाम विरति प्रमादरहिततारूप परिणाम अप्रमाद कषायरहिततारूप परिणाम अकषाय और अव्यापाररूप परिणाम अयोग संवर है।

आस्रव और संवर दोनों जीव-परिणाम होने पर भी स्वभाव में एक दूसरे से भिन्न हैं। आस्रव जीव की उन्मुक्तता है। संवर उसकी गुप्ति। आस्रव कर्मों को आने देते हैं। संवर उनको रोकते हैं। आस्रव कर्मों के आने के द्वार—उपाय हैं। संवर उनको रोकने के द्वार—उपाय हैं। श्री अभयदेव लिखते हैं—"जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आने के लिए जो द्वार की तरह द्वार—उपाय हैं वे आस्रव-द्वार हैं। जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आगमन के निरोध के लिए जो द्वार—उपाय हैं वे संवर द्वार हैं। मिथ्यात्व आदि आस्रवों के क्रमशः विपर्यय रूप सम्यक्त्व आदि संवर हैं"[2]।

१—तत्त्वा० ६.६ भाष्य में क्रियाओं के नाम इस प्रकार हैं :

तद्यथा—सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथाः कायाधिकरणप्रदोषपरितापनप्राणातिपाताः दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपाताऽनाभोगाः, स्वहस्तनिसर्गविदारणानयनानवकाङ्क्षा आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रिया इति ॥

२—स्थानाङ्ग ५.२.४१८

आस्रवणं—जीव तडागे कर्मजलस्य संवृत्यमानाभावः कर्मनिबन्धनमित्यर्थः, तस्य द्वाराणीव द्वाराणि—उपाया आस्रवद्वाराणीति। तथा संवरणं—जीवतडागे कर्मजलस्य निरोधनं संवरस्तस्य द्वाराणि—उपायाः संवरद्वाराणि—मिथ्यात्वादीनामास्रवाणां क्रमेण विपर्ययाः सम्यक्त्वविरत्यप्रमादाकषायित्वायोगित्वलक्षणाः

८—आस्रव कर्मों का कर्त्ता, हेतु, उपाय है (गा० ११)

स्वामीजी ने ढाल की पहली गाथा मे "स्थानाङ्ग मे पांच आसवद्वार कहे हैं"—ऐसा उल्लेख करते हुए गा० २ से ८ मे इन पांचो द्वारो के नाम और उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। वहाँ आस्रव के प्रतिपक्षी सवर पदार्थ के स्वरूप पर भी कुछ विवेचन है जिससे कि आस्रव पदार्थ का स्वभाव स्पष्ट रूप से हृदयांकित हो सके। फिर गा० ६-१० मे पांच आस्रव और सवर के सामान्य स्वरूप का बोध दिया है। स्वामीजी कहते हैं : "ठाणाङ्ग की तरह चौथे अङ्ग समवायाङ्ग मे भी पांच आस्रव द्वार और पांच सवर कहे गये हैं।" वह पाठ इस प्रकार है

> "पच आसवदारा पन्नत्ता, तंजहा—मिच्छत्तं अविरई पमाया कसाया जोगा पच सवरदारा पन्नत्ता, तजहा—सम्मत्तं विरई अप्पमत्तया अकसाया अजोगया (सम० ५)।"

स्वामीजी कहते हैं—"आस्रव का जहाँ भी विवेचन है उस स्थल को देखने से यह स्पष्ट होता है कि वह कर्मों के आने का द्वार, हेतु, उपाय, निमित्त है। आस्रव महा विकराल द्वार है क्योकि कर्म जैसा कोई रिपु नही। आस्रव उसके लिए सदा उन्मुक्त द्वार है।

६—प्रतिक्रमण विषयक प्रश्न और आस्रव (गा० १२)

स्वामीजी ने गा० ११ मे आस्रव को कर्मो का कर्ता, हेतु, उपाय कहा है। आस्रव का स्वरूप ऐसा ही है अन्यथा नही इस तथ्य को हृदयङ्गम कराने के लिए स्वामीजी ने गा० १२ से २२ में आगमो के कई स्थलो का सदर्भ दिया है। आस्रव द्वार रूप, छिद्र रूप है यह आगम के उल्लिखित सदर्भो से भली भाँति स्पष्ट होता है।

पहला सदर्भ उत्तराध्ययन के २६ वे अध्ययन का है। मूल पाठ इस प्रकार है

> "पडिक्कमणेण भन्ते जीवे किं जणयइ॥ प० वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिदिए विहरइ ॥११॥"

"हे भते! प्रतिक्रमण से जीव किस फल को उत्पन्न करता है?"

"हे शिष्य! प्रतिक्रमण से जीव व्रतो के छिद्रो को ढकता है। जिस जीव के व्रतो के छिद्र ढक जाते हैं वह निरुद्धास्रव होता है, असबलचारित्र होता है, आठ प्रवचन-

४२—[1]अप्रत्याख्यानक्रिया आस्रव : संयमघाति कर्म की पराधीनता से पाप से अनिवृत्ति ।

जिस तरह आस्रव के २० भेदों में से अन्तिम पन्द्रह का योगास्रव में समावेश होता है उसी तरह ४२ भेदों में सब के सब योगास्रव में समाहित होते हैं । मन-वचन-काय के सर्व कार्य सावद्य योगास्रव हैं । जिन अठारह पापों का पूर्व में उल्लेख आया है वे भी योग रूप ही हैं । विविध कर्मों के बन्ध-हेतुओं में जो भी क्रिया रूप व्यापार हैं उन सब को योगास्रव का भेद समझना चाहिए ।

७—आस्रव और संवर का सामान्य स्वरूप (गा० ६-१०)

गा० ३-८ में स्वामीजी ने पाँच आस्रव और साथ ही पाँच संवर की परिभाषाएँ दी हैं । यहाँ पाँच आस्रव और पाँच संवर के सामान्य स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । आस्रव और संवर दोनों जीव-परिणाम हैं । जीव का मिथ्या श्रद्धारूप परिणाम मिथ्यात्व अत्याग भावरूप परिणाम अविरति अनुत्साहरूप परिणाम प्रमाद क्रोधादिरूप परिणाम कषाय और मन-वचन काय के व्यापाररूप परिणाम योग हैं । इस तरह पाँचों आस्रव जीव के परिणाम हैं । इसी तरह सम्यक् श्रद्धारूप परिणाम सम्यक्त्व देश सर्व त्यागरूप परिणाम विरति प्रमादरहिततारूप परिणाम अप्रमाद कषायरहिततारूप परिणाम अकषाय और अव्यापाररूप परिणाम अयोग संवर हैं ।

आस्रव और संवर दोनों जीव-परिणाम होने पर भी स्वभाव में एक दूसरे से भिन्न हैं । आस्रव जीव की उन्मुक्तता है । संवर उसकी गुप्ति । आस्रव कर्मों को आने देते हैं । संवर उनको रोकते हैं । आस्रव कर्मों के आने के द्वार—उपाय हैं । संवर उनको रोकने के द्वार—उपाय हैं । श्री अभयदेव लिखते हैं—"जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आने के लिए जो द्वार की तरह द्वार—उपाय हैं वे आस्रव-द्वार हैं । जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आगमन के निरोध के लिए जो द्वार—उपाय हैं वे संवर द्वार हैं । मिथ्यात्व आदि आस्रवों के क्रमशः विपक्ष रूप सम्यक्त्व आदि संवर हैं[2] ।"

१—तत्त्वा० ६.६ भाष्य में क्रियाओं के नाम इस प्रकार हैं

तद्यथा—सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथाः, कायाधिकरणप्रदोषपरितापन-प्राणातिपाताः दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपातानाभोगाः, स्वहस्तनिसर्गविदारणानयनानवकाङ्क्षा आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रिया इति ॥

२—ठाणाङ्ग ५.२.४१८

आश्रवणं—जीवतडागे कर्मजलस्य संगलनमाश्रवः, कर्मनिबन्धनमित्यर्थः, तस्य द्वाराणीव द्वाराणि—उपाया आश्रवद्वाराणीति । तथा संवरणं—जीवतडागे कर्म-जलस्य निरोधनं संवरस्तस्य द्वाराणि—उपायाः संवरद्वाराणि—मिथ्यात्वादीनामास्रवाणां [illegible]

८—आस्रव कर्मों का कर्त्ता, हेतु, उपाय है (गा० ११)

स्वामीजी ने ढाल की पहली गाथा मे "स्थानाङ्ग मे पाँच आस्रवद्वार कहे हैं"—ऐसा उल्लेख करते हुए गा० २ से ८ मे इन पाँचो द्वारो के नाम और उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। वहाँ आस्रव के प्रतिपक्षी संवर पदार्थ के स्वरूप पर भी कुछ विवेचन है जिससे कि आस्रव पदार्थ का स्वभाव स्पष्ट रूप से हृदयांकित हो सके। फिर गा० ९-१० मे पाँच आस्रव और संवर के सामान्य स्वरूप का बोध दिया है। स्वामीजी कहते हैं : "ठाणाङ्ग की तरह चौथे अङ्ग समवायाङ्ग मे भी पाँच आस्रव द्वार और पाँच संवर कहे गये हैं।" वह पाठ इस प्रकार है

> "पंच आसवदारा पन्नत्ता, तंजहा—मिच्छत्तं अविरई पमाया कसाया जोगा पंच संवरदारा पन्नत्ता, तंजहा—सम्मत्तं विरई अप्पमत्तया अकसाया अजोगया (सम० ५)।"

स्वामीजी कहते हैं—"आस्रव का जहाँ भी विवेचन है उस स्थल को देखने से यह स्पष्ट होता है कि वह कर्मों के आने का द्वार, हेतु, उपाय, निमित्त है। आस्रव महा विकराल द्वार है क्योंकि कर्म जैसा कोई रिपु नही। आस्रव उसके लिए सदा उन्मुक्त द्वार है।

९—प्रतिक्रमण विषयक प्रश्न और आस्रव (गा० १२)

स्वामीजी ने गा० ११ मे आस्रव को कर्मों का कर्त्ता, हेतु, उपाय कहा है। आस्रव का स्वरूप ऐसा ही है अन्यथा नही इस तथ्य को हृदयङ्गम कराने के लिए स्वामीजी ने गा० १२ से २२ में आगमो के कई स्थलो का संदर्भ दिया है। आस्रव द्वार रूप, छिद्र रूप हैं यह आगम के उल्लिखित संदर्भों से भली भाँति स्पष्ट होता है।

पहला संदर्भ उत्तराध्ययन के २९ वे अध्ययन का है। मूल पाठ इस प्रकार है

> "पडिक्कमणेणं भन्ते जीवे किं जणयइ॥ प० वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिदिए विहरइ ॥११॥"

"हे भंते ! प्रतिक्रमण से जीव किस फल को उत्पन्न करता है ?"

"हे शिष्य ! प्रतिक्रमण से जीव व्रतो के छिद्रो को ढकता है। जिस जीव के व्रतो के छिद्र ढक जाते हैं वह निरुद्धास्रव होता है, असबलचारित्र होता है, आठ प्रवचन-

४१—[1]अप्रत्याख्यानक्रिया आस्रव : संयमघाति कर्म की पराधीनता से पाप से अनिवृत्ति।

जिस तरह आस्रव के २० भेदों में से अन्तिम पन्द्रह का योगास्रव में समावेश होता है उसी तरह ४२ भेदों में सब के सब योगास्रव में समाहित होते हैं। मन-वचन-काय के सर्व कार्य सावद्य योगास्रव हैं। जिन अठारह पापों का पूर्व में उल्लेख आया है वे भी योग रूप ही हैं। विविध कर्मों के बन्ध-हेतुओं में जो भी क्रिया रूप व्यापार हैं उन सब को योगास्रव का भेद समझना चाहिए।

७—आस्रव और संवर का सामान्य स्वरूप (गा० ६-१०)

गा० ९-१० में स्वामीजी ने पाँच आस्रव और साथ ही पाँच संवर की परिभाषाएँ दी हैं। यहाँ पाँच आस्रव और पाँच संवर के सामान्य स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। आस्रव और संवर दोनों जीव परिणाम हैं। जीव का मिथ्या श्रद्धारूप परिणाम मिथ्यात्व अत्याग भावरूप परिणाम अविरति अनुत्साहरूप परिणाम प्रमाद क्रोधादिरूप परिणाम कषाय और मन-वचन काय के व्यापाररूप परिणाम योग हैं। इस तरह पाँचों आस्रव जीव के परिणाम हैं। इसी तरह सम्यक् श्रद्धारूप परिणाम सम्यक्त्व देश सर्व त्यागरूप परिणाम विरति प्रमादरहिततारूप परिणाम अप्रमाद कषायरहिततारूप परिणाम अकषाय और अव्यापाररूप परिणाम अयोग संवर है।

आस्रव और संवर दोनों जीव-परिणाम होने पर भी स्वभाव में एक दूसरे से भिन्न हैं। आस्रव जीव की उन्मुक्तता है। संवर उसकी गुप्ति। आस्रव कर्मों को आने देते हैं। संवर उनको रोकते हैं। आस्रव कर्मों के आने के द्वार—उपाय हैं। संवर उनको रोकने के द्वार—उपाय हैं। श्री अभयदेव लिखते हैं—"जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आने के लिए जो द्वार की तरह द्वार—उपाय हैं वे आस्रव-द्वार हैं। जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आगमन के निरोध के लिए जो द्वार—उपाय हैं वे संवर द्वार हैं। मिथ्यात्व आदि आस्रवों के क्रमशः विपर्यय रूप सम्यक्त्व आदि संवर हैं[2]।"

१—तत्त्वा० ६.६ भाष्य में क्रियाओं के नाम इस प्रकार हैं :

तद्यथा—सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथाः कायाधिकरणप्रदोषपरितापनप्राणातिपाताः दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपातानाभोगाः, स्वहस्तनिसर्गविदारणानयनानवकाङ्क्षा आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रिया इति ॥

२—ठाणाङ्ग ५.२.४१८ :

आस्रवणं—जीव तडागे कर्मजलस्य संगलनमास्रवः कर्मनिबन्धनमित्यर्थः, तस्य द्वाराणीव द्वाराणि—उपाया आस्रवद्वाराणीति। तथा संवरणं—जीवतडागे कर्म-जलस्य निरोधनं संवरस्तस्य द्वाराणि—उपाया संवरद्वाराणि—मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायाणां क्रमेण विपर्ययाः सम्यक्त्वविरत्यप्रमत्तताकषायित्वायोगित्वलक्षणाः

८—आस्रव कर्मों का कर्त्ता, हेतु, उपाय है (गा० ११)

स्वामीजी ने ढाल की पहली गाथा मे "स्थानाङ्ग मे पाँच आस्रवद्वार कहे हैं"—ऐसा उल्लेख करते हुए गा० २ से ८ मे इन पांचो द्वारो के नाम और उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। वहां आस्रव के प्रतिपक्षी सवर पदार्थ के स्वरूप पर भी कुछ विवेचन है जिससे कि आस्रव पदार्थ का स्वभाव स्पष्ट रूप से हृदयांकित हो सके। फिर गा० ९-१० मे पाँच आस्रव और सवर के सामान्य स्वरूप का वोध दिया है। स्वामीजी कहते हैं· "ठाणाङ्ग की तरह चौथे अङ्ग समवायाङ्ग मे भी पाँच आस्रव द्वार और पाँच सवर कहे गये हैं।" वह पाठ इस प्रकार है

"पच आसवदारा पन्नत्ता, तंजहा—मिच्छत्तं अविरई पमाया कसाया जोगा पच सवरदारा पन्नत्ता, तजहा—सम्मत्तं विरई अप्पमत्तया अकसाया अजोगया (सम० ५)।"

स्वामीजी कहते हैं—"आस्रव का जहाँ भी विवेचन है उस स्थल को देखने से यह स्पष्ट होता है कि वह कर्मों के आने का द्वार, हेतु, उपाय, निमित्त है। आस्रव महा विकराल द्वार है क्योंकि कर्म जैसा कोई रिपु नही। आस्रव उसके लिए सदा उन्मुक्त द्वार है।

९—प्रतिक्रमण विषयक प्रश्न और आस्रव (गा० १२)

स्वामीजी ने गा० ११ में आस्रव को कर्मो का कर्त्ता, हेतु, उपाय कहा है। आस्रव का स्वरूप ऐसा ही है अन्यथा नही इस तथ्य को हृदयङ्गम कराने के लिए स्वामीजी ने गा० १२ से २२ मे आगमो के कई स्थलो का सदर्भ दिया है। आस्रव द्वार रूप, छिद्र रूप है यह आगम के उल्लिखित सदर्भो से भली भाँति स्पष्ट होता है।

पहला सदर्भ उत्तराध्ययन के २९ वें अध्ययन का है। मूल पाठ इस प्रकार है

"पडिक्कमणेण भन्ते जीवे किं जणयइ॥ प० वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिदिए विहरइ॥११॥"

"हे भते! प्रतिक्रमण से जीव किस फल को उत्पन्न करता है?"

"हे शिष्य! प्रतिक्रमण से जीव व्रतो के छिद्रो को ढकता है। जिस जीव के व्रतो के छिद्र ढक जाते हैं वह निरुद्धास्रव होता है, असबलचारित्र होता है, आठ प्रवचन-

४२—¹अप्रत्याख्यानक्रिया आस्रव : संयमघाति कर्म की पराधीनता से पाप से अनिवृत्ति।

जिस तरह आस्रव के २० भेदों में से अन्तिम पन्द्रह का योगास्रव में समावेश होता है उसी तरह ४२ भेदों में सब के सब योगास्रव में समाहित होते हैं। मन-वचन-काय के सर्व कार्य सावद्य योगास्रव हैं। जिन अठारह पापों का पूर्व में उल्लेख आया है वे भी योग रूप ही हैं। विविध कर्मों के बन्ध-हेतुओं में जो भी क्रिया रूप व्यापार हैं उन सब को योगास्रव का भेद समझना चाहिए।

●—आस्रव और संवर का सामान्य स्वरूप (गा० ११०)

गा० १०८ में स्वामीजी ने पाँच आस्रव और साथ ही पाँच संवर की परिभाषाएँ दी हैं। यहाँ पाँच आस्रव और पाँच संवर के सामान्य स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। आस्रव और संवर दोनों जीव-परिणाम हैं। जीव का मिथ्या श्रद्धारूप परिणाम मिथ्यात्व, अत्याग भावरूप परिणाम अविरति, अनुत्साहरूप परिणाम प्रमाद, क्रोधादिरूप परिणाम कषाय और मन वचन काय के व्यापाररूप परिणाम योग हैं। इस तरह पाँचों आस्रव जीव के परिणाम हैं। इसी तरह सम्यक् श्रद्धारूप परिणाम सम्यक्त्व, देश सर्व त्यागरूप परिणाम विरति, प्रमादरहितत्वारूप परिणाम अप्रमाद, कषायरहितत्वारूप परिणाम अकषाय और अव्यापाररूप परिणाम अयोग संवर है।

आस्रव और संवर दोनों जीव-परिणाम होने पर भी स्वभाव में एक दूसरे से भिन्न हैं। आस्रव जीव की उन्मुक्तता है। संवर उसकी गुप्ति। आस्रव कर्मों को आने देते हैं। संवर उनको रोकते हैं। आस्रव कर्मों के आने के द्वार—उपाय हैं। संवर उनको रोकने के द्वार—उपाय हैं। श्री अभयदेव लिखते हैं—²"जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आने के लिए जो द्वार की तरह द्वार—उपाय हैं वे आस्रव-द्वार हैं। जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आगमन के निरोध के लिए जो द्वार—उपाय हैं वे संवर द्वार हैं। मिथ्यात्व आदि आस्रवों के क्रमशः विपर्यय रूप सम्यक्त्व आदि संवर हैं।"

१—तत्त्वा० ६.६ भाष्य में क्रियाओं के नाम इस प्रकार हैं :

तद्यथा—सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथाः कायाधिकरणप्रदोषपरितापनप्राणातिपाताः दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपातानाभोगाः, स्वहस्तनिसर्गविदारणानयनानवकाङ्क्षा आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रिया इति ॥

२—ठाणाङ्ग ५.२.४१८ :

आश्रवणं—जीवतडागे कर्मजलस्य सङ्गलनमाश्रवः, कर्मनिबन्धनमित्यर्थः तस्य द्वाराणीव द्वाराणि—उपाया आश्रवद्वाराणीति। तथा संवरणं—जीवतडागे कर्मजलस्य निरोधनं संवरस्तस्य द्वाराणि—उपायाः संवरद्वाराणि—मिथ्यात्वादीनामाश्रवाणां क्रमेण विपर्ययाः सम्यक्त्वविरत्यप्रमादाकषायित्वायोगित्वलक्षणाः

८—आस्रव कर्मों का कर्त्ता, हेतु, उपाय है (गा० ११)

स्वामीजी ने ढाल की पहली गाथा मे "स्थानाङ्ग में पाँच आस्रवद्वार कहे हैं"—ऐसा उल्लेख करते हुए गा० २ से ८ मे इन पाँचो द्वारो के नाम और उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। वहाँ आस्रव के प्रतिपक्षी सवर पदार्थ के स्वरूप पर भी कुछ विवेचन है जिससे कि आस्रव पदार्थ का स्वभाव स्पष्ट रूप से हृदयांकित हो सके। फिर गा० ९-१० मे पाँच आस्रव और सवर के सामान्य स्वरूप का बोध दिया है। स्वामीजी कहते हैं : "ठाणाङ्ग की तरह चौथे अङ्ग समवायाङ्ग मे भी पाँच आस्रव द्वार और पाँच सवर कहे गये हैं।" वह पाठ इस प्रकार है

> "पच आसवदारा पन्नत्ता, तंजहा—मिच्छत्तं अविरई पमाया कसाया जोगा पच सवरदारा पन्नत्ता, तजहा—सम्मत्तं विरई अप्पमत्तया अकसाया अजोगया (सम० ५)।"

स्वामीजी कहते हैं—"आस्रव का जहाँ भी विवेचन है उस स्थल को देखने से यह स्पष्ट होता है कि वह कर्मों के आने का द्वार, हेतु, उपाय, निमित्त है। आस्रव महा विकराल द्वार है क्योंकि कर्म जैसा कोई रिपु नही। आस्रव उसके लिए सदा उन्मुक्त द्वार है।

९—प्रतिक्रमण विषयक प्रश्न और आस्रव (गा० १२)

स्वामीजी ने गा० ११ में आस्रव को कर्मो का कर्त्ता, हेतु, उपाय कहा है। आस्रव का स्वरूप ऐसा ही है अन्यथा नही इस तथ्य को हृदयङ्गम कराने के लिए स्वामीजी ने गा० १२ से २२ मे आगमो के कई स्थलो का सदर्भ दिया है। आस्रव द्वार रूप, छिद्र रूप है यह आगम के उल्लिखित सदर्भो से भली भाँति स्पष्ट होता है।

पहला सदर्भ उत्तराध्ययन के २९ वे अध्ययन का है। मूल पाठ इस प्रकार है

> "पडिक्कमणेण भन्ते जीवे किं जणयइ॥ प० वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिंदिए विहरइ॥११॥"

"हे भते! प्रतिक्रमण से जीव किस फल को उत्पन्न करता है?"

"हे शिष्य! प्रतिक्रमण से जीव व्रतो के छिद्रो को ढकता है। जिस जीव के व्रतो के छिद्र ढक जाते हैं वह निरुद्धास्रव होता है, असबलचारित्र होता है, आठ प्रवचन-

माताओं में सावधान होता है, संयम योग से अपृथक होता है और समाधिपूर्वक संयम में विचरता है।"

सार है व्रतों के छिद्र—दोष आस्रव रूप हैं। प्रतिक्रमण से व्रतों के छिद्र—रोक सकते हैं अतः फल स्वरूप जीव 'निरुद्धास्रवे'—आस्रव-रहित होता है।

१०—प्रत्याख्यान विषयक प्रश्न और आस्रव (गा० १३)

इस गाथा में स्वामीजी ने आस्रव के स्वरूप को बतलाने के लिए उत्तराध्ययन (२९.१३) के ही एक अन्य पाठ की ओर संकेत किया है। वह पाठ इस प्रकार है

"पच्चक्खाणेणं भन्ते जीवे किं जणयइ॥ प० आसवदाराइं निरुम्भइ। पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ। इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ॥"

'भंते! प्रत्याख्यान से जीव को क्या फल होता है?'

"हे शिष्य! प्रत्याख्यान से जीव आस्रव-द्वारों को रोकता है। प्रत्याख्यान से इच्छा निरोध करता है। इच्छानिरोध से जीव सर्व द्रव्यों के प्रति वीततृष्ण हो शांत होकर विचरण करता है।"

इस वार्तालाप का सार भी यही है कि अप्रत्याख्यान आस्रव है। उससे कर्मों का आगमन होता है। जो प्रत्याख्यान करता है उसके आस्रव-निरोध होता है और नये कर्मों का प्रवेश नहीं होता।

११—तालाब का दृष्टान्त और आस्रव (गा० १४)

यहाँ संकेतित उत्तराध्ययन के ३० वें अध्ययन का पाठ इस प्रकार है

जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे॥ ५॥
एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे।
भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ॥ ६॥

शिष्य पूछता है—"करोड़ों भवों के संचित कर्मों से मुक्ति कैसे हो?"

गुरु कहते हैं—"जिस प्रकार किसी महा तालाब का पानी जलागमन के मार्ग को रोक देने पर उलीचने और सूर्यताप से क्रमशः सूख जाता है वैसे ही पाप कर्म के आस्रवों को रोक देने पर—निरास्रवी हो जाने पर संयमी के कोटि भवों से संचित कर्म तप के द्वारा निर्जरा को प्राप्त होते हैं।"

शिष्य—'भंते ! जीव निरास्रवी कैसे होता है ?'

गुरु—"हे शिष्य ! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा रात्रि-भोजन के विरमण से जीव निरास्रवी होता है। जो पांच समिति से युक्त, तीन गुप्ति से गुप्त, कषायरहित, जितेन्द्रिय, गौरव-रहित और नि शल्य होता है वह जीव निरासवी होता है।"

इस पाठ से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मो से मुक्त होने की पहली प्रक्रिया है नये-कर्मो के आगमन का निरोध करना, आस्रव को रोकना। जो आस्रवरहित होता है उसके भारी से भारी कर्म तप से निर्जरित होते हैं। जीव तालाव तुल्य है,आस्रव जल-मार्ग के सदृश और कर्म जल तुल्य। जीव रूपी तालाव को कर्म रूपी जल से विरहित करना हो तो आस्रव रूपी स्रोत—विवर—नाले को पहले रोकना होगा।

१२—मृगापुत्र और आस्रव-निरोध (गा० १५) :

उत्तराध्ययन (अ० १९.९३) के जिस पाठ की ओर यहाँ इंगित किया गया है उसका सम्बन्ध मृगापुत्र के साथ है। मृगापुत्र सुग्रीवनगर के राजा वलभद्र के पुत्र थे। उन्होने प्रव्रज्या ग्रहण की। प्रव्रज्या के वाद वे वडे ही तपस्वी और समभावी साधु हुए। उनके गुणो का वर्णन करते हुए कहा गया है :

अप्पसत्थेहि दारेहि सव्वओ पिहियासवे।
अज्झप्पज्झाणजोगेहि पसत्थदमसासणे॥

"वे सभी अप्रशस्त द्वारो और सभी आस्रवो का निरोध कर आध्यात्मिक शुभ ध्यान के योग से प्रशस्त सयम वाले हुए।"

स्वामीजी के कथन का सार है—आस्रव-द्वार के निरोध का उल्लेख अनेक स्थलो पर है इसका कारण यही है कि आस्रव पाप-कर्मों के आने का हेतु है। पहले उसे रोकना आवश्यक होता है जिससे कि नया भार न हो। जिस प्रकार कर्ज से मुक्त होने के लिए नये कर्ज से परहेज करना आवश्यक है वैसे ही पूर्व सचित कर्मो से मुक्त होने के लिए निरास्रवी होना आवश्यक है।

१३—पिहितास्रव के पाप का बध नही होता (गा० १६) :

दशवैकालिक (अ० ४ ९) की जिस गाथा का यहाँ सदर्भ है वह इस प्रकार है

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्म भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दन्तस्स पाव कम्मं न-बन्धई॥

भावनाओं में सावधान होता है, संयम योग से अपृथक होता है और समाधिपूर्वक संयम में विचरता है।"

सार है व्रतों के छिद्र—दोष आस्रव रूप हैं। प्रतिक्रमण से व्रतों के छिद्र—दोष रुकते हैं अतः फल स्वरूप जीव 'निरुद्धास्रवे'—आस्रव-रहित होता है।

१०—प्रत्याख्यान विषयक प्रश्न और आस्रव (गा० १३)

इस गाथा में स्वामीजी ने आस्रव के स्वरूप को बतलाने के लिए उत्तराध्ययन (२९.१३) के ही एक अन्य पाठ की ओर संकेत किया है। वह पाठ इस प्रकार है

"पच्चक्खाणेणं भन्ते जीवे किं जणयइ ॥ प० आसवदाराइं निरुम्भइ । पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ । इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ ॥"

'भंते ! प्रत्याख्यान से जीव को क्या फल होता है ?"

"हे शिष्य ! प्रत्याख्यान से जीव आस्रव-द्वारों को रोकता है। प्रत्याख्यान से इच्छा निरोध करता है। इच्छानिरोध से जीव सर्व द्रव्यों के प्रति वीततृष्ण हो शांत होकर विचरण करता है।"

इस वार्तालाप का सार भी यही है कि अप्रत्याख्यान आस्रव है। उससे कर्मों का आगमन होता है। जो प्रत्याख्यान करता है उसके आस्रव निरोध होता है और नये कर्मों का प्रवेश नहीं होता।

११—तालाब का दृष्टान्त और आस्रव (गा० १४)

यहाँ संकेतित उत्तराध्ययन के ३० वें अध्ययन का पाठ इस प्रकार है

जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे ॥ ५ ॥
एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निजरिज्जइ ॥ ६ ॥

शिष्य पूछता है—'करोड़ों भवों से संचित कर्मों से मुक्ति कैसे हो ?

गुरु कहते हैं—'जिस प्रकार किसी महा तालाब का पानी जलागमन के मार्ग को रोक देने पर उलीचने और सूर्यताप से क्रमशः सूख जाता है वैसे ही पाप कर्म के आस्रवों को रोक देने पर—निरास्रवी हो जाने पर संयमी के कोटि भवों से संचित कर्म तप के द्वारा निर्जरा को प्राप्त होते हैं।"

शिष्य—'भते ! जीव निरास्रवी कैसे होता है ?'

गुरु—"हे शिष्य ! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा रात्रि-भोजन के विरमण से जीव निरास्रवी होता है। जो पांच समिति से युक्त, तीन गुप्ति से गुप्त, कषायरहित, जितेन्द्रिय, गौरव-रहित और नि शल्य होता है वह जीव निरास्रवी होता है।"

इस पाठ से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मों से मुक्त होने की पहली प्रक्रिया है नये-कर्मों के आगमन का निरोध करना, आस्रव को रोकना। जो आस्रवरहित होता है उसके भारी से भारी कर्म तप से निर्जरित होते हैं। जीव तालाब तुल्य है, आस्रव जल-मार्ग के सदृश और कर्म जल तुल्य। जीव रूपी तालाब को कर्म रूपी जल से विर-हित करना हो तो आस्रव रूपी स्रोत—विवर—नाले को पहले रोकना होगा।

१२—मृगापुत्र और आस्रव-निरोध (गा० १५) :

उत्तराध्ययन (अ० १६.६३) के जिस पाठ की ओर यहाँ इगित किया गया है उसका सम्बन्ध मृगापुत्र के साथ है। मृगापुत्र सुग्रीवनगर के राजा बलभद्र के पुत्र थे। उन्होने प्रव्रज्या ग्रहण की। प्रव्रज्या के बाद वे बडे ही तपस्वी और समभावी साधु हुए। उनके गुणो का वर्णन करते हुए कहा गया है :

अप्पसत्थेहि दारेहि सव्वओ पिहियासवे ।
अज्झप्पज्झाणजोगेहि पसत्थदमसासणे ॥

"वे सभी अप्रशस्त द्वारो और सभी आस्रवो का निरोध कर आध्यात्मिक शुभ ध्यान के योग से प्रशस्त सयम वाले हुए।"

स्वामीजी के कथन का सार है—आस्रव-द्वार के निरोध का उल्लेख अनेक स्थलो पर है इसका कारण यही है कि आस्रव पाप-कर्मो के आने का हेतु है। पहले उसे रोकना आवश्यक होता है जिससे कि नया भार न हो। जिस प्रकार कर्ज से मुक्त होने के लिए नये कर्ज से परहेज करना आवश्यक है वैसे ही पूर्व सचित कर्मो से मुक्त होने के लिए निरास्रवी होना आवश्यक है।

१३—पिहितास्रव के पाप का बध नहीं होता (गा० १६) :

दशवैकालिक (अ० ४ ६) की जिस गाथा का यहाँ सदर्भ है वह इस प्रकार है

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्म भूयाइ पासओ ।
पिहियासवस्स दन्तस्स पाव कम्मं न बन्धई ॥

जो सर्व भूतों को अपनी आत्मा के समान समझता है, जो सब जीव को समभाव से देखता है, जो आस्रवों को रोक चुका और जो दान्त है उसके पाप-कर्मों का बन्ध नहीं होता।

दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन की संकेतित गाथा इस (११) प्रकार है

पंचासवपरिन्नाया तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणाधीरा निग्गन्था उज्जुदंसिणो॥

जो पञ्चास्रव को जानकर त्याग करने वाले होते हैं, जो त्रिगुप्त हैं, षट्काय के जीवों के प्रति संयत हैं, पाँच इन्द्रिय का निग्रह करने वाले हैं, जो धीर हैं और ऋजुदर्शी हैं वे निर्ग्रन्थ हैं।

यहाँ पर आस्रव-रहित श्रमणों को निर्ग्रन्थ कहा है।

१४—पंचास्रवसंवृत भिक्षु महा अनगार (गा० १७)

स्वामीजी ने यहाँ दशवैकालिक अ० १० गा० ५ की ओर संकेत किया है। वह गाथा इस प्रकार है

रोइअनायपुत्तवयणे
अप्पसमे मन्नेज्ज छप्पि काए।
पंच य फासे महव्वयाइं
पंचासवसंवरए जे स भिक्खू॥

जो ज्ञातपुत्र महावीर के वचन में रुचि कर छः ही काय के जीव को आत्म-सम मानता है, पंच महाव्रतों का सम्यक् रूप से पालन करता है तथा पञ्चास्रवों को संवृत करता है वह भिक्षु है।

यहाँ पञ्चास्रवों को निरोध करने वाला महा भिक्षु कहा गया है। आस्रवों का संवरण भिक्षु का महान गुण है।

१५—मुक्ति व यहाँ योगों का निरोध (गा० १८)

उत्तराध्ययन अ० २९.७ में कहा है—

"बाकी बचे हुए कर्मों का क्षय करता हुआ सयोगी अवस्था में केवली भगवान ईर्यापथिकी क्रिया का बंध करता है। फिर अवशेष रहे हुए आयुकर्म को भोगते हुए जब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रह जाती है तब योगों का निरोध करते हुए सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान के तीसरे पाद का ध्यान ध्याते हुए प्रथम मनोयोग का निरोध करता

है। इसके बाद वचनयोग, फिर काययोग और फिर श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है। इसके बाद पांच ह्रस्वाक्षर के उच्चार करने जितने समय मे वह अनगार समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान को ध्याते हुए वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—इन चार कर्मा को एक साथ क्षय कर बाद में शुद्ध-बुद्ध होकर समस्त दु ख का अन्त करता है।"

स्वामीजी ने प्रस्तुत गाथा मे सिद्ध-बुद्ध होने की उपर्युक्त प्रक्रिया मे योग-निरोध के क्रम का जो उल्लेख है उसी की ओर सकेत किया है। आगम का मूल पाठ इस प्रकार है

अह आउय पालइत्ता अन्तोमुहुत्तद्धावसेसाए जोगनिरोह करेमाणे सुहुमकिरिय अप्पडिवाइ सुक्कज्झाण झायमाणे तप्पढमयाए मणजोग निरुम्भइ वइजोग निरुम्भइ कायजोग निरुम्भइ आणपाणुनिरोह करेइ ईसि पचरहस्सक्खरुच्चारणद्धाए य ण अणगारे समुच्छिन्नकिरिय अनियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्ज आउय नामं गोत्तं च एए चत्तारि कम्मंसे जुगव खवेइ ॥

स्वामीजी के कहने का तात्पर्य है कि सयोगी केवली के योग शुद्ध होते हैं। पर मुक्त होने के पूर्व केवली को भी इन शुद्ध योगो का निरोध करना पड़ता है तब कही वह सिद्ध-बुद्ध होता है। इस तरह योगास्रव भी सवरणीय हैं।

१६—प्रश्नव्याकरण और आस्रवद्वार (गा० १६) :

प्रश्नव्याकरण दसवां अङ्ग माना जाता है। इस आगम में दो श्रुतस्कध हैं—एक आस्रवद्वारश्रुतस्कध और दूसरा सवरद्वारश्रुतस्कध[1]। प्रथम श्रुतस्कध में आस्रव पञ्चक और द्वितीय श्रुतस्कध में सवर पञ्चक का वर्णन है। इसी सूत्र में एक स्थान पर कहा है—"पाँच का परित्याग करके और पांच का भावपूर्वक रक्षण करके जीव कर्म-रज से मुक्त होते हैं और सर्वश्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त करते हैं[2]।"

सवरो के विषय में कहा गया है—"ये अनास्रव रूप हैं, छिद्र रहित हैं, अपरिस्रावी है, सक्लेश से रहित हैं, समस्त तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट हैं[3]" आस्रव ठीक इनसे उल्टे हैं।

१—जबू दसमस्स अगस्स समणेण जाव सपत्तेण दो सुयक्खधा पण्णत्ता—आसवदारा य सवरदारा य

२—पचेव य उज्झिऊण पचेव य रक्खिऊण भावेण।
कम्मरयविप्पमुक्का सिद्धिवरमणुत्तर जति ॥

३—अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुन्नातो।

१७—आस्रव-प्रतिक्रमण (गा० २०)

यहाँ ठाणाङ्ग के जिस पाठ का संकेत है वह इस प्रकार है :

"पंचविहे पडिक्कमणे पं० तं०—आसवदारपडिक्कमणे मिच्छत्तपडिक्कमणे कसायपडिक्कमणे जोगपडिक्कमणे भावपडिक्कमणे[1] ।" (५ ३ ४६७)

प्रतिक्रमण पाँच प्रकार के कहे हैं—(१) आस्रवद्वार प्रतिक्रमण (२) मिथ्यात्व प्रतिक्रमण (३) कषाय प्रतिक्रमण (४) योग प्रतिक्रमण और (५) भाव प्रतिक्रमण। प्रमादवश स्वस्थान से परस्थान चले जाने पर पुनः स्वस्थान को आना प्रतिक्रमण कहलाता है। शुभ योग से अशुभ योग में चले जाने पर पुनः शुभ में आना प्रतिक्रमण है[2]। प्राणातिपातादि आस्रवद्वारों से निवर्तन को आस्रवद्वार प्रतिक्रमण कहते हैं[3]। इसका अर्थ है—असंयम से प्रतिक्रमण। इसी प्रकार मिथ्यात्वगमन से निवृत्ति को मिथ्यात्व प्रतिक्रमण कहते हैं[4]। इसी तरह कषाय प्रतिक्रमण है। मन-वचन-काय के अशोभन व्यापारों का व्यावर्तन योग प्रतिक्रमण है[5]। आस्रवादि प्रतिक्रमण ही अविवक्षित विशेष से भाव प्रतिक्रमण है। मन-वचन-काय से मिथ्यात्वादि में गमन न करना, दूसरे को गमन न कराना, गमन करते हुए का अनुमोदन न करना भाव प्रतिक्रमण है[6]।

स्वामीजी कहते हैं "भगवान ने यहाँ आस्रवों का प्रतिक्रमण कहा है इसका कारण यही है कि आस्रव पाप प्रवेश के द्वार हैं"।

१—मिलावें

मिच्छत्तपडिक्कमणं तहेव अस्संजम पडिक्कमणं ।
कसायाण पडिक्कमणं जोगाण य अप्पसत्थाणं ॥

२—(क) ठाणाङ्ग ५ ३ ४६७ टीका :

स्वस्थानाद्यत्परस्थानं प्रमादस्य वशाद्गतः ।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

(ख) ठाणाङ्ग ५ ३ ४६७ टीका :

क्षायोपशमिकाद्भावादौदयिकस्य वशं गतः ।
तत्रापि च स एवार्थः प्रतिकूलगमात् स्मृतः ॥

३—वही : आश्रवद्वाराणि—प्राणातिपातादीनि तेभ्यः प्रतिक्रमणं—निवर्त्तनं आस्रवद्वारप्रतिक्रमणं, असंयमप्रतिक्रमणमिति हृदयं

४—वही मिथ्यात्वप्रतिक्रमणं यदाभोगानाभोगसहसाकारैर्मिथ्यात्वगमनं तन्निवृत्तिः

५—वही योगप्रतिक्रमणं तु यद् मनोवचनकायव्यापाराणामशोभनानां व्यावर्त्तनमिति

६—वही आश्रवद्वारादिप्रतिक्रमणमेवाविवक्षितविशेषं भावप्रतिक्रमणमिति आह च

मिच्छत्ताइ न गच्छइ न य गच्छावेइ नाणुजाणाइ ।
जं मणवइकाएहिं तं भणियं भावपडिक्कमणं ॥

१८—आस्रव और नौका का दृष्टान्त (गा० २१-२२) :

एक वार्तालाप के प्रसग मे भगवान महावीर ने मडितपुत्र से पूछा "एक ह्रद हो, वह जलसे पूर्ण हो, जल से छलाछल भरा हो, जल से छलकता हो, जल से वढता हो और भरे हुए घडे की तरह सव जगह जल से व्याप्त हो, उस ह्रद मे कोई एक मनुष्य सैकडो सूक्ष्म छिद्र और सैकडो वड़े छिद्रों वाली एक वडी नाव को प्रविष्ट करे तो हे मण्डितपुत्र ! वह नाव छिद्र द्वारा जल से भराती-भराती जल मे भरी हुई, जल से छलाछल भरी हुई, जल से छलकती हुई, जल से वढती हुई अन्त मे भरे हुए घडे की तरह सव जगह जल से व्याप्त होती है यह ठीक है या नही ?" मण्डितपुत्र वोले भन्ते ! होती है।" भगवान वोले "अव यदि कोई पुरुष उस नाव के सारे छिद्रो को ढक दे और उलीच कर उसके सारे जल को वाहर निकाल दे तो हे मण्डितपुत्र ! वह नौका सारे पानी को उलीच देने पर शीघ्र ही जल के ऊपर आती है क्या यह ठीक है ?" मण्डितपुत्र वोले : "यह सच है भन्ते ! वह ऊपर आती है।"

स्वामीजी के कथनानुसार यह वार्तालाप आस्रव और सवर के स्वरूप पर प्रकाश डालता है। आत्मा मिथ्यात्व आदि आस्रवो—छिद्रो द्वारा कर्म रूपी जल से खचाखच भर जाती है। सवर द्वारा आस्रव रूपी छिद्रो को रुव देने पर पुन नये कर्मरूपी जल का प्रवेश रुक जाता है। सचित कर्म-जल को तप द्वारा उलीच देने पर आत्मा पुन कर्म-जल से रिक्त होती है। ऊपर जो वार्तालाप दिया गया है उसका मूल पाठ (भगवती ३ ३) इस प्रकार है—

से जहा नाम ए हरए सिया, पुण्णे, पुण्णप्पमाणे, वोलट्टमाणे, वोसट्टमाणे समभर घडत्ताए चिट्ठइ। अहे ण केइ पुरिसे तंसि हरयसि एग महं णाव सयासवं, सयच्छिद्द ओगाहेज्जा, से णूण मडिअपुत्ता ! सा नावा तेहिं आसवदारेहिं आपूरेमाणी आपूरे-माणी, पुण्णा, पुण्णप्पमाणा, वोलट्टमाणा, वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिट्ठति। अहे ण केइ पुरिसे तीसे नावाए सव्वओ समता आसवदाराइ पिहेइ, पिहित्ता णावा उस्सिंचणएण उदयं उस्सिचिज्जा, से णूणं मडिअपुत्ता ! सा नावा तंसि उदयंसि उस्सित्तंसि समाणंसि खिप्पामेव उड्ढ उद्दाइ ? हता, उद्दाइ।

भगवती सूत्र का दूसरा वार्तालाप इस प्रकार है :

"भन्ते ! जीव और पुद्गल अन्योन्य वद्ध, अन्योन्य स्पृष्ट, अन्योन्य स्नेह से प्रतिवद्ध, अन्योन्य [illegible] अन्योन्य घट होकर रहते हैं ?" "हां गौतम ! रहते हैं।" "भन्ते !

ऐसा किस हेतु से कहते हैं ?" गौतम ! एक हृद हो वह जल से भरा हो समाछल भरा हो जल से छलकता हो जल से बढ़ता हो और भरे हुए घड़े की तरह स्थित हो अब यदि कोई एक बड़ी सौ छोटे छिद्रोंवाली और सौ बड़े छिद्रोंवाली नाव उसमें प्रविष्ट करे तो हे गौतम ! वह नाव उन आस्रवद्वारों से—छिद्रों से भराती, अधिक भराती जल से भरी हुई, जल से समाछल भरी हुई, जल से छलकती हुई, जल से बढ़ती हुई और अन्त में भरे घड़े की तरह स्थित होकर रहती है या नहीं।' "भन्ते ! रहती है। 'हे गौतम ! मैं इसी हेतु से कहता हूं कि जीव और पुद्गल अन्योन्य बद्ध यावत् अन्योन्य घट होकर स्थित हैं।"

स्वामीजी के कथनानुसार यह वार्तालाप भी आस्रव के स्वरूप पर सुन्दर प्रकाश डालता है। मिथ्यात्वादि आस्रव विकराल छिद्र हैं जिनसे जीव-रूपी नौका पाप-रूपी जल से समाछल भर जाती है। भगवती सूत्र (१ ६) का मूल पाठ इस प्रकार है

अत्थि णं भंते ! जीवा य पोग्गला य अन्नमन्नबद्धा अन्नमन्नपुट्ठा अन्नमन्नओगाढा अन्नमन्नसिणेहपडिबद्धा अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठंति ? हंता अत्थि। से केणट्ठेणं भंते ! जाव—चिट्ठंति ? गोयमा ? से जहानामए हरदे सिया पुण्णे पुण्णप्पमाणे, वोलट्टमाणे वोसट्टमाणे समभरघडत्ताए चिट्ठइ। अहे णं केई पुरिसे तंसि हरदंसि एगं महं नावं सयासवं सयछिद्दं ओगाहेज्जा। से नूणं गोयमा ! सा नावा तेहिं आसवदारेहिं आपूरमाणी आपूरमाणी पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा, समभरघडत्ताए चिट्ठइ ? हंता चिट्ठइ। से तेणट्ठेणं गोयमा ! अत्थि णं जीवा य जाव-चिट्ठंति।

११—आस्रव विषयक कुछ अन्य संदर्भ (गा० २१)

आस्रव के स्वरूप को हृदयङ्गम कराने के लिए स्वामीजी ने आस्रव के कुछ ऐसे संदर्भ गा १२ से २२ में संकलित किये हैं जहां आस्रवद्वार का उल्लेख है। विषय को सीमित करने के लिए अन्य अनेक संदर्भों का उल्लेख उन्होंने यहां नहीं किया। उनकी अन्य कथात्मक कृति में अन्य स्थलों के संदर्भ भी हैं। हम यहां कुछ दे रहे हैं।

१—स्थानाङ्ग (१ ११ १४) में 'एगे आसवे' 'एगे संवरे' ऐसे पाठ हैं। टीका में विवेचन करते हुए लिखा है— 'जिससे कर्म आत्मा में आस्रवित होते हैं—प्रवेश करते हैं उसे आस्रव कहते हैं। आस्रव अर्थात् कर्म-बन्ध का हेतु। जिस परिणाम से कर्मों के कारण

प्राणातिपातादि का संवरण—निरुंधन होता है वह सवर है। सवर अर्थात् आस्रव-निरोध[1]।

टीका मे आस्रव का वही स्वरूप प्रतिपादित है जो स्वामीजी ने बताया है। टीकाकार ने सवर की जो परिभाषा दी है वह इसे और भी स्पष्ट कर देता है।

२—उत्तराध्ययन सूत्र के २६ वे अध्ययन का ३७ वा प्रश्नोत्तर योगप्रत्याख्यान सम्बन्धी है। वहाँ कहा है—"योगप्रत्याख्यान से जीव अयोगीपन प्राप्त करता है। अयोगी जीव नये कर्मों का बध नही करता और पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा करता है।"

बाद के ५३,५४ और ५५ वें बोलो में मनोगुप्ति आदि के फल इस प्रकार बतलाये है

"मनोगुप्ति से जीव एकाग्रता उत्पन्न करता है। मनोगुप्त जीव एकाग्रचित्त से सयम का आराधक होता है। वचनगुप्ति से जीव निर्विकारिता को उत्पन्न करता है। वचनगुप्त जीव निर्विकारिता से अध्यात्मयोग की साधना वाला होता है। कायगुप्ति से जीव सवर उत्पन्न करता है। कायगुप्त जीव सवर से पापास्रवो का निरोध करता है।"

इस वार्तालाप में प्रकारान्तर से मन, वचन और काय के निरोध का ही उपदेश है। मन, वचन और काय—ये तीनो योग आस्रव रूप हैं। उनसे कर्म आते हैं। कर्मो का आगमन आत्मा के हित के लिए नहीं होता, इसीलिए योग-निरोध का उपदेश है।

३—उत्तराध्ययन अ० २३ में केशी और गौतम का एक सुन्दर वार्तालाप मिलता है

केशी बोले "गौतम! महाप्रवाह वाले समुद्र मे विपरीत जाने वाली नौका में आप आरूढ हैं। इससे आप कैसे उस पार पहुँच सकेंगे?"

गौतम बोले . "जो नौका आस्रववणी होती है वही पार नही पहुँचाती। जो नौका अनास्रवणी होती है—छिद्र रहित होती है अर्थात् जल का सग्रह करने वाली नही होती वह पार पहुँचा देती है।"

१—ठाणाङ्ग १ १३ टीका

आश्रवन्ति—प्रविशन्ति येन कर्म्माण्यात्मनीत्याश्रव, कर्म्मबन्धहेतुरिति भाव', .

सवियते—कर्मकारण प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन स सवर, आश्रवनिरोध इत्यर्थ

जा उ अस्साविणी नावा न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा सा उ पारस्स गामिणी ॥७१॥

केशी बोले : 'यह नौका कौन सी है ?

गौतम बोले : 'यह शरीर नौका रूप है। जीव नाविक है। संसार समुद्र है। महर्षि संसार-समुद्र को तर जाते हैं।

सरीरमाहु नाव त्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरंति महेसिणो ॥७३॥

इस प्रसंग का सार है—जिस तरह आस्रवणी नौका समुद्र के उस पार नहीं पहुँचाती वैसे ही आस्रवणी आत्मा जीव को संसार-समुद्र के उस पार नहीं पहुँचाती। अतः आत्मा को निरास्रव करना चाहिए।

४—उत्तराध्ययन अ० ३५ में एक गाथा इस प्रकार है :

निम्ममो निरहंकारो, वीयरागो अणासवो।
संपत्तो केवलं नाणं सासयं परिणिव्वुए ॥२१॥

जो ममत्वरहित होता है, निरहंकार होता है, वीतराग होता है, आस्रवरहित होता है वह केवलज्ञान को पाकर शाश्वत रूप से परिनिवृत्त होता है।

इस गाथा में आस्रवमुक्त आत्मा का एक प्रधान गुण आस्रवरहितता कहा गया है।

२०— आस्रव जीव या अजीव (गा० २४)

नौ पदार्थों में जीव कितने हैं, अजीव कितने हैं, यह एक बहुत पुराना प्रश्न है। जीव जीव है, अजीव अजीव है, अवशेष सात पदार्थों में कौन जीव कोटि का है कौन अजीव कोटि का ?

श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों ही मानते हैं कि मूल पदार्थ जीव और अजीव दो ही हैं। अन्य पदार्थ उन्हीं के भेद या परिणाम हैं। अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं : "जीव अजीव दोनों पदार्थ अपने भिन्न स्वरूप के अस्तित्व से मूल पदार्थ हैं, अवशेष सात पदार्थ

१—(क) द्रव्यसंग्रह २८
आसवबंधणसंवरणिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे।
जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ॥
(ख) ,, १६६४ टीका :
... तानेवद्द विप्पउओ भवमोक्खो।

जीव और पुद्गल के सयोग से उत्पन्न हैं[1] ।" ऐसा मानने से उपर्युक्त प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है।

श्री सिद्धसेन गणि लिखते हैं : "सात पदार्थों मे प्रकृतत जीव और अजीव द्रव्य और भाव से स्थिति-उत्पत्ति-प्रलय स्वभाववाले कहे गये हैं।' वस्तुत चेतन अचेतन लक्षणयुक्त जीव और अजीव ये दो ही सद्भाव पदार्थ हैं। आस्रव यदि जीव अथवा जीव पर्याय है तो वह सर्वथा जीव ही है। यदि वह अजीव अथवा अजीव पर्याय है तो सर्वथा अजीव ही है। चेतन अचेतन को छोडकर अन्य पदार्थ नही है। अत आस्रव क्या है? यह प्रश्न है। आस्रव क्रिया विशेष है। वह आत्मा और शरीर आदि के आश्रित है अत केवल जीव अथवा जीव-पर्याय नही है। वह केवल अजीव अथवा अजीव-पर्याय भी नहीं कारण कि वह आत्मा और शरीर दोनो के आश्रित है[2] ।"

दिगम्बर आचार्यो ने पुण्य आदि पदार्थो के द्रव्य और भाव इस तरह से दो-दो भेद किये हैं। सक्षेप में उनका कथन है : "जीव का शुभ परिणाम भावपुण्य है, उसके निमित्त से उत्पन्न सद्वेदनीय आदि शुभ प्रकृतिरूप पुद्गलपरमाणुपिण्ड द्रव्यपुण्य है। मिथ्यात्वरागादिरूप जीव का अशुभ परिणाम भावपाप है, उसके निमित्त से उत्पन्न असद्वेदनीय आदि अशुभ प्रकृति रूप पुद्गलपिण्ड द्रव्यपाप है। रागद्वेप मोहरूप जीव-परिणाम भावास्रव है, भावास्रव के निमित्त से कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गलो का योग-द्वार से आगमन द्रव्यास्रव है। कर्म-निरोध में समर्थ निर्विकल्पक आत्मलब्धि रूप परि-णाम भावसवर है, उस भावसवर के निमित्त से नये द्रव्य कर्मो के आगमन का निरोध द्रव्यसवर है। कर्मशक्ति को दूर करने में समर्थ बारह प्रकार के तप से वृद्धिगत सवर युक्त शुद्धोपयोग भाव निर्जरा है, उस शुद्धोपयोग से नीरस हुए चिरतन कर्मो का एक देश गलन—अशत दूर होना द्रव्यनिर्जरा है। प्रकृति आदि बध से शून्य परमात्मपदार्थ से प्रतिकूल मिथ्यात्वरागादि से स्निग्ध परिणाम भाववन्ध है, भाववन्ध के निमित्त से तैल लगे हुए शरीर के धूलि-लेप की तरह जीव और कर्म प्रदेशो का परस्पर सश्लेष द्रव्यबन्ध है। कर्म

१—पञ्चास्तिकाय २ १०८ अमृतचन्द्रीय टीका,

> इमौ हि जीवाजीवौ पृथग्भूताऽस्तित्वनिर्वृत्तत्वेन भिन्नस्वभावभूतौ मूलपदार्थौ।
> जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ता सप्ताऽन्ये च पदार्था ।

२—तत्त्वा० अ० ६ उपोद्घात-भाष्य की सिद्धसेन टीका

का निर्मूलन करने में समर्थ शुद्ध आत्मसंविभ्य जीव परिणाम भावमोक्ष है, भावमोक्ष के निमित्त से जीव और कर्म-प्रदेशों का निरवशेष पृथक्भाव द्रव्य मोक्ष है[1] ।"

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए कई श्वेताम्बर आचार्यों ने कहा है 'संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये जीव और अरूपी हैं तथा बंध आस्रव पुण्य, पाप अजीव और रूपी हैं[2] ।"

अभयदेव सूरि ने इस प्रश्न का उत्तर विस्तार से देते हुए लिखा है 'पुण्य आदि पदार्थ जीव अजीव व्यतिरिक्त नहीं हैं। पुण्य पाप दोनों कर्म हैं। बन्ध पुण्य-पापात्मक है। कर्म पुद्गल का परिणाम है। पुद्गल अजीव है। आस्रव मिथ्यादर्शनादि रूप जीव के परिणाम हैं। आत्मा और पुद्गल के अमिलन का कारण संवर आस्रव-निरोध लक्षण वाला है। वह देश सर्व निवृत्ति रूप आत्म-परिणाम है। निर्जरा कर्म परिशाट रूप है। जीव स्वशक्ति से कर्मों को पृथक् करता है वह निर्जरा है। आत्मा का सर्व कर्मों से विरहित होना मोक्ष है। (अन्य पदार्थों का जीव अजीव पदार्थों में समावेश हो जाने से ही कहा है कि) जीव अजीव सद्भाव पदार्थ हैं। इसीलिए कहा कि लोक में जो हैं वे सर्व दो प्रकार के हैं—या तो जीव अथवा अजीव। सामान्य रूप से जीव अजीव दो पदार्थ कहे हैं उन्हें ही विशेष रूप से नौ प्रकार से कहा है[3] ।"

१—(क) पञ्चास्तिकाय २.१०८ अमृतचन्द्रीय टीका

(ख) वही २.१०८ जयसेनाचार्यकृत टीका

(ग) द्रव्यसंग्रह २ २८ ३२ ३४ ३६ ३८

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रहः श्री नवतत्त्वप्रकरणम् १ ५।१२३

जीवो संवर निज्जर मुक्खो चत्तारि हुंति अरूवी ।

रूवी बंधासवपुण्णपावा मिस्सो अजीवो य ॥

३—ठाणाङ्ग ९.३.६६५ टीका :

ननु जीवाजीवव्यतिरिक्ताः पुण्यादयो न सन्ति तथाऽयुज्यमानत्वात् तथाहि—पुण्यपापे कर्म्मणी बन्धोऽपि तदात्मक एव कर्म्म च पुद्गलपरिणामः पुद्गलाश्चाजीवा इति आस्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूपः परिणामो जीवस्य स चात्मानं पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः ? संवरोऽप्याश्रवनिरोधलक्षणो देशसर्व्वभेद आत्मनः परिणामो निवृत्तिरूपो निर्जरा तु कर्म्मपरिशाटो जीवः कर्म्मणां यत् पार्थक्यमापादयति स्वशक्त्या मोक्षोऽप्यात्मा समस्तकर्म्मविरहित इति तस्माज्जीवाजीवौ सद्भावपदार्थाविति वक्तव्यं अत एवोक्तमिहैव 'जदत्थि णं लोए तं सव्वं दुपओआरं तंजहा—जीवच्चेव अजीवच्चेव' अत्रोच्यते सत्यमेतत् किन्तु यावेव जीवाजीवपदार्थौ सामान्येनोक्तौ तावेवेह विशेषतो नवधोक्तौ ।

यहाँ अभयदेव सूरि ने आस्रव को मिथ्यादर्शनादि रूप जीव-परिणाम, सवर को निवृत्तिरूप आत्म-परिणाम, देश रूप से कर्मों का दूर होना निर्जरा और सर्व कर्मराहित्य को मोक्ष कहा है।

इस तरह अभयदेव सूरि ने आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष को जीव पदार्थ में डाला है। पुण्य और पाप को कर्म कहा है। वध को पुण्य-पाप कर्मात्मक कहा है। कर्म पुद्गल हैं। पुद्गल अजीव है। इस तरह उन्होने पुण्य, पाप और वन्ध को अजीव पदार्थ मे डाला है।

उन्होने नव सद्भाव पदार्थो मे से प्रत्येक की जो परिभाषा दी है उससे उनका मन्तव्य और भी स्पष्ट हो जाता है। "जीव सुख-दु ख ज्ञानोपयोग लक्षण वाला है। अजीव उससे विपरीत है। पुण्य—शुभ प्रकृति रूप कर्म है। पाप—अशुभ प्रकृति रूप कर्म है। जिससे कर्म ग्रहण हो उसे आस्रव कहते हैं। आस्रव शुभाशुभ कर्म के आने का हेतु है। सवर-गुप्ति आदि से आस्रव का निरोध सवर है। विपाक अथवा तप से कर्म का देशतः क्षपण निर्जरा है। आस्रव द्वारा गृहीत कर्मो का आत्मा के साथ सयोग बंध है। सम्पूर्ण कर्मो के क्षय से आत्मा का आत्म-भाव मे अवस्थान मोक्ष है[1]।"

जीव जीव है इसमें सन्देह की वात ही नही। अजीव अजीव है इसमें भी सन्देह की वात नही। पुण्य और पाप कर्म हैं अत अजीव हैं। आस्रव को कर्म का हेतु कहा गया है। वह कर्म नही उससे भिन्न है, अत अजीव नही जीव है। सवर कर्मो को दूर रखने वाला आत्म परिणाम है अत जीव है। निर्जरा देशशुद्धि कारक आत्म-परिणाम है अत जीव है। मोक्ष विशुद्ध आत्म-स्वरूप है। इस तरह जीव, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष जीव-कोटि के हैं तथा अजीव, पुण्य, पाप और वध अजीव कोटि के।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आस्रव के विषय मे तीन मान्यताएँ हैं :

१—आस्रव अजीव है।

२—आस्रव जीव-अजीव का परिणाम है।

३—आस्रव जीव है।

१—ठाणाङ्ग ६ ३ ६६५ टीका :

जीवा सुखदु खज्ञानोपयोगलक्षणा, अजीवास्तद्विपरिता:, पुन्य—शुभप्रकृतिरूप कर्म पाप—तद्विपरीत कर्मैव आश्रूयते—गृह्यते कर्मानेनेत्याश्रवः शुभाशुभकर्मादान हेतुरितिभाव, सवर —आश्रवनिरोधो गुप्त्यादिभि, निर्जरा विपाकात् तपसा वा कर्म्मणां देशत क्षपणा, बन्ध आश्रवैरात्तस्य कर्म्मण आत्मना संयोग, मोक्ष कृत्स्नकर्मक्षयादात्मन· स्वात्मन्यवस्थानमिति।

भिन्न भिन्न मान्यता के अनुसार आस्रव की परिभाषाएं भी भिन्नता को लिए हुए हैं।

जो आस्रव को अजीव मानते हैं उनकी परिभाषा है "द्रव्यास्रवो जलमध्यगत-नावादौ तथाविधच्छिद्रैर्जलप्रवेशवत् भावास्रवस्तु तस्यैव जीवनावीन्द्रियादिच्छिद्रैः कर्मजल-सञ्चय"[1]—जलान्तर्गत नौका में तथा विध छिद्रों द्वारा जल का प्रवेश द्रव्यास्रव है। जीव रूपी नौका में इन्द्रियादि छिद्रों द्वारा कर्म-जल का संचय भावास्रव है।

इस परिभाषा के अनुसार कर्मागमन आस्रव है।

जो आस्रव को जीव-अजीव का परिणाम मानते हैं उनकी परिभाषा है "मोह रागद्वेषपरिणामो जीवस्य तन्निमित्तः कर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां आस्रव"[2]—मोह राग-द्वेष रूप जीव के परिणामों के निमित्त से मन-वचन-काय रूप योगों द्वारा पुद्गल कर्म वर्गणाओं का जो आगमन है वह आस्रव है।

इस परिभाषा के अनुसार मोह राग-द्वेष परिणाम भावास्रव हैं और उनसे होनेवाला कर्मागमन द्रव्यास्रव।

जो आस्रव को जीव मानते हैं उनकी परिभाषा है

भवभमणहेउ कम्मं जीवो अणुसमयमासवइ जत्तो।
सो आसवो त्ति तस्स उ बायालीस भवे भेया ॥[3]

—जिसके द्वारा जीव भव भ्रमण के हेतु कर्म का प्रति समय आस्रवण करता है वह आस्रव है।

इस परिभाषा से कर्मागमन के हेतु आस्रव हैं।

स्वामीजी आस्रव को जीव मानते हैं। उनकी दृष्टि से तीसरी परिभाषा ही आगमिक है।

स्वामीजी आगे चल कर इसी ढाल में सिद्ध करेंगे कि आस्रव जीव कैसे है।

१—ठाणाङ्ग १.१३ टीका
२—पञ्चास्तिकाय २.१०८ अमृतचन्द्र टीका
३—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह अवचूर्णिसमेत नवतत्त्वप्रकरण गा० ३३

२१—आस्रव जीव-परिणाम है अत जीव है (गा० २५) :

स्वामीजी ने गा० १ मे आस्रव के सामान्य स्वरूप, गा० २ में आस्रव के पाँच भेद, गा० ३ से ८ में पाँचो आस्रवो की विलक्षणता तथा गा० ६ से २३ में आस्रव पदार्थ सम्बन्धी आगम-सदर्भों पर प्रकाश डाला है। इस प्रतिपादन के वाद अव यहाँ स्वामीजी ढाल के मूल प्रतिपाद्य विषय—आस्रव जीव है या अजीव ?—का विवेचन करना चाहते हैं। उनका कथन है—"आस्रव पदार्थ जीव है। उसको अजीव मानना विपरीत श्रद्धान है" (दो० २,३, गा० २४)।

स्वामीजी ने दो० ४ में कहा है—"आस्रव निश्चय ही जीव है। सिद्धान्त में आस्रव को जगह-जगह जीव कहा है।"

अब स्वामीजी इसी वात को प्रमाणित करने के लिए अग्रसर होते हैं।

स्वामीजी गा० २४ तक के विवेचन में स्थान-स्थान पर यह कहते हुए आये हैं कि आस्रव जीव का परिणाम है अत वह जीव है, अजीव नही हो सकता। प्रस्तुत गाथा में जीव, आस्रव और कर्म का परस्पर सम्बन्ध वतलाते हुए इसी दलील से आस्रव को जीव सिद्ध करते हैं। जीव चेतन-पदार्थ है। कर्म जड-पुद्गल। आत्म-प्रदेशो में कर्म को ग्रहण करने वाला पदार्थ जीव-द्रव्य है। कर्म जिस निमित्त से आत्म-प्रदेशो में प्रवेश करते हैं वह आस्रव-पदार्थ है। आस्रव के पाँच भेद हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये क्रमश जीव के मिथ्यात्वरूप, अविरतिरूप, प्रमादरूप, कषायरूप और योगरूप परिणाम हैं। कर्म जीव के इन परिणामो से आते हैं। इस तरह जीव के मिथ्यात्व आदि परिणाम ही आस्रव हैं। जीव के परिणाम जीव से भिन्न स्वरूप वाले नही हो सकते हैं अत आस्रव पदार्थ जीव है।

२२—जीव अपने परिणामो से कर्मों का कर्त्ता है अतः जीव-परिणाम स्वरूप आस्रव जीव है (गा० २६-२७) :

लोक में छ द्रव्य हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। धर्म, अधर्म और आकाश समूचे लोक में व्याप्त होने से वे जीव में भी व्याप्त हैं पर उनका जीव के साथ वैसा सयोग नही जैसा पुद्गल का है। धर्म आदि का सम्बन्ध स्पर्श रूप है जब कि पुद्गल का सम्बन्ध बधन रूप। इस तरह जीव और पुद्गल दो ही पदार्थ ऐसे हैं जो परस्पर में आवद्ध हो सकते हैं। पुद्गल के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नही जो जीव के साथ आवद्ध हो सके।

प्रश्न है चेतन-जीव और जड़-पुद्गल का परस्पर सम्बन्ध कैसे होता है? इसका उत्तर आचार्य कुन्दकुन्द ने बड़े सुन्दर ढंग से दिया है। वे कहते हैं

"उदय में आए हुए कर्मों का अनुभव करता हुआ जीव जैसे भाव—परिणाम करता है उन भावों का वह कर्त्ता है। कर्म बिना जीव के उदय उपशम क्षय और क्षयोपशमिक भाव नहीं हो सकते क्योंकि कर्म ही न हो तो उदय आदि किस के हों। अत: उदय आदि चारों भाव कर्मकृत हैं। प्रश्न हो सकता है यदि ये भाव कर्मकृत हैं तो जीव उनका कर्त्ता कैसे है? इसका उत्तर यह है कि भाव कर्म के निमित्त से उत्पन्न हैं और कर्म भावों के निमित्त से। जीव के भाव कर्मों के उपादान कारण नहीं और न कर्म भावों के उपादान कारण हैं। स्वभाव को करता हुआ आत्मा अपने ही भावों का कर्त्ता है, निश्चय ही पुद्गल कर्मों का नहीं। कर्म भी स्व भाव से स्वभाव का ही कर्त्ता है आत्मा का नहीं। प्रश्न हो सकता है यदि कर्म कर्म भाव को करता है और आत्मा आत्म भाव को तब आत्मा कर्म-फल को कैसे भोगता है और कर्म अपना फल कैसे देते हैं। इसका उत्तर इस प्रकार है—सारा लोक सब जगह अनन्तानन्त सूक्ष्म-बादर विविध पुद्गलकायों द्वारा खचाखच भरा हुआ है। जब आत्मा स्व भाव को करता है तब वहाँ रहे हुए अन्योन्यावगाढ़ पुद्गल स्वभाव से कर्मभाव को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार पुद्गलद्रव्यों की अन्य द्वारा अकृत बहु प्रकार की स्कंध-परिणति देखी जाती है उसी प्रकार कर्मों की विचित्रता भी जानो। जीव और पुद्गलकाय अन्योन्य अवगाढ़ भिलाप से बंधते हैं। बंधे हुए पुद्गल उदय काल में अलग रस देकर बिखरते हैं तब साता-असाता देते हैं और जीव उन्हें भोगता है। इस तरह जीव के भावों से संयुक्त होकर कर्म अपने परिणामों का कर्त्ता है। और जीव अपने चेतनात्मक भावों से कर्मफल का भोक्ता है[1]।"

इसी बात को उन्होंने अन्यत्र इस प्रकार समझाया है—'आत्मा उपयोगमय है। उपयोग ज्ञान और दर्शन रूप है। ज्ञान-दर्शनरूप आत्म-उपयोग ही शुभ अथवा अशुभ होता है। जब जीव का उपयोग शुभ होता है तब पुण्य का संचय होता है और अशुभ होता है तब पाप का। दोनों के अभाव में परद्रव्य का संचय नहीं होता[2]। "लोक सब जगह सूक्ष्म और बादर आत्मा के ग्रहण योग्य अथवा अग्रहण योग्य ऐसे पुद्गलकायों से अत्यन्त

१—पञ्चास्तिकाय १ ५७-६८
२ ११-६४

अवगाढ रूप से भरा हुआ है। जीव की भाव-परिणति को पाकर कर्मरूप होने योग्य पुद्गल-स्कध आठ कर्मरूप भाव—परिणाम को प्राप्त होते हैं[१]।"

ससारी जीव अनन्त काल से कर्म-बद्ध है। उन कर्मों की उदय, उपशम आदि अवस्थाएँ होती हैं जिससे जीव मे नाना प्रकार के भाव—परिणाम उत्पन्न होते हैं। जैसे मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद आदि। जब जीव कर्मो के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वादि भावो में प्रवर्तन करता है तब पुन नये कर्मों का बध होता है। जब इनमें प्रवर्तन नही करता तब कर्म नही होते। अर्थात् आत्मा कर्म करता है तभी कर्म होते हैं, नही करता तब कर्म नही होते। इससे आत्मा कर्मो का कर्त्ता सिद्ध होता है[२]।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि—

(१) जीव कर्मों को ग्रहण करता है, इसलिए वह कर्मों का कर्त्ता है। जीव कर्मों का उपादान कारण नही प्रेरक कारण है और

(२) जीव कर्मो को ग्रहण अपने भावो के निमित्त से करता है। जीव के शुभ-अशुभ भाव ही कर्मग्रहण के हेतु हैं।

स्वामीजी कहते हैं—"वे ही भाव जिनसे जीव कर्मो का कर्त्ता कहलाता है आस्रव हैं। जिस तरह आस्रवणी नौका का छिद्र नौका से भिन्न नही और मकान का द्वार मकान से भिन्न नही वैसे ही मिथ्यात्व आदि आस्रव जीव से भिन्न नही, जीव स्वरूप हैं—जीव हैं। जिस तरह सलिलवाही-द्वार द्वारा तालाब मे जल आता है उसी तरह मिथ्यात्व आदि आस्रवो द्वारा जीव से कर्मो का सचय होता है। तालाब के स्रोत तालाब से भिन्न नहीं वैसे ही आस्रव जीव से भिन्न नही, जीवरूप हैं।"

जीव जब इन परिणामो में वर्तन करता है तब उनके प्रभाव से क्षेत्रस्थ कर्म-वर्गणा के परमाणु आत्मा के प्रदेशो में प्रवेश करते हैं। जीव के मिथ्यात्व, अविरति आदि भावो को ही आस्रव कहते हैं। जीव के इन भावो द्वारा जो अजीव पुद्गल द्रव्य आत्मा के साथ ससर्ग मे आ उसे बधनबद्ध करते हैं, वे कर्म कहलाते हैं। जीव के मिथ्यात्व, कषाय आदि भाव, आस्रव हैं। कर्म उनके फल। आस्रव कारण हैं और कर्म कार्य। जीव ही अपने भावो से कर्मो को ग्रहण करता है। उसके भाव ही आस्रव हैं। जीव के भाव उसके स्वरूप से भिन्न नही हो सकते अत आस्रव जीव है।

१—प्रवचनसार २ ७६-७७

२—इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन के लिए देखिए पृ० ३३ टि० ७ (१५)

२६—आचाराङ्ग में अपनी ही क्रियाओं से जीव कर्मों का कर्त्ता कहा गया है (गा० २८-३१) :

स्वामीजी ने गाथा २८-२९ में प्रथम अङ्ग आचाराङ्ग के जिस संदर्भ का उल्लेख किया है उसका मूल पाठ इस प्रकार है :

> अकरिस्सं चहं कारवेसुं चहं, करओ यावि समणुन्ने भविस्सामि।
> एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारम्भा परिजाणियव्वा भवंति[१]॥

इसका शब्दार्थ है—'मैंने किया, मैंने करवाया, करते हुए का अनुमोदन करूँगा। सब इतनी ही लोक में कर्मबन्ध की हेतुरूप क्रियाएं समझनी चाहिए।"

इसका तात्पर्यार्थ है—मैंने किया, मैंने कराया, मैंने करते हुए का अनुमोदन किया; मैं करता हूँ, मैं कराता हूँ, करते हुए का अनुमोदन करता हूँ; मैं करूँगा, मैं कराऊँगा, मैं करते हुए का अनुमोदन करूँगा—ये क्रियाओं के विविध रूप हैं। ये कर्म के हेतु हैं।

यहाँ 'मैं' आत्मा का बोधक है। मनोकर्म, वचन-कर्म और काय-कर्म—ये तीन योग हैं। करना, कराना और अनुमोदन करना—ये तीन करण हैं। प्रकारान्तर से कहा गया है कि आत्मा तीन करण एवं तीन योग से—मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदन रूप से भूत, वर्तमान, भविष्य काल में क्रियाओं का करने वाला है। ये क्रियाएँ कर्मबन्ध की हेतु हैं[२]।

स्वामीजी कहते हैं—'यहाँ जीव को स्पष्टतः क्रियाओं का कर्त्ता कहा है और क्रियाओं को कर्मों का कर्त्ता अर्थात् आस्रव।

जिन क्रियाओं से जीव त्रिकाल में कर्मों का कर्त्ता होता है, वे योग आस्रव हैं। ये क्रियाएं जीव के ही होती हैं। ये जीव से पृथक् नहीं, जीवस्वरूप हैं, जीव-परिणाम हैं अतः जीव हैं।

१—आचा० १.१.६

२—आचाराङ्ग दीपिका १.१.६ :

इह त्रिकालापेक्षया कृतकारितानुमतिभिर्नव विकल्पाः संभवन्ति ते चामी—अहम् कार्यं अचीकरमहं कुर्वन्तमन्यमन्वज्ञासिषमहं करोमि कारयामि अनुजानाम्यहं करिष्याम्यहं कारयिष्याम्यहं कुर्वन्तमन्यमनुज्ञास्याम्यहं एत नव मनोवाक्कायैः चिन्त्यमाना भेदा भवन्ति। अकार्षमहमित्यनेन विविधक्रियापरिणतिरूप आत्मा अभिहित तत्र ज्ञपरिज्ञया सर्वेऽपि कर्मसमारम्भा ज्ञातव्याः, प्रत्याख्यान परिज्ञया सर्वेऽपि पापोपादानहेतवः कर्मसमारम्भाः प्रत्याख्यातव्याः।

श्री अकलङ्कदेव लिखते हैं—"आस्रव के प्रसग मे योग का अर्थ है त्रिविध क्रिया। तीनो योग आत्म-परिणामरूप ही हैं[1]।" स्वामीजी कहते हैं—जो आत्मपरिणामरूप हैं वे योग आत्मरूप ही हो सकते हैं अत जीव हैं—अरूपी हैं।

२४—योगास्रव जीव कहा गया है (गाथा ३२-३४)

यहाँ स्वामीजी ने योग किस तरह जीव है, यह सिद्ध किया है। भगवती १२.१० में आठ आत्माएँ कही गई हैं। उनमे योगात्मा का भी उल्लेख है।

"गोयमा ! अट्ठविहा आया पराणत्ता, तजहा—दवियाया, कसायाया, योगाया, उवओगाया, णाणाया, दसणाया, चरित्ताया, वीरियाया।"

"योगा मन प्रभृतिव्यापारास्तत्प्रधानात्मा योगात्मा, योगवतामेव" (भगवती १२.१० टीका)। मन आदि के व्यापार को योग कहते हैं। योगप्रधान—योगयुक्त आत्मा को योगात्मा कहते हैं। इससे भासित होता है कि योग-आस्रव आत्मा है।

आगम में दस जीव-परिणाम कहे हैं। स्थानाङ्ग (१० १ ७१३) मे इस सम्बन्ध मे निम्न पाठ मिलता है

"दसविधे जीवपरिणामे पं० त०—गतिपरिणामे इंदितपरिणामे कसायपरिणामे लेसा० जोग० उवओग० णाण० दसण० चरित्त० वेतपरिणामे।

उनमें योग-परिणाम का भी उल्लेख हैं। इससे योग-आस्रव जीव-परिणाम ठहरता है।

इस तरह आगमो के उल्लेख से योग-आस्रव स्पष्टत जीव सिद्ध होता है।

योग का अर्थ है—मन, वचन और काय की प्रवृत्ति। यह प्रवृत्ति सावद्य और निरवद्य दो प्रकार की होती है। सावद्य अर्थात् पापपूर्ण, निरवद्य अर्थात् पाप रहित। सावद्य योग पाप का आस्रव है, निरवद्य योग निर्जरा का हेतु होने से पुण्य का आस्रव है। सावद्य करनी से विपाकावस्था में दु ख भोगना पडता है और निरवद्य करनी से सुखानुभूति होती है। सावद्य-निरवद्य करनी अजीव नही हो सकती। योगास्रव क्रियात्मक है। अत वह जीव है इसमें कोई सन्देह नही।

१—तत्त्वार्थवार्तिक ६ १ १२; ६ १ ६

इहास्रवप्रतिपादनार्थत्वात् त्रिविधक्रिया योग इत्युच्यते।

आत्मा हि निरवयवद्रव्यम्, तत्परिणामो योग ।

२५—भावलेश्या आस्रव है, जीव है अतः सब आस्रव जीव हैं (गा० ३५-३६)

भगवती श० १२ उ० ५ में निम्न पाठ मिलता है

"कण्हलेसा णं भंते ! कइवण्णा—पुच्छा। गोयमा ! दव्वलेसं पडुच्च पंचवण्णा जाव—अट्ठफासा पण्णत्ता भावलेसं पडुच्च अवण्णा ४, एवं जाव सुक्कलेस्सा।"

"हे भन्ते ! कृष्ण लेश्या के कितने वर्ण हैं ?

'हे गौतम ! द्रव्य लेश्या को प्रत्याश्रित कर पाँच वर्ण यावत् आठ स्पर्श कहे हैं। भाव लेश्या को प्रत्याश्रित कर उसे अवर्ण अगंध अरस अस्पर्श—अरूपी कहा है। यही बात नील लेश्या कापोत लेश्या तेजो लेश्या पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या तक जाननी चाहिए।'

लेश्या का अर्थ है जो आत्मा को—आत्मा के प्रदेशों को कर्मों से लिप्त करे। भाव लेश्या—जीव का अन्तरङ्ग परिणाम है। उपर्युक्त पाठ में जीव के अन्तरङ्ग परिणाम रूप भावलेश्या को अरूपी कहा है। स्वामीजी कहते हैं—'भावलेश्या आस्रव है, अरूपी है अतः अन्य आस्रव भी जीव और अरूपी हैं।"

२६—मिथ्यात्वादि जीव के उदयनिष्पन्न भाव हैं (गा० ३७)

कर्मों के उदय से जीव में जो भाव—परिणाम निष्पन्न होते हैं उनमें छः लेश्या मिथ्यात्व अविरति और चार कषाय का नामोल्लेख है।

अनुयोगद्वार सू० १२६ में कहा है—'उदय दो प्रकार का है—उदय और उदय निष्पन्न। आठ कर्म प्रकृतियों का उदय उदय है। उदयनिष्पन्न दो प्रकार का है—जीवोदयनिष्पन्न और अजीवोदयनिष्पन्न। जीवोदयनिष्पन्न अनेक प्रकार का कहा है—नरयिकत्व तिर्यञ्चत्व मनुष्यत्व देवत्व पृथ्वीकायित्व यावत् त्रसकायित्व क्रोध यावत् लोभ कषाय, स्त्री वेद पुरुष वेद नपुंसक वेद कृष्ण लेश्या यावत् शुक्ल लेश्या मिथ्या दृष्टि अविरति असंज्ञी अज्ञानी आहारक छद्मस्थता सयोगी संसारता असिद्धत्व अकेवली—ये सब जीवनिष्पन्न हैं। मूल पाठ नीचे दिया जाता है

से किं तं उदइए ? २ दुविहे पण्णत्ते तंजहा—उदए अ उदयनिप्फण्णे अ। से किं तं उदए ? २ अट्ठण्हं कम्मपयडीणं उदएणं से तं उदए। से किं तं उदय निप्फण्णे ? २ दुविहे पण्णत्ते तंजहा—जीवोदयनिप्फण्णे अ अजीवोदयनिप्फण्णे अ। से किं तं जीवोदयनिप्फण्णे ? अणेगविहे पण्णत्ते तंजहा—नेरइए तिरिक्खजोणिए मणुस्से देवे पुढविकाइए जाव तसकाइए कोहकसाई जाव लोहकसाई इत्थीवेदए पुरिस

वेयए णपुसगवेदए कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे मिच्छादिट्ठी ३ अविरए असण्णी अण्णाणी आहारए छउमत्थे सजोगी संसारत्थे असिद्धे, से त जीवोदयनिष्फन्ने"।

यहाँ जीव उदयनिष्पन्न के जो ३३ बोल कहे हैं, उनमे छ भाव लेश्याएँ, चार भाव कषाय, मिथ्यादृष्टि, अव्रती, सयोगी भी अन्तर्निहित हैं। अत ये सब जीव हैं। चार भाव कषाय अर्थात् कषाय आस्रव, मिथ्यादृष्टि अर्थात् मिथ्यात्व आस्रव, अव्रती अर्थात् अविरति आस्रव, सयोगी अर्थात् योग आस्रव। इस तरह ये आस्रव जीव सिद्ध होते हैं।

भगवती १२ १० के पाठ में आठ आत्माएँ इस प्रकार कही गयी हैं द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा

इन आठ आत्माओ में कषाय आत्मा और योग आत्मा का उल्लेख भी है। कषाय-आत्मा कषाय-आस्रव है। योग-आत्मा योग-आस्रव है। जो कषाय-आस्रव और योग-आस्रव को अजीव मानते हैं उनके मत से कषाय-आत्मा और योग-आत्मा भी अजीव होना चाहिए। पर वे उपयोग-आत्मा, ज्ञान-आत्मा आदि की तरह ही जीव हैं, अजीव नहीं अत कषाय-आस्रव और योग-आस्रव भी जीव है।

मिथ्यात्व, अविरति और कषाय को आगम में जीव-परिणाम कहा है।

मिथ्यात्व के सम्बन्ध मे देखिए—भगवती २०-३, अनुयोगद्वार सू० १२६।

अविरति के सम्बन्ध में देखिए—अनुयोगद्वार १२६।

कषाय के विषय में देखिए—स्थानाङ्ग १०.१ ७१३।

इससे मिथ्यात्व, अविरति और कषाय आस्रव—ये तीनो जीव सिद्ध होते हैं।

२७—योग, लेश्यादि जीव-परिणाम है अत योगास्रव आदि जीव हैं (गा० ३८):

योग, लेश्या, मिथ्यात्व, अविरति और कषाय इनके सम्बन्ध मे पूर्व (टि० २४-२५-२६) में जो विवेचन है उससे स्पष्ट है कि योग आदि पाँचो कर्मों के आने के हेतु होने से आस्रव हैं। वे कर्मों के कर्त्ता-उपाय हैं। उन्हें आगमो में आत्मा, जीव-परिणाम आदि सज्ञाओ से बोधित किया है। अत यह निसकोच कहा जा सकता है कि आस्रव मात्र—जीव-परिणाम, जीव-स्वरूप हैं अत जीव हैं।

२८—आस्रव जीव-अजीव दोनों का परिणाम नहीं (गा० ३९-४०)

यहाँ स्वामीजी ने स्थानाङ्ग (ठाणाङ्ग) का उल्लेख किया है पर वास्तव में स्थानाङ्ग की टीका से अभिप्राय है[1]।

स्थानाङ्ग के नवें स्थानक सूत्र ६६५ में नौ सद्भाव पदार्थों का उल्लेख है—"नव सब्भावपयत्था प० त० जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बधो मोक्खो।"

१—भ्रमविध्वसनम् पृ० २९८ : "केतला एक अजाण जीव आस्रव ने अजीव कहै छै। अनें रूपी कहे छै। तेहनों उत्तर—ठाणाङ्ग ठा ९ टीका में आश्रव ने जीव ना परिणाम कह्या छै

टीका करते हुए श्री अभयदेव ने आस्रव की व्याख्या इस रूप में की है

आस्रूयते गृह्यते कर्मोऽनेन इत्यास्रवः

शुभाशुभ कर्मादान हेतुरिति भावः

आस्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूपः परिणामो जीवस्य।

स चात्मानं पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः।

जिससे कर्मों का ग्रहण हो उसे आस्रव कहते हैं।

आस्रव शुभाशुभ कर्मों के आदान का हेतु है।

आस्रव मिथ्यादर्शन आदि रूप जीव-परिणाम हैं।

वह आत्मा या पुद्गल को छोड़ कर अन्य हो ही क्या सकता है?

स्वामीजी कहते हैं—"जो आस्रव जीव-परिणाम है वह अजीव अथवा रूपी कैसे होगा?"

टीकाकार के "सचात्मानं पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्य अर्थात् वह आस्रव आत्मा और पुद्गलों को छोड़ कर अन्य क्या है?' शब्दों को लेकर कहा गया है— 'आस्रव आत्मा और पुद्गल इन दोनों का परिणाम स्वरूप ही है यह टीकाकार का आशय है। इसलिए आस्रव को एकान्त जीव मानना इस टीका से विरुद्ध समझना चाहिए। यद्यपि टीका के इस पूर्वोक्त वाक्य के पहले आस्रव के सम्बन्ध में यह वाक्य आया है कि 'आस्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूपः परिणामो जीवस्य तथापि इस वाक्य में 'परिणामो जीवस्य इसमें दो तरह का सन्धि-विच्छेद है—'परिणामः जीवस्य' और 'परिणामः,अजीवस्य' इन दोनों ही प्रकार का छेद करके आस्रव को जीव और अजीव दोनों का परिणाम बताना टीकाकार को इष्ट है'।"

उक्त मत में टीकाकार ने आस्रव को जीव-अजीव दोनों का परिणाम बताया है। कोई भी पदार्थ जीव अथवा अजीव इन दो कोटियों को छोड़ कर तीसरी कोटि का नहीं हो सकता। टीकाकार के शब्द— सचात्मानंपुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्य' का आशय है आस्रव जीव हो सकता है अथवा अजीव। इन दोनों को छोड़ कर वह और क्या हो सकता है? वह जीव का परिणाम है अतः अजीव कोटि का नहीं है। 'परिणामो जीवस्य' के द्वारा 'परिणामः अजीवस्य' का भाव भी लिया गया है, यह दलील उपर्युक्त स्पष्टीकरण के बाद नहीं टिकती। अगर आस्रव जीव-अजीव दोनों का ही परिणाम होता तो 'परिणामो जीवाजीवस्य' ऐसा लिखते।

१—सद्धर्ममण्डनम्-'आस्रवाधिकार' बोल २१

२६—मिथ्यात्व आश्रव (गा० ४१):

स्थानाङ्ग (स्था० १० उ० १ सू० ७३४) में दस मिथ्यात्व सम्बन्धी पाठ इस प्रकार है :

दसविधे मिच्छत्ते प० तं० अधम्मे धम्मसन्ना धम्मे अधम्मसन्ना अमग्गे मग्गसन्ना मग्गे उम्मग्गसन्ना अजीवेसु जीवसन्ना जीवेसु अजीवसन्ना असाहुसु साहुसन्ना साहुसु असाहुसन्ना अमुत्तेसु मुत्तसन्ना मुत्तेसु अमुत्तसन्ना

अधर्म में धर्म की संज्ञा आदि को मिथ्यात्व कहा है। मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत बुद्धि अथवा श्रद्धा। यह विपरीत बुद्धि अथवा असम्यक् श्रद्धा रूप व्यापार जीव के ही होता है। जीव का व्यापार जीव रूप है, अरूपी है—अजीव अथवा रूपी नही हो सकता। मिथ्यात्व ही मिथ्यात्व आस्रव है अत वह अरूपी जीव है।

भगवती श० १२ उ० ५ में निम्न पाठ मिलता है :

सम्मद्दिट्ठि ३ चक्खुदंसणे ४ आभिणिबोहियणाणे ५ जाव—विब्भंगणाणे आहारसन्ना, जाव—परिग्गहसन्ना— एयाणि अवन्नाणि।

यहाँ सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, सम्यक्मिथ्यादृष्टि—इन तीन दृष्टियो में मिथ्यादृष्टि को भी अवर्ण-अरूपी कहा है। विपरीत श्रद्धारूप उदयभाव मिथ्यादृष्टि को ही मिथ्यात्व आस्रव कहा जाता है। इस न्याय से मिथ्यात्व आस्रव भी जीव और अरूपी है।

३०—आस्रव और अविरति अशुभ लेश्या के परिणाम (गा० ४२):

उत्तराध्ययन (३४ २१-२२) में आस्रवप्रवृत्त दुराचारी को कृष्णलेश्या के परिणाम वाला कहा है

पंचासवप्पवत्तो तीहिं अगुत्तो छसु अविरओ य।
तिव्वारम्भपरिणओ खुद्दो साहसिओ नरो॥
निद्धन्धसपरिणामो निस्ससो अजिइन्दिओ।
एयजोगसमाउत्तो किण्हलेसं तु परिणमे॥

पाँच आस्रवो में प्रवृत्त, तीन गुप्तियो से अगुप्त, षट्काय की हिंसा से अविरत, तीव्र आरभ में परिणमन करने वाला, क्षुद्र, साहसिक, निर्दय परिणाम वाला, नृशस, अजितेन्द्रिय—इन योगो से युक्त पुरुष कृष्णलेश्या के परिणाम वाला होता है।

यहाँ पाँच आस्रवों को कृष्णलेश्या का लक्षण कहा है। भाव कृष्णलेश्या अरूपी है, यह सिद्ध किया जा चुका है अत उसके परिणाम या लक्षण रूप आस्रव भी अरूपी हैं।

यहाँ 'छसुं अविरओ'—कहते हुए छः काय की हिंसा की अविरति को भी कृष्णलेश्या का परिणाम कहा है। चूँकि भाव कृष्णलेश्या अरूपी है अतः अविरति आस्रव भी अरूपी है।

अवचूरिकार कहते हैं—"एतेन पञ्चास्रव प्रवृत्त्यादीनां भावकृष्ण लेश्याया सद्भावोपदर्शनादासौ लक्षणमुक्तं यादृ यस्सद्भाव एव स्यात् स तस्य लक्षणम्।"

'पञ्चास्रवप्रवृत्त' आदि द्वारा सद्भाव भावलेश्या के लक्षण कहे हैं। जिससे जिसका सद्भाव है वह उसका लक्षण होता है। भगवती के उपर्युक्त पाठ में छः भावलेश्याओं को अरूपी कहा है और यहाँ पंचास्रवों को कृष्ण भावलेश्या का लक्षण कहा है। इससे पाँच आस्रव भी अरूपी हैं। यदि भावलेश्या अरूपी है तो उसके लक्षण रूपी कैसे होंगे?

३१—जीव के लक्षण अजीव नहीं हो सकते (गा० ४३)

वस्तु लक्षणों से पहचानी जाती है। लक्षण वस्तु के तदनुरूप होते हैं। जीव के लक्षण जीव रूप होते हैं और अजीव के लक्षण अजीव रूप।

लेश्या को जीव-परिणाम कहा है। आस्रव को लेश्या का लक्षण—परिणाम कहा है। लेश्या जीव-परिणाम है, जीव है अतः आस्रव भी जीव है।

३२—संज्ञाएँ अरूपी हैं अतः आस्रव अरूपी हैं (गा० ४४):

भगवती (१२ ५) में कहा है   आहारसन्ना जाव—परिग्गहसन्ना—एए णं अवण्णाणि।" संज्ञाएँ चार हैं—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह[1]। ये चारों अवर्ण हैं। संज्ञाएँ कर्म-बंध की हेतु हैं। कर्म-बंध की हेतु संज्ञाएं अरूपी हैं अतः कर्म-बंध के हेतु मिथ्यात्व आदि अन्य आस्रव भी अरूपी हैं।

३३—अध्यवसाय आस्रव रूप हैं (गा० ४५):

स्वामीजी ने जो अध्यवसाय के दो प्रकार कहे हैं—(१) प्रशस्त और (२) अप्रशस्त उसका आगमिक आधार प्रज्ञापना का निम्न पाठ है

"नेरइयाणं भंते केवतिया अज्झवसाणा पन्नत्ता? गोयमा! असंखेज्जा अज्झवसाणा पन्नत्ता। ते णं भंते! किं पसत्था अपसत्था? गोयमा! पसत्थावि अपसत्थावि एवं जाव वेमाणियाणं।" (पद ३४)

१—(क) ठाणाङ्ग ३५६

(ख) समवायाङ्ग सम ४

प्रशस्त अध्यवसाय शुभ कर्मो के निमित्त हैं और अप्रशस्त अशुभ कर्मों के। इस तरह अध्यवसाय कर्मों के हेतु—आस्रव हैं।

अध्यवसाय का अर्थ अन्त करण, मनसकल्प[1] आदि मिलते हैं। इससे अध्यवसाय जीव-परिणाम ठहरते हैं। जैसे अध्यवसाय-आस्रव जीव-परिणाम है वैसे ही अन्य आस्रव भी जीव-परिणाम हैं अत जीव हैं।

३४—ध्यान जीव के परिणाम है (गा० ४६) :

ध्यान चार हैं—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान[2]। इनमें आर्त और रौद्र ये दो ध्यान वर्ज्य हैं और धर्म और शुक्ल ध्यान आदरणीय[3]। आर्त और रौद्र ध्यान से पापो का आगमन होता है। कहा है—"चार ध्यानो में धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं और आर्त और रौद्र ये दो ध्यान ससार के[4]।"

किसी प्रकार के अनिष्ट सयोग या अनिष्ट वेदना के उपस्थित होने पर उसका शीघ्र वियोग हो इस प्रकार का पुन -पुन चिन्तन, इष्ट सयोग के न होने पर अथवा उसके वियोग होने पर उसकी बार-बार कामना रूप चिन्तन और निदान—विषय सुखो की कामना आर्तध्यान है।

हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-सरक्षण आदि का ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है।

स्वामीजी कहते हैं : "आर्त और रौद्र ध्यान पाप कर्म के हेतु हैं। ध्यान जीव के ही होता है। अत आर्त और रौद्र ध्यान रूप आस्रव जीव के होते हैं और जीव हैं।"

१—(क) प्रज्ञा० ३४ टीका

(ख) नि० चू० १० मणसकप्पेत्ति वा अज्झावसाण ति वा एगट्ठा

२—(क) ठाणाङ्ग सू० २४७

(ख) समवायाङ्ग सम० ४

३—उत्त० ३० ३५

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइ झाणाइ झाण तं तु बुहावए॥

४—तत्त्वा० ६ ३० भाष्य :

तेषां चतुर्णां ध्यानानां परे धर्म्य-शुक्ले मोक्षहेतू भवत । पूर्वे त्वार्तरौद्रे ससारहेतू इति।

३५—आस्रव को अजीव मानना मिथ्यात्व है (गा० ४३-४८)

यहाँ आस्रव को अजीव सिद्ध करने की चेष्टा करने वालों के लिए स्वामीजी ने पीपल को बांधकर ले जाने का जो उदाहरण दिया है, वह इस प्रकार है

किसी सास ने अपनी बहू से कहा—'जा पीपल ले आ।' आज्ञा पाते ही बहू पीपल लाने गई। गाँव के बीच में एक बड़ा पीपल का पेड़ था। बहू ने उसे देखा और सोचने लगी—यह बड़ा है, अतः उपयोग की दृष्टि से इसे ही ले जाना उचित है। ऐसा सोच वह उस पेड़ में रस्सी डाल कर उसे ले जाने के लिए जोरों से खींचने लगी। कुछ लोगों ने देखा और आश्चर्य से पूछा—'यह क्या कर रही हो?" वह बोली—'सास के लिए पीपल ले जा रही हूँ।' तब लोगों ने उसकी मूर्खता पर हँसते हुए कहा—"अरी! पीपल की टहनी या पत्ते ले जाओ। पीपल का पेड़ थोड़े ही जा सकता है।' यह सुनकर बहू बोली—'सास ने पीपल मँगाया है, टहनी या पत्ते नहीं। इसलिए सास से बिना पूछे मैं टहनी या पत्ते नहीं ले जाऊँगी।' ऐसा कह बहू सास से पूछने अपने घर गई।

स्वामीजी के कथन का सार यह है कि जिस तरह उस बहिन की पीपल को बाँध कर घर ले जाने की चेष्टा व्यर्थ थी वैसे ही आस्रव को अजीव ठहराने की चेष्टा निरर्थक और नासमझी की बात है।

३६—आस्रव जीव कैसे? (गा० ४९-५३)

आस्रव पदार्थ जीव है, इस बात का प्रतिपादन स्वामीजी ने यहाँ कितनेक प्रश्नों के द्वारा किया है। स्वामीजी कहते हैं—इन्हीं बातों का उत्तर दो

(१) तत्त्व की विपरीत श्रद्धा कौन करता है?

(२) अत्याग भाव किसके होता है?

(३) प्रमाद किसके होता है?

(४) कषाय किसके होता है?

(५) मन से भोगों की अभिलाषा कौन करता है?

(६) मुख से बुरा वचन कौन बोलता है?

(७) शरीर से कौन बुरी क्रिया करता है?

(८) श्रोत्र आदि इन्द्रियों को कौन विषयों में लगाता है?

विपरीत श्रद्धा अत्यागभाव प्रमाद कषाय और योगप्रवृत्ति—ये सब आस्रव हैं। जीवद्रव्य के परिणाम अथवा व्यापार हैं। इन आस्रवों से जीव कर्मों को करता है। आस्रव जीव-परिणाम है, जीवरूप है।

जो मिथ्यात्वी आदि होते हैं उनके ही मिथ्यात्व आदि छिद्र हैं। जैसे नौका का छिद्र नौका से भिन्न नहीं होता वैसे ही मिथ्यात्व आदि मिथ्यात्वी से भिन्न नही होते, तद्रूप होते हैं।

मिथ्यात्व मिथ्यात्वी जीव के होता है, वह उसका भाव है। अविरति अविरत जीव के होती है, वह उसका भाव है। कषाय कषायीजीव के होता है, वह उसका भाव है। योग योगीजीव के होता है, वह उसका भाव है। ये भाव उस-उस जीव के हैं और उससे अलग अपना अस्तित्व नही रखते, अत जीव-परिणाम हैं, जीव हैं।

३७—आस्रव और जीव-प्रदेशों की चंचलता (गा० ५४-५६)

यहाँ तीन बातें सामने रखी गयी हैं :

(१) जीव के प्रदेश चचल होते हैं।

(२) जीव सर्व प्रदेशो से कर्म ग्रहण करता है।

(३) अस्थिर प्रदेश आस्रव हैं और स्थिर प्रदेश सवर।

नीचे इन तीनो बातो पर क्रमश प्रकाश डाला जाता है।

(१) जीव के प्रदेश चचल होते हैं :

छट्ठे गणधर मडिक ने प्रव्रज्या लेने के पूर्व अपनी शंकाएँ रखते हुए भगवान महावीर से पूछा

"आकाशादि अरूपी पदार्थ निष्क्रिय होते हैं फिर आत्मा को सक्रिय कसे कहते हैं ?"

"मडिक ! आकाशादि और आत्मा अरूपी होने पर भी आकाशादि अचेतन और आत्मा चेतन क्यो ? जिस तरह आत्मा में चैतन्य एक विशेष धर्म है उसी तरह सक्रियत्व भी उसका विशेष धर्म है। आत्मा कुभार की तरह कर्मों का कर्त्ता है अत सक्रिय है, अथवा आत्मा भोक्ता है इससे वह सक्रिय है, अथवा देह-परिस्पन्द प्रत्यक्ष होने से आत्मा सक्रिय है। जिस प्रकार यन्त्रपुरुष में परिस्पन्द देखा जाता है जिससे वह सक्रिय है इसी प्रकार आत्मा में देह-परिस्पन्द प्रत्यक्ष होने से वह भी सक्रिय है।"

"देह-परिस्पन्द से देह सक्रिय होता है आत्मा नही।"

"मडिक ! देह-परिस्पन्द में आत्मा का प्रयत्न कारण होता है अत आत्मा को सक्रिय मानना चाहिए।"

"प्रयत्न क्रिया नहीं होती अत प्रयत्न के कारण आत्मा को सक्रिय नहीं माना जा सकता।"

"मंडिक ! प्रयत्न भले ही क्रिया न हो पर जो आकाश की तरह निष्क्रिय होता है उसमें प्रयत्न भी संभव नहीं होता। वस्तुतः प्रयत्न भी क्रिया ही है। यदि प्रयत्न क्रिया नहीं है तो फिर अमूर्त प्रयत्न देह-परिस्पन्द में किस हेतु से कारण होता है ?"

"प्रयत्न को दूसरे किसी हेतु की अपेक्षा नहीं वह स्वतः ही देह-परिस्पन्द में निमित्त बनता है।"

'मंडिक ! तो फिर स्वतः आत्मा से ही देह-परिस्पन्द क्यों नहीं मानते अब प्रयत्न को क्यों बीच में लाते हो ?

"देह-परिस्पन्द में कोई अदृष्ट कारण मानना चाहिए कारण आत्मा अक्रिय है।"

'मंडिक ! यह अदृष्ट कारण मूर्त होना चाहिए या अमूर्त ? यदि अमूर्त होना चाहिए तो फिर आत्मा देह-परिस्पन्द का कारण क्यों नहीं हो सकता ? वह भी तो अमूर्त है। यदि अदृष्ट कारण मूर्त ही होना चाहिए तो वह कार्मण देह ही संभव है, अन्य नहीं। उस कार्मण शरीर में परिस्पन्द होगा तभी वह बाह्य शरीर के परिस्पन्द में कारण बन सकेगा। फिर प्रश्न होगा कार्मण शरीर के परिस्पन्द में क्या कारण है ? इस तरह प्रश्न की परम्परा का कोई अन्त नहीं आ सकेगा।"

'मंडिक ! शरीर में जिस प्रकार का प्रतिनियत विशिष्ट परिस्पन्द देखा जाता है वह स्वाभाविक भी नहीं माना जा सकता। 'जो वस्तु स्वाभाविक होती है और अन्य किसी कारण की अपेक्षा न रखती हो वह वस्तु सदा होती है अथवा कभी नहीं होती' —इस न्याय से शरीर में जो परिस्पन्द होता है यदि वह स्वाभाविक है तो सदा एक-सा होना चाहिए। परन्तु वस्तुतः शरीर की चेष्टा नाना प्रकार की होने से अमुक रूप से नियत ही देखी जाती है इसलिए उसे स्वाभाविक नहीं माना जा सकता। अतः कर्म-सहित आत्मा को ही शरीर की प्रतिनियत विशिष्ट क्रिया में कारण मानना चाहिए। अतः आत्मा सक्रिय है।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दर्शन में संसारी आत्मा को सकंप माना जाता है। आगम में इस विषय में अनेक संवाद उपलब्ध हैं[2] जिनमें से एक यहाँ दिया जाता है

१—विशेषावश्यक भाष्य गा० १८४५-४८ ;
(ख) गणधरवाद पृ० ११४-११६
२—(क) भगवती २५.३
(ख) ,, ३.३
(ग) ,, १७.३

"भन्ते ! जीव सकप होता है या निष्कप ?"

"गौतम ! जीव सकप भी हैं और निष्कप भी। जीव दो प्रकार के हैं—(१) संसार-समापन्न और (२) असंसारसमापन्न—मुक्त। मुक्त जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) अनन्तर सिद्ध[1] और (२) परपर सिद्ध[2]। इनमे जो परपर सिद्ध होते है वे निष्कप होते हैं और जो जीव अनन्तर सिद्ध हैं वे सकप होते हैं[3]। जो ससारी जीव है वे भी दो प्रकार के होते है—(१) शैलेशी[4] और (२) अशैलेशी। शैलेशी जीव निष्कप होते है और अशैलेशी सकप।"

"भन्ते ! जो जीव शैलेशी अवस्था को प्राप्त नही हैं वे अशत सकप है या सर्वांशत सकप ?"

"हे गौतम ! वे अशत सकप है और सर्वांशत भी सकप है।"

आत्मा की इस सकम्प अवस्था को ही योग कहते हैं और यही योग आस्रव है।

आचार्य पूज्यवाद लिखते है—"आत्मा के प्रदेशो का परिस्पन्द—हलन-चलन योग है। वह निमित्तो के भेद से तीन प्रकार का है—काययोग, वचनयोग और मनोयोग। खुलासा इस प्रकार है—वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के होने पर औदारिक आदि सात प्रकार की काय-वर्गणाओ में से किसी एक प्रकार की वर्गणाओ के आलम्बन से होने वाला आत्म-प्रदेश-परिस्पन्द काययोग कहलाता है। शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई वचन-वर्गणाओ का आलम्वन होने पर तथा वीर्यान्तराय और मत्यक्षरादि आवरण के क्षयोपशम से प्राप्त हुई भीतरी वचनलब्धि के मिलने पर वचनरूप पर्याय के सन्मुख हुए आत्मा के होने वाला प्रदेश-परिस्पन्द वचनयोग कहलाता है। वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रियावरण के क्षयोपशमरूप आन्तरिक मनोलब्धि के होने पर तथा वाहरी निमित्त भूत मनोवर्गणाओ का आलम्वन मिलने पर मनरूप पर्याय के सन्मुख हुए आत्मा के होनेवाला प्रदेश-परिस्पन्द मनोयोग कहलाता है। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षय हो जाने पर भी सयोग केवली के जो तीन प्रकार की वर्गणाओं की अपेक्षा आत्म-प्रदेश-परिस्पन्द होता है वह भी योग है, ऐसा जानना चाहिए[5]।"

स्वामीजी ने अन्यत्र लिखा है :

"अन्तराय कर्म के क्षयोपशम होने से क्षयोपशम वीर्य उत्पन्न होता है और अन्तराय कर्म के क्षय होने से क्षायक वीर्य उत्पन्न होता है। इस वीर्य के प्रदेश तो लब्धवीर्य हैं।

१—सिद्धत्व-प्राप्ति के प्रथम समय में स्थित।

२—सिद्धत्व-प्राप्ति के प्रथम समय के बाद के समयों में स्थित।

३—सिद्धिगमन-समय और सिद्धत्व-प्राप्ति का समय एक ही होने से और सिद्धिगमन के समय गमनक्रिया होने से ये सकप कहे गये हैं।

४—ध्यान द्वारा शैल जैसी निष्कप अवस्था को प्राप्त।

५—तत्त्वा० ६.१ सर्वार्थसिद्धि

वे स्थिर प्रदेश हैं। उसमें जो बल-पराक्रम शक्ति है वह नामकर्म के संयोग से वीर्य है। यही वीर्य आत्मा है। इस बल-पराक्रम-शक्ति के स्फोटन से प्रदेशों में हलचल होती है, जीव के प्रदेश आगे-पीछे होते हैं यह योग आत्मा है।

'मोहकर्म के उदय से नामकर्म के संयोग से जीव के प्रदेश चलते हैं उसे सावद्य योग कहते हैं। यह योग आत्मा है।

"मोहकर्म के उदय बिना नामकर्म के संयोग से जीव के प्रदेश चलते हैं उसे निरवद्य-योग कहते हैं। यह भी योग आत्मा है।

'मोहकर्म के उदय से नामकर्म के संयोग से जीव के प्रदेश चलते हैं, उसे अशुभ योग कहते हैं। उससे एकान्त पाप लगता है।

'मोहकर्म के उदय से उदीर कर नामकर्म के संयोग से जीव प्रदेश का चलाना अशुभ योग है। उससे भी पाप कर्म लगते हैं। मोहकर्म के उदय बिना नामकर्म के संयोग से जीव के प्रदेशों का चलाना शुभ योग है। उससे एकान्त पुण्य लगता है।

'मोहकर्म के उदय बिना नामकर्म की प्रकृति से उदीर कर जीव के प्रदेशों का चलाना शुभ योग है। यह निर्जरा की करनी है और पुण्य आकर लगते हैं।

"जीवके प्रदेशों का चलना अथवा उदीर कर चलाना उदयभाव है। चलता चलाचलता ये भी उदय भाव हैं।

"सावद्य उदय भाव पाप का कर्त्ता है और निरवद्य उदय भाव पुण्य का'।

द्रव्य-आत्मा में अनन्त सामर्थ्य होता है। इसे लब्धिवीर्य कहते हैं। यह आत्मा का शुद्ध स्वाभाविक सामर्थ्य है। आत्मा और शरीर इन दोनों के संयोग से जो सामर्थ्य उत्पन्न होता है वह करणवीर्य है। यह आत्मा का क्रियात्मक सामर्थ्य है। इस करणवीर्य से आत्मा में कम्पन होता रहता है और इस कम्पन के कारण आत्मा कर्म-प्रदेशों में कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करती है। यही आस्रव है।

स्वामी कार्तिकेय लिखते हैं 'मन-वचन-काय योग हैं। वे ही आस्रव हैं। जीव प्रदेशों का स्पन्दन विशेष योग है। वह दो प्रकार का है। मोह के उदय से सहित और मोह के उदय से रहित। मोह के उदय से जो परिणाम जीव के होते हैं वे ही आस्रव हैं। वे परिणाम मिथ्यात्वादि को लेकर अनेक प्रकार के हैं।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि योगास्रव आत्म-परिणाम जीव के ही होता है।

१—जोगां री चर्चा

(२) जीव सर्व प्रदेशों से कर्म ग्रहण करता है :

पंचसग्रह मे कहा है "एक प्रदेश में रहे हुए अर्थात् जिस प्रदेशमें जीव रहता है उस प्रदेश में रहे हुए कर्म-योग्य पुद्गलो का जीव अपने सर्व प्रदेशो द्वारा वन्धन करता है। उसमें हेतु जीव के मिथ्यात्वादि हैं। ऐसा वधन सादि और अनादि दोनो प्रकार का होता है[1]।" विशेपावश्यकभाष्य में कहा है "जीव स्वय आकाश के जितने प्रदेशो में होता है उतने ही प्रदेशो में रहे हुए पुद्गलो को अपने सर्व प्रदेशो से ग्रहण करता है[2]।"

स्वामीजी ने यही वात गा० ५५ में आगमो के आधार पर कही है।

भगवती में कहा है · "एकेन्द्रिय व्याघात न होने पर छहो दिशाओ से कर्म ग्रहण करते हैं। व्याघात होने पर कदाच तीन, कदाच चार और कदाच पाँच दिशाओ से आए हुए कर्मों को ग्रहण करते हैं[3]। शेष सर्व जीव नियम से छहो दिशाओ से आए हुए कर्मों को ग्रहण करते हैं[4]।"

यही वात उत्तराध्ययन (३३ १८) में कही गई है :

> सव्वजीवाण कम्म तु सगहे छद्दिसागय ।
> सव्वेसु वि पएसेसु सव्व सव्वेण वद्धगं ॥

(३) अस्थिर प्रदेश आस्रव है और स्थिर प्रदेश संवर :

भगवती सूत्र में भगवान महावीर और मण्डितपुत्र के वीच हुआ निम्न वार्तालाप-प्रसग मिलता है ·

'हे भगवन् ! क्या जीव सदा प्रमाणपूर्वक कम्पन करता, विविध रूप से कम्पन करता, गमन करता, स्पन्दन करता, स्पर्श करता, क्षोभता, जोर से प्रेरित करता तथा उन-उन भावो में परिणमन करता रहता है ?"

"हे मण्डितपुत्र ! जीव सयोगी होता है तो सदा प्रमाणपूर्वक कपन आदि करता और उन-उन भावो में परिणमन करता रहता है। जव जीव अयोगी होता है तव सदा प्रमाण-

१—एगपएसोगाढ सव्वपएसेहि कम्मुणो जोग्गं ।
वंधइ जहुत्तहेउ साइयमणाइयं वावि ॥ २८४ ॥

२—गेण्हति तज्जोगं चिय रेणु पुरिसो जधा कतब्भगे ।
एगक्खेत्तोगाढ जीवो सव्वप्पदेसेहि ॥ १६४१ ॥

३—जो एकेन्द्रिय जीव लोकान्त में होते हैं उनके ऊर्ध्व और आस-पास की दिशाओं से कर्म का आना संभव न होने से ये विकल्प घटते हैं।

४ —भगवती १७ ४
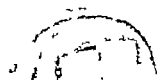
पूर्वक कंपन आदि नहीं करता और उन उन भावों में परिणमन नहीं करता।

"हे भगवन्! क्या जीव के अन्त में—मृत्यु के समय—अंतक्रिया होती है—कर्मों का सम्पूर्ण अन्त होता है?

"हे मण्डितपुत्र! जब तक जीव सदा प्रमाणपूर्वक कंपनादि करता और उन-उन भावों में परिणमन करता है तब तक वह जीवों का आरंभ सरंभ और समारंभ करता और उनमें लगा रहता है। ऐसा करता हुआ वह जीव अनेक प्राणी भूत और सत्त्वों को दुःख शोक, जीर्णता अश्रुविलाप मार और परिताप उत्पन्न करने में प्रवृत्त रहता है अतः उसके मृत्यु समय में अन्तक्रिया नहीं होती। जो जीव प्रमाणपूर्वक कंपन आदि नहीं करता वह आरम्भ सरंभ और समारंभ में लगा हुआ नहीं होता और किसी प्राणी आदि को दुःख आदि उत्पन्न करने में प्रवृत्त नहीं होता अतः उसको मृत्यु समय में अन्तक्रिया होती है।"

"हे भगवन्! क्या श्रमणनिग्रन्थों को क्रिया होती है?"

"हे मण्डितपुत्र! प्रमादप्रत्यय (प्रमाद के कारण) और योग (मन वचन और काम की प्रवृत्ति के) निमित्त से श्रमणनिग्रन्थों को भी क्रिया होती है।"

"हे मण्डितपुत्र! इसी तरह आत्मा द्वारा आत्मा से संवृत ईर्यासमित यावद् गुप्त ब्रह्मचारी उपयोगपूर्वक गमन करने वाले यावद् आँख की उन्मेष तथा निमेष क्रिया भी उपयोगपूर्वक करनेवाले अनगार के विमात्रा में सूक्ष्म ईर्यापथिकी क्रिया होती है। यह ईर्यापथिकी क्रिया प्रथम समय में बद्धस्पृष्ट, दूसरे समय में वेदी (भोगी) हुई और तीसरे समय में निर्जरा को प्राप्त हो जाती है। बद्धस्पृष्ट उदीरित वेदित और निर्जरा को प्राप्त वह क्रिया अकर्मक हो जाती है। इसलिए हे मण्डितपुत्र! मैं ऐसा कहता हूं कि जो जीव योग—मन वचन और काया का निरोध कर सदा प्रमाणपूर्वक कम्पन आदि नहीं करता तथा उन उन भावों में परिणमन नहीं करता उसको अन्त समय में अन्तक्रिया (कर्मों से सम्पूर्ण निवृत्ति) होती है[1]।"

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि सकंप आत्मा आस्रव है और स्थिरभूत आत्मा संवर। सकंप आत्मा के कर्मों का आस्रव होता रहता है और निष्कंप आत्मा के कर्मों का आस्रव रुक जाता है और अन्त में उसकी मुक्ति होती है।

१—भगवती ३.३

स्वामीजी के कहने का तात्पर्य है—आत्म की चचलता—आत्म-प्रदेशो का कपन ही आस्रव है अत आस्रव आत्म-परिणाम है। सवर आत्म-प्रदेशो की स्थिरता है अत वह भी आत्म-परिणाम है। ऐसी स्थिति मे आस्रव को अजीव अथवा जीव-अजीव परिणाम नही कहा जा सकता।

३८—योग पारिणामिक और उदय भाव है अत जीव है (गा० ५,७)

योग के दो भेद हैं—(१) द्रव्ययोग और (२) भावयोग। द्रव्ययोग कर्मागमन के हेतु नही होते। भावयोग ही कर्मागमन के हेतु होते हैं।

कर्मबद्ध सांसारिक प्राणी एक स्थिति मे नही रहता। वह एक स्थिति से दूसरी स्थिति मे गमन करता रहता है। इसे परिणमन कहते हैं। भावयोग इस परिणमन से उत्पन्न जीव की एक अवस्था विशेष है अत वह जीव-पर्याय है।

आगम मे जीव के परिणामो का उल्लेख करते हुए उनमें योग-परिणाम का भी नाम निर्दिष्ट हुआ है (देखिए टि० २४ पृ० ४०५)। यह भावयोग है।

द्रव्ययोग पौद्गलिक हैं अत अजीव हैं। भावयोग जीव-परिणाम हैं अत जीव हैं। भावयोग ही आस्रव हैं अत वे जीव-पर्याय हैं।

बधे हुए कर्म जीव के उदय मे आते हैं। कर्मों के उदय मे आने पर जीव मे जो भाव—परिणाम उत्पन्न होते हैं उनमे सयोगीत्व भी है। (देखिए टि० २६ पृ० ४०६-७)। कर्म के उदय से जीव मे जो भाव—परिणाम—अवस्थाएँ होती हैं वे अजीव नही होती। जीव के सारे भाव—परिणाम चेतन ही होते हैं। अत सयोगीपन भी चेतन भाव है। सयोगीपन ही योग आस्रव है अत वह जीव है।

अनुयोगद्वार मे 'सावज्ज जोग विरई' को सामायिक कहा है। यहाँ योग को सावद्य कहा है। अजीव को सावद्य-निरवद्य नही कहा जा सकता। सावद्य-निरवद्य तो जीव को ही कहा जाता है। योग को सावद्य कहा है—इसका अर्थ है भावयोग सावद्य है। भावयोग ही योग आस्रव है। इस हेतु से योग आस्रव जीव है।

औपपातिक सूत्र में निम्न पाठ है :

से किं त मणजोगपडिसलीणया, मणजोगपडिसंलीणया अकुसल मण निरोधो वा कुसल मण उदरिण वा से त मणजोगपडिसलीणया।

"मनयोग प्रतिसलीनता किसे कहते हैं ?"

"अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की उदीरणा—प्रवृत्ति मनयोग प्रतिसलीनता है।"

यहाँ अकुशल मन के निरोध और कुशल मन के प्रवर्तन का कहा गया है। अकुशल मन का अर्थ है बुरा भावमन। कुशल मन का अर्थ है भला भावमन। अच्छा या बुरा भावमन जीव-परिणाम है। यदि भावमन अजीव हो तो उसके निरोध या प्रवर्तन का कोई अर्थ ही नहीं निकलेगा।

मन की प्रवृत्ति ही भावयोग है और यही योग आस्रव है। अतः योग आस्रव जीव परिणाम सिद्ध होता है। अनुयोगद्वार सामाइक अधिकार में निम्न पाठ मिलता है

तो समणो जइ सुमणो
भावेण य जइ ण होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो
समो य माणावमाणेसु ॥

इस पाठ से मन के दो प्रकार होते हैं—द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन रूपी है। पौद्गलिक है। भावमन जीव-परिणाम है। अरूपी है। वचन और काय योग के विषय में भी यही बात लागू होती है। भावमन-वचन-काय योग ही योगास्रव है अतः जीव और अरूपी है।

१६—निरवद्य योग को आस्रव क्यों माना जाता है ? (गा० ५८)

आस्रव के भेदों की विवेचना करनेवाली किसी भी परम्परा को लें[1] उसमें योग आस्रव का उल्लेख अवश्य है। योग आस्रव का उल्लेख सब परम्पराओं में समान रूप से होने पर भी उसकी व्याख्या की दृष्टि से दो परम्पराएं उपलब्ध हैं। एक परम्परा योग आस्रव में शुभ अशुभ दोनों प्रकार के योगों का समावेश करती है। दूसरी परम्परा केवल अशुभ योगों का ही ग्रहण करती है।

स्वरचित 'नवतत्त्वप्रकरण' में देवेन्द्रसूरि ने आस्रव के ४२ भेदों को गिनाते हुए तीन योग' की व्याख्या इस प्रकार की—

मणवयणतणुजोगतियं अपसत्थं तह कसाय चत्तारि[2] ।"

अपनी स्व वृत्ति नवतत्त्वप्रकरण की बृहत् वृत्ति में मूल कृति के 'तीन योग' की व्याख्या देते हुए वे लिखते हैं—

'अशुभमनोवचनकाययोगा इति योगत्रिकम् ।

इससे स्पष्ट है कि योग आस्रव में उन्होंने अप्रशस्त या अशुभ मन-वचन-काययोगों का ही ग्रहण किया है शुभ योगों का नहीं। उमास्वाति तथा अन्य अनेक आचार्यों ने

१—इन परम्पराओं के लिए देखिए टिप्पणी ४ पृ० १०२। इनके अतिरिक्त एक अन्य परम्परा भी है जिसमें कषाय और योग इन दो को ही बंध-हेतु कहा है।

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह: श्रीनवतत्त्वप्रकरणम् गा० ११

३—वही: अव० चूर्णादिसमेतं नवतत्त्वप्रकरणम् गा० ॥१३॥ की वृत्ति

योगास्रव मे शुभ-अशुभ दोनो प्रकार के योगो का ग्रहण किया है[1] ।

स्वामीजी का कथन है—वास्तव मे शुभयोग निर्जरा के हेतु हैं। अत उनका समावेश योग आस्रव मे नही होता परन्तु निर्जरा के साथ पुण्य का बध अपने आप सहज भाव से होता है इस अपेक्षा से शुभ योगो को भी योग आस्रव मे ग्रहण कर लिया जाता है।

स्वामीजी अन्यत्र लिखते हैं—

"शातावेदनीय सुभायुष्य शुभनाम कर्म उच्चगोत्र ए च्यारू कर्म पुन्य छै। ए च्यारां ही नी करणी सूत्र मैं निरवद्य कही छै अनै आज्ञा माहिली करणी करतां लागै छै। सुभ जोग प्रवर्त्तायां लागै छै। ते तो करणी निर्जरा नी छै। तिण करणी करतां पाप कटै। तिण करणी ने तो सुभ जोग निर्जरा कहीजे । ते छुभ जोग प्रवर्त्तावतां नाम कर्म ना उदय सू सहजे जोरी दावै पुन्य वधे छै। जिम गहु निपजतां खाखलो सहजे नीपजै छै तिम दयादिक भली करणी करतां सुभ जोग प्रवर्त्तावतां पुन्य सहजेइ लागै छै। इम निर्जरा नी करणी करता कर्म कटै अने पुन्य वधे। ठाम २ सूत्र मैं निरवद्य करणी ते सवर निर्जरा नी कही छै। पुन्य तो जोरी दावै विना वांछा लागै छै। शुद्ध साधु ने अन्न दीधो तिवारे अव्रतमा सु काढे नै व्रत मै घाल्या ते तो व्रत नीपनो अने सुभ जोग प्रवर्त्या सू निर्जरा हुई। सुभ जोग प्रवर्त्ते तठै पुन्य माडाणी वधे[2] ।" (देखिए टि० १५ पृ० १७३-५, टि० ४ (२) पृ० २०४ तथा टि० ६ ५ पृ० ३७९)

४०—सर्व सांसारिक कार्य जीव-परिणाम हैं (गा० ५६) :

योग शब्द अत्यन्त व्यापक है। उसके अन्तर्गत मन-वचन-काय के सर्व व्यापार—कार्य, क्रिया, कर्म और व्यवहारो का समावेश हो जाता है। प्रवृत्ति मात्र योग है। स्वामीजी कहते हैं "प्रवृत्तियो—कार्यो—क्रियाओ की सख्या गिनाना असभव होने पर भी अनन्त प्रवृत्तियो का सामान्य लक्षण यह है कि वे कर्म की हेतु हैं—आस्रव स्वरूप हैं।" स्वामीजी कहते हैं : "क्रिया मात्र जीव के ही होती हैं—जीव-परिणाम हैं। अत योग आस्रव जीव ठहरता है।"

१—(क) तत्त्वा० ६ १-४

(ख) अभयदेव— मणवायाकायाण, भेएण हुंति तिन्नि जोगा उ

२—३०६ बोल की हुण्डी बोल ६५

भगवती १७.२ में निम्न पाठ है :

एवं खलु पाणातिवाए जाव—मिच्छादंसणसल्ले वट्टमाणस्स सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाया ।

—जो प्राणातिपातादिक १८ पापों में बरतता है वही जीव है और वही जीवात्मा है।

जीव का अठारह पापों में वर्तन अमुक-अमुक आस्रव है। मिथ्यादर्शन में वर्तना मिथ्यात्व आस्रव है। दूसरे पापों में बरतना दूसरे-दूसरे आस्रव हैं। यथा प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह में वर्तन क्रमशः प्राणातिपात आदि आस्रव हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ में बरतना क्रोधादि-आस्रव हैं।

प्राणातिपात आदि ये सब व्यापार योग आस्रव के भेद हैं। ये सर्व व्यापार जीव के हैं अतः जीव-परिणाम हैं।

इसी तरह अन्य कार्यों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। जीव की कोई भी प्रवृत्ति अजीव नहीं हो सकती। जीव की मिश्र २ प्रवृत्तियाँ ही योगास्रव हैं अतः वह अजीव नहीं। जैसे योगास्रव अजीव नहीं वैसे ही अन्य आस्रव अजीव नहीं।

४१—जीव, आस्रव और कर्म (गा० ६०-६१)

यहाँ स्वामीजी ने निम्न बातें कही हैं :

(१) जीव कर्मों का कर्त्ता है।

(२) जीव मिथ्यात्वादि आस्रवों से कर्मों का कर्त्ता है।

(३) आस्रव जीव-परिणाम हैं। जो किये जाते हैं वे कर्म पौद्गलिक और आस्रव से भिन्न हैं।

आगमों में 'सयमेव कडेहिं गाहइ' (सूय० १.२.१.४)—अपने किये हुए कर्मों से जीव संसार-भ्रमण करता है; 'कडाण कम्माण न मुक्खुअत्थि' (उत्त० ४.३)—किए हुए कर्मों के भोगे बिना छुटकारा नहीं; 'कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं' (उत्त० १३.२३)—कर्म कर्त्ता का ही अनुसरण करता है आदि अनेक वाक्य मिलते हैं। ऐसे ही वाक्यों के आधार पर स्वामीजी ने कहा है—जीव कर्मों का कर्त्ता है।

आचार्य जवाहरलालजी ने लिखा है—"भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशा १ में पाठ आया है कि—'दुक्खी दुक्खेणं फुडे नो अदुक्खी दुक्खेणं फुडे' अर्थात् 'कर्मों से युक्त पुरुष ही कर्म का स्पर्श करता है परन्तु अकर्मा पुरुष कर्म का स्पर्श नहीं करता'। यदि अकर्मा (कर्म रहित) पुरुष को भी कर्म का स्पर्श हो तो सिद्धात्मा पुरुषों में भी कर्म का स्पर्श मानना पड़ेगा। परन्तु यह बात नहीं होती अतः निश्चित होता है कि कर्म भी कर्म के

ग्रहण करने में कारण होने से आस्रव हैं। तथा भगवती में इस पाठ के आगे यह पाठ आया है कि—'दुक्खी दुक्ख परियायइ' अर्थात् 'कर्म से युक्त मनुष्य कर्म का ग्रहण करता है'। इस पाठ से कर्म का आस्रव होना सिद्ध होता है। कर्म पौद्गलिक अजीव है इसलिए आस्रव पौद्गलिक अजीव भी सिद्ध होता है। उसे एकान्त जीव मानने वाले अज्ञानी हैं[1]।"

उक्त मतव्य में कर्म को आस्रव कह कर आस्रव को अजीव भी प्रतिपादित किया गया है।

कर्म आस्रव हो सकता है या नही? इस प्रश्न पर श्रीमद् राजचन्द्र ने बडा अच्छा विवेचन किया है। वे लिखते हैं "चैतन्य की प्रेरणा न हो तो कर्मों को ग्रहण कौन करेगा? प्रेरणा करके ग्रहण कराने का स्वभाव जड वस्तु का है ही नही। और यदि ऐसा हो तो घट-पट आदि वस्तुओ मे भी क्रोधादि भाव तथा कर्मों का ग्रहण करना होना चाहिए। किन्तु ऐसा अनुभव तो आज तक किसी को नही हुआ। इससे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि चैतन्य जीव ही कर्मों को ग्रहण करता है। इस प्रकार जीव कर्मों का कर्त्ता सिद्ध होता है।

"कर्मों का कर्त्ता कर्म को कहना चाहिए"—इस शका का समाधान इस उत्तर से हो जायेगा कि जड कर्मों में प्रेरणारूप धर्म के न होने से उनमें चैतन्य की भाँति कर्मो को ग्रहण करने का सामर्थ्य नही है और कर्मों का कर्त्ता जीव इस तरह है कि उसमें प्रेरणा-शक्ति है।" इस तरह सिद्ध होता है कि जीव ही कर्मो का कर्त्ता है।

भगवती सूत्र के उक्त वार्तालाप का अभिप्राय है—

"अकर्मा के कर्म का ग्रहण और वन्ध नही होता। पूर्व कर्म से वधा हुआ जीव ही नए कर्मों का ग्रहण और वन्ध करता है। अगर ऐसा न हो तो मुक्त जीव भी कर्म से वन्धे विना न रहे।" इससे ससारी जीव ही कर्मों का कर्त्ता ठहरता है न कि जीव के साथ वन्धे हुए कर्म। 'कर्म से युक्त मनुष्य कर्म का ग्रहण करता है' इससे मनुष्य ही कर्मो का कर्त्ता सिद्ध होता है। (विस्तृत विवेचन के लिए देखिए टि० २२ पृ० ४०१-४०३ तथा टि० ७ (१५) पृ० ३३)

'अज्झत्थहेउ निययस्स वधो' (उत्त० १४ १९) अध्यात्म हेतुओ से ही कर्मों का वध होता है। 'पंच आसवादारा पन्नता' (स्था० सम०)—पांच आस्रव-द्वार हैं। ऐसे

१—सद्धर्ममण्डनम्, आश्रवाधिकार वोल २२

ही प्रामाणिक वाक्यों के आधार पर स्वामीजी ने कहा है—जीव अपने मिथ्यात्वादि भावों से कर्मों का कर्त्ता है।

स्वामीजी कहते हैं—आगमों के अनुसार आस्रव का अर्थ है—कर्म आने के द्वार। मिथ्यात्व—अच्छे को बुरा जानना बुरे को अच्छा जानना—पहला द्वार है। इसी तरह अविरति आदि अन्य द्वार हैं। ये द्वार जीव के होते हैं। जीव के मिथ्यात्वादि पाँच द्वारों को ही आस्रव कहा है। कर्मों को आस्रव नहीं कहा है। अतः आस्रव और कर्म भिन्न हैं[1]।

आस्रव जीव-द्वार है कर्म उनसे प्रविष्ट होने वाली वस्तु। द्वारों से जो आते हैं वे कर्म हैं और द्वार जीव के अध्यवसाय। द्वार और कर्म भिन्न भिन्न हैं। जीव के अध्यवसाय—परिणाम आस्रव चेतन और अरूपी हैं। आने वाले पुण्य-पाप पौद्गलिक और रूपी हैं।

जीव रूपी तालाब के आस्रव रूपी नाले हैं। जल रूप पुण्य-पाप हैं। आस्रव जल रूप नहीं पुण्य-पाप जल रूप हैं। नावों के छिद्र की तरह जीव के मिथ्यात्वादि आस्रव हैं। आस्रव जल रूप नहीं कर्म जल रूप हैं। जीव रूपी नाव है, आस्रव रूपी छिद्र हैं और कर्म रूपी जल है। इस तरह कर्म और आस्रव भिन्न हैं[2]।

४२—मोहकर्म के उदय से होनेवाले सावद्य कार्य योगास्रव हैं (गा० ६२-६५):

स्वामीजी अन्यत्र लिखते हैं—"सर्व पाप तो मिथ्यात्व अव्रत प्रमाद कषाय माठा जोग बिना न बंधे। ए सर्व मोहनीय कर्म ना उदे सूं नीपजे छ और कर्म ना उदय सूं नीपजे नहीं। सावद्य कार्य करे ते मोहना उदय सूं। माठ लिख्या सूतां कर्म बंधे छ ते ता अत्याग भाव छे। मोहनी ना उदय सूं छ। ज्ञानावर्णीय थी ज्ञान दबे। दर्शनावर्णी थी दर्शन दबे। वेदनीय थी साता असाता भोगवे। आयु थी आयुष्य भोगवे। गोत्र कर्म थी गोत्र भोगवे। अंतराय थी पाव ते वस्तु न मिले। इम छव कर्म ना उद सूं न वा कर्म न बंधे। अने नाम कर्म ना उद थी सुभ जोग सूं पुण्य बंध छै पिण पाप न बंधे। पाप तो एक मोहनीय कर्म ना उद सूं बंधे छ[3]।"

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं जिन में एक चारित्रमोहनीय है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव सावद्य कार्यों से अपना बचाव नहीं कर सकता और उन में प्रवृत्ति करने

१—टीकम डोसी की चर्चा : बोल १११-१४
२—वही : बोल १४१, १४३, १४४
३—वही : बोल ६६

लगता है। सावद्य कार्यों का सेवन जीव करता है। सावद्य कार्य योगास्रव हैं। इस तरह योगास्रव जीव-परिणाम सिद्ध होता है।

४३—दर्शनमोहनीय कर्म और मिथ्यात्व आस्रव (गा० ६६):

मोहनीयकर्म का दूसरा भेद दर्शनमोहनीय है। इस कर्म के उदय से जीव सम्यक् श्रद्धा प्राप्त नही कर सकता और प्राप्त हुई सम्यक् श्रद्धा को खो देता है। मिथ्या श्रद्धा दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला जीव-परिणाम है। मिथ्या श्रद्धा ही मिथ्यात्व आस्रव है अत मिथ्यात्व आस्रव जीव-परिणाम है।

एक वार गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—"भगवन्! जीव कर्म-वन्ध कैसे करता है?"

भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! ज्ञानावरणीय के तीव्र उदय से दर्शनावरणीय का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय के तीव्र उदय से दर्शन-मोह का तीव्र उदय होता है। दर्शन-मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है। मिथ्यात्व के उदय से आठ प्रकारके कर्मो का वध होता है[१]।"

इस तरह मिथ्यात्व दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय से निष्पन्न जीव-परिणाम है, यह सिद्ध है।

४४—आस्रव रूपी नहीं अरूपी है (गा० ६७-७३):

आगम-प्रमाणो द्वारा स्वामीजी ने आस्रव पदार्थ को जीव सिद्ध किया है। अव वह अरूपी है यह सिद्ध कर रहे हैं। जिन प्रमाणो से आस्रव जीव सिद्ध होता है उन्ही प्रमाणो से वह अरूपी सिद्ध होता है। जीव अरूपी है। आस्रव पदार्थ भाव-जीव है तो वह अवश्य अरूपी भी है। आस्रव अरूपी है इसकी सिद्धि में स्वामीजी निम्न प्रमाण देते हैं •

(१) पांच आस्रव और अविरति भावलेश्या के लक्षण—परिणाम हैं, यह बताया जा चुका है (देखिए टि० ३० पृ० ४०६)। भावलेश्या किस तरह अरूपी है यह भी वताया जा चुका है (देखिए टि० २५ पृ० ४०६)। यदि लेश्या अरूपी है तो उसके लक्षण—पांच आस्रव और अविरति—रूपी नही हो सकते (गा० ६८)।

(२) उत्त० २९.५२ में निम्न पाठ है:

> जोगसच्चेण भन्ते जीवे किं जणयइ ॥
> जोगसच्चेण जोग विसोहेइ ॥

१—प्रज्ञापना २३.१ २८९

"हे भन्ते ! योगसत्य का क्या फल होता है ?"

"योगसत्य से जीव योगों की विशुद्धि करता है।

इसका भावार्थ है— मन वचन और काय के सत्य से क्लिष्टबन्धन का अभाव कर जीव योगों को निर्दोष करता है[1]।

यहाँ योगसत्य को गुणरूप माना है। जीव का गुण अजीव या रूपी नहीं हो सकता। योगसत्य—शुभ योग रूप है। इस तरह शुभ योग अरूपी ठहरता है।

स्थानाङ्ग सूत्र ५९४ में श्रद्धा सत्य मेधा बहुश्रुतता शक्ति अल्पाधिकरणता कलह-रहितता धृति और वीर्य—इन्हें अनगार के गुण कहे हैं[2]। ये गुण रूपी नहीं हो सकते वैसे ही योगसत्य गुण भी रूपी नहीं।

(३) वीर्य जीव का गुण है यह ऊपर बताया जा चुका है (देखिए टि० ३)। अतः वीर्य रूपी नहीं हो सकता।

गौतम ने पूछा योग किस से होता है तब भगवान ने उत्तर दिया वीर्य से। वीर्य जीव गुण है। अरूपी है। उससे उत्पन्न योग रूपी कैसे होगा ?

स्वामीजी अन्यत्र लिखते हैं 'स्थानाङ्ग (३.१) में तीन योग कहे हैं—तिविहे जोगे पण्णत्ता तंजहा मणजोगे१ वयजोगे२ कायजोगे३। यहाँ टीका में योगों को क्षयोपशम भाव कहा है। आत्म-वीर्य कहा है। आत्म-वीर्य अरूपी है। यह भावयोग है। द्रव्ययोग तो पुद्गल है। वे भावयोग के साथ चलते हैं। भावयोग आस्रव है[3]।

(४) आठ आत्मा में योग आत्मा का भी उल्लेख है यह पहले बताया जा चुका है (देखिए टि० २४ पृ० ४ ५)। योग आत्मा जीव है अतः रूपी नहीं हो सकता।

योग जीव-परिणाम है, यह भी पहले बताया जा चुका है (देखिए टि० २४ पृ० ४ ५) अतः वह रूपी नहीं अरूपी है।

१—उत्त० २९.५२ की टीका : 'योगसत्येन'—मनोवाक्कायसत्येन योगान् 'विशोधयति' क्लिष्टकर्मबन्धकत्वाऽभावतो निर्दोषान् करोति।

२—अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहति एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए तं —सड्ढी पुरिसजाते सच्चे पुरिसजाए मेहावी पुरिसजाते बहुस्सुते पुरिसजाते सत्तिमं अप्पाहिगरणे धितिमं वीरियसंपन्ने।

३—३ १ बोल की हुंडी : बोल १५७

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद,कषाय और अशुभ योग—ये सब मोहनीयकर्म के उदय से होने वाले भाव हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—"उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और पारिणामिक भावो से युक्त भाव जीव-गुण हैं[1]।" जीव-गुण का अर्थ है जीव-भाव, जीव-परिणाम[2]। इससे मिथ्यात्वादि जीव-परिणाम सिद्ध होते हैं। जीव-परिणाम अरूपी नही होते।

स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है—"उत्तराध्ययन मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, उपयोग, सुख और दु ख—ये आठ लक्षण द्रव्य-जीव के कहे गये है पर द्रव्य-जीव के इनके सिवाय भी अनेक लक्षण है। सावद्य-निरवद्य गुण, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग, आस्रव, सवर, निर्जरा, उदयनिष्पन्न सर्व भाव, उपशमनिष्पन्न सर्व भाव, क्षायक-निष्पन्न सर्व भाव और क्षयोपशमनिष्पन्न सर्व भाव—इन सबको द्रव्य-जीव के **लक्षण** समझना चाहिए[3]।"

जीव के लक्षण रूपी नही हो सकते।

१—पचास्तिकाय १ ५६ :

उदयेण उवसमेण य खयेण दुहि मिस्सदेहि परिणामे।
जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा॥

२—जयसेन—जीवगुणा जीवभावा परिणामा

३—द्रव्य जीव भाव जीव की चर्चा

आश्रव पदारथ (ढाल २)

दुहा

१—आश्रव करम आवानां बारणा, त्यांनें विकल कहें छें करम।
करम दुवार नें करम एकहिज कहें, ते भूला अग्यांनी भर्म॥

२—करम नें आश्रव छें जूजूआ जूओजूओ छें त्यांरो सभाव।
करम नें आश्रव एकहिज कहें, तिणरो मूढ न जांणें न्याय॥

३—भले आश्रव नें रूपी कहें, आश्रव नें कहें करम दुवार।
दुवार नें दुवार में आवे तेहनें एक कहें छें मूढ गिंवार॥

४—तीन जोगां नें रूपी कहें, त्यांनें इज कहें आश्रव दुवार।
भले तीन जोगां नें कहें करम छें, ओ पिण विकलां रे नहीं छें विचार॥

५—आश्रव नां बीस भेद छें, ते जीव तणी पर्याय।
करम तणा कारण कह्या ते सुण जो चित्त ल्याय॥

ढाल २

(चतुर विचार करीनें देखो—ए देशी)

१—मिथ्यात आश्रव तो ऊंधो सरधें ते ऊंधो सरधे ते जीव साख्यातो रे।
तिण मिथ्यात आश्रव नें अजीव सरधे छें, त्यांरा घट मांहिं घोर मिथ्यातो रे॥
आश्रव नें अजीव कहें ते अग्यांनी* ॥

---

* यह आँकड़ी ढाल की प्रत्येक गाथा के अन्त में आती है।

आस्त्रव पदार्थ (ढाल : २)

दोहा

१—आस्त्रव कर्म आने के द्वार हैं, परन्तु मूर्ख आस्त्रव को कर्म बतलाते हैं। जो कर्म-द्वार और कर्म को एक बतलाते हैं, वे अज्ञानी भ्रम में भूले हुए हैं।

आस्त्रव कर्म-द्वार हैं, कर्म नहीं (दो० १-२)

२—कर्म और आस्त्रव अलग-अलग हैं। उनके स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। मूर्ख इसका न्याय नहीं जानते हुए कर्म और आस्त्रव को एक बतलाते हैं।

३—एक ओर तो वे आस्त्रव को रूपी बतलाते हैं और दूसरी ओर उसे कर्म आने का द्वार कहते है। द्वार और द्वार होकर आने वाले को एक बतलाना निरी मूर्खता है।

कर्म रूपी है कर्म-द्वार नही (दो० ३-४)

४—वे तीनों योगों को रूपी कहते हैं और फिर उन्ही को आस्त्रवद्वार कहते हैं। जो कर्मास्त्रव के कारण योग हैं उनको ही वे कर्म कह रहे हैं उनको इतना भी विचार नहीं है।

५—आस्त्रव के बीस भेद हैं। ये आस्त्रव-भेद जीव-पर्याय है। इनको कर्म आने का कारण कहा है[1]। इसका खुलासा करता हूँ, ध्यान लगा कर सुनना।

बीसों आस्त्रव जीव-पर्याय हैं

ढाल : २

१—(पहिला आस्त्रव मिथ्यात्व है।) तत्त्वों की अयथार्थ प्रतीति —उल्टी श्रद्धा मिथ्यात्व आस्त्रव है। तत्त्वों की अयथार्थ प्रतीति जीव ही करता है (अत मिथ्यात्व आस्त्रव जीव है)। जो मिथ्यात्व आस्त्रव को अजीव समझते हैं उनके घट में घोर मिथ्यात्व है।

(१) मिथ्यात्व आस्त्रव

२—जे जे सावद्य कामां नहीं त्याग्या छै, त्यांरी आसा वंछा रही लागी रे।
ते जीव तणा परिणाम छै मेला, अत्याग भाव छै इविरत सागी रे॥

३—परमाद आस्रव जीव मां परिणाम मेला तिण सूं लागे निरंतर पापो रे।
तिणनें अजीव कहें छै मूढ मिथ्याती, तिणरे खोटी सरधा री थापो रे॥

४—कषाय आस्रव नें जीव कह्यों जिणेसर कषाय आतमा कही छै तांमो रे।
कषाय करवारो सभाव जीव तणो छै, कषाय छै जीव परिणांमो रे॥

५—जोग आस्रव नें जीव कह्यों जिणेसर, जोग आतमा कही छै तांमो रे।
तीन जोगां रो व्यापार जीव तणो छै, जोग छै जीव रा परिणांमो रे॥

६—जीव री हिंसा करें ते आस्रव हिंसा करें ते जीव साख्याते रे।
हिंसा करें ते परिणाम जीव तणा छै, तिण में संका नहीं तिलमातो रे॥

७—झूठ बोले ते आस्रव कह्यों छै, झूठ बोले ते जीव साख्यातो रे।
झूठ बोलण रा परिणाम जीव तणा छै, तिण में संका नहीं तिलमातो रे।

८—चोरी करें ते आस्रव कह्यों जिणेसर, चोरी करें ते जीव साख्यातो रे।
चोरी करवा रा परिणांम जीव तणा छै, तिणमें संका नहीं तिलमातो रे॥

९—मैथुन सेवे ते आस्रव चोथो मैथुन सेवे ते जीवो रे।
मैथुन परिणाम तो जीव तणा छै, तिण सूं लागे छै पाप अतीवो रे॥

२—जिन सावद्य कामों का त्याग नहीं होता उनकी जीव के आशा-वांछा लगी रहती है। आशा-वांछा जीव के मलीन परिणाम हैं। यह अत्याग भाव ही अविरति आस्रव है। (२) अविरति आस्रव

३—जीव के प्रमादरूप मलीन (अशुभ) परिणाम प्रमाद-आस्रव हैं। इससे निरंतर पाप लगता रहता है। जीव के परिणामों को अजीव कहने वाला घोर मिथ्यात्वी है। उसको झूठी श्रद्धा की पकड़ है। (३) प्रमाद आस्रव

४—जिन भगवान ने कषाय आस्रव को जीव बतलाया है, सूत्रों में कषाय आत्मा कही है। कषाय करने का स्वभाव जीव का ही है। कषाय जीव-परिणाम है। (४) कषाय आस्रव

५—योग आस्रव को जिन भगवान ने जीव कहा है। भगवान ने योग आत्मा कही है। तीनों ही योगों के व्यापार जीव के हैं। योग जीव के परिणाम हैं[२]। (५) योग आस्रव

६—जीव की हिंसा करना प्राणातिपात आस्रव है[३]। हिंसा साक्षात् जीव ही करता है, हिंसा करना जीव-परिणाम है[४]। इसमें तिलमात्र भी शंका नहीं। (६) प्राणातिपात आस्रव

७—झूठ बोलने को जिनेश्वर भगवान ने मृषावाद आस्रव कहा है[४]। झूठ साक्षात् जीव ही बोलता है, झूठ बोलना जीव-परिणाम है। इसमें जरा भी शंका नहीं। (७) मृषावाद आस्रव

८—इसी तरह जिन भगवान ने चोरी करने को अदत्तादान आस्रव कहा है[५]। चोरी करने वाला साक्षात् जीव होता है। चोरी करना जीव-परिणाम है, इसमें जरा भी शंका नहीं। (८) अदत्तादान आस्रव

९—अब्रह्मचर्य सेवन करने को मैथुन आस्रव कहा है[६]। मैथुन-सेवन जीव ही करता है। मैथुन जीव-परिणाम है। मैथुन सेवन से अत्यन्त पाप लगता है। (९) अब्रह्मचर्य आस्रव

१०—परिग्रह राखे ते पांचमो आश्रव परिग्रह राखे ते पिण जीवो रे।
जीव रा परिणाम छें मूर्छा परिग्रह, तिण सूं लागे छें पाप करमो रे॥

११—पांच इंद्र्यां ने मोकली मेले ते आश्रव मोकली मेले ते जीव जांणों रे।
राग धेष आवें सब्दादिक ऊपर, यांनें जीव रा भाव पिछांणो रे॥

१२—सुरत इंद्री सों सब्द सुणे छें, चषु इंद्री रूप ते देखो रे।
घ्राण इंद्री गन्ध नें भोगवें छें, रस इंद्री रस स्वादे वसेखो रे॥

१३—फरस इंद्री सों फरस भोगवे छें, पांचूं इंद्र्यां नों एह सभावो रे।
यां सूं राग नें धेष करें ते आश्रव तिणनें जीव कहीजे इण न्यायो रे॥

१४—तीन जोगां नें मोकला मेले ते आश्रव, मोकला मेले ते जीवो रे।
त्यांनें अजीव कहे ते मूढ मिथ्याती त्यांरा घट में नहीं ग्यान रो दीवो रे॥

१५—तीन जोगां रो व्यापार जीव तणो छें, ते जोग छें जीव परिणांमो रे।
माठा जोग छें माठी लेस्या रा लखण, जोग आतमा कही छें तांमो रे॥

१६—भंड उपगरण सूं कोई करें अजेंणा तेहिज आश्रव जांणो रे।
ते आश्रव सभाव तो जीव तणो छें, रूडी रीत पिछांणो रे॥

१७—सुचीकुसग सेवे ते आश्रव सुचीकुसग सेवे ते जीवो रे।
सुचीकुसग सेवे तिणनें अजीव कहें त्यांरे ऊंडी मिथ्यात री नींवो रे॥

१०—परिग्रह रखना पांचवां परिग्रह आस्रव कहा है[७]। जो परिग्रह रखता है वह जीव है। मूर्च्छा परिग्रह है और वह जीव-परिणाम है। इससे अतीव पापकर्म लगते हैं। (१०) परिग्रह आस्रव

११—पाँचों इन्द्रियों को प्रवृत्त करना क्रमश श्रोत्रादि आस्रव हैं। इन्द्रियों को जीव ही प्रवृत्त करता है। शब्दादिक विषयों पर राग-द्वेष का होना जीव-परिणाम है। (११-१५) पच-इन्द्रिय आस्रव

१२-१३-श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है, वह शब्द को ग्रहण करती है। चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप है, वह रूप को ग्रहण करती है। घ्राणेन्द्रिय गध का भोग करती है। रसनेन्द्रिय रसास्वादन करती है। स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श का भोग करती है। पाँचों इन्द्रियों के ये स्वभाव हैं। इन इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष करना क्रमश श्रोत्रादि इन्द्रिय आस्रव है[८]। (राग-द्वेष करना जीव के भाव हैं) अत श्रोत्रादि इन्द्रिय आस्रव जीव है।

१४—तीनों योगों का व्यापार योग आस्रव है[९]। योग—व्यापार जीव ही करता है। योग आस्रव को अजीव कहने वाले मूर्ख और मिथ्यात्वी हैं। उनके घट में ज्ञान-दीपक नहीं है। (१६-१८) मन-वचन-काय-प्रवृत्ति आस्रव

१५—तीनों योगों का व्यापार जीव का ही है। वे योग जीव-परिणाम हैं। अशुभ-योग अशुभ लेश्या के लक्षण हैं। सूत्रों में योगात्मा कही गयी है।

१६—भड-उपकरण आदि रखने-उठाने मे अयतना करना भडोपकरण आस्रव है[१०]। यह अच्छी तरह समझ लो कि आस्रव जीव-स्वभाव—परिणाम है। (१९) भडोपकरण आस्रव

१७—सूई-कुशाग्रमात्र का सेवन करना बीसवां आस्रव है[११]। इस का सेवन जीव करता है। सूई-कुशाग्र-सेवन को अजीव मानने वालों के मिथ्यात्व की गहरी नींव है। (२०) सूई-कुशाग्र सेवन आस्रव

१८—दरब जोगां नें रूपी कह्या छें, ते तो भाव जोग रे छें लारो रे।
दरब जोगां सूं तो करम न लागे भाव जोग छें आश्रव दुवारो रे॥

१९—आस्रव में करम कहे छें अग्यांनी, तिण लेखे पिण ऊंधी दरसी रे।
आठ करमां नें तो चोफरसी कहें छें, काया जोग तो छें अठफरसी रे॥

२०—आश्रव ने करम कहे त्यांरी सरधा, ऊंडी जड़ा थी भूंडी रे।
त्यांरा बोल्या री ठीक पिण त्यांनें नांहीं, त्यांरी हीया निलाड री फूटी रे॥

२१—बीस आश्रव में सोले एकंत सावद्य, ते पाप तणा छें दुवारो रे।
ते जीव रा किरतब माठा ने खोटा पाप तणा करतारो रे॥

२२—मन वचन काया रा जोग व्यापार, वले समचे जोग व्यापारो रे।
ए च्यारूंइ आश्रव सावद्य निरवद, पुन पाप तणा छें दुवारो रे॥

२३—मिथ्यात इविरत नें परमाद कषाय में जोग व्यापारो रे।
ए करम तणा करता जीव रे छें, ए पांचूंइ आश्रव दुवारो रे।

२४—पर्मि च्यार आश्रव समावीया उदारा जोग मे पनरे आश्रव समाया रे।
जोग विरतव नें समावीया पिण छें, तिण सूं जोग मे पनरेइ आया रे॥

२५—हिंसा करें ते जोग आश्रव छें, झूठ बोलें ते जोग छें ताह्यो रे।
चोरी सूं मेंद मुचीकुसग सेवे ते पनरेंइ आया जोग मांह्यो रे॥

१८—द्रव्य योगों को रूपी कहा गया है। वे भाव योगों के पीछे हैं। द्रव्य योगों से कर्मों का आस्रव नहीं होता, भाव योग ही आस्रव-द्वार है[१२]।

भावयोग आस्रव है, द्रव्ययोग नही

१९—अज्ञानी आस्रव को कर्म कहते हैं। उस अपेक्षा से भी वे मिथ्यादृष्टि हैं। आठ कर्मों को तो चतु स्पर्शी कहते हैं, पर द्रव्य काय योग तो अष्टस्पर्शी हैं। (अत आस्रव और कर्म एक नहीं)।

२०—आस्रव को कर्म कहने वालों की श्रद्धा मूल से ही मिथ्या है। वे अपनी ही भाषा के अनजान है। उनके बाह्य और आभ्यन्तर दोनों नेत्र फूट चुके हैं[१३]।

कर्म चतुस्पर्शी हैं और योग अष्टस्पर्शी अत कर्म और योग एक नही (गा० १९-२०)

२१—बीस आस्रवों में से सोलह एकात सावद्य हैं और केवल पाप आने के मार्ग है। ये जीव के अशुभ और बुरे कर्त्तव्य हैं जो पाप के कर्त्ता है।

१६ आस्रव एकांत सावद्य

२२—मन, वचन और काया के योग—व्यापार और समुच्चय योग—व्यापार—ये चारों आस्रव सावद्य-निरवद्य दोनों है एव पुण्य-पाप के द्वार हैं[१४]।

योग-आस्रव और योग-व्यापार सावद्य-निरवद्य दोनो हैं

२३—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँचों ही जीव के कर्मों के कर्त्ता हैं अत पाँचों ही आस्रव-द्वार है।

२४—इनमें पहले चार आस्रव स्वभाव से ही उदार हैं और योगास्रव में अवशेष पन्द्रह आस्रव समाए हुए हैं। योग आस्रव कर्त्तव्य रूप और स्वाभाविक भी है। इसलिए उसमे पन्द्रह आस्रवों का समावेश होता है।

२५—हिसा करना योग आस्रव है। झूठ बोलना भी योग आस्रव है। इसी तरह चोरी करने से लेकर सूई-कुशाग्र-सेवन करने तक पन्द्रहों आस्रव योग आस्रव के अन्तर्गत है[१५]।

२० आस्रवो का वर्गीकरण (गा० २३-२५)

२६—करमां रो करता तो जीव दरब छें, कीधा हुवा ते करमो रे।
करम नें करता एक सरधे ते, भूला अग्यांनी मर्मो रे॥

२७—अठारे पाप ठांणा अजीव चोफरसी ते उदे आवे तिण वारो रे।
जब जूजूआ किरतब करें अठारो ते अठारेंइ आश्रव दुवारो रे॥

२८—उदे आया ते तो मोह करम छें, ते तो पाप रा ठांणा अठारो रे।
त्यांरा उदा सूं अठारेंइ किरतब करें छें, ते जीव तणो छें व्यापारो रे॥

२९—उदे नें किरतब जूआजूआ छें, आ तो सरधा सूधी रे।
उदे नें किरतब एकज सरधे, अकल तिणारी उंधी रे॥

३०—परणातपात जीव री हिंसा करें ते, परणातपात आश्रव जांणों रे।
उदे हुवो ते परणातपात ठांणो छें, त्यांनें इणही रीत पिछांणो रे॥

३१—मूठ बोलें ते मिरपावाद आश्रव छें, उदे छें ते मिरपावाद ठांणो रे।
मूठ बोलें ते जीव उदे हुवा करम, यां दोयां नें जूआजूआ जांणों रे॥

३२—चोरी करें ते अदत्तादांन आश्रव छें, उदे ते अदत्तादांन ठांणो रे।
ते उदे आयां जीव चोरी करें छें, ते तो जीव रा लखण जांणों रे॥

२६—कर्मों का कर्त्ता जीव द्रव्य है और किए जाते है, वे कर्म हैं। जो कर्म और कर्त्ता को एक समझते हैं, वे अज्ञानी भ्रम में भूले हुए हैं।

कर्म और कर्त्ता एक नही

२७—अठारह पाप-स्थानक चतु स्पर्शी अजीव हैं। उनके उदय में आने पर जीव भिन्न-भिन्न अठारह प्रकार के कर्त्तव्य करता है। वे अठारहों ही कर्त्तव्य आस्रव-द्वार हैं।

आस्रव और १८ पाप-स्थानक (गा० २७-३६)

२८—जो उदय में आते हैं वे तो मोहकर्म अर्थात् अठारह पाप-स्थानक हैं और उनके उदय में आने से जो अठारह कर्त्तव्य जीव करता है, वे जीव के व्यापार है।

२९—पाप-स्थानकों के उदय को और उनके उदय में आने से होने वाले कर्त्तव्यो को जो भिन्न-भिन्न समझता है उसकी श्रद्धा—प्रतीति सम्यक् है। और जो इस उदय और कर्त्तव्य को एक समझते है उनकी श्रद्धा—प्रतीति विपरीत है।

३०—प्राणी-हिंसा को प्राणातिपात आस्रव कहते है। प्राणातिपात आस्रव के समय जो कर्म उदय में होता है उसे प्राणातिपात पाप-स्थानक कहते हैं यह अच्छी तरह समझ लो।

३१—झूठ बोलना मृषावाद आस्रव है और उस समय जो कर्म उदय में होता है वह मृषावाद पाप-स्थानक है। जो मिथ्या बोलता है वह जीव है तथा जो उदय में होता है वह कर्म है। इन दोनों को भिन्न-भिन्न समझो।

३२—चोरी करना अदत्तादान आस्रव है, चोरी करते समय जो कर्म उदय में रहता है वह अदत्तादान पाप-स्थानक है। अदत्तादान पाप-स्थानक के उदय से जीव का चोरी करने में प्रवृत्त होना जीव-परिणाम है।

३३—मैथुन सेवे ते मैथुन आश्रव, ते जीव तणा परिणामो रे।
उदे हूओ ते मैथुन पाप थानक छें, मोह करम अजीव छें तांमो रे॥

३४—सचित्त अचित्त मिश्र उपर, ममता राख ते परिग्रह जांणों रे।
ते ममता छें मोह करम रा उदा सूं उदे में छें ते पाप ठांणों रे॥

३५—क्रोध सूं लेइ नें मिथ्यात दरसण, उदे हूआ ते पाप रो ठांणों रे।
यांरा उदा सूं सावद्य कांमा करें ते, जीवरा लखण जांणों रे॥

३६—सावद्य कांमां ते जीव रा किरतब, उदे हूआ ते पाप करमों रे।
यां दोयां नें कोइ एकज सरधे, ते मूला अग्यांनी भर्मों रे॥

३७—आश्रव तो करम आवानां दुवार, ते तो जीव तणा परिणांमो रे।
दुवार मांहें आवे ते आठ करम छें, ते पुदगल दरब छें तांमो रे॥

३८—माठा परिणांम ने माठी लेस्या वले माठा जोग व्यापारो रे।
माठा अधवसाय नें माठो ध्यांन ए पाप आवानां दुवारो रे॥

३९—भला परिणांम नें भली लेस्या भला निरवद जोग व्यापारो रे।
भला अधवसाय नें भलोइ ध्यांन ए पुन आवा रा दुवारो रे॥

३३—मैथुन का सेवन करना मैथुन-आस्रव कहलाता है। अब्रह्मचर्य सेवन जीव-परिणाम है। अब्रह्मचर्य सेवन के समय जो कर्म उदय में रहता है वह मैथुन पाप-स्थानक है। मोहनीय कर्म अजीव है।

३४—सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त वस्तु विषयक ममत्वभाव को परिग्रह आस्रव समझना चाहिए। ममता—परिग्रह मोह-कर्म के उदय से होता है और उदय में आया हुआ वह मोहकर्म परिग्रह पाप-स्थानक है।

३५—क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक इस तरह अलग-अलग अठारह पाप-स्थानक उदय में आते हैं। इन भिन्न-भिन्न पाप-स्थानकों के उदय होने से जीव जो भिन्न भिन्न सावद्य कृत्य करता है वे सब जीव के लक्षण—परिणाम हैं।

३६—सावद्य कार्य जीव के व्यापार है और जिनके उदय से ये कृत्य होते हैं वे पाप कर्म हैं। इन दोनों को एक समझने वाले अज्ञानी भ्रम में भूले हुए हैं[१६]।

आस्रव जीव-परिणाम हैं, कर्म पुद्गल परिणाम

३७—आस्रव कर्म आने के द्वार हैं। ये जीव-परिणाम हैं। इन द्वारों से होकर जो आत्म-प्रदेशों में आते हैं वे आठ कर्म हैं, जो पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।

पुण्य पाप कर्म के हेतु (गा० ३८-४६)

३८—अशुभ परिणाम, अशुभ लेश्या, अशुभ योग, अशुभ अध्यव-साय और अशुभ ध्यान ये पाप आने के द्वार (मार्ग) हैं।

३९—शुभ परिणाम, शुभ लेश्या, शुभ निरवद्य व्यापार, शुभ अध्य-वसाय और शुभ ध्यान ये पुण्य आने के मार्ग हैं।

४०—भला भूंडा परिणांम भली भूंडी लेस्या, भला भूंडा जोग छें तांमो रे।
भला भूंडा अधवसाय भला भूंडा ध्यांन, ए जीव तणा परिणांमो रे॥

४१—भला भूंडा भाव जीव तणा छें, भूंडा पाप रा बारणा जांणों रे।
भला भाव तो छें संवर निरजरा, पुन सहजे लागे छें आंणो रे॥

४२—निरजरा री निरवद करणी करतां, करम तणो खय जांणों रे।
जीव तणा परदेस चले छें, त्यां सूं पुन लागे छें आंणो रे॥

४३—निरजरा री करणी करें तिण काले, जीव रा चले सर्व परदेसो रे।
जब सहचर नांम करम सूं उदे भाव तिण सूं पुन तणो परवेसो रे॥

४४—मन वचन काया रा जोग तीनूइ, पसत्थ में अपसत्थ चाल्या रे॥
अपसत्थ जोग तो पाप नां दुवार, पसत्थ निरजरा री करणी में घाल्या रे॥

४५—अपसत्थ दुवार में रूंधणा चाल्या पसत्थ उदीरणा चाल्या रे।
रूंधतां में उदीरतां निरजरा री करणी पुन लागे तिण सू आश्रव में घाल्या रे॥

४६—पसत्थ में अपसत्थ जोग तीनूंइ, त्यांरा बासठ भेद छें ताह्यो रे।
ते सावद्य निरवद जीव री करणी सूतर उवाइ रे मांह्यो रे॥

४७—जिण कह्यो सतरे भेद असंजम, असंजम ते इविरत जांणों रे।
इविरत छे आसा बंछा जीव तणी छें, तिणमें म्हारी रीत पिछांणो रे॥

४०-४१-अच्छे-बुरे परिणाम, अच्छी-बुरी लेश्या, अच्छे-बुरे योग, अच्छे-बुरे अध्यवसाय और अच्छे-बुरे ध्यान ये सब जीव के परिणाम—भाव हैं। बुरे परिणाम पाप के द्वार है और भले परिणाम संवर और निर्जरा रूप हैं और उनसे सहज ही पुण्य का प्रवेश होता है[१७]।

४२—निर्जरा की निरवद्य करनी करते हुए कर्मों का क्षय होता है, उस समय जीव के प्रदेशों के चलायमान होने से आत्म-प्रदेशों के पुण्य लगते हैं।

४३—निर्जरा की निरवद्य करनी करते समय जीव के सर्व प्रदेश चल—चलायमान होते हैं। उस समय सहचर नामकर्म के उदयभाव से (आत्म-प्रदेशों में) पुण्य का प्रवेश होता है।

४४—मन, वचन और काय ये तीनों योग प्रशस्त (शुभ) और अप्रशस्त (अशुभ) दो तरह के कहे गये हैं। अप्रशस्त (अशुभ) योग पाप-द्वार हैं और प्रशस्त योगों को निर्जरा की करनी में समाविष्ट किया है।

४५—अप्रशस्त योगास्रव-द्वार रूंधने का और प्रशस्त योग को उदीरने का कहा गया है। रूंधते और उदीरते हुए निर्जरा की क्रिया होती है जिससे पुण्य लगता है इसलिये शुभ योग को भी आस्रव में समाविष्ट किया गया है[१८]।

४६—तीनों ही योग प्रशस्त और अप्रशस्त हैं और इनके बासठ भेद उववाई सूत्र में हैं। जीव के सावद्य या निरवद्य व्यापार योग है।

४७—जिन भगवान ने असंयम के सत्रह भेद बतलाए हैं। असंयम अर्थात् अविरति। अविरति जीव की आशा-वांछा का नाम है यह अच्छी तरह समझो[१९]।

असंयम के १७ भेद आस्रव हैं

४८—माठा २ किरतब में माठी २ करणी सर्व जीव व्यापारो रे।
बले जिण आज्ञा बारला सर्व कामां ए सगला छें आस्रव दुवारो रे॥

४९—मोह करम उदे जीव रे च्यार सञा, ते तो पाप करम ग्रहे तांणो रे।
पाप करम नें ग्रहे ते आस्रव ते तो स्यण जीव रा जांणो रे॥

५०—उठांण कम बल वीर्य पुरषाकार प्राक्रम, यांरा सावद्य जोग व्यापारो रे।
तिण सूं पाप करम जीव रे लागे छें, ते जीव छें आस्रव दुवारो रे॥

५१—उठाण कम बल वीर्य पुरषाकार प्राक्रम यांरा निरवद किरतब व्यापारो रे।
त्यांसूं पुन करम जीव रे लागें छें, ते पिण जीव छें आस्रव दुवारो रे।

५२—संमती असंमती नें संजतासजती ते तो सवर आस्रव दुवारो रे।
ते सवर नें आस्रव दोनूं छ, तिणमें संका नहीं छें लिगारो रे॥

५३—इम विरती अविरती में विरताविरती इम पचखांणी पिण जांणों रे॥
इम पिडीया बाला नें बाल पिंडीया जागरा सुता एम पिछांणो रे॥

५४—बले संवूडा असंवूडा में संवूडा संवूडा धमीया धमठी तांमो रे।
धम्मववसाइया इमहिज जांणो तीन-तीन बोल छें तांमो रे॥

५५—ए सगला बोल छें संवर में आस्रव, त्यांनें इणी रीत पिछांणो रे।
कोइ आस्रव नें अजीव कहें छें, ते पूरा छें मूढ अयांणो रे।

४८—बुरे-बुरे कार्य, बुरे-बुरे व्यापार सब जीव के ही व्यापार हैं। वे जिन भगवान की आज्ञा के बाहर के कार्य हैं और सभी आस्रव-द्वार है।

सर्व सावद्य कार्य आस्रव हैं

४९—मोहकर्म के उदय से जीव की चार सज्ञाए होती है। ये पाप कर्मों को खींच २ कर उन्हें ग्रहण करती है। पाप कर्मों के ग्रहण की हेतु होने से सज्ञाएँ आस्रव हैं। ये जीव के लक्षण—परिणाम हैं[२०]।

सज्ञाएँ आस्रव हैं

५०—उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम—इन सब के सावद्य व्यापार से जीव के पाप कर्म लगते है। ये आस्रव-द्वार भी जीव हैं।

५१—उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम इनके निरवद्य व्यापार से जीव के पुण्य कर्म लगते है। ये आस्रव-द्वार भी जीव हैं[२१]।

उत्थान, कर्म आदि आस्रव हैं (गा० ५०-५१)

५२—सयम, असयम, सयमासंयम—ये क्रमश सवर, आस्रव और सवरास्रव द्वार है। इसमे जरा भी शका नही है।

५३—इसी तरह व्रती, अव्रती और व्रताव्रती तथा प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी को समझो। इसी तरह पण्डित, बाल और बालपण्डित तथा सुप्त, जाग्रत और सुप्तजाग्रत को समझो।

५४—इसी तरह सवृत्त, असवृत्त और सवृत्तासवृत्त तथा धर्मी, धर्मार्थी, धर्म व्यवसायी के तीन-तीन बोलों को समझो।

सयम, असयम, सयमासयम आदि तीन-तीन बोल सवर, आस्रव और सवरास्रव हैं (गा० ५२-५५)

५५—ये सभी बोल सवर और आस्रव हैं यह अच्छी तरह पहचानो[२२]। जो आस्रव को अजीव मानते हैं वे पूरे मूर्ख और अज्ञानी है।

५६—आस्रव घटीयां संवर बधे छें, सवर घटीयां आस्रव वधांणों रे।
किसो दरब घटीयो में वधीयो, इण नें रूडी रीत पिछांणो रे।

५७—इविरत उदे भाव घटीयां सूं विरत वधे छें पय उपसम भावो रे।
ए जीव तणा भाव वधीयां नें घटीयां आस्रव जीव कह्यों इण न्यावो रे॥

५८—सतरे भेद असजम ते इविरत आस्रव, ते आस्रव में निश्चें जीव जांणों रे।
सतरे भेद सजम नें संवर कह्यों जिण, ए तो जीव रा स्पण पिछांणों रे॥

५९—आस्रव में जीव सरधावण काजे, जोड कीधी पाली मझारो रे।
सवत अठारे वरस पचावनें आसोज सुद चवदस मगलवारो रे॥

५६—आस्रव घटने से संवर बढ़ता है, संवर घटने से आस्रव बढ़ता है। कौन द्रव्य घटता और कौन द्रव्य बढ़ता है—यह अच्छी तरह समझो।

आस्रव संवर से जीव के भावों की ही हानि-वृद्धि होती है (गा० ५६-५८)

५७—जीव के औदयिक भाव अव्रत के घटने से क्षयोपशम भाव व्रत की वृद्धि होती है। इस तरह जीव के ही भाव घटते और बढ़ते हैं, इस न्याय से आस्रव को जीव कहा है।

५८—इस तरह असंयम के जो सत्रह भेद हैं वे अविरति आस्रव हैं। इन आस्रवों को निश्चय ही जीव समझो। सत्रह प्रकार के संयम को जिन भगवान ने संवर कहा है। इन्हें भी जीव के ही लक्षण समझो[२३]।

५९—आस्रव को जीव श्रद्धाने के लिए यह जोड़ पाली शहर में सं० १८५५ की आश्विन सुदी १४ मंगलवार को की है।

रचना-स्थान और समय

टिप्पणियाँ

१—आस्रव के विषय में विसंवाद (दो० १–५)

आस्रव कर्म है, अजीव है, रूपी है—इन मान्यताओं की असंगति को दिखाते हुए स्वामीजी कहते हैं—

(१) अगर आस्रव कर्म आने का द्वार है तो उसे कर्म कैसे कहा जा सकता है? कर्म-द्वार और कर्म एक कैसे होंगे?

(२) आस्रव और कर्म के स्वभाव भिन्न भिन्न हैं। भिन्न-भिन्न स्वभाववाली वस्तुएं एक कैसे होंगी?

(३) क्या एक ओर आस्रव को रूपी कहना और दूसरी ओर उसे कर्म-द्वार कहना परस्पर असंगत नहीं?

(४) योग रूपी, आस्रव-द्वार और कर्म तीनों एक साथ कैसे होगा?

बाद में उपसंहारात्मक रूप से स्वामीजी कहते हैं—जो बीस आस्रव हैं वे जीव पर्याय हैं। वे कर्म आने के द्वार हैं, कर्म नहीं। वे अरूपी हैं, रूपी नहीं।

२—मिथ्यात्वादि आस्रवों की व्याख्या (गा० १-५)

आस्रवों की संख्या प्रतिपादक-परम्पराओं का उल्लेख करते हुए यह बताया गया था कि एक परम्परा विशेष के अनुसार आस्रवों की संख्या २० है (देखिए टि० १ पृ० ३७२)। स्वामीजी ने गा० १ से १७ में इस परम्परा-सम्मत आस्रवों की परिभाषा देते हुए उन्हें जीव-परिणाम सिद्ध किया है। गा० ५ तक मिथ्यात्व अविरति प्रमाद, कषाय और योग की परिभाषाएँ आई हैं। इनका विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है (देखिए टि० ६ पृ० ३७३-३८०)।

३—प्राणातिपात आस्रव (गा० ६)

आगम में पृथ्वीकाय अप्काय तेजस्काय वायुकाय वनस्पतिकाय और त्रसकाय—ये छः प्रकार के जीव कहे गये हैं। मन वचन काय और कृत कारित एवं अनुमोदन से उनके प्राणों का वियोग करना अथवा उनको किसी प्रकार का कष्ट देना हिंसा है।

श्रीउमास्वाति लिखते हैं "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसा [१]"—प्रमाद से युक्त होकर काय, वाक् और मनोयोग के द्वारा प्राणो का व्यपरोपण करना हिंसा है[२]।

आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं "सकषाय अवस्था प्रमाद है। जिसके आत्म-परिणाम कषाययुक्त होते हैं वह प्रमत्त है। प्रमत्त के योग से इन्द्रियादि दस प्राणो का यथासम्भव व्यपरोपण अर्थात् वियोगीकरण हिंसा है[३]।"

श्री अकलङ्कदेव ने 'प्रमत्त' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है "इन्द्रियो के प्रचार-विशेष का निश्चय न करके प्रवृत्ति करनेवाला प्रमत्त है। अथवा जैसे मदिरा पीनेवाला मदोन्मत्त होकर कार्याकार्य और वाच्यावच्य से अनभिज्ञ रहता है उसी तरह जीवस्थान, जीवोत्पत्तिस्थान और जीवाश्रयस्थान आदि को नही जानकर कषायोदय से हिंसा व्यापारो को ही करता है और सामान्यतया अहिंसा में प्रयत्नशील नही होता वह प्रमत्त है। अथवा चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रियां, निद्रा और प्रणय इन पन्द्रह प्रमादो से युक्त प्रमत्त है। प्रमत्त के सम्बन्ध से अथवा प्रमत्त के योग—व्यापार से होनेवाला प्राण-वियोग हिंसा है[४]।"

प्रमत्तयोग विशेषण यह बतलाने के लिए है कि सब प्राणी-वियोग हिंसा नहीं है। उदाहरण स्वरूप—ईर्यासमिति से युक्त चलते हुए साधु के पैर से रास्ते में यदि कोई क्षुद्र प्राणी दब कर मर जाय तो भी उसे उस वध का पाप नही लगता, कारण कि वह प्रमत्त नही[५]। इसीलिए कहा है—"दूसरे के प्राणो का वियोजन होने पर भी (अप्रमत्त) वध से लिप्त नही होता[६]।" "जीव मरे या जीवित रहे यत्नाचार से रहित पुरुष के नियम से हिंसा होती है

१—तत्त्वा० ७ ८

२—वही ७ ८ भाष्य

३—तत्त्वा० ७ १३ सर्वार्थसिद्धि

४—तत्त्वार्थवार्तिक ७ १३

५—(क) उच्चालिदम्हि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आवादे (धे) ज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज॥
न हि तस्स तण्णिमित्तो बधो सुहुमो वि देसिदो समए।
मुच्छापरिग्गहो त्ति य अज्झप्पमाणदो भणिदो॥

(ख) भगवती

६—सिद्ध० द्वा० ३ १६
वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते॥

और जो यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है,हिंसा हो जाने पर भी उसे बन्ध नहीं होता[1]।" "प्रमाद से युक्त आत्मा पहले स्वयं अपने द्वारा ही अपना घात करता है उसके बाद दूसरे प्राणियों का वध हो या न हो[2]।

यहाँ यह विशेष रूप से ध्यान में रखने की बात है कि जो पूर्ण संयती है उसी के विषय में उपर्युक्त वाक्य सिद्धान्त रूप हैं। जो हिंसा का त्यागी नहीं अथवा हिंसा का देश त्यागी है वह अप्रमत्त नहीं कहा जा सकता। यत्नाचारपूर्वक चलने पर भी उसके शरीरादि से जीव-हिंसा हो जाने पर वह जीव-वध का भागी होगा।

हिंसा करना—उसमें प्रवृत्त होना प्राणातिपात आस्रव है।

४—मृषावाद आस्रव (गा० ७)

श्रीउमास्वाति के अनुसार *असदभिधानमनृतम्*[3]—असद् बोलना अनृत है। भाष्य के अनुसार असत् के तीन अर्थ होते हैं

(१) सद्भाव-प्रतिषेध—इसके दो प्रकार हैं—(क) सद्भूतनिह्नव—जो है उसका निषेध जैसे आत्मा नहीं है,परलोक नहीं है। (ख) अभूतोद्भावन—जो नहीं है उसका निरूपण जैसे आत्मा श्यामाक तंदुलमात्र है, आदित्यवर्ण है आदि।

(२)अर्थान्तर—भिन्न अर्थ को सूचित करना जैसे गाय को घोड़ा कहना।

(३)गर्हा—हिंसा कठोरता पैशुन्य आदि से युक्त वचनों का व्यवहार गर्हा है। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—'असत् का अर्थ—अप्रशस्त भी है। अप्रशस्त का अर्थ है प्राणी-पीड़ाकारी वचन। वह सत्य हो या असत्य अनृत है[4]।"

१—प्रवचनसार ३ १७ :

मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥

२—स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥

३—तत्त्वा० ७ १

४—तत्त्वा० ७ १४ सर्वार्थसिद्धि :

न सदसदप्रशस्तमिति यावत् प्राणिपीडाकरं यत्तदप्रशस्तं विद्यमानार्थविषयं वा अविद्यमानार्थविषयं वा।

प्रश्न हो सकता है—किसी बीमार बालक को बतासे मे दवा रखकर कहना कि यह बतासा है, इसमें दवा नही है—अनृत है या नही ? एक मत से असत्य होने पर भी यह कथन प्रमाद के अभाव से अनृत नही है[1] । स्वामीजी के अनुसार यह वचन अनृत ही है। इसमें प्रमाद का अभाव नही कहा जा सकता ।

अनृत—झूठ बोलना मृषावाद आस्रव है ।

५—अदत्तादान आस्रव (गा० ८)

किसी की बिना दी हुई तृणवत् वस्तु का भी लेना चोरी है[2] । चोरी करना अदत्तादान आस्रव है

प्रश्न उठता है—ग्राम, नगर आदि में भ्रमण करते समय गली, कूचा, दरवाजा आदि में प्रवेश करने पर क्या सर्व संयती भिक्षु बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण नही करता ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"गली, कूचा और दरवाजा आदि सबके लिए खुले होते हैं । जिन में किवाड आदि लगे हैं उन दरवाजो आदि में वह भिक्षु प्रवेश नही करता, क्योंकि वे सबके लिए खुले नही होते। प्रमत्त के योग से बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण करना स्तेय है । यहाँ प्रमाद नही । बाह्य वस्तु ली जाय या न ली जाय—जहाँ सक्लेशरूप परिणाम के साथ प्रवृत्ति होती है वहाँ स्तेय है[3] ।"

६—मैथुन आस्रव (गा० ९) :

स्त्री और पुरुष दोनो के मिथुन-भाव अथवा मिथुन-कर्म को मैथुन कहते हैं । उसका दूसरा नाम अब्रह्म है[4] । आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"चारित्रमोहनीय के उदय

१—सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र पृ० ३३१ पाद टिप्पणी २

२—तत्त्वा० ७ १० भाष्य :

स्तेयबुद्ध्या परैरदत्तस्य परिगृहीतस्य तृणादेर्द्रव्यजातस्यादान स्तेयम्

३—तत्त्वा० ७ १५ सर्वार्थसिद्धि :

एवमपि भिक्षोर्ग्रामनगरादिषु भ्रमणकाले रथ्याद्वारादि प्रवेशाददत्तादान प्राप्नोति ? नैष दोष , सामान्येन मुक्तत्वात्। तथाहि—अय भिक्षु पिहितद्वारादिषु न प्रविशति अमुक्तत्वात् । न च रथ्यादि प्रविशतः प्रमत्तयोगोऽस्ति। यत्र सक्लेशपरिणामेन प्रवृत्तिस्तत्र स्तेय भवति बाह्यवस्तुनो ग्रहणे चाग्रहणे च ।

४—तत्त्वा० ७ ११ भाष्य

स्त्रीपुसयोर्मिथुनभावो मिथुनकर्म वा मैथुन तदब्रह्म

और जो यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है, हिंसा हो जाने पर भी उसे बन्ध नहीं होता[१]। "प्रमाद से युक्त आत्मा पहले स्वयं अपने द्वारा ही अपना घात करता है उसके बाद दूसरे प्राणियों का वध हो या न हो[२]।

यहाँ यह विशेष रूप से ध्यान में रखने की बात है कि जो पूर्ण संयती है उसी के विषय में उपर्युक्त वाक्य सिद्धान्त रूप हैं। जो हिंसा का त्यागी नहीं अथवा हिंसा का देश त्यागी है वह अप्रमत्त नहीं कहा जा सकता। यत्नाचारपूर्वक चलने पर भी उसके शरीरादि से जीव-हिंसा हो जाने पर वह जीव-वध का भागी होगा।

हिंसा करना—उसमें प्रवृत्त होना प्राणातिपात आस्रव है।

४—मृषावाद आस्रव (गा० ७)

श्रीउमास्वाति के अनुसार 'असदभिधानमनृतम्[३]—असत् बोलना अनृत है। भाष्य के अनुसार असत् के तीन अर्थ होते हैं

(१) सद्भाव-प्रतिषेध—इसके दो प्रकार हैं—(क) सद्भूतनिह्नव—जो है उसका निषेध जैसे आत्मा नहीं है, परलोक नहीं है। (ख) अभूतोद्भावन—जो नहीं है उसका निरूपण जैसे आत्मा श्यामाक तन्दुलमात्र है, आदित्यवर्ण है आदि।

(२) अर्थान्तर—भिन्न अर्थ को सूचित करना जैसे गाय को घोड़ा कहना।

(३) गर्हा—हिंसा कठोरता पैशुन्य आदि से युक्त वचनों का व्यवहार गर्हा है। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"असत् का अर्थ—अप्रशस्त भी है। अप्रशस्त का अर्थ है प्राणी पीड़ाकारी वचन। वह सत्य हो या असत्य अनृत है[४]।"

१—प्रवचनसार ३ १७ :

मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥

२—स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणान्तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥

३—तत्त्वा० ७ ९

४—तत्त्वा ७ १४ सर्वार्थसिद्धि :

न सदसत्प्रशस्तमिति यावत्, प्राणिपीडाकरं यत्तदप्रशस्तं विद्यमानार्थविषयं वा अविद्यमानार्थविषयं वा।

ममता करने, उनसे सावद्य कर्तव्य करने से पाप लगता है। मोहनी कर्म के उदय से कर्तव्य करने में पाप है, इन में नहीं[1]।"

साधु के कल्पनीय भण्डोपकरण, वस्त्र आदि परिग्रह नहीं। उनमें मूर्च्छा परिग्रह है। गृहस्थ के पास जो कुछ होता है वह सब उसका परिग्रह है क्योकि उसका ग्रहण मूर्च्छा-पूर्वक ही होता है। कहा है--

"निर्ग्रन्थ मुनि नमक, तैल, घृत और गुड आदि पदार्थों के सग्रह की इच्छा नही करता। सग्रह करना लोभ का अनुस्पर्श है। जो लवण, तैल, घी, गुड अथवा अन्य किसी भी वस्तु के सग्रह की कामना करता है वह गृहस्थ है—साधु नही।

"वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि जो भी हैं उन्हें मुनि सयम की रक्षा के लिए रखते और उनका उपयोग करते हैं। त्राता महावीर ने वस्त्र, पात्र आदि को परिग्रह नही कहा है। उन्होने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है।

"बुद्ध पुरुष अपने शरीर पर भी ममत्वभाव नही रखते[2]।"

पदार्थों का सग्रह करना अथवा मूर्च्छाभाव परिग्रह आस्रव है।

१—पाँच भाव की चर्चा

२—दसवैकालिक ६ १८-२२

विडमुब्भेइम लोण, तेल्ल सप्पि च फाणिय।
न ते सन्निहिमिच्छति, नायपुत्तवओरया॥
लोभस्सेसणुफासे, मन्ने अन्नयरामपि।
जे सिया सन्निहीकामे, गिही पव्वइए न से॥
जं पि वत्थ व पायं वा, कंबल पायपुंछणं।
तं पि सजमलज्जट्ठा, धारति परिहरति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वु महेसिणा॥
सव्वत्थुवहिणा वुद्धा, सरक्खण परिग्गहे।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरति ममाइय॥

होने पर राग-परिणाम से युक्त स्त्री और पुरुष के जो एक दूसरे को स्पर्श करने की इच्छा होती है वह मिथुन है। इसका कार्य मैथुन कहलाता है। सर्व कार्य मैथुन नहीं। राग-परिणाम के निमित्त से होनेवाली चेष्टा मैथुन है। 'प्रमत्तयोगात्' की अनुवृत्ति से रति-जन्य सुख के लिए स्त्री-पुरुष की मिथुनविषयक चेष्टा अब्रह्म है[1]।"

श्री अकलङ्कदेव ने रतिजन्य सुख के लिए केवल स्त्री या पुरुष की चेष्टा को भी मैथुन कहा है "जहाँ एक ही व्यक्ति कामरूपी पिशाच के सम्पर्क से दो हो गए हैं। दो के कर्म को मैथुन कहने में कोई बाधा नहीं[2]।"

मैथुन सेवन को मैथुन आस्रव कहते हैं।

●—परिग्रह आस्रव (गा० १०) :

चेतन अथवा अचेतन—बाह्य अथवा आभ्यन्तर द्रव्यों में मूर्च्छाभाव को परिग्रह कहते हैं। इच्छा, प्रार्थना, कामाभिलाषा, कांक्षा, गृद्धि, मूर्च्छा ये सब एकार्थक हैं[3]। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं— 'गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन-अचेतन बाह्य उपधि का तथा रागादिरूप आभ्यन्तर उपधि का संरक्षण, अर्जन और संस्कार आदि रूप व्यापार मूर्च्छा है। यह स्पष्ट ही है कि बाह्यपरिग्रह के न रहने पर भी 'यह मेरा है' ऐसे संकल्प वाला पुरुष परिग्रह सहित है[4]।"

स्वामीजी ने एक जगह कहा है— 'किसी स्थान पर हीरा, पन्ना, माणिक, मोती आदि पड़े हों तो वे किसी को डुबोते नहीं। उनसे किसी को पाप नहीं लगता। उनसे

१—तत्त्वा० ७.१६ सर्वार्थसिद्धि

स्त्रीपुंसयोश्चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परस्पर्शनं प्रति इच्छा मिथुनम्। मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युच्यते। न सर्वं कर्म। स्त्रीपुंसयो रागपरिणाम-निमित्तं चेष्टितं मैथुनमिति। प्रमत्तयोगात् इत्यनुवर्तते तेन स्त्रीपुंसमिथुनविषयं रतिसुखार्थं चेष्टितं मैथुनमिति गृह्यते न सर्वम्।

२—तत्त्वार्थवार्तिक ७.१६.८ :

एकस्य द्वितीयोपपत्तौ मैथुनत्वसिद्धेः

३—तत्त्वा ७.१२ भाष्य

४—सर्वार्थसिद्धि ७.१७

रूप के प्रति राग-द्वेष करने का प्रत्याग अविरति आस्रव है। त्याग संवर है। रूप देखकर राग-द्वेष करना अशुभ योगास्रव है। राग-द्वेष का टालना शुभ योगास्रव है[1]।

(३) घ्राणेन्द्रिय आस्रव

जो सुगध-दुर्गंध को ग्रहण करे—सूंघे वह घ्राणेन्द्रिय है। सुगध-दुर्गंध में राग-द्वेष करना विकार है। विकार मोहजन्य भाव है। घ्राणेन्द्रिय क्षयोपशम भाव है। गध घ्राणेन्द्रिय का विषय है। उसमे राग-द्वेष अशुभ परिणाम है।

उत्तराध्ययन (३२.४८) में कहा है

> घाणस्स गन्ध गहण वयति, त रागहेउ तु मणुन्नमाहु।
> त दोसहेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

गध घ्राण-ग्राह्य है। गध नाक का विषय है। यह जो गध का प्रिय लगना है, उसे राग का हेतु कहा है और यह जो गध का अप्रिय लगना है, उसे द्वेष का हेतु। जो दोनों में समभाव रखता है वह वीतराग है।

सुगध-दुर्गंध के प्रति राग-द्वेष करने का अत्याग अव्रत है—अविरति आस्रव है। त्याग सवर है। नाक में गध आने पर राग-द्वेष करना अशुभ योगास्रव है। राग-द्वेष का टालना शुभ योगास्रव है[2]।

(४) रसनेन्द्रिय आस्रव

जो रस का आस्वादन करे उसे रसनेन्द्रिय कहते हैं। अच्छे-बुरे रसों में राग-द्वेष विकार है। विकार मोहजन्य भाव है। रसनेन्द्रिय क्षयोपशम भाव है। रसास्वादन रसनेन्द्रिय का विषय है। उसमें राग-द्वेष अशुभ परिणाम है।

उत्तराध्ययन (३२.६१) में कहा है

> जिब्भाए रस गहण वयंति, त रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
> त दोसहेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

रस जिह्वा ग्राह्य है। रस जिह्वा का विषय है। यह जो रस का प्रिय लगना है, उसे राग का हेतु कहा है और यह जो रस का अप्रिय लगना है, उसे द्वेष का हेतु। जो दोनों में समभाव रखता है वह वीतराग है।

१—पाँच इन्द्रियानी ओलखावण

२—वही

८—पंचेन्द्रिय आस्रव—(गा० ११ १५)

इन गाथाओं में श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँच आस्रवों की परिभाषाएँ दी गई हैं। उनकी व्याख्याएँ नीचे दी जाती हैं :

(१) श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव :

जो मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों को सुने वह श्रोत्रेन्द्रिय है। कान में पड़ते हुए मनोज्ञ अमनोज्ञ शब्दों से राग-द्वेष करना विकार है। विकार और श्रोत्रेन्द्रिय एक नहीं। श्रोत्रेन्द्रिय का स्वभाव सुनने का है। वह क्षयोपशम भाव है। विकार—राग-द्वेष अशुभपरिणाम है।

उत्तराध्ययन (३२ ३५) में कहा है

सोयस्स सद्दं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥

शब्द श्रोत्र-ग्राह्य है। शब्द कान का विषय है। यह जो शब्द का प्रिय लगना है, उसे राग का हेतु कहा है और यह जो शब्द का अप्रिय लगना है उसे द्वेष का हेतु। जो इन दोनों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

शब्द के ऊपर राग-द्वेष करने का अत्याग अविरति आस्रव है। त्याग संवर है। शब्द सुनकर राग-द्वेष करना अशुभ योगास्रव है। शब्द सुनकर राग-द्वेष का टालना शुभ योग आस्रव है[१]।

(२) चक्षु इन्द्रिय आस्रव

जो अच्छे-बुरे रूपों को देखती है वह चक्षु इन्द्रिय है। अच्छे-बुरे रूपों में राग-द्वेष करना विकार है। विकार मोहजनित भाव है। चक्षु इन्द्रिय दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम भाव है। रूप चक्षु इन्द्रिय का विषय है उसमें राग द्वेष अशुभ परिणाम है।

उत्तराध्ययन (३२ २२) में कहा है

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥

रूप चक्षु-ग्राह्य है। रूप चक्षु का विषय है। यह जो रूप का प्रिय लगना है, उसे राग का हेतु कहा है और यह जो रूप का अप्रिय लगना है, उसे द्वेष का हेतु। जो इन दोनों में समभाव रखता है वह वीतराग है।

१—पाँच इन्द्रियाँरी ओळखावण

१७वां और १८वां आस्रव है। मन की प्रवृत्ति मन योग, वचन की प्रवृत्ति वचन योग और काय की प्रवृत्ति काय योग है[1]।

स्वामीजी के सामने एक प्रश्न था—योग आस्रव में केवल मन, वचन और काय के सावद्य योगो का ही समावेश होता है, निरवद्य योगो का नहीं।

जीव के पाप लगता है पर पुण्य नही लगता। पाप ही पुण्य होता है। करनी करते करते, पाप धोते-धोते पाप-कर्म दूर होने पर अवशेष पाप पुण्य हो जाते हैं। पुण्य पाप कर्म से ही उत्पन्न होता है। अशुभ योगो से पाप लगता है। शुभ योगो से पुण्य नही लगता[2]।

स्वामीजी ने विस्तृत उत्तर देते हुए जो कहा उसका अत्यन्त संक्षिप्त सार इस प्रकार है "ठाणाङ्ग में जहाँ पाँच आस्रवो का उल्लेख है—वहाँ योग आस्रव कहा है। योग शब्द में सावद्य योग, निरवद्य योग दोनो ही आते हैं। योग आस्रव की जगह यदि अशुभ योग आस्रव होता तो ही शुभ योग आस्रव का ग्रहण नही होता। परन्तु योग आस्रव कहने से शुभ योग, अशुभ योग दोनो आस्रव होते हैं। पाँच संवरो में अयोग संवर का उल्लेख है। योग का निरोध अयोग संवर है। यदि अशुभ योग ही आस्रव होता, शुभ योग आस्रव नहीं होता तो अशुभ योग के निरोध को संवर कहा जाता, योग निरोध को नहीं। इससे भी सिद्ध होता है कि योग आस्रव में शुभ-अशुभ दोनो प्रकार के योगो का समावेश है[3]।

"सूत्र में कहा है जैसे वस्त्र के मैल का उपचय होता है वैसे ही साधु के ईर्यावही कर्म का बंध होता है। जिस तरह वस्त्र में जो मैल लगता है वह प्रत्यक्ष बाहर से आकर लगता है उसी तरह जीव के जो ईर्यावही पुण्य कर्मों का उपचय होता है वह बाहर के कर्म-पुद्गलो का ही होता है। बंधे हुए पाप कर्मों का पुण्यरूप परिवर्तन नही। पापो के घिसते-घिसते जो बाकी रहेंगे वे पाप कर्म ही रहेंगे, पाप पुण्य कर्म कैसे होंगे? ईर्यावही कर्म का ग्रहण सपष्टतः बाहर के पुद्गलों का ग्रहण है। वह उपचय रूप है। परिवर्तन रूप नही। यह कर्मोपचय शुभ योगो से है। केवली के भी शुभ योग आस्रव है।

१—देखिए पृ० १५८ टि० ५, पृ० २०२ टि० ४, पृ० ३७६ : ५

२—टीकम डोसी की चर्चा

३—अन्य भी अनेक आगम प्रमाण स्वामीजी ने दिये हैं। विस्तार के भय से उन्हें यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

स्वाद अस्वाद के प्रति राग-द्वेष का अत्याग अर्सवर है—अविरति आस्रव है। त्याग संवर है। स्वाद-अस्वाद के प्रति राग-द्वेष करना अशुभ योगास्रव है। राग-द्वेष का टालना शुभ योगास्रव है[1]।

(५) स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव :

जो स्पर्श का अनुभव करे उसे स्पर्शनेन्द्रिय कहते हैं। अच्छे-बुरे स्पर्शों में राग-द्वेष विकार है। विकार मोह के उदय से उत्पन्न भाव है। स्पर्शनेन्द्रिय दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से प्राप्त भाव है। स्पर्श का अनुभव करना स्पर्शनेन्द्रिय का विषय है। उसमें राग-द्वेष अशुभ परिणाम है।

उत्तराध्ययन (३२.७४) में कहा है

> कायस्स फासं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
>
> तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥

स्पर्श काय-ग्राह्य है। स्पर्श शरीर का विषय है। यह जो स्पर्श का प्रिय लगता है, उसे राग का हेतु कहा है और यह जो स्पर्श का अप्रिय लगता है, उसे द्वेष का हेतु। जो दोनों में समभाव रखता है वह वीतराग है।

अच्छे-बुरे स्पर्श के प्रति राग-द्वेष का अत्याग अर्सवर है—अविरति आस्रव है। त्याग संवर है। स्पर्श के प्रति राग-द्वेष करना अशुभ योगास्रव है। राग-द्वेष का वर्जन शुभ योगास्रव है[2]।

कहा है— 'कामभोग—शब्द रूपादि के विषय समभाव-उपशम के हेतु नहीं हैं और न ये विकार के हेतु हैं। किन्तु जो उनमें परिग्रह—राग-द्वेष करता है वही मोह—राग द्वेष के कारण विकार को उत्पन्न करता है[3]।"

६—मन योग, वचन योग और काय योग (गा० १४)

बीस आस्रवों में पाँचवां आस्रव योग आस्रव है। योग के तीन भेद होते हैं—(१) मन योग (२) वचन योग और (३) काय योग। इन्हीं भेदों को लेकर क्रमशः १६वां,

---

१—पाँच इन्द्रियाकी ओलखावण

२—वही

३—उत्त० ३२.१०१ :

> न कामभोगा समयं उवेन्ति न यावि भोगा विगइं उवेन्ति।
>
> जे तप्पओसी य परिग्गही य सो तेसु मोहा विगइं उवेइ॥

१७वां और १८वां आस्रव है। मन की प्रवृत्ति मन योग, वचन की प्रवृत्ति वचन योग और काय की प्रवृत्ति काय योग है[1]।

स्वामीजी के सामने एक प्रश्न था—योग आस्रव मे केवल मन, वचन और काय के सावद्य योगो का ही समावेश होता है, निरवद्य योगो का नही।

जीव के पाप लगता है पर पुण्य नही लगता। पाप ही पुण्य होता है। करनी करते करते, पाप धोते-धोते पाप-कर्म दूर होने पर अवशेष पाप पुण्य हो जाते हैं। पुण्य पाप कर्म से ही उत्पन्न होता है। अशुभ योगो से पाप लगता है। शुभ योगो से पुण्य नही लगता[2]।

स्वामीजी ने विस्तृत उत्तर देते हुए जो कहा उसका अत्यन्त सक्षिप्त सार इस प्रकार है "ठाणाङ्ग में जहां पांच आस्रवो का उल्लेख है—वहां योग आस्रव कहा है। योग शब्द में सावद्य योग, निरवद्य योग दोनो ही आते हैं। योग आस्रव की जगह यदि अशुभ योग आस्रव होता तो ही शुभ योग आस्रव का ग्रहण नही होता। परन्तु योग आस्रव कहने से शुभ योग, अशुभ योग दोनों आस्रव होते हैं। पांच सवरो में अयोग सवर का उल्लेख है। योग का निरोध अयोग सवर है। यदि अशुभ योग ही आस्रव होता, शुभ योग आस्रव नही होता तो अशुभ योग के निरोध को सवर कहा जाता, योग निरोध को नही। इससे भी सिद्ध होता है कि योग आस्रव में शुभ-अशुभ दोनो प्रकार के योगों का समावेश है[3]।

"सूत्र में कहा है जैसे वस्त्र के मैल का उपचय होता है वैसे ही साधु के ईर्यावही कर्म का बध होता है। जिस तरह वस्त्र में जो मैल लगता है वह प्रत्यक्ष बाहर से आकर लगता है उसी तरह जीव के जो ईर्यावही पुण्य कर्मों का उपचय होता है वह बाहर के कर्म-पुद्गलो का ही होता है। बधे हुए पाप कर्मों का पुण्यरूप परिवर्तन नही। पापों के घिसते-घिसते जो बाकी रहेंगे वे पाप कर्म ही रहेंगे, पाप पुण्य कर्म कैसे होंगे? ईर्यावही कर्म का ग्रहण सपष्टत बाहर के पुद्गलो का ग्रहण है। वह उपचय रूप है। परिवर्तन रूप नही। यह कर्मोपचय शुभ योगो से है। केवली के भी शुभ योग आस्रव है।

१—देखिए पृ० १५८ टि० ५, पृ० २०२ टि० ४, पृ० ३७६ : ५

२—टीकम डोसी की चर्चा

३—अन्य भी अनेक आगम प्रमाण स्वामीजी ने दिये हैं। विस्तार के भय से उन्हें यहां नहीं दिया जा रहा है।

निरवद्य करनी करते समय शुभ कर्मों का आगमन होता है। इसे पुण्य का बंध कहते हैं। सावद्य करनी करते समय अशुभ कर्मों का आगमन होता है। इसे पाप का बंध कहते हैं। बंधे हुए पुण्य शुभ रूप से उदय में आते हैं और बंधे हुए पाप अशुभ रूप से। ये तीर्थङ्करों के वचन हैं।

स्वामीजी के साथ योग सम्बन्धी विविध पहलुओं पर अनेक चर्चाएं हुईं। प्रसंगवश यहाँ कुछ चर्चाओं का सार मात्र दिया जा रहा है

(१) तीन योगों से भिन्न कार्मण योग है वही पाँचवाँ आस्रव है

स्वामीजी के सम्मुख योग विषय में एक नया मतवाद उपस्थित हुआ। इसकी प्ररूपणा थी— मन योग वचन योग और काय योग के उपरान्त चौथा योग कार्मण योग होता है। यह तीनों ही योगों से अलग है। योग आस्रव में यही आता है, प्रथम तीन नहीं। यह अनादिकालीन है। इसका विरह नहीं पड़ता। यह स्वाभाविक योग है। यह मोहकर्म के उदय से है। सावद्य योग है। पाँचवाँ आस्रव है। यह रुकने पर भी नहीं रुकता। यह अनादि कालीन स्वाभाविक सावद्य योग है। निरंतर पुण्य पाप का कर्ता है। जीव जब संयम करता है उस समय यह सावद्य योग पुण्य ग्रहण करता है। इसे सावद्य योग कहें चाहे अशुभ योग कहें चाहे माठा योग कहें, चाहे अधर्म कहें चाहे सावद्य अधर्म आस्रव कहें, चाहे पुण्य का कर्ता अधर्म कहें चाहे पुण्य का कर्ता सावद्य कहें[1]।"

स्वामीजी ने इसका विस्तृत उत्तर दिया है। उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है "योग तीन ही कहे हैं। मन योग वचन योग और काय योग। इन तीन योगों के उपरांत चौथे योग का श्रद्धान मिथ्या श्रद्धा है। तीन योग के १५ भेद किये हैं—मन के चार, वचन के चार और काया के सात। इन पंद्रह योगों के सिवा सोलहवें योग की श्रद्धा सिद्धान्त के विरुद्ध है। योग किस को कहते हैं? योग अर्थात् मन वचन और काय का व्यापार। व्यापार या तो सावद्य होता है अथवा निरवद्य। सावद्य व्यापार पाप की करनी है और निरवद्य व्यापार निर्जरा और पुण्य की करनी है। सावद्य-निरवद्य व्यापार योग है, अन्य योग नहीं।

पुण्य के कर्ता तीनों ही योग निरवद्य हैं। पाप के कर्ता तीनों ही योग सावद्य हैं। व्यापार जीव के प्रदेशों की चंचलता—चपलता है। जब आत्मा शक्ति बल और पराक्रम

१—टीकम डोसी की चर्चा से उनका लिखित प्रश्न

का स्फोटन करता है तब आत्म-प्रदेशो मे हलन-चलन होती है। प्रदेश आगे-पीछे चलते हैं यह नामकर्म के सयोग से होता है। यह योग आत्मा है।

"मोहकर्म के उदय से और नामकर्म के सयोग से जीव के प्रदेशो का चञ्चल होना सावद्य योग है। यह भी योग आत्मा है।

"मोहकर्म के उदय बिना नामकर्म के सयोग से जीव के प्रदेशो का चञ्चल होना निरवद्य योग है। यह भी योग आत्मा है।

"मोहकर्म के बिना नामकर्म के उदय से जीव के प्रदेशो का चञ्चल होना निरवद्य योग है।

"मोहकर्म के बिना नामकर्म की प्रकृति को उदीर कर जीव के प्रदेशो का चलना भी निरवद्य योग है।

"मोहकर्म के उदय से नामकर्म के सयोग से जीव के प्रदेशो का चलना सावद्य योग है। उससे पाप लगता है।

"मोहकर्म के उदय से उदीर कर नामकर्म के सयोग से जीव के प्रदेशो को चलाना भी सावद्य योग है। उससे पाप लगता है।

"जीव के प्रदेशो का चलना और उदीर कर चलाना उदय भाव है। सावद्य उदय-भाव पाप का कर्त्ता है। निरवद्य उदय-भाव पुण्य का कर्त्ता है।

"सावद्य योगो से पुण्य लगता है और सावद्य योगो से ही पाप लगता है—पुण्य और पाप दोनों सावद्य से लगते हैं—यह बात नहीं मिलती। सावद्य योगो से पाप लगता है निरवद्य योगो से पुण्य लगता है—ऐसा ही सूत्रो में स्थान-स्थान पर उल्लेख है।

"जो सावद्य योग से पुण्य मानते हैं उनके हिसाब से धन्ना अनगार को तेंतीस सागर के पुण्य उत्पन्न हुए अत उनके सावद्य योग वर्ते। जिनके तीर्थङ्कर नामकर्म आदि बहुत पुण्य हुए उनके सावद्य योग भी बहुत वर्ते। थोडा सावद्य योग रहा है उनके थोडे पुण्य उत्पन्न हुए। यह श्रद्धान कितना विपरीत है यह स्वय स्पष्ट है[१]।"

(२) प्रवर्तन योग से निवर्तन योग अन्य हैं :

स्वामीजी के सामने अन्य मतवाद यह आया—"मन योग, वचन योग और काय योग प्रवर्तन योग हैं। निवर्तन योग अनेक हैं, निवर्तन योग शुभयोग सवर हैं।"

स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा—"वे कौन से योग हैं जो शुभयोग सवर हैं? उनके नाम क्या हैं? उनकी स्थिति बताओ। उनका स्वभाव बतलाओ। पन्द्रह योगो की स्थिति

१—टीकम डोसी की चर्चा।

'जोगां री चर्चा' से प्राय इसी भाव का उद्धरण पृ० ४१५ (अन्तिम अनुच्छेद)—४१६ में दिया गया है। पाठक उसे भी देख लें।

का उल्लेख है। उनके स्वभाव का उल्लेख है। इन निवर्तन योगों के स्वभाव स्थिति आदि भी सूत्र से बताओ।

"योग के व्यापार से निवृत्त होने पर योग घटना चाहिए। जो प्रवृत्ति करे उसे योग कहते हैं। जो प्रवृत्ति नहीं करते उन्हें योग नहीं कहा जा सकता।

"एक समय में एक मन योग होता है, एक वचन योग होता है और एक काय योग होता है। एक समय में पंद्रह योग नहीं होते। पंद्रह योगों की अलग-अलग स्थिति होती है। कौन-कौन-सा संवर शुभ योग है!

(१) शुभ योग संवर और चारित्र है :

स्वामीजी के सामने मतवाद आया— 'जो शुभ योग हैं वे ही संवर हैं। जो शुभयोग हैं वे ही चारित्र हैं। जो शुभयोग हैं वे ही सामायिक चारित्र हैं। यावत् जो शुभयोग हैं वे ही यथाख्यात चारित्र हैं। पाँचों ही चारित्र शुभयोग संवर हैं।'[१]

उत्तर में स्वामीजी ने कहा है— 'यह श्रद्धान भी जिन-मार्ग का नहीं। उससे विरुद्ध, विपरीत और दूर है। शुभयोग और संवर भिन्न भिन्न हैं। शुभयोग निरवद्य व्यापार है। चारित्र शीतलीभूत स्थिर प्रदेशी है। योग चल प्रदेशी है। चारित्र चारित्रावरणीय कर्म के उपशम क्षय क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। उसके प्रदेश स्थिरभूत हैं। योग सावद्य-निरवद्य व्यापार है। प्रदेशों का चलाचल मात्र है। सावद्य-योग सावद्य-व्यापार है। निरवद्य-योग निरवद्य-व्यापार है।

'अंतरायकर्म के क्षयोपशम से लायक वीर्य उत्पन्न होता है। अंतरायकर्म के क्षयोपशम से क्षयोपशम वीर्य उत्पन्न होता है। उस वीर्य के प्रदेश सब्विर्य हैं। वे स्थिर प्रदेश हैं। महाशक्ति बल-पराक्रम वाले हैं। नामकर्म के संयोग सहित वीर्य वीर्यात्मा है। वह सकम बल पराक्रम को फोड़ती है तब प्रदेशों में हलन-चलन होती है। प्रदेश आगे-पीछे चलते हैं। उसे योग आत्मा कहा गया है। मोहकर्म के उदय से नामकर्म के संयोग से जो जीव के प्रदेश चलते हैं वह भी योग आत्मा है।

'जो शुभ योग को संवर कहते हैं उनसे पूछना चाहिए—कौन-सा योग शुभ है? योग पंद्रह हैं उनमें से कौन-सा शुभ योग संवर है? अथवा योग तीन हैं—मन योग, वचन योग और काय योग। उनमें से कौन-सा योग संवर है—मन योग संवर है, वचन योग संवर है या काय योग संवर है?

"उनसे यह भी पूछना चाहिए—सामायिक चारित्र यावत् यथाख्यात चारित्र को कौन-सा शुभ योग कहना चाहिए?

'पंद्रह योगों में कौन-सा शुभ योग संवर है?

१—टीकम डोसी की चर्चा।

"यदि शुभ योग सवर है तो तेरहवें गुणस्थान में मन योग, वचन योग और काय योग को रूधने का उल्लेख है। फिर सवर को रूंधने की यह बात कैसे ?

"यदि इन योगो के सिवा अन्य मन, वचन और काय के योगो की श्रद्धान है, यथाख्यात चारित्र को शुभ योग मानने की श्रद्धान है तो सोचना चाहिए—यथाख्यात-चारित्र तो चौदहवें गुणस्थान में है। यदि यथाख्यात चारित्र शुभ योग है, जो शुभ योग है वही यथाख्यात चारित्र है तो फिर चौदहवें गुणस्थान मे अयोगीत्व क्यो कहते हैं ? अपने मुह से यथाख्यात चारित्र को शुभ योग कहते हैं और साथ ही चौदहवे गुणस्थान में अयोग सवर कहते हैं। फिर सीधा योगी केवली क्यो नही कहते ? कैसा अधेर है कि चौदहवें गुणस्थान में शुभ योग सवर कहते हैं और साथ ही अयोगीत्व भी। पुन तेरहवें गुणस्थान में सावद्य योग कहते हैं, मोहकर्म के स्वभाव का कहते हैं। यह भी बडा अंधेर है। जिसके मोहकर्म का क्षय हो गया उसमें उसका स्वभाव कैसे रहेगा ? मनुष्य के मरने पर उसका अशमात्र भी नही रहता। साधु, तीर्थंकर काल हो जाने पर उनका स्वभाव अशमात्र भी नही रहता। उसी प्रकार मोहकर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर—एक प्रदेश मात्र भी बाकी न रहने पर मोहकर्म का स्वभाव फिर कहाँ से बाकी रहा ?

"वे यथाख्यात चारित्र को शुभ योग कहते है। उस योग के मिटने से यथाख्यात चारित्र मिटा या नही ? योग को यथाख्यात चारित्र कहते है उस अपेक्षा से योग ही यथाख्यात चारित्र है। योग मिटने से वह भी मिट गया। शुभ योग और यथाख्यात चारित्र दो है तो शुभ योग तो मिट गया और यथाख्यात चारित्र रह गया।

"यथाख्यात चारित्र को शुभ योग कहना, पाँचो ही चारित्र को शुभ योग कहना यह विपरीत श्रद्धा है [1]।"

१०—भंडोपकरण आस्रव (गा० १६) :

आगम मे इसे 'उपकरण असवर' कहा गया है[2]। वस्त्र, पात्रादि को उपकरण कहते हैं। साधु द्वारा नियत और कल्पनीय उपकरणो का यतनापूर्वक सेवन पुण्य-आस्रव है। उसके द्वारा अनियत और अकल्पनीय उपकरणो का अयतनापूर्वक सेवन पापास्रव है। गृहस्थ के द्वारा सर्व उपकरणो का सेवन पापास्रव है।

११—सूची-कुशाग्र आस्रव (गा० १७) ·

इसे आगम मे 'सूची-कुशाग्र असवर' कहा गया है[3]। सूची-कुशाग्र उपलक्षण रूप है। ये समस्त उपग्राहिक उपकरणो के सूचक हैं। कल्पनीय सूची-कुशाग्र आदि का यतनापूर्वक

१—टीकम डोसी की चर्चा।

२— ठाणाङ्ग १० १.७०६

३—ठाणाङ्ग १०.१ ७०६

सोतिंदितअसवरे जाव सूचीकुसग्गअसवरे।

सेवन पुण्यास्रव है। अयतनापूर्वक सेवन पापास्रव है। एकत्व द्वारा इन सबका सेवन पापास्रव है।

सूची-कुशाग्र आस्रव बीसवाँ आस्रव है। स्वामीजी ने मिथ्यात्व आस्रव से लेकर सूची कुशाग्र आस्रव तक बीसों आस्रवों की परिभाषाएँ दी हैं। ये परिभाषाएँ गा० १ १७ में प्राप्त हैं। इन परिभाषाओं का विवेचन इस टिप्पणी के साथ समाप्त होता है।

उक्त गाथाओं में एक-एक आस्रव की परिभाषा देने के साथ-साथ स्वामीजी यह सिद्ध करते गये हैं कि अमुक आस्रव किस प्रकार जीव-पर्याय है और वह किस प्रकार अजीव नहीं हो सकता।

स्वामीजी की सामान्य दलील है—

मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय योग हिंसा करना झूठ बोलना चोरी करना मैथुन का सेवन करना ममता करना पाँचों इन्द्रियों की प्रवृत्ति करना मन योग, वचन योग, काय योग भंड-उपकरण की अयतना सूची-कुशाग्र का सेवन—ये सब जीव के भाव हैं जीव ही उन्हें करता है, वे जीव के ही होते हैं। मिथ्यात्व आदि आस्रव हैं। अतः वे जीव-भाव हैं, जीव ही उनका सेवन करता है, वे जीव के ही होते हैं अतः जीव परिणाम हैं, जीव हैं।

स्वामीजी ने कषाय आस्रव और योग आस्रव को जीव सिद्ध करने के लिए इस सामान्य दलील के उपरान्त आगम प्रमाण की ओर भी संकेत किया है। आगम में आठ आत्मा में कषाय आत्मा का स्पष्ट उल्लेख है। आठ आत्माओं में द्रव्य आत्मा मूल है। अवशेष सात आत्माएं भाव आत्माएं हैं। वे द्रव्य आत्मा के लक्षण-स्वरूप उसके पर्याय—परिणाम स्वरूप हैं। इस तरह कषाय आस्रव आगम प्रमाण से जीव-भाव है। आगम में जीव-परिणामों में कषाय-परिणाम का उल्लेख है। कर्मों के उदय से जीव में जो भाव उत्पन्न होते हैं उनमें से कषाय एक है। इससे भी उपर्युक्त बात सिद्ध होती है।

कषाय आत्मा की तरह ही आगम में योग आत्मा का भी उल्लेख है। दस जीव परिणामों में योग-परिणाम है। जीव के औदयिक भावों में योग का उल्लेख है। इस तरह योग आस्रव स्पष्टतः जीव-परिणाम—जीव-भाव—जीव सिद्ध होता है[१]।

१२—द्रव्य योग भाव योग (गा० १८) :

योग दो तरह के होते हैं—द्रव्य-योग और भाव-योग। मन वचन और काय द्रव्य-योग हैं। उनके व्यापार भाव-योग हैं। द्रव्य-योग रूपी हैं—वर्ण गंध रस और स्पर्श युक्त होते हैं। भाव-योग जीव-परिणाम हैं अतः अरूपी—वर्णादि रहित हैं। द्रव्य

१—देखिए पृ ४ ५ टि १४; पृ ४०६ टि २६
२—वही

योगो से कर्म का आगमन नही होता। भाव-योग कर्म के हेतु होते हैं—आस्रव रूप हैं। द्रव्य-योग भाव-योग के सहचर होते हैं।

स्वामीजी ने यहाँ कही हुई बात को अन्यत्र इस प्रकार रखा है—"(ठाणाङ्ग टीका में) "तीनू ई जोगा नैं क्षयोपशम भाव कह्या छै। अने आत्म नो वीर्य क्ह्यो छै। आत्मा नो वीर्य तो अरूपी छै। ए तो भाव जोग छै। द्रव्य जोग तो पुद्‌गल छै। ते भाव जोग रे साथै हालै छै। इम द्रव्य जोग भाव जोग जाणवा। भाव जोग ते आश्रव छै। डाहा हुवै ते विचारजो।"[1]

स्वामीजी ने ठाणाङ्ग की टीका का उल्लेख किया है। वहाँ का विवेचन नीचे दिया जाता है

"वीर्यांतराय कर्म के क्षय और क्षयोपशम से उत्पन्न लब्धिविशेष के प्रत्ययरूप और अभिसधि और अनभिसधि पूर्वक आत्मा का जो वीर्य है वह योग है। कहा है—'योग, वीर्य, स्याम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य—ये योग के पर्याय हैं[2]।' वीर्य योग दो प्रकार का है—सकरण और अकरण। अलेश्यी केवली के समस्त ज्ञेय और दृश्य पदार्थों के विषय में केवलज्ञान और केवलदर्शन को जोडनेवाला जो अपरिस्पद रहित, प्रतिघात रहित वीर्य विशेष है वह अकरण वीर्य है। मन योग, वचन योग और काय योग से अकरण योग का अभिप्राय नही है। सकरण वीर्य योग है। जिससे जीव कर्म द्वारा युक्त हो वह योग है। योग वीर्यान्तराय के क्षयोपशम जनित जीव-परिणाम विशेष है। कहा है—'मन, वचन और काय से युक्त जीव का आत्मसम्बन्धी जो वीर्य-परिणाम है उसे जिनेश्वरो ने योग सज्ञा से व्यक्त किया है। अग्नि के योग से जैसे रक्तता घडे का परिणाम होता है वैसे ही जीव के करणप्रयोग में वीर्य भी आत्मा का परिणाम होता है[3]।' मनकरण से युक्त जीव का योग—वीर्य पर्याय, दुर्बल को लकडी के सहारे की तरह,

---

१—३०६ बोल की हुण्डी बोल १५७

२—ठाणाङ्ग ३ १ १२४ टीका

इह वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमसमुत्थलब्धिविशेषप्रत्ययमभिसन्ध्यनभिसन्धिपूर्वमात्मनो वीर्यं योग, आह च—जोगो वीरिय थामो उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा।
सत्ती सामत्थन्ति य जोगस्य हवति पज्जाया॥

३—ठाणाङ्ग ३ १ १२४ टीका

युज्यते जीव कर्मभिर्येन 'कम्म जोगनिमित्तं बज्झइ' त्ति वचनात् युङ्क्ते प्रयुङ्क्ते य पर्याय स योगो—वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितो जीवपरिणामविशेष इति, आह च—

मणसा वयसा काएण वावि जुत्तस्य विरियपरिणामो।
जीवस्स अप्पणिज्जो स जोगसन्नो जिणक्खाओ॥
तेओजोगेण जहा रत्तत्ताई घडस्स परिणामो।
जीवकरणप्पओए विरियमवि तहप्पपरिणामो॥

मनोयोग है। अथवा मन का योग—करना कराना और अनुमतिरूप व्यापार योग है। इसी तरह वाक्योग और काय योग है[1]।"

अभयदेव सूरि ने अन्यत्र लिखा है—'मननं मनः—मनन करना मन है। औदारिक आदि शरीर की प्रवृत्ति द्वारा ग्रहण किये हुए मनोद्रव्य के समुदाय की सहायता से होनेवाला जीव का मनन रूप व्यापार मनोयोग है[2]। भावरूप अनुसर्पण को लेकर यह भाव-मन का कथन है।

'औदारिक वैक्रिय और आहारक शरीर के व्यापार द्वारा ग्रहण किये हुए भाषा द्रव्य के समूह की सहायता से जीव का व्यापार वचनयोग है[3]।

'जिसके द्वारा इकट्ठा किया जाता है उसे काय—शरीर कहते हैं। उसके व्यापार को कायव्यायाम कहते हैं। यह औदारिकादि शरीरयुक्त आत्मा के वीर्य की परिणति विशेष है[4]।

१३—द्रव्य योग अष्टस्पर्शी हैं और कर्म चतुर्स्पर्शी (गा० ११ २०)

जो द्रव्य काययोग आदि को आस्रव मानते हैं उनके अनुसार भी आस्रव कर्म नहीं। द्रव्य काययोग अष्टस्पर्शी है जब कि कर्म चतुर्स्पर्शी है। अतः उनके द्वारा कहा जानेवाला द्रव्य काययोग आस्रव कर्म नहीं हो सकता।

आचार्य जवाहिरलालजी लिखते हैं—'मिथ्यात्व कषाय, प्रमाद और योग को जीवों की मुख्यता को लेकर जीवोदय निष्पन्न कहा है। ये एकान्त जीव हैं इनमें पुद्गलों

१—ठाणाङ्ग ३ । १ । १२४ टीका
मनसा करणेन युक्तस्य जीवस्य योगो—वीर्यपर्यायो दुर्बलस्य यष्टिकाद्रव्यमिवोपष्टम्भकरो मनोयोग इति, मनसो वा योगः—करणकारणानुमतिरूपो व्यापारो मनोयोगः, एवं वाग्योगोऽपि एवं काययोगोऽपि

२—वही १ । १६ की टीका :
'एगे मणे' त्ति —मननं मनः—औदारिकादिशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोग इति भावः

३—वही १ । २० की टीका
'एगा वइ' त्ति वचनं वाक्—औदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योग इति भावः

४—वही १ । २१ टीका
'एगे कायवायामे' त्ति चीयत इति कायः—शरीरं तस्य व्यायामो व्यापारः कायव्यायामः औदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेष इति भावः

का सर्वथा अभाव है यह शास्त्र का तात्पर्य नही है क्योकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। मिट्टी से मिट्टी का ही घडा बनता है—सोने का नही बनता। आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियो का उदय चतु स्पर्शी पौद्गलिक माना गया है इसलिए उससे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ भी चतु स्पर्शी पौद्गलिक ही होगे, एकांत अरूपी और एकांत अपौद्गलिक नही हो सकते। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग आठ प्रकार की कर्म की प्रकृतियो के उदय से उत्पन्न होते हैं। इसलिए अपने कारण के अनुसार ये रूपी और चतु स्पर्शी पौद्गलिक हैं एकांत अरूपी और अपौद्गलिक नही है तथापि जीवांश की मुख्यता को लेकर शास्त्र में इन्हें जीवोदय निष्पन्न कहा है [1]।"

उपर्युक्त उद्धरणमें योग को चतु स्पर्शी कहा गया है पर आचार्य जवाहिरलालजी ने उक्त अधिकार में ही एकाधिक स्थानो में योग को अष्टस्पर्शी स्वीकार किया है—जैसे—"आठ आत्मा में कषाय और योग क्रमश चतु स्पर्शी और अष्टस्पर्शी पुद्गल है · [2]।" "· ससारी आत्मा रूपी भी होता है इसलिए कषाय और योग के क्रमश चतु स्पर्शी और अष्टस्पर्शी रूपी होने पर भी आत्मा होने में कोई सन्देह नही [3]।" "मिथ्यात्व, कषाय और योग को चतु स्पर्शी और काययोग को अष्टस्पर्शी पुद्गल माना जाता है [4]।"

टिप्पणी १२ में टीका के आधार से योग का जो विस्तृत विवेचन दिया गया है उससे स्पष्ट है कि भाव योग ही आस्रव है, द्रव्ययोग नही। भाव योग कदापि रूपी नही हो सकता।

१४—आस्रवों के सावद्य-निरवद्य का प्रश्न (गा० २१-२२) :

इन गाथाओ में २० आस्रवो का सावद्य-निरवद्य की दृष्टि से विवेचन है।

स्वामीजी के मत से १६ आस्रव एकान्त सावद्य हैं। उनसे केवल पाप का आगमन होता है। योग आस्रव, मन प्रवृत्ति आस्रव, वचन प्रवृत्ति आस्रव और काय प्रवृत्ति आस्रव—ये चारो आस्रव सावद्य और निरवद्य दोनो प्रकार के हैं। योग शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के होते हैं, यह पहले बताया जा चुका है। शुभ योग निरवद्य हैं और उनसे पुण्य का सचार होता है। अशुभ योग सावद्य हैं और उनसे पाप का सचार होता है। योग की शुभाशुभता की अपेक्षा से उक्त चारो आस्रव सावद्य-निरवद्य दोनो हैं।

१—सद्धर्ममण्डनम् आश्रवाधिकार बोल १८

२—वही · बोल १५

३—वही : बोल १६

४—वही · बोल ५

१७—स्वाभाविक आस्रव (गा० २३-२५)

स्वामीजी ने इन गाथाओं में २ आस्रवों में स्वाभाविक कितने हैं और कर्म रूप कितने हैं—इसका विवेचन किया है।

मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग का सामान्य रूप यह है कि ये पाँचों ही आस्रव-द्वार हैं। पाँचों ही कर्मों के कर्त्ता—हेतु—उपाय हैं। गृह के प्रवेश-द्वार की तरह आस्रव जीव प्रदेश में कर्मों के आगमन के हेतु हैं—'शुभाशुभकर्मागमद्वार रूप आस्रव'[1]।

'आस्रवन्ति प्रविशन्ति येन कर्माण्यात्मनीत्यास्रवः कर्मबन्धहेतुरिति भावः'[2]—आदि व्याख्याएं—इसी बात को पुष्ट करती हैं।

उपर्युक्त पाँच आस्रवों में मिथ्यात्व अविरति अप्रमाद और कषाय ये स्वभाव रूप हैं—आत्म की स्थिति रूप हैं। ये आत्म की अमुक प्रकार की भाव-परिणति रूप हैं—योग आस्रव इनसे कुछ भिन्न है। वह स्वभाव रूप—स्थिति रूप—परिणति रूप भी होता है और प्रवृत्ति रूप भी। प्रथम चार आस्रव प्रवृत्ति रूप—क्रिया रूप—व्यापार रूप नहीं। व्यापार रूप आस्रव केवल योग है।

बीस आस्रवों में अन्तिम पंद्रह क्रिया रूप हैं—व्यापार रूप हैं। योग आस्रव भी व्यापार रूप है अतः उक्त पंद्रह आस्रवों का समावेश योग आस्रव में होता है। वास्तव में उक्त पंद्रह आस्रव योगास्रव के ही भेद अथवा रूप हैं। क्योंकि हिंसा करना झूठ बोलना यावत् सूची-कुशाग्र का सेवन करना—योग के अतिरिक्त अन्य नहीं।

१८—पापस्थानक और आस्रव (गा० २६-३६)

प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य अठारह पाप भी आस्रव हैं। स्वामीजी ने आस्रव को जीव-परिणाम कहा है। भगवती सूत्र में प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य को रूपी—वर्ण गन्ध रस और स्पर्शयुक्त कहा है[3]। स्वामीजी के सामने प्रश्न आया कि भगवती सूत्र के उक्त उल्लेख से प्राणातिपात आदि अठारहों आस्रव रूपी ठहरते हैं उन्हें अरूपी किस आधार पर कहा जा सकता है। स्वामीजी इसी शंका का समाधान यहाँ करते हैं। उनका कहना है कि भगवती में प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-स्थानक को रूपी कहा है, प्राणातिपातादि अठारह पापों को नहीं। प्राणातिपातादि पाप आस्रव

१—तत्त्वा० ६.२ सर्वार्थसिद्धि
—स्थानाङ्ग १.१३ टीका
३—देखिए टि० ९(१) पृ० ४४२

हैं, प्राणातिपातादि स्थानक आस्रव नही। अत भगवती सूत्र के उक्त उल्लेख से आस्रव रूपी नहीं ठहरता।

प्राणातिपात आदि अठारह ही अलग-अलग पाप है और अठारह ही आस्रव हैं। इनके आधार स्वरूप अठारह पाप-स्थानक हैं। जिस स्थानक का उदय होता है उसी के अनुरूप पाप जीव करता है। ये स्थानक अजीव हैं। चतु स्पर्शी कर्म हैं। रूपी हैं। पर इनके उदय से जीव जो कार्य करता है और जो आस्रव रूप हैं वे अरूपी होते हैं। जिनके उदय से मनुष्य हिंसा आदि पाप-कार्य करता है वे मोहकर्म है—अठारह पाप-स्थानक है और उदय से जो हिंसा आदि कर्तव्य—व्यापार जीव करता है वे योगास्रव हैं। इस तरह पाप-स्थानक और पाप दोनो भिन्न-भिन्न है।

प्राणातिपात—हिंसा आदि पाप जीव करता है। प्राणातिपातादि पाप-स्थानक उसके उदय मे होते है। प्राणातिपातादि-स्थानको के उदय से जीव जो हिंसादि सावद्य कार्य करता है वे जीव-परिणाम हैं। वे ही आस्रव है और अरूपी है। इनसे जीव-प्रदेशो में नये कर्मों का प्रवेश होता है[1]।

भगवती सूत्र में कहा है—"एव खलु पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले वट्टमाणे सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाया[2]।" अर्थात् प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य पर्यन्त में वर्तमान जीव है वही जीवात्मा है। यह कथन भी प्राणातिपात आदि आस्रवो को जीव-परिणाम सिद्ध करता है।

१७—अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान (गा० ३७-४१)

स्वामीजी ने इन गाथाओ में जो कहा है उसका सार इस प्रकार है अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान दो-दो प्रकार के होते हैं—शुभ—अच्छे और अशुभ—मलीन। शुभ अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान पुण्य के द्वार हैं तथा अशुभ अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान पाप के द्वार। शुभ अशुभ दोनो ही अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान—जीव-परिणाम, जीव-भाव, जीव-पर्याय हैं। शुभ परिणामादि सवर निर्जरा के हेतु हैं। उनसे पुण्य का आगमन उमी

१—विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए, पृ० २६१-२६४ टि० २ (१)। इसी विषय पर श्रीमद् जयाचार्य ने जो ढाल लिखी है उसका कुछ अश पृ० २६३ पर उद्धृत है। समूची ढाल परिशिष्ट मे दी जा रही है।

२—भगवती १७ २

प्रकार सहज भाव से होता है जिस प्रकार धान के साथ पुभाल की उत्पत्ति। म्भुन परिणाम भादि एकांत पाप के कर्त्ता हैं[1]।

लेश्या और योग के सम्बन्ध में स्वामीजी ने अन्यत्र लिखा है

अनुयोगद्वार में जीव उदय-निष्पन्न के ३३ बोलों में छः भाव लेश्याओं का उल्लेख है। जो तीन भली लेश्याएँ हैं, वे धर्म लेश्याएँ हैं। निर्जरा की करनी हैं। पुण्य ग्रहण करती हैं उस अपेक्षा से वे उदयभाव कही गयी हैं। जो तीन अधर्म लेश्याएं हैं उनसे एकान्त पाप लगता है। वे प्रत्यक्ष उदयभाव हैं—अप्रशस्त कर्तृत्व की अपेक्षा से।

"उदय के ३३ बोलों में सयोगी भी है। उसमें सावद्य और निरवद्य दोनों योगों का समावेश है। निरवद्य योग निर्जरा की करनी है। उनसे निर्जरा होती है, साथ-साथ पुण्य भी लगता है जिस अपेक्षा से उन्हें उदयभाव कहा है। सावद्य योग पाप का कर्ता है। सावद्य योग प्रत्यक्ष उदयभाव है।

'छही भाव लेश्याएं उदयभाव हैं। तीन भली लेश्या और निरवद्य योग को उदय भाव में तीर्थंकर ने कहा है। निरवद्य योग और निरवद्य लेश्या पुण्य के कर्ता हैं। इसका न्याय इस प्रकार है। अन्तरायकर्म के क्षय होने से नामकर्म के संयोग से क्षायक वीर्य उत्पन्न होता है। वह वीर्य स्थिर प्रदेश है। जो चलते हैं वे योग हैं। मोहकर्म के उदय से नामकर्म के संयोग से चलते हैं वे सावद्य योग हैं पाप के कर्ता हैं। मोहकर्म के उदय बिना नामकर्म के संयोग से जीव के प्रदेश चलते हैं वह निरवद्य योग है। निरवद्य योग निर्जरा की करनी है। पुण्य के कर्त्ता हैं।

'अन्तरायकर्म के क्षय और क्षयोपशम होने से वीर्य उत्पन्न होता है। उस वीर्य का व्यापार भला योग और भली लेश्या है। निर्जरा की करनी है। पुण्य का कर्त्ता है। अनुयोगद्वार में छही भावलेश्याओं को उदयभाव कहा है। सयोगी कहने से भले-बुरे योगों को भी उदयभाव कहा है। भली लेश्या और भले योग पुण्य ग्रहण करते हैं जिससे उन्हें उदयभाव कहा है। भले योग और भली लेश्या से कर्म कटते हैं उस अपेक्षा से उन्हें निर्जरा की करनी कहा गया है। छही लश्याओं को कर्मों का कर्त्ता कहा है। भली लेश्या भली गति का बन्ध करती है। बुरी लेश्या बुरी गति का बन्ध करती है।

१—देखिए पृ० १७५ ; ४४ ४५

"लेश्या और योग में एकत्व-जैसा देखा जाता है। अगर दोनो में अन्तर है तो वह ज्ञानी ग्राह्य है। जहाँ सलेश्यी वहाँ सयोगी, जहाँ सयोगी वहाँ सलेश्यी, जहाँ अयोगी वहाँ अलेश्यी और जहाँ अलेश्यी वहाँ अयोगी देखा जाता है।

"क्षायक क्षयोपशम भाव से करनी करते समय उदयभाव भी सहचर रूप से प्रवर्तन करता है। जिससे पुण्य लगता है। यथातत्थ चलने से ईर्यावही कर्म लगते है। वे भी उदयभाव योग से लगते हैं[1]।"

स्वामीजी ने यहाँ लेश्या आदि के विषय में जो कहा है उसका आगमिक और ग्रन्थान्तर आधार नीचे दिया जाता है।

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! कृष्णलेश्या के कितने वर्ण हैं?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! द्रव्य लेश्या को प्रत्याश्रित कर पाँच वर्ण यावत् आठ स्पर्श कहे गए हैं। भाव लेश्या को प्रत्याश्रित कर उन्हें अवर्ण कहा गया है। यही बात शुक्ल लेश्या तक जाननी चाहिए[2]।"

दस विध जीव-परिणाम में लेश्या-परिणाम भी है[3]। भाव लेश्या जीव-परिणाम है[4]। द्रव्य लेश्या अष्टस्पर्शी पुद्गल है। वह जीव-परिणाम नहीं। जीव उदयनिष्पन्न के ३३ बोलो में छ ही लेश्याओ को गिनाया है[5]। ये भी भाव लेश्याएँ हैं।

छ लेश्याओ में से प्रथम तीन को अधर्म और अवशेष तीन को धर्म लेश्याएँ कहने का आधार उत्तराध्ययन की निम्न गाथा है

> किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
> तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।

एक बार गौतम ने पूछा "भगवन्! छ लेश्याओ में से कौन-कौन सी अविशुद्ध हैं और कौन-कौन-सी विशुद्ध?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! कृष्णलेश्या, नील-लेश्या और कापोतलेश्या—ये तीन लेश्याएँ अविशुद्ध हैं और तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या—ये तीन लेश्याएँ विशुद्ध हैं। हे गौतम! इसी तरह पहली तीन अप्रशस्त हैं और

१—टीकम डोसी की चर्चा

२—भगवती १२ ५ :

कण्हलेसा ण भंते! कइवन्ना—पुच्छा गोयमा! दव्वलेसं पडुच्च पचवन्ना, जाव—अट्ठफासा पण्णत्ता भावलेसं पडुच्च अवन्ना ४, एवं जाव सुक्कलेस्सा।

३—ठाणाङ्ग १० १ ७१३, मूल पाठ के लिए देखिए पृ० ४०५ टि० २४

४—देखिए पृ० ४०६ टि० २५

५—अनुयोगद्वार सू० १२६, मूल पाठ के लिए देखिए पृ० ४०६ टि० २६

बाद की तीन प्रशस्त हैं। पहली तीन संक्लिष्ट हैं और बाद की तीन असंक्लिष्ट। पहली तीन दुर्गति को ले जाने वाली हैं और बाद की तीन सुगति को[1]।

दिगम्बर ग्रन्थों में ये ही छः लेश्याएं मानी गयी हैं जो श्वेताम्बर आगमों में हैं[2]। शुभ-अशुभ का वर्गीकरण भी उसी रूप में है[3]।

लेश्या की परिभाषा दिगम्बर-ग्रन्थों में इस रूप में मिलती है—"जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होइ[4]।" कषाय के उदय से अनुरंजित मन वचन और काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन ने भी यही परिभाषा अपनाई है[5]।

श्री नेमिचन्द्र लिखते हैं जिस से जीव पुण्य-पाप को लगाता है अथवा उन्हें अपना करता है वह (भाव) लेश्या है[6]।

आचार्य पूज्यपाद ने स्पष्टतः लेश्या के दो भेद—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या का उल्लेख किया है और भावलेश्या की वही परिभाषा दी है जो गोम्मटसार में प्राप्त है[7]। गोम्मटसार में कहा है 'वर्णोदय से संपादित शरीरवर्ण द्रव्य लेश्या है। मोह के

१—प्रज्ञापना लेश्यापद १७ ४ ४७

पुव्वं तओ अविसुद्धाओ तओ विसुद्धाओ
तओ अप्पसत्थाओ तओ पसत्थाओ
तओ संकिलिट्ठाओ तओ असंकिलिट्ठाओ
तओ दुग्गतिगामियाओ तओ सुगतिगामियाओ

२—गोम्मटसार जीवकाण्ड ४९३

किण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य।
लेस्साणं णिद्देसा छच्चेव हवंति णियमेण॥

३—वही ४९९ ५

४—गोम्मटसार : जीवकाण्ड ४९

५—पञ्चास्तिकाय २ ११९ टीका :

(क) कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या
(ख) कषायोदयानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या

६—गोम्मटसार जीवकाण्ड ४८९

लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्णं च।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा॥

७—तत्त्वा० २ ६ सर्वार्थसिद्धि :

लेश्या द्विविधा द्रव्यलेश्या भावलेश्या चेति। भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति

उदय, क्षयोपशम, उपशम और क्षय से उत्पन्न जीवस्पन्दन भाव लेश्या है[१] ।"

दिगम्बर आचार्यों ने भी छ लेश्याओ को उदयभाव कहा है[२] । इस सम्बन्ध मे सर्वार्थसिद्धि मे निम्न समाधान मिलता है

"उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगीकेवली गुणस्थान में शुक्ललेश्या हैं । वहाँ पर कषाय का उदय नही फिर लेश्याएँ औदयिक कैसे ठहरती हैं ?"

"जो योगप्रवृत्ति कषाय के उदय से अनुरंजित है वही लेश्या है। इस प्रकार पूर्वभावप्रज्ञापन नय की अपेक्षा से उपशान्तकषाय और गुणस्थानो मे भी लेश्या को औदयिक कहा है। अयोगीकेवली के योगप्रवृत्ति नही होती इसलिए वे लेश्यारहित हैं ऐसा निश्चय होता है[३] ।"

गोम्मटसार मे भी कहा है—"अयोगिस्थानमलेश्यं तु" (जी० का० ५३२)—अयोगी स्थान में लेश्या नही होती। जिन गुणस्थानो मे कषाय नष्ट हो चुकी हैं उनमें लेश्या होने का कथन भूतपूर्वगति न्याय से है। अथवा योगप्रवृत्ति मुख्य होने से वहाँ लेश्या भी कही गयी हैं[४] ।

अध्यवसाय के सम्बन्ध मे निम्न बातें जानने जैसी हैं •

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम सबको एकार्थक कहा है[५] । इनकी व्याख्या क्रमश इस प्रकार है—
बोधन बुद्धि , व्यवसान व्यवसाय., अध्यवसान अध्यवसाय , मनन पर्यालोचन मतिश्च, विज्ञायते अनेनेति विज्ञान, चिंतन चित्त, भवन भाव , परिणमन परिणाम[६] ।

१—गोम्मटसार जीवकाण्ड : ५३६ :

वण्णोदयसपादिदसरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा ।
मोहुदयखओवसमोवसमखयजजीवफदणभावो ॥

२—(क) तत्त्वा० २ ६

(ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड ५५५

भावादो छल्लेस्सा ओदयिया होंति अप्पबहुगं तु ।

३—तत्त्वा० २ ६ सर्वार्थसिद्धि

४—गोम्मटसार जीवकाण्ड ५३३

णट्ठकसाये लेस्सा उच्चदि सा भूदपुव्वगदिणाया ।
अहवा जोगपउत्ती मुक्खोत्ति तहिं हवे लेस्सा ॥

५—समयसार बंध अधिकार २७१

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं ।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥

६—वही २७१ की जयसेनवृत्ति

कुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं— जीव अध्यवसान से पशु, नरक देव मनुष्य इन सभी पर्याय—भावों और अनेकविध पुण्य-पाप को करता है[1] ।"

ध्यान के विषय में कुछ बातें नीचे दी जाती हैं :

वाचक उमास्वाति के अनुसार—एकाग्रत्व से चिन्ता का निरोध करना ध्यान है[2] । इसका भावार्थ है एक विषय में चित्त निरोध । आचार्य पूज्यपाद ने अपनी टीका में लिखा है—"'अग्र' का अर्थ मुख है । जिसका एक अग्र है वह एकाग्र कहलाता है । नाना पदार्थों का अवलम्बन लेने से चिन्ता परिस्पन्दवती होती है । उसे अन्य अशेष मुखों से हटा कर एक अग्र अर्थात् एकमुख करना एकाग्रचिन्तानिरोध कहलाता है । यहाँ प्रश्न उठता है निरोध अभावरूप होने से यथा खर-शृंग की तरह ध्यान असत् नहीं होगा ? इसका समाधान इस प्रकार है—अन्य चिन्ता की निवृत्ति की अपेक्षा वह असत् है और अपने विषय की प्रवृत्ति की अपेक्षा सत् । निश्चल अग्निशिखा के समान निश्चल रूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है[3] ।" चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान है[4] ।

दुःख रूप अथवा पीड़ा पहुँचाने रूप ध्यान को आर्तध्यान कहते हैं[5] । क्रूरता रूप ध्यान रौद्रध्यान है[6] । अहिंसा आदि भावों से युक्त ध्यान धर्मध्यान है[7] । मैल दूर हुए स्वच्छ वस्त्र की तरह शुचिगुण से युक्त ध्यान को शुक्लध्यान कहते हैं[8] ।

१—समयसार : बंध अधिकार २६८

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए ।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥

२—तत्त्वा ९.२७

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्

३—तत्त्वा ९.२७ सर्वार्थसिद्धि

४—वही ९.२१ सर्वार्थसिद्धि

चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्

५—वही ९.२८ सर्वार्थसिद्धि :

ऋतं दुःखम् अर्दनमर्तिर्वा तत्र भवमार्तम् ।

६—वही ९.२८ सर्वार्थसिद्धि :

रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम्

७—वही ९.२८ सर्वार्थसिद्धि :

धर्मादनपेतं धर्म्यम्

८—वही ९.२८ सर्वार्थसिद्धि

शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्

इनमे से प्रथम दो ध्यान अप्रशस्त हैं और अन्तिम दो प्रशस्त[1]। अप्रशस्त पापास्रव के कारण हैं और प्रशस्त कर्मों के निर्दहन करने की सामर्थ्य से युक्त[2]। प्रशस्त मोक्ष के हेतु हैं और अप्रशस्त ससार के[3]।

१८—पुण्य का आगमन सहज कैसे ? (गा० ४२-४५)

गाथा ४१ मे स्वामीजी ने शुभ अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान को सवर और निर्जरा रूप कहा है तथा उनसे पुण्य का आगमन सहज भाव से होता है, ऐसा लिखा है। सवर और निर्जरा की करनी से पुण्य का सहज आगमन कैसे होता है—इसी वात को स्वामीजी ने गा० ४२-४५ मे स्पष्ट किया है। इस विपय में पहले कुछ विवेचन किया जा चुका है[4]। प्रश्न है—यथातथ्य मोक्ष मार्ग की करनी करते हुए पुण्य क्यो लगता है ? इसका उत्तर स्वामीजी ने इस प्रकार दिया है—

"एक मनुष्य को गेहूँ की अत्यन्त चाह है पर पयाल की चाह नही। गेहूँ को उत्पन्न करने के लिए उसने गेहूँ वोये। गेहूँ उत्पन्न हुए साथ में पयाल भी उत्पन्न हुआ। जिस तरह इस मनुष्य को गेहूँ की ही चाह थी, पयाल की नही फिर भी पयाल साथ में उत्पन्न हुआ उसी प्रकार निर्जरा की करनी करते हुए भले योगो की प्रवृत्ति से कर्म क्षय के साथ-साथ पुण्य सहज रूप से उत्पन्न होते हैं। गेहूँ के साथ विना चाह पयाल होता है वैसे ही निर्जरा की करनी के साथ बिना चाह पुण्य होता है।

"धूल लगाने की इच्छा न होने पर भी राजस्थान मे गोचरी जाने पर जैसे साधु के शरीर में धूल लग जाती है वैसे ही निर्जरा की करनी करते हुए पुण्य लग जाता है। निरवद्य योगो की प्रवृत्ति करते समय पुण्य निश्चय रूप से लगता ही है[5]।

"निरवद्य करनी करते समय जीव के प्रदेशो मे हलन-चलन होती है तव कर्म-पुद्गल आत्म-प्रदेशो मे प्रवेश करते हैं। कर्म-पुद्गलो का स्वभाव चिपकने का है। जीव के प्रदेशो

१—तत्त्वा० ९ २८ सर्वार्थसिद्धि

तदेतच्चतुर्विध ध्यान द्वैविध्यमश्नुते। कुत ? प्रशस्ताप्रशस्तभेदात्

२—वही

अप्रशस्तमपुण्यास्रवकारणत्वात्, कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात्प्रशस्तम्

३—तत्त्वा० ९ ३०

४—पृ० १७५ अतिम अनुच्छेद तथा पृ० २०४ टि० ४ (२)

५—टीकम डोसी की चर्चा

का स्वभाव ग्रहण करने का है। उसे मिटाने की शक्ति जीव की नहीं।

'योग प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार के होते हैं। अप्रशस्त योग का संवर और प्रशस्त योगों की उदीर्णा—प्रवृत्ति मोक्ष-मार्ग में विहित है। संवर और उदीर्णा से कर्मों की निर्जरा होती है। संवर और उदीर्णा निर्जरा की करनी है। इस करनी से सहज रूप से पुण्य होता है अत उसे आस्रव में डाला है। निर्जरा की करनी करते समय जीव के सर्व प्रदेशों में हलन चलन होती है। उस समय नामकर्म के उदय से पुण्य का प्रवेश होता है[1]।

११—बासठ योग और सत्रह संयम (गा ४६ ४७)

यहाँ दो बातें कही गयी हैं—

१—औपपातिक सूत्र में ६२ योगों का उल्लेख है। वे सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार के हैं। योग जीव की क्रिया—करनी है। वह जीव-परिणाम है। अत योग आस्रव जीव है।

२—असंयम के सत्रह भेद भी योग हैं।

असंयम के सत्रह भेदों के नाम इस प्रकार हैं[2]

(१) पृथ्वीकाय असंयम पृथ्वीकाय जीव (मिट्टी लोहा तांबा आदि) के प्रति असंयम की वृत्ति। उनकी हिंसा का अत्याग।

(२) अप्काय असंयम जलकाय जीव (ओस कुहासा आदि) की हिंसा का अत्याग अर्थात् उनके प्रति असंयम की वृत्ति।

(३) तेजस्काय असंयम : अग्निकाय जीव (अंगार, दीपशिखा आदि) की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असंयम की वृत्ति।

(४) वायुकाय असंयम : वायुकाय जीव (घन संवर्तक आदि) की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असंयम की वृत्ति।

१—टीकम डोसी मे प्राप्त

२—समवायाङ्ग ४ १७ :

पुढविकायअसंजमे आउकायअसंजमे तेउकायअसंजमे वाउकायअसंजमे वणस्सइकायअसंजमे बेइंदियअसंजमे तेइंदियअसंजमे चउरिंदियअसंजमे पंचिंदियअसंजमे अजीवकायअसंजमे पेहाअसंजमे उवेहाअसंजमे अवहट्टुअसंजमे अप्पमज्जणाअसंजमे मणअसंजमे वइअसंजमे कायअसंजमे।

(५) वनस्पतिकाय असयम · वनस्पतिकाय जीव (वृक्ष, लता, आलू, मूली आदि) की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असयम की वृत्ति ।

(६) द्वीन्द्रिय असयम · दो इन्द्रिय वाले जीव जैसे—सीप, शख आदि की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असयम की वृत्ति ।

(७) त्रीन्द्रिय असयम · तीन इन्द्रिय वाले जीव जैसे—कुन्थु, पिपीलिका आदि की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असयम की वृत्ति ।

(८) चतुरिन्द्रिय असयम चार इन्द्रिय वाले जीव जैसे—मक्षिका, कीट, पतग आदि की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असयम की वृत्ति ।

(९) पचेन्द्रिय असयम . पाँच इन्द्रिय वाले जीव जैसे—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि तिर्यञ्च की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असयम की वृत्ति ।

(१०) अजीवकाय असयम बहुमूल्य अजीव वस्तु जैसे—स्वर्ण, आभूषण, वस्त्र आदि का प्रचुर सग्रह और उनके भोग की वृत्ति ।

(११) प्रेक्षा असयम विना देख-भाल किए सोना, बैठना, चलना आदि अथवा बीज, हरी घास, जीव-जन्तु युक्त जमीन पर सोना, बैठना आदि ।

(१२) उपेक्षा असयम पाप कर्म मे प्रवृत्त को उत्साहित करने की वृत्ति ।

(१३) अपहृत्य असंयम मल, मूत्रादि को असावधानी पूर्वक विसर्जन करने की वृत्ति ।

(१४) अप्रमार्जन असयम स्थान, वस्त्र, पात्र आदि को विना प्रमार्जन काम में लाने की वृत्ति ।

(१५) मन असयम मन में ईर्ष्या, द्वेष आदि भावो के पोषण की वृत्ति ।

(१६) वचन असयम सावद्य वचनो के प्रयोग की वृत्ति।

(१७) काय असयम गमनागमन आदि क्रियाओ में असावधानी ।

असयम का अर्थ है—अविरति । अविरति को भाव शस्त्र कहा गया है[1] । अत वह स्पष्टत आत्म-परिणाम है । अविरति आस्रव है अत वह भी जीव-परिणाम—जीव है ।

१—ठाणाङ्ग १० १ ७४३

सत्थमग्गी विस लोण सिणेहो खारमबिल ।
दुप्पउत्तो मणोवायाकाया भावो त अविरती ॥

२०—चार संज्ञाएँ (गा० ४१)

संज्ञा—ज्ञान का असातावेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से पैदा होने वाले विकार से युक्त होना संज्ञा है[1]। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"आहारादि विषयों की अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं[2]। संज्ञाएँ चार हैं[3]:

(१) आहारसंज्ञा : आहार ग्रहण की अभिलाषा को आहारसंज्ञा कहते हैं।

(२) भयसंज्ञा : भय मोहनीयकर्म के उदय से होनेवाला त्रासरूप परिणाम भयसंज्ञा है[4]।

(३) मैथुनसंज्ञा : वेद मोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाली मैथुन अभिलाषा मैथुन संज्ञा है[5]।

(४) परिग्रहसंज्ञा : चारित्र मोहनीय के उदय से उत्पन्न परिग्रह अभिलाषा को परिग्रह संज्ञा कहते हैं[6]।

जीव संज्ञाओं से कर्मों को आत्म प्रदेशों में खींचता है। इस तरह कर्म की हेतु संज्ञाएँ आस्रव हैं। संज्ञाएँ जीव-परिणाम हैं। अतः आस्रव जीव-परिणाम है—जीव है।

आस्रव रूप संज्ञाओं को भगवान ने अवर्ण कहा है[7]। अतः अन्य आस्रव भी अवर्ण—अरूपी ठहरते हैं।

भगवती सूत्र में दस संज्ञाएँ कही गयी हैं[8]। एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! संज्ञाएँ कितनी हैं?" भगवान महावीर ने उत्तर दिया—"संज्ञाएँ दस हैं—(१) आहार

१—ठाणाङ्ग ४.४.३५६ टीका

संज्ञा—चेतना तत्रासातवेदनीयमोहनीयकर्मोदयजन्यविकारयुक्ताऽऽहारसंज्ञादित्वेन व्यपदिश्यते

२—तत्त्वा० २.२४ सर्वार्थसिद्धि

३—देखिए पृ० ४१ टि० १

४—ठाणाङ्ग ४.४.३५६ टीका :

भयसंज्ञा—भयमोहनीयसम्पाद्यो जीवपरिणामो

५—वही

मैथुनसंज्ञा—वेदोदयजनितो मैथुनाभिलाषः

६—वही :

परिग्रहसंज्ञा—चारित्रमोहोदयजनितः परिग्रहाभिलाषः

७—देखिए पृ० ४१ टि० ११

८—भगवती ७.८

(२) भय, (३) मैथुन, (४) परिग्रह, (५) क्रोध, (६) मान, (७) माया, (८) लोभ, (९) लोक[1] और (१०) ओघ[2] ।"

ये सभी जीव-परिणाम हैं ।

कहा है—"चार सज्ञा, तीन लेश्या, इन्द्रियवशता, आर्तरौद्र-ध्यान और दुष्प्रयुक्त ज्ञान और दर्शनचारित्रमोहनीय कर्म के समस्त भाव पापास्रव के कारण हैं[3] ।"

२१—उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम (गा० ५०-५१)

गोशालक सर्वभाव नियत मानता था । उसकी धर्म-प्रज्ञप्ति में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम का स्थान नही था । भगवान महावीर की धर्म विज्ञप्ति थी—उत्थान है, कर्म है, बल है, वीर्य है, पुरुषकार-पराक्रम है, सर्वभाव नियत नही है[4] ।

उत्थान, बल, वीर्य आदि के व्यापार सावद्य और निरवद्य दोनो प्रकार के होते हैं ।

सावद्य उत्थान, बल, वीर्य आदि से जीव के पाप-कर्मों का सचार होता है और निरवद्य उत्थान, वल, वीर्य आदि से पुण्य-कर्म लगते हैं । इस तरह उत्थान, वल, वीर्य आदि के व्यापार आस्रव हैं ।

एक वार गौतम ने पूछा—"भगवन् ! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम, कितने वर्ण, गध, रस और स्पर्श वाले हैं ?"

१—भगवती ७ ८ टीका :

एव शब्दार्थगोचरा विशेषावबोधक्रियैव सज्ञायतेऽनयेति लोकसज्ञा

२—भगवती ७ ८ टीका

मतिज्ञानावरणक्षयोपशमाच्छब्दाद्यर्थगोचरा सामान्यावबोधक्रियैव सज्ञायते वस्त्वनयेत्योघसज्ञा

३—पञ्चास्तिकाय २ १४०

सण्णाओ य तिलेस्सा इदियवसदा य अत्तरुद्दाणि ।
णाण च दुप्पउत्त मोहो पावप्पदा होंति ॥

४—उपासकदशा ६

गोसालस्स मङ्खलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, नत्थि उट्ठाणे इ वा कम्मे इ वा बले इ वा वीरिए इ वा पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा, मगुली ण समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे इ वा, कम्मे इ वा, बले इ वा, वीरिए इ वा पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा, अणियया सव्वभावा ।

२७—चार संज्ञाएँ (गा० ४१)

चेतना—ज्ञान का असातावेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से पैदा होने वाले विकार से युक्त होना संज्ञा है[१]। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"आहारादि विषयों की अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं[२]। संज्ञाएँ चार हैं[३]

(१) आहारसंज्ञा : आहार-ग्रहण की अभिलाषा को आहारसंज्ञा कहते हैं।

(२) भयसंज्ञा : भय मोहनीयकर्म के उदय से होनेवाला त्रासरूप परिणाम भयसंज्ञा है[४]।

(३) मैथुनसंज्ञा : वेद मोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाली मैथुन अभिलाषा मैथुन संज्ञा है[५]।

(४) परिग्रहसंज्ञा : चारित्र मोहनीय के उदय से उत्पन्न परिग्रह अभिलाषा को परिग्रह संज्ञा कहते हैं[६]।

जीव संज्ञाओं से कर्मों को आत्म प्रदेशों में खींचता है। इस तरह कर्म की हेतु संज्ञाएँ आस्रव हैं। संज्ञाएँ जीव-परिणाम हैं। अतः आस्रव जीव-परिणाम है—जीव है।

आस्रव रूप संज्ञाओं को भगवान ने अवर्ण कहा है[७]। अतः आस्रव भी अवर्ण—अरूपी ठहरते हैं।

भगवती सूत्र में दस संज्ञाएँ कही गयी हैं[८]। एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! संज्ञाएँ कितनी हैं? भगवान महावीर ने उत्तर दिया—"संज्ञाएँ दस हैं—(१) आहार,

---

१—ठाणाङ्ग ४.४.३५६ टीका :
संज्ञा—चेतनं संज्ञा असातवेदनीयमोहनीयकर्मोदयजन्यविकारयुक्तमाहारसंज्ञादित्वम् अभिधीयते

२—तत्त्वा० २.२४ सर्वार्थसिद्धि

३—देखिए पृ० ४१ टि० १०

४—ठाणाङ्ग ४.४.३५६ टीका :
भयसंज्ञा—भयमोहनीयसम्पाद्यो जीवपरिणामो

५—वही
मैथुनसंज्ञा—वेदोदयजनितो मैथुनाभिलाषः

६—वही
परिग्रहसंज्ञा—चारित्रमोहोदयजनितः परिग्रहाभिलाषः

७—देखिए पृ० ४१ टि० ११

८—भगवती ७.८

वे जीवन भर सर्व प्रकार के प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य (अठारहो पापों) से निवृत्त नही होते। वे जीवन भर सर्व प्रकार के स्नान, मर्दन, वर्णक, विलेपन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, माल्य, अलङ्कारो को नही छोडते। वे जीवन भर सर्व प्रकार के यान-वाहन, सर्व प्रकार के शय्या, आसन, भोग और भोजन के विस्तार, सर्व प्रकार के क्रय-विक्रय तथा मासा, आधा-मासा आदि व्यवहार, सर्व प्रकार के सोना, चांदी आदि के सञ्चय तथा झूठे तोल और झूठ मापो से जीवन भर निवृत्त नही होते। वे सर्व प्रकार के आरम्भ और समारम्भो से, सर्व प्रकार के सावद्य व्यापारो के करने और कराने से, सर्व प्रकार के पचन और पाचन से जीवन भर निवृत्त नही होते। वे जीवन भर प्राणियो को कूटने, पीटने, धमकाने, मारने, वध करने और बांधने तथा नाना प्रकार से उन्हें क्लेश देने से तथा इसी प्रकार के अन्य सावद्य, बोधबीज का नाश करने वाले और प्राणियो को परिताप देनेवाले कर्मों से, जो अनार्यों द्वारा किये जाते हैं, निवृत्त नही होते। वे अत्यत क्रूर दण्ड देने वाले होते हैं। वे दु ख, शोक, पश्चाताप, पीडा, ताप, वध, बंधन आदि क्लेशो से कभी निवृत्त नही होते। ऐसे मनुष्य गृहस्थ होते हैं। वे अविरत कहलाते हैं। यह अधर्म पक्ष है।

(ख) दूसरे प्रकार के मनुष्य अनारभी और अपरिग्रही होते हैं। वे धर्मी, धर्मानुग, धर्मिष्ठ यावत् धर्म से ही आजीविका करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। वे सुशील, सुव्रती, सुप्रत्यानन्द और सुसाधु होते हैं। वे जीवन भर सर्व प्रकार के प्राणातिपात यावत् सर्व सावद्य कार्यों से निवृत्त होते हैं। वे अनगार होते हैं। ऐसे मनुष्य विरत कहलाते हैं। यह धर्म पक्ष है।

(ग) तीसरे प्रकार के मनुष्य अल्पेच्छा, अल्पारम्भ और अल्प-परिग्रह वाले होवे हैं। वे धार्मिक यावत् धर्म से ही आजीविका करने वाले होते हैं। वे सुशील, सुव्रती, सुप्रत्यानन्द और साधु होते हैं। वे एक प्रकार के प्राणातिपात से यावज्जीवन के लिए विरत होते हैं और एक प्रकार के प्राणातिपात से विरत नही होते। इसी तरह यावत् अन्य सावद्य कार्यों में से कई से निवृत्त होते हैं और कई से निवृत्त नही होते। ये श्रमणोपासक हैं। ऐसे मनुष्य विरताविरत कहलाते हैं। यह मिश्र पक्ष है।

इनमें से प्रथम स्थान जो सभी पापो से अविरति रूप है आरम्भस्थान है। वह अनार्य यावत् सर्व दु.ख का नाश न करनेवाला एकान्त मिथ्या और असाधु है।

दूसरा स्थान जो सर्व पापो से विरति रूप है वह अनारम्भस्थान है। वह आर्य यावत् सर्व दु ख के नाश का मार्ग है। वह एकान्त सम्यक् और उत्तम है।

भगवान महावीर ने उत्तर दिया—"गौतम! वे अधर्म अगत्व अरत और असत्व वाले हैं[१]।

इस वार्तालाप में उत्थान कर्म आदि को स्पष्ट अरूपी कहा है। उत्थान कर्म आदि का व्यापार योग आस्रव है। इस तरह योग आस्रव रूपी ठहरता है।

२२—संयती, असंयती संयतासंयती आदि भिक्षु (गा० ५२-५५)

आगमों में भिन्न भिक्षु अनेक स्थल और प्रसंगों में मिलते हैं

(१) विरत अविरत और विरताविरत।

(२) प्रत्याख्यानी अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी।

(३) संयती असंयती और संयतासंयती।

(४) पण्डित बाल और बालपण्डित।

(५) जाग्रत सुप्त और सुप्तजाग्रत।

(६) संवृत्त असंवृत्त और संवृत्तासंवृत्त।

(७) धर्मी अधर्मी और धर्माधर्मी।

(८) धर्मस्थित अधर्मस्थित और धर्माधर्मस्थित।

(९) धर्मव्यवसायी अधर्मव्यवसायी और धर्माधर्मव्यवसायी।

नीचे इन में से प्रत्येक पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

(१) विरति अविरत और विरताविरत :

भगवान महावीर ने तीन तरह के मनुष्य बतलाये हैं

(क) एक प्रकार के मनुष्य महा इच्छा महा आरम्भ और महा परिग्रह वाले होते हैं। वे अधार्मिक अधर्मानुग अधर्मिष्ठ, अधर्म की ही चर्चा करने वाले अधर्म को ही देखने वाले और अधर्म में ही आसक्त होते हैं। वे अधर्ममय स्वभाव और आचरणवाले और अधर्म से ही आजीविका करने वाले होते हैं।

वे हमेशा कहते रहते हैं—मारो काटो और भेदन करो। उनके हाथ लोहू से रंगे रहते हैं। वे चण्ड रुद्र और क्षुद्र होते हैं। वे पाप में साहसिक होते हैं। वञ्चन माया कूट कपट में लगे रहते हैं तथा दुःशील दुव्रत और असाधु होते हैं।

१—भगवती : १३.४

कह भंते! १ उट्ठाणे २ कम्मे ३ बले, ४ वीरीए, ५ पुरिसक्कारपरक्कमे—एस ण कतिवण्णे? तं चेव जाव—अफासे पन्नत्ते।

तीसरा त्याग जो कुछ पापों से निवृत्त और कुछ पापों से अनिवृत्त रूप है वह आरंभ-अनारम्भ-त्याग है। वह (विरति की अपेक्षा) मार्ग यावत् सब दुःख के नाश का मार्ग है और एकांत सम्यक् और उत्तम है[1]।

(२) प्रत्याख्यानी अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी :

एक बार गौतम ने पूछा— "भगवन् ! जीव प्रत्याख्यानी होते हैं, अप्रत्याख्यानी होते हैं अथवा प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी होते हैं ?" भगवान ने उत्तर दिया— "गौतम ! जीव प्रत्याख्यानी भी होते हैं अप्रत्याख्यानी भी होते हैं और प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी भी[2]।"

जो प्रथम पद में बताए हुए पापों का यावज्जीवन के लिए तीन करण और तीन योग से त्याग करता है वह प्रत्याख्यानी कहलाता है। जो उनका त्याग नहीं करता वह अप्रत्याख्यानी कहलाता है। जो कुछ का त्याग करता है और कुछ का नहीं करता वह प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी कहलाता है[3]।

(३) संयती असंयती और संयतासंयती :

एक बार गौतम ने पूछा— "भगवन् ! जीव संयत होते हैं, असंयत होते हैं अथवा संयतासंयत होते हैं ?" भगवान ने उत्तर दिया— "जीव संयत होते हैं असंयत होते हैं और संयतासंयत भी होते हैं[4]।"

जो विरत हैं वे संयत हैं, जो अविरत हैं वे असंयत हैं और जो विरताविरत हैं वे संयतासंयत हैं।

१—ठाणाई ३.१

२—भगवती ७.२ :

जीवा णं भंते ! किं पच्चक्खाणी अपच्चक्खाणी, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी ?
गोयमा ! जीवा पच्चक्खाणी वि तिण्णि वि

३—भगवती ७

४—(क) भगवती ७ :

जीवा णं भंते ! संजया असंजया संजयासंजया ? गोयमा ! जीवा संजया वि असंजया वि संजयासंजया वि

(ख) प्रज्ञापना : [illegible] १०४

(४) पण्डित, बाल और बालपण्डित

एक वार महावीर ने गौतम को प्रश्न के उत्तर में कहा था—"गौतम ! जीव बाल भी होते हैं, पण्डित भी होते हैं और वालपण्डित भी[1] ।"

जो सावद्य कार्यों से विरत होते हैं उन्हें पण्डित कहते हैं, जो उनसे अविरत होते हैं उन्हें वाल और जो देशत विरत और देशत अविरत होते हैं उन्हे वालपण्डित कहते हैं[2] ।

एक वार गौतम ने भगवान महावीर से कहा—"अन्ययूथिक ऐसा कहते यावत् प्ररूपणा करते हैं कि (महावीर के मत से) श्रमण पण्डित हैं, श्रमणोपासक वालपण्डित हैं और जिस जीव को एक भी जीव के वध की अविरति है वह एकान्त वाल नही कहा जा सकता । भगवन् ! ऐसा किस प्रकार से है ?"

भगवान बोले—"गौतम ! जो ऐसा कहते है वे मिथ्या कहते है । गौतम ! मैं तो ऐसा कहता यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि श्रमण पण्डित है, श्रमणोपासक वालपण्डित हैं और जिसने एक भी प्राणी के प्रति दण्ड का त्याग किया है वह एकांत वाल नही है[3] ।"

(५) जाग्रत, सुप्त और सुप्तजाग्रत

जो उक्त पहले स्थान में होता है उसे सुप्त कहते है । जो दूसरे स्थान मे होता है उसे जाग्रत कहते है । जो मिश्र स्थान में होता है उसे सुप्त-जाग्रत कहते है ।

इस विषय में भगवान महावीर और जयती का निम्न सवाद वडा रसप्रद है

"हे भगवन् ! जीवो का सुप्त रहना अच्छा या जाग्रत रहना ?"

"हे जयन्ती ! कई जीवो का सुप्त रहना अच्छा और कई जीवो का जाग्रत रहना । जो जीव अधार्मिक, अधर्मप्रिय आदि हैं उनका सुप्त रहना ही अच्छा है । वे सोते रहते है तो प्राणियो को दु ख, शोक और परिताप के कारण नही होते। अपने और दूसरे को अधार्मिक योजनाओ में सयोजित करने वाले नही होते । हे जयन्ती ! जो जीव धार्मिक, धर्माचरण करने वाले आदि हैं उनका जाग्रत रहना अच्छा है। उनका जगना अदु ख और

१—(क) भगवती १७ २

(ख) वही १ ८

२—(क) सुयागड २ २ अविरइ पडुच्च बाले आहिज्जइ विरइं पडुच्च पढिए आहिज्जइ विरयाविरइ पडुच्च बालपंढिए आहिज्जइ

(ख) भगवती १ ८

३—भगवती १७ २

अहं पुण गोयमा ! एव आइक्खामि, जाव—परूवेमि—एव खलु समणा पडिया, समणोवासगा बालपंडिया, जस्स ण एगपाणाए वि दंडे निक्खित्ते से ण नो एगंतबाले त्ति वत्तव्वं सिया ।

अपरिताप के लिए होता है। वे अपने और दूसरे को धार्मिक संयोजनों में जोड़ने वाले होते हैं[१]।

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि जो भाव से जाग्रत हैं उनका जागना अच्छा है और जो भाव से सुप्त हैं उनका सोना अच्छा। जो भाव से सुप्त-जाग्रत हैं उनका भाव जागृति की अपेक्षा जागना अच्छा और भाव सुप्ति की अपेक्षा सोना अच्छा।

(६) संवृत, असंवृत और संवृतासंवृत :

जो सर्व विरत होता है उसे संवृत कहते हैं। जो अविरत होता है उसे असंवृत कहते हैं। जो विरताविरत होता है वह संवृतासंवृत है।

(७) धर्मी, अधर्मी और धर्माधर्मी :

जो विरत होते हैं वे धर्मी हैं जो अविरत होते हैं वे अधर्मी और जो विरताविरत होते हैं वे धर्माधर्मी।

जयन्ती ने पूछा—"जीवों का दक्ष—उद्यमी होना अच्छा या निरुद्यमी—आलसी होना अच्छा ?" भगवान ने उत्तर दिया—"धार्मिक जीवों का उद्यमी होना अच्छा क्योंकि वे यथापूरण में आत्मा को नियोजित करते हैं। अधार्मिक जीवों का निरुद्यमी होना अच्छा क्योंकि वे अनेक जीवों के कष्ट के कारण होंगे[२]।"

जयन्ती ने पुनः पूछा—"भगवन् ! सबलता अच्छी या दुर्बलता ?" भगवान ने उत्तर दिया—"जयन्ती अधर्मी जीवों की दुर्बलता अच्छी क्योंकि ऐसे जीव दुर्बल हों तो वे जीवों के लिए दुःखादि के कारण नहीं होते। और धर्मी जीवों की सबलता अच्छी क्योंकि वे जीवों के अदुःख आदि के लिए होते हैं और वे जीवों को धार्मिक संयोजनों में संयोजित करते रहते हैं।"

(८) धर्मस्थित अधर्मस्थित और धर्माधर्मस्थित :

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन् ! क्या जीव धर्मस्थित होते हैं, अधर्मस्थित होते हैं अथवा धर्माधर्मस्थित होते हैं ?" भगवान महावीर ने उत्तर दिया—"गौतम ! जीव धर्मस्थित भी होते हैं अधर्मस्थित भी होते हैं और धर्माधर्मस्थित भी[३]।"

१—भगवती १२

२—भगवती १२

३—भगवती १७ :

जीवा णं भंते ! किं धम्मे ठिया अधम्मे ठिया धम्माधम्मे ठिया ? गोयमा ! जीवा धम्मे वि ठिया अधम्मे वि ठिया धम्माधम्मे वि ठिया।

जो सयत, विरत और प्रतिहतप्रत्याख्यातकर्मा हैं वे धर्म मे स्थित है। वे धर्म को ही ग्रहण कर रहते हैं। जो असयत, अविरत और अप्रतिहतप्रत्याख्यातकर्मा हैं वे अधर्म में स्थित हैं। वे अधर्म को ही ग्रहण कर रहते हैं। जो सयतासयत हैं वे धर्माधर्म मे स्थित हैं। वे धर्म और अधर्म दोनो को ग्रहण कर रहते हैं[१]।

(९) धर्मव्यवसायी, अधर्मव्यवसायी और धर्माधर्मव्यवसायी :

ठाणाङ्ग में कहा है—व्यवसाय तीन कहे हैं—(१) धर्मव्यवसाय, (२) अधर्म-व्यवसाय और (३) धर्माधर्मव्यवसाय[२]। इनके आधार से तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं—(१) धर्मव्यवसायी (२) अधर्मव्यवसायी और (३) धर्माधर्मव्यवसायी।

स्वामीजी के अनुसार उक्त नौ त्रिको का सार यह है कि सयम और विरति सवर हैं और असयम और अविरति आस्रव। सयम और विरति प्रशस्त हैं और असयम और अविरति अप्रशस्त।

स्वामीजी का यह कथन सूत्रो के अनेक स्थलो से प्रमाणित है

(१) भगवती सूत्र में कहा है—हिंसादि अठारह पापो से जीव शीघ्र भारी होता है। उन पापो से विरत होने से जीव शीघ्र हल्कापन प्राप्त करता है। हिंसादि अठारह पापो से विरत न होनेवाले का ससार बढता—दीर्घ होता है। ऐसा जीव ससार मे भ्रमण करता है। उनसे निवृत्त होने वाले का ससार घटता—सक्षिप्त होता है और ऐसा जीव ससार-समुद्र को उल्लघ जाता है[३]।

(२) नि शील, निर्गुण, निर्मर्याद, निष्प्रत्याख्यानी मनुष्य काल समय काल प्राप्त हो प्राय नरक, तिर्यञ्च मे उत्पन्न होगे[४]।

(३) एकांत बाल मनुष्य नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चारो की आयुष्य बांध सकता है। एकान्त पण्डित मनुष्य कदाचित् आयुष्य बांधता है और कदाचित् नही बांधता। जब बांधता है तब देवायुष्य बांधता है। बालपण्डित देवायुष्य का बध करता है[५]।

(४) सर्व प्राणी, सर्व भूत, सर्व जीव, सर्व सत्त्वो के प्रति त्रिविधि-त्रिविध से असयत, अविरत और अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा—सक्रिय, असवृत्त, एकान्त दण्ड देनेवाला और

१—भगवती १७ २ :

हृता गोयमा ! सजय-विरय० जाव—धम्माधम्मे ठिए

२—ठाणाङ्ग ३ ३ १८५

तिविहे ववसाए पं० त० धम्मिते ववसाते अधम्मिए ववसाते धम्माधम्मिए ववसाते

३—भगवती १२ २

४—वही ७ ६

५—वही १ ८

एकान्त बाल होता है। सर्व प्राणी सर्व भूत आदि के प्रति त्रिविध-त्रिविध से संयत विरत और प्रत्याख्यातपापकर्मा—अक्रिय, संवृत और एकांत पण्डित होता है[१]।

(५) संसारसमापन्नक जीव दो प्रकार के कहे गये हैं—(१) संयत और (२) असंयत।

संयत जीव दो प्रकार के हैं (१) प्रमत्त संयत और (२) अप्रमत्त संयत।

अप्रमत्त संयत आत्मारंभी नहीं परारंभी नहीं तदुभयारंभी नहीं पर अनारम्भी है।

प्रमत्त संयत शुभयोग की अपेक्षा से आत्मारंभी नहीं परारंभी नहीं तदुभयारंभी नहीं पर अनारंभी है। अशुभयोग की अपेक्षा से वे आत्मारंभी भी है, परारंभी भी है, तदुभयारंभी भी है, पर अनारंभी नहीं।

असंयत अविरति की अपेक्षा से आत्मारंभी भी हैं, परारंभी भी है, तदुभयारंभी भी हैं, पर अनारम्भी नहीं[२]।

(६) असंवृत्त अनगार, सिद्ध बुद्ध मुक्त और परिनिर्वाित नहीं होता तथा सर्व दुःखों का अन्त नहीं करता। संवृत्त अनगार सिद्ध बुद्ध मुक्त और परिनिर्वात होता है तथा सर्व दुःखों का अन्त करता है[३]।

(७) असंयत अविरत, अप्रतिहतपापकर्मा, सक्रिय असंवृत्त एकान्तदण्डी एकांत बाल और एकान्त सुप्त जीव पापकर्मों का उपार्जन करता है[४]।

स्वामीजी कहते हैं कि संयत विरत प्रत्याख्यानी पण्डित जाग्रत संवृत्त धर्मी धर्म स्थित और धर्मव्यवसायी के संयम विरति और प्रत्याख्यान संवर हैं। असंयत अविरत अप्रत्याख्यानी आदि के असंयम अविरति और अप्रत्याख्यान आस्रव हैं। संयतासंयत विरताविरत और प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी के संयम और असंयम विरति और अविरति तथा प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान क्रमशः संवर और आस्रव हैं।

इस तरह संवर और आस्रव दोनों जीव के ही सिद्ध होते हैं। वे जीव-परिणाम हैं। जो संवर को जीव मानते हुए भी आस्रव को अजीव कहते हैं उनको मिथ्या अभिनिवेश

१—(क) भगवती ७.२
(ख) वही ८.७
२—वही १.१
३—वही १.१
४—औपपातिक सू. ३४

है। सयत, विरत, आदि के सयम, विरति आदि सवर रूप होने से जीव-परिणाम हैं तो फिर असयत, अविरत आदि के असयम, अविरति आदि आस्रव रूप होने से जीव-परिणाम क्यो नही होंगे ?

अनुयोगद्वार में चार प्रकार के सयोग बतलाए गए हैं :

(१) द्रव्यसयोग—छत्र के सयोग से छत्री, दण्ड के सयोग से दण्डी, गाय के सयोग से गोपाल, पशु के सयोग से पशुपति हल के सयोग से हली, नाव के सयोग से नाविक आदि द्रव्यसयोग है।

(२) क्षेत्रसयोग—भारत के सयोग से भारती, मगध के सयोग से मागधी आदि।

(३) कालसयोग—जैसे वर्षा के सयोग से बरसाती, वसन्त के सयोग से वासन्ती आदि।

(४) भावसयोग—यह सयोग दो प्रकार का कहा गया है। प्रशस्त और अप्रशस्त।

ज्ञान के सयोग से ज्ञानी, दर्शन के सयोग से दर्शनी, चरित्र के सयोग से चारित्री आदि प्रशस्त भाव सयोग है।

क्रोध के सयोग से क्रोधी, मान के सयोग से मानी, माया के सयोग से मायावी और लोभ के सयोग से लोभी—ये अप्रशस्त भाव सयोग हैं।

भावसयोग से सम्बन्धित पाठ इस प्रकार है

से किं ते सजोगेण, सजोगेण चउव्विहे पण्णत्ते, त जहा—दव्व सजोगे, खेत्त सजोगे, काल संजोगे, भाव सजोगे

से किं त भाव सजोगे? भाव सजोगे दुविहे पण्णत्ते, त जहा पसत्थेय अपसत्थेय। से किं तं पसत्थे ? पसत्थे णाणेण णाणी, दसणेण दसणी, चरित्तेण चरित्ती से त पसत्थे। से किं त अपसत्थे ? अपसत्थे कोहेण कोही, माणेण माणी, मायाए मायी, लोभेण लोभी से त अपसत्थे, से त भाव सजोगे, से त संजोगेण

उपरोक्त प्रसग से यह स्पष्ट है कि ज्ञानी, दर्शनी, चारित्री, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी आदि ज्ञान, दर्शन यावत् लोभ आदि भावो के सयोग से होते हैं। ये ज्ञानादिक भाव जीव के ही हैं जिससे वह ज्ञानी आदि कहलाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ भी यहाँ जीव के भाव कहे गये हैं। ये कषाय आस्रव के भेद हैं।

इसी तरह असयम, अविरति, अप्रत्याख्यान आदि अप्रशस्त भाव जीव के ही हैं

जिससे वह असंयत अविरत अप्रत्याख्यानी आदि कहलाता है। जैसे क्रोधादि भाव कषाय आस्रव हैं वैसे ही असंयम, अविरति अप्रत्याख्यान आदि भाव अविरति आस्रव हैं।

अनुयोगद्वार में कहा है—भावलाभ दो प्रकार का है—(१) आगम भावलाभ और (२) नो-आगम भावलाभ। उपयोगपूर्वक सूत्र पढ़ना आगम भावलाभ है। नो-आगम भावलाभ दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रशस्त भावलाभ तीन प्रकार का है—ज्ञानलाभ दर्शनलाभ और चारित्रलाभ। अप्रशस्त लाभ चार प्रकार का है—क्रोधलाभ मानलाभ मायालाभ और लोभलाभ। मूल पाठ इस प्रकार है—

से किं तं भावाए दुविहे पण्णत्ते तं जहा—आगमओय नो आगमओय। से किं तं आगमओ भावाए? आगमओ भावाए जाणए, उवउत्ते से तं आगमओ भावाए। से किं तं नो आगमओ भावाए? नो आगमओ भावाए दुविहे पण्णत्ते तं जहा पसत्थे अप्पसत्थे। से किं तं पसत्थे? पसत्थे तिविहे पण्णत्ते तं जहा णाणाए, दंसणाए, चरित्ताए, से तं पसत्थे। से किं तं अप्पसत्थे? अप्पसत्थे चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए से तं अप्पसत्थे। से तं नो आगमओ भावाए, से तं भावाए, से तं आए।

यहाँ ज्ञान दर्शन और चारित्र को प्रशस्त भाव में और क्रोध मान, माया और लोभ को अप्रशस्त भाव में समाविष्ट किया है। इससे फलित है कि क्रोध आदि चारों भाव भाव-कषाय हैं। भाव कषाय कषाय आस्रव है। अतः कषाय आस्रव जीव परिणाम सिद्ध होता है।

इसी तरह अविरति असंयम आदि भी जीव के अप्रशस्त भाव हैं। जीव के ये भाव अविरति आस्रव हैं। इस तरह अविरत आस्रव जीव-परिणाम है।

२३—किस किस तत्त्व की घट बढ़ होती है[1] (गा० ५६ ५८)

आगम में कहा है: "जो आस्रव हैं—कर्म प्रवेश के द्वार हैं वे ही अनुन्मुख अवस्था में परिस्रव हैं—कर्म प्रवेश को रोकने के हेतु हैं। जो परिस्रव हैं—कर्म प्रवेश को रोकने के उपाय हैं वे ही (उन्मुख अवस्था में) आस्रव हैं—कर्म प्रवेश के द्वार हैं। जो अनास्रव हैं—कर्म प्रवेश के कारण नहीं वे भी (अपनाये बिना) संवर—कर्म प्रवेश के रोकने वाले नहीं होते। जो आस्रव कर्म प्रवेश के कारण हैं—वे ही (रोकने पर) अनास्रव—संवर होते हैं[1]।

१—आचाराङ्ग १।४।२

जे आसवा ते परिस्सवा

जे परिस्सवा ते आसवा

जे अणासवा ते अपरिस्सवा

जे अपरिस्सवा ते अणासवा

जैसे मकान के प्रवेश-द्वार को ढक देने पर वही अप्रवेश-द्वार हो जाता है वैसे ही आस्रव को रोक देने पर संवर होता है। जैसे मकान के वद द्वार को खोल देने पर अप्रवेश-द्वार ही प्रवेश-द्वार हो जाता है वैसे ही सवर को खोल देने पर वह आस्रव-द्वार हो जाता है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—इन आस्रवो का जैसे-जैसे निरोध होता है सवर वढता जाता है। सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग जैसे-जैसे घटते हैं—आस्रव वढता जाता है।

स्वामीजी कहते हैं आस्रव जीव पर्याय है या अजीव पर्याय इसका निर्णय करने के लिए यह घट-वढ किस वस्तु की होती है यह विचारना चाहिए। अविरति उदयभाव है। इसके निरोध से विरति सवर होता है, जो क्षयोपशम भाव है। इस तरह आस्रव और सवर में जो घट-वढ होती है वह घट-वढ जीव के भावो की होती है। जिस प्रकार सवर भाव-जीव है उसी प्रकार आस्रव भी भाव-जीव है।

सावद्य योग घटने से निरवद्य योग वढते हैं। स्वभाव का प्रमाद घटने से अप्रमाद सवर निरवद्य गुण वढता है। कपाय आस्रव घटने से अकषाय सवर निरवद्य गुण बढता है। अविरति घटने से विरति वढ़ती है। मिथ्यात्व घटने से सवर वढता है। ऐसी परि-स्थिति में सवर को जीव-पर्याय मानना और आस्रव को अजीव-पर्याय मानना परस्पर सगत नही[1]। यदि सवर जीव और अरूपी है तो उसका प्रतिपक्षी आस्रव भी जीव और अरूपी है।

असयम के सत्रह प्रकारो का वर्णन पहले किया जा चुका है। वे अविरति आस्रव हैं। इन्ही के प्रतिपक्षी सत्रह प्रकार के सयम हैं। इन्हें भगवान ने सवर कहा है। सवर जीव-लक्षण—परिणाम हैं वैसे ही आस्रव जीव-लक्षण—परिणाम हैं।

यहाँ प्रश्न किया जाता है—"आगम में आस्रव को ध्यान द्वारा क्षपण करने का उल्लेख है। यदि आस्रव जीव है तो फिर उसके क्षपण की बात कैसे ? अनुयोगद्वार में कहा है—"भावक्षपण दो प्रकार का है—आगम भावक्षपण, नो-आगम भावक्षपण। समझ कर उपयोग पूर्वक सूत्र पढना—आगम भावक्षपण है। नो-आगम क्षपण दो प्रकार का है—(१) प्रशस्त और (२) अप्रशस्त। प्रशस्त चार प्रकार का है—क्रोधक्षपण, मानक्षपण,

---

१—टीकम डोसी की चर्चा

मायाक्षपण और लोभक्षपण। अप्रशस्त तीन प्रकार का है—ज्ञानक्षपण दर्शनक्षपण और चारित्रक्षपण[1]।"

इसका तात्पर्य है—प्रशस्त भाव से क्रोध मान माया और लोभ का क्षपण और अप्रशस्त भाव से ज्ञान दर्शन और चारित्र का क्षपण होता है। ज्ञान दर्शन और चारित्र जीव के निजी गुण हैं। ये जीव-भाव हैं। जिस तरह अशुभ भाव से ज्ञान दर्शन और चारित्र का क्षपण होता है पर ज्ञानादिक अजीव नहीं उसी प्रकार भले भाव से अशुभ आस्रव का क्षपण होता है पर आस्रव अजीव नहीं होता।

१—से किं तं भावज्झवणा ? भावज्झवणा दुविहा पण्णत्ता तं जहा आगमओ णो-आगमओ। से किं तं आगमओ भावज्झवणा ? आगमओ भावज्झवणा जाणए उवउत्ते से तं आगमओ भावज्झवणा। से किं तं णो-आगमओ भावज्झवणा ? णो-आगमओ भावज्झवणा दुविहा पण्णत्ता तं जहा पसत्था य अपसत्था य। से किं तं पसत्था ? पसत्था चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा—कोहज्झवणा माणज्झवणा मायाज्झवणा लोभज्झवणा से तं पसत्था। से किं तं अपसत्था ? अपसत्था तिविहा पण्णत्ता तं जहा—नाणज्झवणा दंसणज्झवणा चरित्तज्झवणा से तं अपसत्था। से तं णो-आगमओ भावज्झवणा से तं भावज्झवणा से तं ओह निप्फन्ने।

: ६ :

संवर पदार्थ

६

संवर पदारथ

दुहा

१—छठो पदार्थ संवर कह्यो, तिणरा थिरीभूत परदेस।
आश्रव दुवार नो रूंधणो, तिण सूं मिटीयो करमां रो परवेस॥

२—आश्रव दुवार करमां रा बारणा ढकीयां छै संवर दुवार।
आतमा वस कीधां संवर हुवो, ते गुण रतन श्रीकार॥

३—संवर पदारथ ओलख्यां विनां संवर न नीपजें कोय।
संका कोइ मत राखजो सूतर साखरो जोय॥

४—संवर तणा भेद पांच छै, त्यां पांचां रा भेद अनेक।
त्यांरा भाव भेद परगट करूं ते सुणजो आंण विवेक॥

ढाल

(पूज जी पधारे हो नगरी सेविया—ए देशी)

१—नव ही पदार्थ सरधें यथातथ तिणनें कहिजे समकत निधान हो। भ० ज०*।
पछें त्याग करें ऊंधा सरधण तणा ते समकत संवर परधान हो। भ० ज०*।
संवर पदारथ भवीयण ओलखो*॥

---

* भविक जन। प्रत्येक गाथा के अन्त में इसी प्रकार समझें।

: ६ :

संवर पदार्थ

दोहा

१—छठा पदार्थ 'सवर' कहा गया है। इसके प्रदेश स्थिर होते हैं। यह आस्रव-द्वार का अवरोध करनेवाला है। इससे आत्मप्रदेशों में कर्मों का प्रवेश रुकता है।

संवर पदार्थ का स्वरूप (दो० १-२)

२—आस्रव-द्वार कर्म आने के द्वार हैं। इन द्वारों को वद करने पर सवर होते है। आत्मा को वश में करने से—आत्म-निग्रह से सवर होता है। यह उत्तम गुण-रत्न है।

३—सवर पदार्थ को पहचाने बिना सवर नही होता। सूत्रों पर दृष्टि डाल इस पदार्थ के विषय में कोई शका मत रहने दो[१]।

सवर की पहचान आवश्यक

४—सवर के (मुख्य) पाँच भेद हैं और अन्तर-भेद अनेक हैं। अब मैं उनके अर्थ और भेदों को कहता हूं, विवेकपूर्वक सुनो[२]।

संवर के मुख्य पाँच भेद

ढाल

१—जीवादि नव पदार्थों में यथातथ्य श्रद्धा—प्रतीति करना सम्यक्त्व है। उससे युक्त हो विपरीत श्रद्धा का त्याग करना प्रथम 'सम्यक्त्व संवर' है[३]।

सम्यक्त्व सवर

२—त्याग कीयां सव सावद्य जोग रा जावजीव तणा पचखांण हो।
आगार नहीं त्यांरे पाप करण तणो ते सव विरत संवर जांण हो॥

३—पाप उदे सूं जीव परमादी थयो तिण पाप सूं परमादी थाय हो।
ते पाप खय हूआं के उपसम हूआं अपरमाद संवर हुवें ताय हो॥

४—कषाय करम उदे सें जीव रे, तिणसूं कषाय आश्रव छें तांम हो।
ते कषाय करम अलगा हुवां जीव रे, जब अकषाय संवर हुवें आंम हो॥

५—जोग २ सा जोगां मे रूंधीयां अजोग संवर नहीं थाय हो।
मन वचन काया रा जोग रूंधे सरवथा ते अजोग संवर हुवें ताय हो॥

६—सावद्य मात्र जोग रूंध्यां सरवथा जब तो सव विरत संवर होय हो।
पिण निरवद जोग बाकी रह्या तेहनें तिण सूं अजोग सवर नहीं कोय हो॥

७—परमाद आश्रव में कषाय जोग आश्रव ए तो न मिटे कीयां पचखांण हो।
ए तो सहजांइ मिटे छें करम अलगा हुवां तिणरी अतरंग करजो पिछांण हो॥

८—सुभ ध्यांन नें लेस्या सूं करम कटियां थकां जब अपरमाद संवर थाय हो।
इमहिज करतां अकषाय संवर हुवें इम अजोग संवर होय जाय हो॥

९—समकत संवर ने सव विरत संवर, ए तो हुवें छें कीयां पचखांण हो।
अपरमाद अकषाय अजोग सवर हुवें, ते तो करम खय हूआं जांण हो।

२—सर्व सावद्य योगों का पापमय प्रवृत्तियों की कोई छूट रखे विना जीवनपर्यन्त के लिए प्रत्याख्यान करना 'सर्व विरति सवर' है। — विरति सवर

३—पापोदय से जीव प्रमादी होता है। जिन पापों के उदय से प्रमाद आस्रव होता है उन्हीं पाप कर्मों के उपशम या क्षय होने से 'अप्रमाद सवर' होता है। — अप्रमाद सवर

४—कषाय कर्मों के उदय में होने से कषाय आस्रव होता है। इन कर्मों के अलग होने पर 'अकषाय सवर' होता है। — अकषाय सवर

५-६-किंचित-किंचित सावद्य-निरवद्य योगों के निरोध से या सावद्य योगों के सर्वथा निरोध से अयोग संवर नहीं होता। सर्व सावद्य योगों के त्याग करने पर 'सर्व विरति सवर' होता है। निरवद्य योग अवशेष रहते हैं जिस कारण से अयोग संवर नहीं होता। यह सवर उस अवस्था में होता है जब कि मन-वचन-काय की सावद्य-निरवद्य सब प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध किया जाता है। — अयोग सवर (गा० ५-६)

७—प्रमाद आस्रव, कषाय आस्रव और योग आस्रव ये तीनों प्रत्याख्यान (त्याग) करने से नहीं मिटते। कर्मों के दूर होने से सहज ही अपने आप मिटते हैं। इस बात को अतरग में अच्छी तरह समझो। — अप्रमाद, अकषाय और अयोग सवर प्रत्याख्यान से नही होते

८-९-सम्यक्त्व सवर और सर्व विरति सवर प्रत्याख्यान करने से होते हैं और अप्रमाद, अकषाय और अयोग संवर कर्म-क्षय से। शुभ ध्यान और शुभ लेश्या द्वारा कर्म-क्षय होने पर ही अप्रमाद संवर होता है, प्रत्याख्यान से नहीं। अकषाय और अयोग सवर भी इसी प्रकार कर्म-क्षय से होते है[४]। — सम्यक्त्व सवर और सर्व विरति सवर प्रत्याख्यान से होते हैं (गा० ८-९)

१०—हिंसा झूठ चोरी मैथुन परिग्रहो, ए तो जोग आश्रव में समाय हो।
ए पांचूं आश्रव में त्यागे दीयां, जब विरत संवर हुवें ताम हो॥

११—पांचू इंदरयां में मेले मोकली त्यांनें पिण जोग आश्रव जांण हो।
इंदरयां नें मोकली मेलवारा त्याग छें, ते पिण विरत संवर त्यो पिछांण हो॥

१२—मला मूंडा किरतब तीनूंइ जोगां तणा ते तो जोग आश्रव छें ताम हो।
त्यां तीनूंइ जोगां नें जावक रूंधियां, अजोग संवर हुवें आम हो॥

१३—अजेंणा करें भंड उपगरण थकी तिणनें पिण जोग आश्रव जांण हो।
सुची-कुसग सेवे ते जोग आश्रव कह्यों त्यांनें त्याग्यां विरत संवर पिछांण हो॥

१४—हिंसादिक पनरें जोग आश्रव कह्यां त्यांनें त्याग्यां विरत संवर जांण हो।
त्यां पनरां नें माठा जोग माहिं गिण्या निरवद जोगां री करजों पिछांण हो॥

१५—तीनूंइ निरवद जोग रूंध्यां थकां अजोग संवर होय जात हो।
ए बीसूंइ संवर तणों बिवरो कह्यों ते बीसूंइ पांच संवर में समात हो॥

१६—कोइ कहें कषाय में जोगां तणा, सूतर माहिं चाल्या पचखांण हो।
त्यांनें पचख्यां बिनां संवर किण विधि होसी हिवें तिणरी कहूं छूं पिछांण हो॥

१७—पचखांण चाल्या छें सुतर में सरीर नां ते सरीर सूं न्यारो हुवां तांम हो।
इमहिज कषाय ने जोग पचखांण छें, सरीर पचखांण ज्यूं आंम हो॥

१०—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह—इन आस्रवों का समावेश योग आस्रव में होता है। इन पाँचों आस्रव के त्याग से विरति-सवर होता है।

हिंसा आदि १५ योगो के त्याग से विरति सवर होता है अयोग सवर नही। (गा० १०-१३)

११—इसी तरह पाँच इन्द्रियों की विषयो में स्वच्छन्दता योग आस्रव जानो। इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त करने का त्याग भी विरति संवर जानो।

१२—मन-वचन-काय की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति योग आस्रव है। इन तीनों योगों के सर्वथा निरोध से योग सवर होता है।

१३—वस्त्र, पात्रादि के रखने-उठाने में अयतनाचार को भी योग आस्रव जानो। इसी तरह सूची-कुशाग्र का सेवन करना भी योग आस्रव है। इनके प्रत्याख्यान से अयोग संवर नहीं होता, केवल विरति सवर होता है।

१४—हिंसादि जो पन्द्रह योग आस्रव कहे है वे अशुभ योग रूप हैं। उनके त्याग से विरति सवर होता है। निरवद्य योग उनसे भिन्न हैं। उनकी पहचान करो।

सावद्य-निरवद्य योगो के निरोध से अयोग सवर (गा० १४-१५)

१५—मन-वचन-काय के सर्व निरवद्य योगों के निरोध से अयोग सवर होता है। मैंने बीसों ही सवरों का ब्यौरा कहा है, वैसे तो बीसों पाँच में ही समा जाते हैं[५]।

१६—कई कहते हैं कि कषाय आस्रव और योग आस्रव के प्रत्याख्यान का उल्लेख सूत्रों में आया है अत इनका त्याग किए बिना अकषाय सवर और अयोग सवर कैसे होंगे ? अब मैं इसका खुलासा करता हूँ।

कषाय आस्रव और योग आस्रव के प्रत्याख्यान का मर्म (गा० १६-१७)

१७—सूत्रों मे शरीर-प्रत्याख्यान का भी उल्लेख है परन्तु वास्तव में शरीर का त्याग नही होता केवल शरीर की ममता का त्याग किया जाता है। शरीर प्रत्याख्यान की तरह ही कषाय और योग प्रत्याख्यान के विषय में समझना चाहिए[६]।

१०—हिंसा झूठ चोरी मैथुन परिग्रहो, ए तो जोग आस्रव में समाय हो।
ए पांचूं आस्रव नें त्यागे दीयां, जब विरत संवर हुवें ताय हो॥

११—पांचूं इंद्रयां नें मेले मोकली त्यांनें पिण जोग आस्रव जांण हो।
इंद्रयां नें मोकली मेलवारा त्याग छें, ते पिण विरत संवर ल्यो पिछांण हो॥

१२—मनसा वाचा किरतब तीनूंइ जोगां तणा ते तो जोग आस्रव छें तांम हो।
त्यां तीनूंइ जोगां नें आस्रव रूंधियां, अजोग संवर हुवें आंम हो॥

१३—अजेंणा करें भंड उपगरण थकी तिणनें पिण जोग आस्रव जांण हो।
सुची-कुसग सेवे ते जोग आस्रव कह्यों त्यांनें त्याग्यां विरत संवर पिछांण हो॥

१४—हिंसादिक पनरें जोग आस्रव कह्या त्यांनें त्याग्यां विरत संवर जांण हो।
त्यां पनरां नें माठा जोग मांहिं गिण्या निरवद जोगां री करजो पिछांण हो॥

१५—तीनूंइ निरवद जोग रूंध्यां थकां अजोग संवर होय जात हो।
ए बीसूंइ संवर तणों विवरो कह्यों ते बीसूंइ पांच संवर में समात हो॥

१६—कोइ कहें कषाय नें जोगां तणा सूतर मांहें चाल्या पचखांण हो।
त्यांनें पचख्यां विनां संवर किम विधि होसी हिवें तिणरी कहूं छूं पिछांण हो॥

१७—पचखांण चाल्या छें सुतर में सरीर नां ते सरीर सूं न्यारो हुवां तांम हो।
इमहिज कषाय ने जोग पचखांण छें, सरीर पचखांण ज्यूं आंम हो॥

हिंसा आदि १५ योगो के त्याग से विरति सवर होता है अयोग सवर नहीं। (गा० १०-१३)

१०—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह—इन आस्रवों का समावेश योग आस्रव मे होता है। इन पाँचों आस्रव के त्याग से विरति-सवर होता है।

११—इसी तरह पाँच इन्द्रियों की विषयो में स्वच्छन्दता योग आस्रव जानो। इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त करने का त्याग भी विरति संवर जानो।

१२—मन-वचन-काय की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति योग आस्रव है। इन तीनों योगों के सर्वथा निरोध से योग सवर होता है।

१३—वस्त्र, पात्रादि के रखने-उठाने में अयतनाचार को भी योग आस्रव जानो। इसी तरह सूची-कुशाग्र का सेवन करना भी योग आस्रव है। इनके प्रत्याख्यान से अयोग संवर नहीं होता, केवल विरति सवर होता है।

सावद्य-निरवद्य योगो के निरोध से अयोग सवर (गा० १४-१५)

१४—हिंसादि जो पन्द्रह योग आस्रव कहे हैं वे अशुभ योग रूप हैं। उनके त्याग से विरति संवर होता है। निरवद्य योग उनसे भिन्न हैं। उनकी पहचान करो।

१५—मन-वचन-काय के सर्व निरवद्य योगों के निरोध से अयोग संवर होता है। मैंने बीसों ही सवरों का ब्यौरा कहा है, वैसे तो बीसों पाँच में ही समा जाते हैं[५]।

कषाय आस्रव और योग आस्रव के प्रत्याख्यान का मर्म (गा० १६-१७)

१६—कई कहते हैं कि कषाय आस्रव और योग आस्रव के प्रत्याख्यान का उल्लेख सूत्रों में आया है अत इनका त्याग किए बिना अकषाय संवर और अयोग सवर कैसे होंगे? अब मैं इसका खुलासा करता हूँ।

१७—सूत्रों में शरीर-प्रत्याख्यान का भी उल्लेख है परन्तु वास्तव में शरीर का त्याग नहीं होता केवल शरीर की ममता का त्याग किया जाता है। शरीर प्रत्याख्यान की तरह ही कषाय और योग प्रत्याख्यान के विषय में समझना चाहिए[६]।

१८—सामायक आदि पांचू चारित मणी, सर्व वरत संवर जांण हो।
पुलाग आदि दे छ्हूंइ नियठा ए पिण लीज्यो संवर पिछांण हो॥

१९—चारितावर्णी षयउपसम हुआं जब जीव नें आवे वेंराग हो।
जब कांम नें भोग थकी विरकत हुवें जब सर्व सावद्य दे त्याग हो॥

२०—सव सावद्य जोग नें त्यागे सरवथा ते सर्व वरत संवर जांण हो।
जब इविरत रा पाप न लागे सरवथा ते तो चारित छें गुण खांण हो॥

२१—घूर सूं तो सामायक चारित आदरयो तिणरे मोह करम उदे रह्यों ताय हो।
ते करम उवे सू किरतब नीपजें तिण सूं पाप लागें छें आय हो॥

२२—मला ध्यान नें मली लेस्या थकी मोह करम उदे थी मट जाय हो।
जब उदे तणा किरतब पिण हलका पड़ें, जब हलकाइ पाप ल्याय हो॥

२३—मोह करम आवक उपसम हुवें जब उपसम चारित हुवें ताय हो।
जब जीव हुवें सीतलभूत निरमलो तिणरे पाप न लागें आय हो॥

२४—मोहणीय करम तें आवक खय हुवां खायक चारित हुवें जथाख्यात हो।
जब सीतलभूत हुओ जीव निरमलो तिणरे पाप न लागें असमात हो॥

२५—सामायक चारित लीयें छें उवीर नें सावद्य जोग रा करें पचखांण हो।
उपसम चारित आवें मोह उपसम्यां ते चारित इग्यारमें गुणठांण हो॥

१८—सामायिक आदि पाँचों चारित्र सर्व विरति संवर हैं। पुलाक आदि छहों निग्रंथ भी संवर हैं[७]।

सामायिक आदि पांच चारित्र सर्व विरति संवर हैं

१९—चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जीव को वैराग्य की उत्पत्ति होती है जिससे काम-भोगों से विरक्त हो कर वह सर्व सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग कर देता है।

२०—सर्व सावद्य योग का सर्वथा त्याग कर देने से सर्व विरति सवर होता है। सर्व सावद्य के त्याग के बाद अविरति का पाप सर्वथा नहीं लगता। यह गुणों की खानरूप सकल चारित्र है[८]।

२१—प्रथम सामायिक चारित्र को अंगीकार करने पर भी मोह कर्म उदय में रहता है। उस कर्मोदय से सावद्य कर्तव्य—क्रियाएँ होती हैं जिससे पापास्रव होता है।

२२—शुभ ध्यान और शुभ लेश्या से मोह कर्म का उदय कुछ घटता है तब मोहकर्म के उदय से होने वाले सावद्य व्यापार भी कम होते हैं। इससे पाप कर्म भी हल्के (कम) लगते हैं।

२३—मोहकर्म के सर्वथा उपशम हो जाने से उपशम चारित्र होता है जिससे जीव-प्रदेश शीतल (अचचल) और निर्मल हो जाते हैं और जीव के पाप कर्म नहीं लगते[९]।

२४—मोहनीयकर्म के सर्वथा क्षय होने से क्षायक यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होती है। इससे जीव के प्रदेश शीतल होते हैं, उनमें निर्मलता आती है जिससे जरा भी पापास्रव नहीं होता[१०]।

२५—सामायिक चारित्र उदीर कर—इच्छापूर्वक ग्रहण किया जाता है और इसमें मनुष्य सर्व सावद्य योगों का प्रत्याख्यान करता है। उपशम चारित्र मोहकर्म के उपशम से ग्यारहवें गुणस्थान में प्राप्त होता है।

२६—खायक चारित आवें मोह करम नें खय कीयां जिम नावे कीयां पचखांण हो।
ते आवे सुकल ध्यांन ध्यायां थकां, चारित छेहले तीन गुणठांण हो॥

२७—चारितावर्णी खयउपसम हुआं, खयउपसम चारित आवें निधांन हो।
ते उपसम हुआं उपसम चारित हुवें खय हुआं खायक चारित परधांन हो॥

२८—चारित निज गुण जीव रा जिण कह्या ते जीव सूं न्यारा नहीं थाय हो।
ते मोहणी करम अलगो हुआं परगट्या त्यां गुणां सूं हुवा मुनीराय हो॥

२९—चारितावर्णी ते मोहणी करम छें, तिणरा अनंत परदेस हो।
तिणरा उदा सूं निज गुण बिगड्या, तिण सूं जीव ने अतंत कलेस हो॥

३०—तिण करम रा अनंत परदेस अलगा हुआं जब अनंत गुण उजलो थाय हो।
जब सावद्य जोग नें पचख्या छें सरवथा ते सर्व विरत संवर छें ताय हो॥

३१—जीव उजलो हुवो ते तो हुई निरजरा विरत संवर सूं रुकीया पाप करम हो।
नवा पाप न लागें विरत संवर थकी एहवो छें चारित धर्म हो॥

३२—जिम २ मोहणी करम पतलो पड़ें, तिम २ जीव उजलो थाय हो।
इम करतां मोहणी करम खय जाए सरवथा जब जथाख्यात चारित होय जाय हो॥

२६—क्षायक चारित्र मोहकर्म के सम्पूर्ण क्षय करने से होता है, प्रत्याख्यान से नहीं। शुक्ल ध्यान के ध्याने से ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें गुणस्थान में यह उत्पन्न होता है।

२७—चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से क्षयोपशम चारित्र, उपशम से उपशमचारित्र और क्षय से सर्व प्रधान क्षायिक चारित्र होता है[११]।

२८—जिन भगवान ने चारित्र को जीव का स्वाभाविक गुण कहा है। चारित्र गुण गुणी जीव से अलग नही होता। मोहकर्म के अलग होने से चारित्र गुण प्रकट होता है, जिससे जीव मुनित्व को धारण करता है।

२९—चारित्रावरणीय मोहनीयकर्म (का एक भेद) है। इसके अनन्त प्रदेश होते हैं। इसके उदय से जीव के स्वाभाविक गुण विकृत हैं, जिससे जीव को अत्यन्त क्लेश है।

३०—मोहनीयकर्म के अनन्त प्रदेशों के अलग होने पर आत्मा अनन्तगुण उज्ज्वल होती है। इस उज्ज्वलता के आने पर जीव सावद्य योगों का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है। यही सर्व विरति संवर है।

३१—सयम से जीव निर्मल (उज्ज्वल) हुआ वह निर्जरा हुई और विरति सवर हुआ जिससे पाप कर्मों का आना रुका। संवर से नये कर्म नहीं लगते। इस प्रकार चारित्र धर्म संवर-निर्जरात्मक है।

३२—जैसे-जैसे मोहनीयकर्म पतला (क्षीण) होता जाता है वैसे-वैसे जीव उत्तरोत्तर निर्मल होता जाता है। इस प्रकार क्षीण होते-होते जब मोहनीयकर्म सर्वथा क्षय हो जाता है तब यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है[१२]।

२६—खायक चारित आवें मोह करम नें खय कीयां पिण नावे कीयां पचखांण हो।
ते आवे सुकल ध्यान ध्यायां थकां चारित छेहले तीन गुणठांण हो॥

२७—चारितावर्णी खयउपसम हुआं, खयउपसम चारित आवें निधान हो।
ते उपसम हुआं उपसम चारित हुवें खय हुआं खायक चारित परधान हो॥

२८—चारित निज गुण जीव रा जिण कह्या ते जीव सूं न्यारा नहीं थाय हो।
ते मोहणी करम अलगो हुआं परगटया त्यां गुणां सूं हुवा मुनीराय हो॥

२९—चारितावर्णी ते मोहणी करम छें, तिणरा अनंत परदेस हो।
तिणरा उदा सूं निज गुण विगड़या, तिण सूं जीव ने अनंत कलेस हो॥

३०—तिण करम रा अनंत परदेस अलगा हुआं जब अनंत गुण उजलो थाय हो।
जब सावद्य जोग नें पचख्या छें सरवथा ते सर्व विरत संवर छें ताय हो॥

३१—जीव उजलो हुवो ते तो हुइ निरजरा विरत संवर सूं रुंधीया पाप करम हो।
नवा पाप न लागें विरत संवर थकी, एहवो छें चारित धम हो॥

३२—जिम २ मोहणी करम पतलो पड़ें तिम २ जीव उजलो थाय हो।
इम करतां मोहणी करम खय जाए सरवथा जब जथाख्यात चारित होय जाय हो॥

३३—जघन्य सामायिक चारित्र के अनन्त गुण पर्यव जानो। उदय में आए हुए अनन्त कर्म-प्रदेशों के दूर हो जाने से आत्मा के अनन्तगुण प्रकट हुए।

३४—जघन्य सामायिक चारित्रवाले के आत्म-प्रदेश अनन्तगुण उज्ज्वल होते हैं। उदय में आए हुए अनन्त कर्म-प्रदेशों के दूर होने से वे और भी विशेष रूप से अनन्तगुण उज्ज्वल होते हैं।

३५—मोहकर्म का उदय इस प्रकार घटता है। ऐसी उदय की हानि असख्य बार होती है। इसीलिए सामायिक चारित्र के उत्तम असख्यात स्थानक बतलाए हैं।

३६—अनन्त कर्म-प्रदेशों का उदय मिट जाने से एक चारित्र स्थानक उत्पन्न होता है तथा अनन्त चारित्र गुण पर्यव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सामायिक चारित्र के अनेक भद है।

३७—जघन्य सामायिक चारित्र के अनन्त पर्यव जानो तथा उससे उत्कृष्ट सामायिक चारित्र के पर्यव उससे अनन्तगुण जानो।

३८—उत्कृष्ट सामायिक चारित्र की पर्यव-सख्या से भी सूक्ष्म सपराय चारत्र की पर्यव-सख्या अधिक होती है, जघन्य सूक्ष्म सपराय चारित्र की पर्यव सख्या सामायिक चारित्र की उत्कृष्ट पर्यव-सख्या से अनन्त हैं।

३९—छठे गुणस्थान से लेकर नौव तक सामायिक चारित्र जानो। इसके असंख्यात स्थानक और अनन्त पर्यव हैं। सूक्ष्म-सपराय चारित्र दसवें गुणस्थान में होता है।

४०—सूक्ष्मसपराय चारित्र के भी असंख्यात स्थानक जानने चाहिए तथा सामायिक चारित्र की तरह एक-एक स्थानक के अनन्त-अनन्त पर्यव समझना चाहिए।

३३—जघन सामायक चारित तेहनां अनंता गुण पजवा जांण हो।
अनंता करम परदेस उदे था ते मिट गया, तिण सूं अनंत गुण परगट्या जांण हो॥

३४—जघन सामायक चारितीया तणा अनंत गुण उजल परदेस हो।
वले अनंता परदेस उदे थी मिट गया अब अनंत गुण उजलो वशेष हो॥

३५—मोह करम घटे छ उदे थी गुण तिम ते तो घटे छै असंखेज्ज वार हो।
तिण सूं सामायक चारित नां कह्यां, असंख्यात थानक श्रीकार हो।

३६—अनंत करम परदेस उदे थी मिट गया चारित थानक नीपजें एक हो॥
चारित गुण पजवा अनंता नीपजें सामायक चारित रा भेद अनेक हो॥

३७—जघन सामायक चारित जेहना पजवा अनंता जांण हो।
तिण थी उतकष्टा सामायक चारित तणा पजवा अनंत गुणां वखांण हो॥

३८—पजवा उतकष्टा सामायक चारित तणा तेह थी सुषम संपराय ना वशेष हो।
अनंत गुण कह्यां छें जिगन चारित तणा ए सुषम संपराय रो पेस हो॥

३९—छठा गुणठांणा थकी नवमां लगें सामायक चारित जांण हो।
तिणरा असंख्याता थानक पजवा अनंत छें, सुषम संपराय दसमों गुणठांण हो॥

४०—सुषम संपराय चारित तेहनां, थानक असंखेज जांण हो।
एक २ थानक रा पजवा अनंत छें, तिणमें सामायक ज्यूं लीज्यो पिछांण हो॥

४१—सूक्ष्मसंपराय चारित्र वालो के मोहकर्म के अनन्त प्रदेश अन्त में उदय में रहते है। उनके झड जाने से निर्जरा होती हे फिर मोहकर्म का लेशमात्र भी उदय नहीं रह जाता।

४२—इस प्रकार मोहकर्म का लेश मात्र भी उदय न रहने से यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है, जिसके अनन्त पर्यव होते है। भगवान ने इस चारित्र के पर्यव सूक्ष्मसपराय चारित्र के उत्कृष्ट पर्यव सख्या से अनन्त गुण कहे है।

४३—यथाख्यात चारित्र अर्थात् जीव का सर्वथा उज्ज्वल होना। इसका एक ही स्थानक होता है जिसके अनन्त पर्यव है। यह स्थानक विशेष उत्कृष्ट है[१३]।

४४—मोहकर्म के जो अनन्त प्रदेश उदय मे आते है, वे पुद्गल की पर्याय हें। इन अनन्त कर्म-प्रदेशो के अलग होने—झड़ जाने से जीव के अनन्त गुण प्रकट होते है। ये जीव के स्वाभाविक गुण है।

४५—जीव के इस प्रकार प्रकट हुए स्वाभाविक गुण भाव-जीव है और वन्दनीय हैं। ये गुण कर्म क्षय से उत्पन्न हुए हे और उन्हें भाव जीव ठीक ही कहा गया है।

अयोग सवर (गा० ४६-५४)

४६—सावद्य योग का प्रत्याख्यान पूर्वक निरोध करने से विरति सवर होता है और निरवद्य योग के निरोध से सवर होता है। बुद्धिवान यह अच्छी तरह पहचानें।

४७—मन-वचन-काय के निरवद्य योगों के घटने से सवर होता है और उनके सर्वथा मिट जाने से अयोग सवर होता है। इसका विस्तार ध्यानपूर्वक सुनो।

४८—साधु जब कर्म-क्षय के हेतु उपवास, बेलादि तप करता है तो निरवद्य योग के निरोध से उसके सहचर सवर होता है।

४१—सुषम संपराय चारित्रीया रे सेष उदे रह्या, मोह करम रा अनंत परदेस हो।
ते अनंत परदेस सरवा निरजरा हुद, बाकी उदे नहीं रह्यों रूवलेस हो॥

४२—जब जथाख्यात चारित परगट हुवो तिण चारित रा पजवा अनत हो।
सुषम संपराय रा उतकष्ट पजवा थकी अनत गुणां कह्यां भगवंत हो॥

४३—जथाख्यात चारित उजल हुओ सरवथा तिण चारित रो थानक एक हो।
अनंता पजवा तिण थानक तणा ते थानक छें उतकष्टो वसेख हो॥

४४—मोह करम परदेस अनंता उदे हुवें ते तो पुदगल री परयाय हो।
अनंता अलगा हुआं अनंत गुण परगटे ते निज गुण जीव रा छें ताय हो॥

४५—ते निज गुण जीव रा ते तो भाव जीव छें, ते निज गुण छें वंदणीक हो।
ते तो करम खय हुआं सूं नीपनां भाव जीव कह्या त्यांनें ठीक हो॥

४६—सावद्य जोगां रा त्याग करें ने रूंधीया तिण सूं विरत संवर हुवो तांम हो।
निरवद जोग रूंध्यां संवर हुवें तिणरी करजो पिछांण हो॥

४७—निरवद जोग मन वचन काया तणा ते घटीयां संवर थाय हो।
सरवथा घटीयां अजोग संवर हुवें तिणरी विध सुणो चित ल्याय हो॥

४८—साधु तो उपवास बेलादिक तप करें, करम काटण रे कांम हो।
जब संवर सहचर साधु रे नीपजें, निरवद जोग रूंध्यां सूं तांम हो॥

४१—सूक्ष्मसंपराय चारित्र वालों के मोहकर्म के अनन्त प्रदेश अन्त मे उदय मे रहते हैं। उनके झड जाने से निर्जरा होती है फिर मोहकर्म का लेशमात्र भी उदय नहीं रह जाता।

४२—इस प्रकार मोहकर्म का लेश मात्र भी उदय न रहने से यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है, जिसके अनन्त पर्यव होते हैं। भगवान ने इस चारित्र के पर्यव सूक्ष्मसपराय चारित्र के उत्कृष्ट पर्यव सख्या से अनन्त गुण कहे है।

४३—यथाख्यात चारित्र अर्थात् जीव का सर्वथा उज्ज्वल होना। इसका एक ही स्थानक होता है जिसके अनन्त पर्यव है। यह स्थानक विशेष उत्कृष्ट है[13]।

४४—मोहकर्म के जो अनन्त प्रदेश उदय में आते हैं, वे पुद्गल की पर्याय है। इन अनन्त कर्म-प्रदेशों के अलग होने—झड़ जाने से जीव के अनन्त गुण प्रकट होते हैं। ये जीव के स्वाभाविक गुण है।

४५—जीव के इस प्रकार प्रकट हुए स्वाभाविक गुण भाव-जीव है और वन्दनीय हैं। ये गुण कर्म क्षय से उत्पन्न हुए हैं और उन्हें भाव जीव ठीक ही कहा गया है।

४६—सावद्य योग का प्रत्याख्यान पूर्वक निरोध करने से विरति सवर होता है और निरवद्य योग के निरोध से सवर होता है। बुद्धिवान यह अच्छी तरह पहचाने।

अयोग सवर (गा० ४६-५४)

४७—मन-वचन-काय के निरवद्य योगों के घटने से सवर होता है और उनके सर्वथा मिट जाने से अयोग सवर होता है। इसका विस्तार ध्यानपूर्वक सुनो।

४८—साधु जब कर्म-क्षय के हेतु उपवास, बेलादि तप करता है तो निरवद्य योग के निरोध से उसके सहचर सवर होता है।

४९—श्रावक उपवास बेलादिक तप करें, करम काटण रे काम हो।
जब विरत संवर पिण सहचर नीपजें सावद्य जोग रूंध्यां सूं तांम हो॥

५०—श्रावक जे जे पुदगल भोगवे ते सावद्य जोग व्यापार हो।
त्यांरो त्याग कीयां थी विरत संवर हुवें तप पिण नीपजें लार हो॥

५१—साधु कल्पें ते पुदगल भोगवे ते निरवद जोग व्यापार हो।
त्यांनें त्याग्यां सूं तपसा नीपजें, जोग रूंध्यां रो संवर थीकार हो॥

५२—साधु रो हालवो चालवो बोलवो, ते तो निरवद जोग व्यापार हो।
निरवद जोग रूंध्यां जितलो संवर हुवो तपसा पिण नीपजें थीकार हो॥

५३—श्रावक रे हालवो चालवो बोलवो सावद्य निरवद व्यापार हो।
सावद्य रा त्याग सूं विरत संवर हुवें निरवद त्याग्यां सूं संवर थीकार हो॥

५४—चारित नें तो विरत संवर कह्यो ते तो इविरत त्याग्यां होय हो।
अजोग संवर सुभ जोग रूंध्यां हुवें तिण मांहें संक म कोय हो।

५५—संवर निज गुण निरचेंइ जीव रा तिणनें भाव जीव कह्यो जगनाथ हो।
जिण दरब नें भाव जीव नहीं ओलख्या तिणरो घट सूं न गयो मिथ्यात हो॥

५६—संवर पदार्थ नें ओलखायवा जोड़ कीधी नाथदुवारा मझार हो।
समत अठारे बरसें छपनें फागुण विद तेरस सुक्रवार हो॥

४९—श्रावक जब कर्म-क्षय के हेतु उपवास, बेलादि तप करता है तो सावद्य योग के निरोध करने से सहचर विरति सवर भी होता है।

५०—श्रावक के सारे पौद्गलिक भोग-मन-वचन-काय के सावद्य व्यापार है। उनके प्रत्याख्यान से विरति संवर होता है और साथ-साथ तप भी होता है।

५१—साधु कल्प्य पुद्गल वस्तुओं का सेवन करता है वह निरवद्य योग—व्यापार हैं। इन वस्तुओं के त्याग से तपस्या होती है और योगों के निरोध से उत्तम सवर होता है।

५२—साधु का चलना, फिरना, बोलना आदि सब क्रियाएँ (यदि वे उपयोग पूर्वक की जांय तो) निरवद्य योग—व्यापार हैं। निरवद्य योगों के निरोध के अनुपात से सवर होता है आर साथ-साथ उत्तम तपस्या भी निष्पन्न होती है।

५३—श्रावक का चलना, फिरना, बोलना आदि क्रियाएँ सावद्य और निरवद्य दोनों ही योग है। सावद्य योग के त्याग से विरति सवर होता है और निरवद्य योग के त्याग से उत्तम सवर होता है।

५४—चारित्र को 'विरति सवर' कहा गया है और वह अविरति के प्रत्याख्यान से होता है। अयोग सवर शुभ योगों के निरोध से होता है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है[१४]।

५५—सवर निश्चय ही जीव का स्वगुण है। भगवान ने इसे भाव-जीव कहा है। जो द्रव्य-जीव और भाव-जीव को नही पहचान सका उसके हृदय से मिथ्यात्व दूर नही हुआ—ऐसा समझो[१५]।

सवर भाव जीव है

५६—यह जोड़ सवर पदार्थ का परिचय कराने के लिए श्रीजीद्वार में स० १८५६ की फाल्गुन वदी १२ शुक्रवार के दिन की है।

रचना स्थान और सवत

टिप्पणियाँ

१—संवर छठा पदार्थ है (दो० १-३)

इन दोहों में स्वामीजी ने निम्न बातें कही हैं :

(१) संवर छठा पदार्थ है ।

(२) संवर आस्रव-द्वार का अवरोधक पदार्थ है ।

(३) संवर का अर्थ है—आत्म प्रदेशों का स्थिरभूत होना ।

(४) संवर आत्म निग्रह से होता है ।

(५) मोक्ष-मार्ग की आराधना में संवर उत्तम गुण रत्न है ।

नीचे इन पर क्रमशः प्रकाश डाला जा रहा है ।

(१) संवर छठा पदार्थ है :

स्वामीजी ने नव पदार्थों में संवर का जो छठा स्थान बतलाया है वह आगम-सम्मत है[1] । पदार्थों की संख्या नौ मानने वाले दिगम्बर-ग्रन्थों में भी इसका स्थान छठा ही है[2] । तत्त्वार्थ सूत्र में सात पदार्थों के उल्लेख में इसका स्थान पाँचवाँ है[3] । पुण्य-पाप पदार्थों को पूर्व में गिनती करने से इसका स्थान सातवाँ होता है । हेमचन्द्र सूरि ने सात पदार्थों की गणना में इसे चौथे स्थान पर रखा है[4] । इससे पुण्य और पाप को पूर्व में गिनने से भी इसका छठा स्थान सुरक्षित रहता है ।

भगवान महावीर ने कहा है— 'ऐसी संज्ञा मत करो कि आस्रव और संवर नहीं हैं, पर ऐसी संज्ञा करो कि आस्रव और संवर हैं[5] । ठाणाङ्ग तथा उत्तराध्ययन में इसे

१—(क) उत्त० २८.१४ (पृ० २५ पर उद्धृत); २८.१७

(ख) ठाणाङ्ग ९.३.६६५ (पृ० २९ पा० टि० १ में उद्धृत)

२—पञ्चास्तिकाय २.१०८ (पृ० १५ पा० टि० ५ में उद्धृत)

३—देखिए पृ० १५१ पा० टि० १

४—देखिए पृ० १५१ पा० टि० १

५—सूयगडं २.५.१७ :

णत्थि आसवे संवरे वा णेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि आसवे संवरे वा एवं सन्नं निवेसए ॥

सद्भाव पदार्थ अथवा तथ्यभावो में रक्खा गया है[1] । इन सब से प्रमाणित है कि जैन-धर्म में सवर एक स्वतत्र पदार्थ के रूप में प्ररूपित है ।

एक नौका को जल मे डालने पर यदि उसमे जल प्रवेश करने लगता है तो वह आस्रविनी—सछिद्र सिद्ध होती है, यदि उसमे जल प्रवेश नही करता तो वह अनास्रविनी—छिद्ररहित सिद्ध होती है । इसी तरह जिस आत्मा के मिथ्यात्व आदि रूप छिद्र होते हैं, वह सास्रव आत्मा है और जिसके मिथ्यात्व आदि रूप छिद्र नही होते, वह सवृत्त आत्मा है । सास्रव आत्मा मानने से सवृत्त आत्मा अपने आप सिद्ध हो जाती है ।

(२) सवर आस्रव-द्वार का अवरोधक पदार्थ है :

ठाणाङ्ग में कहा है—आस्रव और सवर प्रतिद्वन्द्वी पदार्थ हैं[2] । आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"जो शुभ-अशुभ कर्मों के आगमन के लिए द्वार रूप है, वह आस्रव है। जिसका लक्षण आस्रव का निरोध करना है, वह सवर है[3] ।

स्वामीजी ने सवर के स्वरूप को उदाहरणो द्वारा निम्न प्रकार समझाया है[4]

१—तालाव के नाले को निरुद्ध करने की तरह जीव के आस्रव का निरोध करना सवर है ।

२—मकान के द्वार को वन्द करने की तरह जीव के आस्रव का निरोध करना सवर है ।

३—नौका के छिद्र को निरुद्ध करने की तरह जीव के आस्रव का निरोध करना सवर है ।

सवर और आस्रव के पारस्परिक सम्बन्ध और उनके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए हेमचन्द्र सूरि लिखते हैं—

"जिस तरह चौराहे पर स्थित बहु-द्वारवाले गृह में द्वार वद न होने पर निश्चय ही रज प्रविष्ट होती है और चिकनाई के योग से तन्मय रूप से वही वध जाती—स्थिति

१—(क) उत्त० २८ १४ (पृ० २५ पर उद्धृत)

(ख) ठा० ९ ६६५ (पृ० २२ पा० टि० १ में उद्धृत)

२—ठाणाङ्ग २ ५९

जदत्थि णं लोगे त सव्व दुपओआरं, तंजहा— आसवे चेव सवरे चेव

३—तत्त्वा० १ ४ सर्वार्थसिद्धि ·

शुभाशुभकर्मागमद्वाररूप आस्रव' ।आस्रवनिरोधलक्षण सवर ।

४—तेराद्वार · दृष्टान्त द्वार

हो जाती है और यदि द्वार बंद हो तो रज प्रविष्ट नहीं होती और न चिपकती है, वैसे ही योगादि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने पर संवृत्त जीव के प्रदेशों में कर्मद्रव्य का प्रवेश नहीं होता।

'जिस तरह तालाब में सर्व द्वारों से जल का प्रवेश होता है, पर द्वारों को प्रतिरुद्ध कर देने पर थोड़ा भी जल प्रविष्ट नहीं होता वैसे ही योगादि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने पर संवृत्त जीव के प्रदेशों में कर्मद्रव्य का प्रवेश नहीं होता।

'जिस तरह नौका में छिद्रों से जल प्रवेश पाता है और छिद्रों को बंद करने पर थोड़ा भी जल प्रविष्ट नहीं होता वैसे ही योगादि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने पर संवृत्त जीव के प्रदेशों में कर्मद्रव्य का प्रवेश नहीं होता[1]।

संवर सर्व आस्रवों का निरोधक होता है या केवल पापास्रवों का—यह एक प्रश्न रहा। यह मतभेद संवर की भिन्न भिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। एक परिभाषा के अनुसार—"जो सब आस्रवों के निरोध का हेतु होता है, उसे संवर कहते हैं[2]।" दूसरी परिभाषा के अनुसार—"जो अशुभ आस्रवों के निग्रह का हेतु है उसे संवर कहा जाता है[3]।

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : श्रीदेवचन्द्रसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरणम् ११८-१२१ :

यथा चतुष्पथस्थस्य बहुद्वारस्य वेश्मनः।
अनावृतेषु द्वारेषु, रजः प्रविशति ध्रुवम् ॥
प्रविष्टं स्नेहयोगाच्च तन्मयत्वेन बध्यते।
न विशेन्न च बध्येत द्वारेषु स्थगितेषु च ॥
यथा वा सरसि क्वापि सर्वैर्द्वारैर्विशेज्जलम्।
तेषु तु प्रतिरुद्धेषु, प्रविशेन्न मनागपि ॥
यथा वा यानपात्रस्य मध्ये रन्ध्रैर्विशेज्जलम्।
कृते रन्ध्रपिधाने तु, न स्तोकमपि तद्विशेत् ॥
योगादिष्वाश्रवद्वारेष्वेवं रुद्धेषु सर्वतः।
कर्मद्रव्यप्रवेशो न जीवे संवरशालिनि ॥

२—वही १११ : सर्वेषामाश्रवाणां यो रोधहेतुः स संवरः।

३—वही : देवेन्द्रसूरिकृत नवतत्त्वप्रकरणम् ४१
जो असुहासवनिरोहहेऊ इह संवरो निद्दिट्ठो।

वास्तव में सवर केवल अशुभ आस्रवो के निग्रह का ही हेतु नही है अपितु वह शुभ आस्रवो के निग्रह का भी हेतु है।

(३) सवर का अर्थ है आत्म-प्रदेशों को स्थिरभूत करना :

सास्रव अवस्था मे जीव के प्रदेशो मे परिस्पदन होता रहता है। आस्रवो के निरोध से जीव के चञ्चल प्रदेश स्थिर होते हैं। आत्मप्रदेश की चञ्चलता आस्रव-द्वार है और उनकी स्थिरता सवर-द्वार[1]। आस्रव से नये-नये कर्म प्रविष्ट होते रहते हैं। सवर से नये कर्मो का प्रवेश रुक जाता है[2]।

(४) सवर आत्म-निग्रह से होता है

आस्रव पदार्थ ही एक ऐसा पदार्थ है जिसका निरोध किया जा सकता है। सवर, निर्जरा और मोक्ष के निरोध का प्रश्न नही उठता। निरोध एक आस्रव-द्वार को लेकर उठता है। इसीलिए कहा है—"आस्रवनिरोध सवर[3]"—आस्रव द्वार का निरोध करना सवर है।

जितने निरोध्य कर्तव्य—कर्म हैं वे सब आस्रव हैं। निरवद्य-कर्तव्य पुण्य आने के द्वार—निरवद्य आस्रव-द्वार हैं। सावद्य-कर्तव्य पाप आने के द्वार—सावद्य आस्रव-द्वार हैं। निरोध्य कर्तव्यो का निरोध सवर-द्वार है।

सवर आत्म-निग्रह से—आत्मा को सवृत्त करने—उसको वश में करने से निष्पन्न होता है। वह निवृत्ति-परक है, प्रवृत्ति-परक नही। प्रवृत्तिमात्र आस्रव है और निग्रह-मात्र सवर।

श्री हेमचन्द्र सूरि लिखते हैं—

"जिस उपाय से जो आस्रव रुके उस आस्रव के निरोध के लिए उसी उपाय को काम में लाना चाहिए। मनुष्य क्षमा से क्रोध को, मृदुभाव से मान को, ऋजुता से माया को और नि स्पृहता से लोभ का निरोध करे। असयम से हुए विषसदृश उत्कृष्ट विषयो को अखड सयम से नष्ट करे। तीन गुप्तियो से तीन योगो को, अप्रमाद से प्रमाद

१—टीकम डोसी की चर्चा

२—तत्त्वा० ६ १ सर्वार्थसिद्धि

अभिनवकर्मादानहेतुरास्रवो··· ····तस्य निरोध सवर इत्युच्यते

३—तत्त्वा० ६ १

हो जाती है और यदि द्वार बंद हो तो रज प्रविष्ट नहीं होती और न चिपकती है, वैसे ही योगादि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने पर संवृत्त जीव के प्रदेशों में कर्मद्रव्य का प्रवेश नहीं होता।

'जिस तरह तालाब में सब द्वारों से जल का प्रवेश होता है, पर द्वारों को प्रतिरुद्ध कर देने पर थोड़ा भी जल प्रविष्ट नहीं होता वैसे ही योगादि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने पर संवृत्त जीव के प्रदेशों में कर्मद्रव्य का प्रवेश नहीं होता।

'जिस तरह नौका में छिद्रों से जल प्रवेश पाता है और छिद्रों को बन्द कर देने पर थोड़ा भी जल प्रविष्ट नहीं होता वैसे ही योगादि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने पर संवृत्त जीव के प्रदेशों में कर्मद्रव्य का प्रवेश नहीं होता'।"

संवर सर्व आस्रवों का निरोधक होता है या केवल पापास्रवों का—यह एक प्रश्न रहा। यह मतभेद संवर की भिन्न-भिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। एक परिभाषा के अनुसार—"जो सब आस्रवों के निरोध का हेतु होता है, उसे संवर कहते हैं[२]। दूसरी परिभाषा के अनुसार—"जो अशुभ आस्रवों के निग्रह का हेतु है, उसे संवर कहा जाता है[३]।

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : श्रीहेमचन्द्रसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरणम् ११८-१२२ :

यथा चतुष्पथस्थस्य बहुद्वारस्य वेश्मनः ।
अनावृतेषु द्वारेषु रजः प्रविशति ध्रुवम् ॥
प्रविष्टं स्नेहयोगाच्च तन्मयत्वेन बध्यते ।
न विशेन्न च बध्येत द्वारेषु स्थगितेषु च ॥
यथा वा सरसि क्वापि सर्वैर्द्वारैर्विशेज्जलम् ।
तेषु तु प्रतिरुद्धेषु प्रविशेन्न मनागपि ॥
यथा वा यानपात्रस्य मध्ये रन्ध्रैर्विशेज्जलम् ।
रुद्धे रन्ध्रविधाने तु न स्तोकमपि तद्विशेत् ॥
योगादिष्वाश्रवद्वारेष्वेवं रुद्धेषु सर्वतः ।
कर्मद्रव्यप्रवेशो न जीवे संवरशालिनि ॥

२—वही १११ सर्वेषामाश्रवाणां यो रोधहेतुः स संवरः ।

३—वही : देवेन्द्रसूरिकृत नवतत्त्वप्रकरणम् ४१ :
तो असुहासवनिग्गहहेऊ इह संवरो विणिद्दिट्ठो ।

(२) कर्मपुद्गलो के आदान—ग्रहण का उच्छेद करना द्रव्य सवर है और ससार की हेतु क्रियाओ का त्याग भाव सवर है[1]। श्री हेमचन्द्र सूरि कृत यह परिभापा आचार्य पूज्यपाद कृत परिभापा पर आधारित है[2]।

(३) जो चैतन्य परिणाम कर्मों के आस्रव के निरोध में हेतु होता है वही भाव सवर है और द्रव्यास्रव के अवरोध में जो हेतु होता है वह द्रव्य सवर है[3]।

(४) मोह, राग और द्वेप परिणामो का निरोध भाव सवर है। उस भाव सवर के निमित्त से योगद्वारो से शुभाशुभ कर्म-वर्गणाओ का निरोध होना द्रव्य सवर है[4]।

(५) शुभ-अशुभ कर्मो के निरोध में समर्थ शुद्धोपयोग भाव संवर है, भाव सवर के आधार से नए कर्मों का निरोध द्रव्य सवर है[5]।

पाठक देखेंगे कि उपर्युक्त परिभापाओ में वास्तव में तो अन्तिम चार ही सवर पदार्थ के दो भेदो का प्रतिपादन कर द्रव्य सवर और भाव सवर की परिभापाएँ देती हैं। श्री अभयदेव ने वस्तुत सवर पदार्थ के दो भेद नही वतलाये हैं पर सवर के द्रव्यसवर और भावसवर ऐसे दो भेद कर द्रव्यसवर की उपमा द्वारा भावसवर को समझाया है। जैसे द्रव्य अग्नि के स्वभाव द्वारा भाव अग्नि—क्रोधादि को समझाया जा सकता है वैसे ही नौका के स्थूल दृष्टान्त द्वारा उन्होने भाव सवर को समझाया है। उन्होने नौका के

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह · श्री हेमचन्द्र सूरि कृत सप्ततत्त्वप्रकरणम् ११२

य : कर्मपुद्गलादानच्छेद· स द्रव्यसवर ।
भ वहेतुक्रियात्याग स पुनर्भावसवर ॥

२—तत्त्वा० ६ १ सर्वार्थसिद्धि

तत्र संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसवर । तन्निरोधे तत्पूर्वकर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसवर ।

३—द्रव्यसग्रह २ ३४

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ ।
सो भावसवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥

४—पञ्चास्तिकाय २ १४२ अमृतचन्द्रवृत्ति

मोहरागद्वेपपरिणामनिरोधो भावसंवर । तन्निमित्त शुभाशुभकर्मपरिणामनिरोधो योगद्वारेण प्रविशता पुद्गलानां द्रव्यसवर

५—वही जयसेनवृत्ति

शुभाशुभसंवरसमर्थ शुद्धोपयोगो भावसवर भावसंवराधारेण नवतरकर्मनिरोधो द्रव्यसवर इति

को और सावद्य योग के त्याग से विरति को साधे। सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व और मन की शुभ स्थिरता द्वारा आर्त रौद्रध्यान को जीते[१]।

(५) मोक्ष-मार्ग की आराधना में संवर उत्तम गुण-रत्न है

मोक्ष संसारपूर्वक है। पहले संसार और फिर मोक्ष ऐसा क्रम है। पहले मोक्ष और फिर संसार ऐसा नहीं[२]। मोक्ष साध्य है। संसार मोच्य। इस संसार के प्रधान हेतु आस्रव और बन्ध हैं और मोक्ष के प्रधान हेतु संवर और निर्जरा[३]। संवर से आस्रव—नए कर्मों के प्रवेश का निरोध होता है। निर्जरा से बंधे हुए कर्मों का परिशाट। इस तरह संवर मोक्ष-साधना में एक अनिवार्य साधन के रूप में सामने आता है। जो संवरयुक्त होता है वह मोक्ष के अमोघ साधन से युक्त है—प्रशस्त गुणवान है। सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र को त्रि-रत्न कहा जाता है। संवर चारित्र है और इस तरह यह उत्तम गुण-रत्न है।

२—संवर के भेद, उनकी संख्या-परम्पराएँ और ५७ प्रकार के संवर (दो० ४)

द्रव्य संवर और भाव संवर

संवर के ये दो भेद श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों ग्रंथों में मिलते हैं। इन भेदों की निम्न परिभाषाएं मिलती हैं:

(१) जल मध्यगत नौका के छिद्रों का जिन से अनवरत जल का प्रवेश होता है, तृणादि द्रव्य से स्थगन द्रव्य संवर है। जीव रूपी नौका में कर्म-जल के आस्रव के हेतु इन्द्रियादि छिद्रों का समिति आदि से निरोध करना भाव संवर है[४]।

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : श्रीहेमचन्द्रसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरणम् : १११ ११७

२—तत्त्वा० १.४ सर्वार्थसिद्धि :

स च संसारपूर्वकः

३—वही :

संसारस्य प्रधानहेतुरास्रवो बन्धश्च। मोक्षस्य प्रधानहेतुः संवरो निर्जरा च

४—ठाणाङ्ग १.१४ की टीका :

स च द्विविधो द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो जलमध्यगतनावादेरनवरतप्रविशज्जलानां छिद्राणां तथाविधद्रव्येण स्थगनं संवरः भावतस्तु जीवपोतस्यास्रवजलागमकारणानामिन्द्रियादिछिद्राणां समित्यादिना निरोधनं संवर इति

(३) **चार संवर की दूसरी परम्परा** : इसके अनुसार मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग—आस्रवो के निरोध रूप चार सवर हैं[1]।

(४) **पाँच सवर की परम्परा** : इस परम्परा के अनुसार सवर पांच हैं।—(१) सम्यक्त्व सवर, (२) विरति सवर, (३) अप्रमाद सवर, (४) अकषाय सवर और (५) अयोग सवर[2]।

(५) **बीस सवर की परम्परा** इसके अनुसार बीस सवर ये हैं—(१) सम्यक्त्व सवर, (२) विरति सवर, (३) अप्रमाद सवर, (४) अकषाय सवर, (५) अयोग सवर, (६) प्राणातिपात-विरमण सवर, (७) मृषावाद-विरमण सवर, (८) अदत्तादान-विरमण सवर (९) अब्रह्मचर्य-विरमण सवर, (१०) परिग्रह-विरमण सवर, (११) श्रोत्रेन्द्रिय सवर, (१२) चक्षुरिन्द्रिय सवर, (१३) घ्राणेन्द्रिय संवर, (१४) रसनेन्द्रिय सवर, (१५) स्पर्शनेन्द्रिय सवर, (१६) मन सवर, (१७) वचन सवर, (१८) काय सवर, (१९) भण्डोपकरण सवर और (२०) सूची-कुशाग्र सवर[3]।

१—समयसार सवर अधिकार १९०-१९१ :

मिच्छत्त अण्णाण अविरयभावो य जोगो य ॥

हेउअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।

२—(क) ठाणाङ्ग ५ २ ४१८

पच सवरदारा पं० तं० सम्मत्त विरती अपमादो अकसात्तितमजोगित्त

(ख) समावायाङ्ग ५

पंच सवरदारा पन्नता त जहा-सम्मत्त विरई अप्पमत्तया अकसाया अजोगया

३—आगमों के आधार पर बीस की सख्या इस प्रकार बनती है—

(क) देखिए—पाद टि० २

(ख) जवू ! एत्तो सवरदाराइ पच वोच्छामि आणुपुव्वीए ।

जह भणियाणि भगवया सव्वदुहविमोक्खणट्ठाए ॥

पढम होइ अहिसा वितिय सच्चवयणति पन्नत्त ।

दत्तमणुन्नाय सवरो य बभचेरमपरिग्गहत्त च ॥

(प्रश्नव्याकरण सवर द्वार)

(ग) दसविधे सवरे प० त० सोतिंदियसवरे जाव फासिंदितसवरे मण० वय० काय०

इन परम्पराओं में पहली परम्परा का उल्लेख श्वेताम्बर-दिगम्बर मान्य तत्त्वार्थसूत्र तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध है[1] पर आगमों में नहीं[2]।

संवर आस्रव का प्रतिपक्षी पदार्थ है। एक-एक आस्रव का प्रतिपक्षी एक-एक संवर होना चाहिए। संवरों की संख्या सूचक पहली परम्परा आस्रव-द्वारों की संख्या का निरूपण करनेवाली परम्पराओं[3] में से प्रत्यक्षतः किसी भी परम्परा की प्रतिपक्षी नहीं है और संवरों की संख्या स्वतंत्र रूप से प्रतिपादित करती है।

उपर्युक्त चार संवर की सूचक परम्परायें आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा समर्थित हैं और अपने निरूपण में क्रमशः उस उस आस्रव की प्रतिपक्षी हैं[4]।

चौथी और पाँचवीं परम्पराएँ आगमिक हैं। उनका प्रस्थन आस्रव के उतने ही भेदों को बतलाने वाली परम्पराओं के प्रतिपक्षी रूप में है[5]। चौथी परम्परा के अन्तिम पांच व्रत विरत संवर के ही भेद हैं। इस तरह ये दोनों परम्पराए एक ही हैं केवल संक्षेप-विस्तार की अपेक्षा से ही वे दो कही जा सकती हैं।

स्वामीजी ने इसी ढाल (गा १ १५) में आगमिक परम्परा सम्मत संवर के बीस भेदों का विवेचन किया है।

हम यहाँ पाठकों के लाभ के लिए प्रथम परम्परा सम्मत संवर के सत्तावन भेदों का संक्षिप्त विवेचन दे रहे हैं।

संवर के सत्तावन भेदों का विवेचन

संवर के भेद अधिक से अधिक ५७ बतलाये गये हैं। देवेन्द्रसूरि लिखते हैं— "संवर के भेद तो अनेक हैं। आचार्यों ने इतने ही कहे हैं[6]"

१—(क) तत्त्वा ९ २ ४ १८

(ख) नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह के सर्व नवतत्त्वप्रकरण

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : भाग्यविजयकृत श्रीनवतत्त्वस्तवनम् ८८

भद बीय संवरना कह्या ठाणांग सूत्र मोझार।
भद सत्तावन एम कह्या पच्छातरणी विचार॥

३—इन परम्पराओं के लिए देखिए पृ १७२ टि ५

४—देखिए वही

५—ठाणांग ५ २ ४१८ टीका :

संवरद्वाराणि—मिथ्यात्वादीनामाश्रवाणां क्रमेण विपर्ययाः

६—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवेन्द्रसूरिकृत नवतत्त्वप्रकरणम् : ४१

सो पुण बहुविहोवि हु इह भणिओ सत्तवन्नविहो॥

संवर के ५७ भेदों का वर्णन छह गुच्छों में किया जाता है। इन गुच्छों के क्रम भिन्न-भिन्न मिलते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में गुच्छों का अनुक्रम—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र—इस रूप में है[1]। दूसरे निरूपण में परीषह-जय, समिति, गुप्ति, भावना, चारित्र, धर्म—यह क्रम है[2]। तीसरे प्रकरण में चारित्र, परीषह-जय, धर्म, भावना, समिति और गुप्ति—यह क्रम है[3]। इसी प्रकार अन्य क्रम भी उपलब्ध हैं[4]। यहाँ तत्त्वार्थसूत्र के गुच्छ-क्रम से ही ५७ संवरों का विवेचन किया जाता है।

वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य में संवर पदार्थ की परिभाषा में कहते हैं "आस्रव के ४२ भेद बतलाये जा चुके हैं। उनके निरोध को संवर कहते हैं। इस संवर की सिद्धि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र से होती है[5]।" गुप्ति आदि के ही कुल मिलाकर ५७ भेद हैं। इन का विवरण इस प्रकार है

१—पाँच गुप्ति। जिससे संसार के कारणों से आत्मा का गोपन—बचाव हो उसे गुप्ति कहते हैं[6]। मन, वचन और काय—तीनों योगों का सम्यक् निग्रह गुप्ति है[7]। भाष्य के अनुसार

१—तत्त्वा० ९ २

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहचारित्रैः

२—पृ० ५१० पाद-टिप्पणी ३

३—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : जयशेखरसूरि निर्मित नवतत्त्वप्रकरणम् १६-२३

४—देखिए—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह में संगृहीत नवतत्त्वप्रकरण

५—(क) तत्त्वा० ९ १ :

आस्रवनिरोधः संवरः

(ख) वही : भाष्य :

यथोक्तस्य काययोगादेर्द्विचत्वारिंशद्विधस्य निरोधः संवरः

(ग) स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः

(घ) वही : भाष्य

स एष संवरः एभिर्गुप्त्यादिभिरभ्युपायैर्भवति

६—तत्त्वा० ९ २ सर्वार्थसिद्धि :

यतः संसारकारणादात्मनो गोपनं भवति सा गुप्तिः

७—तत्त्वा० ९.४ :

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः

इन परम्पराओं में पहली परम्परा का उल्लेख श्वेताम्बर-दिगम्बर मान्य तत्त्वार्थसूत्र तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध है[1] पर आगमों में नहीं[2]।

संवर आस्रव का प्रतिपक्षी पदार्थ है। एक-एक आस्रव का प्रतिपक्षी एक-एक संवर होना चाहिए। संवरों की संख्या सूचक पहली परम्परा आस्रव-द्वारों की संख्या का निरूपण करनेवाली परम्पराओं[3] में से अन्यतम किसी भी परम्परा की प्रतिपक्षी नहीं है और संवरों की संख्या स्वतंत्र रूप से प्रतिपादित करती है।

उपर्युक्त चार संवर की सूचक परम्पराएँ आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा समर्थित हैं और अपने निरूपण में क्रमशः उस उस आस्रव की प्रतिपक्षी हैं[4]।

चौथी और पाँचवीं परम्पराएँ आगमिक हैं। उनका प्रवचन आस्रव के उतने ही भेदों को बतलाने वाली परम्पराओं के प्रतिपक्षी रूप में है[5]। चौथी परम्परा के अन्तिम पाँच भेद विरत संवर के ही भेद हैं। इस तरह से दोनों परम्पराएं एक ही हैं केवल संक्षेप-विस्तार की अपेक्षा से ही वे दो कही जा सकती हैं।

स्वामीजी ने इसी ढाल (गा० १-१५) में आगमिक परम्परा सम्मत संवर के बीस भेदों का विवेचन किया है।

हम यहाँ पाठकों के लाभ के लिए प्रथम परम्परा सम्मत संवर के सत्तावन भेदों का संक्षिप्त विवेचन दे रहे हैं।

संवर के सत्तावन भेदों का विवेचन

संवर के भेद अधिक से अधिक ५७ बतलाये गये हैं। देवेन्द्रसूरि लिखते हैं—संवर के भेद तो अनेक हैं। आचार्यों ने इतने ही कहे हैं[6]।

१—(क) तत्त्वा० ९.२-४-१८
(ख) नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : सर्व नवतत्त्वप्रकरण
२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : भाग्यविजयकृत श्रीनवतत्त्वस्तवनम् ५८ :
भेद बीस संवरतणा कह्या ठाणांग सूत्र मोझार।
भद सत्तावन पण कह्या अन्यग्रन्थें विचार॥
३—इन परम्पराओं के लिए देखिए पृ० ३०२ टि० ५
४—देखिए वही
५—ठाणांग ५.२.४१८ टीका :
संवरद्वाराणि—मिथ्यात्वादीनामाश्रवाणां क्रमेण विपर्ययाः
६—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवेन्द्रसूरिकृत नवतत्त्वप्रकरणम् : ४१
सो पुण बहुविहोवि हु इह भणिओ सत्तवन्नविहो॥

संवर के ५७ भेदों का वर्णन छः गुच्छों में किया जाता है। इन गुच्छों के क्रम भिन्न-भिन्न मिलते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में गुच्छों का अनुक्रम—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र—इस रूप में है[1]। दूसरे निरूपण में परीषह-जय, समिति, गुप्ति, भावना, चारित्र, धर्म—यह क्रम है[2]। तीसरे प्रकरण में चारित्र, परीषह-जय, धर्म, भावना, समिति और गुप्ति—यह क्रम है[3]। इसी प्रकार अन्य क्रम भी उपलब्ध हैं[4]। यहाँ तत्त्वार्थ-सूत्र के गुच्छ-क्रम से ही ५७ संवरों का विवेचन किया जाता है।

वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य में संवर पदार्थ की परिभाषा में कहते हैं "आस्रव के ४२ भेद बतलाये जा चुके हैं। उनके निरोध को संवर कहते हैं। इस संवर की सिद्धि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र से होती है[5]।" गुप्ति आदि के ही कुल मिलाकर ५७ भेद हैं। इन का विवरण इस प्रकार है:

१—पांच गुप्ति। जिससे संसार के कारणों से आत्मा का गोपन—बचाव हो उसे गुप्ति कहते हैं[6]। मन, वचन और काय—तीनों योगों का सम्यक् निग्रह गुप्ति है[7]। भाष्य के अनुसार

१—तत्त्वा० ९.२

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहचारित्रैः

२—पृ० ५१० पाद-टिप्पणी ३

३—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : जयशेखरसूरि निर्मित नवतत्त्वप्रकरणम् १९-२३

४—देखिए—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह में संगृहीत नवतत्त्वप्रकरण

५—(क) तत्त्वा० ९.१

आस्रवनिरोधः संवरः

(ख) वही : भाष्य

यथोक्तस्य काययोगादेर्द्विचत्वारिंशद्विधस्य निरोधः संवरः

(ग) स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः

(घ) वही : भाष्य :

स एष संवरः एभिर्गुप्त्यादिभिरभ्युपायैर्भवति

६—तत्त्वा० ९.२ सर्वार्थसिद्धि :

यतः संसारकारणादात्मनो गोपनं भवति सा गुप्तिः

७—तत्त्वा० ९.४ :

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः

'सम्यक्' शब्द का अर्थ है—विधिपूर्वक जानकर स्वीकार कर, सम्यग्दर्शनपूर्वक[1]। श्री अकलङ्कदेव के अनुसार इस का अर्थ है—सत्कार, लोक-प्रसिद्धि, विषय-सुख की आकांक्षा आदि को छोड़कर[2]। इस प्रकार योगों का निरोधन करना गुप्ति है। इसके तीन भेद हैं :

(१) कायगुप्ति : सोने, बैठने, ग्रहण करने, रखने आदि क्रियाओं में जो शरीर की चेष्टाएं हुआ करती हैं, उनके निरोध को कायगुप्ति कहते हैं[3]।

(२) वाक्गुप्ति : वचन प्रयोग का निरोध करना अथवा सर्वथा मौन रहना वाग्गुप्ति है[4]।

(३) मनोगुप्ति : मन में सावद्य संकल्प होते हैं उन के निरोध अथवा शुभ संकल्पों के धारण अथवा कुशल-अकुशल दोनों ही तरह के संकल्पमात्र के निरोध करने को मनोगुप्ति कहते हैं[5]।

वाचक उमास्वाति ने गुप्तियों की जो पूर्वोक्त परिभाषाएं दी हैं वे प्रायः निवृत्तिपरक हैं। केवल मनोगुप्ति में कुशल संकल्पों के धारण को भी स्थान दिया है।

अभयदेवसूरि ने तीनों ही गुप्तियों को अकुशल से निवृत्ति और कुशल में प्रवृत्तिरूप कहा है[6]।

१—तत्त्वा० ९.४ : भाष्य
सम्यगिति विधानतो ज्ञात्वाभ्युपेत्य सम्यग्दर्शनपूर्वकं त्रिविधस्य योगस्य निग्रहो गुप्तिः

२—तत्त्वार्थवार्तिक ९.४.२ :
सम्यगिति विशेषणं सत्कारलोकपङ्क्त्याद्याकाङ्क्षानिवृत्त्यर्थम्

३—तत्त्वा० ९.४ : भाष्य
तत्र शयनासनादाननिक्षेपस्थानचंक्रमणेषु कायचेष्टानियमः कायगुप्तिः

४—वही : भाष्य
याचनपृच्छनप्रश्नव्याकरणेषु वाङ्नियमो मौनमेव वा वाग्गुप्तिः

५—वही : भाष्य :
सावद्यसंकल्पनिरोधः कुशलसंकल्पः कुशलाकुशलसंकल्पनिरोध एव वा मनोगुप्तिरिति

६—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरणम् : गा १ भाष्य :

अध्यगुप्तिमाइयाओ गुत्तीओ तिन्नि हुंति नायव्वा ।
अकुसलनिवित्तिरूवा कुसलपवित्तिरूवा य ॥

गुप्ति और समिति मे अन्तर बताते हुए पण्डित भगवानदास लिखते हैं—"समिति सम्यक् प्रवृत्तिरूप है और गुप्ति प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप। दोनो मे यही अन्तर है[1]।"

स्वामीजी के अनुसार—मन, वचन और काय की सम्यक् प्रवृत्तिरूप गुप्ति सवर नही हो सकती। उनका कहना है—ऐसी प्रवृत्ति शुभ योग मे आती है और वह पुण्य का कारण है फिर उसे सवर कैसे कहा जा सकता है? सवररूप गुप्ति मे शुभ योगो को समाविष्ट नही किया जा सकता।

देवेन्द्रसूरि भी इसी का समर्थन करते हैं। उन्होने पाप-व्यापार से मन, वचन और काया के गोपन को ही क्रमश मनोगुप्ति आदि कहा है[2]। उत्तराध्ययन मे कहा है—'गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसुसावसो'—सर्व अशुभ योगो से निवृत्ति गुप्ति है। श्री अकलङ्क भी गुप्ति का स्वरूप निवृत्तिपरक ही बतलाते हैं—'गुप्त्यादि प्रवृत्तिनिग्रहार्थं (० ६ १), 'गुप्तिर्हि निवृत्तिप्रवणा' (६ ६ ११)।

२—पाँच समिति। सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं[3]।

(४) ईर्या समिति धर्म में प्रयत्नमान साधु का आवश्यक कार्य के लिए अथवा सयम की सिद्धि के लिए चार हाथ भूमि को देखकर अनन्यमन से धीरे-धीरे पैर रखकर विधिपूर्वक चलना ईर्यासमिति है[4]।

(५) भाषा समिति साधु का हित (मोक्षप्रापक), मित, असदिग्ध और अनवद्य वचनो का बोलना भाषासमिति है[5]।

(६) एषणा समिति अन्न, पान, रजोहरण, पात्र, चीवर तथा अन्य धर्म-साधनो को ग्रहण करते समय साधु द्वारा उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषो का वर्जन करना एषणासमिति है[6]।

१—नवतत्त्वप्रकरण (आवृ० २) पृ० ११२,११५

२—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह नवतत्त्वप्रकरणम् · १६।४१ वृत्ति ·
पापव्यापारेभ्यो मनोवाक्कायगोपनान्मनोवचनकायगुप्तय

३—(क) तत्त्वा० ६ २ सर्वार्थसिद्धि ·
सम्यगयन समिति
(ख) नवतत्त्वसाहित्यसग्रह : देवगुप्त सूरि प्रणीत नवतत्त्वप्रकरण गा० १० भाष्य ·
सम्मं जा उ पवित्ती। सा समिई पञ्चहा एवं॥

४—(क) तत्त्वा० ६.५ भाष्य
(ख) वही · राजवार्तिक ३

५—(क) तत्त्वा० ६ ५ भाष्य
(ख) वही : राजवार्तिक ५

६—(क) तत्त्वा० ६ ५ भाष्य
(ख) वही राजवार्तिक ६

'सम्यक्' शब्द का अर्थ है—विधिपूर्वक जानकर स्वीकार कर, सम्यग्दर्शनपूर्वक[1]। श्री अकलङ्कदेव के अनुसार इस का अर्थ है—सत्कार, लोक-प्रसिद्धि, विषय-सुख की आकांक्षा आदि को छोड़कर[2]। इस प्रकार योगों का निरोधन करना गुप्ति है। इसके तीन भेद हैं

(१) कायगुप्ति सोने, बैठने ग्रहण करने रखने आदि क्रियाओं में जो शरीर की चेष्टाएं हुआ करती हैं, उनके निरोध को कायगुप्ति कहते हैं[3]।

(२) वाक्गुप्ति वचन प्रयोग का निरोध करना अथवा सर्वथा मौन रहना वाग्गुप्ति है[4]।

(३) मनोगुप्ति मन में सावद्य संकल्प होते हैं उन के निरोध अथवा शुभ संकल्पों के धारण अथवा कुशल-अकुशल दोनों ही तरह के संकल्पमात्र के निरोध करने को मनोगुप्ति कहते हैं[5]।

वाचक उमास्वाति ने गुप्तियों की जो पूर्वोक्त परिभाषाएं दी हैं वे प्राय निवृत्तिपरक हैं। केवल मनोगुप्ति में शुभ संकल्पों के धारण को भी स्थान दिया है।

अभयदेवसूरि ने तीनों ही गुप्तियों को अकुशल से निवृत्ति और कुशल में प्रवृत्तिरूप कहा है[6]।

१—तत्त्वा० ९.४ भाष्य :
सम्यगिति विधानतो ज्ञात्वाभ्युपेत्य सम्यग्दर्शनपूर्वकं त्रिविधस्य योगस्य निग्रहो गुप्तिः

२—तत्त्वार्थवार्तिक ९.४.१ :
सम्यगिति विशेषणं सत्कारलोकपङ्क्त्याद्याकाङ्क्षानिवृत्त्यर्थम्

३—तत्त्वा० ९.४ भाष्य
तत्र शयनासनादाननिक्षेपस्थानचंक्रमणेषु कायचेष्टानियमः कायगुप्तिः

४—वही भाष्य
याचनप्रच्छनप्रश्नव्याकरणेषु वाङ्नियमो मौनमेव वा वाग्गुप्तिः

५—वही : भाष्य
सावद्यसंकल्पनिरोधः कुशलसंकल्पः कुशलाकुशलसंकल्पनिरोध एव वा मनोगुप्तिरिति

६—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरणम् : गा० १ भाष्य :

मणगुत्तिमाइयाओ गुत्तीओ तिन्नि हुंति नायव्वा ।
अकुसलनिवित्तिरूवा कुसलपवित्तिस्सरूवा य ॥

स्वामीजी का कथन है—मुनि का विधिपूर्वक आना-जाना, वोलना आदि कार्य शुभ योग हैं। वे पुण्य के हेतु हैं। उन्हे सवर कहना सगत नही। यदि शुभ योगो मे प्रवृत्त मुनि के शुभ योगो से सवर माना जायगा तो उसका अर्थ यह होगा कि साधु के पुण्य का वध होता ही नही। आगम मे शुभ योगो से मुनि के भी स्पष्टत पुण्य का वध कहा है।

वावन वोल के स्तोक मे प्रश्न है—पाँच समिति, तीन गुप्ति कौन-सा भाव और कौन-सी आत्मा है ? उत्तर मे कहा वताया गया है—भावो मे गुप्ति उदय को छोडकर चार भाव है और आठ आत्माओ मे गुप्ति चारित्र आत्मा है। समिति—क्षायक क्षयोपशम और पारिणामिक भाव है और आत्माओ में योग आत्मा है।

इससे भी समितियाँ योग ठहरती हैं।

गुप्तियो, समितियो का उल्लेख ठाणाङ्ग, समवायाङ्ग, उत्तराध्ययन आदि आगमो में मिलता है[1]। पॉच समिति और तीन गुप्तियो को आगमो मे प्रवचन-माता कहा गया है[2]।

२—दस धर्म जो इष्ट स्थान मे धारण करे उसे धर्म कहते हैं[3]। धर्म के दस भेद को यतिधर्म, अनगार धर्म आदि भी कहा जाता है। इनका व्यौरा इस प्रकार है :

(६) उत्तम क्षमा उमास्वाति के अनुसार क्षमा का अर्थ है तितिक्षा, सहिष्णुता, क्रोध का निग्रह[4]। आ० पूज्यपाद के अनुसार निमित्त के उपस्थित होने पर भी कलुषता को उत्पन्न न होने देना क्षमा है[5]।

(१०) उत्तम मार्दव : उमास्वाति के अनुसार मृदुभाव अथवा मृदुकर्म को मार्दव कहते हैं। मदनिग्रह, मानविघात मार्दव है। जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, विज्ञान, श्रुत, लाभ

१—(क) ठाणाङ्ग ६०३
(ख) समवायाङ्ग ३
(ग) उत्त० २४ १,२, १९-२६

२—(क) उत्त० २४ १,३,
(ख) समवायाङ्ग ८

३—तत्त्वा० ९ २ सर्वार्थसिद्धि ·
इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्म

४—तत्त्वा० ९ ६ भाष्य

५—वही सर्वार्थसिद्धि

(७) आदाननिक्षेपण समिति : आवश्यकतावश धर्मोपकरणों को उठाते या रखते समय उन्हें अच्छी तरह देख कर उठाने-रखने को आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं[1]।

(८) उत्सर्ग समिति : त्रस-स्थावर जीव रहित प्रासुक स्थान पर, उसे अच्छी तरह देख और शोधकर मल-मूत्र का विसर्जन करना उत्सर्गसमिति है[2]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुनियों की निरवद्य प्रवृत्तियों के नियमों को ही 'समिति' नाम से विहित किया गया है[3]। श्री अकलङ्कदेव लिखते हैं—"गुप्तियों के पालन में असमर्थ मुनि की कुशल में प्रवृत्ति को समिति कहते हैं[4]।" आगम में भी ऐसा ही कथन मिलता है[5]।

यहाँ प्रश्न उठता है—समितियाँ प्रवृत्तिरूप होने पर भी उन्हें संवर के भेदों में कैसे गिनाया गया। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं— विहित रूप से प्रवृत्ति करनेवाले के असंयमरूप परिणामों के निमित्त से जो कर्मों का आस्रव होता है उसका संवर होता है[6]। श्री अकलङ्कदेव कहते हैं—"जाना बोलना खाना रखना, उठाना और मलोत्सर्ग आदि क्रियाओं में अप्रमत्त सावधानी से प्रवृत्ति करने पर इन निमित्तों से आनेवाले कर्मों का संवर हो जाता है[7]।"

१—(क) तत्त्वा० ९.५ भाष्य
   (ख) वही राजवार्तिक ९.७
२—(क) तत्त्वा० ९.५ भाष्य
   (ख) वही राजवार्तिक ९.८
३—तत्त्वा० ९.४ सर्वार्थसिद्धि
   तत्राप्रवर्तमानस्य मुनेर्निरवद्यप्रवृत्तिख्यापनार्थमाह
४—तत्त्वा० ९.५ राजवार्तिक ९
   तत्रासमर्थस्य कुशलेषु वृत्तिः समितिः
५—उत्त० २४.१६
   एयाओ पंच समिईओ चरणस्स य पवत्तणे।
६—(क) तत्त्वा० ९.५ सर्वार्थसिद्धि :
   तथा प्रवर्तमानस्यासंयमपरिणामनिमित्तकर्मास्रवात्संवरो भवति।
७—तत्त्वा० ९.५ राजवार्तिक :
   अतो गमनभाषणाभ्यवहरणग्रहणनिक्षेपोत्सर्गलक्षणसमितिविधायप्रमत्तानां तत्प्रणालिकाप्रसृतकर्माभावाभिभूतानां प्रागीदृक् संवरः।

स्वामीजी का कथन है—मुनि का विधिपूर्वक ग्राना-जाना, वोलना ग्रादि कार्य शुभ योग हैं। वे पुण्य के हेतु हैं। उन्हें सवर कहना सगत नही। यदि शुभ योगो में प्रवृत्त मुनि के शुभ योगो से सवर माना जायगा तो उसका ग्रर्थ यह होगा कि साधु के पुण्य का वध होता ही नही। ग्रागम मे शुभ योगो से मुनि के भी स्पष्टत पुण्य का वध कहा है।

वावन वोल के स्तोक मे प्रश्न है—पाँच समिति, तीन गुप्ति कौन-सा भाव ग्रौर कौन-सी ग्रात्मा है ? उत्तर मे कहा वताया गया है—भावो में गुप्ति उदय को छोडकर चार भाव है ग्रौर ग्राठ ग्रात्माग्रो मे गुप्ति चारित्र ग्रात्मा है। समिति—क्षायक क्षयोपशम ग्रौर पारिणामिक भाव है ग्रौर ग्रात्माग्रो मे योग ग्रात्मा है।

इससे भी समितियाँ योग ठहरती हैं।

गुप्तियो, समितियो का उल्लेख ठाणाङ्ग, समवायाङ्ग, उत्तराध्ययन ग्रादि ग्रागमो में मिलता है[1]। पाँच समिति ग्रौर तीन गुप्तियो को ग्रागमो मे प्रवचन-माता कहा गया है[2]।

३—दस धर्म . जो इष्ट स्थान मे धारण करे उसे धर्म कहते हैं[3]। धर्म के दस भेद को यतिधर्म, ग्रनगार धर्म ग्रादि भी कहा जाता है। इनका व्यौरा इस प्रकार है :

(६) उत्तम क्षमा उमास्वाति के ग्रनुसार क्षमा का ग्रर्थ है तितिक्षा, सहिष्णुता, क्रोध का निग्रह[4]। ग्रा० पूज्यपाद के ग्रनुसार निमित्त के उपस्थित होने पर भी कलुषता को उत्पन्न न होने देना क्षमा है[5]।

(१०) उत्तम मार्दव . उमास्वाति के ग्रनुसार मृदुभाव ग्रथवा मृदुकर्म को मार्दव कहते हैं। मदनिग्रह, मानविघात मार्दव है। जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, विज्ञान, श्रुत, लाभ

१—(क) ठाणाङ्ग ६०३
(ख) समवायाङ्ग ३
(ग) उत्त० २४ १,२, १९-२६

२—(क) उत्त० २४ १,३ ,
(ख) समवायाङ्ग ८

३—तत्त्वा० ९ २ सर्वार्थसिद्धि
इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्म.

४—तत्त्वा० ९ ६ भाष्य

५—वही सर्वार्थसिद्धि

और वीर्य—इन आठ मदस्थानों से मत्त हो दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा करने का निग्रह मार्दव है[1]। पूज्यपाद के अनुसार भी अभिमान का अभाव मान का निर्हरण मार्दव है[2]।

(११) उत्तम आर्जव : उमास्वाति कहते हैं—भाव विशुद्धि और अविसंवादन आर्जव के लक्षण हैं। ऋजुभाव अथवा ऋजुकर्म को आर्जव कहते हैं[3]। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार योगों की अवक्रता आर्जव है[4]।

(१२) उत्तम शौच : अलोभ। शुचिभाव या शुचिकर्म शौच है। अर्थात् भावों की विशुद्धि कल्मषता का अभाव और धर्म के साधनों में भी आसक्ति का न होना शौच धर्म है[5]। प्रकर्षप्राप्त लोभ की निवृत्ति शौच है[6]।

प्रश्न है—मनोगुप्ति और शौच में क्या अन्तर है? श्री अकलङ्कदेव कहते हैं—मनोगुप्ति में मन के परिस्पन्द का सर्वथा निरोध किया जाता है जब कि शौच में पर वस्तु विषयक अनिष्ट विचारों की शान्ति का ही समावेश होता है। लोभ चार हैं—जीवनलोभ, आरोग्यलोभ इन्द्रियलोभ और उपभोगलोभ। इन चारों का परिहार शौच में आता है[7]।

(१३) उत्तम सत्य : सद्धर्म में प्रवृत्त वचन अथवा सत्पुरुषों के हित का साधक वचन सत्य कहलाता है। अनृत परुषता चुगली आदि दोषों से रहित वचन उत्तम सत्य है[8]।

पूज्यपाद कहते हैं भाषासमिति में मुनि हित और मित ही बोल सकता है अन्यथा वह राग और अनर्थदण्ड का दोषी होता है। परन्तु उत्तम सत्य में धर्मवृद्धि के निमित्त बहु बोलना भी आ जाता है[9]।

१—तत्त्वा० ६.६ भाष्य
२—वही सर्वार्थसिद्धि
३—तत्त्वा० ६.६ भाष्य
४—वही सर्वार्थसिद्धि
५—तत्त्वा० ६.६ भाष्य
६—वही सर्वार्थसिद्धि
७—वही राजवार्तिक ८
८—वही भाष्य
९—वही सर्वार्थसिद्धि

(१४) उत्तम सयम योग-निग्रह को सयम कहते हैं[१]। श्री अकलङ्कदेव के अनुसार सयम में प्राणी-सयम और इन्द्रिय-सयम ही आते हैं। मन, वचन और काय का निग्रह गुप्तियो में आ जाता है[२]। उमास्वाति ने सयम के सतरह भेद दिये हैं[३]।

(१५) उत्तम तप कर्मक्षय के लिए उपवासादि वाह्य तप और स्वाध्याय, ध्यान आदि अन्तर तपो का करना तप धर्म है[४]। इच्छा-निरोध को भी तप कहा है—"इच्छा-निरोधस्तप।"

(१६) उत्तम त्याग उमास्वाति के अनुसार वाह्य और आभ्यन्तर उपाधि तथा शरीर, अन्नपानादि के आश्रय से होनेवाले भावदोष का परित्याग त्याग धर्म है[५]। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार सयति को योग्य ज्ञानादि का दान देना त्याग है[६]। श्री अकलङ्कदेव के अनुसार परिग्रह-निवृत्ति को भी त्याग कहते हैं[७]। कई जगह निर्ममत्व को त्याग कहा गया है—'निर्ममत्व त्याग।'

(१७) उत्तम आकिञ्चन्य . उमास्वाति के अनुसार शरीर और धर्मोपकरणो में ममत्व न रखना उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है[८]। आ० पूज्यपाद के अनुसार 'यह मेरा हैं' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आकिञ्चन्य है[९]।

(१८) उत्तम व्रह्मचर्य उमास्वाति के अनुसार इसके दो अर्थ हैं (१) व्रतो के परिपालन, ज्ञान की अभिवृद्धि एव कषाय-परिपाक आदि हेतुओ से गुरुकुल में वास करना और (२) भावनापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करना[१०]।

१—तत्त्वा० ९ ६ भाष्य

२—वही राजवार्तिक ११-१४

३—वही ९ ६ भाष्य

४—(क) तत्त्वा० ९ ६ भाष्य

(ख) वही सर्वार्थसिद्धि

५—तत्त्वा० ९ ६ भाष्य

६—वही · सर्वार्थसिद्धि

७—वही राजवार्तिक १८

८—तत्त्वा० ९ ६ भाष्य

९—वही सर्वार्थसिद्धि

१०—वही भाष्य

दस धर्मों का उल्लेख ठाणाङ्ग में भी है,—दसविहे समणधम्मे प० तं० खंती मुत्ती अज्जवे मद्दवे लाघवे सच्चे संजमे तवे चियाए बंभचेरवासे (ठा० १० । ७१२)। यहाँ 'शौच' और 'आकिञ्चन्य' के बदले 'मुक्ति' और 'लाघव' मिलता है।

दस धर्मों में उत्तम सत्य की परिभाषा सत्य बोलना की गयी है। यहाँ प्रवृत्ति को संयम कहा गया है। स्वामीजी के अनुसार शुभ योग संवर नहीं हो सकता। प्रवृत्तिपरक अन्य धर्मों के सम्बन्ध में भी यही बात समझ लेनी आवश्यक है।

४— बारह अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा भावना को कहते हैं। बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। बारह अनुप्रेक्षाओं का विवरण इस प्रकार है

(१९) अनित्य अनुप्रेक्षा शरीर आदि सर्व पदार्थ और संयोग अनित्य हैं—ऐसा पुनः पुनः चिन्तन।

(२०) अशरण अनुप्रेक्षा जन्म जरा मरण व्याधि आदि से ग्रस्त होने पर प्राणी का संसार में कोई भी शरण नहीं है—ऐसा पुनः पुनः चिन्तन।

(२१) संसार अनुप्रेक्षा संसार अनादि है उसमें पड़ा हुआ जीव नरकादि चारों गतियों में परिभ्रमण करता है। इसमें जन्म जरा मरण आदि के दुःख ही दुःख हैं ऐसा पुनः पुनः चिन्तन।

(२२) एकत्व अनुप्रेक्षा इस संसार में मैं अकेला ही हूँ, यहाँ पर मेरा कोई स्वजन परजन नहीं। मैं अकेला ही उत्पन्न हुआ अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होऊंगा। मैं जो कुछ करूँगा उसका फल मुझ अकेले को ही भोगना पड़ेगा। कर्मजन्य दुःख को बाँटने में दूसरा कोई समर्थ नहीं—ऐसा बार-बार चिन्तन।

(२३) अन्यत्व अनुप्रेक्षा—मैं शरीर आदि बाह्य पदार्थों से सर्वथा भिन्न हूँ और शरीर आदि मुझ से भिन्न हैं। आत्मा अमर है और शरीर आदि नाशवान हैं—ऐसा पुनः पुनः चिन्तन।

(२४) अशुचि अनुप्रेक्षा शरीर की अपवित्रता का बार-बार चिन्तन करना।

(२५) आस्रव अनुप्रेक्षा मिथ्यात्व आदि आस्रव जीवों को अकल्याण से युक्त और कल्याण से वंचित करते हैं—ऐसा पुनः पुनः चिन्तन।

(२६) संवर अनुप्रेक्षा—संवर नए कर्मों के आदान को रोकता है। संवर की इस गुणवत्ता का चिन्तन।

(२७) निर्जरा अनुप्रेक्षा . निर्जरा बधे हुए कर्मों का परिशाटन करती है। निर्जरा की इस गुणवत्ता का पुन पुन चिन्तन।

(२८) लोकानुप्रेक्षा · स्थिति-उत्पत्ति-व्ययात्मक द्रव्यो से निष्पन्न, कटिस्थकर पुरुष की आकृतिवाले लोक के स्वरूप का पुन पुन चिन्तन।

(२९) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा सम्यक्दर्शन—विशुद्ध बोधि का बार-बार प्राप्त करना दुर्लभ है—ऐसा पुन पुन चिन्तन करना।

(३०) धर्मस्याख्याततत्त्वानुप्रेक्षा · परमर्षि भगवान अरहतदेव ने जिसका व्याख्यान किया है वही एक ऐसा धर्म है जो जीव को इस ससार-समुद्र से पार उतारनेवाला और मोक्ष को प्राप्त करानेवाला है—ऐसा पुन पुन चिन्तन।

५—बाईस परीषह। मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए जिन्हें सहन करना योग्य है, उन्हें परीषह कहते हैं। बाईस परीषहो का विवरण इस प्रकार है

(३१) क्षुधा परीषह क्षुधा-सहन करना, जैसे—क्षुधा से अत्यन्त पीडित होने पर भी प्रासुक आहारी साधु फल आदि को न छेदे और न दूसरे से छिदवाए, न स्वय पकावे और न दूसरे से पकवाए। अकल्प्य आहार का सेवन न करे और धीर मन से सयम मे विचरे।

(३२) पिपासा परीषह : तृषा-सहन करना, जैसे—तृषा से अत्यन्त व्याकुल होने पर भी अकल्प्य सचित्त जल का सेवन न करे।

(३३) शीत परीषह · शीत-सहन करना, जैसे—शीत-काल में वस्त्र और स्थान के अभाव में अग्नि-सेवन न करे।

(३४) उष्ण परीषह · ताप-सहन करना, जैसे—ताप से तप्त होने पर भी स्नान की इच्छा न करे, शरीर पर जल न छिड़के, पखे से हवा न ले।

(३५) दशमशक परीषह दशमशको के कष्ट को सहन करना, जैसे—उनके द्वारा डँसे जाने पर भी उनको किसी तरह का त्रास न दे, उनके प्राणो का विघात न करे।

(३६) नाग्न्य परीषह नग्नता को सहन करना, जैसे—वस्त्र जीर्ण हो जाने पर साधु यह चिन्ता न करे कि वह अचेलक हो जाएगा अथवा यह न सोचे कि अच्छा हुआ वस्त्र जीर्ण हो गए और अब वह नए वस्त्र से सचेलक होगा। उत्तराध्ययन में इसे अचेलक परीषह कहा है।

(१७) अरति परीषह : कष्ट पड़ने पर संयम के प्रति अरुचि को उत्पन्न न होने देना।

(१८) स्त्री परीषह : स्त्री के लुभाने पर भी समभावपूर्वक रहना—मोहित न होना।

(१९) चर्या परीषह : ग्रामानुग्राम विचरते हुए मुनि चर्या से विचलित न होना।

(२०) नैषेधिकी परीषह : स्वाध्याय के लिए किसी स्थान में रहते समय उपसर्ग होने पर उसे समभावपूर्वक सहन करना : जैसे—दूसरे को त्रास न पहुँचाना और स्वयं भयभीत हो वहाँ से अन्य स्थान में न जाना।

(२१) शय्या परीषह : वास-स्थान अथवा शय्या न मिलने अथवा कष्टकारी मिलने पर समभाव रखना : जैसे—उच्चावच शय्या के कारण स्वाध्याय आदि के समय का उल्लंघन न करना।

(२२) आक्रोश परीषह : दुष्ट वचनों के सम्मुख समभाव रखना : जैसे—किसी के आक्रोश करने पर क्रोध न करना।

(२३) वध परीषह : वध कष्ट उपस्थित होने पर समभाव रखना : जैसे—किसी के पीटने पर भी मन में द्वेष न कर तितिक्षा भाव रखना।

(२४) याचना परीषह : याचना करने की क्रिया से दुःख-बोध नहीं करना : जैसे—यह न सोचना कि हाथ पसारने की अपेक्षा तो घर में ही रहना अच्छा।

(२५) अलाभ परीषह : आहारादि न मिलने अथवा अनुकूल न मिलने पर मन में कष्ट न होने देना।

(२६) रोग परीषह : रोग होने पर व्याकुल न होना।

(२७) तृणस्पर्श परीषह : तृण पर सोने से उत्पन्न वेदना से अविचलित रहना।

(२८) जल्ल परीषह : पसीने और मैल के कष्टों से न घबड़ाना।

(२९) सत्कार-पुरस्कार परीषह : किसी द्वारा सत्कारित किए जाने पर उत्कर्ष का अनुभव न करना। इसका लक्षण उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार दिया है—दूसरे के सत्कार-सम्मानादि को देखकर वैसे सत्कार-सम्मानादि की कामना न करना[1]।

(३०) प्रज्ञा परीषह : अपने में प्रज्ञा की कमी देख कर खेदखिन्न न होना।

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : अव० वृत्त्यादिसमेतं नवतत्त्वप्रकरणम् १८ :
बहुकोऽस्मरोऽस्मरादिक्लेशानुचिन्तनादेः चित्तोन्मादो न कार्यः, उत्कर्षो मनसि न कार्यः।

(५१) **अज्ञान परीषह :** अपने अज्ञान से खेदखिन्न न होना , जैसे—मैंने व्यर्थ ही मैथुन आदि से निवृत्ति तथा इन्द्रियो के दमन का प्रयत्न किया, जो मुझे साक्षात् धर्म और पाप का ज्ञान नही ।

(५२)**अदर्शन परीषह** जिनोपदिष्ट तत्त्वो में अश्रद्धा उत्पन्न न होने देना , जैसे—परलोक नहीं है, जिन नही हुए अथवा सयम-ग्रहण कर मैं छला गया आदि नही सोचना ।

वाईस परीषहो का वर्णन उत्तराध्ययन (अ० २), समवायाङ्ग (सम०२२) और भगवती (८.८) में मिलता है। भगवती में 'अज्ञान-परीषह' के स्थान में 'ज्ञान-परीषह' का उल्लेख है।

परीषह निर्जरा पदार्थ के अन्तर्गत आते हैं। स्वामीजी के अनुसार वे संवर के भेद नही हैं। वे षट् द्रव्यो में जीव और नव पदार्थों में जीव और निर्जरा के अन्तर्गत आते हैं[1] ।

६—पाँच चारित्र·

(५३) **सामायिक चारित्र** सर्व सावद्य योगों का त्याग कर पाँच महाव्रतो को ग्रहण करना सामायिक चारित्र कहलाता है।

(५४) **छेदोपस्थापनीय चारित्र** दीक्षा लेने के वाद विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर चुकने पर पुन महाव्रतो का ग्रहण करना अथवा प्रथम दीक्षा में दोष लगने से उसका छेद कर पुन दीक्षा लेना छेदोपस्थापनीय चारित्र है। सक्षेप में सामायिक चारित्र के सदोष अथवा निर्दोष पर्याय का छेद कर पुन महाव्रतो का ग्रहण करना छेदोपस्थापनीय चारित्र है।

(५५) **परिहारविशुद्धि चारित्र** जिसमें तप विशेष द्वारा आत्म-शुद्धि की जाती है, उसे परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं। विशेष तपस्या से विशुद्ध होना इस चारित्र की विशेषता है।

(५६) **सूक्ष्मसपराय चारित्र** जिस चारित्र में मात्र सूक्ष्मसपराय—लोभ-कषाय का उदय होता है, उसे सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहते हैं।

(५७) **यथाख्यात चारित्र** जिस चारित्र में कषाय के सर्वथा उपशम अथवा क्षय होने से वीतराग भाव की प्राप्ति होती है, उसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

पाँचो चारित्र सवर हैं क्योकि उनमें सर्व सावद्य व्यापार का प्रत्याख्यान रहता है। स्वामीजी ने भी पाँचो चारित्रो को सवर माना है।

१—बावन बोल को थोकडो : बोल ५०

३—सम्यक्त्वादि बीस संवर एवं उनकी परिभाषाएँ (गा० १,२,५,१०,११)

नीचे सम्यक्त्व आदि बीस आस्रवों की परिभाषाएँ दी जा रही हैं। इनका आधार प्रस्तुत ढाल तो है ही साथ ही स्वामीजी की अन्य कृति टीकम डोसी की चर्चा भी है। बीस संवरों की परिभाषाएं क्रमशः इस प्रकार हैं :

(१) सम्यक्त्व संवर (गा० १)

यह मिथ्यात्व आस्रव का प्रतिपक्षी है। स्वामीजी ने इसकी परिभाषा देते हुए उसके दो अङ्ग बतलाए हैं (क) नौ पदार्थों में यथातथ्य श्रद्धान और (ख) विपरीत श्रद्धा का त्याग।

(२) विरति संवर (गा० २)

यह अविरति आस्रव का प्रतिपक्षी है। सावद्य कार्यों का तीन करण और तीन योग से जीवनपर्यन्त के लिए प्रत्याख्यान करना सर्व विरति संवर है। अंश-त्याग देश विरति संवर है।

(३) अप्रमाद संवर :

यह तीसरे प्रमाद आस्रव का प्रतिपक्षी है। प्रमाद का सेवन न करना अप्रमाद संवर है[1]। प्रमाद का अर्थ अनुत्साह है। आत्म-स्थित अनुत्साह का क्षय हो जाना अप्रमाद संवर है।

(४) अकषाय संवर :

यह कषाय आस्रव का प्रतिपक्षी है। कषाय न करना अकषाय संवर है[2]। कषाय का अर्थ है—आत्म-प्रदेशों का क्रोध-मान-माया-लोभ से मलीन रहना। कषाय का क्षय हो जाना अकषाय संवर है।

(५) अयोग संवर (गा० ५ ११)

यह योग आस्रव का प्रतिपक्षी है। योग दो तरह के होते हैं—सावद्य और निरवद्य। दोनों का सर्वतः निरोध योग संवर है। सावद्य योगों का आंशिक या सार्वत्रिक त्याग अयोग संवर नहीं। यह विरति संवर है। सावद्य-निरवद्य सर्व प्रवृत्तियों का निरोध अयोग संवर है।

१—टीकम डोसी की चर्चा

प्रमाद न सेवे तहिज अप्रमाद संवर।

२—टीकम डोसी की चर्चा :

कषाय न करे तहिज अकषाय संवर।

(६) प्राणातिपात विरमण सवर (गा० १०) :

प्राणातिपात विरमण सवर प्राणातिपात आस्रव का प्रतिपक्षी है। हिंसा करने का त्याग करना अप्राणातिपात सवर है।

(७) मृपावाद विरमण सवर (गा० १०)

यह मृपावाद आस्रव का प्रतिपक्षी है। झूठ बोलने का त्याग करना अमृपावाद सवर है।

(८) अदत्तादान विरमण सवर (गा० १०) .

यह अदत्तादान आस्रव का प्रतिपक्षी है। चोरी करने का त्याग करना अदत्तादान सवर है।

(९) मैथुन विरमण सवर (गा० १०)

यह मैथुन आस्रव का प्रतिपक्षी है। मैथुन-सेवन का त्याग करना अमैथुन सवर है।

(१०) परिग्रह विरमण सवर (गा० १०) .

यह परिग्रह आस्रव का प्रतिपक्षी है। परिग्रह और ममताभाव का त्याग अपरिग्रह सवर है।

(११) श्रोत्रेन्द्रिय सवर (गा० ११) .

यह श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। अच्छे-बुरे शब्दो में राग-द्वेष करना श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव है। प्रत्याख्यान द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय को वश मे करना, शब्दो में राग-द्वेष न करना श्रोत्रेन्द्रिय सवर है।

(१२) चक्षुरिन्द्रिय सवर (गा० ११) .

यह चक्षुरिन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। प्रत्याख्यान द्वारा चक्षुरिन्द्रिय को वश मे करना, अच्छे-बुरे रूपो में राग-द्वेष न करना चक्षुरिन्द्रिय सवर है।

(१३) घ्राणेन्द्रिय सवर (गा० ११)

यह घ्राणेन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। सुगध-दुर्गन्ध में राग-द्वेष करना घ्राणेन्द्रिय आस्रव है। प्रत्याख्यान द्वारा घ्राणेन्द्रिय को वश में करना, गधो में राग-द्वेष न करना घ्राणेन्द्रिय सवर है।

(१४) रसनेन्द्रिय सवर (गा० ११)

यह रसनेन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। सुस्वाद-कुस्वाद में राग-द्वेष करना रसने-

न्द्रिय आस्रव है। प्रत्याख्यान द्वारा रसनेन्द्रिय को वश में करना, स्वादों में राग-द्वेष न करना रसनेन्द्रिय संवर है।

(१५) स्पर्शनेन्द्रिय संवर (गा० ११) :

यह स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। भले-बुरे स्पर्शों में राग-द्वेष न करना स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव है। प्रत्याख्यानपूर्वक स्पर्शनेन्द्रिय को वश में करना स्पर्शों में राग-द्वेष न करना स्पर्शनेन्द्रिय संवर है।

(१६) मन संवर (गा० १२)

यह मनयोग आस्रव का प्रतिपक्षी है। भले-बुरे मनोयोगों का संपूर्ण निरोध मन संवर है।

(१७) वचन संवर (गा० १२)

यह वचनयोग आस्रव का प्रतिपक्षी है। शुभाशुभ दोनों प्रकार के वचनों का सम्पूर्ण निरोध वचन संवर है।

(१८) काय संवर (गा० १२) :

यह काययोग आस्रव का प्रतिपक्षी है। शुभाशुभ दोनों प्रकार के कायों का सम्पूर्ण निरोध काय संवर है।

(१९) भंडोपकरण संवर (गा० १३) :

यह भंडोपकरण आस्रव का प्रतिपक्षी है। त्यागपूर्वक भंडोपकरणों का सेवन न करना भंडोपकरण संवर है। मुनि के लिए उनमें ममत्व न करना अथवा उनसे अयतना न करना संवर है।

(२०) सूची-कुशाग्र संवर (गा० १३) :

यह सूची कुशाग्र आस्रव का प्रतिपक्षी है। त्यागपूर्वक सूची-कुशाग्र का सेवन न करना सूची-कुशाग्र संवर है। मुनि के लिए उनमें ममत्व न करना अथवा उनसे अयतना न करना संवर है।

टीकम डोसी ने स्वामीजी से चर्चा करते हुए कहा था—"संवर दो तरह के होते हैं—(१) निवर्तक और (२) प्रवर्तक। अप्रमाद में प्रवृत्ति, अकषाय में प्रवृत्ति, शुभ योगों में प्रवृत्ति, दया में प्रवृत्ति, सत्य में प्रवृत्ति, दत्तग्रहण में प्रवृत्ति, शील में प्रवृत्ति, अपरिग्रह में प्रवृत्ति, पाँचों इन्द्रियों की शुभ प्रवृत्ति, मन-वचन-काय की भली प्रवृत्ति आदि सब प्रवर्तक संवर हैं।[1]

१—टीकम डोसी की चर्चा।

स्वामीजी का इससे मतभेद रहा। उन्होने लिखा है—"सवर निरोध लक्षणात्मक है, वह प्रवर्तक नही हो सकता। कषायरहित प्रवृत्ति, प्रमादरहित प्रवृत्ति, शुभ योग, मन-वचन काय की शुभ प्रवृत्ति, दया मे प्रवृत्ति, सत्य में प्रवृत्ति, दत्तग्रहण मे प्रवृत्ति, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह मे प्रवृत्ति, पाँचो इद्रियो की भली प्रवृत्ति आदि-आदि प्रवृत्तियाँ निर्जरा की करनी हैं। उनसे निर्जरा होती है, उनमें सवर का अश भी नही। सवर तो उसी पदार्थ को कहा जाता है जो आते हुए नए कर्मों को रोकता है। आस्रव उस पदार्थ को कहते हैं जो नए कर्मों को ग्रहण करता है। निर्जरा उस पदार्थ को कहते हैं जो बधे हुए कर्मों को तोडता है। इनके भिन्न-भिन्न लक्षणो से वस्तु का निर्णय करना चाहिए। सवर में शुभ प्रवृत्तियो का समावेश नही होता[1]।"

४—सम्यक्त्व आदि पाँच संवर और प्रत्याख्यान का सम्बन्ध (गा० ३-६) :

इन गाथाओ मे स्वामीजी ने सवर कैसे उत्पन्न होते हैं, इसपर प्रकाश डालते हुए दो बातें कही हैं

(१) सम्यक्त्व सवर और सर्व विरति सवर प्रत्याख्यान से निष्पन्न होते हैं।

(२) अप्रमाद, अकषाय और अयोग सवर कर्म क्षय से निष्पन्न होते हैं।

नीचे इनका क्रमश स्पष्टीकरण किया जा रहा है

१ (क) सम्यक्त्व सवर . निर्ग्रन्थ प्रवचन में हड्डी और मज्जा की तरह प्रेमानुराग होना श्रद्धा है। जिनप्ररूपित तत्त्वो मे शङ्कारहित, कांक्षारहित, विचिकित्सारहित श्रद्धा, रुचि प्रतीति को सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्त्व कहते हैं। निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, केवलज्ञानी द्वारा कहा हुआ है, प्रतिपूर्ण है, मोक्ष की ओर ले जानेवाला है, सशुद्ध है, शल्य का नाश करनेवाला है, सिद्धि-मार्ग है, मुक्ति-मार्ग है, निरूपम यानरूप है और निर्वाण का मार्ग है। यही सत्य है, यही परमार्थ है शेष सब अनर्थ हैं—ऐसी दृढ प्रतीति सम्यक्त्व है। ऐसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर भी सम्यक्त्व सवर नही होता। सम्यक्त्व सवर तब होता है जब मिथ्यात्व का त्याग किया जाता है। विपरीत श्रद्धान का त्याग ही सम्यक्त्व सवर है। इस तरह सम्यक्त्व सवर की निष्पत्ति त्याग—प्रत्याख्यान से होती है।

श्री जयाचार्य कहते हैं—"पहले गुणस्थान में बीस आस्रव होते हैं। दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व आस्रव नही होता, अवशेष उन्नीस होते हैं। तीसरे गुणस्थान में पुन बीस और चौथे में पुन उन्नीस आस्रव होते हैं। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व पुन दूर होता है और सम्यक्त्व आता है। इधर सवर के बीस भेद पहले चार गुणस्थानो में नही होते। दूसरे और चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने पर भी सम्यक्त्व सवर नहीं होता। इसका कारण यही है कि चौथे गुणस्थान में प्रत्याख्यान नही होता और प्रत्याख्यान बिना सवर नहीं होता। यहाँ तर्क किया जाता है कि चौथा गुणस्थान सम्यक्त्व प्रधान है फिर सम्यक्त्व सवर कैसे नही होगा ?

१—टीकम डोसी की चर्चा।

इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—सिद्धों में सम्यक्त्व होने पर भी सम्यक्त्व संवर नहीं है। वैसे त्याग न होने से उनमें सम्यक्त्व संवर नहीं वैसे ही दूसरे और चौथे गुण-स्थान में सम्यक्त्व होने पर भी त्याग के अभाव में सम्यक्त्व संवर नहीं होता[1]।

(ख) सर्व विरति संवर :

भगवान महावीर ने कहा है—"जो प्राणी असंयत अविरत और अप्रतिहतप्रत्याख्यात पापकर्मा होता है वह सक्रिय असंवृत, एकान्तदण्ड देनेवाला एकान्तबाल एकान्तसुप्त होता है। ऐसा मनुष्य मन वचन और काय से पाप करने का विचार भी न करे, वह पाप-पूर्ण स्वप्न भी न देखे तो भी वह पाप-कर्म करता है।

"जो आत्मा पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के प्राणियों के प्रति असंयत अविरत और अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा होता है, वह सदा निष्ठुर और प्राणीघात में चित्त वाला होता है। इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् परिग्रह, क्रोध यावत् मिथ्यादर्शनशल्य में चित्तवाला होता है। वह पाप न भी करे पापपूर्ण स्वप्न भी न देखे तो भी पाप-कर्म करनेवाला है क्योंकि ऐसा मनुष्य दिन में रात में सोते जागते सदा अमित्र होता है, मिथ्यासंस्थित होता है, नित्य शठ व्यवहारवाला और घात में चित्तवाला होता है। वह सब प्राणी सर्व सत्त्व का रात और दिन सोते और जागते सदा वैरी बना रहता है। वह अठारह पापों में विद्यमान रहता है। इसलिए मन वचन और काय से पाप करने का न सोचे, पाप न करे यहाँ तक कि पापपूर्ण स्वप्न भी न देखे तो भी वह पाप करता है[2]।

अविरति भाव-शस्त्र है। जैसे बारूद आग का संयोग मिलते ही भड़क उठता है वैसे ही स्वच्छन्द इच्छाएँ संयोग मिलते ही पाप में प्रवृत्त हो जाती हैं। इच्छाओं को अनियंत्रित

१—झीणी चर्चा ढा० ६

पहिले गुणठाणे आश्रव बीस दूजे भेद कह्या उगणीस।
इकियो मिथ्यात्व तणीस रे ॥१॥
तीजे बीस चौथे उगणीस यां पिण इकियो मिथ्यात तणीस।
च्यार सम्यक्त संवर जगीस रे ॥२॥
हिवे संवर नां भेद बीस पहिला च्यार गुणठाण न दीस।
आश्रवा कर्म नहीं रुकीस रे ॥२३॥
तीजे चौथे सम्यक्त पाय पिण मिथ्यात्व त्यागा बिन ताहि।
संवर कहीजे नांहि रे ॥२४॥
कोई कहे चोथो गुणस्थान सम्यक्त तो क्षायिक प्रधान।
तो सम्यक्त संवर क्यूं नहीं जान रे ॥२६॥
सिद्धा मांहि पिण सम्यक्त माने बिन त्यागा संवर नहीं थावे।
तिम चौथे गुणठाणे न पावे रे ॥२७॥

२—सूयगडं २.४

—खुली रखने का अर्थ है—पदार्थों की आशा—उनको भोगने की पिपासा को बनाये रखना। पापपूर्ण कार्यों के करने की सभावना को जीवित रखना। इसीलिए अत्याग भाव—आशा-वाञ्छारूप अविरति को आस्रव कहा गया है।

एक बार शिष्य ने पूछा—"जीव क्या करता हुआ और क्या कराता हुआ सयत, विरत और प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा होता है?" आचार्य ने उत्तर दिया—"भगवान ने पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक—इन छहो प्रकार के प्राणियो को कर्म-बध का हेतु कहा है। जो यह सोच कर कि जैसे मुझे हिंसाजनित दुख और भय होते हैं वैसे ही सब प्राणियो को होते हैं, प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह पापो से विरत होता है, वह सावद्य क्रिया-रहित, हिंसा-रहित, क्रोध-मान-माया-लोभ-रहित, उपशान्त और परिनिर्वृत्त होता है। ऐसा सयत, विरत और प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा आत्मा अक्रिय, सवृत्त और एकान्तपण्डित होता है[1]।"

इस वार्त्तालाप से स्पष्ट है कि अविरति आस्रव का निरोध विरति—पाप-प्रत्याख्यान से होता है। विरति सवर अठारह पापो के प्रत्याख्यान से निष्पन्न होता है।

श्री जयाचार्य ने कहा है—"पाँचवें गुणस्थान में सम्यक्त्व सवर होता है परन्तु सर्व व्रत न होने से, सर्व विरति की अपेक्षा से विरति सवर का अभाव कहा गया है। पाँचवें गुणस्थान में पाँचो चारित्र नही होते। देशचारित्र होता है जो उनसे भिन्न है। अत विरति सवर नही कहा गया है। पाँचवें गुणस्थान में चारित्र आत्मा भी इसी कारण नही कही गई है। देशचारित्र की अपेक्षा से पाँचवें गुणस्थान में भी विरति सवर और चारित्र कहने में कोई दोष नही[2]।"

(२) अप्रमाद, अकषाय और अयोग सवर :

ठाणाङ्ग में अठारह पापो की विरति का उल्लेख है[3]। यह विरति छठे गुणस्थान

१—सूयगडं २ ४

२—झीणी चर्चा ढा० ६ :

पचमें सम्यक्त सवर पाय, सर्व व्रती तणी अपेक्षाय।
वरती सवर कहीजे नाहि रे ॥२५॥
पचमें पांचू चारित्र नांहि, देश चारित्र जुदो कह्यो ताहि।
तिण सू वरती सवर न जणाय रे ॥२६॥
पंचमें चारित्र आत्मा नांहि, चारित्र आत्मावाला ताहि।
असंख्याता कह्या अर्थ रै मांहि रे ॥२७॥
तिणसुं पचमा गुणठाणा मांही वरती संवर कह्यो नहीं ताहि।
सर्व व्रत चारित्र नी अपेक्षाय रे ॥२८॥
देश चारित्र नी अपेक्षाय, वरती सवर ने चारित्र सहाय।
न्याय सू कह्यो दोषण नांहि रे ॥२९॥

३—ठाणाङ्ग, ४८ :

में सम्पूर्ण हो जाती है। यह सर्व विरति गुणस्थान कहलाता है। इसके बाद सावद्य कार्यों में अविरति नहीं रहती। सावद्य कार्यों के सर्व त्याग—प्रत्याख्यान इस गुणस्थान में हो जाते हैं। सब सावद्य कर्मों के प्रत्याख्यान हो जाने पर भी आगे के गुणस्थानों में प्रमाद, कषाय और योग आस्रव देखे जाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्व सावद्य कार्यों के प्रत्याख्यान से भी ये नहीं मिटते और उस समय तक अवशेष रहते हैं जब तक सम्बन्धित कर्मों का क्षय या क्षयोपशम नहीं होता।

श्री जयाचार्य लिखते हैं—

'आठवें और नौवें गुणस्थान में शुभ लेश्या और शुभ योग हैं। सावद्य योगों का सर्वथा परिहार है फिर भी कषाय आस्रव है। सर्व सावद्य योगों के प्रत्याख्यान से भी कषाय आस्रव दूर नहीं हुआ। जब जीव ग्यारहवें गुणस्थान में क्रोध मान माया और लोभ का उपशम करता है तब उदय का कर्तव्य दूर होता है और कषाय संवर होता है। छठे गुणस्थान में प्रमाद आस्रव होता है पर लेश्या और योग शुभ होते हैं। सावद्य योगों का प्रत्याख्यान होने पर भी प्रमाद आस्रव दूर नहीं हुआ। शुभ योगों की जब अधिक प्रबलता होती है तो सातवें गुणस्थान में अप्रमाद संवर होता है। छठे गुणस्थान तक निरन्तर प्रमाद आस्रव होता है और कषाय आस्रव निरन्तर दसवें गुणस्थान तक। सातवें गुणस्थान में अप्रमाद संवर होता है फिर प्रमाद का पाप नहीं लगता। ग्यारहवें गुणस्थान में अकषाय संवर होता है और फिर कषाय के पाप नहीं लगते[1]।

१—झीणी चर्चा ढा० २०

आठमे नवमे गुणठाणे है जी शुभ लेश्या शुभ जोग।
तिण ओदारिक स्यूं तिणरूमा प्रदेश ते जी कषाय आस्रव प्रयोग ॥ १४ ॥
क्रोध मान माया लोभ सर्वथा जी उपशमाया इग्यारमें गुणठाण।
उदय नों किरतब मिट गयो जी जब अकषाय संवर जाण ॥ १७ ॥
असंख्याता जीव रा प्रदेश में अनन्तवापमो अधिकाय।
ते दीसे तीनूं जोगां स्यूं इतोबी प्रमाद आस्रव ताप ॥ १ ॥
त कर्म उदय थकी मिट गया जी जबर जावे शुभ जोग।
तिण लेश्या गुणठाणो सातमो जी, अति शुद्ध प्रयोग ॥ ३१ ॥
छठे प्रमाद आस्रव पछै जी लेश्या जोग शुभ जाण।
अधिक शुभ जोग जाया पछै जी अप्रमादी सातमें जाण ॥ ३९ ॥
छठे प्रमाद आस्रव निरन्तरे दसमा लग निरन्तर कषाय।
निरन्तर पाप लागे तेहथी तीनूं जोगां स्यूं कह्यो जवाय ॥ ४२ ॥
अब आगे गुणठाणे सातमें प्रमाद रो नहीं लगे पाप।
अकषाई हुवां स्यूं कषाय रा, नहीं लागे पाप संताप ॥ ४६ ॥

अयोग सवर के सम्बन्ध मे श्री जयाचार्य लिखते हैं .

"छठे गुणस्थान में अठारह आस्रव होते हैं। मिथ्यात्व आस्रव और अविरति आस्रव नही होते। भगवती सूत्र मे इस गुणस्थान मे दो क्रियाएँ कही हैं—(१) माया-प्रत्यया क्रिया। यह कषाय है। (२) आरम्भ-प्रत्यया क्रिया। यह अशुभ योग है। सातवें गुणस्थान मे भी पाँच आस्रव होते हैं—कषाय आस्रव, योग आस्रव, मन आस्रव, वचन आस्रव और काय आस्रव। इस गुणस्थान में माया-प्रत्यया क्रिया होती है। अशुभ योगरूप आरम्भिका क्रिया नही होती। आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में भी सातवे गुणस्थानवर्ती पाँचो आस्रव पाये जाते हैं। दो क्रियाएँ होती हैं—माया-प्रत्यया और साम्परायिकी। ग्यारहवें गुणस्थान में चार आस्रव होते हैं—शुभ योग, शुभ मन, शुभ वचन और शुभ काय। बारहवें-तेरहवें गुणस्थान में भी ये ही चार आस्रव होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में कोई आस्रव नही होता—अयोग सवर होता है[1]।"

इससे भी स्पष्ट है कि सर्व सावद्य योगो का प्रत्याख्यान छठे गुणस्थान मे कर लेने पर भी योग आस्रव नही मिटता। वह तेरहवें गुणस्थान तक रहता है।

१—झीणी चर्चा ढा० ६

छठे आश्रव कह्या अठार, टलियो मिथ्यात अव्रत धार।
क्रिया दोय कही जगतार रे ॥ ४ ॥
मायावतिया कषाय नी ताहि, आरभिया अशुभ जोग कहिवाय।
भगवती पहिला शतक मांहि रे ॥ ५ ॥
सातमा गुणठाणा मांहि, पच आश्रव भेदज पाय।
कषाय जोग मन वच काय रे ॥ ६ ॥
मायावतिया क्रिया तिहां होय, आरभिया अशुभ जोग न कोय।
ए पिण पाठ भगोती में जोय रे ॥ ७ ॥
अष्टम नवमां दशमां रैं मांहि, पंच आश्रव तेहिज पाय।
क्रिया मायावतिया संपराय रे ॥ ८ ॥
इग्यारमें है आश्रव च्यार, जोग मन वच काय उदार।
अशुभ आश्रव ना परिहार रे ॥ ९ ॥
बारमें तेरमें पिण च्यार, जोग मन वच काय उदार।
चवदमें नहीं आश्रव लिगार रे ॥ १० ॥

छठे गुणस्थान में सब प्रत्याख्यान निष्पन्न सर्व विरति संवर होता है, पर अयोग संवर तेरहवें गुणस्थान तक नहीं होता। वह प्रत्याख्यान से नहीं; कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है। अतः चौदहवें गुणस्थान में होता है[1]।

स्वामीजी के सामने वाद आया—'योग को छोड़ कर बीस आस्रवों में से उन्नीस को जीव जब करना चाहे कर सकता है और वैसे ही जब छोड़ना चाहे छोड़ सकता है, यह अपने वश की बात है।' स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा है—'जो यह कहते हैं कि उन्नीस आस्रव जब इच्छा हो छोड़े जा सकते हैं—उनसे पूछना चाहिए कि साधु छठे गुणस्थान में प्रमाद आस्रव को क्यों नहीं छोड़ता, कषाय आस्रव को क्यों नहीं छोड़ता? माया प्रत्यया, लोभ प्रत्यया, मान प्रत्यया और क्रोध प्रत्यया क्रियाओं को क्यों नहीं छोड़ता? रागद्वेष प्रत्यया क्रिया को क्यों नहीं छोड़ता? तीन वेद की क्रिया को क्यों नहीं छोड़ता? इसी तरह अनेक उदय के कर्तव्य हैं, जिनसे पाप लगते हैं, उन्हें क्यों नहीं छोड़ता? पुनः अठारह पाप-स्थानकों के क्षयोपशम से क्षयोपशम सम्यक्त्व और क्षयोपशम चारित्र आता है। इस तरह अठारह पाप-स्थानक क्षयोपशम चारित्र और सम्यक्त्व वाले के निरन्तर उदय में रहते हैं, जिससे उदय के कर्तव्य निरन्तर होते रहते हैं और निरन्तर पापकर्म लगते रहते हैं। यदि योग आस्रव को वर्जित कर अन्य उन्नीस आस्रव टालने से टल सकते हों तो जीव उन आस्रवों को क्यों नहीं टालता? मिथ्यात्व आस्रव अविरति

1—झीणी चर्चा ढाल १:

छठे संवर कह्या दोय सम्यक्त्व ने वरती संवर होय।
व्रती संवर चारित्र संजोय रे ॥ २ ॥
सातमा गुणठाणा सोमाले पनरे भेद संवर ना पावे।
अशुभ जोग तिहां नहीं आवे रे ॥ ११ ॥
अकषाय अजोग छटाय बाकी बच करे मन वच काय।
ए पांचूं संवर पावे नांहि रे ॥ १२ ॥
आठमें नवमें दशमें मत पनरे भेद हैं तंत।
पूर्व कह्या ते पांचु थकंत रे ॥ १३ ॥
इग्यारमें लौके अजोग नांहि, बाकी बच करे मन वच काय।
ए इग्यारमें संवर नहीं पाय रे ॥ १४ ॥
बारमें तेर में चवदमें लोक, चवदमें बीसूं बोल अजोग।
तिहां मांही नहीं बीस बोल रे ॥ १५ ॥

आस्रव (जो प्रत्याख्यान से उत्पन्न होते हैं) भी कर्म के घटने से घटते हैं। कर्म घटे विना ये भी घटाये नही जा सकते फिर प्रमाद आस्रव, कषाय आस्रव और योग आस्रव की तो वात ही क्या[1] ?'

इससे स्पष्ट है कि अप्रमाद संवर, अकषाय सवर और अयोग संवर की उत्पत्ति प्रत्याख्यान से नही होती, अपितु कर्मो के क्षय और क्षयोपशम से होती है।

५—अन्तिम पंद्रह संवर विरति संवर के भेद क्यों ?(गा० १०-१५) :

टिप्पणी क्रमाङ्क तीन में वीस सवरो का विवेचन है। स्वामीजी यहाँ कहते हैं—"वीस सवरो मे प्रथम पांच—सम्यक्त्व सवर, विरति सवर, अप्रमाद सवर, अकषाय सवर और योग सवर—ही प्रधान हैं। प्राणातिपात सवर से लेकर सूची-कुशाग्र सवर तक का समावेश विरति सवर में होता है। ये विरति सवर के भेद हैं। इन पद्रह भेदो में प्रत्याख्यान—त्याग की अपेक्षा रहती है।

प्राणातिपात से लेकर सूची-कुशाग्र-सेवन तक पद्रह आस्रव योगास्रव हैं। इन अशुभ योगास्रवो के प्रत्याख्यान से विरति सवर होता है। मन-वचन-काय के शुभ योग अवशेष रहते हैं। उनका सर्वथा निरोध होने पर अयोग सवर होता है।

यहाँ प्रश्न उठता है—प्राणातिपात आदि पन्द्रह आस्रव योगास्रव के भेद हैं तो फिर प्राणातिपात विरमण आदि पद्रह सवर अयोग सवर के भेद न होकर विरति सवर के भेद क्यो ?

इसका उत्तर यह है—अविरति आस्रव के आधार प्राणातिपातादि अठारह पाप हैं। पद्रह आस्रव इन्ही पापो में समाविष्ट हैं। पापकारी प्रवृत्तियो का त्याग न होना ही अविरति आस्रव है।

उधर पद्रह आस्रव प्रवृत्तिरूप हैं। मन-वचन-काय-योग की असत् प्रवृत्ति से ही प्राणातिपात आदि किये जाते हैं। प्रवृत्ति योग आस्रव का लक्षण है अतएव पद्रह आस्रव योगास्रव में समाविष्ट हो जाते हैं।

इन पद्रह आस्रवो का प्रत्याख्यान करने से अत्याग-भावनारूप अविरति आस्रव का निरोध होता है, विरति सवर होता है, क्योंकि पापकारी वृत्तियाँ ही अविरति आस्रव हैं और उनका प्रत्याख्यान ही विरति सवर है।

अव प्रश्न यह रहा कि इनके प्रत्याख्यान से अयोग सवर क्यो नही होता ? इसका उत्तर यह है कि यौगिक प्रवृत्ति दो प्रकार की है—शुभ और अशुभ। अयोग सवर

१—टीकम डोसी की चर्चा

इन दोनों के सर्वथा निरोध से होता है। अशुभ प्रवृत्तियों का आंशिक प्रत्याख्यान पाँचवें गुणस्थान में और पूर्ण प्रत्याख्यान छठे गुणस्थान में हो जाता है, लेकिन शुभ प्रवृत्ति तो तेरहवें गुणस्थान तक चालू रहती है। उसका पूर्णरूपेण निरोध तो मुक्त होने की पार्श्ववर्ती दशा में—चौदहवें गुणस्थान में होता है। अतः प्राणातिपात आदि सावद्य प्रवृत्तियों के प्रत्याख्यान से विरति संवर होता है। योग पर उसका असर सिर्फ इतना ही होता है कि शुभ और अशुभ कार्य-क्षेत्रों में चौड़नेवाली योगरूप अस्थिरता—चञ्चलता अशुभ काय-क्षेत्र से दूर हो शुभ कार्य-क्षेत्र में सीमित हो जाती है, पर उसकी प्रवृत्ति रुकती नहीं। अतः सावद्य प्रवृत्ति को त्यागने से अयोग संवर नहीं होता[1]।

श्री हेमचन्द्रसूरि लिखते हैं— 'सावद्ययोगहानेन विरतिं चापि साधयत्[2]।'' सावद्य योग के त्याग से विरति की सिद्धि करो। इससे भी स्वामीजी ने जो कहा है वह समर्थित होता है। विरति संवर की उत्पत्ति सावद्य योगों के त्याग से होती है।

६—अप्रमादादि संवर और शंका-समाधान(गा० १६-१७)

स्वामीजी ने गाथा ७ से ६ में यह कहा है कि अप्रमाद अकषाय और अयोग संवर त्याग—प्रत्याख्यान से नहीं होते। यहाँ प्रश्न उठाया जाता है—

'आगम में कहा है—'प्रत्याख्यान से इच्छानिरोध होता है—प्राणी आस्रव को निरुद्ध करता है[3]। इसी तरह कहा है—'प्रत्याख्यान का फल संयम है और संयम का फल आस्रव निरोध[4]। प्रत्याख्यान से आस्रव का निरोध स्पष्ट कहा है अतः प्रमाद प्रत्याख्यान कषाय प्रत्याख्यान और योग प्रत्याख्यान से भी वे वे संवर सिद्ध होते हैं।

१—जीव-अजीव पृ० ११४-११५

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : श्री हेमचन्द्रसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरणम् गा० ११

३—उत्त० २९. १३

पच्चक्खाणेणं भन्ते जीवे किं जणयइ ॥ प० आसवदाराइं निरुम्भइ। पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ।

४—भगवती २.५

से णं भंते ! पच्चक्खाणे किं फले ? संजमफले। से णं भंते ! संजमे किं फले ? अणण्हयफले।

"आगम मे कषाय-प्रत्याख्यान और योग-प्रत्याख्यान का उल्लेख भी स्पष्ट रूप से प्राप्त है। यदि कषाय और योग के प्रत्याख्यान से अकषाय और अयोग सवर नही होते तो कषाय-प्रत्याख्यान और योग-प्रत्याख्यान का उल्लेख ही क्यो आता ? उत्तराध्ययन मे निम्नोक्त दो प्रश्नोत्तर प्राप्त हैं

(१) 'हे भन्ते ! कषाय-प्रत्याख्यान से जीव को क्या होता है ?' 'कषाय-प्रत्याख्यान से जीव वीतराग भाव का उपार्जन करता है, जिससे जीव सुख-दु ख में समभाववाला होता है[1] ।'

(२) 'हे भगवन् ! योग-प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?' 'योग-प्रत्याख्यान से जीव अयोगीत्व प्राप्त करता है। अयोगी जीव नए कर्मों का बन्ध नही करता और पूर्व सचित कर्मों की निर्जरा करता है[2] ।'

"इन प्रश्नोत्तरो से भी स्पष्ट है कि अकषाय और अयोग सवर भी प्रत्याख्यान से होते हैं। अप्रमाद सवर के विषय में भी यही बात लागू पडती है।"

इस प्रश्न का समाधान करते हुए स्वामीजी कहते हैं—"आगम में उपर्युक्त प्रत्याख्यान के साथ ही शरीर-प्रत्याख्यान का भी उल्लेख है[3]। पर जैसे शरीर का प्रत्याख्यान करने पर भी शरीर छूटता नही, वैसे ही प्रमाद, कषाय और शुभ योगो का प्रत्याख्यान करने पर भी उनसे छुटकारा नही होता। शरीर-प्रत्याख्यान का अर्थ है शरीर के ममत्व का त्याग। वैसे ही कषाय प्रत्याख्यान और योग-प्रत्याख्यान का अर्थ है कषाय और योग के ममत्व का त्याग। जिस तरह शरीर-प्रत्याख्यान से शरीर-मुक्ति नही होती, वैसे ही कषाय-प्रत्याख्यान और योग-प्रत्याख्यान से कषाय-आस्रव और योगास्रव से मुक्ति नही होती। उनसे अकषाय सवर अथवा अयोग सवर नही होते। अप्रमाद, कषाय और अयोग सवर तो तत्सम्बन्धी कर्मों के क्षय और उपशम से ही होते हैं[4]।"

१—उत्त० २९ ३६

कसायपच्चक्खाणेणं भन्ते जीवे किं जणयइ ॥ क० वीयरागभावं जणयइ । वीयराग भावपाडिवन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥

२—उत्त० २९ ३७ ·

जोगपच्चक्खाणेण भन्ते जीवे किं जणयइ ॥ जो० अजोगत्त जणयइ । अजोगी णं जीवे नव कम्म न वन्धइ पुव्वबद्ध निज्जरेइ ॥

३—उत्त० २९ ३८

सरीरपच्चक्खाणेणं भन्ते जीवे किं जणयइ ॥ स० सिद्धाइसयगुणकित्तणं निव्वत्तेइ । सिद्धाइसयगुणसपन्ने य णं जीवे लोगग्गमुवगए परमसुही भवइ ॥

४—टीकम डोसी की चर्चा

७—पाँच चारित्र और पाँच निर्ग्रन्थ संवर हैं (गा० १८) :

स्वामीजी यहाँ दो बातें कहते हैं :

१—पाँचों चारित्र संवर हैं।

२—पाँचों निर्ग्रन्थ-स्थान संवरयुक्त हैं।

नीचे इनपर क्रमशः प्रकाश डाला जाता है :

१ पाँचों चारित्र संवर हैं :

पाँच चारित्रों का वर्णन पहले किया जा चुका है (देखिए पृ० ५२१)। इन पाँच चारित्रों को आगम में पाँच संयम कहा है[1]। जो इन संयमों से युक्त होते हैं उन्हें संयत कहा गया है। भगवती में संयतों के विषय में निम्न वर्णन मिलता है :

'संयत पाँच प्रकार के हैं : (१) सामायिक संयत (२) छेदोपस्थापनीय संयत (३) परिहारविशुद्धिक संयत (४) सूक्ष्मसंपराय संयत और (५) यथाख्यात संयत।

'जो सर्व सावद्य योगों का त्याग कर चार महाव्रतरूप अनुत्तर धर्म का त्रिविध से अच्छी तरह पालन करता है, वह सामायिक संयत' है।

'जो पूर्व दीक्षा-पर्याय का छेद कर अपनी आत्मा को पुनः पाँच महाव्रतरूप धर्म में उपस्थापित करता है, वह 'छेदोपस्थापनीय संयत' है।

'जो पाँच महाव्रतरूप अनुत्तर धर्म का त्रिविध रूप से अच्छी तरह पालन करता हुआ परिहार-तप से विशुद्धि करता है वह 'परिहारविशुद्धिक संयत' है।

'जो लोभ के अणुओं का वेदन करता हुआ चारित्रमोह का उपशमन अथवा क्षय करता है वह 'सूक्ष्मसंपराय संयत' है।

'मोहनीयकर्म के उपशम या क्षय होने पर जो छद्मस्थ अथवा जिन होते हैं उन्हें 'यथाख्यात संयत' कहते हैं[2]।

स्वामीजी कहते हैं इन संयतों के जो सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-संपराय और यथाख्यात चारित्र या संयम हैं, वे संवर हैं।

१—ठाणाङ्ग ५ २ ४२७ :

पंचविधे संजमे पं० तं० सामाइयसंजमे छेदोवट्ठावणियसंजमे परिहारविसुद्धियसंजमे सुहुमसंपरागसंजमे अहक्खायचरित्तसंजमे

२—भगवती २५ ७ २

(२) पांच निर्ग्रन्थ संवरयुक्त हैं ।

भगवती मे निर्ग्रन्थो का वर्णन इस प्रकार मिलता है :

"निर्ग्रन्थ पांच प्रकार के हैं—(१) पुलाक, (२) बकुश, (३) कुशील, (४) निर्ग्रन्थ और (५) स्नातक[१] ।"

जो साधु सयमी होने तथा वीतराग-प्रणीत आगम से चलित न होने पर भी मूल उत्तरगुण में दोप लगाने से सयम को पुलाक—निस्सार धान के कण की तरह कुछ निस्सार करता है अथवा उसमे परिपूर्णता नही प्राप्त करता, उसे 'पुलाक निर्ग्रन्थ' कहते हैं।

जो साधु उत्तरगुण में दोष लगाता है, शरीर और उपकरणो को सुशोभित रखने की चेष्टा मे प्रयत्नशील होता है, ऋद्धि और कीर्ति का इच्छुक होता है तथा अतिचारयुक्त होता है, उसे 'बकुश निर्ग्रन्थ' कहते हैं ।

जिसका शील उत्तरगुण मे दोष लगने से अथवा सज्ज्वलन कषाय से कुत्सित हुआ हो, उसे 'कुशील निर्ग्रन्थ' कहते हैं ।

जिसके कषाय क्षय को प्राप्त हो गए हो, वैसे—क्षीणकषाय अथवा जिसका मोह शान्त हो गया हो वैसे उपशान्तमोह मुनि को 'निर्ग्रन्थ' कहते हैं।

जो समस्त घाती कर्मों का प्रक्षालन कर स्नात—शुद्ध हो गया हो और जो सयोगी अथवा अयोगी केवली हो, उसे 'स्नातक निर्ग्रन्थ' कहते हैं ।

स्वामीजी कहते हैं—पाँचो ही प्रकार के निर्ग्रन्थ सर्वविरति चारित्र में अवस्थित हैं। चारित्र मोहनीयकर्म की क्षयोपशमादि जन्य विशेषता के कारण निर्ग्रन्थो के पुलाक आदि पाँच भेद हैं। पाँचो निर्ग्रन्थो में सयम है। सब सवरयुक्त हैं।

श्री जयाचार्य कहते हैं· "छह निर्ग्रन्थ छठे से चौदहवे गुणस्थानो में से भिन्न-भिन्न गुणस्थान में होते हैं। यदि कोई साधु नई दीक्षा आए वैसे दोष का सेवन करता है अथवा दोष की स्थापना करता है तभी छठा गुणस्थान लुप्त होता है। मासिक अथवा चौमासिक दण्ड से छठा गुणस्थान नही जाता । वह तो विपरीत श्रद्धा और स्थापना से तथा बडे दोष के सेवन से जाता है[१] ।"

१—झीणी चर्चा ढाल २१ :

भगवती शतक पचीस में रे, छठे उदेसे जोय रे ।
छै नेठा कह्या जुवा २ रे भाई २, छठा स्यु चवदमें जोय ॥३॥
नूइ दिख्या आवै जीसो रे, दोपण सेवै कोय रे ।
अथवा थाप करै दोपनी रे भाई २, फिरै छठो गुणठांणो सोय ॥२०॥
मासी चउमासी डड थकी रे, छठो गुणठाणो नही फिरै कोय रे ।
फिरै उधी श्रद्धा तथा थाप थी रे भाई २, तथा जबर दोप थी जोय ॥२१॥

एक बार गौतम के प्रश्न पर भगवान महावीर ने उत्तर में कहा था—"पुलाक निर्ग्रन्थ सामायिक संयम और छेदोपस्थापनीय संयम में होता है, पर परिहारविशुद्धिक और सूक्ष्मसंपराय अथवा यथाख्यात संयम में नहीं होता । यही बात बकुश निर्ग्रन्थ और प्रतिसेवनाकुशील निर्ग्रन्थ के सम्बन्ध में समझनी चाहिए । कषाय कुशील निर्ग्रन्थ सामायिक संयम यावत् सूक्ष्मसम्पराय संयम में होता है, पर यथाख्यात संयम में नहीं होता। निर्ग्रन्थ सामायिक यावत् सूक्ष्मसम्पराय संयम में नहीं होता पर यथाख्यात संयम में होता है । स्नातक के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए[1] ।

इस वार्त्ता से स्पष्ट है कि पाँचों ही निर्ग्रन्थ संवृतात्मा होते हैं—संवरयुक्त होते हैं।

८—सामायिक चारित्र (गा० १९.२०)

सपंक जल को साफ करने के लिए जब उसके साथ कतक (फिटकरी) आदि द्रव्यों का सम्बन्ध किया जाता है तब एक अवस्था ऐसी होती है कि जिसमें पंक का कुछ भाग नीचे बैठ जाता है और कुछ भाग जल में ही मिला रहता है। उसी तरह जीव के साथ बंधे हुए चार घनघाती कर्मों की एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें कुछ कर्मांशों का क्षय और कुछ कर्मांशों का उपशम होता है। इस अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं । कर्मों के क्षयोपशम से जीव में जो भाव निष्पन्न होते हैं, उन्हें क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

आठ कर्मों में मोहनीयकर्म का स्वभाव विकार पैदा करने का है। मिथ्यात्व दर्शन मोहनीयकर्म के और अविरति (असंयम) चारित्र-मोहनीयकर्म के उदय से निष्पन्न भाव हैं[3] । जब दर्शन और चारित्र-मोहनीयकर्म का क्षयोपशम होता है तब क्रमशः सम्यक्त्व और चारित्र उत्पन्न होते हैं। चारित्र-मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न चारित्र को क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं। सामायिक छेदोपस्थापनीय परिहारविशुद्धिक और

१—भगवती २५.६

२—तत्त्वा० २.१ सर्वार्थसिद्धि

उभयात्मको मिश्रः । यथा तस्मिन्नेवाम्भसि कतकादिद्रव्यसम्बन्धात्पङ्कस्य क्षीणाक्षीणवृत्तिः

३—झीणी चर्चा ढा० १९.४ :

तीन भाठी लेस्या नै च्यार कषाय में रे, तीन वेद मिथ्याती में जाणत रे ।
ए चारे मोहकर्म ने साक्य बोलाय्यो रे, मोह उदय स्यूं पा रो प्रगत रे॥

सूक्ष्मसपराय—ये चार चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव हैं अत क्षायोपशमिक हैं[1]।

स्वामीजी ने गा० १६-२० मे सामायिक चारित्र की उत्पत्ति का क्रम वडे सुन्दर ढग से उपस्थित किया है। सक्षेप मे वह इस प्रकार है :

१—चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से वैराग्य उत्पन्न होता है।

२—वैराग्योत्पत्ति से जीव काम-भोगो से विरक्त होता है।

३—काम-भोगो से विरक्त होने पर वह सावद्य कार्यों का त्याग—प्रत्याख्यान कर देता है।

४—सर्व सावद्य कार्यों के सर्वथा त्याग से सर्व विरति सवर होता है। यही सामायिक चारित्र है। सामायिक चारित्र में सर्व सावद्य योगो का त्याग होने से सर्वविरत साधु के अविरति के पाप सर्वथा नही लगते। सामायिक चारित्र एकान्त गुणमय होता है।

६—औपशमिक चारित्र (गा० २१-२३) :

सर्व सावद्य योगो का त्याग कर सामायिक चारित्र ग्रहण कर लेने पर अविरति आस्रव का सर्वथा अभाव हो जाता है। पर मोहकर्म का उदय नही मिटता। अविरति के कर्म नही लगने पर भी मोहकर्म के उदय से सामायिक चारित्रवालो द्वारा भी ऐसे कर्तव्य हो जाते हैं जिनसे उनके भी पाप कर्म लगते रहते हैं। शुभ ध्यान और शुभ लेश्या से मोहकर्म का उदय घटता है तब उदयजनित सावद्य कर्तव्य भी कम हो जाते हैं। वैसी हालत में उदय के कर्तव्यो के पाप भी कम लगते हैं। इस तरह मोहकर्म का उदय कम होते २ उसका सम्पूर्ण उपशम हो जाता है तव औपशमिक चारित्र उत्पन्न होता है। इसी कारण कहा है--सम्यक्त्व और चारित्र—ये दो औपशमिक भाव हैं[2]। मोहकर्म के उपशम से जीव निर्मल तथा शीतल हो जाता है और उसके पापकर्म नही लगते।

१—झीणी चर्चा १६ १६

मोह कर्म क्षयोपशम थकी लहै रे, देशवरत चिहु चारित्र देख रे।
ए पांचूई निरवद्य करणी लेखैं कह्या रे, त्रिदृष्टी उज्वल निरवद्य लेख रे॥

२—(क) तत्त्वा० २ ३ भाष्य :

सम्यक्त्व चारित्र च द्वावौपशमिकौ भावौ भवत इति।

(ख) झीणी चर्चा १६ १०

उपशम मोहकर्म पुद्गल छ रे, उपशम निपन्न जीव पवित्र रे।
उपशम निपन्न रा दोय भेद छे, उपशम समकित उपशम चारित्र रे॥

जैसे जल को स्वच्छ करने की प्रक्रिया में कतक (फिटकरी) आदि द्रव्यों के सम्बन्ध से जल में पंक नीचे बैठ जाता है और जल मैला नहीं रहता उसी प्रकार जीव के बंधे हुए कर्म भी निमित्त पाकर उपशमित हो जाते हैं। कर्म की स्वशक्ति का किसी कारण से प्रकट न होना उपशम कहलाता है[1]। कर्मों के उपशम से जीव में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं। औपशमिक चारित्र समस्त मोहनीयकर्म के उपशम से उत्पन्न होता है[2]। अतः अपने इस निमित्त के अनुसार औपशमिक चारित्र कहलाता है।

यथाख्यात चारित्र औपशमिक चारित्र है।

१०—यथाख्यात चारित्र (गा०२४) :

जैसे जल को कतक आदि से स्वच्छ करने की प्रक्रिया में एक स्थिति ऐसी आती है जब सारा पंक नीचे बैठ जाता है। अब यदि निर्मल जल को दूसरे बर्तन में डाल लिया जाय तो उसमें पंक की सत्ता भी नहीं पाई जाती। इसी प्रकार जब जीव बंधे हुए कर्मों का सर्वथा क्षय कर देता है तब क्षायिक अवस्था उत्पन्न होती है[3]। क्षायिक अवस्था से जीव में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें क्षायिकभाव कहते हैं।

जो यथाख्यात चारित्र चारित्र-मोहनीयकर्म के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होता है, वह क्षायिक चारित्र कहलाता है[4]।

औपशमिक और क्षायिक चारित्र की निर्मलता में अन्तर नहीं होता पर औपशमिक चारित्र में मोहनीयकर्म की सत्ता रहती है, भले ही उसका प्रभाव न रहे। क्षायिक

१—तत्त्वा० २.१ सर्वार्थसिद्धि

आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः। यथा कतकादिद्रव्य-सम्बन्धादम्भसि पङ्कस्य उपशमः

२—तत्त्वा० २.१ सर्वार्थसिद्धि :

कृत्स्नस्य मोहनीयस्योपशमादौपशमिकं चारित्रम्

३—तत्त्वा० २.१ सर्वार्थसिद्धि

क्षय आत्यन्तिकी निवृत्तिः। यथा तस्मिन्नेवाम्भसि शुचिभाजनान्तरसंक्रान्ते पङ्कस्यात्यन्ताभावः

४—झीणी चर्चा १६.११

मोहणी क्षय थी क्षायक सम्यक्त लहै रे, शुद्ध सरधा तं निरमल उज्वल बेस रे।
क्षायक चारित्र दूजो गुण सही रे, करणी कैरो निरमल संपेख रे॥

चारित्र में उस की सत्ता भी नही रहती। औपशमिक चारित्र की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है जब कि क्षायिक चारित्र की उत्कृष्ट स्थिति देशन्यून करोड पूर्वो की और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

यथाख्यात चारित्र औपशमिक और क्षायिक दोनो प्रकार का होता है।

११—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक चारित्रो की तुलना (गा० २५-२७) :

सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र, परिहारविशुद्धिक चारित्र और सूक्ष्म-सपराय चारित्र—ये क्षायोपशमिक चारित्र हैं और यथाख्यात चारित्र औपशमिक तथा क्षायिक।

सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र और परिहारविशुद्धिक चारित्र इच्छाकृत होते हैं। उनमें से प्रथम दो में सर्व सावद्य योगो का त्याग किया जाता है। तीसरे में विशिष्ट तप किया जाता है। सूक्ष्मसपराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र इच्छाकृत नही होते, न उनमें सावद्य योगो के त्याग ही करने पडते हैं। वे आत्मिक निर्मलता की स्वाभाविक स्थितिस्वरूप है। यथाख्यात चारित्र मोहनीयकर्म के उपशम अथवा क्षय से उत्पन्न होता है। सामायिक आदि चार चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव हैं। ये उपशम अथवा क्षायिक भाव नही।

सामायिक चारित्र छठे से नवें गुणस्थान में, औपशमिक यथाख्यात चारित्र ग्यारहवें गुणस्थान मे और क्षायिक यथाख्यात चारित्र बारहवें, तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान मे होता है[१]।

१२—सर्वविरति चारित्र एवं यथाख्यात चारित्र की उत्पत्ति (गा० २८-३२) :

स्वामीजी ने चारित्र को जीव का स्वाभाविक गुण कहा है उसका आधार आगम की निम्न गाथा है ·

१—भीणी चर्चा १२ ७-८

चारित्र मोह नों उदै कहीजे, पहला सू ले दशमां लग जांण।
चारित्र मोह रो सर्वथा उपशम छै० एक एकादश में गुणठाण ॥
चारित्र मोह तणो क्षायक कहीजै, बारमें तेरमें चवदमें होय।
चारित्र मोह तणो क्षयोपशम, पहला सू ले दशमां लग जोय ॥

णाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं[1] ॥

चारित्र जीव का स्वाभाविक गुण है अतः वह जीव से पृथक नहीं किया जा सकता। पर वह चारित्रावरणीय कर्म के प्रभाव से रुक जाता है। जब मोहनीयकर्म घटता है तब चारित्र गुण प्रकट होता है और मनुष्य सामायिक चारित्र ग्रहण कर गुण-सम्पन्न होता है। चारित्रावरणीय कर्म मोहनीयकर्म का ही एक भेद है। उसके अनन्त प्रदेश होते हैं। उसके उदय से जीव के स्वाभाविक गुण विकृत हो जाते हैं और इससे जीव को अनेक तरह के क्लेश प्राप्त होते हैं। जब चारित्रावरणीय कर्म के अनन्त प्रदेश प्रलय होते हैं तो जीव अनन्तगुना उज्ज्वल हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह सावद्य योग का सर्वथा त्याग—प्रत्याख्यान करता है। यही सर्वविरति संवर है।

मोहनीयकर्म के प्रदेशों के दूर होने से दो बातें होती हैं—(१) जीव के प्रदेशों से कर्म झड़ते हैं—वह उज्ज्वल होता है। यह निर्जरा है। (२) सर्वविरति संवर होता है। नये कर्म नहीं बंधते।

सर्वविरति संवर की विशेषता यह है कि उसके द्वारा सावद्य योगों की अविरति का सम्पूर्ण अवरोध हो जाने से नये कर्मों का आना रुक जाता है।

मोहनीयकर्म क्षीण होते-होते अन्त में सम्पूर्ण क्षय को प्राप्त होता है तब जीव अत्यन्त स्वच्छ होता है और उसे यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होती है। यथाख्यात चारित्र मोहनीयकर्म के सर्वथा क्षय से उत्पन्न भाव है और सर्वोत्कृष्ट उज्ज्वल चारित्र है।

१३—संयम-स्थान और चारित्र-पर्यव (गा० ३३-४३)

संयम (चारित्र) की शुद्धि-अशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षा से उसके अनेक भेद होते हैं। चारित्र मोहनीयकर्म का क्षयोपशम एक-सा नहीं होता। वह विविध मात्राओं में होता है। और इसी कारण संयम अथवा चारित्र के असंख्यात पर्यव भेद अथवा स्थानक होते हैं। स्वामीजी ने संयतों के संयम-स्थान और चारित्र-पर्यवों के विषय में जो प्रकाश गा० ३३-४३ में डाला है उसका आधार भगवती सूत्र है।

पाँच संयतों के संयम-स्थानों के विषय में उस सूत्र में निम्नलिखित वार्त्तालाप है :

"हे भगवन् ! सामायिक संयत के कितने संयम-स्थान कहे गए हैं ?

१—उत्त० २८.११

"हे गौतम ! असख्य संयम-स्थान कहे गए हैं। इसी प्रमाण यावत् परिहारविशुद्धिक-सयत तक जानने चाहिए।"

"हे भगवन् ! सूक्ष्मसपराय सयत के कितने सयम-स्थान कहे गए हैं ?"

"हे गौतम ! उसके अन्तर्मुहूर्त वाले असख्य सयम-स्थान कहे गए हैं"

"हे भगवन् ! यथाख्यात सयत के कितने सयम-स्थान कहे गए हैं ?"

"हे गौतम ! उसका अजघन्य और अनुत्कृष्ट एक सयम-स्थान कहा गया है।"

"हे भगवन् ! सामायिक सयत, छेदोपस्थापनीय सयत, परिहारविशुद्धिक सयत, सूक्ष्मसपराय सयत और यथाख्यात सयत—इनके सयम-स्थानो में किसके सयम-स्थान किस से विशेषाधिक हैं ?"

"हे गौतम ! यथाख्यात सयत का अजघन्य और अनुत्कृष्ट एक संयम-स्थान होने से सबसे अल्प है। उससे सूक्ष्मसपराय सयत के अन्तर्मुहूर्त तक रहनेवाले सयम-स्थान असख्यगुना हैं। उससे परिहारविशुद्धिक के सयम स्थान असख्यगुना हैं। उससे सामायिक सयत और छेदोपस्थापनीय सयत के सयम-स्थान असख्यगुना हैं और परस्पर समान हैं[१]।"

चारित्र-पर्यवो के विषय में निम्नलिखित सवाद मिलता है

"हे भगवन् ! सामायिक सयत के कितने चारित्र-पर्यव कहे गये हैं ?"

"हे गौतम ! उसके अनन्त चारित्र-पर्यव कहे गये हैं। इसी प्रकार यथाख्यात सयत तक जानना चाहिए।"

"हे भगवन् ! सामायिक संयत दूसरे सामायिक सयत के सजातीय चारित्रपर्यवो की अपेक्षा हीन होता है, तुल्य होता है या अधिक होता है ?"

"हे गौतम ! कदाचित् हीन होता है, कदाचित् तुल्य होता है और कदाचित् अधिक। और हीनाधिकत्व में छह स्थान पतित होता है।"

"हे भगवन् ! एक सामायिक सयत छेदोपस्थापनीय सयत के विजातीय चारित्रपर्यवो के सम्बन्ध की अपेक्षा से क्या हीन होता है ?"

"हे गौतम ! कदाचित् हीन होता है, इत्यादि छह स्थान पतित होता है। इसी प्रकार परिहारविशुद्धिक सयत के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।"

"हे भगवन् ! एक सामायिक सयत सूक्ष्मसपराय सयत के विजातीय चारित्रपर्यवो की अपेक्षा क्या हीन होता है ?"

१—भगवती २५ ७

'हे गौतम ! हीन होता है, तुल्य नहीं होता न अधिक होता है। अनन्तगुना हीन होता है। इसी प्रकार यथाख्यात संयत के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय भी नीचे के तीन चारित्र की अपेक्षा छह स्थान पतित होता है और ऊपर के दो चारित्र से उसी प्रकार अनन्तगुना हीन होता है। जिस प्रकार छेदोपस्थापनीय संयत के सम्बन्ध में कहा है उसी प्रकार परिहारविशुद्धिक के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।"

'हे भगवन् ! सूक्ष्मसंपराय संयत सामायिक संयत के विजातीय पर्यवों की अपेक्षा क्या हीन है ?"

हे गौतम ! वह हीन नहीं तुल्य नहीं पर अधिक है और अनन्तगुना अधिक है। इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धिक के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। अपने सजातीय पर्यवों की अपेक्षा कदाचित् हीन होता है कदाचित् तुल्य होता है और कदाचित् अधिक होता है। हीन होने पर अनन्तगुना हीन होता है और अधिक होने पर अनन्तगुना अधिक होता है।

'हे भगवन् ! सूक्ष्मसंपराय संयत यथाख्यात संयत के विजातीय चारित्रपर्यवों की अपेक्षा क्या हीन होता है ?"

"हे गौतम ! वे हीन हैं तुल्य नहीं अधिक नहीं। वे अनन्तगुना हीन हैं। यथाख्यात संयत नीचे के चारों की अपेक्षा हीन नहीं तुल्य नहीं पर अधिक है और वह अनन्तगुना अधिक है। अपने स्थान में हीन और अधिक नहीं पर तुल्य है।"

हे भगवन् ! सामायिक संयत छेदोपस्थापनीय संयत परिहारविशुद्धिक संयत, सूक्ष्मसंपराय संयत और यथाख्यात संयत इनके जघन्य और उत्कृष्ट चारित्रपर्यवों में कौन किससे विशेषाधिक है ?।"

हे गौतम ! सामायिक संयत और छेदोपस्थापनीय संयत—इन दो के जघन्य चारित्र पर्यव परस्पर तुल्य और सबसे थोड़े हैं। उससे परिहारविशुद्धिक संयत के जघन्य चारित्र पर्यव अनन्तगुना हैं और उससे उसी के उत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं। उससे सामायिक संयत और छेदोपस्थापनीय संयत के उत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना और परस्पर तुल्य हैं। उससे सूक्ष्म संपराय संयत के जघन्य चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं और उससे उसके ही उत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं। और उससे यथाख्यात संयत के अजघन्य और अनुत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं।"

१—भगवती २५.७

१४—योग-निरोध और फल (गा० ४६-५४) :

योग दो तरह के होते हैं—सावद्य और निरवद्य। इनके निरोध से क्या फल होता है, इसका विवेचन ऊक्त गाथाओ में है।

प्रत्याख्यान द्वारा सावद्य योगो के निरोध से विरति सवर होता है। निरवद्य योगो के रूँधने से सवर होता है। मन-वचन-काय के निरवद्य योग घटने से सवर होता है और सर्व योगो के सर्वथा क्षय से अयोग सवर होता है।

साधु का कल्पनीय वस्तुओ का आहार करना निरवद्य योग है। श्रावक का आहार करना सावद्य योग है। जब साधु कर्म-निर्जरा के लिये आहारादि का त्यागकर उपवास आदि तप करता है तब तप के साथ निरवद्य योग के रूँधने से सहचर सवर होता है। जब श्रावक कर्म-निर्जरा के लिए आहार-त्याग कर उपवास आदि तप करता है तब तप के साथ सावद्य योग के निरोध से सहचररूप से विरति सवर होता है। श्रावक पुद्गलो का उपभोग करता है, वह सावद्य योग—व्यापार है। इसके त्याग से विरति सवर होता है और साथ ही तप—निर्जरा भी होती है। साधु कल्प्य-पुद्गलो के भोग का त्याग करता है तब तपस्या होती है तथा निरवद्य योग के निरोध से सवर होता है।

साधु का चलना, बैठना, बोलना आदि सारी क्रियाएँ निरवद्य योग हैं। इन निरवद्य योगो का जितना-जितना निरोध किया जाता है उतना-उतना सवर होता है साथ ही तप भी होता है। श्रावक का चलना, बैठना, बोलना आदि क्रियाएँ सावद्य-निरवद्य दोनो प्रकार की होती हैं। सावद्य के त्याग से विरति सवर होता है। निरवद्य के त्याग से सवर होता है।

चारित्र विरति सवर है। वह अविरति के त्याग से उत्पन्न होता है। अयोग सवर शुभ योग के निरोध से होता है।

१५—सवर भाव जीव है (गा० ५५) :

जीव के दो भेद हैं—द्रव्य-जीव और भाव-जीव। चैतन्य गुणयुक्त पदार्थ द्रव्य-जीव है। उसके पर्याय भाव-जीव हैं।

भगवती सूत्र में आठ आत्माएँ कही हैं—द्रव्य-आत्मा, कषाय-आत्मा, योग-आत्मा, उपयोग-आत्मा, ज्ञान-आत्मा, दर्शन-आत्मा, चारित्र-आत्मा और वीर्य-आत्मा[1]। ये

१—पाठ के लिए देखिये पृ० ४०५ टि० २४

आठों ही आत्माएं जीव हैं। द्रव्य-आत्मा मूल जीव है। अवशेष ७ आत्माएं भाव-जीव हैं। द्रव्य-आत्मा की पर्याय हैं। उसके गुण हैं। उसके लक्षण हैं। इन आठ आत्माओं में चारित्र-आत्मा भी समाविष्ट है। अत: वह भी भाव-जीव है। चारित्र संवर ही है अत: संवर भाव-जीव है।

आस्रव को अजीव और रूपी मानते हुए भी संवर को प्राय: जीव और अरूपी माना जाता रहा[1]। स्वामीजी के समय में संवर को अजीव माननेवाला कोई समुदाय था, ऐसा नहीं देखा जाता। श्री जयाचार्य ने ऐसे सम्प्रदाय का उल्लेख किया है[2] और संवर किस प्रकार भाव जीव है, यह भी सिद्ध किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्न प्रमाण उपस्थित किए हैं

१—उत्तराध्ययन में ज्ञान, दर्शन, तप, वीर्य और उपयोग के साथ चारित्र को भी जीव का लक्षण कहा है[3]। चारित्र विरति संवर है। इस तरह संवर भी जीव का लक्षण सिद्ध होता है। जिस तरह ज्ञान, दर्शन, उपयोग—जीव के ये लक्षण भाव जीव हैं उसी प्रकार चारित्र—विरति संवर भी भाव-जीव है।

२—अनुयोग द्वार में लिखा है— गुणप्रमाण दो प्रकार का कहा गया है— (१) जीव गुणप्रमाण और (२) अजीव गुणप्रमाण। अजीव गुणप्रमाण पाँच प्रकार का है— (१) वर्ण गुणप्रमाण (२) गंध गुणप्रमाण (३) रस गुणप्रमाण (४) स्पर्श गुणप्रमाण और (५) संस्थान गुणप्रमाण। जीव गुणप्रमाण तीन प्रकार का है—(१) ज्ञान गुणप्रमाण (२) दर्शन गुणप्रमाण और (३) चारित्र गुणप्रमाण[4]।"

१—(क) नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : वृत्त्यादिसमेतं नवतत्त्वप्रकरणम्
जीवो संवर निज्जर मुक्खो चत्तारि हुंति अरूवी।
रूवी बंधासवपुण्णपावा मिस्सो अजीवो य ॥ [१ ५।१११]
(ख) वही पृ० ८ गा०
(ग) वही : देवचन्द्रसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरणम् (पृ० १८)
२—भ्रमविध्वंसनम् : संवराऽधिकार पृ० ३२८ :
केतला एक अज्ञानी संवर ने अजीव कहे छै।
३—उत्त० २८ ११ (पृ० ४३२ पर उद्धृत)
४—अनुयोग द्वार
से किं तं जीवगुणप्पमाणे ? जीवगुणप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते तं जहा णाणगुणप्पमाणे दंसणगुणप्पमाणे चरित्तगुणप्पमाणे

जीव गुणप्रमाण में चारित्र गुण का भी उल्लेख है। चारित्र सवर है। अत वह जीव-प्रमाण सिद्ध होता है।

चारित्र गुणप्रमाण का भेद बताते हुए पाँचो चारित्रो का नामोल्लेख करने के बाद लिखा है—'से त चरित्तगुणप्पमाणे, से त जीवगुणप्पमाणे।' इससे पाँचो ही चारित्र—विरति सवर भाव-जीव ठहरते हैं।

३—ठाणाङ्ग मे दसविध जीव-परिणाम मे ज्ञान और दर्शन को जीव-परिणाम कहा है। वैसे ही चारित्र को भी जीव-परिणाम कहा है[1]। जिस तरह जीव-परिणाम ज्ञान और दर्शन भाव-जीव हैं उसी तरह जीव-परिणाम चारित्र भी भाव-जीव है।

४—पार्श्वनाथ के वश मे हुए कालास्यवेपिपुत्र नामक अनगार ने महावीर के स्थविरो के पास आकर कुछ वार्त्तालाप के बाद प्रश्न किया—"हे आर्यो! सामायिक क्या है, सामायिक का अर्थ क्या है, प्रत्याख्यान क्या है, प्रत्याख्यान का अर्थ क्या है, सयम क्या है, सयम का अर्थ क्या है, सवर क्या है, सवर का अर्थ क्या है, विवेक क्या है, विवेक का अर्थ क्या है, और व्युत्सर्ग क्या है, व्युत्सर्ग का अर्थ क्या है?"

स्थविरो ने उत्तर दिया—"हे कालास्यवेपिपुत्र! हमारी आत्मा ही सामायिक और हमारी आत्मा ही सामायिक का अर्थ है, हमारी आत्मा ही प्रत्याख्यान और हमारी आत्मा ही प्रत्याख्यान का अर्थ है, हमारी आत्मा ही सयम और हमारी आत्मा ही सयम का अर्थ है, हमारी आत्मा ही सवर और हमारी आत्मा ही सवर का अर्थ है, हमारी आत्मा ही विवेक और हमारी आत्मा ही विवेक का अर्थ है तथा हमारी आत्मा ही व्युत्सर्ग और हमारी आत्मा ही व्युत्सर्ग का अर्थ है[2]।"

यहाँ सामायिक, प्रत्याख्यान, सयम, विवेक और कायोत्सर्ग को आत्मा कहा है वहाँ सवर को भी आत्मा कहा है। अत सवर भाव-जीव है।

५—गौतम ने पूछा—"भगवन्! प्राणातिपात विरमण यावत् परिग्रह विरमण, क्रोध-विवेक यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विवेक—इनके कितने वर्ण यावत् स्पर्श कहे गए हैं?"

भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! प्राणातिपात विरमण यावत् मिथ्यादर्शनशल्य विवेक अवर्ण, अगध, अरस और अस्पर्श है[3]।"

१—पाठ के लिए देखिए—पृ० ४०५ टि० २४

२—भगवती १ ६

३—भगवती १२ ५

अठारह पाप का विरमण सर्वविरति संवर है अतः संवर अरूपी है, वह अरूपी और भाव-जीव सिद्ध होता है।

६—उत्तराध्ययन में चारित्र का गुण—कर्मों को रोकना बताया गया है[1]। कर्मों को रोकनेवाला संवर जीव ही हो सकता है अजीव कर्म कैसे रोकेगा?

७—चारित्रावरणीय कर्म का अर्थ है वह कर्म जो चारित्र का आवरण हो। यह जीव के गुण का आवरण है, अजीव का नहीं।

८—एक बार गौतम ने पूछा— 'भगवन्! आराधना कितने प्रकार की कही गई है?" भगवान ने उत्तर दिया— 'गौतम! आराधना तीन प्रकार की कही गई है—(१) ज्ञानाराधना (२) दर्शनाराधना और (३) चारित्राराधना[2]।"

चारित्राराधना का अर्थ है—चारित्र-गुण की आराधना। चारित्र जीव का गुण—भाव है। उसकी आराधना चारित्राराधना है। अजीव की आराधना क्या होगी? चारित्र संवर है। इस तरह संवर भी जीव-गुण भाव-जीव सिद्ध होता है।

१—उत्त० २८.३५
चरित्तेण निगिण्हाइ
२—भगवती ८.१

: ७ :

निर्जरा पदार्थ

७

निरजरा पदारथ (ढाल १)

दुहा

१—निरजरा पदार्थ सातमों, ते तो उजल वसत अनूप।
ते निज गुण जीव चेतन तणो ते सुणजो धर चूंप॥

ढाल १

(धन्य धन्य जंबू स्वाम नें—ए देसी)

१—आठ करम छें जीव रे अनाद रा त्यांरी उतपत आश्रव दुवार हो। मुणिंद*
ते उदे थइ नें पछे निरजरे, वले उपजें निरंतर लार हो॥ मुणिंद*
निरजरा पदार्थ ओलखो*॥

२—दरब जीव छ तेहनें, असंख्याता परदेस हो।
सारां परदेसां आश्रव दुवार छें, सारां परदेसां करम परवेस हो॥

३—एक एक परदेस तेहनें, समें समें करम लागंत हो।
ते परदेस एकीका करम मां समें समें लागे अनंत हो॥

४—ते करम उदे थइ जीव रे, समें समें अनंता झड़ जाय हो।
भरीया मींगल ज्यूं करम मिटें नहीं करम मिटवा रो न जाणें उपाय हो॥

---

*चिन्हित शब्द और आंकड़ी इन्हीं स्थानों पर आगे की गाथाओं में भी पढ़ने चाहिए।

: ७ :

निर्जरा पदार्थ (ढाल १)

दोहा

१—निर्जरा सातवाँ पदार्थ है। यह अनुपम उज्ज्वल वस्तु है और जीव चेतन का स्वाभाविक गुण है। निर्जरा का विवेचन ध्यान लगा कर सुनो[1]।

निर्जरा सातवाँ पदार्थ है।

ढाल : १

१—अनादिकाल से जीव के आठ कर्मों का बंध है। इन कर्मों की उत्पत्ति के हेतु आश्रव-द्वार हैं। बंधे हुए कर्म उदय में आते हैं और फिर झड़ जाते हैं। कर्म इस तरह झड़ते और निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं।

निर्जरा कैसी होती है (गा० १-८)

२—जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते हैं। प्रत्येक प्रदेश कर्म आने का द्वार है। प्रत्येक प्रदेश से कर्मों का प्रवेश होता है।

३—आत्मा के एक-एक प्रदेश के प्रतिसमय अनन्त कर्म लगते हैं। इस प्रकार एक-एक प्रकार के कर्म के अनन्त-अनन्त प्रदेश, आत्मा के एक-एक प्रदेश के लगते हैं।

४—ये कर्म उदय में आकर जीव के प्रदेशों से प्रतिसमय अनन्त संख्या में झड़ जाते हैं। परन्तु भरे घाव की तरह कर्मों का अन्त नहीं आता। कर्मों के अन्त करने के उपाय को न जानने से उनका अन्त नहीं आ सकता[2]।

५—आठ करमां में च्यार घनघातीया त्यासूं चेतन गुणां री हुइ घात हो।
ते असमात्र षयउपसम रहे सदा तिण सूं उजलो रहे असमात हो॥

६—कायक घनघातीया षयउपसम हुआं अत्र कायक उदे रह्या लार हो।
षयउपसम भो जीव उजलो हुवो उदे थी उजलो नहीं छें लिगार हो॥

७—कायक करम खय हुवें कायक उपसम हुवें ताय हो।
ते षयउपसम भाव छें उजलो चेतन गुण पर्याय हो॥

८—जिम २ करम षयउपसम हुवें तिम २ जीव उजल हुवें आंम हो।
जीव उजलो तेहिज निरजरा ते भाव जीव छें तांम हो॥

९—देस थकी जीव उजलो हुवें, तिणनें निरजरा कही भगवांन हो।
सव उजल ते मोष छें, ते मोष छें परम निधांन हो॥

१ —ग्यांनावरणी षयउपसम हुआं नीपजें च्यार ग्यांन नें तीन अग्यांन हो।
मणवो आचारंग आदि दे, चवदे पूव रो ग्यांन हो॥

११—ग्यांनवरणी री पांच प्रकत मझे, दोय षयउपसम रहें छें सदीव हो।
तिण सूं दोय अग्यांन रहें सदा अंस मात्र उजल रहे जीव हो॥

५—आठ कर्मों में चार घनघाती कर्म हैं। इन कर्मों से चेतन जीव के स्वाभाविक गुणों की घात होती है, परन्तु इन कर्मों का भी सब समय कुछ-न-कुछ क्षयोपशम रहता है जिससे जीव कुछ अंश में उज्ज्वल रहता है।

६—घनघाती कर्मों का कुछ क्षयोपशम होने से कुछ उदय बाकी रहता है। जीव कर्मों के क्षयोपशम से उज्ज्वल होता है। पर वह कर्मों के उदय से जरा भी उज्ज्वल नहीं होता।

७—कर्मों के कुछ क्षय और कुछ उपशम से क्षयोपशम भाव होता है। यह क्षयोपशम भाव उज्ज्वल भाव है और चेतन जीव का गुण अथवा पर्याय है।

निर्जरा की परिभाषा

८—जैसे-जैसे कर्मों का क्षयोपशम अधिक होता है वैसे-वैसे जीव अधिकाधिक आवरणरहित—उज्ज्वल होता जाता है। इस प्रकार जीव का उज्ज्वल होना निर्जरा है। यह निर्जरा भाव-जीव है[3]।

निर्जरा और मोक्ष मे अन्तर

९—जीव के देशरूप उज्ज्वल होने को ही भगवान ने निर्जरा कहा है। सर्वरूप उज्ज्वल होना मोक्ष है और यह मोक्ष ही परम निधान—सम्पूर्ण कर्मक्षय का स्थान है[4]।

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से निष्पन्न भाव (गा० १०-१८)

१०—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से चार ज्ञान और तीन अज्ञान उत्पन्न होते हैं तथा आचाराङ्ग आदि चौदह पूर्व का अभ्यास होता है।

११—ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियों में से दो का सदा क्षयोपशम रहता है, जिससे दो अज्ञान सदा रहते हैं और जीव सदा अंशमात्र उज्ज्वल रहता है।

१२—मिथ्याती रे तो अगन दोय अग्यान छै, उतकष्टा तीन अग्यान हो।
देस उणों दस पूर्व उतकष्टो भणे, इतरो उतकष्टो षयउपसम अग्यान हो॥

१३—समदिष्टी रे जगन दोय ग्यान छै, उतकष्टा च्यार ग्यान हो।
उतकष्टो चवदें पूव भणें एहवो षयउपसम भाव निधान हो॥

१४—मत ग्यांनावरणी षयउपसम हूआं नीपजें मत ग्यांन मत अग्यांन हो।
सुरत ग्यांनावरणी षयउपसम हूआं, नीपजें सुरत ग्यांन अग्यांन हो॥

१५—वले भणवो आचारंग आदि दे समदिष्टी रे चवदें पूव ग्यांन हो।
मिथ्याती उतकष्टो भणे देस उणो देस पूव एम जांण हो॥

१६—अवधि ग्यांनावरणी षयउपसम हूआं समदिष्टी पांमे अवध ग्यांन हो।
मिथ्यादिष्टी नें विभंग नांण उपजें, षयउपसम परमांण जांण हो॥

१७—मन पजवावर्णी षयउपसम्यां उपजें मनपजव नांण हो।
ते साधु समदिष्टी नें उपजें एहवो षयउपसम भाव परधान हो॥

१८—ग्यांन अग्यांन सागार उपीयोग छै, दोयां रो एक समाव हो।
करम अलगा हूआं नीपजें, ए षयउपसम उजल भाव हो॥

१९—दरसणावर्णी षयउपसम हूआं आठ बोल नीपजें श्रीकार हो।
पांच इंद्री नें तीन दरसण हुवें, ते निरजरा उजल तंत सार हो॥

१२—मिथ्यात्वी के कम-से-कम दो और अधिक-से-अधिक तीन अज्ञान रहते हैं। उत्कृष्ट में देश-न्यून दस पूर्व पढ़ सके, इतना उत्कृष्ट क्षयोपशम अज्ञान उसको होता है।

१३—समदृष्टि के कम-से-कम दो और अधिक-से-अधिक चार अज्ञान होते है। अधिक-से-अधिक चौदह पूर्व तक पढ़ सके, ऐसा क्षयोपशम भाव उसके रहता है।

१४—मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम होने से मतिज्ञान और मति-अज्ञान उत्पन्न होते हैं। और श्रुतज्ञानावरणीय के क्षयोपशम होने से श्रुतज्ञान और श्रुत-अज्ञान।

१५—समदृष्टि आचाराङ्ग आदि १४ पूर्व का ज्ञानाभ्यास कर सकता है और मिथ्यात्वी देश-न्यून दस पूर्व तक का ज्ञानाभ्यास।

१६—अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से समदृष्टि अवधि-ज्ञान प्राप्त करता है और मिथ्यादृष्टि को क्षयोपशम के परिमाणानुसार विभङ्ग अज्ञान उत्पन्न होता है।

१७—मन पर्यवज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम होने से मन पर्यव ज्ञान उत्पन्न होता है। यह प्रधान क्षयोपशम भाव सम्यक् दृष्टि साधु को उत्पन्न होता है[५]।

१८—ज्ञान, अज्ञान दोनों साकार उपयोग हैं और इन दोनों का स्वभाव एक-सा है। ये कर्मों के दूर होने से उत्पन्न होते हैं और उज्ज्वल क्षयोपशम भाव हैं[६]।

ज्ञान, अज्ञान दोनो साकार उपयोग

१९—दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से आठ उत्तम बोल उत्पन्न होते हैं—पाँच इन्द्रियां और तीन दर्शन। ये निर्जरा-जन्य उज्ज्वल बोल हैं।

दर्शनावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव (गा० १९-२३)

१२—मिथ्याती रे तो जगन दोय अग्यांन छें, उतकष्टा तीन अग्यांन हो।
देस उणों दस पूव उतकष्टो भणे, इहरो उतकष्टो षयउपसम अग्यांन हो॥

१३—समदिष्टी रे जगन दोय ग्यांन छें, उतकष्टा च्यार ग्यांन हो।
उतकष्टो चवदे पूव भणें, एहवो षयउपसम भाव निधांन हो॥

१४—मत ग्यांनावरणी षयउपसम हूआं नीपजें मत ग्यांन मत अग्यांन हो।
सुरत ग्यांनावरणी षयउपसम हूआं, नीपजें सुरत ग्यांन अग्यांन हो॥

१५—वले भणवो आचारंग आदि दे समदिष्टी रे चवदें पूव ग्यांन हो।
मिथ्याती उतकष्टो भणे देस उणो दस पूव लग जांण हो॥

१६—अवधि ग्यांनावरणी षयउपसम हूआं समदिष्टी पांमे अवध ग्यांन हो।
मिथ्यादिष्टी नें विभंग नांण उपजें, षयउपसम परमांण जांण हो॥

१७—मन पजवावर्णी षयउपसम्यां उपजें मनपजव नांण हो।
ते साधु समदिष्टी नें उपजें एहवो षयउपसम भाव परधान हो॥

१८—ग्यांन अग्यांन सागार उपीयोग छें, दोयां रो एक सभाव हो।
करम अलगा हूआं नीपजें, ए षयउपसम उजल भाव हो॥

१९—दरसणावर्णी षयउपसम हूआं आठ बोल नीपजें श्रीकार हो।
पांच इंद्री नें तीन दरसण हुवें ते निरजरा उजल तत सार हो॥

२०—दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियों में से एक प्रकृति सदा क्षयोपशमरूप रहती है। उससे अचक्षु दर्शन और स्पर्श इन्द्रिय सदा रहती है। यह क्षयोपशम भाव-जीव है।

२१—चक्षुदर्शनावरणीय के क्षयोपशम होने से चक्षु दर्शन और चक्षु इन्द्रिय होता है। कर्म दूर होने से जीव उज्ज्वल होता है, जिससे देखने में सक्षम होता है।

२२—अचक्षुदर्शनावरणीय के विशेष क्षयोपशम से चक्षु को छोड कर बाकी चार क्षयोपशम इन्द्रियाँ प्राप्त होती है।

२३—अवधिदर्शनावरणीय के क्षयोपशम होने से विशेष अवधि-दर्शन उत्पन्न होता है। अवधि-दर्शन उत्पन्न होने से जीव उत्कृष्ट में सर्व रूपी पुद्‌गल को देखने लगता है।

अनाकार उपयोग

२४—पाँच इन्द्रियाँ और तीनों दर्शन दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से होते हैं। ये अनाकार उपयोग है। ये केवलदर्शन के नमूने हैं। इसमें जरा भी शका मत करो[७]।

मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव (गा० २५-४०)

२५—मोहनीयकर्म के क्षयोपशम होने से आठ विशेष बोल उत्पन्न होते हैं—चार चारित्र, देश-विरति और उज्ज्वल तीन दृष्टि।

२६—चारित्रमोहनीय कर्म की पचीस प्रकृतियो में से कई सदा क्षयोपशम रूप में रहती है, इससे जीव अशत उज्ज्वल रहता है। और इस उज्ज्वलता से शुभ अध्यवसाय का वर्तन होता है।

२७—कभी क्षयोपशम अधिक होता है तब उससे जीव के अधिक गुण उत्पन्न होते हैं। क्षमा, दया, सतोषादि गुणों की वृद्धि होती है और शुभ लेश्याएँ वर्तती हैं।

२०—दरसणावर्णी री नव प्रकत ममे, एक प्रकत पयउपसम सदीव हो।
तिण सूं अचषू दरसण नें फरस इंदरी सदा रहें, पयउपसम भाव जीव हो॥

२१—चषू दरसणावर्णी पयउपसम हूआं, चषू दरसण नें चषू इंद्री होय हो।
करम भलगा हूआं उजलो हूओ जब देखवा लागो सोय हो॥

२२—अचषू दरसणावर्णी कठोप थी पयउपसम हुवें तिण बार हो।
चषू टाले सेष इंद्री, पयउपसम हुवें इंद्री च्यार हो॥

२३—अवधि दरसणावर्णी पयउपसम हूआं उपजें अवधि दरसण कठोप हो।
जब उतकष्टो देखे जीव एतलो सर्व रूपी पुदगल छे देख हो॥

२४—पांच इंद्री नें तीनूंइ दरसण ते पयउपसम उपीयोग मणापार हो॥
ते वांनगी केवल दरसण माहिली तिणमें संका म राखो लिगार हो॥

२५—मोह करम पयउपसम हूआं नीपजें आठ बोल अमांम हो।
च्यार चारित नें देस विरत नीपजें तीन दिष्टी उजल होय तांम हो॥

२६—चारित मोह री पचीस प्रकत ममे, केइ सदा पयउपसम रहें ताय हो।
तिण सुं अंस मात उजलो रहें, जब भला वरते छें अभवसाम हो॥

२७—कदे पयउपसम इमकी हुवें जब इमका गुण हुवें तिण मांय हो।
पिमा दया संतोषादिक गुण वधें, भली लेस्यादि वरतें जब भाय हो॥

२८—चारित्रमोहनीय कर्म के विशेष क्षयोपशम से जीव के शुभ परिणाम तथा शुभ योगों का वर्तन होता है। कभी-कभी धर्म-ध्यान भी होता है परन्तु विना कपाय के दूर हुए पूरा धर्म-ध्यान नहीं हो सकता।

२९—शुभ ध्यान, शुभ परिणाम, शुभ योग, शुभ लेश्या और शुभ अध्यवसाय—ये सव उसी समय वर्तते हैं जव अतराय कर्म का क्षयोपशम हो जाता है तथा मोहकर्म दूर हो जाता है।

३०—अनन्तानुवधी आदि कपाय की चौकडी तथा अन्य वहुत-सी प्रकृतियों के क्षयोपशम होने से जीव के देश-विरति उत्पन्न होती है और इसी तरह से चारों चारित्र प्राप्त होते है।

३१—मोहनीयकर्म के क्षयोपशम होने से देश-विरति और चार चारित्र तथा क्षमा, दया आदि उत्पन्न होते है। ये उत्तम गुण है।

३२—देश-विरति और चारों चारित्र—ये गुणरूपी रत्नों की खान हैं। ये क्षायिक चारित्र की वानगी हैं। क्षयोपशम भाव ऐसा ही प्रधान है।

३३—चारित्र को विरति-सवर कहा गया है। उससे जीव पापों का निरोध करता है। पाप-क्षय होकर जीव उज्ज्वल हुआ, इस न्याय से इसे निर्जरा कहा है।

३४—दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से सच्ची एव शुद्ध श्रद्धा उत्पन्न होती है। तीनों दृष्टियों में शुद्ध श्रद्धान है। क्षयोपशम भाव ऐसा उत्तम है।

३५—मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के क्षयोपशम होने से मिथ्या-दृष्टि उज्ज्वल होती है। जिससे जीव कई पदार्थों में ठीक-ठीक श्रद्धा करने लगता है। मिथ्यात्व मोहनीय के क्षयोपशम से ऐसा गुण उत्पन्न होता है।

२८—भला परिणांम पिण वरते तेहनें भला जोग पिण वरते ताम हो।
घम ध्यांन पिण ध्यावें किण समें ध्यावणी आवें मिटीयो कताम हो॥

२९—ध्यांन परिणांम जोग लेस्या भली वले भला वरते अधवसाय हो।
सारा वरते अंतराय खयउपसम हूआं मोह करम अलगा हूआं ताय हो॥

३०—चोकड़ी अंताणुबंधी आदि दे, घणी प्रकृत्यां खयउपसम हुवें ताय हो।
जब जीव रे देस विरत नीपजें इण विध ध्यांरु चारित आय हो॥

३१—मोहणी खयउपसम हुआं नीपनों देस विरत नें चारित च्यार हो।
वले पिमा दयादिक गुण नीपनां सगलाइ गुण श्रीकार हो॥

३२—देस विरत नें च्यारूंई चारित भला ते गुण रतनां री खांन हो।
ते खायक चारित री वांनगी एहवो खयउपसम भाव परधांन हो॥

३३—चारित नें विरत संवर कह्यों तिण सूं पाप रूकें छें ताय हो।
पिण पाप झरो नें उजल हुओं तिणनें निरजरा कही इण न्याय हो॥

३४—दरसण मोहणी खयउपसम हुआं नीपजें साची सुध सरधांन हो।
तीनूं दिष्ट में सुघ सरधान छें, ते तो खयउपसम भाव निधांन हो॥

३५—मिथ्यात मोहणी खयउपसम हुआं मिथ्या दिष्टी उजली होय हो।
जब केयक पदार्थ सुध सरधलें एहवो गुण नीपजें छें सोय हो॥

२८—चारित्रमोहनीय कर्म के विशेष क्षयोपशम से जीव के शुभ परिणाम तथा शुभ योगों का वर्तन होता है। कभी-कभी धर्म-ध्यान भी होता है परन्तु बिना कषाय के दूर हुए पूरा धर्म-ध्यान नहीं हो सकता।

२९—शुभ ध्यान, शुभ परिणाम, शुभ योग, शुभ लेश्या और शुभ अध्यवसाय—ये सब उसी समय वर्तते हैं जब अंतराय कर्म का क्षयोपशम हो जाता है तथा मोहकर्म दूर हो जाता है।

३०—अनन्तानुबंधी आदि कषाय की चौकडी तथा अन्य बहुत-सी प्रकृतियों के क्षयोपशम होने से जीव के देश-विरति उत्पन्न होती है और इसी तरह से चारों चारित्र प्राप्त होते हैं।

३१—मोहनीयकर्म के क्षयोपशम होने से देश-विरति और चार चारित्र तथा क्षमा, दया आदि उत्पन्न होते हैं। ये उत्तम गुण हैं।

३२—देश-विरति और चारों चारित्र—ये गुणरूपी रत्नों की खान हैं। ये क्षायिक चारित्र की बानगी हैं। क्षयोपशम भाव ऐसा ही प्रधान है।

३३—चारित्र को विरति-संवर कहा गया है। उससे जीव पापों का निरोध करता है। पाप-क्षय होकर जीव उज्ज्वल हुआ, इस न्याय से इसे निर्जरा कहा है।

३४—दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से सच्ची एवं शुद्ध श्रद्धा उत्पन्न होती है। तीनों दृष्टियों में शुद्ध श्रद्धान है। क्षयोपशम भाव ऐसा उत्तम है।

३५—मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के क्षयोपशम होने से मिथ्या-दृष्टि उज्ज्वल होती है। जिससे जीव कई पदार्थों में ठीक-ठीक श्रद्धा करने लगता है। मिथ्यात्व मोहनीय के क्षयोपशम से ऐसा गुण उत्पन्न होता है।

३६—मिश्र मोहणी षयउपसम हुआं सममिथ्या दिष्टी उजली हुवें ताम हो।
जब घणां पदार्थ सुध सरधलें एहवो गुण नीपजें अमांम हो॥

३७—समकत मोहणी षयउपसम हुआं नीपजें समकत रतन परधान हो।
नव ही पदार्थ सुध सरधलें एहवो षयउपसम भाव निधान हो॥

३८—मिथ्यात मोहणी उदे सें ज्यां लगे, सममिथ्या दिष्टी नहीं आवत हो।
मिश्र मोहणी रा उदे थकी समकत नहीं पांवत हो॥

३९—समकत मोहणी ज्यां लगें उदे रहें, त्यां लग षायक समकत आवें नांहि हो।
एहवी छाक छें दरसण मोह करम नी न्हांसें जीव नें भ्रमजाल मांय हो॥

४०—षयउपसम भाव तीनूंइ दिष्टी छें, ते सगलोइ सुध सरधान हो।
ते षायक समकत मांहिली वानगी मातर गुण निधान हो॥

४१—अंतराय करम षयउपसम हुआं आठ गुण नीपजें श्रीकार हो।
पांच लब्ध तीन वीर्य नीपजें, हिवें तेहनों सुणो विसतार हो॥

४२—पांचूंइ प्रकत अंतराय नीं सदा षयउपसम रहें छें साख्यात हो।
तिण सूं पांचूं लब्ध बालवीर्य उजल रहें छें अल्प मात हो॥

४३—दानांतराय षयउपसम हुआं दांन देवा री लब्ध उपजंत हो।
लाभांतराय षयउपसम हुआं लाभ री लब्ध खुलंत हो॥

३६—मिश्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से सममिथ्या दृष्टि उज्ज्वल होती है। तब जीव अधिक पदार्थों को शुद्ध श्रद्धने लगता है। क्षयोपशम से ऐसा गुण उत्पन्न होता है।

३७—सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से सम्यक्त्व रूपी प्रधान रत्न उत्पन्न होता है। इस क्षयोपशम से जीव नवों ही पदार्थों की शुद्ध श्रद्धा करने लगता है। क्षयोपशम भाव ऐसा ही गुणकारी है।

३८—जब तक मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म उदय में रहता है, तब तक सममिथ्या दृष्टि नहीं आती। मिश्र-मोहनीय कर्म के उदय से जीव सम्यक्त्व नहीं पाता।

३९—सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म जब तक उदय में रहता है तब तक क्षायिक सम्यक्त्व नहीं आता। मोहनीय कर्म का ऐसा ही आवरण है कि यह जीव को भ्रम-जाल में डाल देता है।

४०—तीनों ही दृष्टियाँ क्षयोपशम भाव हैं। ये तीनों ही शुद्ध श्रद्धा रूप है। ये तो क्षायिक सम्यक्त्व की बानगी—नमूने मात्र हैं[८]।

अतराय कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव (गा० ४१-५५)

४१—अतराय कर्म के क्षयोपशम होने से आठ उत्तम गुण उत्पन्न होते हैं—पाँच लब्धि और तीन वीर्य। अब इनका विस्तार सुनो।

४२—अतराय कर्म की पाँचों ही प्रकृतियाँ सदा प्रत्यक्षत क्षयोपशम रूप में रहती हैं, जिससे पाँच लब्धि और बालवीर्य अल्प प्रमाण में उज्ज्वल रहते हैं।

४३—दानांतराय कर्म के क्षयोपशम होने से दान देने की लब्धि उत्पन्न होती है, लाभांतराय कर्म के क्षयोपशम होने से लाभ की लब्धि प्रकट होती है।

३६—मिश्र मोहणी षयउपसम हुआं सममिथ्या दिष्टी उजली हुवें तांम हो।
जब घणां पदाथ सुध सरधलें एहवो गुण नीपजें अमांम हो॥

३७—समकत मोहणी षयउपसम हुआं नीपजें समकत रतन परधांन हो।
नव ही पदाथ सुध सरधलें एहवो षयउपसम भाव निर्मान हो॥

३८—मिथ्यात मोहणी उदे छें ज्यां लगे सममिथ्या दिष्टी नहीं आंवत हो।
मिश्र मोहणी रा उदे थकी समकत नहीं पांवत हो॥

३९—समकत मोहणी ज्यां लगें उदे रहें, त्यां लग षायक समकत आवें नांहि हो।
एहवी छाक छै दरसण मोह करम नी न्हांखे जीव नें भ्रमजाल मांय हो॥

४०—षयउपसम भाव तीनूइ दिष्टी छें, त सगलोइ सुध सरधांन हो।
ते षायक समकत मांहिली वांनगी मातर गुण निर्मांन हो॥

४१—अंतराय करम षयउपसम हुआं आठ गुण नीपजें श्रीकार हो।
पांच लब्ध तीन वीर्य नीपजें, हिवें तेहनों सुणो विसतार हो॥

४२—पांचूइ प्रकत अंतराय नीं सदा षयउपसम रहें छें सास्वात हो।
तिण सूं पांचूं लब्ध बालवीर्य उजल रहें छें अल्प मात हो॥

४३—दानांतराय षयउपसम हुआं दांन देवा री लब्ध उपजंत हो।
लाभांतराय षयउपसम हुआं लाभ री लब्ध सुहत हो॥

४४—भोगांतराय कर्म के क्षयोपशम होने से भोग की लब्धि उत्पन्न होती है और उपभोगांतराय कर्म के क्षयोपशम होने से उपभोगलब्धि उत्पन्न होती है।

४५—दान देने की लब्धि बराबर रहती है। दान देना योग-व्यापार है। लाभ की लब्धि भी निरन्तर रहती है जिससे यदा-कदा वस्तु का लाभ होता रहता है।

४६—भोग की लब्धि भी निरन्तर रहती है। भोग-सेवन योग-व्यापार है। उपभोग-लब्धि भी निरन्तर रहती है जिससे उपभोग-सेवन होता रहता है।

४७—अंतराय कर्म का क्षयोपशम होने से जीव को पुण्यानुसार भोग-उपभोग मिलते हैं। साधु पुद्गलों का सेवन करते है, वह शुभ योग है। साधु के सिवा अन्य जीव पुद्गलों का भोग करते हैं, वह अशुभ योग है।

४८—वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम होने से वीर्य-लब्धि उत्पन्न होती है। वीर्य-लब्धि जीव की स्वाभाविक शक्ति है और वह उत्कृष्ट रूप में अनन्त होती है।

४९—वीर्यलब्धि के तीन भेद हैं उसकी पहचान करो। बाल-वीर्य बाल के होता है और चतुर्थ गुणस्थान तक रहता है।

५०—पण्डितवीर्य पण्डित के बतलाया गया है, यह छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक रहता है। बालपण्डितवीर्य श्रावक के होता है। इन तीनों ही वीर्यों को जीव के उज्ज्वल गुण जानो।

५१—जीव कभी इस वीर्य को फोड़ता है, वह योग-व्यापार है। सावद्य-निरवद्य योग होते हैं परन्तु वीर्य जरा भी सावद्य नहीं होता।

४४—भोगांतराय षयउपसम्यां भोग लब्ध उपजें छें ताय हो।
उपभोगांतराय खयउपसम हुआं उपभोग लब्ध उपजें आय हो॥

४५—दांन देवा री लब्ध निरतर, दांन देवे ते जोग व्यापार हो।
लाभ लब्ध पिण निरतर रहें, वस्त लामे ते किण ही वार हो॥

४६—भोग लब्ध तो रहें छें निरतर भोग भोगवे ते जोग व्यापार हो।
उपभोग पिण लब्ध छें निरतर, उपभोग भोगवे जिण वार हो॥

४७—अतराय अलगी हुआं जीव रे, पुन सारूं मिलसी भोग उपभोग हो।
साधु पुदगल भोगवे ते सुभ जोग छें, ओर भोगवें ते असुभ जोग हो॥

४८—वीर्य अंतराय षयउपसम हुआं, वीर्य लब्ध उपजें छें ताय हो।
वीर्य लब्ध ते सगत छें जीव री उत्कष्टी अनंती होय जाय हो॥

४९—तिण वीर्य लब्ध रा तीन भेद छें, तिणरी करजो पिछांण हो।
बाल वीर्य कह्यों छें बाल रो, ते चोथा गुणठाणा ताई जांण हो॥

५०—पिंडत वीर्य कह्यों पिंडत तणो छठा थी लेइ चवदमें गुणठांण हो।
बालपिंडत वीर्य कह्यों छें श्रावक तणो, ए तीनोंई उजल गुण जांण हो॥

५१—हले जीव वीर्य नें फोडवे ते छें जोग व्यापार हो।
सावद्य निरवद्य तो जोग छें, ते वीर्य सावद्य नहीं छें लिगार हो॥

५२—वीर्य-लब्धि निरन्तर चौदहवें गुणस्थान तक रहती है। बारहवें गुणस्थान तक क्षयोपशम भाव है तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में क्षायिक भाव।

५३—लब्धि-वीर्य को वीर्य कहा गया है और करण-वीर्य को योग कहा गया है। जब तक लब्धि-वीर्य रहता है तभी तक करण-वीर्य रहता है और तभी तक पुद्गल-सयोग रहता है।

५४—पुद्गल के बिना वीर्य शक्ति नहीं होती। पुद्गल के बिना योग-व्यापार भी नहीं होता। जब तक जीव से पुद्गल लगे रहते हैं तब तक योग वीर्य रहता है।

५५—वीर्य जीव का स्वाभाविक गुण है और यह अतराय कर्म अलग होने से प्रकट होता है। यह वीर्य भाव-जीव है, इसमें जरा भी शका मत करो[९]।

उपशम भाव (गा० ५६-५७)

५६—एक मोहकर्म के उपशम होने से दो उपशम-भाव उत्पन्न होते हैं—(१) उपशम सम्यक्त्व और (२) उपशम चारित्र। यह जीव का उज्ज्वल होना है।

५७—दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम होने से प्रधान उपशम चारित्र प्रकट होता है[१०]।

क्षायिक भाव (गा० ५८-६२)

५८—चार घनघाती कर्मों के क्षय होने से क्षायिक-भाव प्रकट होता है। ये जीव के सर्वथा उज्ज्वल गुण हैं। इनके स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं।

५९—ज्ञानावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है और दर्शनावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय होने से प्रधान केवलदर्शन उत्पन्न होता है।

५२—वीर्य तो निरंतर रहें, चवदमां गुण ठांणा लग जांण हो।
बारमा ताइ तो षयउपसम भाव छें, खायक तेरमे चवदमे गुण ठांण हो॥

५३—लब्द वीर्य नें तो वीर्य कह्यों करण वीर्य नें कह्यों जोग हो।
ते पिण सगत वीर्य ज्यां लगे त्यां लग रहें पुदगल संजोग हो॥

५४—पुदगल विण वीर्य सगत हुवें नहीं पुदगल विना नहीं जोग व्यापार हो।
पुदगल लागा छें ज्यां लग जीव रे, जोग वीर्य छें संसार मझार हो॥

५५—जीव निज गुण छें जीव रो असराय अलगा हुआं जांण हो।
ते वीर्य निरदोष भाव जीव छें, तिण में संका मूल म आंण हो॥

५६—एक मोह करम उपसम हुवें, जब नीपजें उपसम भाव दोय हो।
उपसम समकत उपसम चारित हुवें ते तो जीव उजलो हुवो सोय हो॥

५७—दरसण मोहणी करम उपसम हुवां निपजें उपसम समकत निधांन हो।
चारित मोहणी उपसम हुआं परगटे उपसम चारित परधांन हो॥

५८—च्यार घणघातीया करम षय हुवें जब परगट हुवें खायक भाव हो।
ते गुण सरवथा उजला, त्यांरो जूओ २ सभाव हो॥

५९—ग्यांनावरणी सरवथा षय हुआं उपजें केवल ग्यांन हो।
दरसणावर्णी पिण षय हुवें सरवथा उपजें केवल दरसण परधांन हो॥

५२—वीर्य-लब्धि निरन्तर चौदहवें गुणस्थान तक रहती है। बारहवें गुणस्थान तक क्षयोपशम भाव है तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में क्षायिक भाव।

५३—लब्धि-वीर्य को वीर्य कहा गया है और करण-वीर्य को योग कहा गया है। जब तक लब्धि-वीर्य रहता है तभी तक करण-वीर्य रहता है और तभी तक पुद्गल-सयोग रहता है।

५४—पुद्गल के बिना वीर्य शक्ति नहीं होती। पुद्गल के बिना योग-व्यापार भी नहीं होता। जब तक जीव से पुद्गल लगे रहते हैं तब तक योग वीर्य रहता है।

५५—वीर्य जीव का स्वाभाविक गुण है और यह अतराय कर्म अलग होने से प्रकट होता है। यह वीर्य भाव-जीव है, इसमें जरा भी शका मत करो[९]।

उपशम भाव (गा० ५६-५७)

५६—एक मोहकर्म के उपशम होने से दो उपशम-भाव उत्पन्न होते हैं—(१) उपशम सम्यक्त्व और (२) उपशम चारित्र। यह जीव का उज्ज्वल होना है।

५७—दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम होने से प्रधान उपशम चारित्र प्रकट होता है[१०]।

क्षायिक भाव (गा० ५८-६२)

५८—चार घनघाती कर्मों के क्षय होने से क्षायिक-भाव प्रकट होता है। ये जीव के सर्वथा उज्ज्वल गुण हैं। इनके स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं।

५९—ज्ञानावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है और दर्शनावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय होने से प्रधान केवलदर्शन उत्पन्न होता है।

६०—मोहणी करम खय हुवें सरवथा बाकी रहें नहीं असमात हो।
जब खायक समकत परगटें, वले खायक चारित जथाख्यात हो॥

६१—दरसण मोहणी खय हुवें सरवथा जब निपजें खायक समकत परधान हो।
चारित मोहणी खय हुआं नीपजें खायक चारित निधान हो॥

६२—अंतराय करम अलगो हुवां, खायक वीर्य सगते हुवें ताम हो।
खायक लब्ध पांचूंइ परगटे, किण ही बात री नहीं अंतराय हो॥

६३—उपसम खायक षयउपसम भाव निरमला ते निज गुण जीवरा निरदोष हो।
ते तो देस थकी जीव उजलो सब उजलो ते मोख हो॥

६४—देस विरत श्रावक तणी, सर्व विरत साधु री छें ताय हो।
देस विरत समाइ सर्व विरत में ज्यूं निरजरा समाइ मोख मांय हो॥

६५—देस थी जीव उजले ते निरजरा सर्व उजलो ते जीव मोख हो।
तिण सूं निरजरा में मोख दोनूं जीव छें, उजल गुण जीवरा निरदोष हो॥

६६—जोड़ कीधी निरजरा ओलखायवा नाथ दुवारा सहर मझार हो।
संवत अठारे वरस छपनें फागण सुद दसम गुरवार हो॥

६०—मोहनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय होने से—उसके अंशमात्र भी न रहने से क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता है और यथाख्यात क्षायिक चारित्र प्रकट होता है।

६१—दर्शनमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से प्रधान क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता है। चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय होने से क्षायिक चारित्र उत्पन्न होता है।

६२—अंतराय कर्म के सम्पूर्ण दूर होने से क्षायिक वीर्य—शक्ति उत्पन्न होती है तथा पांचों ही क्षायिक लब्धियां प्रकट होती हैं। किसी भी बात की अंतराय नहीं रहती[११]।

तीन निर्मल भाव

६३—उपशम, क्षायिक और क्षयोपशम—ये तीनों निर्मल भाव हैं। ये जीव के निर्दोष स्वगुण हैं। इनसे जीव देशरूप निर्मल होता है, वह निर्जरा है और सर्वरूप निर्मल होता है, वह मोक्ष है।

निर्जरा और मोक्ष (गा० ६४-६५)

६४—श्रावक की देशविरति होती है और साधु की सर्वविरति। जिस तरह श्रावक की देशविरति साधु की सर्वविरति में समा जाती है, उसी तरह निर्जरा मोक्ष में समा जाती है।

६५—जीव का एक देश उज्ज्वल होना निर्जरा है और सर्व देश उज्ज्वल होना मोक्ष। इसलिए निर्जरा और मोक्ष दोनों भावजीव हैं। दोनों ही जीव के निर्दोष उज्ज्वल गुण हैं[१२]।

रचना-स्थान और काल

६६—निर्जरा को समझाने के लिए यह जोड़ नाथद्वारा शहर में सं० १८५६ की फाल्गुन शुक्ला दशमी गुरुवार को की गई है।

टिप्पणियाँ

१—निर्जरा सातवाँ पदार्थ है (दो० १)

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार, पुण्य और पाप को यथास्थान रखने पर, निर्जरा पदार्थ का स्थान आठवाँ होता है[१]। उत्तराध्ययन में भी इसका क्रम आठवाँ है[२]। अन्य आगमों में इसका स्थान सातवाँ है[३]। दिगम्बर ग्रन्थों में इसका क्रम प्रायः सातवाँ है[४]।

आगम में इसकी गिनती सद्भाव पदार्थ और तथ्यभावों में की गई है[५]।

भगवान महावीर ने कहा है— "ऐसी संज्ञा मत करो कि वेदना और निर्जरा नहीं है, पर ऐसी संज्ञा करो कि वेदना और निर्जरा है[६]।"

आगमकारों में इसे वेदना का प्रतिपक्षी पदार्थ कहा है[७]।

उमास्वाति ने 'वेदना' को 'निर्जरा' का पर्यायवाची बतलाया है[८]। पर आगम इसे निर्जरा का प्रतिद्वन्द्वी तत्त्व बतलाते हैं[९]। वेदना का अर्थ है—कर्म भोग, निर्जरा का अर्थ है—कर्मों को दूर करना।

१—तत्त्वा० १.४ (देखिए पृ० १५१ पाद-टिप्पणी १)

२—उत्त० २८.१४ (पृ० २५ पर उद्धृत)

३—ठाणाङ्ग ९.३.६६५ (पृ० २० पाद-टि० १ में उद्धृत)

४—(क) गोम्मटसार जीवकाण्ड ६२१ :

णव य पदत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपावदुगं।
आसवसंवरणिज्जरबंधा मोक्खो य होंतित्ति॥

(ख) पञ्चास्तिकाय २.१०८ (पृ० १५० पाद-टि० २ में उद्धृत)

५—(क) उत्त० २८.१४ (पृ० २५ पर उद्धृत)

(ख) ठाणाङ्ग ९.३.६६५ (पृ० २० पाद-टि० १ में उद्धृत)

६—सूयगडं २.५.१८ :

णत्थि वेयणा णिज्जरा वा णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि वेयणा णिज्जरा वा एवं सन्नं निवेसए॥

७—ठाणाङ्ग २.५७ :

जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं तंजहा......वेयणा चेव णिज्जरा चेव

८—तत्त्वा० १.४ भाष्य :

निर्जरा वेदना विपाक इत्यनर्थान्तरम्

इन सब आगम-प्रमाणो से यह स्वयसिद्ध है कि भगवान महावीर ने निर्जरा को एक स्वतत्र पदार्थ माना है।

आगम में कहा है—"बुद्ध कर्मों के सवर और क्षपण मे सदा यत्नशील हो[1]।" इसका अर्थ है वह नये कर्मों को न आने दे और पुराने कर्मों का नाश करे।

आगमो में कहा है "ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—ये चार मुक्ति के मार्ग हैं[2]।" "इसी मार्ग को प्राप्त कर जीव सुगति को प्राप्त करता है[3]।"

षट् द्रव्य और नव पदार्थों के गुण और पर्याय के यथार्थ ज्ञान को सम्यक्ज्ञान कहा जाता है[4]। नव तथ्यभावो की स्वभाव से या उपदेश से भावपूर्वक श्रद्धा करना सम्यक् दर्शन अथवा सम्यक्त्व है[5]। चारित्र कर्मास्रव को रोकता है। तप बधे हुए कर्मों को झाडता है[6]।

भगवान ने कहा है "सयम (चारित्र) और तप से पूर्व कर्मों का क्षय कर जीव समस्त दु खो से रहित हो मोक्ष को प्राप्त करता है[7]।"

चारित्र सवर का हेतु है। तप निर्जरा का हेतु है।

जीव अनादिकालीन कर्म-बध से ससार में भ्रमण कर रहा है। जब तक जीव कर्मों से मुक्त नही होता तब तक निर्वाण प्राप्त नही होता—"नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण" (उत्त० २८ ३०)। जो सयम और तप से युक्त नही उस अगुणी की कर्मों से मुक्ति नही होती—"अगुणिस्स नत्थि मोक्खो" (उत्त० २८.३०)।

१—उत्त० ३२ २५

तम्हा एएसि कम्माण अणुभागा वियाणिया ।
एएसि सवरे चेव खवणे य जए बुहो ॥

२—वही २८ १

३—वही २८ २

४—वही २८ ५-१४,३५

५—वही २८ १५,३५

६—वही २८ ३५

नाणेण जाणई भावे दसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई ॥

७—वही २८ ३६ :

खवेत्ता पुव्वकम्माइ सजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा पक्कमति महेसिणो ॥

टिप्पणियाँ

१—निर्जरा सातवाँ पदार्थ है (दो० १)

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार, पुण्य और पाप को यथास्थान रखने पर, निर्जरा पदार्थ का स्थान आठवाँ होता है[1]। उत्तराध्ययन में भी इसका क्रम आठवाँ है[2]। अन्य आगमों में इसका स्थान सातवाँ है[3]। दिगम्बर ग्रन्थों में इसका क्रम प्रायः सातवाँ है[4]।

आगम में इसकी गिनती सद्भाव पदार्थ और तथ्यभावों में की गई है[5]।

भगवान महावीर ने कहा है— 'ऐसी संज्ञा मत करो कि वेदना और निर्जरा नहीं है, पर ऐसी संज्ञा करो कि वेदना और निर्जरा है[6]।

द्विपदावतारों में इसे वेदना का प्रतिपक्षी पदार्थ कहा है[7]।

उमास्वाति ने 'वेदना' को 'निर्जरा' का पर्यायवाची बतलाया है[8]। पर आगम इसे निर्जरा का प्रतिद्वन्द्वी तत्त्व बतलाते हैं[9]। वेदना का अर्थ है—कर्म भोग; निर्जरा का अर्थ है—कर्मों को दूर करना।

१—तत्त्वा० १.४ (देखिए पृ० १४१ पाद-टिप्पणी १)

२—उत्त० २८.१४ (पृ० २४ पर उद्धृत)

३—ठाणाङ्ग ९.३.६६५ (पृ० २२ पाद-टि० १ में उद्धृत)

४—(क) गोम्मटसार जीवकाण्ड ६२१ :

> णव य पदत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपावदुगं।
> आसवसंवरणिज्जरबंधा मोक्खो य होंतित्ति॥

(ख) पञ्चास्तिकाय २.१.८ (पृ० १५ पाद-टि० २ में उद्धृत)

५—(क) उत्त० २८.१४ (पृ० २४ पर उद्धृत)

(ख) ठाणाङ्ग ९.३.६६५ (पृ० २२ पाद-टि० १ में उद्धृत)

६—सूत्रकृताङ्ग २.५.१८ :

> णत्थि वेयणा निज्जरा वा णेवं सन्नं निवेसए।
> अत्थि वेयणा निज्जरा वा एवं सन्नं निवेसए॥

७—ठाणाङ्ग २.४७ :

> जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं तंजहा......वेयणा चेव निज्जरा चेव

८—तत्त्वा० ९.७ भाष्य :

> निर्जरा वेदना विपाक इत्यनर्थान्तरम्

९—भगवती १.१

गुरु—"नही मिलती, क्योकि जीव अनुत्पन्न है—अनादि है।"

शिष्य—"पहले जीव फिर कर्म, यह बात मिलती है या नही ?"

गुरु—"नही मिलती, क्योकि कर्म बिना जीव कहाँ रहा ? मोक्ष जाने के बाद तो जीव वापिस नही आता।"

शिष्य—"पहले कर्म पीछे जीव, यह बात मिलती है या नही ?"

गुरु—"नही मिलती, क्योकि कर्म कृत होते हैं। जीव बिना कर्म को किसने किया ?"

शिष्य—"दोनो एक साथ उत्पन्न हैं, यह बात मिलती है या नही ?"

गुरु—"नही मिलती, क्योकि जीव और कर्म को उत्पन्न करनेवाला कौन है ?"

शिष्य—"जीव कर्मरहित है, यह बात मिलती है या नही ?"

गुरु—"नही मिलती। यदि जीव कर्मरहित हो तो फिर करनी करने की चेष्टा ही कौन करेगा ? कर्मरहित जीव मुक्ति पाने के बाद वापिस नही आता।"

शिष्य—"फिर जीव और कर्म का मिलाप किस तरह होता है ?"

गुरु—"अपश्चातानुपूर्वी न्याय से जीव और कर्म का मिलाप चला आ रहा है। जैसे अडे और मुर्गी में कौन पहले है और कौन पीछे, यह नही कहा जा सकता, वैसे ही प्रवाह की अपेक्षा जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है[1]।"

स्वामीजी ने जो यह कहा है—'आठ करम छें जीव रे अनाद रा' उसका भावार्थ उपरोक्त वार्तालाप से अच्छी तरह समझा जा सकता है। इन कर्मो की उत्पत्ति आस्रव पदार्थ से होती है क्योकि मिथ्यात्व आदि आस्रव ही जीव के कर्मागमन के द्वार हैं।

जैसे वृक्ष से लगा हुआ फल पक कर नीचे गिर जाता है वैसे ही कर्म उदय में—विपाक अवस्था में आते हैं और फल देकर झड जाते हैं। कर्मों से बधा हुआ ससारी जीव इस तरह कर्मों के झडने पर भी कर्मो से सर्वथा मुक्त नही होता क्योकि वह आस्रव-द्वारो से सदा कर्म-सचय करता रहता है। यह पहले बताया जा चुका है कि जीव असख्यात प्रदेशी चेतन द्रव्य है। उसका एक एक प्रदेश आस्रव-द्वार है[2]। जीव के एक-एक प्रदेश से प्रतिसमय अनन्तानन्त कर्म लगते रहते हैं। एक-एक प्रकार के अनन्तानन्त कर्म एक-एक प्रदेश से लगते हैं। ये कर्म जैसे लगते हैं वैसे ही फल देकर प्रतिसमय अनन्त

१—तेराद्वार दृष्टान्तद्वार

२—देखिए पृ० ४१७ टि० २७ (२)

संवर और निर्जरा ही ऐसे गुण हैं जिनसे सद्‌ग्रामी और सम्यग्दृष्टि जीव को निर्वाण की प्राप्ति होती है।

मोक्ष-मार्ग में निर्जरा पदार्थ को जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, वह उपर्युक्त विवेचन से भलीभाँति समझा जा सकता है।

तप को चारित्र की तरह ही जीव का लक्षण कहा है[1]। तप निर्जरा का ही दूसरा नाम है। अतः निर्जरा जीव का लक्षण है।

कर्मों का एक देशरूप से आत्मा से छूटना निर्जरा है— 'एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा" (तत्त्वा १ ४ सर्वार्थसिद्धि)। कर्मों के क्षय से आत्म प्रदेशों में स्वाभाविक उज्ज्वलता प्रकट होती है। जीव की स्वच्छता निर्जरा है। इसीलिए कहा है—"देशतः कर्मों का क्षय कर देशतः आत्मा का उज्ज्वल होना निर्जरा है"[2]।

आगम में कहा है— 'जब अनास्रवी जीव तप से संचित पापकर्मों का शोषण करता है तब पापकर्मों का क्षय होता है। जिस प्रकार एक महा तालाब हो वह पानी से भरा हो और उसे रिक्त करने का सवाल हो तो पहले उस के स्रोतों को रोका जाता है और फिर उसके जल को उलीच कर उसे खाली किया जाता है, उसी प्रकार पापकर्म के आस्रव को पहले रोकने से संयमी करोड़ों भवों से संचित कर्मों को तपस्या द्वारा झाड़ सकता है[3]।

२—अनादि कर्मबंध और निर्जरा (गा० १-४)

गुरु और शिष्य में निम्न संवाद हुआ

शिष्य— 'जीव और कर्म का आदि है यह बात मिलती है या नहीं ?"

१—उत्त २८ ११

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥

२—तेराद्वार द्रव्यात्मद्वार

३—उत्त ३० ५ ६

जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे॥
एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे।
भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ॥

गुरु—"नही मिलती, क्योंकि जीव अनुत्पन्न है—अनादि है।"

शिष्य—"पहले जीव फिर कर्म, यह बात मिलती है या नहीं?"

गुरु—"नही मिलती, क्योंकि कर्म बिना जीव कहाँ रहा? मोक्ष जाने के बाद तो जीव वापिस नही आता।"

शिष्य—"पहले कर्म पीछे जीव, यह बात मिलती है या नही?"

गुरु—"नही मिलती, क्योंकि कर्म कृत होते हैं। जीव बिना कर्म को किसने किया?"

शिष्य—"दोनो एक साथ उत्पन्न हैं, यह बात मिलती है या नही?"

गुरु—"नही मिलती, क्योंकि जीव और कर्म को उत्पन्न करनेवाला कौन है?"

शिष्य—"जीव कर्मरहित है, यह बात मिलती है या नही?"

गुरु—"नही मिलती। यदि जीव कर्मरहित हो तो फिर करनी करने की चेष्टा ही कौन करेगा? कर्मरहित जीव मुक्ति पाने के बाद वापिस नही आता।"

शिष्य—"फिर जीव और कर्म का मिलाप किस तरह होता है?"

गुरु—"अपश्चातानुपूर्वी न्याय से जीव और कर्म का मिलाप चला आ रहा है। जैसे अडे और मुर्गी में कौन पहले है और कौन पीछे, यह नही कहा जा सकता, वैसे ही प्रवाह की अपेक्षा जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है[1]।"

स्वामीजी ने जो यह कहा है—'**आठ करम छें जीव रे अनाद रा**' उसका भावार्थ उपरोक्त वार्त्तालाप से अच्छी तरह समझा जा सकता है। इन कर्मो की उत्पत्ति आस्रव पदार्थ से होती है क्योंकि मिथ्यात्व आदि आस्रव ही जीव के कर्मागमन के द्वार हैं।

जैसे वृक्ष से लगा हुआ फल पक कर नीचे गिर जाता है वैसे ही कर्म उदय में—विपाक अवस्था में आते हैं और फल देकर झड जाते हैं। कर्मों से बधा हुआ ससारी जीव इस तरह कर्मो के झडने पर भी कर्मो से सर्वथा मुक्त नही होता क्योंकि वह आस्रव-द्वारो से सदा कर्म-सचय करता रहता है। यह पहले बताया जा चुका है कि जीव असख्यात प्रदेशी चेतन द्रव्य है। उसका एक-एक प्रदेश आस्रव द्वार है[2]। जीव के एक-एक प्रदेश से प्रतिसमय अनन्तानन्त कर्म लगते रहते हैं। एक-एक प्रकार के अनन्तानन्त कर्म एक-एक प्रदेश से लगते हैं। ये कर्म जैसे लगते हैं वैसे ही फल देकर प्रतिसमय अनन्त

१—तेराद्वार दृष्टान्तद्वार

२—देखिए पृ० ४१७ टि० २७ (२)

संख्या में झड़ते भी रहते हैं। इस तरह बंधने और झड़ने का चक्र चलता रहता है और जीव कर्मों से मुक्त नहीं होता।

स्वामीजी कहते हैं— कर्मों को झाड़ने की प्रक्रिया को अच्छी तरह समझे बिना कर्मों से मुक्त होना असम्भव है। जैसे घाव में सुराख हो और पीप आती रहे तो उस अवस्था में ऊपर का मवाद निकलने पर भी घाव खाली नहीं होता वैसे ही जब तक नये कर्मों के आगमन का स्रोत चलता रहता है तब तक कम बेकर पुराने कर्मों के झड़ते रहने पर भी जीव कर्मों से मुक्त नहीं होता।

३—उदय आदि भाव और निर्जरा (गा० ५-८)

उदय उपशम क्षय क्षयोपशम और परिणामी—इन पाँच भावों का विवेचन पहले विस्तार से किया जा चुका है (देखिए पृ० ३८ टि १)।

संसारी जीव अनादि काल से कर्मबद्ध अवस्था में है। बंध हुए कर्मों के निमित्त से जीव की चेतना में परिणाम—अवस्थान्तर होते रहते हैं। जीव के परिणामों के निमित्त से नए पुद्गल कर्मरूप परिणमन करते हैं। नए कर्म पुद्गलों के परिणमन से आत्मा में फिर नए भाव होते हैं[१]। यह क्रम इस तरह चलता ही रहता है। पुद्गल-कर्म रूप वास्तविक परिवर्तन पर आत्मिक विकास ह्रास आरोह अवरोह का क्रम अवलम्बित रहता है।

कर्म-परिणमन से जीव में नाना प्रकार की अवस्थाएँ और परिणाम होते हैं। उससे जीव में निम्न पारिणामिक भाव उत्पन्न होते हैं—

१-गति परिणाम—नारक तिर्यञ्च मनुष्य देवगति रूप
२ इन्द्रिय परिणाम—एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि रूप
३-कषाय परिणाम—राग द्वेष रूप
४-लेश्या परिणाम—कृष्णलेश्यादि रूप
५-योग परिणाम—मन-वचन-काय व्यापार रूप
६-उपयोग परिणाम—बोध-व्यापार
७-ज्ञान परिणाम
८-दर्शन परिणाम—श्रद्धान रूप
९ चारित्र परिणाम
१०-वेद परिणाम —स्त्री पुरुष, नपुंसक वेद रूप

१—जीवपरिणामहेदुं कम्मत्ता पोग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं जीवो वि तहेव परिणमइ ॥
१—समयसार १ ७१३

वधे हुए कर्मों के उदय मे आने पर जीवो में निम्न ३३ औदयिक भाव-अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं :

गति—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देवगति ।

काय—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय ।

कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ ।

वेद—स्त्री, पुरुष, नपुसक ।

लेश्या—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म, शुक्ल ।

अन्यभाव—मिथ्यात्व, अविरति, असज्ञीभाव, अज्ञानता, आहारता, छद्मस्थता, सयोगित्व, अकेवलीत्व, सांसारिकता, असिद्धत्व ।

उदयावस्था परिपाक अवस्था है। वधे हुए कर्म सत्तारूप मे पडे रहते हैं। फल देने का समय आने पर वे उदय में आते हैं। उदय में आने पर जीव में जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे औदयिक भाव हैं।

उदय आठो कर्मो का होता है। कर्मोदय जीव में उज्ज्वलता उत्पन्न नही करता।

आस्रव पदार्थ उदय और पारिणामिक भाव है। वह वध-कारक है। वह ससार वढाता है, उसे घटने नही देता।

मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से सम्यक् श्रद्धा और चारित्र का प्रादुर्भाव होता है। उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र—ये दो भाव उत्पन्न होते हैं। क्षय से अटल सम्यक्त्व और परम विशुद्ध यथाख्यात चारित्र उत्पन्न होते हैं।

सवर औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव है।

मोक्ष-प्राप्ति के दो चरण हैं—

(१) नये कर्मों का सचय न होने देना और

(२) पुराने कर्मों का दूर करना।

सवर प्रथम चरण है। वह नवीन मलीनता को उत्पन्न नही होने देता अत आत्म-शुद्धि का ही प्रवल उपक्रम है। निर्जरा द्वितीय चरण है। वह वधे हुए कर्मों को दूर करती है।

निर्जरा क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव है।

आठ कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म घनघाती हैं, यह पहले वताया जा चुका है (देखिए पृ० २९८-३०० टि० ३)। इन

संख्या में झड़ते भी रहते हैं। इस तरह बंधने और झड़ने का चक्र चलता रहता है और जीव कर्मों से मुक्त नहीं होता।

स्वामीजी कहते हैं— 'कर्मों को झाड़ने की प्रक्रिया को अच्छी तरह समझे बिना कर्मों से मुक्त होना असम्भव है। जैसे घाव में सुराख हो और पीप भरती रहे तो उस अवस्था में ऊपर का मवाद निकलने पर भी घाव खाली नहीं होता वैसे ही जब तक नये कर्मों के आगमन का स्रोत चलता रहता है तब तक कम लेकर पुराने कर्मों के झड़ते रहने पर भी जीव कर्मों से मुक्त नहीं होता।

३—उदय आदि भाव और निर्जरा (गा० ५-८)

उदय उपशम क्षय क्षयोपशम और परिणामी—इन पाँच भावों का विवेचन पहले विस्तार से किया जा चुका है (देखिए पृ० १८ टि १)।

संसारी जीव अनादि काल से कर्मबद्ध अवस्था में है। बंध हुए कर्मों के निमित्त से जीव की चेतना में परिणाम—अवस्थान्तर होते रहते हैं। जीव के परिणामों के निमित्त से नए पुद्गल कर्मरूप परिणमन करते हैं। नए कर्म पुद्गलों के परिणमन से आत्मा में फिर नए भाव होते हैं[1]। यह क्रम इस तरह चलता ही रहता है। पुद्गल-कर्म जन्य आत्मिक परिवर्तन पर आत्मिक विकास ह्रास आरोह अवरोह का क्रम अवलम्बित रहता है।

कर्म-परिणमन से जीव में नाना प्रकार की अवस्थाएँ और परिणाम होते हैं। उससे जीव में निम्न पारिणामिक भाव उत्पन्न होते हैं—

१-गति परिणाम—नारक तिर्यञ्च मनुष्य देवगति रूप
२ इन्द्रिय परिणाम—एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि रूप
३-कषाय परिणाम—राग द्वेष रूप
४-लेश्या परिणाम—कृष्णलेश्यादि रूप
५-योग परिणाम—मन-वचन काय व्यापार रूप
६-उपयोग परिणाम—बोध-व्यापार
७-ज्ञान परिणाम
८-दर्शन परिणाम—अज्ञान रूप
९ चारित्र परिणाम
१०-वेद परिणाम[2]—स्त्री पुरुष, नपुंसक वेद रूप

१—जीवपरिणामहेदु कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं जीवो वि तहेव परिणमइ ॥

२—ठाणाङ्ग १० ७१३

बधे हुए कर्मो के उदय मे आने पर जीवो मे निम्न ३३ औदयिक भाव-अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं :

गति—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देवगति ।

काय—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय ।

कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ ।

वेद—स्त्री, पुरुष, नपुसक ।

लेश्या—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म, शुक्ल ।

अन्यभाव—मिथ्यात्व, अविरति, असज्ञीभाव, अज्ञानता, आहारता, छद्मस्थता, सयोगित्व, अकेवलीत्व, सासारिकता, असिद्धत्व ।

उदयावस्था परिपाक अवस्था है। बधे हुए कर्म सत्तारूप में पडे रहते हैं। फल देने का समय आने पर वे उदय में आते हैं। उदय में आने पर जीव मे जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे औदयिक भाव हैं।

उदय आठो कर्मो का होता है। कर्मोदय जीव में उज्ज्वलता उत्पन्न नही करता।

आस्रव पदार्थ उदय और पारिणामिक भाव है। वह बध-कारक है। वह ससार बढाता है, उसे घटने नही देता।

मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से सम्यक् श्रद्धा और चारित्र का प्रादुर्भाव होता है। उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र—ये दो भाव उत्पन्न होते हैं। क्षय से अटल सम्यक्त्व और परम विशुद्ध यथाख्यात चारित्र उत्पन्न होते हैं।

सवर औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव है।

मोक्ष-प्राप्ति के दो चरण हैं—

(१) नये कर्मों का सचय न होने देना और

(२) पुराने कर्मों का दूर करना।

सवर प्रथम चरण है। वह नवीन मलीनता को उत्पन्न नही होने देता अत आत्म-शुद्धि का ही प्रबल उपक्रम है। निर्जरा द्वितीय चरण है। वह बधे हुए कर्मों को दूर करती है।

निर्जरा क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव है।

आठ कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म घनघाती हैं, यह पहले बताया जा चुका है (देखिए पृ० २९८-३०० टि० ३)। इन

कर्मों के स्वभाव का विस्तृत वर्णन भी किया जा चुका है (देखिए पृ० ११-१२७ टि० ४-८)।

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त श्रद्धा और चारित्र तथा अनन्त वीर्य—ये जीव के स्वाभाविक गुण हैं। ज्ञानावरणीय कर्म अनन्त ज्ञान को प्रकट नहीं होने देता—उसे आवृत कर रखता है। दर्शनावरणीय कर्म अनन्त दर्शन शक्ति को आवृत कर रखता है। मोहनीय कर्म जीव की अनन्त श्रद्धा और चारित्र को प्रकट नहीं होने देता—उसे मोह विह्वल रखता है। अन्तराय कर्म अनन्त वीर्य के प्रकट होने में बाधक होता है। इस तरह ज्ञानावरणीय आदि चारों कर्म जीव के स्वाभाविक गुणों को प्रकट नहीं होने देते। घन—बादलों की तरह ये उनको आच्छादित कर रखते हैं इससे ये घनघाती कहलाते हैं।

इन घनघाती कर्मों का उदय चाहे कितना ही प्रबल क्यों न हो वह जीव के ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र और वीर्य गुणों को सम्पूर्णतः आवृत नहीं कर सकता। ये शक्तियाँ न्यून-अधिक मात्रा में सदा अनावृत रहती हैं। ज्ञानावरणीय आदि घाति कर्म ज्ञानादि गुणों की घात करते हैं पर उनके अस्तित्व को सर्वथा नहीं मिटा सकते। यदि मिटा सकते तो जीव अजीव हो जाता। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का सदा काल न्यून-अधिक क्षयोपशम रहता ही है जिससे ज्ञानादि गुण जीव में न्यूनाधिक मात्रा में होता प्रकट रहते हैं। कहा है—"सब जीवों के अक्षर का अनन्तवाँ भाग नित्य प्रकट रहता है यदि वह भी आवृत होता तो जीव अजीवत्व को प्राप्त होता। अत्यन्त घोर बादलों द्वारा सूर्य और चन्द्रमा की किरणों तथा रश्मियों का आच्छादन होने पर भी उनका एकान्त तिरोभाव नहीं हो पाता। अगर ऐसा हो तो फिर रात और दिन का अन्तर ही न रहे। प्रबल मिथ्यात्व के उदय के समय भी दृष्टि किंचित् शुद्ध रहती है। इसी से मिथ्यादृष्टि के भी गुणस्थान संभव होता है[1]।"

१—कर्मग्रन्थ २ टीका :

सव्वजीवाणं पि यणं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ, जइ पुण सोवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा इत्यादि। यथाहि समुन्नतातिबहलजीमूतपटलेन दिनकररजनीकरकरनिकरतिरस्कारेऽपि नैकान्तेन तत्प्रभानाशः संपद्यते प्रतिप्राणिप्रसिद्धदिनरजनीविभागाभावप्रसङ्गात्। एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदये काचिदविपर्यस्तापि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसंभवः।

इसी तरह कर्मो के क्षयोपशम से जीव हमेशा कुछ-न-कुछ स्वच्छ—उज्ज्वल रहता है। जीव प्रदेशो की यह स्वच्छता—उज्ज्वलता निर्जरा है। जैसे-जैसे कर्मो का क्षयोपशम बढता है वैसे-वैसे आत्मा के स्वाभाविक गुण अधिकाधिक प्रकट होते जाते हैं—आत्मा की स्वच्छता—निर्मलता—उज्वलता बढती जाती है। उज्वलता का यह क्रमिक विकास ही निर्जरा है।

४—निर्जरा और मोक्ष में अन्तर (गा० ६) :

निर्जरा शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा गया है—"निर्ज्जरण निर्जरा विशरण परिशटनमित्यर्थ [1]।" इसका अर्थ है—कर्मो का परिशटन—दूर होना निर्जरा है। मोक्ष भी कर्मो का दूर होना ही है। फिर दोनो मे क्या अन्तर है? इसका उत्तर है—"देशत. कर्मक्षयो निर्जरा सर्वतस्तु मोक्ष इति [2]।" देश कर्मक्षय निर्जरा है और सर्व कर्मक्षय मोक्ष। आचार्य पूज्यपाद ने भी यही अन्तर बतलाया है—"एकदेशकर्मसक्षयलक्षणा निर्जरा। कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्ष [3]।" निर्जरा का लक्षण है एकदेश कर्मक्षय और मोक्ष का लक्षण है सम्पूर्ण कर्म-वियोग।

५—ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम और निर्जरा (गा० १०-१७) :

गा० १०-१७ के भाव को समझने के लिए निम्न बातो की जानकारी आवश्यक है ·
(१)—ज्ञान पांच प्रकार का है—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन पर्यवज्ञान और (५) केवलज्ञान [4]। इनकी सक्षिप्त परिभापा पहले दी जा चुकी है [5]। यहाँ इन ज्ञानो की विशेषताओ पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है :

(१) आभिनिबोधिकज्ञान (मतिज्ञान) अभिमुख आये हुए पदार्थ का जो नियमित बोध कराता है उस इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को आभिनिबोधिकज्ञान कहते हैं [6]।

१—ठाणाङ्ग १ १६ टीका
२—वही
३—तत्त्वा० १ ४ सर्वार्थसिद्धि
४—(१) भगवती ८ २
  (ख) नन्दी सूत्र १
५—देखिए पृ० ३०४
६—नन्दी सू० २४
  अभिणिबुज्झइ त्ति आभिणिबोहियनाण

कर्मों के स्वभाव का विस्तृत वर्णन भी किया जा चुका है (देखिए पृ १ १–१२७ टि० ४-८)।

अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त श्रद्धा और चारित्र तथा अनन्त वीर्य—ये जीव के स्वाभाविक गुण हैं। ज्ञानावरणीय कर्म अनन्त ज्ञान को प्रकट नहीं होने देता—उसे आवृत कर रखता है। दर्शनावरणीय कर्म अनन्त दर्शन-शक्ति को आवृत कर रखता है। मोहनीय कर्म जीव की अनन्त श्रद्धा और चारित्र को प्रकट नहीं होने देता—उसे मोह विह्वल रखता है। अन्तराय कर्म अनन्त वीर्य के प्रकट होने में बाधक होता है। इस तरह ज्ञानावरणीय आदि चारों कर्म जीव के स्वाभाविक गुणों को प्रकट नहीं होने देते। घन—बादलों की तरह ये उनका आच्छादित कर रखते हैं इससे ये घनघाती कहलाते हैं।

इन घनघाती कर्मों का उदय चाहे कितना ही प्रबल क्यों न हो वह जीव के ज्ञान दर्शन सम्यक्त्व चारित्र और वीर्य गुणों को सम्पूर्णतः आवृत नहीं कर सकता। ये शक्तियाँ कुछ-न कुछ मात्रा में सदा अनावृत रहती हैं। ज्ञानावरणीय आदि घाति कर्म —ज्ञानादि गुणों की घात करते हैं पर उनके अस्तित्व को सर्वथा नहीं मिटा सकते। यदि मिटा सकते तो जीव अजीव हो जाता। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का सदा काल कुछ-न-कुछ क्षयोपशम रहता ही है जिससे ज्ञानादि गुण जीव में न्यूनाधिक मात्रा में हमेशा प्रकट रहते हैं। कहा है— सब जीवों के अक्षर का अनन्तवाँ भाग नित्य प्रकट रहता है यदि वह भी आवृत होता तो जीव अजीवत्व को प्राप्त होता। अत्यन्त घोर बादलों द्वारा सूर्य और चन्द्रमा की किरणों तथा रश्मियों का आच्छादन होने पर भी उनका एकान्त तिरोभाव नहीं हो पाता। अगर ऐसा हो तो फिर रात और दिन का अन्तर ही न रहे। प्रबल मिथ्यात्व के उदय के समय भी दृष्टि किंचित् शुद्ध रहती है। इसी से मिथ्यादृष्टि के भी गुणस्थान संभव होता है[1]।"

१—कर्मग्रन्थ २ टीका

सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ, जइ पुण सोवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा इत्यादि। तथाहि समुन्नतातिबहलजीमूतपटलेन दिनकररजनीकरकरनिकरतिरस्कारेऽपि नैकान्तेन तत्प्रभानाशः संपद्यते, प्रतिप्राणिप्रसिद्धदिनरजनीविभागाभावप्रसङ्गात्। एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदये काचिदविपर्यस्ता दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसंभवः।

ढाई द्वीप समुद्र पर्यन्त रहे हुए सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो के मनोगत भावो को जानता-देखता है। काल से जघन्य और उत्कृष्टत पल्योपम के असख्यातवें भाग भूत व भविष्य काल को जानता-देखता है। भाव से अनन्त भावो को जानता-देखता है। सभी भावो के अनन्तवें भाग को जानता-देखता है। विपुलमति मन पर्यवज्ञानी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को कुछ अधिक विपुल, विशुद्ध तथा अन्धकाररहित जानता-देखता है[1]।

(५) केवलज्ञान केवलज्ञानी विना किसी इन्द्रिय और मन की सहायता से द्रव्य से सर्व द्रव्यो को, क्षेत्र से लोकालोक सर्व क्षेत्र को, काल से सर्व काल को, भाव से सर्व भावो को जानता-देखता है। केवलज्ञान सभी द्रव्यो के परिणाम और भावो का जाननेवाला है। वह अनन्त, शाश्वत तथा अप्रतिपाती—नही गिरनेवाला होता है। केवलज्ञान एक प्रकार का है[2]।

२—अज्ञान तीन हैं—(१) मतिअज्ञान, (२) श्रुतअज्ञान और (३) विभगज्ञान। यहाँ अज्ञान शब्द ज्ञान के विपरीतार्थ रूप में प्रयुक्त नही है। उसका अर्थ ज्ञान का अभाव ऐसा नही है। मिथ्यादृष्टि के मति, श्रुत और अवधिज्ञान को ही क्रमश मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान आर विभगज्ञान कहा गया है[3]।

(१) मतिअज्ञान मतिअज्ञानी मतिअज्ञान के विपयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानता-देखता है।

(२) श्रुतअज्ञान श्रुतअज्ञानी श्रुतअज्ञान के विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को कहता, जानता और प्ररूपित करता है।

१—(क) नन्दी सू० १८

(ख) भगवती ८ २

२—(क) नन्दी सू० २२ गा० ६६ :

अह सव्वदव्वपरिणाम,—भावविण्णत्तिकारणमणत ।
सासयमप्पडिवाई, एगविह केवल नाण ॥

(ख) भगवती ८ २

३—नन्दी सू० २५ :

विसेसिया सम्मदिट्ठिस्स मई मइनाण, मिच्छदिट्ठिस्स मई मइअन्नाण।
विसेसिअं सुय सम्मदिट्ठिस्स सुअ सुयनाणं, मिच्छदिट्ठिस्स सुय सुयअन्नाण।

आभिनिबोधिक ज्ञानी आदेश से (सामान्य रूप से) सर्व द्रव्य सर्व क्षेत्र सब काल और सर्व भाव को जानता-देखता है[१]।

(२) श्रुतज्ञान जो सुना जाए वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। परन्तु मति श्रुतपूर्विका नहीं होती[२]। उपयुक्त (उपयोग सहित) श्रुतज्ञानी द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा सर्व द्रव्य सर्व क्षेत्र सब काल और सर्व भाव को जानता-देखता है[३]।

(३) अवधिज्ञान : द्रव्य से अवधिज्ञानी बिना किसी इन्द्रिय और मन की सहायता से जघन्य अनन्त रूपी द्रव्यों को और उत्कृष्ट सभी रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है। क्षेत्र से जघन्य अंगुल मात्र क्षेत्र का और उत्कृष्ट लोकप्रमाण असंख्य खण्डों को अलोक में जानता-देखता है। काल से जघन्य आवलिका के असंख्य काल भाग को और उत्कृष्ट असंख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप अतीत-अनागत काल को जानता-देखता है। भाव से जघन्य और उत्कृष्ट से अनन्त भावों को जानता-देखता है। सब भावों के अनन्तवें भाग को जानता-देखता है[४]।

(४) मनःपर्यवज्ञान यह ज्ञान बिना किसी मन या इन्द्रिय की सहायता से संज्ञी जीवों के मन में सोचे हुए अर्थ को प्रकट करनेवाला है[५]। ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी द्रव्य से अनन्त प्रदेशी अनन्त स्कन्धों को जानता-देखता है। क्षेत्र से जघन्य अंगुल के असंख्यात भाग और उत्कृष्ट नीचे—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरी भाग के नीचे के छोटे प्रतरों तक जानता है, ऊपर ज्योतिष्क विमान के ऊपरी तलपर्यन्त तथा तिर्यक्-मनुष्य क्षेत्र के भीतर

१—भगवती ८.२
दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वदव्वाइं जाणइ पासति खेत्तओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वखेत्तं जाणइ पासति एवं कालओ वि एवं भावओ वि।

२—नन्दी सूत्र [illegible]
सुयोहवि सर्व

३—भगवती ८.२
दव्वओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणति पासति एवं खेत्तओ वि कालओ वि। भावओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वभावे जाणति, पासति।

४—नन्दी सूत्र १६

५—नन्दी सूत्र १८ गा० ६५
मणपज्जवनाणं पुण, जणमणपरिचिंतियत्थपागडणं

पाँच ज्ञानावरणीय कर्मों में से मतिज्ञानावरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय का सदा कुछ-न-कुछ क्षयोपशम रहता है जिससे हर परिस्थिति में जीव के कुछ-न-कुछ मात्रा में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अनाच्छादित रहते हैं। अर्थात् प्रत्येक जीव के कुछ-न-कुछ मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान रहते ही हैं। मतिज्ञानावरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय कर्मों का किंचित् क्षयोपशम नित्य रहने से, उस क्षयोपशम के अनुपात से जीव कुछ मात्रा में स्वच्छ—उज्ज्वल रहता है। जीव की यह उज्ज्वलता निर्जरा है। भगवती सूत्र के अनुसार दो ज्ञान अथवा दो अज्ञान से कमवाले जीव नहीं होते। उत्कृष्ट में चार ज्ञान अथवा तीन अज्ञान होते हैं। केवल केवलज्ञानी के एक केवलज्ञान होता है[1]। नन्दीसूत्र में भी मति और श्रुतज्ञान को तथा मति और श्रुतअज्ञान को एक दूसरे का अनुगत कहा है[2]। इससे भी कम-से-कम दो ज्ञान अथवा दो अज्ञानवाले ही जीव सिद्ध होते हैं।

६—ज्ञान और अज्ञान साकार उपयोग और क्षायोपशमिक भाव है (गा० १८):

उपयोग अर्थात् बोधरूप व्यापार। यह जीव का लक्षण है।

जो बोध ग्राह्यवस्तु को विशेपरूप से जानता है, उसे साकार उपयोग कहते हैं और जो बोध ग्राह्यवस्तु को सामान्यरुप से जानता है, उसे निराकार उपयोग कहते हैं। ज्ञान साकार उपयोग है और दर्शन निराकार उपयोग।

उपयोग के विषय में आगम में निम्न वार्त्तालाप मिलता है[3]—

"हे भगवन्! उपयोग कितने प्रकार का है?"

"हे गौतम! वह दो प्रकार का है—एक साकार उपयोग और दूसरा अनाकार उपयोग।"

"हे भगवन्! साकार उपयोग कितने प्रकार का है?"

१—भगवती ८ २.

गोयमा! जीवा नाणी वि अन्नाणी वि, जे नाणी ते अत्थेगतिया दुन्नाणी ... जे दुन्नाणी ते आभिणिबोहियनाणी य सुयनाणी य। .... .. जे अन्नाणी ते अत्थेगतिया दुअन्नाणी.... ... जे दुअन्नाणी ते मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य।

२—नन्दी सू० २४.

जत्थ आभिणिबोहियनाण तत्थ सुयनाण, जत्थ सुयनाण तत्थाभिणिबोहियनाण दोऽवि एयाइ अण्णमण्णमणुगयाइ

३—(क) पन्नवणा पद २६

(ख) भगवती १६ ७

(३) विभंगज्ञान — विभंगज्ञानी विभंगज्ञान के विषयभूत द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को जानता-देखता है[1]।

२—ज्ञानावरणीय कर्म पाँच प्रकार का है—मतिज्ञानावरणीय श्रुतज्ञानावरणीय अवधिज्ञानावरणीय मनःपर्यव ज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय। इनके स्वरूप का विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है (देखिए पृ ३०४)।

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से समुच्चयरूप में निम्न आठ बोल उत्पन्न होते हैं।

(१) केवलज्ञान को छोड़कर बाकी चार ज्ञान।

(२) तीनों अज्ञान

(३) आचाराङ्गादि १२ अङ्गों का अध्ययन और उत्कृष्ट में १४ पूर्वों का अभ्यास

भिन्न भिन्न ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम का परिणाम इस प्रकार होता है

(१) मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से सम्यक्त्वी के मतिज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्यात्वी के मतिअज्ञान।

(२) श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से सम्यक्त्वी के श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्यात्वी के श्रुतअज्ञान। सम्यक्त्वी उत्कृष्ट १४ पूर्व का अभ्यास करता है और मिथ्यात्वी देशन्यून १ पूर्व तक।

(३) अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से सम्यक्त्वी के अवधिज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्यात्वी के विभंगज्ञान।

(४) मनःपर्यव ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से ऋद्धिप्राप्त अप्रमत्त साधु को मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्यात्वी को यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

(५) केवलज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम नहीं होता। ज्ञानावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

१—भगवती ८.२

(क) दव्वओ णं मइअन्नाणी मइअन्नाणपरिगयाइं दव्वाइं जाणइ पासइ एवं जाव भावओ मइअन्नाणी मइअन्नाणपरिगए भावे जाणइ पासइ।

(ख) दव्वओ णं सुयअन्नाणी सुयअन्नाणपरिगयाइं दव्वाइं आघवेति पन्नवेइ परूवेइ।

(ग) दव्वओ णं विभंगनाणी विभंगनाणपरिगयाइं दव्वाइं जाणइ पासइ एवं जाव भावओ णं विभंगनाणी विभंगनाणपरिगए भावे जाणइ पासइ।

पाँच ज्ञानावरणीय कर्मों में से मतिज्ञानावरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय का सदा कुछ-न-कुछ क्षयोपशम रहता है जिससे हर परिस्थिति में जीव के कुछ-न-कुछ मात्रा में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अनाच्छादित रहते हैं। अर्थात् प्रत्येक जीव के कुछ-न-कुछ मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान रहते ही हैं। मतिज्ञानावरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय कर्मों का किंचित् क्षयोपशम नित्य रहने से, उस क्षयोपशम के अनुपात से जीव कुछ मात्रा में स्वच्छ—उज्ज्वल रहता है। जीव की यह उज्ज्वलता निर्जरा है। भगवती सूत्र के अनुसार दो ज्ञान अथवा दो अज्ञान से कमवाले जीव नहीं होते। उत्कृष्ट में चार ज्ञान अथवा तीन अज्ञान होते हैं। केवल केवलज्ञानी के एक केवलज्ञान होता है[1]। नन्दीसूत्र में भी मति और श्रुतज्ञान को तथा मति और श्रुतअज्ञान को एक दूसरे का अनुगत कहा है[2]। इससे भी कम-से-कम दो ज्ञान अथवा दो अज्ञानवाले ही जीव सिद्ध होते हैं।

६—ज्ञान और अज्ञान साकार उपयोग और क्षायोपशमिक भाव है (गा०१८):

उपयोग अर्थात् बोधरूप व्यापार। यह जीव का लक्षण है।

जो बोध ग्राह्यवस्तु को विशेषरूप से जानता है, उसे साकार उपयोग कहते हैं और जो बोध ग्राह्यवस्तु को सामान्यरुप से जानता है, उसे निराकार उपयोग कहते हैं। ज्ञान साकार उपयोग है और दर्शन निराकार उपयोग।

उपयोग के विषय में आगम में निम्न वार्त्तालाप मिलता है[3]—

"हे भगवन्! उपयोग कितने प्रकार का है?"

"हे गौतम! वह दो प्रकार का है—एक साकार उपयोग और दूसरा अनाकार उपयोग।"

"हे भगवन्! साकार उपयोग कितने प्रकार का है?"

१—भगवती ८ २ :

गोयमा! जीवा नाणी वि अन्नाणी वि, जे नाणी ते अत्थेगतिया दुन्नाणी· जे दुन्नाणी ते आभिणिबोहियनाणी य सुयनाणी य। ··· · जे अन्नाणी ते अत्थेगतिया दुअन्नाणी···· ··· जे दुअन्नाणी ते मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य।

२—नन्दी सू० २४ :

जत्थ आभिणिबोहियनाण तत्थ सुयनाण, जत्थ सुयनाण तत्थाभिणिबोहियनाण दोऽवि एयाइ अण्णमण्णमणुगयाइ

३—(क) पन्नवणा पद २६

(ख) भगवती १६

हे गौतम ! वह आठ प्रकार का कहा गया है—आभिनिबोधिकज्ञान साकारोपयोग (मतिज्ञान सा०) श्रुतज्ञान सा० अवधिज्ञान सा० मनःपर्यवज्ञान सा०, केवलज्ञान सा०, मतिअज्ञान सा० श्रुतअज्ञान सा० और विभंगज्ञान साकारोपयोग ।

"हे भगवन् ! अनाकार उपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?"

"हे गौतम ! चार प्रकार का—चक्षुदर्शन अनाकारोपयोग अचक्षुदर्शन अना० अवधिदर्शन अना० और केवलदर्शन अनाकारोपयोग ।

स्वामीजी का कथन इसी आगम उल्लेख पर आधारित है ।

ज्ञान और अज्ञान दोनों साकार उपयोग हैं और दोनों का स्वभाव वस्तु को विशेष धर्मों के साथ जानना है । जो ज्ञान मिथ्यात्वी के होता है, उसे अज्ञान कहते हैं । ज्ञान और अज्ञान में इतना ही अन्तर है, विशेष नहीं । जैसे कुएँ का जल निर्मल ठण्डा मीठा एक-सा होता है पर ब्राह्मण के पात्र में शुद्ध गिना जाता है और मातङ्ग के पात्र में अशुद्ध वैसे ही मिथ्यात्वी के जो ज्ञान गुण प्रकट होता है, वह मिथ्यात्वसहित होने से अज्ञान कहा जाता है । वही विशेष बोध जब सम्यक्त्वी के उत्पन्न होता है तब ज्ञान कहलाता है ।

ज्ञान-अज्ञान दोनों उज्ज्वल क्षायोपशमिक भाव हैं । ये आत्मा की निर्मलता—उज्ज्वलता के द्योतक हैं । ज्ञान-अज्ञान को प्रकट करनेवाली क्षयोपशमजन्य निर्मलता निर्जरा है ।

७—दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम और निर्जरा (गा० १६-२१):

१—दर्शन चार प्रकार का कहा गया है—(१) चक्षुदर्शन (२) अचक्षुदर्शन (३) अवधिदर्शन और (४) केवलदर्शन । इनकी परिभाषाएं पहले दी जा चुकी हैं । (देखिए पृ० टि० १०७) ।

२—इन्द्रियाँ पाँच हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रिय (२) चक्षुरिन्द्रिय (३) घ्राणेन्द्रिय, (४) रसनेन्द्रिय और (५) स्पर्शनेन्द्रिय ।

३—दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियाँ हैं—(१) चक्षुदर्शनावरणीय (२) अचक्षुदर्शनावरणीय (३) अवधिदर्शनावरणीय (४) केवलदर्शनावरणीय (५) निद्रा (६) निद्रा-निद्रा (७) प्रचला (८) प्रचला प्रचला और (९) स्त्यानर्द्धि (स्त्यानगृद्धि) । इनकी व्याख्या पहले की जा चुकी है (देखिए पृ० ३०७ टि० ५) ।

समुच्चय रूप से दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से आठ बोल उत्पन्न होते हैं—पाँचों इन्द्रियाँ तथा केवलदर्शन को छोड़कर तीन दर्शन ।

भिन्न-भिन्न दर्शनावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से निम्न बोल उत्पन्न होते हैं

(१) चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से दो बोल उत्पन्न होते हैं—(१) चक्षु इन्द्रिय और (२) चक्षु दर्शन।

(२) अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से श्रोत्र, घ्राण, रस और स्पर्शन—ये चार इन्द्रियाँ और अचक्षुदर्शन प्राप्त होता है

(३) अवधिदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिदर्शन उत्पन्न होता है।

(४) केवलदर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम नहीं होता। दर्शनावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से केवलदर्शन उत्पन्न होता है।

दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृतियो मे अचक्षुदर्शनावरणीय प्रकृति का किंचित् क्षयोपशम सदा रहता है। इससे अचक्षुदर्शन और स्पर्शनइन्द्रिय जीव के सदा रहते हैं। विशेष क्षयोपशम होने से चक्षु को छोड कर अवशेष चार इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं और उनसे अचक्षुदर्शन भी विशेष उत्कर्ष को प्राप्त होता है।

इसी तरह जिस-जिस प्रकृति का और जैसा-जैसा क्षयोपशम होता है उसके अनुसार वैसा-वैसा गुण जीव के प्रकट होता जाता है।

दर्शन किस तरह निराकार उपयोग है, यह पहले बताया जा चुका है। कर्मों के सम्पूर्ण क्षय होने पर जीव अनन्त दर्शन से सम्पन्न होता है तथा मन और इन्द्रियो की सहायता बिना वह सर्व भावो को एक साथ देखने लगता है। क्षयोपशमजनित पाँच इन्द्रिय और तीन दर्शनो से जीव मे देखने की परिमित शक्ति उत्पन्न होती है। इस तरह क्षायोपशमिक दर्शन केवलदर्शन मे समा जाता है। केवलदर्शन से जो देखने की अनन्त शक्ति प्रकट होती है उसी का अविकसित अश क्षयोपशमजनित दर्शन है।

दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जीव मे जो यह दर्शन-विषयक विशुद्धि—उज्ज्वलता उत्पन्न होती है, वह निर्जरा है।

८—मोहनीय कर्म का क्षयोपशम और निर्जरा (गा० २५-४०)

उपर्युक्त गाथाओ के मर्म को समझने के लिए निम्न लिखित बातो को याद रखना आवश्यक है—

१—चारित्र पाँच हैं —(१) सामायिक चारित्र, (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र, (३) परिहारविशुद्धिक चारित्र, (४) सूक्ष्मसम्पराय चारित्र और (५) यथाख्यात चारित्र। इनका विवेचन पहले किया जा चुका है (देखिए पृ० ५२३)। ये चारित्र सकल चारित्र हैं।

२—देशविरति यह श्रावक के बारह व्रतरूप है।

३—दृष्टियाँ तीन हैं—(१) सम्यक्‌दृष्टि, (२) मिथ्यादृष्टि और (३) सम्यक्‌मिथ्या दृष्टि।

४—चारित्र मोहनीयकर्म की २५ प्रकृतियाँ हैं। (१-४) अनन्तानुबंधी क्रोध-मान माया-लोभ (५-८) अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ (९-१२) प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ (१३-१६) संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ, (१७) हास्य मोहनीय (१८) रति मोहनीय (१९) अरति मोहनीय (२०) भय मोहनीय (२१) शोक मोहनीय, (२२) जुगुप्सा मोहनीय (२३) स्त्री वेद, (२४) पुरुष वेद और (२५) नपुंसक वेद।

५—दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ होती हैं—(१) सम्यक्त्व मोहनीय (२) मिथ्यात्व मोहनीय और (३) मिश्र मोहनीय।

मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से समुच्चयरूप से आठ बातें उत्पन्न होती हैं—यथा ख्यात चारित्र को छोड़कर अवशेष चार चारित्र देशविरति और तीन दृष्टियाँ। चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से चार चारित्र और देशविरति तथा दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से तीन दृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं।

स्वामीजी ने चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से किस प्रकार उत्तरोत्तर चारित्रिक विशुद्धता प्राप्त होती है, इसका वर्णन यहाँ बड़े सुन्दर ढंग से किया है। क्रम इस प्रकार है

(१) चारित्र मोहनीय की २५ प्रकृतियों में से कुछ सदा क्षयोपशमरूप में रहती हैं। इससे जीव संवत उज्ज्वल रहता है। इस उज्ज्वलता में शुभ अध्यवसाय का वर्तन होता है।

(२) जब क्रमशः यह क्षयोपशम बढ़ता है तब गुणों में उत्कृष्टता आती है—क्षमा दया आदि गुणों में वृद्धि होती है। शुभ लेश्या शुभ योग शुभ ध्यान और शुभ परिणाम का वर्तन होता है। ऐसा अन्तराय कर्म के क्षयोपशम और मोहनीयकर्म के दूर होने से होता है।

(३) इस तरह शुभ ध्यान-परिणाम-योग-लेश्या से क्षयोपशम की वृद्धि होती है। अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ की प्रकृतियाँ क्षयोपशम को प्राप्त होती हैं और देश विरति उत्पन्न होती है। इसी तरह क्षयोपशम की वृद्धि होते-होते यथाख्यात चारित्र के सिवाय चारों चारित्र उत्पन्न होते हैं।

(४) चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न उपर्युक्त सारे गुण उत्तम हैं। सर्वचारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न यथाख्यात चारित्र के प्राप्त होने से जो गुण उत्पन्न होते हैं उनके ही अशरूप हैं—उन्हीं के नमूने हैं।

(५) चारित्र विरति सवर है। उससे नए कर्मो का आगमन रुकता है। जीव पापो के दूर होने से निर्मल होता है तब चारित्र उत्पन्न होता है। चारित्र की क्रिया शुभयोग में है और उससे कर्म कटते हैं तथा क्षयोपशम भाव से जीव उज्ज्वल होता है। जीव के आत्म-प्रदेशो की यह निर्मलता निर्जरा है।

दर्शन मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से समुच्चयरूप से शुभ श्रद्धान उत्पन्न होता है—तीन उज्ज्वल दृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं।

मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से मिथ्यादृष्टि उज्ज्वल होती है। इससे जीव कुछ पदार्थों की सत्य श्रद्धा करने लगता है।

मिश्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से समिथ्यादृष्टि उज्ज्वल होती है। अब जीव और भी पदार्थों की शुद्ध श्रद्धा करने लगता है।

सम्यक्त्व मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से शुद्ध सम्यक्त्व प्रकट होता है और जीव नवो ही पदार्थों की शुद्ध श्रद्धा करने लगता है।

जब तक मिथ्यात्व मोहनीयकर्म का उदय रहता है तब तक सम्यक्‌मिथ्या दृष्टि नही आती। सम्यक्त्व मोहनीय का उदय रहता है तब तक क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न नही होता।

दर्शन मोहनीयकर्म का स्वभाव ही मनुष्य को भ्रम-जाल में डाले रहना—शुभ दृष्टि उत्पन्न न होने देना है।

दर्शन मोहनीयकर्म के सम्पूर्ण क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व सम्पूर्णत विशुद्ध और अटल होता है। दर्शन मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न तीनो दृष्टियाँ क्षायिक सम्यक्त्व की अशरूप हैं।

६—अन्तराय कर्म का क्षयोपशम और निर्जरा (गा०४१-५५) :

१—पाँच लब्धियाँ इस प्रकार हैं—(१) दान लब्धि, (२) लाभ लब्धि, (३) भोग लब्धि, उपभोग लब्धि और (५) वीर्य लब्धि।

२—तीन वीर्य इस प्रकार हैं—(१) बाल वीर्य, (२) पण्डित वीर्य और (३) बालपण्डित वीर्य। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है (देखिए पृ० ३२५ टि० ८ (५)।

२—देशविरति यह श्रावक के बारह व्रतरूप है।

३—दृष्टियाँ तीन हैं—(१) सम्यकदृष्टि, (२) मिथ्यादृष्टि और (३) सम्यकमिथ्या दृष्टि।

४—चारित्र मोहनीयकर्म की २५ प्रकृतियाँ हैं। (१ ४) अनन्तानुबंधी क्रोध-मान माया-लोभ (५ ८) अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ (९ १२) प्रत्याख्याना-वरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ (१३ १६) संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ (१७) हास्य मोहनीय (१८) रति मोहनीय (१९) अरति मोहनीय (२०) भय मोहनीय (२१) शोक मोहनीय, (२२) जुगुप्सा मोहनीय (२३) स्त्री वेद (२४) पुरुष वेद और (२५) नपुंसक वेद।

५—दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ होती हैं—(१) सम्यक्त्व मोहनीय (२) मिथ्यात्व मोहनीय और (३) मिश्र मोहनीय।

मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से समुच्चयरूप से आठ बातें उत्पन्न होती हैं—यथा ख्यात चारित्र को छोड़कर अवशेष चार चारित्र देशविरति और तीन दृष्टियाँ। चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से चार चारित्र और देशविरति तथा दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से तीन दृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं।

स्वामीजी ने चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से किस प्रकार उत्तरोत्तर चारित्रिक विशुद्धता प्राप्त होती है, इसका वर्णन यहाँ बड़े सुन्दर ढंग से किया है। क्रम इस प्रकार है

(१) चारित्र मोहनीय की २५ प्रकृतियों में से कुछ सदा क्षयोपशमरूप में रहती हैं। इससे जीव अंशतः उज्ज्वल रहता है। इस उज्ज्वलता से शुभ अध्यवसाय का वर्तन होता है।

(२) जब क्रमशः यह क्षयोपशम बढ़ता है तब गुणों में उत्कृष्टता आती है—क्षमा दया आदि गुणों में वृद्धि होती है। शुभ लेश्या शुभ योग शुभ ध्यान और शुभ परिणाम का वर्तन होता है। ऐसा अन्तराय कर्म के क्षयोपशम और मोहनीयकर्म के दूर होने से होता है।

(३) इस तरह शुभ ध्यान-परिणाम-योग-लेश्या से क्षयोपशम की वृद्धि होती है। अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ की प्रकृतियाँ क्षयोपशम को प्राप्त होती हैं और देश विरति उत्पन्न होती है। इसी तरह क्षयोपशम की वृद्धि होते-होते यथाख्यात चारित्र के सिवाय चारों चारित्र उत्पन्न होते हैं।

वीर्य लब्धि का अस्तित्व निरन्तर रूप से चौदहवें गुणस्थान तक रहता है। बारहवें गुणस्थान तक यह क्षायोपशमिक भाव के रूप में रहती है और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में क्षायिक भाव के रूप में। वीर्य लब्धि जीव का गुण है। वह जीव की एक प्रकार की शक्ति है और उत्कृष्ट रूप में वह अनन्त होती है। अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से वह देश रूप से प्रकट होती है और क्षय से अनन्त रूप मे।

यह पहले कहा जा चुका है कि वीर्य के तीन भेद हैं—बाल वीर्य, पण्डित वीर्य और बालपण्डित वीर्य।

जो अविरत होता है उसके वीर्य को बाल वीर्य कहते हैं। चतुर्थ गुणस्थान तक जीव के विरति नही होती। अत उस गुणस्थान तक के जीवो के वीर्य को बाल वीर्य कहते हैं।

जो सम्पूर्ण सयमी होता है उसके वीर्य को पण्डित वीर्य कहते हैं। सयमी छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होता है। अत पडित वीर्य का अस्तित्व भी इन गुणस्थानो में रहता है।

जो कुछ अंशो में विरत और कुछ अशो में अविरत होता है, उसे बालपडित, श्रमणोपासक अथवा श्रावक कहते हैं। देशविरति पाँचवें गुणस्थान मे होती है अत बाल-पडित वीर्य का अस्तित्व पांचवें गुणस्थान में ही होता है।

वीर्य शक्ति है और योग वीर्य के स्फोटन से उत्पन्न मन, वचन और काय का व्यापार। योग दो तरह के होते हैं—सावद्य और निरवद्य। पर वीर्य क्षयोपशम और क्षायिक भाव है अत वह किंचित् भी सावद्य नही।

वीर्य के अन्य दो भेद भी मिलते हैं—एक लब्धि वीर्य और दूसरा करण वीर्य। लब्धि वीर्य जीव की सत्तात्मक शक्ति है। लब्धि वीर्य सब जीवो के होता है। करण वीर्य क्रियात्मक शक्ति है—योग है—मन, वचन और काय की प्रवृत्तिस्वरूप है। यह जीव और शरीर दोनों के सहयोग से उत्पन्न होती है।

लब्धि वीर्य जीव की स्वाभाविक शक्ति है और करण वीर्य उस शक्ति का प्रयोग। जब तक जीव के शरीर-सयोग रहता है तभी तक करण वीर्य रहता है।

जब तक करण वीर्य रहता है तब तक पुद्गल-संयोग होता रहता है। पौद्गलिक संयोग के अभाव में करण वीर्य नही होता। और न उसके अभाव में योग-व्यापार होता है। जब तक जीव के कर्म लगते रहते हैं उसके योग और करण वीर्य समझना चाहिए।

३—अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ हैं—(१) दानान्तराय कर्म (२) लाभान्तराय कर्म (३) भोगान्तराय कर्म (४) उपभोगान्तराय कर्म और (५) वीर्यान्तराय कर्म।

अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से दान लब्धि उत्पन्न होती है जिससे जीव दान देता है।

अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से समुच्चयरूप में पाँच लब्धियाँ और तीन वीर्य उत्पन्न होते हैं।

दानान्तराय कर्म के क्षयोपशम से दान लब्धि उत्पन्न होती है जिससे जीव दान देता है।

लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से लाभ लब्धि प्रकट होती है जिससे जीव वस्तुओं को प्राप्त करता है।

भोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से भोग लब्धि उत्पन्न होती है जिससे जीव वस्तुओं का भोग करता है।

उपभोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उपभोग लब्धि उत्पन्न होती है जिससे जीव वस्तुओं का बार-बार भोग करता है।

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से वीर्य लब्धि उत्पन्न होती है जिससे शक्ति उत्पन्न होती है।

अन्तराय कर्म की पाँचों प्रकृतियों का सदा देश क्षयोपशम रहता है जिससे जीव में पाँचों लब्धियाँ *कुछ-न-कुछ मात्रा में रहती ही हैं।*

अन्तराय कर्म की पाँचों प्रकृतियों का सदा देश क्षयोपशम रहने से पाँचों लब्धियों का *निरन्तर अस्तित्व रहता है और जीव अंशमात्र उज्ज्वल रहता है।*

जीव जब लब्धियों के अस्तित्व के कारण दान देता लाभ प्राप्त करता भोगोपभोगों का सेवन करता है तब योग प्रवृत्ति होती है।

अन्तराय कर्म के न्यूनाधिक क्षयोपशम के अनुसार जीव को भोगोपभोगों की प्राप्ति होती है। साधु का खाना-पीना आदि भोगोपभोग निरवद्य योग है और गृहस्थ का भोगोपभोग सावद्य योग।

ऊपर कहा जा चुका है कि वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम भी निरन्तर रहता है। इसके परिणाम स्वरूप वीर्य लब्धि भी किंचित् मात्रा में हर समय मौजूद रहती है। जीव के हर समय कुछ-न कुछ बालवीर्य रहता ही है।

वीर्य लब्धि का अस्तित्व निरन्तर रूप से चौदहवें गुणस्थान तक रहता है। बारहवें गुणस्थान तक यह क्षायोपशमिक भाव के रूप में रहती है और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में क्षायिक भाव के रूप में। वीर्य लब्धि जीव का गुण है। वह जीव की एक प्रकार की शक्ति है और उत्कृष्ट रूप मे वह अनन्त होती है। अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से वह देश रूप से प्रकट होती है और क्षय से अनन्त रूप मे।

यह पहले कहा जा चुका है कि वीर्य के तीन भेद हैं—बाल वीर्य, पण्डित वीर्य और बालपण्डित वीर्य।

जो अविरत होता है उसके वीर्य को बाल वीर्य कहते हैं। चतुर्थ गुणस्थान तक जीव के विरति नही होती। अत उस गुणस्थान तक के जीवो के वीर्य को बाल वीर्य कहते हैं।

जो सम्पूर्ण सयमी होता है उसके वीर्य को पण्डित वीर्य कहते हैं। सयमी छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होता है। अत पडित वीर्य का अस्तित्व भी इन गुणस्थानो में रहता है।

जो कुछ अशो में विरत और कुछ अशो में अविरत होता है, उसे बालपडित, श्रमणोपासक अथवा श्रावक कहते हैं। देशविरति पाँचवें गुणस्थान में होती है अत बाल-पडित वीर्य का अस्तित्व पाँचवें गुणस्थान में ही होता है।

वीर्य शक्ति है और योग वीर्य के स्फोटन से उत्पन्न मन, वचन और काय का व्यापार। योग दो तरह के होते हैं—सावद्य और निरवद्य। पर वीर्य क्षयोपशम और क्षायिक भाव है अत वह किंचित् भी सावद्य नही।

वीर्य के अन्य दो भेद भी मिलते हैं—एक लब्धि वीर्य और दूसरा करण वीर्य। लब्धि वीर्य जीव की सत्तात्मक शक्ति है। लब्धि वीर्य सब जीवो के होता है। करण वीर्य क्रिया-त्मक शक्ति है—योग है—मन, वचन और काय की प्रवृत्तिस्वरूप है। यह जीव और शरीर दोनो के सहयोग से उत्पन्न होती है।

लब्धि वीर्य जीव की स्वाभाविक शक्ति है और करण वीर्य उस शक्ति का प्रयोग। जब तक जीव के शरीर-सयोग रहता है तभी तक करण वीर्य रहता है।

जब तक करण वीर्य रहता है तब तक पुद्गल-संयोग होता रहता है। पौद्गलिक सयोग के अभाव में करण वीर्य नही होता। और न उसके अभाव में योग-व्यापार होता है। जब तक जीव के कर्म लगते रहते हैं उसके योग और करण वीर्य समझना चाहिए।

लब्धि वीर्य तो जीव का स्वगुण है और यह अन्तराय कर्म के दूर होने से प्रकट होता है। आठ आत्माओं में वीर्य आत्मा का उल्लेख है। अतः लब्धि वीर्य भाव जीव है।

अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न लब्धियाँ आत्मा की अंशतः उज्ज्वलता की द्योतक हैं।

क्षयोपशम से उत्पन्न यह स्वच्छता—उज्ज्वलता निर्जरा है।

१०—मोहकर्म का उपशम और निर्जरा (गा० ५६-५७) :

आठ कर्मों में उपशम एक मोहकर्म का ही होता है। अन्य सात कर्मों का उपशम नहीं होता[1]। मोहनीयकर्म के उपशम से जीव में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं। सम्यक्त्व और चारित्र औपशमिक भाव हैं। मोहनीयकर्म दो प्रकार का है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के उपशम से उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और चारित्र मोहनीय के उपशम से उपशम चारित्र।

श्री जयाचार्य ने कहा है— 'कर्म के उपशम से उत्पन्न भावों को उपशम भाव कहते हैं। प्रश्न है उपशम भाव छह द्रव्यों में कौन-सा द्रव्य है एवं नव पदार्थों में कौन-सा पदार्थ? उपशम भाव छह द्रव्यों में जीव है तथा नव पदार्थों में जीव और संवर[2]।"

११—क्षायिक भाव और निर्जरा (गा० ५८-६२)

कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें क्षायिक भाव कहते हैं। क्षय आठों ही कर्मों का होता है[3]।

१—(क) अनुयोगद्वार १११

से किं तं उवसमे ? उवसमे मोहणिज्जस्स कम्मस्स उवसमेणं, से तं उवसमे

(ख) झीणी चर्चा ढा० २.११ :

सात कर्म रो तो उपशम न होवे मोहकर्म रो होय।

२—(क) झीणीचर्चा ढा० २.८

उपशम निपन छ में जीव कहीजै नवतत्त्व मांहि दोय वर न्याय।
जीव अनें संवर बिहुं जाणो कर्म उपशमियां निपना उपशम भाव॥

(ख) वही ढा० २.५

मोहकर्म उपशम निपन्न तं छ द्रव्य मांहि जीव।
नव में जीव संवर कह्यो उत्तम गुण है अतीव॥

३—अनुयोग द्वार ११४ :

से किं तं खइए ? खइए अट्ठण्हं कम्मपयडीणं खएणं से तं खइए

स्वामीजी ने यहाँ घनघाती कर्मों के क्षय से उत्पन्न क्षायिकभावो की चर्चा की है।

चारो घनघाती कर्मों के क्षय से समुच्चयरूप से जीव के नौ बोल उत्पन्न होते हैं—केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, दान लब्धि, लाभ लब्धि, भोग लब्धि, उपभोग लब्धि और वीर्य लब्धि।

भिन्न-भिन्न घाती कर्मों की अपेक्षा क्षय से उत्पन्न भावो का विवरण इस प्रकार है

ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय होने से क्षायिकभाव केवलज्ञान उत्पन्न होता है। दर्शनावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से क्षायिकभाव केवलदर्शन उत्पन्न होता है। मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से क्षायिकभाव सम्यक्त्व और क्षायिकभाव चारित्र प्राप्त होते हैं। अन्तराय कर्म के सर्वथा क्षय से पाँचो क्षायिक लब्धियाँ—दानलब्धि, लाभ लब्धि, भोग लब्धि, उपभोग लब्धि और वीर्य लब्धि प्रकट होती हैं। क्षायिक अनन्त वीर्य उत्पन्न होता है।

घाती कर्मो के सर्वथा क्षय से जो भाव उत्पन्न होते हैं—वे आत्मा की विशुद्ध स्थिति के द्योतक हैं। इन कर्मों के क्षय से आत्मा में अनन्त चतुष्टय उत्पन्न होता है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य। घाती कर्मों के क्षय से आत्मा का इस प्रकार से उज्ज्वल होना निर्जरा है।

श्री जयाचार्य लिखते हैं—

"ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से निष्पन्न क्षायिक केवलज्ञान षट् द्रव्यो मे जीव और नौ पदार्थों में जीव और निर्जरा है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से निष्पन्न क्षायिक केवल दर्शन षट् द्रव्यो में जीव और नौ पदार्थो मे जीव और निर्जरा है। मोहकर्म के क्षय से निष्पन्न क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र षट् द्रव्यो मे जीव और नौ पदार्थों मे जीव, सवर और निर्जरा है। दर्शनमोह के क्षय से उत्पन्न क्षायिक सम्यक्त्व षट् द्रव्यो मे जीव और नौ पदार्थों में जीव, सवर और निर्जरा है। चतुर्थ गुणस्थान मे होनेवाला क्षायिक सम्यक्त्व षट् द्रव्यो मे जीव और नौ पदार्थो मे जीव और निर्जरा है। वह सवर नही है। विरत की क्षायिक सम्यक्त्व षट् द्रव्यो में जीव और नौ पदार्थों मे जीव और सवर है। यह पाँचवें गुणस्थान से शुरू होता है। चारित्रमोह के क्षय से उत्पन्न क्षायिक चारित्र षट् द्रव्यो में जीव और नव पदार्थो में जीव और सवर है। अन्तराय कर्म के क्षय से

लब्धि वीर्य तो जीव का स्वगुण है और वह अन्तराय कर्म के दूर होने से प्रकट होता है। आठ आत्माओं में वीर्य आत्मा का उल्लेख है। अतः लब्धि वीर्य भाव जीव है।

अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न लब्धियाँ आत्मा की अंशतः उज्ज्वलता की द्योतक हैं।

क्षयोपशम से उत्पन्न यह स्वच्छता—उज्ज्वलता निर्जरा है।

१०—मोहकर्म का उपशम और निर्जरा (गा० ५६-५७) :

आठ कर्मों में उपशम एक मोहकर्म का ही होता है। अन्य सात कर्मों का उपशम नहीं होता[1]। मोहनीयकर्म के उपशम से जीव में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं। सम्यक्त्व और चारित्र औपशमिक भाव हैं। मोहनीयकर्म दो प्रकार का है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के उपशम से उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और चारित्र मोहनीय के उपशम से उपशम चारित्र।

श्री जयाचार्य ने कहा है—'कर्म के उपशम से उत्पन्न भावों को उपशम भाव कहते हैं। प्रश्न है उपशम भाव छह द्रव्यों में कौन-सा द्रव्य है एवं नव पदार्थों में कौन-सा पदार्थ? उपशम भाव षट् द्रव्यों में जीव है तथा नव पदार्थों में जीव और संवर[2]।

११—क्षायिक भाव और निर्जरा (गा० ५८-६२)

कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें क्षायिक भाव कहते हैं। क्षय आठों ही कर्मों का होता है[3]।

१—(क) अनुयोगद्वार १११

से किं तं उवसमे ? उवसमे मोहणिज्जस्स कम्मस्स उवसमेणं, से तं उवसमे

(ख) झीणी चर्चा ढा० २.२१ :

सात कर्म रो तो उपशम न होवे मोहकर्म रो होय।

२—(क) झीणी चर्चा ढा० २.८

उपशम निपन ७ में जीव कहीजे नवतत्त्व मांहि दोय नर न्याय।
जीव कर्म संवर निहुं जोवो, कर्म उपशमियां निपना उपशम भाव ॥

(ख) वही ढा० ३.५

मोहकर्म उपशम निपन्न ते ७ द्रव्य मांहि जीव।
नव में जीव संवर कह्यो उत्तम गुण है अतीव ॥

३—अनुयोगद्वार ११४ :

से किं तं खइए ? खइए अट्ठण्हं कम्म पगडीणं खएणं से तं खइए

समुद्र के जल का एक बिंदु समुद्र के समग्र जल से भिन्न नही होता वैसे ही निर्जरा मोक्ष से भिन्न तत्त्व नही, पर केवल उसका एक अंश है। देशत. कर्मों का क्षय कर आत्म-प्रदेशो का देशत. उज्ज्वल होना निर्जरा है और सम्पूर्णरूप से कर्म-क्षय कर आत्म-प्रदेशो का सम्पूर्णत उज्ज्वल होना मोक्ष।

"जैसे सवर आस्रव का प्रतिपक्ष है वैसे ही निर्जरा बन्ध का प्रतिपक्ष है। आस्रव का संवर और बन्ध की निर्जरा होती है। निर्जरा से आत्मा का परिमित स्वरूपोदय होता है। पूर्ण सयम और पूर्ण निर्जरा होते ही आत्मा का पूर्णोदय हो जाता है—मोक्ष हो जाता है[1]।"

निरजरा पदारथ (ढाल २)

दुहा

१—निरजरा गुण निरमल कह्यो, ते उजल गुण जीव रो वशेष।
ते निरजरा हुवें छें किण विधें, सुणजो आंण ववेक॥

२—भूख तिरषा सी तापादिक कष्ट भोगवें विविध परकार।
उदे आया ते भोगव्यां जब करम हुवें छें न्यार॥

३—नरकादिक दुःख भोगव्यां करम घस्यां थी हलको थाय।
आ तो सहजां निरजरा हुइ जीव रे, तिणरो न कीयों मूल उपाय॥

४—निरजरा तणो कामी नहीं कष्ट करें छें विविध परकार।
तिणरा करम अल्प मातर झरें अकांम निरजरा नों एह विचार॥

५—इह लोक अर्थे तप करें, चक्रवतादिक पदवी कांम।
केइ परलोक नें अर्थे करें, नहीं निरजरा तणा परिणांम॥

६—केइ जस महिमा वधारवा तप करें छें तांम।
इत्यादिक अनेक कारण करें, ते निरजरा कही छें अकांम॥

७—सुभ करणी करें निरजरा तणी तिण सूं करम कटें छें तांम॥
थोड़ो घणो जीव उजलो हुवें, ते सुणजो राखे चित ठांम॥

निर्जरा पदार्थ (ढाल २)

दोहा

१—भगवान ने निर्जरा को निर्मल गुण कहा है। निर्जरा जीव का विशेष उज्ज्वल गुण है। अब निर्जरा किस प्रकार होती है, यह विवेकपूर्वक सुनो।

अकाम सकाम निर्जरा (दो० २-६)

२—जीव भूख, प्यास, शीत, तापादि के विविध कष्टों को भोगता है। उदय में आए हुए कर्मों को इस तरह भोगने से कर्म अलग होते हैं।

३—नरकादिक दुःखों के भोगने से उदय में आए हुए कर्म घिस कर हल्के हो जाते हैं। यह जीव के सहज निर्जरा होती है। इसके लिए जीव की ओर से जरा भी प्रयास नहीं होता।

४—जो निर्जरा का कामी नहीं होता फिर भी अनेक तरह के कष्ट करता है, उसके कर्म अल्पमात्र झड़ते हैं। यह अकाम निर्जरा का स्वरूप है।

५-६—कई इस लोक के सुख के लिए—चक्रवर्ती आदि पदवियों की कामना से, कई परलोक के सुख के लिए और कई यश-महिमा बढ़ाने के लिए तप करते हैं। इत्यादि अनेक कारणों से जो तप किया जाता है तथा जिस तप में कर्म-क्षय करने के परिणाम नहीं रहते—वह अकाम निर्जरा कहलाती है[1]।

७—अब निर्जरा की शुद्ध करनी के विषय में ध्यानपूर्वक सुनो, जिससे कम अधिक मात्रा में कर्म कटते हैं।

निरजरा पदारथ (ढाल २)

दुहा

१—निरजरा गुण निरमल कह्यों, ते उजल गुण जीव रो वसेख ।
ते निरजरा हुवें छें किण विधें सुणजो आंण ववेक ॥

२—भूख तिरपा सी तापादिक कष्ट भोगवें विविध परकार ।
उदे आया ते भोगव्यां जब करम हुवें छें न्यार ॥

३—नरकादिक दुःख भोगव्यां करम घस्यां थी हलको थाय ।
आ तो सहजां निरजरा हुइ जीव रे, तिणरो न कीयों मूल उपाय ॥

४—निरजरा तणो कामी नहीं कष्ट करें छें विविध परकार ।
तिणरा करम अल्प मातर झरें अकांम निरजरा नों एह विचार ॥

५—इह लोक अर्थे तप करें, चक्रवतादिक पदवी कांम ।
केइ परलोक नें अर्थे करें, नहीं निरजरा तणा परिणाम ॥

६—केइ जस महिमा वधारवा तप करें छें तांम ।
इत्यादिक अनेक कारण करें, ते निरजरा कही छें अकांम ॥

७—सुध करणी करें निरजरा तणी तिण सूं करम कटें छें तांम ॥
थोडो घणों जीव उजलो हुवें ते सुणजो राखे चित ठांम ॥

निर्जरा पदार्थ (ढाल २)

दोहा

१—भगवान ने निर्जरा को निर्मल गुण कहा है। निर्जरा जीव का विशेष उज्ज्वल गुण है। अब निर्जरा किस प्रकार होती है, यह विवेकपूर्वक सुनो।

अकाम सकाम निर्जरा (दो० २-६)

२—जीव भूख, प्यास, शीत, तापादि के विविध कष्टों को भोगता है। उदय मे आए हुए कर्मों को इस तरह भोगने से कर्म अलग होते हैं।

३—नरकादिक दु खो के भोगने से उदय में आए हुए कर्म घिस कर हल्के हो जाते हैं। यह जीव के सहज निर्जरा होती है। इसके लिए जीव की ओर से जरा भी प्रयास नहीं होता।

४—जो निर्जरा का कामी नहीं होता फिर भी अनेक तरह के कष्ट करता है, उसके कर्म अल्पमात्र झड़ते हैं। यह अकाम निर्जरा का स्वरूप है।

५-६—कई इस लोक के सुख के लिए—चक्रवर्ती आदि पदवियों की कामना से, कई परलोक के सुख के लिए और कई यश-महिमा बढ़ाने के लिए तप करते हैं। इत्यादि अनेक कारणों से जो तप किया जाता है तथा जिस तप में कर्म-क्षय करने के परिणाम नहीं रहते—वह अकाम निर्जरा कहलाती है[1]।

७—अब निर्जरा की शुद्ध करनी के विषय में ध्यानपूर्वक सुनो, जिससे कम अधिक मात्रा में कर्म कटते हैं।

ढाल २

(दूजो भगत सिर नमुं नित—ए देशी)

१—देश थकी जीव उजलो हुवो छै, ते तो निरजरा अनूप जी।
हिवें निरजरा तणी सुध करणी कहूं छूं, ते सुणजो धर चूंप जी॥
आ सुध करणी छें करम काटण री*॥

२—ज्यूं साबू दे कपड़ा नें तपावें, पांणी सूं छांटे करें संभाल जी।
पछें पांणी सूं धोवें कपड़ा नें, जब मेल छूटे ततकाल जी॥

३—ज्यूं तप कर नें आतम नें तपावे ग्यांन जल सूं छांटे ताम जी।
ध्यांन रूप जल मांहें झकोले जब करम मेल छूट जाय जी॥

४—ग्यांन रूप साबण सुध धोबो तप रूपी निरमल नीर जी।
धोबी ज्यूं छें अंतर आतमा ते धोवे छें निज गुण चीर जी॥

५—कांमी छें एकंत करम काटण रो और बंछा नहीं काय जी।
ते तो करणी एकंत निरजरा री तिण सूं करम झड़ जाय जी॥

६—करम काटण री करणी चोखी तिणरा छें बारे भेद जी।
तिण करणी कीयां जीव उजल हुवें छें, ते सुणजो आंण उमेद जी॥

७—अणसण करे च्यारू आहार त्यागे, करें जावजीव पचखांण जी।
अथवा थोड़ा काल तांइ त्यागे, एहवी तपसा करें जांण २ जी॥

---

*आगे की प्रत्येक गाथा के अन्त में यह आंकड़ी पढ़नी चाहिए।

ढाल : २

१—जीव का एकदेश उज्ज्वल होना अनुपम निर्जरा है। अब निर्जरा की शुद्ध करनी का विवेचन करता हूँ। स्थिर चित्त रहकर सुनो। नीचे बताई हुई करनी कर्म काटने की शुद्ध विधि है।

२-३—जिस तरह पहिले साबुन डालकर कपड़ों को तपाया जाता है फिर उनको सभाल कर जल से छांटा जाता है और फिर साफ जल से धोने से तत्काल कपड़ों का मैल छूट जाता है, उसी तरह आत्मा को पहिले तप द्वारा तपाने से, फिर ज्ञानरूपी जल से छांटने से और अन्त में ध्यानरूपी जल में धोने से जीव का कर्मरूपी मैल दूर हो जाता है।

निर्जरा और धोबी का दृष्टान्त (गा० २-४)

४—ज्ञानरूपी शुद्ध साबुन से, तपरूपी निर्मल नीर से, अतर आत्मारूपी धोबी अपने निज गुणरूपी कपड़ों को धोता है[२]।

५—जो केवल कर्म-क्षय करने का ही कामी है, जिसे और किसी प्रकार की कामना नहीं है, वही निर्जरा की सच्ची करनी करता है और उसका कर्म-मैल झड़ जाता है।

निर्जरा की शुद्ध करनी

६—कर्म-क्षय करने की उत्तम करनी के बारह भेद हैं। उन्हें उल्लासपूर्वक सुनो। इस करनी से जीव उज्ज्वल होता है[३]।

निर्जरा की करनी के बारह भेद (गा० ६-४५)

७—निर्जरा की हेतु प्रथम करनी अनशन है। चार प्रकार के आहार का कुछ काल के लिए या यावज्जीवन के लिए स्वेच्छापूर्वक त्याग कर तपस्या करना अनशन कहलाता है।

अनशन (गाथा ७-९)

८—सुध जोग रूंध्या साधु रे हुवो संवर, श्रावक रे विरत हुइ ताय जी।
पिन कष्ट सह्यां सूं निरजरा हुवे तिणसूं घाल्यो छे निरजरा मांय जी॥

९—ज्यूं २ मूछ तिरषा भागें, ज्यूं २ कष्ट उपजे अतंत जी।
ज्यूं २ करम कटें हुवें न्यारा, जमें २ खिरे छें अनंत जी॥

१०—ऊणो राखें ते उणोदरी तप छें, ते तो दरब नें भाव छें न्यार जी।
दरब ते उपगरण उणा राखें, वले उणोइ करें आहार जी॥

११—भाव उणोदरी क्रोधादिक वरजे कलहादिक दिये छें निवार जी।
समता भाव छें आहार उपधि थी एहवो उणोदरी तप सार जी॥

१२—भिख्याचरी तप भिख्या त्याग्यां हुवें ते अभिग्रहा छें विवध परकार जी।
ते तो दरब षेतर काल भाव आभग्रह छें, त्यांरो छें मोहत विस्तार जी॥

१३—रस रो त्याग करें मन सुधे, छांड्यो विगयादिक रो सवाद जी।
अरस विरस आहार भोगवे समता सूं तिणरे तप तणी हुवें समाद जी॥

१४—काया क्लेस तप कष्ट कीयां हुवें आसण करें विविध परकार जी।
सी तापादिक सहे लाज न खमे वले न करें सोभा में सिणगार जी॥

८—इस प्रकार अनशन करने से साधु के शुभ योगों का निरोध होने से संवर होता है। श्रावक के अविरति दूर होने से विरति सवर होता है। परन्तु कष्ट सहने से दोनों के कर्मों का क्षय होता है, इसलिए अनशन को निर्जरा के भेदों में स्थान दिया है।

९—जैसे-जैसे भूख और प्यास बढती है वैसे-वैसे कष्ट भी बढ़ता जाता है और जैसे-जैसे कष्ट बढ़ता जाता है वैसे-वैसे अधिकाधिक कर्म क्षय होकर अलग होते जाते हैं। इस तरह प्रतिसमय अनन्त कर्म आत्म-प्रदेशों से झड़ते हैं[४]।

ऊनोदरी (गा० १०-११)

१०—ऊन रहना ऊनोदरी तप है। द्रव्य और भाव, इस तरह ऊनोदरी तप के दो भेद है। उपकरण कम रखना और भरपेट आहार न करना—द्रव्य ऊनोदरी तप है।

११—क्रोधादिक का रोकना, कलह आदि का निवारण करना भाव ऊनोदरी तप है। आहार और उपधि में समभाव रखना उत्तम ऊनोदरी तप है[५]।

भिक्षाचरी

१२—भिक्षा-त्याग से भिक्षाचरी तप होता है। भिक्षा-त्याग की प्रतिज्ञा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से विविध प्रकार की होती है। इन अभिग्रहों का विस्तार बहुत लम्बा है[६]।

रसत्याग

१३—शुद्ध मन से रसों का त्याग कर, घी आदि विकृतियों के स्वाद को छोडने से तथा अरस और विरस आहार के भोजन में भी समभाव—अम्लानभाव रखने से जीव के रस-परित्याग तप की साधना होती है[७]।

कायक्लेश

१४—शरीर को कष्ट देने से कायक्लेश तप होता है। विविध प्रकार के आसन करना, शीत तापादि सहना, शरीर न खुजलाना, शरीर-शोभा और श्रृंगार न करना आदि अनेक प्रकार का कायक्लेश तप है[८]।

१५—परीसंलीणीया तप च्यार परकारें, त्यांरा जूआजूआ छें नांम जी।
इंद्री कषाय नें जोग संलीणीया विवतसेंणासणसेवणा तांम जी॥

१६—सोतइंद्री में विषे ना सब्द सूं रूंध, विषे सब्द न सुणे किण वार जी।
कदा विषे रा सब्द कानां में पड़ीया, तो राग धेष न करें लिगार जी॥

१७—इम चखूइंद्री रूप सूं संलीनता, घाणइंद्री गंध सूं जांण जी।
रसइंद्री रस सूं नें फरसइंद्री फरस सूं, सुरतइंद्री ज्यूं लीजो पिछांण जी॥

१८—क्रोध उदनावारो रूंधण करवो, उदे आयो निरफल करें तांम जी।
मांन माया लोभ इम हिज जांणों, कषाय संलीणीया तप हुवें आंम जी॥

१९—माठुआ मन में रूंध देणों, भलो मन परवरतावणो तांम जी।
इम हिज वचन नें काया जांणों, जोग संलीणीया हुवें आंम जी॥

२०—असत्री पसू पिंडग रहीत थानक सेवे, ते सुध निरदोषण जांण जी।
पीठ पाट्यादिक निरदोषण सवें, विवतसेंणासण इम पिछांण जी॥

२१—छ परकारें बाह्य तप कह्यों छें, ते प्रतिष पाधो दीसंत जी।
हिवें छ परकारें अभिंतर तप कहूं छूं, ते भाख्यो छें श्री भगवंत जी॥

१५—प्रतिसलीनता तप चार प्रकार का होता है। अलग-अलग नाम ये है—(१) कपाय प्रतिसलीनता, (२) इन्द्रिय प्रतिसलीनता, (३) योग प्रतिसलीनता और (४) विविक्त-शयनासनसेवनता।

प्रतिसलीनता (गा० १५-२०)

१६—श्रुत इन्द्रिय को विपयपूर्ण शब्दों से रोकना, विपय के शब्द न सुनना, विपय के शब्द कान में पड़े तो उन पर राग-द्वेप न लाना श्रुत इन्द्रिय प्रतिसलीनता तप है।

१७—इसी तरह चक्षुरिन्द्रिय का विपय रूप, घ्राणेन्द्रिय का विपय गध, रसनेन्द्रिय का विपय रस और स्पर्शनेन्द्रिय का विपय स्पर्श है। इन्द्रियों को अपने-अपने विपयो से रोकना क्रमश श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय प्रतिसलीनता तप कहलाता है।

१८—क्रोध को उत्पन्न न होने देना, उदय में आने पर उसे निष्फल करना, इसी तरह मान, माया और लोभ को रोकना और उदय में आने पर उन्हें निष्फल करना कपाय सलीनता तप कहलाता है।

१९—मन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना और शुभ भावों मे उसकी प्रवृत्ति करना और इसी तरह वचन और काय के सम्बन्ध में करना योग सलीनता तप कहलाता है।

२०—स्त्री, पशु और नपुसकरहित तथा निर्दोष स्थानक एव शय्या आसन का सेवन करना विविक्तशय्यासन तप कहलाता है[९]।

२१—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रस-परित्याग, कायक्लेश और प्रतिसलीनता—ये जो तप ऊपर में कहे गए हैं, वे छहों बाह्य तप है। वे लोक-प्रसिद्ध और बाहर से प्रकट होते है अत उन्हें बाह्य तप कहा गया है। भगवान ने आभ्यन्तर तप भी छह बतलाए है। अब उनका वर्णन करता हूँ[१०]।

बाह्य तप · आभ्यन्तर तप

२२—प्रायछित कह्यो छें दस परकारें, दोष आलोए प्रायछित सेवंत जी।
ते करम खपाय आराधक थावें, ते तो मुगत में वेगो जावंत जी॥

२३—विनों तप कह्यों सात परकारें, त्यांरो छें बोहत विसतार जी।
ग्यांन दरसण चारित मन विनों, वचन काया नें लोग ववहार जी॥

२४—पांचू ग्यांन तणा गुण ग्रांम करणा ए ग्यान विनों करणो छें एह जी।
दरसण विनां रा दोय भेद छें, सुसरषा नें अणासातना तेह जी॥

२५—सुसरषा बडां री करणी, त्यांनें वंदणा करणी सीस नांम जी।
ते सुसरषा दस विध कही छें, त्यांरा जूआजूआ नाम छें तांम जी॥

२६—गुर आयां उठ उभो होवणो आसन छोडणो तांम जी।
आसन आमंत्रणो हरष सूं देणो, सतकार नें समांण देणो आंम जी॥

२७—वंदणा कर हाथ जोडी रहें उभो आवता देख सांहमो जाय जी।
गुर उभा रहे त्यां स्गउभा रहिणो जायें जब पोहचावण जावें ताय जी॥

२८—अणआसातणा विनां रा भेद, पेंतालीस कह्या जिणराय जी।
अरिहंत नें अरिहंत परूप्यो धर्म, वले आचार्य नें उवझाय जी॥

२९—थिवर कुल गण संघ नों विनां किरीयावादी संभोगी जांण जी।
मति ग्यांनादिक पांचूंई ग्यांन रो ए पनरेंइ बोल पिछांण जी॥

२२—प्रथम आभ्यन्तर तप प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त दस प्रकार का बत " गया है। प्रायश्चित्त का अर्थ दोषों की आलोचन ..र उनके लिए दण्ड लेना होता है। जो दोषों की आलोचना कर प्रायश्चित्त करते हैं, वे कर्मों का क्षय करते हैं और आराधक बन शीघ्र मोक्ष को पहुँचते हैं[११]।

प्रायश्चित्त

२३—विनय दूसरा आभ्यन्तर तप है। यह सात प्रकार का कहा गया है—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) चारित्र, (४) मन, (५) वचन, (६) काय और (७) लोक-व्यवहार विनय। इनका बहुत विस्तार है।

विनय (गा० २३-३७)

२४—पाँचों प्रकार के ज्ञान की गुणगरिमा करना ज्ञानविनय है। दर्शनविनय के दो भेद हैं—(१) शुश्रूषा और (२) अनासातना।

२५ शुश्रूषा अर्थात् वयोवृद्ध साधुओं की सेवा करना, नत मस्तक हो उनकी वन्दना करना। यह शुश्रूषा भिन्न-भिन्न नाम से दस प्रकार की है।

२६-२७—गुरु आने से खड़ा होना, आसन छोड़ना, आसन के लिए आमन्त्रण कर हर्षपूर्वक आसन देना, सत्कार-सन्मान देना, वन्दना कर हाथ जोड़े खड़ा रहना, आते देखकर सामने जाना, जब तक गुरु खड़े रहें खड़ा रहना, जब जायें तब पहुँचाने जाना—शुश्रूषा विनय है।

२८-२९—अनासातनाविनय के भगवान ने ४५ भेद कहे हैं। अरिहंत और अरिहंतप्ररूपित धर्म, आचार्य और उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, सघ, क्रियावादी, सभोगी (समान धार्मिक), मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान—ये पन्द्रह बोल हैं।

२२—प्रायछित कह्यो छें दस परकारें, दोष आलोए प्रायछित लेवत जी।
ते करम खपाय आराधक थावें, ते तो मुगत में वेगो जावंत जी॥

२३—विनो तप कह्यो सात परकारें, त्यांरो छें बोहत विसतार जी।
ग्यांन दरसण चारित मन विनों वचन काया नें लोग ववहार जी॥

२४—पांचूं ग्यांन तणा गुण ग्रांम करणा ए ग्यांन विनों करणो छें एह जी।
दरसण विनां रा दाय भेद छें, सुसरखा नें अणासातणा तेह जी॥

२५—सुसरखा बडां री करणी, त्यांनें वदणा करणी सीस नांम जी।
ते सुसरखा दस विध कही छें, त्यांरा जूआजूआ नांम छें तांम जी॥

२६—गुर आयां उठ उभो होवणो आसन छोडणो तांम जी।
आसन आमंत्रणो हरप सूं देणो सतकार नें समांण देणो आंम जी॥

२७—वंदणा कर हाथ जोडी रहें उभो आग्या देवें तो बेसणो जाय जी।
गुर उभा रहें त्यां लग उभा रहिणो जायें जब पोहचावण जावें ताय जी॥

२८—अणआसातणा विनां रा भेद, पेंतालीस कह्या जिणराय जी।
अरिहंत नें अरिहंत परूप्यो धर्म, वले आचार्य नें उवझाय जी॥

२९—थिवर कुल गण संघ नों विनों किरीयावादी संभोगी जांण जी।
मति ग्यांनादिक पांचूंई ग्यांन रो ए पनरेंह बोल पिछांण जी॥

२२—प्रथम आभ्यन्तर तप प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त दस प्रकार का बत ग गया है। प्रायश्चित्त का अर्थ दोषों की आलोचन ..र उनके लिए दण्ड लेना होता है। जो दोषों की आलोचना कर प्रायश्चित्त करते हैं, वे कर्मों का क्षय करते है और आराधक बन शीघ्र मोक्ष को पहुँचते है[११]।

प्रायश्चित्त

२३—विनय दूसरा आभ्यन्तर तप है। यह सात प्रकार का कहा गया है—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) चारित्र, (४) मन, (५) वचन, (६) काय और (७) लोक-व्यवहार विनय। इनका बहुत विस्तार है।

विनय (गा० २३-३७)

२४—पाँचों प्रकार के ज्ञान की गुणगरिमा करना ज्ञानविनय है। दर्शनविनय के दो भेद हैं—(१) शुश्रूषा और (२) अनासातना।

२५ शुश्रूषा अर्थात् वयोवृद्ध साधुओं की सेवा करना, नत मस्तक हो उनकी वन्दना करना। यह शुश्रूषा भिन्न-भिन्न नाम से दस प्रकार की है।

२६-२७—गुरु आने से खडा होना, आसन छोडना, आसन के लिए आमन्त्रण कर हर्षपूर्वक आसन देना, सत्कार-सन्मान देना, वन्दना कर हाथ जोडे खडा रहना, आते देखकर सामने जाना, जब तक गुरु खड़े रहें खडा रहना, जब जायें तब पहुँचाने जाना—शुश्रूषा विनय है।

२८-२९—अनासातनाविनय के भगवान ने ४५ भेद कहे हैं। अरिहत और अरिहतप्ररूपित धर्म, आचार्य और उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, सघ, क्रियावादी, सभोगी (समान धार्मिक), मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान—ये पद्रह बोल हैं।

२२—प्रायछित कह्यो छें दस परकारें, दोष आलोए प्रायछित लेवंत जी।
ते करम खपाय आराधक थावें, ते तो मुगत में वेगो जावंत जी॥

२३—विनों तप कह्यों सात परकारें, त्यांरो छें बोहत विसतार जी।
ग्यांन दरसण चारित मन विनों, वचन काया नें लोग ब्यवहार जी॥

२४—पांचूं ग्यांन तणा गुण ग्रांम करणा ए ग्यांन विनों करणो छें एह जी।
दरसण विनां रा दोय भेद छें, सुसरषा नें अणासातणा तेह जी॥

२५—सुसरषा बडां री करणी त्यांनें वंदणा करणी सीस नांम जी।
ते सुसरषा दस विध कही छें, त्यांरा जूआजूआ नाम छें तांम जी॥

२६—गुर आयां उठ उभो होवणो आसन छोडणो तांम जी।
आसन आमंत्रणो हरष सूं देणो सतकार नें समांन देणो आंम जी॥

२७—वंदणा कर हाथ जोडी रहें उभो आवता देख सांह्यो जाय जी।
गुर उभा रहें त्यां लग उभा रहिणो जायें जब पोहचावण जावें ताय जी॥

२८—अणआसातणा विनों रा भेद, पेंतालीस कह्या जिणराय जी।
अरिहंत नें अरिहंत परुप्यो धर्म, वले आचार्य नें उवझाय जी॥

२९—थिवर कुल गण संघ नों विनों किरीयावादी संभोगी जांण जी।
मति ग्यांनादिक पांचूंई ग्यांन रो ए पनरेंह बोल पिछांण जी॥

३०—इनकी असातना से दूर रह इनका विनय करना, भक्ति कर बहुमान देना तथा गुणगान कर उनकी महिमा बढाना—यह दर्शन विनय की शुद्ध रीति है।

३१—उपर्युक्त पन्द्रह बोलों में पांच ज्ञान का पुनरुल्लेख हुआ है। वे चारित्र सहित ज्ञान मालूम देते हैं। ये जो यहाँ पांच ज्ञान कहे हैं, उनके विनय की रीति भिन्न है।

३२—सामायिक आदि पांचो चारित्रशीलों का यथायोग्य विनय करना, उनकी हर्षपूर्वक सेवा-भक्ति करना और उनसे निर्दोष सभोग करना—ज्ञान विनय है

३३—सावद्य मन, जो बारह प्रकार का है, उसे दूर करना और उतने ही प्रकार का जो निरवद्य मन है उसकी प्रवृत्ति करना मन-विनय है। इससे उत्तम निर्जरा होती है।

३४—इसी तरह सावद्य भाषा बारह प्रकार की है। सावद्य को दूर कर निर्दोष—निरवद्य भाषा बोलना वचन-विनय है।

३५—अयतनापूर्वक काय-प्रवृत्ति के ७ भेद हैं। इनको दूर कर काय की यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से कर्मों का क्षय होता है। यतनापूर्वक काय-प्रवृत्ति के भी सात भेद हैं, यह काय-विनय तप है।

३६-३७—लोक व्यवहार (लोकोपचार) विनय के सात भद हैं—(१) गुरु के समीप रहना, (२) गुरु की आज्ञा अनुसार चलना, (३) ज्ञानादि के लिए उनका कार्य करना, (४) ज्ञान दिया हो उनकी वैयावृत्त्य करना, (५) आर्त-गवेषणा करना, (६) अवसर का जानकार होना और (७) गुरु के सब कार्य अच्छी तरह करना[१२]।

३०—थांरी आसातना टाल्णी नें किनों करणों, भगत कर देणो बहु समान जी।
गुणग्राम करे नें दीपावणा त्यांनें, दरसण किनों छें सुध सरधान जी॥

३१—यां पनरा बोलां में पांच ग्यांन फेर कह्या छें, ते दीसे छें भारित सहीत जी।
ए पांच ग्यांन ने फेर कह्या त्यांरी किनां तणी ओर रीत जी॥

३२—सामायक आदि दे पांचूई चारित त्यांरो विनों करणो जथा जोग जी।
सेवा भगत त्यांरी हुरष सूं करणी, त्यांसू करणो निरदोष संभोग जी॥

३३—सावद्य मन नें परो निवारे, ते सावद्य छें बारे परकार जी।
बारे परकार निरवद मन परवरतावे, तिण सूं निरजरा हुवें श्रीकार जी॥

३४—इम हिज सावद्य वचन बारे भेदे, तिण सावद्य नें देवे निवार जी।
निरवद्य वचन बोले निरदोषण बारेंइ बोल वचन विचार जी॥

३५—काया अजेणा सूं नहीं प्रवरतावे तिणरा भेद कह्या सात जी।
ज्यूं सात भेद काया जेणा सूं परवरतावे जब करम तणी हुवें घात जी॥

३६—लोग वव्हार विनों कह्यो सात परकारे, गुर समीपे वरतणो तांम जी।
गुरवादिक रे छांदे चालणो ग्यानादिक हेते करणों त्यांरो कांम जी॥

३७—भणायो त्यांरो विनों वीयावच करणी आरत गवेष करणां त्यांरो कांम जी।
प्रसताव अवसर नों जांण हुवेणो सव कार्य करणो अभिरांम जी॥

३८—वैयावृत्त्य तीसरा आभ्यन्तर तप है। यह तप दस प्रकार का है। ये दसो ही वैयावृत्त्य साधु की होती हैं। इनसे कर्म-कोटि का क्षय होता है और जीव मोक्ष के समीप होता है[13]। वैयावृत्य

३९—स्वाध्याय तप चौथा आभ्यन्तर तप है। स्वाध्याय तप पांच प्रकार का है। शुद्ध अर्थ और पाठ का भाव सहित स्वाध्याय करने से कर्म-कोटि का नाश होता है[14]। स्वाध्याय

४०—आर्त और रौद्र ध्यान का निवारण कर धर्म और शुक्ल ध्यान का ध्याना—ध्यान नामक पाँचवां आभ्यन्तर तप है। इस प्रकार ध्यान ध्याते-ध्याते उत्कृष्ट शुक्ल और धर्मध्यान के ध्याने से केवलज्ञान प्राप्त होता है[15]। ध्यान

४१—व्युत्सर्ग तप छठा आभ्यन्तर तप है। व्युत्सर्ग का अर्थ है—त्यागना। यह द्रव्य और भाव—इस तरह दो प्रकार का होता है। द्रव्य व्युत्सर्ग चार प्रकार का होता है। उसका विवरण सब कोई सुनें। व्युत्सर्ग (गा० ४१-४५)

४२—शरीर को छोड़ना शरीर-व्युत्सर्ग है, गण को छोडना गण-व्युत्सर्ग है, उपधि को छोडना उपधि-व्युत्सर्ग है और भात-पानी को छोडना भात-पानी-व्युत्सर्ग।

४३—भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद हैं। (१) कषाय-व्युत्सर्ग अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारों कषायों का त्याग करना। इन चारों के त्याग से निर्जरा धर्म होता है।

४४—(२) ससार-व्युत्सर्ग अर्थात् ससार का त्याग करना। इसके चार प्रकार है—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—इन चारगतियों की अपेक्षा चार ससार का त्याग।

४५—(३) कर्म-व्युत्सर्ग—आठों कर्मों को त्यजना। इनको ज्यों-ज्यों जीव छोड़ता है त्यों-त्यों हल्का होता जाता है। ऐसी करनी से निर्जरा धर्म होता है[16]।

३८—वीयावच तप छैं दस परकारे ते वीयावच सार्धा री जाण जी।
करमां री कोड़ खपे छैं तिण थी नेड़ी हुवें छैं निरवांण जी॥

३९—सझाय तप छैं पांच परकारे, जे भाव सहीत करें सोय जी।
अर्थ नें पाठ विवरा सुध गिणीया, करमां रा मल खय होय जी॥

४०—आरत रुद्र ध्यांन निवारे, ध्यावें धम नें सुकल ध्यांन जी।
ध्याक्तो २ उतकृष्टो ध्यावें, तो उपजें केवलग्यान जी॥

४१—विउसग तप छैं तजवा रो नांम ते तो दरव नें भाव छैं दोय जी।
दरव विउसग च्यार परकारे, ते विवरो सुणो सहू कोय जी॥

४२—सरीर विउसग सरीर रो तजवो गण नों विउसग जांण जी।
उपधि नों तजवो ते उपधि विउसग भात पांणी रो इमहिज पिछांण जी॥

४३—भाव विउसग रा तीन भेद छैं कषाय ससार नें करम जी।
कषाय विउसग च्यार परकारे, क्रोधादिक च्यांरू छोड़यां छैं धम जी॥

४४—संसार विउसग ससार नों तजवो तिणरा भेद छैं च्यार जी।
नरक तिरयच मिनष नें देवा त्यांनें तज में त्यांसूं हुवें न्यार जी॥

४५—करम विउसग छैं आठ परकारे तजणां आठूंइ करम जी।
त्यांनें ज्यूं ज्यूं तजे ज्यूं हलको होवें एहवी करणी थी निरजरा धर्म जी॥

तपस्या का फल (गा०४६-५२)

४६—उपर्युक्त बारह प्रकार का तप निर्जरा की क्रिया है। जो इच्छा-पूर्वक तपस्या करता है वह कर्मों को उदीर्ण कर—उदय मे लाकर बिखेर देता है। मोक्ष उसके नजदीक आता जाता है।

४७—उपर्युक्त बारह प्रकार के तप करते समय जहाँ-जहाँ साधु के निरवद्य योगों का निरोध होता है, वहाँ-वहाँ तपस्या के साथ-साथ सवर होता है। और सवर होने से पुण्य का नवीन बध रुक जाता है।

४८—उपर्युक्त बारह प्रकार के तपों मे से कोई तप करते हुए जब श्रावक के अशुभ योगो का निरोध होता है, तब तपस्या के साथ-साथ विरति सवर होता है जिससे नए पाप कर्मों का आना रुक जाता है।

४९—इन तपों में से यदि अविरत भी कोई तप करता है तो उसके भी कर्म-क्षय होता है। कई इस तपस्या से ससार को सक्षिप्त कर शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करते है।

५०—साधु और समदृष्टि श्रावक के तपस्या द्वारा उत्कृष्ट कर्म-भार दूर होता है। और यदि तप में कदाचित् उत्कृष्ट तीव्र भाव आता है तो तीर्थंकर गोत्र तक का बध होता है।

५१—तपस्या से जीव ससार का अन्त करता है, कर्मों का अन्त लाता है और इसी तपस्या के प्रताप से घोर ससारी जीव भी सिद्ध होता है।

५२—तप करोड़ों भवों के सचित कर्मों को एक क्षण में खपा देता है। तप-रत्न ऐसा अमूल्य है। इसके गुणों का पार नहीं आता[१७]।

निर्जरा निरवद्य है

५३—निर्जरा—जीव का उज्ज्वल होना, कर्मों से निवृत्त होना—उनसे अलग होना है—इसलिए निर्जरा निरवद्य है। निर्जरा उज्ज्वलता की अपेक्षा निर्मल है अन्य किसी अपेक्षा से नहीं।

४६—बारे परकारे तप निरजरा री करणी जे तपसा करें जांण २ जी ।
ते करम उदीर उदे आंण खेरे, त्यांनें नेड़ी होसी निरवांण जी ॥

४७—साध रे बारे भेदे तपसा करतां जिहां २ निरवद जोग रुंधाय जी ।
तिहां २ संवर हुवें तपसा रे लारे, तिण सूं पुन लागता मिट जाय जी ॥

४८—इण तप माहिलो तप श्रावक करतां कठे उसभ जोग रुंधाय जी ।
जब विरत संवर हुवें तपसा लारे, लागता पाप मिट जाय जी ॥

४९—इण तप माहिलो तप इविरती करतां तिणरे पिण करम कटाय जी ।
कोइ परत ससार करें इण तप थी वेगो जाए मुगत रे माय जी ॥

५०—साध श्रावक समदिष्टी तपसा करतां त्यांरे उतकष्टी टले करम छोत जी ।
कदा उतकष्टो रस आवें तिणरे, तो बंधे तीर्थंकर गोत जी ॥

५१—तप थी आंण संसार मों छेहड़ो वले आंणे करमां रो अंत जी ।
इण तपसा तणे परतापे जीवड़ो संसारी रो सिध होवंत जी ॥

५२—कोइ भवां रा करम संचीया हुवें तो खिण मे दिये खपाय जी ।
एहवो छें तप रतन अमोलक, तिणरा गुण रो पार न आय जी ॥

५३—निरजरा तो निरवद उजल हुवां थी करम निवरते हुओ न्यार जी ।
तिण स्यूं निरजरा निरवद कही ए, थोमु तो निरवद नहीं छें लिगार जी ॥

५४—नि र्जरा की करनी से कर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए वह निरवद्य है। निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

निर्जरा और निर्जरा की करनी भिन्न-भिन्न हैं (गा० ५४-५६)

५५—निर्जरा निश्चय ही मोक्ष का अंश है। जीव का देशत उज्ज्वल होना निर्जरा है। जिसके निर्जरा की करनी से प्रेम हो गया है, उसने मुक्ति की नींव डाल दी है।

५६—वैसे तो निर्जरा सहज ही अनादि काल से हो रही है, पर वह हो-हो कर मिट जाती है। जो जीव नये कर्म-बंध से निवृत्त नही होता, वह संसार में ही गोता खाता रहता है[१८]।

५७—निर्जरा की करनी को समझाने के लिए श्रीनाथद्वारा में संवत् १८५६ के चैत बदी २ गुरुवार को यह जोड़ की गई है।

५४—इण निरजरा तणी करणी छैं निरवद, तिण सूं करमां री निरजरा होय जी ।
निरजरा नें निरजरा री करणी, ए तो जूआजूआ छै दोय जी ॥

५५—निरजरा तो मोष तणो अंस निश्चें, देश थकी उजलो छैं जीव जी ।
जिणरे निरजरा करण री चूंप लागी छैं, तिण दीधी मुगत री नींव जी ॥

५६—सहजां तो निरजरा अनाद री हुवे छें, ते होय २ नें मिट जाय जी ।
करम बंधण सूं निवरत्यो नांहीं संसार में गोता खाय जी ॥

५७—निरजरा तणी करणी ओलखावण जोड़ कीधी नाथदुवारा मझार जी ।
समत अठारे बरस छपनें, चैत विद बीज नें गुरवार जी ॥

५४—नि र्रा की करनी से कर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए वह निरवद्य है। निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनों ।भन्न-भिन्न है।

निर्जरा और निर्जरा की करनी भिन्न-भिन्न हैं (गा० ५४-५६)

५५—निर्जरा निश्चय ही मोक्ष का अश है। जीव का देशत उज्ज्वल होना निर्जरा है। जिसके निर्जरा की करनी से प्रेम हो गया है, उसने मुक्ति की नींव डाल दी है।

५६—ंसे तो निर्जरा सहज ही अनादि काल से हो रही है, पर वह हो-हो कर मिट जाती है। जो जीव नये कर्म-बध से निवृत्त नही होता, वह संसार में ही गोता खाता रहता है[१८]।

५७—निर्जरा की करनी को समझाने के लिए श्रीनाथद्वारा में सवत् १८५६ के ‍ेत वदी २ गुरुवार को यह जोड की गई है।

टिप्पणियाँ

१—निर्जरा कैसे होती है ? (दो० १-७)

स्वामीजी ने प्रथम ढाल में निर्जरा के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। इस टिप्पणी से सम्बन्धित दोहों में स्वामीजी निर्जरा किस प्रकार होती है, यह बतलाते हैं।

स्वामीजी के अनुसार निर्जरा निम्न प्रकार से होती है

(१) उदय में आए हुए कर्मों के फलानुभव से।

(२) कर्म-क्षय की कामना से विविध तप करने से।

(३) कर्म क्षय की आकांक्षा बिना नाना प्रकार के कष्ट करने से।

(४) इहलोक-परलोक के लिए नाना प्रकार के तप करते हुए।

इन पर क्रमशः विस्तृत प्रकाश डाला जा रहा है।

(१) उदय में आए हुए कर्मों के फलानुभव से

बंधे हुए कर्म उदय में आते हैं। इससे क्षुधा तृषा शीत ताप आदि नाना प्रकार के कष्ट जीव के उत्पन्न होते हैं। वैसे ही सुख भी उत्पन्न होते हैं। सुख-दुःखरूप विविध प्रकार के फल दे चुकने के बाद कर्म-पुद्गल आत्म प्रदेशों से स्वतः निर्जीर्ण होते हैं[1]। यह कर्म-भोग जन्य निर्जरा है।

(२) कर्म-क्षय की कामना से विविध तप करने से

तपों का वर्णन आगे आएगा। जो कर्म-क्षय की अभिलाषा से—आत्मशुद्धि के अभिप्राय से उन विविध तपों का अनुष्ठान करता है उसके भी निर्जरा होती है। यह प्रयोगजा निर्जरा है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की निर्जरा के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न विवेचन बड़े बोधपूर्ण हैं

(क) श्री देवेन्द्रसूरि कहते हैं— 'एकेन्द्रिय आदि तिर्यञ्च छेदन भेदन शीत ताप वर्षा अग्नि क्षुधा तृषा तथा चाबुक और अंकुशादि की मार द्वारा नारकीय जीव तीन प्रकार की वेदना द्वारा मनुष्य क्षुधा तृषा आधि व्याधि दारिद्र्य और कारागारवास आदि के कष्ट

१—तत्त्वा० ८.२२ भाष्य ; ८.२४ भाष्य :

...पाकोऽनुभावो भवति । विविधः पाको विपाकः

द्वारा और देवता परवशता और किल्विषता आदि द्वारा असातवेदनीय कर्म का अनुभव कर उसका परिशाटन करते हैं। यह अकाम निर्जरा है। यह सब के होती है। कर्म-क्षय की अभिलाषा से बारह प्रकार के तपो के करने से जो निर्जरा होती है, वह सकाम निर्जरा है। यह निर्जराभिलाषियो के होती है[1]।"

(आ) "जिससे आत्मा दुर्जर शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा करती है, वह निर्जरा दो प्रकार की है। जो व्रत के उपक्रम से होती है, वह सकाम निर्जरा है और जो नरकवासी आदि जीवो के कर्मों के स्वत विपाक से होती है, वह अकाम निर्जरा है[2]।"

(इ) वाचक उमास्वाति लिखते हैं—"निर्जरा दो प्रकार की होती है—एक अबुद्धिपूर्वक और दूसरी कुशलमूल। इनमें से नरकादि गतियो मे जो कर्मों के फल का अनुभवन बिना किसी तरह के बुद्धिपूर्वक प्रयोग के हुआ करता है, उसको अबुद्धिपूर्वक निर्जरा कहते हैं। तप और परीषहजय कृत निर्जरा कुशलमूल है[3]।"

(ई) स्वामी कार्तिकेय कहते हैं—"ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों की फल देने की शक्ति को विपाक-अनुभाग कहते हैं। उदय के बाद फल देकर कर्मों के झड जाने को निर्जरा कहते हैं। वह दो प्रकार की होती है—(१) स्वकालप्राप्त और (२) तपकृत। उनमें

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह · देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण अ० ६ :

सकामनिज्जरा पुण निज्जराहिलासीणं' छव्विह बाहिर ...... छव्विहमब्भतरं च तवतवेंताण

२—धर्मशर्माभ्युदयम् २१ १२२-१२३ .

दुर्जरा निर्जरत्यात्मा यया कर्म शुभाशुभम् ।
निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया सकामाकामभेदत ॥
सा सकामा स्मृता जैनैर्या व्रतोपक्रमै कृता ।
अकामा स्वविपाकेन यथा श्वभ्रादिवासिनाम् ॥

३—तत्त्वा० ९ ७ भाष्य ८ .

स द्विविधोऽबुद्धिपूर्व कुशलमूलश्च । तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाको योऽबुद्धिपूर्वकस्तमुयतोऽनुचिन्तयेदकुशलानुबन्ध इति । तप परीषहजयकृत कुशलमूलः । त गुणतोऽनुचिन्तयेत् शुभानुबन्धो निरनुबन्धो वेति ।

टिप्पणियाँ

१—निर्जरा कैसे होती है ? (दो० १-७)

स्वामीजी ने प्रथम ढाल में निर्जरा के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। इस टिप्पणी से सम्बन्धित दोहों में स्वामीजी निर्जरा किस प्रकार होती है, यह बतलाते हैं।

स्वामीजी के अनुसार निर्जरा निम्न प्रकार से होती है

(१) उदय में आए हुए कर्मों के फलानुभव से।

(२) कर्म-क्षय की कामना से विविध तप करने से।

(३) कर्म क्षय की आकांक्षा बिना नाना प्रकार के कष्ट करने से।

(४) इहलोक-परलोक के लिए नाना प्रकार के तप करते हुए।

इन पर क्रमशः विस्तृत प्रकाश डाला जा रहा है।

(१) उदय में आए हुए कर्मों के फलानुभव से

बंधे हुए कर्म उदय में आते हैं। इससे क्षुधा तृषा शीत ताप आदि नाना प्रकार के कष्ट जीव के उत्पन्न होते हैं। वैसे ही सुख भी उत्पन्न होते हैं। सुख-दुःखरूप विविध प्रकार के फल दे चुकने के बाद कर्म-पुद्गल आत्म प्रदेशों से स्वतः निर्जीर्ण होते हैं[1]। यह कर्म-शील रूप निर्जरा है।

(२) कर्म-क्षय की कामना से विविध तप करने से

तपों का वर्णन आगे आयगा। जो कर्म-क्षय की अभिलाषा से—आत्मशुद्धि के अभिप्राय से उन विविध तपों का अनुष्ठान करता है उसके भी निर्जरा होती है। यह प्रयोगजा निर्जरा है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की निर्जरा के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न विवेचन बड़े बोधपूर्ण हैं

(क) श्री हेमचन्द्रसूरि कहते हैं— 'एकेन्द्रिय आदि तिर्यञ्च छेदन भेदन शीत ताप, वर्षा, अग्नि क्षुधा तृषा तथा चाबुक और अंकुशादि की मार द्वारा नारकीय जीव तीन प्रकार की वेदना द्वारा मनुष्य क्षुधा तृषा आधि व्याधि और कारागारवास आदि के कष्ट

१—तत्त्वा० ८.२२ भाष्य ; ८.२४ भाष्य :

अर्वास्तं यद्गीर्णं [illegible] भवति । विविधाः पाको विपाकः

द्वारा और देवता परवशता और किल्विषता आदि द्वारा असातवेदनीय कर्म का अनुभव कर उसका परिशाटन करते हैं। यह अकाम निर्जरा है। यह सब के होती है। कर्म-क्षय की अभिलाषा से बारह प्रकार के तपो के करने से जो निर्जरा होती है, वह सकाम निर्जरा है। यह निर्जराभिलाषियो के होती है[1]।"

(आ) "जिससे आत्मा दुर्जर शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा करती है, वह निर्जरा दो प्रकार की है। जो व्रत के उपक्रम से होती है, वह सकाम निर्जरा है और जो नरकवासी आदि जीवो के कर्मों के स्वत विपाक मे होती है, वह अकाम निर्जरा है[2]।"

(इ) वाचक उमास्वाति लिखते हैं—"निर्जरा दो प्रकार की होती है—एक अबुद्धिपूर्वक और दूसरी कुशलमूल। इनमें से नरकादि गतियो मे जो कर्मों के फल का अनुभवन विना किसी तरह के वुद्धिपूर्वक प्रयोग के हुआ करता है, उसको अबुद्धिपूर्वक निर्जरा कहते हैं। तप और परीषहजय कृत निर्जरा कुशलमूल है[3]।"

(ई) स्वामी कार्तिकेय कहते हैं—"ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों की फल देने की शक्ति को विपाक-अनुभाग कहते हैं। उदय के बाद फल देकर कर्मों के झड जाने को निर्जरा कहते हैं। वह दो प्रकार की होती है—(१) स्वकालप्राप्त और (२) तपकृत। उनमे

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण अ० ६ :

सकामनिज्जरा पुण निज्जराहिलासीणं' 'छव्विह बाहिरं' ..... छव्विहमब्भतर च तवतवेंताण

२—धर्मशर्माभ्युदयम् २१ १२२-१२३

दुर्जरा निर्जरत्यात्मा यया कर्म शुभाशुभम् ।
निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया सकामाकामभेदत ॥
सा सकामा स्मृता जैनैर्या व्रतोपक्रमै कृता ।
अकामा स्वविपाकेन यथा श्वभ्रादिवासिनाम् ॥

३—तत्त्वा० ६ ७ भाष्य ६ :

स द्विविधोऽबुद्धिपूर्व कुशलमूलश्च। तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाको योऽबुद्धिपूर्वकस्तमुयतोऽनुचिन्तयेदकुशलानुबन्ध इति। तप परीषहजयकृत कुशलमूल। त गुणतोऽनुचिन्तयेत् शुभानुबन्धो निरनुबन्धो वेति।

पहिली स्वकाल प्राप्त निर्जरा तो चारों ही गति के जीवों के होती है और दूसरी व्रत द्वारा की हुई व्रतयुक्त जीवों के[1] ।"

(च) चन्द्रप्रभचरित में कहा है : कर्मक्षपण लक्षणवाली निर्जरा दो प्रकार की होती है—एक कालकृत और दूसरी उपक्रमकृत । नरकादि जीवों के कर्म भुक्ति से जो निर्जरा होती है, वह यथाकालजा निर्जरा है और जो तप से निर्जरा होती है, वह उपक्रमकृत निर्जरा है[2] ।

(छ) 'तत्त्वार्थसार' में लिखा है—"कर्मों के फल देकर झड़ने से जो निर्जरा होती है, वह विपाकजा निर्जरा है और अनुदीर्ण कर्मों को तप की शक्ति से उदयावलि में लाकर वेदने से जो निर्जरा होती है वह अविपाकजा निर्जरा है[3] ।"

स्वामीजी ने पहली प्रकार की निर्जरा को सहज निर्जरा कहा है। उनके अनुसार यह *अप्रयत्नमूला है। यह बिना उपाय बिना कष्ट और बिना प्रयत्न होती है। यह इच्छाकृत नहीं* स्वयंभूत है। इस निर्जरा को स्वकालप्राप्त विपाकजा आदि जो विशेषण प्राप्त हैं, वे इस बात को अच्छी तरह सिद्ध करते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि स्वामीजी ने कर्मभोग

१—द्वादशानुप्रेक्षा : निर्जरा अनुप्रेक्षा १०३-१०४

सव्वेसिं कम्माणं सत्तिविवाओ हवेइ अणुभाओ ।
तदणंतरं तु सडणं कम्माणं णिज्जरा जाण ॥
सा पुण दुविहा णेया सकालपत्ता तवेण कयमाणा ।
चादुगदीणं पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया ॥

२—चन्द्रप्रभचरितम् १८।१०९-११० :

यथाकालकृता काचिदुपक्रमकृतापरा ।
निर्जरा द्विविधा ज्ञेया कर्मक्षपणलक्षणा ॥
या कर्मभुक्तिः श्वभ्रादौ सा यथाकालजा स्मृता ।
तपसा निर्जरा या तु सा चोपक्रमनिर्जरा ॥

३—तत्त्वार्थसार ७।२-४

उपात्तकर्मणः पातो निर्जरा द्विविधा च सा ।
आद्या विपाकजा तत्र द्वितीया चाविपाकजा ॥
अनादिबन्धनोपाधिविपाकवशवर्तिनः ।
कर्मारब्धफलं यत्र क्षीयते सा विपाकजा ॥
अनुदीर्णं तपःशक्त्या यत्रोदीर्णोदयावलीम् ।
प्रवेश्य वेद्यते कर्म सा भवत्यविपाकजा ॥

जन्य निर्जरा को 'अकाम निर्जरा' नही कहा है। कारण इस निर्जरा में उन हेतुओ—क्रियाओ—साधनो के प्रयोग का सर्वथा अभाव है जिनसे निर्जरा होती है। यह निर्जरा तो कर्मों के स्वाभाविक तौर पर फल देकर दूर होने से स्वत उत्पन्न होती है। अकाम निर्जरा तब होती है जब क्रिया—साधन तो रहते हैं पर उनका प्रयोग कर्म-क्षय की अभिलाषा से नही होता। कर्मभोग-जन्य निर्जरा में साधनो का ही अभाव है।

दूसरे प्रकार की निर्जरा, जो शुद्ध करनी द्वारा उत्पन्न होती है, उसे स्वामीजी ने अनुपम निर्जरा कहा है। इस अनुपम निर्जरा से ही जीव मुक्ति को समीप लाता है। अपनी क्रिया की उत्कृष्टता के अनुसार उसकी आत्मा न्यूनाधिक उज्ज्वल होती जाती है। यह निर्जरा इच्छाकृत होती है। जब कर्म-क्षय की अभिलाषा से शुद्ध क्रिया की जाती है तभी यह निर्जरा उत्पन्न होती है अत यह सहज नही, प्रयोगजा है।

आगमो में 'अकाम निर्जरा' शब्द मिलता है। 'सकाम निर्जरा' शब्द नही मिलता। 'सकाम निर्जरा' शब्द आगमो में उपलब्ध न होने पर भी 'अकाम निर्जरा' के प्रतिपक्षी तत्त्व के रूप मे वह अपने आप फलित होता है। पहली निर्जरा सहज है क्योकि वह बिना अभिलाषा—बिना उपाय—बिना चेष्टा होती है। दूसरी निर्जरा सकाम निर्जरा है क्योकि वह प्रयत्नमूला है। वह कर्म-क्षय की अभिलाषा से उत्पन्न उपाय—चेष्टा, प्रयत्न से होती है। कहा है—"कर्मणां फलवत् पाको, यदुपायात् स्वतोऽपि च"—फल की तरह कर्मों का पाक भी दो तरह से होता है—उपाय से और स्वत। सकाम निर्जरा उपायकृत होती है और अकाम निर्जरा सहज रूप से स्वत होनेवाली। अकाम निर्जरा सब के होती है और सकाम निर्जरा बारह प्रकार के तपो को करनेवाले निजराभिलाषी व्यक्तियो के।

पहली प्रकार की निर्जरा किस के होती है, इस विषय मे कोई मतभेद नही है। वह सर्वमत से 'सव्वजीवाण'—सर्व जीवो के होती है। दूसरी प्रकार की निर्जरा के विषय मे मतभेद है।

श्री हेमचन्द्रसूरि कहते हैं—"सकाम निर्जरा यमियो—सयमियो के ही होती है और अन्य दूसरे प्राणियो के[1]।"

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह हेमचन्द्रसूरिप्रणीत सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १२८ :
ज्ञेया सकामा यमिनामकामान्यदेहिनाम्।

स्वामी कार्तिकेय ने भी लिखा है—"प्रथम चार गतियों के जीवों के होती है और दूसरी व्रतियों के[1]।" "अविपाका मुनीन्द्राणां सविपाकाखिलात्मनाम्"—भी इसी बात को प्रकट करता है। एक मत यह भी है कि सकाम निर्जरा सम्यक्दृष्टि के ही होती है, वह मिथ्यादृष्टि के नहीं होती।

स्वामीजी के अनुसार सकाम निर्जरा साधु-श्रावक व्रती-अव्रती सम्यक्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि सब के हो सकती है[2]। शर्त इतनी ही है कि तप निरवद्य और लक्ष्य कर्म-क्षय हो। जहाँ लक्ष्य कर्म-क्षय नहीं वहाँ शुद्ध तप भी सकाम निर्जरा का हेतु नहीं होता[3]।

पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने एक विचार दिया है— 'अकाम निर्जरा सभी संसारी जीवों के और सदाकाल हुआ करती है, क्योंकि बंधे हुए कर्म अपने समय पर फल देकर निर्जीर्ण होते ही रहते हैं। अतएव इसको निर्जरा-तत्त्व में नहीं समझना चाहिये। दूसरी तरह की निर्जरा तप आदि के प्रयोग द्वारा हुआ करती है। यह निर्जरा तत्त्व है और इसीलिए मोक्षका कारण है। इस प्रकार दोनों के हेतु में और फल में अन्तर है[4]।'

इसी विचार को मुनि सूर्यसागरजी ने इस प्रकार उपस्थित किया है 'औदयिक भाव से प्रेरा हुआ यथा क्रमानुसार विपाक काल को प्राप्त हुआ जो शुभ-अशुभ कर्म अपनी बंधी हुई स्थिति के पूर्ण होने पर उदय में आता है, उसके भोग चुकने पर जो कर्म की आत्म प्रदेशों से जुदाई होती है वह सविपाक निर्जरा कहलाती है। यह अन्य रूप है। इस निर्जरा से आत्मा कभी भी कर्म से मुक्त नहीं होता। क्योंकि जो कर्म छूटता है उससे अधिक उसी समय बंध जाता है[5]। जो तपस्या द्वारा बिना फल दिये हुए

१—द्वादशानुप्रेक्षा : निर्जरा अनुप्रेक्षा १०४ (पृ० ६१ पा० टि० १ में उद्धृत)
२—[illegible] गा० ४७-५
३—इस प्रश्न का आगे विस्तार से विवेचन किया जायगा।
४—सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र पृ० ३७८
५—संयम-प्रकाश (उत्तरार्द्ध) प्रथम किरण पृ० ५८-५९
इस बात को समझाने के लिए उन्होंने उदाहरण दिया है—जैसे एक मनुष्य को चारित्र मोहनीय के उदय से क्रोध आया और क्रोध आने पर उसने क्रोधवश जिस पर का मन-वचन-काय से अनेक कष्ट दिये और अनेकों से वैर बाँध लिया। ऐसी दशा में पहिला कर्म तो क्रोध को उत्पन्न करके दूर हो गया परन्तु, क्रोध-वश की क्रियायें उस जीव ने की उनसे फिर अनेक प्रकार के नवीन कर्म बंध गये। अतः मोक्षार्थी के लिए सविपाक निर्जरा काम की नहीं है।

कर्मों की निर्जरा होती है अर्थात् तपश्चरण द्वारा कर्मों की फल देने की शक्ति का नाश करके जो निर्जरा होती है उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं। ··वही आत्मा का हित करनेवाली है। इसीसे शनैं शनैं सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है[1] ।"

वाचक उमास्वाति ने भी तप और परीषहजय कृत निर्जरा को ही कुशलामूल तथा शुभानुबन्धक और निरनुबन्धक कहा है। अबुद्धिपूर्वा निर्जरा को उन्होने अकुशलानुबन्धक कहा है[2] ।

स्वामीजी ने अपनी बात निम्न रूप में कही है—

आठ कर्म छे जीव रे अनाद रा, त्यांरी उतपत आश्रव द्वार हो।
वे उदे थइ नें पछे निरजरे, वले उपजे निरतर लार हो ॥
ते करम उदे थइ जीव रे, समें समे अनन्ता झड जाय हो।
भरीया नीगल जू करम मिटें नही, करम मिटवा रो न जांणे उपाय हो ॥
बारे परकारे तप निरजरा री करणी, जे तपसा करे जांण २ जी।
ते करम उदीर उदे आंण खेरे,त्यांनें नेडी होसी निरवाण जी ॥
सहजां तो निरजरा अनाद री हुवे छें, ते होय २ नें मिट जाय जी।
करम बधण सू निवरत्यो नांही, ससार मे गोता खाय जी ॥
सावद्य जोगां सू सेवे पाप अठारें, ते तो पाप री करणी जांणो रे ।
ते सावद्य करणी करतां पिण निरजरा हुवें छें, त्यांरो न्याय हीया में पिछांणो रे ॥
उदीरी उदीरी नें करें क्रोधादिक, जब लागे छें पाप ना पूरो रे ।
उदीरी नें क्रोधादिक उदें आण्या ते, करम झरें पडे दूरो रे ।।
पाप री करणी करतां निरजरा हुवें छें, तिण करणी में जावक खांमी रे ।
सावद्य जोगां पाप ने निरजरा हुवें छें, ते निरजरा तणो नही कांमी रे[3] ॥

(२) कर्म-क्षय की आकांक्षा बिना नाना प्रकार के कष्ट करने से

इस निर्जरा के उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं

(क) एक मनुष्य को कर्म-क्षय की या मोक्ष की अभिलाषा तो नही है पर वह तृषा, क्षुधा, ब्रह्मचर्यवास, अस्नान, सर्दी, गर्मी, दश-मशक, स्वेद, धूलि, पक और मल के तप, कष्ट, परीषह से थोड़े या अधिक समय के लिए आत्मा को परिक्लेशित करता है। इस कष्ट से कर्मों की निर्जरा होती है।

१—सयम-प्रकाश (पूर्वार्द्ध) चतुर्थ किरण पृ० ६५५-५६

२—देखिए पृ० ६०६ पा० टि० ३

३—(क) १ १,४; (ख) २ ४६,५६ (ग) टीकम डोसी री चर्चा ३ २१-२३

स्वामी कार्तिकेय ने भी लिखा है—"प्रथम चार गतियों के जीवों के होती है और दूसरी व्रतियों के[1]।" "अविपाका मुनीन्द्राणां सविपाकाखिलात्मनाम्"—भी इसी बात को प्रकट करता है। एक मत यह भी है कि सकाम निर्जरा सम्यक्दृष्टि के ही होती है, वह मिथ्यादृष्टि के नहीं होती।

स्वामीजी के अनुसार सकाम निर्जरा साधु-श्रावक व्रती-अव्रती सम्यक्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि सब के हो सकती है[2]। शर्त इतनी ही है कि तप निरवद्य और सम्यक् कर्म क्षय हो। जहाँ सम्यक् कर्म-क्षय नहीं वहाँ शुद्ध तप भी सकाम निर्जरा का हेतु नहीं होता[3]।

पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने एक विचार दिया है— "यथाकाल निर्जरा सभी संसारी जीवों के और सदाकाल हुआ करती है, क्योंकि बंधे हुए कर्म अपने समय पर फल देकर निर्जीर्ण होते ही रहते हैं। अतएव इसको निर्जरा-तत्त्व में नहीं समझना चाहिये। दूसरी तरह की निर्जरा तप आदि के प्रयोग द्वारा हुआ करती है। यह निर्जरा तत्त्व है और मोक्षका कारण है। इस प्रकार दोनों के हेतु में और फल में अन्तर है[4]।"

इसी विचार को मुनि मूपसागरजी ने इस प्रकार उपस्थित किया है "औदयिक भाव में प्राप्त हुआ यथा क्रमानुसार विपाक काल को प्राप्त हुआ जो शुभ अशुभ कर्म अपनी बंधी हुई स्थिति के पूर्ण होने पर उदय में आता है, उसके भोग चुकने पर जो कर्म की आत्म प्रदेशों से जुदाई होती है वह सविपाक निर्जरा कहलाती है। यह द्रव्य रूप है। इस निर्जरा से आत्मा कभी भी कर्म से मुक्त नहीं होता। क्योंकि जो कर्म छूटता है उससे अधिक उसी समय बंध जाता है[5]। जो तपस्या द्वारा बिना फल दिये हुए

१—द्वादशानुप्रेक्षा निर्जरा अनुप्रेक्षा १०४ (पृ० ६१० पा० टि० १ में उद्धृत)

२—इन्द्रिय वा ४-५

३—इस प्रश्न पर आगे विस्तार से विवेचन किया जायगा।

४—सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र पृ० १०८

५—मोक्ष प्रकाश (उत्तरार्द्ध) प्रथम किरण पृ० ५८-५९

इस बात को समझाने के लिए उन्होंने उदाहरण दिया है—जब एक मनुष्य को चारित्र मोहनीय के उदय से क्रोध आया और क्रोध आने पर उसने क्रोधवश किसी पर को मन वचन-काय से अनेक कष्ट दिये और अनेकों से वैर बांध लिया। अभी उदय में वर्तमान कर्म का क्रोध तो उत्पन्न करके दूर हो गया परन्तु क्रोध वश जो किये उस जीव ने जो रचना किये अनेक प्रकार के नवीन कर्म बंध गए। अतः मोक्षार्थी के लिए सविपाक निर्जरा काम की नहीं है।

(४) इहलोक-परलोक के लिए तप कर हुए :

मुझे स्वर्ग प्राप्त हो, मेरा अमुक लौकिक कार्य सिद्ध हो, मुझे यश-कीर्ति प्राप्त हो—इस भावना से जो क्षुधा, तृष्णा आदि का कष्ट सहन करता है अथवा तपस्या करता है उसके भी स्वामीजी ने अकाम निर्जरा की निष्पत्ति बतलायी है। स्वामीजी कहते हैं—"इहलोक परलोक के हेतु से जो तपस्या की जाती है वह अकाम निर्जरा है। कारण यहां लक्ष्य कर्म-क्षय नही, पर लौकिक-पारलौकिक सिद्धियाँ हैं।"

दशवैकालिक सूत्र में कहा है—इस लोक के लिए तप न करे, परलोक के लिए तप न करे, कीर्त्ति-वर्ण-शब्द और श्लोक के लिए तप न करे। एक निर्जरा को छोड कर अन्य लक्ष्य के लिए तप न करे। पाठ इस प्रकार है :

> चउव्विहा खलु तव-समाही भवइ, त जहा। नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो कित्ति-वण-सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा चउत्थं पयं भवइ[१]।

ऐसा ही पाठ आचार-समाधि के विषय मे भी है।

स्वामीजी ने दशवैकालिक सूत्र के उपर्युक्त स्थल को ध्यान में रखते हुए निम्न विचार दिए हैं—

> विनें करें सूतर भणें रे, करें तपसा नें पालें आचार रे।
> इहलोक परलोक जस कारणें रे लाल, ते तो भगवत री आग्या बार रे॥
> इहलोकादिक अर्थे तपसा करें रे, वले करें सलेखणा सथार रे।
> कह्यो दसवीकालक नवमा अधेन में रे, आग्या लोपी ने परीया उजाड रे[२]॥

स्वामीजी ने अन्यत्र निम्न गाथा दी है—

> जिण आगना विण करणी करें, ते तो दुरगतना आगेवाण।
> जिण आग्या सहीत करणी करें, तिण सू पामें पद निरवांण[३]॥

इन दोनो को मिलाने से ऐसा लगता है कि इहलोक-परलोक के अर्थ तप करने से जीव की दुर्गति होती है।

स्वामीजी ने पोषध व्रत के प्रकरण में निम्नलिखित गाथाएँ दी हैं—

> भाव थकी राग द्वेष रहीत करें, वले चोखे चित उपीयोग सहीत जी।
> जब कर्म रुकें छे आवता, वले निरजरा हुवे रुडी रीत जी॥

१—दशवै० ६ ४ ७

२—भिक्षु-ग्रन्थरत्नाकर (प्र०ख०) आचार की चौपई ढा० १७.५४-५५

३—वही : जिनाग्या री चौपई ढा० २.२६

(ख) एक स्त्री है। उसका पति कहीं चला गया अथवा मर गया है। वह बाल विधवा है, अथवा पति द्वारा छोड़ दी गई है। वह मातादि से रक्षित है। वह अपने शरीर का संस्कार नहीं करती। उसके नख केश और कांख के बाल बढ़े होते हैं। वह धूप पुष्प गन्ध माल्य और अलंकारों को धारण नहीं करती। वह अस्नान स्वेद जल्ल मल पंक के कष्टों को सहन करती है। दूध दही मक्खन घी तेल गुड़ नमक मधु मद्य और मांस का भोजन नहीं करती। वह ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई पति की शय्या का उल्लंघन नहीं करती। ऐसी स्त्री के निर्जरा होती है।

स्वामीजी कहते हैं—'इस प्रकार जो नाना प्रकार के कष्ट किए जाते हैं उनसे भी अल्प मात्रा में कर्मों का क्षय होता है—निर्जरा होती है। पर यह अकाम निर्जरा है क्योंकि इन कष्टों के करने वाले का लक्ष्य कर्म-क्षय नहीं। यहाँ क्रिया शुद्ध होने पर भी लक्ष्य न होने से जो निर्जरा होती है वह अकाम निर्जरा है। जो कर्म क्षय की दृष्टि से बारह प्रकार के तपों को करता है अथवा परीषहों का सहन करता है उसको सकाम निर्जरा होती है और जो बिना ऐसी अभिलाषा के इन तपों को करता है अथवा परीषहों का सहन करता है उसको अकाम निर्जरा होती है।

श्री जयाचार्य के सामने एक सिद्धान्त आया— जो अग्नि जल आदि में प्रवेश कर मरते हैं वे इस कष्ट से देवता होते हैं।

श्री जयाचार्य ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया— 'ते तो आगला भव में अशुभ कर्म बांध्या ते उदय आया भोगवे छ। जिण जीव री हिंसा कर सावद्य काम ते निर्जरा री करणी नहीं। एह थी पुन्य पिण बंध नहीं। इम सावद्य कार्य ना कष्ट थी पुन्य बंधे तो भीलो घास काटतां कष्ट छ। संग्राम में मनुष्यां ने खड्गादिक थी मारतां हाथ दुखे छ। कष्ट छ। मोटा अणाचार सेवतां शीत काल में प्रभाते स्नान करतां कष्ट छ। तिण रे लेखे एह थी पिण पुन्य बंधे। ते माटे ए सावद्य करणी थी पुन्य बंधे नहीं अने जे जीव हिंसारहित काम शीतकाल में शीत सहे उष्णकाल में धूप नी आतापना लेवे भूख तृषादिक सहे निर्जरा अर्थे ते सकाम निर्जरा छ। तिणरे केवली आज्ञा देवे। तेहथी पुन्य बंध। अने बिना मन भूख तृषा शीत तापादिक सहै बिना मन ब्रह्मचर्य पाले ते निर्जरा रा परिणाम बिना तपस्यादिक करे ते पिण अकाम निर्जरा आज्ञा मांहि छ[1]।"

१—भगवती री जोड़ : संबंध अधिकार ८

(४) इहलोक-परलोक के लिए तप कर हुए :

मुझे स्वर्ग प्राप्त हो, मेरा अमुक लौकिक कार्य सिद्ध हो, मुझे यश-कीर्ति प्राप्त हो—इस भावना से जो क्षुधा, तृष्णा आदि का कष्ट सहन करता है अथवा तपस्या करता है उसके भी स्वामीजी ने अकाम निर्जरा की निष्पत्ति बतलायी है। स्वामीजी कहते हैं—"इहलोक परलोक के हेतु से जो तपस्या की जाती है वह अकाम निर्जरा है। कारण यहाँ लक्ष्य कर्म-क्षय नहीं, पर लौकिक-पारलौकिक सिद्धियाँ हैं।"

दशवैकालिक सूत्र में कहा है—इस लोक के लिए तप न करे, परलोक के लिए तप न करे, कीर्ति-वर्ण-शब्द और श्लोक के लिए तप न करे। एक निर्जरा को छोड़ कर अन्य लक्ष्य के लिए तप न करे। पाठ इस प्रकार है :

चउव्विहा खलु तव-समाही भवइ, त जहा। नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो कित्ति-वण-सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा चउत्थं पयं भवइ[1]।

ऐसा ही पाठ आचार-समाधि के विषय मे भी है।

स्वामीजी ने दशवैकालिक सूत्र के उपर्युक्त स्थल को ध्यान में रखते हुए निम्न विचार दिए हैं—

विनें करें सूतर भणें रे, करें तपसा नें पालें आचार रे।
इहलोक परलोक जस कारणें रे लाल, ते तो भगवत री आग्या बार रे॥
इहलोकादिक अर्थे तपसा करें रे, वले करें सलेखणा सथार रे।
कह्यो दसवीकालक नवमा अधेन में रे, आग्यां लोपी नें परीया उजाड रे[2]॥

स्वामीजी ने अन्यत्र निम्न गाथा दी है—

जिण आगना विण करणी करें, ते तो दुरगतना आगेंवाण।
जिण आग्या सहीत करणी करें, तिण सू पामें पद निरवांण[3]॥

इन दोनो को मिलाने से ऐसा लगता है कि इहलोक-परलोक के अर्थ तप करने से जीव की दुर्गति होती है।

स्वामीजी ने पौषध व्रत के प्रकरण में निम्नलिखित गाथाएँ दी हैं—

भाव थकी राग द्वेष रहीत करे, वले चोखे चित उपीयोग सहीत जी।
जब कर्म रुके छे आवतां, वले निरजरा हुवे रुडी रीत जी॥

१—दशवै० ६ ४ ७

२—भिक्षु-ग्रन्थरत्नाकर (प्र०ख०) आचार की चौपई ढा० १७ ५४-५५

३—वही : जिनाग्या री चौपई ढा० २.२६

इहलोक रे अर्थ करे नहीं न करे खावा पीवा रे हेत जी ।
भोग भालस हेते करे नहीं परलोक हेते न करे तेह जी ॥
संवर निरजरा रे हेते करे और वंछा नहि काय जी ।
इण परिणामां पोसो करे, तो भाव थकी शुध थाय जी ॥
कोई साहूकार छांटे पोसो करे कोई परिग्रह लेवा कर ताम जी ।
कोई और द्रव्य लेवा पोसो करे, ते कहिवा रो पोसो छै नाम जी ॥
ते तो भरसी छ एकंत पेट रो ते मजूरीया तणी छै पांत जी ।
त्यांरा जीव रो कार्य सरे नहीं उलटी पाली मन मांहे खांत जी ॥
विरक्त होय काम भोग थी, त्यानें त्याग्या छै शुध परिणाम जी ।
मोख रे हेत पोसो करे, ते उत्तम पोसा कह्यो ताम जी ॥
इण विध पोसा में खीजीये, तो सीजसी आतम काज जी ।
कर्म रूकसी में वस टूटसी इम भाखीयो श्री जिनराज जी[1] ॥

उन्होंने अन्यत्र लिखा है—

साहूकार छांटे पोसा करे तिणमें जिन भाख्यो नहीं धर्म जी ।
ते तो इहलोक रे अरथे करें तिणरो मूरख न जाणें मर्म जी[2] ॥

सामायिक के सम्बन्ध में स्वामीजी के निम्न उद्गार मिलते हैं—

भाव थी राग द्वेष रहीत छै, तब संवर निरजरा शुध थाय जी ।
इण रीते समाइ श्रोसध करे जब भावे समाइ हुवे ताय जी[3] ॥

अतिथिसंविभाग व्रत के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

जो उ दान दे मुगत रे कारणे और वंछा नहि काय ।
जब बारवें व्रत बारमो इम भाख्यो जिनराय ॥ ३ ॥
पुन्य री वंछा कर देव नहि, समकितो श्रावक में दान जी ।
देवे संवर निरजरा कारणे पुन्य तो सहिजां बंध जाणज जी[4] ॥

१—भिक्षु-ग्रन्थरत्नाकर (ख० ख०) श्रावक ना बारे व्रत ढा० १२ ५,१६ ११ १८-१९
२—वही : अनुकम्पा री चौपई ढा० १२ ४०
३—वही : श्रावक ना बारे व्रत ढा० १० ३४
४—वही : वही १२ १८

इन तथा अन्य स्थलो के ऐसे उद्‌गारो से यह धारणा बनती है कि इहलोक-परलोक के अर्थ तपादि क्रिया करने मे धर्म नहीं है।

श्री जयाचार्य के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ लगता है। उन्होने इसका स्पष्टी-करण बडे विस्तार से किया है।

श्री जयाचार्य लिखते हैं—"पूजा श्लाघा रे अर्थे तपसादिक करे ते पिण अकाम निर्जरा छै। ए पूजा श्लाघा नी वांछा आज्ञा मांहि नथी तेथी निर्जरा पिण नही हुवे। ते वांछा थी पुन्य पिण नहीं बधे। अने जे तपसा करे भूख तृषा खमै तिण मे जीव री घात नथी ते माटै ए तपस्या आज्ञा मांहि छै। निर्जरा रो अर्थी थको न करै तिण सू अकाम निर्जरा छै। एह थकी पिण पुन्य बंधे छै पिण आज्ञा बारला कार्य थी पुन्य बधै नथी[1]।"

श्री जयाचार्य ने अन्यत्र लिखा है

"कोई कहे दशवैकालक मे कह्यो इहलोक परलोक रा जश कीर्त्त नें अर्थे तप न करणो, एक निर्जरा ने अर्थे तप करणो। सो इहलोक-परलोक जश-कीर्त्त अर्थे तप करे सो तप खोटो, ते तप सू पाप बधे, ते तप आज्ञा बाहिर छै, ते तप सावद्य छै, ते तप सू दुर्गति जाय, इम कहै ते नो उत्तर—

१—ए तप खोटो नही, इहलोक-परलोक नी बछा खोटी छै। बछा आसरे भेलो पाठ कह्यो

२—घणा वर्ष सजम तप पाली नियाणो करे तो बछा खोटी पिण तप सजम पाल्यो ते खोटो नही तिम वर्तमान आगमिया काल रो पिण तप बछा सहित छै ते बछा खोटी पिण तप खोटो नही।

३—सुयगडांग श्रु० १ अ० ८ गाथा २४ "तेसिं पि तवो असुद्धो"—जे साधु अनेरा गृहस्थ ने जणावी तप करे तप करी पूजा श्लाघा बछे ते तप असुद्ध कह्यो। इहां पिण पूजा-श्लाघा आसरी अशुद्ध बछा छै पिण तप चोखो। छठे गुणठाणे पिण तप करे आचार पाले छै सो तिहे पिण पूजा-श्लाघा री लहर आवा रो ठिकाणो छै तो त्यांरे लेखे ते पिण तप शुद्ध न कहिए। अप्रमादी रे खोटी लहर न आवे तो त्यांरे तप शुद्ध कहिए।

४—भगवती श० २ उ० ५—तुगीया नगरी रा श्रावकां रा अधिकारे सराग सजम १ सराग तप २ बाकी कर्म ३ कर्म पुद्‌गल नो सग ४ यां च्यारां स्यू साधु देवलोक जाय

---

[1]—भगवती नी जोड़ : खधक अधिकार ८

इम कह्यो तो रागपणो सावद्य छ अने तप निरवद्य छ सराग स्यूं तो पाप बंधे ने तप स्यूं कर्म कटे ते निरवद्य छ। इहां सरागपणे में संयम रो अभिप्राय छ तो तप छ तिण तप चोखो पिण वंछा चोखी नहीं।

५—उववाई में कह्यो च्यार प्रकारे देवता हुवे ते सराग संजम १ संजमासंजम २ बाल तप ३ अकाम निर्जरा ४। इण में संजमासंजम ते कांई संजम कांई असंजम ते असंजम तो खोटो ने संजम थी देवता थाये। बाल तप कहिये तप तो चोखो छे तप थी तो देवता हुवे ने बालपणो खोटो। अकाम निर्जरा ते तप चोखो तिण थी देवता हुवे अकाम ते निर्जरा नी बंछा नहीं ते अकाम पणो शुद्ध नहीं। तिम तिहां पिण तप चोखो ने बंछा खोटी छै।

६—उववाई प्रश्न ५ में कह्यो—निर्जरा री बंछा रहित तप कष्ट, भूख, तृषा सी, तावड़ो शीलादिक थी दस सहस्र वर्ष ने आउखे देवता हुवे ए निर्जरा नी बंछा नहीं ते खोटी पिण भूखादिक खमे ते निरवद्य छै तेह थी देवता हुवे छ।

७—प्रश्न ८ में कह्यो ते बाल-विधवा सासरे-पीहर नी लाजे करी निर्जरा री वंछा बिना शील पाले तो ६४ हजार वर्ष आऊखे देवगति में उपजे। इहां लाज करी पाले ते संसार नी कीर्ति नी अर्थे ठहरी। ते शोभा नो अपजश टालवा रखे अपजश हुवे लोकमुख कहे इसा भाव सूं शील पाले तेह ने शोभा नी कीर्ति नी बंछा छ। तेह ने पिण शील पालवा रो लाभ छ तिण सूं शील पाल्यां अवगुण नहीं।

८—तथा कोई शोभारे निमित्त साधु ने दान देवे पुत्रादिक ने अर्थे देवे। दान मान सूं तथा सनमान सूं आवे तो आहार लेवे के नहीं तेह ने धर्म नहीं थावे तो क्यूं लेवे? तेह पुत्रादि नी बंछा नो तो पाप छ, ने साधु ने देवे ते धर्म छ तिण सूं साधु वहिरे छ। इमिज शील तप जाणवा।

९—भगवती श० १ उद्देशे २ कह्यो असंयती भवि द्रव्य देव उत्कृष्टो नवग्रैवेयक में जाय। तिहां टीका में कह्यो भव्य तथा अभव्य पिण जावे। ते किम जाय? साधु नी सर्व प्रत्यक्ष क्रिया आचार ना पालवा थी। तो ज अभव्य पिण जावे ते किम? प्रत्यक्ष साधु नी क्रिया किण अर्थे पाले? तेहनो उत्तर—साधु ने चक्रवर्त्यादिक पूजता देखी ते पूजा श्लाघा ने अर्थे बाह्य क्रिया प्रत्यक्ष पाले तेह थी नवग्रैवेयक जाय पहुंचे छै। ए अभव्य नवग्रैवेयके जावे ए तो प्रसिद्ध छ। ते तो मोक्ष तरसे नहीं। तेह ने अकाम निर्जरा तो नथी दीसती। ते तो पूजा प्रशंसा रे अर्थे साधु री क्रिया आचार पाले ते भलो छे

तिवारे तेह थी नवग्रीवेग जाय ए तो पाधरो न्याय छे। तिम कीर्त्त ने अर्थे, तिम राज, धन, पुत्रादिक ने अर्थे शील पाले ते पिण जाणवो। पिण सावज करणी सू देवता न थाय।"

मुनि श्री नथमलजी का इस विषयक विवेचन इस प्रकार है :

"स्वामीजी का मुख्य सिद्धान्त था—'अनाज के पीछे तूडी या भूसा सहज होता है, उसके लिए अलग प्रयास जरूरी नही।' आत्मिक अभ्युदय के साथ लौकिक उदय अपने आप फलता है। सयम, व्रत या त्याग सिर्फ आत्म-आनन्द के लिए ही होना चाहिए। लौकिक कामना के लिए चलने वाला व्रत सही फल नहीं लाता। उससे मोह बढता है।

'पुण्य की—लौकिक-उदय की कामना लिए तपस्या मत करो', यह तेरापथ का ध्रुव-सिद्धान्त है।

धर्म का लक्ष्य भौतिक-प्राप्ति नहीं, आत्म-विकास है। भौतिक सुख आत्मा का स्वभाव नही है। इसलिए वह न तो धर्म है और न धर्म का साध्य ही। इसलिए उसकी सिद्धि के लिए धर्म करना उद्देश्य के प्रतिकूल हो जाता है।

इच्छा प्रेरित तपस्या नही होनी चरहिए। वह व्यक्ति को सही दिशा में नही ले जाती। फिर भी कोई व्यक्ति ऐहिक इच्छा से प्रेरित हो तपस्या करता है वह तपस्या बुरी नही है। बुरा है उसका लक्ष्य। लक्ष्य के साहचर्य से तपस्या भी बुरी मानी जाती है। किन्तु दोनो को अलग करें तब यह साफ होगा कि लक्ष्य बुरा है और तपस्या अच्छी।

ऐहिक सुख-सुविधा व कामना के लिए तप तपने वालो को, मिथ्यात्व-दशा मे तप तपने वालो को परलोक का अनाराधक कहा जाता है वह पूर्ण अराधना की दृष्टि से कहा जाता है। वे अशत परलोक के आराधक होते हैं। जैसे उनका ऐहिक लक्ष्य और मिथ्यात्व विराधना की कोटि में जाते हैं वैसे उनकी तपस्या विराधना की कोटि में नही जाती।

ऐहिक लक्ष्य से तपस्या करने की आज्ञा नही है इसमें दो बाते हैं—तपस्या का लक्ष्य और तपस्या की करणी। तपस्या करने की सदा आज्ञा है। हिंसारहित या निरवद्य तपस्या कभी आज्ञा बाह्य धर्म नहीं होता। तपस्या का लक्ष्य जो ऐहिक है उसकी आज्ञा नही है—निषेध लक्ष्य का है, तपस्या का नही। तपस्या का लक्ष्य जब ऐहिक होता है तब वह आज्ञा मे नही होता—धर्ममय नहीं होता। किन्तु 'करणी' आज्ञा बाह्य नहीं

इम कह्यो तो रागपणो सावज छ अने तप निरवद्य छ सराग स्यूं तो पाप बंध ने तप स्यूं कर्म कटे ते निरवद्य छ। इहां सरागपणे में स्याय रो अभिप्राय छ सो तप थी तिण तप चोखो पिण वंछा चोखी नहीं।

४—उववाई में कह्यो चार प्रकारे देवता हुवे ते सराग संजम १ संजमासंजम २ बाल तप ३ अकाम निर्जरा ४। इण में संजमासंजम ते कांई संजम कांई असंजम ते असंजम तो खोटो ने संजम थी देवता थाये। बाल तप कह्यो तप तो चोखो ते तप थी तो देवता हुवे ने बालपणो खोटो। अकाम निर्जरा ते तप चोखो तिण थी देवता हुवे अकाम ते निर्जरा नी वंछा नहीं ते अकाम पणो शुद्ध नहीं। तिम तिहां पिण तप चोखो ने वंछा खोटी छै।

६—उववाई प्रश्न २ में कह्यो—निर्जरा री वंछा रहित तप कष्ट, भूख, तृषा छै, तावड़ो शीतादिक थी दस सहस्र वर्ष ने आऊखे देवता हुवे ए निर्जरा नी वंछा नहीं ते खोटी पिण भूखादिक खमे ते निरवद्य छै तेह थी देवता हुवे छ।

७—प्रश्न ८ में कह्यो जे बाल विधवा सासरे-पीहर नी लाजे करी निर्जरा री वंछा बिना शील पाले तो ६४ हजार वर्ष आऊखे देवगति में उपजे। इहां लाज करी पाले ते संसार नी कीर्त्त नी अर्थे ठहरी। जे पोता नो अपजश टालवा रखे अजश हुवे लोकमूंडा कहे इसा भाव सूं शील पाले तेह ने शोभा नी कीर्त्त नी वंछा छ। तेह ने पिण शील पालवा रो लाभ छ तिण सूं शील पाल्यां अवगुण नहीं।

८—तथा कोई लोभारे निमत्ते साधु ने दान देवे पुत्रादिक ने अर्थे देवे। ताम दान पूं तथा अपमान सूं पावे तो आहार लेवे के नहीं तेह ने धर्म नहीं जाणे तो क्यूं लेवे? तेह पुत्रादि नी वंछा नो तो पाप छ, ने साधु ने देवे ते धर्म छ तिण सूं साधु वहिरे छ। इमिज शील तप जाणवो।

९—भगवती श १ उद्देशे २ कह्यो असंजती भवि द्रव्य देव उत्कृष्टो नवग्रीवेक में जाय। तिहां टीका में कह्यो भव्य तथा अभव्य पिण जावे। ते किम जाय? साधु नो सम अखण्ड क्रिया आचार ना पालवा थी। तो जे अभव्य पिण जावे ते किम? अखण्ड साधु नी क्रिया किण अर्थे पाले? तेहनो उत्तर—साधु ने चक्रवर्तादिक पूजता देखी ते पूजा श्लाघा ने अर्थे बाह्य क्रिया अखण्ड पाले तेह थी नवग्रीवेक जाय एहवूं कह्यूं छै। जे अभव्य नवग्रीवेके जावे ए तो प्रसिद्ध छै। ते तो मोक्ष वांछे नहीं। तेह ने अकाम निर्जरा तो अथी बोलखी। ते तो पूजा प्रशंसा रे अर्थे साधु री क्रिया आचार पाले ते मणो ते

पौद्‌गलिक अभिसिद्धि के लिए जो तपस्या की जाती है वह स्वार्थपूर्ति की भावना होने के कारण शुद्धरूप की अपेक्षा विकृति भी है। इसीलिए ऐहिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए तपस्या नही करनी चाहिए। किन्तु कोई कर ले तो वह तपस्या सावद्य होती है ऐसा नही है।

अभव्य आत्म-कल्याण के लिए करणी नही करता सिर्फ वाह्य—दृष्टि— पूजा—प्रतिष्ठा, पौद्‌गलिक सुख की दृष्टि से करता है। क्या ऐसी क्रिया निर्जरा नहीं? अवश्य अकाम निर्जरा है।

निर्जरा के विना क्षयोपशमिक भाव यानि आत्मिक उज्ज्वलता होती नही। अभव्य के भी आत्मिक उज्ज्वलता होती है। दूसरे निर्जरा के विना पुण्य-वन्ध नही होता। पुण्य-वन्ध निर्जरा के साथ ही होता है—यह ध्रुव सिद्धान्त है। अभव्य के निर्जरा धर्म और पुण्य वन्ध दोनो होते हैं। निर्जरा के कारण वह अशरूप मे उज्ज्वल रहता है। पुण्य-वन्ध से सद्‌गति में जाता है। इहलोक आदि की दृष्टि से की गयी तपस्या लक्ष्य की दृष्टि से अशुद्ध है किन्तु करणी की दृष्टि से अशुद्ध नही है।"

२—निर्जरा, निर्जरा की करनी और उसकी प्रक्रिया (गा० १-४) :

ठाणाङ्ग सूत्र मे कहा है—'एगा णिज्जरा' (१ १६)—निर्जरा एक है। दूसरी ओर 'वारसहा निज्जरा सा उ' निर्जरा वारह प्रकार की है, ऐसा माना जाता है। इसका कारण यह है कि जैसे अग्नि एक रूप होने पर भी निमित्त के भेद से काष्ठाग्नि, पाषाणाग्नि—इस प्रकार पृथक्-पृथक् सज्ञा को प्राप्त हो अनेक प्रकार की होती है वैसे ही कर्मपरिशाटन रूप निर्जरा तो वास्तव में एक ही है पर हेतुओ की अपेक्षा से वारह प्रकार की कही जाती है[1]।

चूंकि तप से निकाचित कर्मों की भी निर्जरा होती है अत उपचार से तप को निर्जरा कहते हैं[2]। तप वारह प्रकार के हैं अत कारण में कार्य का उपचार कर निर्जरा भी

१—शान्तसुधारस निर्जरा भावना २-३ :

काष्ठोपलादिरूपाणां निदानानां विभेदत ।
वह्निर्यथैकरूपोऽपि पृथग्रूपो विवक्ष्यते ॥
निर्जरापि द्वादशधा तपोभेदैस्तथोदिता ।
कर्मनिर्जरणात्मा तु सैकरूपैव वस्तुत ॥

२—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह : श्रीदेवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरण ११ भाष्य ६० :

जम्हा निकाइयाणऽवि, कम्माण तवेण होइ निज्जरण।
तम्हा उवयाराओ, तवो इह निज्जरा भणिया ॥

होती। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने इस कोटि की करणी को जिन-आज्ञा में माना है। यदि यह जिनाज्ञा में नहीं होती तो इसे अकाम निर्जरा नहीं कहा जाता।

जो अकाम निर्जरा है वह सावद्य करणी नहीं है और जो सावद्य करणी नहीं है वह जिन-आज्ञा बाह्य नहीं है।

इसलिए तत्त्व विवेचन के समय लक्ष्य और करणी को सर्वथा एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिए।

सावद्य ध्येय के पीछे प्रवृत्ति ही सावद्य हो जाती है यह कारण बताया जाये तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि निरवद्य ध्येय के पीछे प्रवृत्ति निरवद्य हो जाती है।

ऐहिक उद्देश्य से की गई तपस्या को हेतु की दृष्टि से निस्सार माना गया है उसके स्वरूप की दृष्टिसे नहीं। जहाँ स्वरूप की मीमांसा का अवसर आया वहाँ स्वामीजी ने स्पष्ट बताया कि इस कोटि की तपस्या से थोड़ी-बहुत भी निर्जरा और पुण्य-बंध नहीं होता—ऐसा नहीं है। जैसा कि उन्होंने लिखा है—"पाछे तो जो करसी सो उणने होय। पिण साधू बतायां धर्म नहीं कोय[1]।"

निष्कर्ष यह निकलता है कि सर्व श्रेष्ठ तपस्या वही है जो आत्म-शुद्धि के लिए की जाती है, जो सकाम निर्जरा है।

उद्देश्य बिना सहज भाव से भूख-प्यास आदि सहन करने से होनेवाली तपस्या अकाम निर्जरा है, यह उससे कम आत्म-शोधनकारक है।

वर्णनागनतुआ के मित्र ने वर्ण नागनतुआ का अनुकरण किया (भग० ७ ६)। यह अज्ञानपूर्वक तप है। अल्प निर्जरा कारक है।

अन्तिम दोनों प्रकार के तप अकाम निर्जरा होते हुए भी विकृति नहीं है।

१—स्वामीजी के सामने दो प्रश्न थे—पौषध कराने के लिए लड्डू खिलाने वाले को क्या होता है और लड्डू के लिए पौषध करने वाले को क्या होता है। उद्धृत गाथा में स्वामीजी ने प्रथम प्रश्न का उत्तर दिया है। दूसरे प्रश्न का उत्तर वहाँ नहीं है। दूसरे प्रश्न का उत्तर उन्होंने जो दिया वह इस प्रकार है

लाडुआ सारूं पोषा करें, तिण में जिन भाख्यों नहीं धर्म जी।
ते तो इहलोक रे अरथ करें तिणरो मूल न जाणे मर्म जी॥

ऐसी हालत में "पाछे तो जो करसी सो उणने होय।" इस अंश से जो यह निष्कर्ष निकाला गया है कि— जहाँ स्वरूप की मीमांसा का अवसर आया वहाँ स्वामीजी ने स्पष्ट बताया है कि इस कोटि की तपस्या से थोड़ी-बहुत भी निर्जरा और पुण्य बन्ध नहीं होता, ऐसा नहीं है"—वह फलित नहीं होता।

पौद्गलिक अभिसिद्धि के लिए जो तपस्या की जाती है वह स्वार्थपूर्ति की भावना होने के कारण शुद्धरूप की अपेक्षा विकृति भी है। इसीलिए ऐहिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए तपस्या नही करनी चाहिए। किन्तु कोई कर लें तो वह तपस्या सावद्य होती है ऐसा नही है।

अभव्य आत्म-कल्याण के लिए करणी नही करता सिर्फ बाह्य—दृष्टि—पूजा—प्रतिष्ठा, पौद्गलिक सुख की दृष्टि से करता है। क्या ऐसी क्रिया निर्जरा नहीं? अवश्य अकाम निर्जरा है।

निर्जरा के बिना क्षयोपशमिक भाव यानि आत्मिक उज्ज्वलता होती नही। अभव्य के भी आत्मिक उज्ज्वलता होती है। दूसरे निर्जरा के बिना पुण्य-बन्ध नही होता। पुण्य बन्ध निर्जरा के साथ ही होता है—यह ध्रुव सिद्धान्त है। अभव्य के निर्जरा धर्म और पुण्य बन्ध दोनो होते हैं। निर्जरा के कारण वह अशरूप में उज्ज्वल रहता है। पुण्य-बन्ध से सद्गति में जाता है। इहलोक आदि की दृष्टि से की गयी तपस्या लक्ष्य की दृष्टि से अशुद्ध है किन्तु करणी की दृष्टि से अशुद्ध नही है।"

२—निर्जरा, निर्जरा की करनी और उसकी प्रक्रिया (गा० १-४) :

ठाणाङ्ग सूत्र मे कहा है—'एगा णिज्जरा' (१ १६)—निर्जरा एक है। दूसरी ओर 'बारसहा निज्जरा सा उ' निर्जरा बारह प्रकार की है, ऐसा माना जाता है। इसका कारण यह है कि जैसे अग्नि एक रूप होने पर भी निमित्त के भेद से काष्ठाग्नि, पाषाणाग्नि—इस प्रकार पृथक्-पृथक् सज्ञा को प्राप्त हो अनेक प्रकार की होती है वैसे ही कर्मपरिशाटन रूप निर्जरा तो वास्तव में एक ही है पर हेतुओ की अपेक्षा से बारह प्रकार की कही जाती है[1]।

चूकि तप से निकाचित कर्मों की भी निर्जरा होती है अत उपचार से तप को निर्जरा कहते हैं[2]। तप बारह प्रकार के हैं अत कारण मे कार्य का उपचार कर निर्जरा भी

१—शान्तसुधारस · निर्जरा भावना २-३ :

काष्ठोपलादिरूपाणां निदानानां विभेदत ।
वह्निर्यथैकरूपोऽपि पृथग्रूपो विवक्ष्यते ॥
निर्जरापि द्वादशधा तपोभेदैस्तथोदिता ।
कर्मनिर्जरणात्मा तु सैकरूपैव वस्तुत ॥

२—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह श्रीदेवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरण ११ भाष्य ६० :

जम्हा निकाइयाणऽवि, कम्माण तवेण होइ निज्जरण।
तम्हा उवयाराओ, तवो इह निज्जरा भणिया ॥

बारह प्रकार की कही गई है। कनकावलि आदि तप के और भी अनेक भेद हैं। उनकी अपेक्षा से निर्जरा के भी अनेक भेद हैं[1]।

श्री अभयदेव लिखते हैं— अष्टविध कर्मों की अपेक्षा निर्जरा आठ प्रकार की है। द्वादश विध तपों से उत्पन्न होने के कारण निर्जरा बारह प्रकार की है। अकाम क्षुधा पिपासा शीत आतप दंश-मशक और मल-सहन ब्रह्मचर्य-धारण आदि अनेक विध कारण जनित होने से निर्जरा अनेक प्रकार की है[2]।

निर्जरा की परिभाषाएं चार प्रकार की मिलती हैं

१—'अनुभूयरसाणं कम्मपुग्गलाणं परिसडणं निज्जरा। सा दुविहा पण्णत्ता सकामा अकामा य[3]।' वेदना—फलानुभाव के बाद अनुभूतरस कर्म-पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों से छूटना निर्जरा है। यह अकाम और सकाम दो प्रकार की है।

इसका मर्म है—कर्मों की वेदना अनुभूति होती है, निर्जरा नहीं होती। निर्जरा अकर्म की होती है। वेदना के बाद कर्म-परमाणुओं का कर्मत्व नष्ट हो जाता है, फिर निर्जरा होती है[4]।

कर्म परमाणुओं का कर्मत्व नष्ट हो जाता है, फिर निर्जरा होती है यह बात निम्न वार्तालाप से स्पष्ट हो जायगी[5]:

हे भगवन्! जो वेदना है क्या वह निर्जरा है और जो निर्जरा है वह वेदना?"

हे गौतम! यह अर्थ योग्य नहीं। कारण वेदना कर्म है और निर्जरा नो-कर्म।"

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : श्री देवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरण ११ :

अणसणमेयाइ तवा बारसहा तेण निज्जरा होइ।

कम्मावलिभेया वा अहव तवोऽणेगहा भणिओ॥

२—ठाणाङ्ग १.१६ टीका :

सा चाष्टविधकर्मापेक्षयाऽष्टविधाऽपि द्वादशविधतपोजन्यत्वेन द्वादशविधाऽपि अकाम-क्षुत्पिपासाशीतातपदंशमशकमलसहनब्रह्मचर्यधारणाद्यनेकविधकारणजनित

३—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्व प्रकरण अ० ६

४—ठाणाङ्ग १.१६ टीका :

अनुभूतरसं कर्म प्रदेशेभ्यः परिपतति इति वेदनानन्तरं कर्मपरिशटनरूपा निर्जरा

५—भगवती ७.३

"हे भगवन् ! जो वेदा गया क्या वह निर्जरा-प्राप्त है और जो निर्जरा-प्राप्त है वह वेदा गया ?"

"हे गौतम ! यह अर्थ योग्य नही। कारण कर्म वेदा गया होता है और नो-कर्म निर्जरा-प्राप्त।"

"हे भगवन् ! जिसको वेदन करता है क्या जीव उसकी निर्जरा करता है और जिसकी निर्जरा करता है उसका वेदन ?"

"हे गौतम ! यह अर्थ योग्य नही। कारण जीव कर्म को वेदन करता है और नो-कर्म की निर्जरा।"

"हे भगवन् ! जिसका वेदन करेगा क्या उसकी निर्जरा करेगा और जिसकी निर्जरा करेगा उसी का वेदन ?"

"हे गौतम ! यह अर्थ योग्य नही। कारण वह कर्म का वेदन करेगा और नो-कर्म की निर्जरा।"

"हे भगवन् ! जो वेदना का समय है क्या वही निर्जरा का समय है और जो निर्जरा का समय है वही वेदना का ?"

"हे गौतम ! यह अर्थ योग्य नही। कारण जिस समय वेदन करता है उस समय निर्जरा नही करता और जिस समय निर्जरा करता है उस समय वेदन नही करता। अन्य समय वेदन करता है, अन्य समय निर्जरा करता है, वेदन का समय भिन्न है और निर्जरा का समय भिन्न है।"

उक्त प्रथम परिभाषा में कर्मों का स्वत झडना और तप से झडना दोनो का समावेश होता है।

२—'सा पुण देसेण कम्मखओ[१]'—देशरूप कर्म-क्षय निर्जरा है।

'अनुभूतरसकर्म' अर्थात् 'अकर्म' को उपचार से कर्म मान कर ही यह परिभाषा की गई है अत पहली और इस दूसरी परिभाषा में कोई अन्तर नहीं।

३—"महा ताप से तालाब का जल शोषण को प्राप्त होता है वैसे ही जिससे पूर्वनिबद्ध कर्म निर्जरा को प्राप्त होते हैं, उसे निर्जरा कहते हैं। वह बारह प्रकार की है[२]।" "ससार के बीजभूतकर्म जिससे जीर्ण हो, उसे निर्जरा कहते हैं[३]।"

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह . देवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरण गा० ११ का भाष्य ६५

२—(क) नवतत्त्वसाहित्य सग्रह . देवेन्द्रसूरिकृत नवतत्त्वप्रकरण गा० ७६ :

पुव्वनिबद्धं कम्मं, महातवेणं सरंमि सलिलं व ।
निज्जिज्जइ जेण जिए, बारसहा निज्जरा सा उ॥

३—वही . हेमचन्द्रसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १२७ :

कर्मणां भवहेतूनां, जरणादिह निर्जरा ।

यह परिभाषा हेतु प्रधान है। जिन हेतुओं से निर्जरा होती है उन्हें ही उपचार से कार्य मानकर यह परिभाषा दी गई है। निर्जरा के हेतु बारह प्रकार के तप हैं, उन्हें ही यहाँ निर्जरा कहा है[1]।

४—स्वामीजी के अनुसार देशरूप कर्मों का क्षय कर आत्मा का देशरूप उज्ज्वल होना निर्जरा है। इस परिभाषा के अनुसार निर्जरा कार्य है और जिससे निर्जरा होती है, वह निर्जरा की करनी है। निर्जरा एक है और निर्जरा की करनी बारह प्रकार की। कर्मों का देशरूप क्षय कर आत्म प्रदेशों का देशतः निर्मल होना निर्जरा है और बारह प्रकार के तप जिनसे निर्जरा होती है, निर्जरा की करनी के भेद हैं। स्वामीजी कहते हैं—'निर्जरा' और 'निर्जरा की करनी'—दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं—एक नहीं।

निर्जरा पदार्थ के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं—

"देशतः (अंशतः) कर्मों को तोड़कर जीव का देशतः (अंशतः) उज्ज्वल होना निर्जरा है। इसे समझने के लिए तीन दृष्टान्त हैं—

(१) जिस तरह तालाब के पानी को मोरी आदि द्वारा निकाला जाता है, उसी तरह भले भाव की प्रवृत्ति द्वारा कर्म को दूर करना निर्जरा है।

(२) जिस तरह मकान का कचरा झाड़-बुहार कर बाहर निकाला जाता है, उसी तरह भले भाव की प्रवृत्ति द्वारा कर्म को बाहर निकालना निर्जरा है।

(३) जिस तरह नाव का जल उलीच कर बाहर फेंक दिया जाता है, उसी तरह भले भावों की प्रवृत्ति द्वारा कर्मों को बाहर करना निर्जरा है[2]।"

स्वामीजी ने गाथा १४ में आत्मा को विशुद्ध करने की प्रक्रिया को धोबी के रूपक द्वारा स्पष्ट किया है। धोबी द्वारा वस्त्रों को साफ करने की प्रक्रिया इस प्रकार होती है

(१) धोबी जल में साबुन डाल कपड़ों को उसमें तपाता है।

(२) फिर उन्हें पीट कर उनके मैल को दूर करता है।

१—शान्तसुधारस : निर्जरा भावना १ :

यन्निर्जरा द्वादशधा निरुक्ता।
तद् द्वादशानां तपसां विभेदात्॥
हेतुप्रभेदादिह कार्यभेदः।
स्वातन्त्र्यतस्त्वेकविधैव सा स्यात्॥

२—तेराद्वार : व्याख्याद्वार

(३) फिर उन्हें साफ जल मे खँगाल कर स्वच्छ करता है।

ऐसा करने के वाद वस्त्रो से मैल दूर हो जाता है।

स्वामीजी धोबी की तुलना को दो तरह से घटाते हैं। तप साबुन के समान है और आत्मा वस्त्र के समान। ज्ञान जल है और ध्यान स्वच्छ जल। तपरूपी साबुन लगाकर आत्मा को तपाने से, ज्ञानरूपी जल में छाटने से और फिर ध्यानरूपी जल में धोने-खँगालने से आत्मारूपी वस्त्र से लगा हुआ कर्मरूपी मैल दूर होता है और आत्मा स्वच्छ रूप में प्रकट होती है।

यदि ज्ञान को सावुन माना जाय तो तप निर्मल नीर का स्थान ग्रहण करेगा। अन्तरात्मा धोबी के समान होगी और आत्मा के निजगुण वस्त्र के समान होगे। स्वामीजी कहते हैं—"जीव ज्ञानरूपी शुद्ध सादुन और तपरूपी निर्मल नीर से अपने आत्मारूपी वस्त्र को धोकर स्वच्छ करे।"

३—निर्जरा की एकांत शुद्ध करनी (गा०५-६) :

प्रथम टिप्पणी मे यह बताया गया था कि निर्जरा चार प्रकार से होती है। उनमे से तीन प्रकार ऐसे हैं जिनमे कर्म-क्षय की भावना नही होती। जिन्हें जीव आत्मा की विशुद्धि के लक्ष्य से नही अपनाता। चौथा उपाय जीव कर्म-क्षय के लक्ष्य से अपनाता है।

यहाँ स्वामीजी कहते हैं कि निर्जरा की एकान्त शुद्ध करनी वही है जिसका एकमात्र लक्ष्य कर्म-क्षय है। जिस करनी का लक्ष्य कर्म-क्षय के अतिरिक्त अन्य कुछ नही होता, वही करनी जीव के प्रदेशो से कर्म-मैल को दूर कर आत्मा को अनन्य रूप से स्वच्छ करती है। जिस तप के साथ ऐहिक कामना—कर्म-क्षय के सिवाय अन्य आकांक्षा या भावना जुड़ी रहती है अथवा जो उद्देश्य रहित होता है उस तप से अल्प मात्रा में कर्म-क्षय होने पर भी—अकाम निर्जरा होने पर भी आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया में उसका स्थान नहीं होता। आत्म-विशुद्धि की प्रक्रिया इच्छाकृत निष्काम तपस्या ही है। वह ऐहिक-लक्ष्य के साथ नहीं चलती। उसका लक्ष्य एकान्त आत्म-कल्याण ही होता है। जो तप एकान्तत कर्म-क्षय के लिए किया जाता है वही तप विशुद्ध होता है और उमसे कर्मों का क्षय भी चरम कोटि का होता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इन चार को मोक्षमार्ग कहा गया है। यहाँ सम्यक तप का ग्रहण है। सम्यक् तप वही है जिसका लक्ष्य सम्पूर्णत आत्म-विशुद्धि हो।

मोक्ष-मार्ग मे कर्म-क्षय की ऐसी ही करनी स्वीकृत और उपादेय है। उस के बारह भेद हैं।

४—अनशन (गा० ७-६) :

स्वामीजी ने अनशन दो प्रकार का बताया है। इसका आधार निम्नलिखित आगम गाथा है

इत्तरिय मरणकाला य अणसणा दुविहा भवे ।
इत्तरिय सावकंखा निरवकंखा उ बिइज्जिया[1] ॥

इसका भावार्थ है—अनशन दो प्रकार का होता है—एक इत्वरिक—अल्पकालिक और दूसरा यावत्कथिक—यावज्जीविक । इत्वरिक तप अवकांक्षा सहित होता है और यावत्कथिक अवकांक्षा रहित ।

इत्वरिक अनशन सावधिक होने से उसमें अमुक अवधि के बाद भोजन-ग्रहण की भावना होती है इससे उसे सावकांक्ष—आकांक्षा सहित कहा है। यावत्कथिक अनशन मृत्यु-पर्यन्त का—मरणकाल पर्यन्त का होने से उसमें आहार-ग्रहण की आकांक्षा को अवकाश नहीं होता अतः उसे निरवकांक्ष—आकांक्षा रहित कहा है।

दोनों प्रकार के अनशनों का नीचे विस्तार से विवेचन किया जाता है।

१—इत्वरिक अनशन

औपपातिक सूत्र में इत्वरिक तप को अनेक प्रकार का बताते हुए उसके चौदह भेदों का उल्लेख किया गया है यथा—(१) चतुर्थभक्त—उपवास (२) षष्ठभक्त—दो दिन का उपवास (३) अष्टमभक्त—तीन दिन का उपवास (४) दसम भक्त—चार दिन का उपवास (५) द्वादसभक्त—पाँच दिन का उपवास (६) चतुर्दशभक्त—छह दिन का उपवास (७) षोडसभक्त—सात दिन का उपवास (८) अर्धमासिकभक्त—पन्द्रह दिन का उपवास (९) मासिकभक्त—एक मास का उपवास (१०) द्वैमासिकभक्त—दो मास का उपवास (११) त्रैमासिकभक्त—तीन मास का उपवास (१२) चातुर्मासिक भक्त—चार मास का उपवास (१३) पंचमासिकभक्त—पाँच मास का उपवास और (१४) षटमासिकभक्त—छह महीने का उपवास।

क्रम परम्परा के अनुसार उपवास में चार वेला का आहार छूटता है—उपवास के दिन की सुबह-शाम दो वेला का तथा पहले दिन की एक और पारणा के दिन की एक वेला का आहार। इसी कारण उपवास को चतुर्थ भक्त कहा है। बेले में—बेले के दो दिनों की चार वेला और बेले के प्रारंभ के पहले दिन की एक वेला और पारणा के दिन

१—उत्त० ३० । ९

की एक वेला—इस तरह छह वेला के भोजन का वर्जन होता है अत उसे षष्ठभक्त कहा है। आगे भी इसी तरह समझना चाहिए। ऐसा लगता है कि जैन परम्परा के अनुसार उपवास २४ घटे से अधिक का होना चाहिए। उपवास के पहले दिन सूर्यास्त होने के पहले-पहले वह आरभ होना चाहिए। उपवास के दूसरे दिन सूर्योदय के पूर्व उपवास का पारणा नही होना चाहिए[1]।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि इत्वरिक तप जघन्य से एक दिन का और उत्कृष्ट से षट् मास तक का होता है। टीका भी इसका समर्थन करती है—'इत्वरं चतुर्थादि षण्मासान्तमिद तीर्थमाश्रित्येति'[2]।

कही-कही 'नवकारसहित' को भी इत्वरिक तप कहा है पर उपवास से कम इत्वरिक तप नही होना चाहिए।

उत्तराध्ययन में यह तप छह प्रकार का बताया गया है—(१) श्रेणितप (२) प्रतरतप (३) घनतप, (४) वर्गतप, (५) वर्गवर्गतप और (६) प्रकीर्णतप[3]। सक्षेप में इनका स्वरूप इस प्रकार है

(१) श्रेणितप—ऊपर में इत्वरिक तप के जो उपवास से षट्मासिक तप तक के भेद बताये गये हैं, उन्हें क्रमश निरन्तर एक के बाद एक करने को श्रेणितप कहते हैं, यथा—उपवास के पारणा के दूसरे दिन वेला करना दो पद का श्रेणितप है। उपवास कर, वेला कर, तेला कर, चोला करना—चार पदो का श्रेणितप है। इस तरह एक उपवास से क्रमश षट्-मासिक तप की अनेक श्रेणियाँ हो सकती हैं। पक्ति उपलक्षित तप को श्रेणितप कहते हैं[4]।

१—ठाणाङ्ग ३ ३ १८२ की टीका ·
एकं पूर्वदिने द्वे उपवासदिने चतुर्थं पारणकदिने भक्तं—भोजन परिहरति यत्र तपसि तत् चतुर्थभक्तम्

२—ठाणाङ्ग ५ ३ ५१२ की टीका

३—उत्त० ३०.१०-११

जो सो इत्तरियतवो सो समासेण छव्विहो ।
सेढितवो पयरतवो घणो य तह होइ वग्गो य ॥
तत्तो य वग्गवग्गो पचमो छट्ठओ पइण्णतवो ।
मणइच्छियचित्तत्थो नायव्वो होइ इत्तिरिओ ॥

४—उत्त० ३० १० की नेमिचन्द्रीय टीका
पङ्क्तिस्तदुपलक्षित तप श्रेणितप

(२) प्रतरतप—एक श्रेणितप को जितने क्रम प्रकारों से किया जा सकता है उन सब क्रम प्रकारों को मिलाने से 'प्रतरतप' होता है। उदाहरण स्वरूप उपवास बेला तेला और चौला—इन चार पदों की श्रेणि लें। इसके निम्नलिखित चार क्रम-प्रकार बनते हैं

क्रम प्रकार	१	२	३	४
१	उपवास	बेला	तेला	चौला
२	बेला	तेला	चौला	उपवास
३	तेला	चौला	उपवास	बेला
४	चौला	उपवास	बेला	तेला

यह प्रतरतप है। इसमें कुल पदों की संख्या १६ है। इस तरह यह तप श्रेणि को श्रेणिपदों से गुणा करने से बनता है (श्रेणिरेव श्रेण्या गुणिता प्रतर तप उच्यते—श्री नेमिचन्द्राचार्य)

(३) घनतप—जितने पदों की श्रेणि है प्रतर को उतने पदों से गुणा करने से घनतप बनता है (पदचतुष्टयात्मिकया श्रेण्या गुणितो घनो भवति—श्री नेमिचन्द्राचार्य)। यहाँ चार पदों की श्रेणि है। अतः उपर्युक्त प्रतर तप को चार से गुणा करने से अर्थात् उसे चार बार करने से घनतप होता है। घनतप के ६४ पद बनते हैं।

(४) वर्गतप—घन को घन से गुणा करने पर वर्गतप बनता है (घन एव घनेन गुणितो वर्गो भवति—श्री नेमिचन्द्राचार्य) अर्थात् घनतप को ६४ बार करने से वर्गतप बनता है। इसके ६४×६४=४०९६ पद बनते हैं।

(५) वर्गवर्गतप—वर्ग को वर्ग से गुणा करने पर वर्गवर्गतप बनता है (वर्ग एव यदा वर्गेण गुणितस्तदा वर्गवर्गो भवति—वही) अर्थात् वर्गतप को ४०९६ बार करने से वर्गवर्गतप बनता है। इसके ४०९६×४०९६=१६७७७२१६ पद बनते हैं।

(६) प्रकीर्णतप—यह तप श्रेणि आदि निश्चित पदों की रचना किए ही अपनी शक्ति अनुसार किया जाता है (श्रेण्यादिनियत रचनाविरहितं स्वशक्त्यपेक्षं—वही)। यह अनेक प्रकार का है।

उत्तराध्ययन (३० : ११) में इत्वरिक तप के विषय में कहा है—सेढितवो पयरतवो घणो य तह होइ वग्गो य। तत्तो य वग्गवग्गो पंचमओ छट्ठओ पइण्णतवो॥ इसका अर्थ श्री नेमिचन्द्राचार्य कृत उत्तराध्ययन की टीका के अनुसार इस प्रकार होता है।

"मनस ईप्सित'—इष्ट , चित्र'—अनेक प्रकार ; अर्थ—स्वर्गापवर्गादि तेजो-लेश्यादिर्वा यस्मात् तद् मनईप्सितचित्रार्थं ज्ञातव्यं भवति इत्वरक तप ।"

दसवैकालिक में इहलोक और परलोक के लिए तप करना वर्जित है। वैसी हालत में इत्वरिक तप स्वर्ग तेजोलेश्यादि मनोवाञ्छित अर्थ के लिए किया जा सकता है या किया जाता है[1]—ऐसा अर्थ सूत्र की गाथा का है या नही, यह जानना आवश्यक है।

आचार्य श्री आत्मारामजी ने इसका अर्थ भिन्न किया है—"मनोवांछित स्वर्गापवर्ग फलो को देनेवाला यह इत्वरिक तप सावधिक तप है" (उत्तराध्ययन अनुवाद भाग ३ पृ० ११३७)। श्री सन्तलालजी ने भी अपने अनुवाद में प्राय ऐसा ही अर्थ किया है (देखिए पृ० २७८)। यह अर्थ भी ठीक है या नही, देखना रह जाता है।

इस पद का शब्दार्थ है—"मनइच्छित विचित्र अर्थवाला इत्वरिक तप जानने योग्य है"। इसका भावार्थ है—इत्वरिक तप करने वाले की इच्छानुसार विचित्र होता है—वह एक दिन से लगाकर छह मास तक का हो सकता है। वह इच्छा अनुसार भिन्न-भिन्न रूप से किया जा सकता है। करनेवाला चाहे तो उसे श्रेणितप के रूप में कर सकता है या अन्य किसी रूप में। विचित्र अर्थवाला—इसका तात्पर्य यहाँ यह नही है कि वह स्वर्ग-अपवर्ग आदि भिन्न-भिन्न फल—हेतुओ के लिए किया जा सकता है। यहाँ 'अर्थ' का पर्याय शब्द फल—हेतु नही लगता। इसमें सन्देह नही कि तप स्वर्ग-अपवर्ग आदि भिन्न-भिन्न फलो को दे सकता है पर 'अर्थ' शब्द का व्यवहार यहाँ फल के रूप मे हुआ नही लगता। इस तप के औपपातिक और उत्तराध्ययन में जो अनेक प्रकार बताये गए हैं और जो ऊपर वर्णित हैं, वे इत्वरिकतप की विचित्रता के प्रचुर प्रमाण हैं। इत्वरिकतप करनेवाले की इच्छा या सामर्थ्य के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ—प्रकार—अभिव्यजना—प्रतिपत्ति—रचना—रूप को लेकर हो सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर हमने इस पद का अर्थ किया है—मनइच्छित—मन अनुसार, विचित्र—नाना प्रकार के, अर्थ—रूप-भेद वाला इत्वरिक तप है।

२—यावत्कथिक अनशन ·

यावत्कथिक—मारणान्तिक अनशन दो प्रकार का कहा गया है —(१) सविचार और (२) अविचार[2]। यह भेद काय-चेष्टा के आश्रय से है।

१—डॉ० याकोबी आदि ने ऐसा ही अर्थ किया है। (देखिए सी. बी ई वो० ४० पृ० १७५)

२—उत्त० ३० १२ :

जा सा अणसणा मरणे दुविहा सा वियाहिया।
सवियारमवियारा कायचिट्ठ पई भवे॥

जिसमें उद्वर्तनादि आवश्यक शारीरिक क्रियाओं का विचार हो—उनके लिए अवकाश हो—वे की जा सकती हों उसे सविचार मारणांतिक अनशन कहते हैं। जिसमें किसी भी प्रकार की शारीरिक क्रियाओं का विचार न हो—उनके लिए अवकाश न हो—वे न की जा सकती हों वह अविचार मारणांतिक अनशन कहलाता है।

औपपातिक में यावत्कथिक—मारणांतिक अनशन दो प्रकार का कहा गया है—(१) पादोपगमन और (२) भक्तप्रत्याख्यान। समवायाङ्ग सम १७ में इस अनशन के तीन भेद बताये हैं—(१) पादोपगमन (२) इंगिनी और (३) भक्तप्रत्याख्यान। इन तीनों भेदों के लक्षण इस प्रकार हैं

(१) पादोपगमन :

चारों प्रकार के आहार का जीवनपर्यन्त के लिए त्याग कर किसी खास संस्थान में स्थित हो यावज्जीवन पतित पादप की तरह निश्चल रहकर जो किया जाय उसे पादोपगमन अनशन कहते हैं। पादप सम विषम जैसी भी भूमि पर जिस रूप में गिर पड़ता है वहाँ उसी रूप में निष्कंप पड़ा रहता है। गिरे हुए पादप की उपमा से शरीर की सारी क्रियाओं को छोड़ एक स्थान पर किसी खास मुद्रा में स्थित हो निष्कंप रह जो अनशन किया जाय वह पादोपगमन है। कहा है :

समविसमम्मि य पडिओ अच्छइ सो पायवो व्व निक्कंपो।
चलणं परप्पओगा णवर दुमस्सेव तस्स भवे[1] ॥

(२) इंगिनीमरण

इंगित देश में स्वयं चार प्रकार के आहार का त्याग करे और उद्वर्तन-वर्तन वगैरह खुद करे पर दूसरों से न करावे वह इंगिनीमरण कहलाता है। इस मरण में चार प्रकार के आहार का त्याग कर इंगित—नियत देश के अन्दर रहना पड़ता है और चेष्टाएं भी इसी नियत देश-क्षेत्र में ही की जा सकती हैं। इसके लक्षण को बतलानेवाली निम्न गाथा स्मरण रखने जैसी है :

इंगियदेसंमि सयं चउव्विहाहारचायनिप्फन्नं।
उव्वत्तणाइजुत्तं नऽन्नेण उ इंगिणीमरणं[2] ॥

इसे इंगितमरण भी कहा जाता है।

१—उत्त० ३० : ११ की टीका में उद्धृत

२—ठाणाङ्ग २ ४ १ २ की टीका में उद्धृत

(२) भक्तप्रत्याख्यान :

भक्तप्रत्याख्यान या भक्तपरिज्ञा अनशन तीन अथवा चार प्रकार के आहार-त्याग से निष्पन्न होता है। यह नियम से सप्रतिकर्म—जिस प्रकार समाधि हो शरीर की वैसी ही प्रतिक्रिया से युक्त कहा गया है। भक्तप्रत्याख्यान अनशन करनेवाला स्वय उद्वर्त्तन-परिवर्तन करता है और समर्थ न होने पर समाधि के लिए थोडा अप्रतिबद्धरूप से दूसरे से भीकराता है। इसके लक्षण बतलानेवाली निम्नलिखित गाथाएँ स्मरण रखने योग्य हैं[१]

भत्तपरिन्नाणसणं तिचउव्विहाहारचायणिप्फन्नं ।
सप्पडिकम्म नियमा जहासमाही विणिद्दिट्ठं ॥
उव्वत्तइ परियत्तइ, सयमन्नेणावि कारए किंचि ।
जत्थ समत्थो नवर, समाहिजणय अपडिबद्धो ॥

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पादोपगमन और इगिनी मे चार प्रकार के आहार का त्याग होता है और भक्तप्रत्याख्यान में तीन प्रकार के आहार का भी त्याग हो सकता है। पादोपगमन सर्व चेष्टाओ से रहित होता है। इगिनीमरण मे दूसरे का सहारा लिए बिना नियत चेष्टाएँ की जा सकती हैं और भक्तप्रत्याख्यान में दूसरे के सहारे से भी चेष्टाएँ की जा सकती हैं। दूसरे शब्दो मे पादोपगमन अविचार अनशन है और इगिनी मरण तथा भक्तप्रत्याख्यान सविचार अनशन है। पादोपगमन में जो स्थान ग्रहण किया हो उससे लेशमात्र भी इधर-उधर नही हुआ जा सकता अर्थात् पतित-पादप की तरह उसी स्थान पर बिना हिले-डुले रहना पडता है। इगिनी मे नियत स्थान में हलचल की जा सकती है। भक्तप्रत्याख्यान में क्षेत्र की नियति नही होती अत लम्बा विहार आदि किया जा सकता है।

व्याघात और निर्व्याघात भेद

पादोपगमन अनशन और भक्तप्रत्याख्यान दोनो दो-दो प्रकार के कहे गये हैं—(१) व्याघात और (२) निर्व्याघात।

सिंह, दावानल आदि उपसर्गों से अभिभूत होने पर हटात् जो अनशन किया जाता है, वह व्याघात और बिना ऐसी परिस्थितियो के यथाकाल किया जाय, वह निर्व्याघात अनशन है।

१—(क) ठाणाङ्ग २ ४ १०२ की टीका में उद्धृत
(ख) उत्त० ३० १२ की टीका में उद्धृत

जिसमें उद्वर्तनादि आवश्यक शारीरिक क्रियाओं का विचार हो—उनके लिए अव काश हो—वे की जा सकती हों उसे सविचार मारणांतिक अनशन कहते हैं। जिसमें किसी भी प्रकार की शारीरिक क्रियाओं का विचार न हो—उनके लिए अवकाश न हो—वे न की जा सकती हों वह अविचार मारणांतिक अनशन कहलाता है।

औपपातिक में यावत्कथिक—मारणांतिक अनशन दो प्रकार का कहा गया है—(१) पादोपगमन और (२) भक्तप्रत्याख्यान। समवायाङ्ग सम० १७ में इस अनशन के तीन भेद बताये हैं—(१) पादोपगमन (२) इंगिनी और (३) भक्तप्रत्याख्यान। इन तीनों भेदों के लक्षण इस प्रकार हैं

(१) पादोपगमन :

चारों प्रकार के आहार का जीवनपर्यन्त के लिए त्याग कर किसी खास संस्थान में स्थित हो यावज्जीवन पतित पादप की तरह निश्चल रहकर जो किया जाय उसे पादोपगमन अनशन कहते हैं। पादप सम विषम जैसी भी भूमि पर जिस रूप में गिर पड़ता है वहाँ उसी रूप में निष्कंप पड़ा रहता है। गिरे हुए पादप की उपमा से शरीर की सारी क्रियाओं को छोड़ एक स्थान पर किसी खास मुद्रा में स्थित हो निष्कंप रह जो अनशन किया जाय वह पादोपगमन है। कहा है :

समविसमम्मि य पडिओ अच्छइ सो पायवो व्व निक्कंपो।

चलणं परप्पओगा नवरं दुमस्सेव तस्स भवे[१] ॥

(२) इंगिनीमरण

इंगित देश में स्वयं चार प्रकार के आहार का त्याग करे और उद्वर्तन-मर्दन वगैरह खुद करे पर दूसरों से न करावे वह इंगिनीमरण कहलाता है। इस मरण में चार प्रकार के आहार का त्याग कर इंगित—नियत देश के अन्दर रहना पड़ता है और चेष्टाएं भी इसी नियत देश भाग में ही की जा सकती हैं। इसके लक्षण को बतलानेवाली निम्न गाथा स्मरण रखने जैसी है :

इंगियदेसम्मि सयं चउव्विहाहारचायनिप्फन्नं।

उव्वत्तणाइजुत्तं नऽन्नेण उ इंगिणीमरणं[२] ॥

इसे इंगितमरण भी कहा जाता है।

१—उत्त० ३० ११ की टीका में उद्धृत

२—ठाणाङ्ग २ ४ १०२ की टीका में उद्धृत

निर्हारिम और अनिर्हारिम शब्दो की व्याख्याएँ निम्न रूप में मिलती हैं :

(क) जो वसति या उपाश्रय के एक भाग मे किया जाता है जिससे कि कलेवर को उस आश्रय से निकालना पडता है, वह निर्हारिम अनशन है। जो गिरिकदरादि में किया जाता है, वह अनिर्हारिम अनशन कहलाता है (भगवती २५.७, ठाणाङ्ग २ ४ १०२ टीका)।

(ख) जो गिरिकन्दरादि मे किया जाता है जिससे ग्रामादि के बाहर गमन करना होता है, वह निर्हारि और उससे विपरीत जो व्रजिकादि मे किया जाता है और जिसमे शव उठाया जाय ऐसी अपेक्षा है, वह अनिर्हारी कहा जाता है[1]।

(ग) जो ग्रामादि के बाहर गिरिकदरादि मे किया जाता है, वह निर्हारिम। जो शव उठाया जाय इस कामना से व्रजिकादि मे किया जाता है और जिसका अन्त वही होता है, वह अनिर्हारी कहलाता है—

बहिया गामाईणं, गिरिकदरमाइ नीहारि।
वइयाइसु ज अतो, उट्ठेउमणाण ठाइ अणिहारि[2]॥

इन व्याख्याओ मे निर्हारिम-अनिर्हारिम शब्दो के अर्थ के विषय में मतभेद स्पष्ट है। यह देखकर एक आचार्य कहते हैं—'**परमार्थं तु बहुश्रुता विदन्ति।**'

सारांश यह है कि मारणांतिक अनशन दो तरह का होता है एक जो ग्रामादि स्थानो में किया जाता है और दूसरा जो एकांत पर्वतादि स्थानो पर किया जाता है।

पादोपगमन अनशन नियम से अप्रतिकर्म होता है और भक्तप्रत्याख्यान अनशन नियम से सप्रतिकर्म[3]।

सपरिकर्म और अपरिकर्म शब्दो का अर्थ सलेषनापूर्वक और बिना सलेषना—ऐसा ऊपर बताया जा चुका है। इनका दूसरा अर्थ भी है। **सपरिकर्म—स्थाननिषदनादि-रूपपरिकर्मयुक्तम्, अपरिकर्म—तद्विपरीतम्**[4]।

१—उत्त० ३० १२ की नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका

निर्हरण निर्हार—गिरिकन्दरादिगमनेन ग्रामादेर्बहिर्गमन तद्विद्यते यत्र तन्निर्हारि, तदन्यदनिर्हारि यदुत्थातुकामे व्रजिकादौ विधीयते

२—उत्त० ३०.१२ की नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका में उद्धृत

३—मूल शब्द 'सप्पडिकम्म' 'अप्पडिकम्मे' हैं। उत्तराध्ययन (३० १३) में मूल शब्द 'सपरिकम्मा'—सपरिकर्म, 'अपरिकम्मा'—अपरिकर्म हैं।

अप्रतिकर्म—शरीर-प्रतिक्रिया—सेवा का वर्जन जिस में हो।

सप्रतिकर्म—शरीर प्रतिक्रिया—सेवा का वर्जन जिसमें न हो।

४—उत्त० ३० १३ की श्री नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका

साधारण नियम ऐसा है कि मारणांतिक अनशन संलेखनापूर्वक किया जाना चाहिए—अर्थात् शरीर और कषायों की यथाविधि तप से संलेखना करते—उन्हें क्षीण करते हुए बाद में यथासमय यावज्जीवन आहार का त्याग करना चाहिए अन्यथा आर्तध्यान की संभावना रहती है। पर कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ बन जाती हैं कि संलेखना का अवसर ही नहीं रहता। सिंह, दावानल भूकम्प आदि ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो जाती हैं कि तुरन्त ही समाधिमरण करने की आवश्यकता हो जाती है। ऐसे समय में जब अचानक काल समीप दिखाई देने लगता है उस समय जो मारणांतिक अनशन किया जाता है, वह व्याघात कहलाता है[१]। सूत्र अर्थ और सूत्रार्थ—तीनों जाननेवाला मुमुक्षु परिकर्म—संलेखनात्मक तप कर यथासमय जो मारणांतिक अनशन करता है, वह निर्व्याघात कहा गया है[२]।

अनशन के व्याघात और निर्व्याघात भेदों को सपरिकर्म और अपरिकर्म शब्दों के द्वारा भी व्यक्त किया गया है। यथा—

अहवा सपरिकम्मा अपरिकम्मा य आहिया।
नीहारिमनीहारी आहारच्छेओ दोसु वि[३]॥

सपरिकर्म का अर्थ है जो संलेखनापूर्वक किया जाय (संलेखना सा यस्यास्ति तत् सपरिकर्म)। अपरिकर्म का अर्थ है जो संलेखना बिना किया जाय (तद्विपरीतं तु अपरिकर्म)। इस तरह स्पष्ट है कि व्याघात-निर्व्याघात और अपरिकर्म-सपरिकर्म शब्द पर्याय-वाची हैं।

निर्व्याघात पादोपगमन अनशन की विधि को बतलानेवाली ११ गाथाएं ठाण (२ ४ १ २) की टीका में उद्धृत मिलती हैं।

निर्हारिम और अनिर्हारिम भेद

पादोपगमन और भक्त प्रत्याख्यान अनशन अन्य तरह से भी दो-दो प्रकार के हैं (१) निर्हारिम और (२) अनिर्हारिम[४]।

१—उत्त १० ११ की श्री नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका :
व्याघात संलेखनामविधाय एव क्रियमाणमनशनमित्यादि

२—वही : अव्याघात क्रमसम्प्राप्तमृत्युर्भवनिर्व्याघात निष्पादितशिष्या संलेखनापूर्वकं विधत्ते।

३—उत्त ३० : १३

४—(क) भगवती : २५ ७

(ख) ठाणाङ्ग २ ४ १ ०२

इस वार्त्तालाप से भी तीन ही भेद फलित होते हैं। नीचे तीनो प्रकार के अवमोदरिका तपो का स्वरूप सक्षेप मे दिया जा रहा है

१—उपकरण अवमोदरिका

यह तीन प्रकार का होता है[1]

(क) एक वस्त्र से अधिक का उपयोग न करना।

(ख) एक पात्र से अधिक का उपयोग न करना।

(ग) चियत्तोपकरणस्वदनता। सयमीसम्मत उपकरण का धारण करना अथवा मलीन वस्त्र, उपकरण—उपधि आदि मे भी अप्रीतिभाव न करना।

साधु आगमविहित वस्त्र-पात्र रख सकता है। विध्यानुसार रखे हुए वस्त्र-पात्रो से साधु असयमी नही होता। अधिक रखनेवाला अथवा यतनापूर्वक व्यवहार नहीं करनेवाला साधु असयमी होता है—

ज वट्टइ उवगारे, उवकरण त सि होइ उवगरण।
अइरेग अहिगरण, अजओ अजयं परिहरंतो[2] ॥

साधारणत साधु के लिए अधिक वस्त्रादि का अग्रहण ही अवमोदरिका तप है। जो साधु विहित वस्त्र-पात्र-उपधि को भी न्यून करता है, वह अवमोदरिका तप करता है।

मलीन वस्त्र-पात्रो मे अप्रीतिभाव का होना उपकरण मूर्च्छा है। इस मूर्च्छा का घटाना-मिटाना उपकरण अवमोदरिका है।

२—भक्तपान अवमोदरिका

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्याय की अपेक्षा से यह तप पॉच प्रकार का बताया गया है[3]।

१—(क) ठाणाङ्ग ३ ३ १८२ ·
उवगरणोमोदरिता तिविहा पं० त०—एगे वत्थे एगे पाते चियत्तोवहिसातिज्जणता
(ख) औपपातिक सम० ३०
(ग) भगवती २५ ७

२—ठाणाङ्ग ३ ३ १८२ की टीका मे उद्धृत

३—...समासेण वियाहिय।
...पज्जवेहि य ॥

५—ऊनोदरिका (गा० १०-११)

दूसरे बाह्य तप के 'ऊणोयरिया'—ऊनोदरिका' 'ओमोयरियाओ'—अवमोदरिका' और 'ओमोयरणं' 'ओमाणं'—अवमोदर्य'—ये तीन नाम मिलते हैं।

'ऊन' और 'ओम' दोनों का अर्थ है—कम। उत्तराध्ययन में इसी अर्थ में इसका प्रयोग मिलता है[४]। 'उयर'—उदर का अर्थ है पेट। प्रमाणोपेत मात्रा से आहार की मात्रा कम रखना—पेट को न्यून हलका रखना ऊनोदरिका अथवा अवमोदरिका तप कहलाता है। उपलक्षण से सब बातों की—आहार उपधि भाव—क्रोधादि की न्यूनता के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। इसी कारण आगम में इसके तीन भेद मिलते हैं—१-उपकरण अवमोदरिका २ भक्तपान अवमोदरिका और ३-भाव अवमोदरिका[५]। इस तप के विषय में आगमों में निम्न प्रश्नोत्तर मिलता है[६]

"अवमोदरिका तप कितने प्रकार का है?" "वह दो प्रकार का है—द्रव्य अवमोदरिका और भाव अवमोदरिका।" "द्रव्य अवमोदरिका कितने प्रकार का है?" "वह दो प्रकार का है—उपकरण अवमोदरिका और भक्तपान अवमोदरिका।"

१—(क) उत्त ३ ८
(ख) समवायाङ्ग सम० ६
(ग) भगवती २५ ७
२—(क) औपपातिक सम ३
(ख) ठाणाङ्ग ३ ३ १८२
(ग) भगवती २५ ७
३—(क) उत्त ३ १४ २३
(ख) तत्त्वा ९ १९
४—उत्त ३ १५ २ २१ २४
५—ठाणाङ्ग ३ ३ १८२
तिविधा ओमोयरिया पं तं उवगरणोमोयरिया भत्तपाणोमोयरिया भावोमोयरिया
६—(क) औपपातिक सम ३
से किं तं ओमोयरियाओ? दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—दव्वोमोयरिया य भावोमोयरिया य। से किं तं दव्वोमोयरिया? दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—उवगरण दव्वोमोयरिया य भत्तपाणदव्वोमोयरिया य।
(ख) भगवती २५ ७

इस वार्त्तालाप से भी तीन ही भेद फलित होते हैं। नीचे तीनो प्रकार के अवमोदरिका तपो का स्वरूप सक्षेप मे दिया जा रहा है

१—उपकरण अवमोदरिका

यह तीन प्रकार का होता है[1]

(क) एक वस्त्र से अधिक का उपयोग न करना।

(ख) एक पात्र से अधिक का उपयोग न करना।

(ग) चियत्तोपकरणस्वदनता। सयमीसम्मत उपकरण का धारण करना अथवा मलीन वस्त्र, उपकरण—उपधि आदि में भी अप्रीतिभाव न करना।

साधु आगमविहित वस्त्र-पात्र रख सकता है। विध्यानुसार रखे हुए वस्त्र-पात्रों से साधु असयमी नही होता। अधिक रखनेवाला अथवा यतनापूर्वक व्यवहार नही करनेवाला साधु असयमी होता है—

ज वट्टइ उवगारे, उवकरण त सि होइ उवगरण।
अइरेग अहिगरण, अजओ अजयं परिहरतो[2]॥

साधारणत साधु के लिए अधिक वस्त्रादि का अग्रहण ही अवमोदरिका तप है। जो साधु विहित वस्त्र-पात्र-उपधि को भी न्यून करता है, वह अवमोदरिका तप करता है।

मलीन वस्त्र-पात्रो मे अप्रीतिभाव का होना उपकरण मूर्छा है। इस मूर्छा का घटाना-मिटाना उपकरण अवमोदरिका है।

२—भक्तपान अवमोदरिका

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्याय की अपेक्षा से यह तप पाँच प्रकार का बताया गया है[3]।

१—(क) ठाणाङ्ग ३ ३ १८२
उवगरणोमोदरिता तिविहा प० त०—एगे वत्थे एगे पाते चियत्तोवहिसातिज्जणता
(ख) औपपातिक सम० ३०
(ग) भगवती २५ ७

२—ठाणाङ्ग ३ ३ १८२ की टीका मे उद्धृत

३—उत्त० ३० १४
ओमोयरण पञ्चहा समासेण वियाहियं।
दव्वओ खेत्तकालेण भावेण पज्जवेहि य॥

५—ऊनोदरिका (गा० १०-११) :

दूसरे बाह्य तप के 'ओमोयरिया'—ऊनोदरिका[1], 'ओमोयरियाओ'—अवमोदरिका[2] और 'ओमोयरणं' 'ओमाणं'—अवमौदर्य[3]—ये तीन नाम मिलते हैं।

'ऊम' और 'ओम' दोनों का अर्थ है—कम। उत्तराध्ययन में इसी अर्थ में इनका प्रयोग मिलता है[4]। 'उयर'—उदर का अर्थ है पेट। प्रमाणोपेत मात्रा से आहार की मात्रा कम रखना—पेट को न्यून हल्का रखना ऊनोदरिका अथवा अवमोदरिका तप कहलाता है। उपलक्षण से सब बातों की—आहार, उपधि भाव—क्रोधादि की न्यूनता के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। इसी कारण आगम में इसके तीन भेद मिलते हैं—१-उपकरण अवमोदरिका २-भक्तपान अवमोदरिका और ३-भाव अवमोदरिका[5]। इस तप के विषय में आगमों में निम्न प्रश्नोत्तर मिलता है[6]:

'अवमोदरिका तप कितने प्रकार का है?" "वह दो प्रकार का है—द्रव्य अवमोदरिका और भाव अवमोदरिका।" "द्रव्य अवमोदरिका कितने प्रकार का है?" "वह दो प्रकार का है—उपकरण अवमोदरिका और भक्तपान अवमोदरिका।"

१—(क) उत्त० ३०.८
(ख) समवायाङ्ग सम० ६
(ग) भगवती २५.७

२—(क) औपपातिक सम० ३०
(ख) ठाणाङ्ग ३.३.१८२
(ग) भगवती २५.७

३—(क) उत्त० ३०.१४-२१
(ख) तत्त्वा० ९.१९

४—उत्त० ३०.१५; २१.१४

५—ठाणाङ्ग ३.३.१८२:
तिविधा ओमोयरिया पं० तं० उवगरणोमोयरिया भत्तपाणोमोदरिया भावोमोदरिया

६—(क) औपपातिक सम० ३०:
से किं तं ओमोयरियाओ? दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—दव्वोमोदरिया य भावोमोदरिया य। से किं तं दव्वोमोदरिया? दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—उवगरण-दव्वोमोदरिया य भत्तपाणदव्वोमोदरिया य।
(ख) भगवती २५.७

(ख) ग्राम आदि नाना प्रकार के क्षेत्र भिक्षा के लिए हैं। इनमे इस प्रकार अमुक ादि में ही भिक्षा करना मुझे कल्पता है—साधु का ऐसा या अन्य नियम करना क्षेत्र भक्तपान अवमोदरिका है[1]।

'इस प्रकार' शब्द विधि के द्योतक हैं। (१) पेटा (२) अर्द्धपेटा, (३) गोमूत्रिका,) पतगवीथिका, (५) शबूकावर्त्त और (६) आयतगत्वाप्रत्यागता—ये भिक्षाटन के कार हैं[2]। इनकी सक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है

(१) पेटा . एक घर से भिक्षा शुरू कर दूसरे ऐसे घरो से भिक्षा करना कि स्पर्शित ारो का एक चौकोर पेटी का आकार वन जाय, वह पेटाविधि कहलाती है।

(२) अर्द्धपेटा . एक घर से भिक्षा शुरू कर दूसरे ऐसे घरो से भिक्षा करना कि स्पर्शित घरो का एक अर्द्ध पेटा का आकार वन जाय, वह अर्द्धपेटा विधि कहलाती है।

(३) गोमूत्रिका गोमूत्रिका की तरह भिक्षाटन करना गोमूत्रिका विधि कहलाती है। एक पक्ति के एक घर में जाकर सामने की पक्ति के घर मे जाना, फिर पहली पक्ति के घर मे जाना गोमूत्रिका विधि कहलाती है।

(४) पतंगवीथिका : पतग के उडने की तरह अनियत क्रम से भिक्षा करना अर्थात् एक घर से भिक्षा ले फिर कई घर छोडकर फिर किसी घर मे भिक्षा लेना पतगवीथिका विधि कहलाती है।

(५) शबूकावर्त्त जिस भिक्षाटन में शख के आवृत्त की तरह पर्यटन हो, उसे शबूकावर्त्त विधि कहते हैं।

(६) आयतंगत्वाप्रत्यागता एक पक्ति के घरो से भिक्षा लेते हुए आगे क्षेत्र पर्यन्त

१—उत्त० ३० १६-१८ :

गामे नगरे तह रायहाणिनिगमे य आगरे पल्ली।
खेडे कव्वडदोणमुहपट्टणमडम्बसबाहे ॥
आसमपए विहारे सन्निवेसे समायघोसे य।
थलिसेणाखन्धारे सत्थे सवट्टकोट्टे य ॥
वाडेसु व रच्छासु व घरेसु वा एवमित्तिय खेत्त।
कप्पइ उ एवमाई एव खेत्तेण ऊ भवे॥

२—वही . ३० १९ :

पेडा य अद्धपेडा गोमुत्तिपयगवीहिया चेव।
सम्बुक्कावट्टाययगन्तुपच्चागया छट्ठा ॥

(ख) ग्राम आदि नाना प्रकार के क्षेत्र भिक्षा के लिए हैं। इनमे इस प्रकार अमुक ादि में ही भिक्षा करना मुझे कल्पता है—साधु का ऐसा या अन्य नियम करना क्षेत्र भक्तपान अवमोदरिका है[1]।

'इस प्रकार' शब्द विधि के द्योतक हैं। (१) पेटा (२) अर्द्धपेटा, (३) गोमूत्रिका,) पतगवीथिका, (५) शबूकावर्त्त और (६) आयतगत्वाप्रत्यागता—ये भिक्षाटन के ार हैं[2]। इनकी सक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है .

(१) पेटा . एक घर से भिक्षा शुरू कर दूसरे ऐसे घरो से भिक्षा करना कि स्पर्शित ो का एक चौकोर पेटी का आकार बन जाय, वह पेटाविधि कहलाती है।

(२) अर्द्धपेटा . एक घर से भिक्षा शुरू कर दूसरे ऐसे घरो से भिक्षा करना कि र्शित घरो का एक अर्द्ध पेटा का आकार बन जाय, वह अर्द्धपेटा विधि कहलाती है।

(३) गोमूत्रिका गोमूत्रिका की तरह भिक्षाटन करना गोमूत्रिका विधि कहलाती । एक पक्ति के एक घर में जाकर सामने की पक्ति के घर मे जाना, फिर पहली पक्ति ः घर मे जाना गोमूत्रिका विधि कहलाती है।

(४) पतगवीथिका . पतग के उडने की तरह अनियत क्रम से भिक्षा करना अर्थात् एक घर से भिक्षा ले फिर कई घर छोडकर फिर किसी घर में भिक्षा लेना पतगवीथिका विधि कहलाती है।

(५) शबूकावर्त्त जिस भिक्षाटन में शख के आवृत्त की तरह पर्यटन हो, उसे शबूकावर्त्त विधि कहते हैं।

(६) आयतगत्वाप्रत्यागता : एक पक्ति के घरो से भिक्षा लेते हुए आगे क्षेत्र पर्यन्त

१—उत्त० ३० १६-१८ :

गामे नगरे तह रायहाणिनिगमे य आगरे पल्ली।
खेडे कव्वडदोणमुहपट्टणमडम्बसबाहे ॥
आसमपए विहारे सन्निवेसे समायघोसे य।
थलिसेणाखन्धारे सत्थे सवट्टकोट्टे य ॥
वाडेसु व रच्छासु व घरेसु वा एवमित्तिय खेत्त।
कप्पइ उ एवमाई एव खेत्तेण ऊ भवे ॥

२—वही : ३० १६ :

पेडा य अद्धपेडा गोमुत्तिपयगवीहिया चेव।
सम्बुक्कावट्टायययगन्तुपच्चागया छट्ठा ॥

चला जाना और फिर लौटते हुए दूसरी पंक्ति के घरों से भिक्षा लेना आयतंगत्वा प्रत्यागता अथवा गत्वाप्रत्यागता विधि कहलाती है।

(ग) दिवस की चारों पौरुषियों में जितना काल रखा हो उस नियत काल में साधु का भिक्षाटन करना काल अवमौदर्य है। अथवा तीसरी पौरुषी कुछ कम हो जाने पर या चौथाई भाग कम हो जाने—बीत जाने पर आहार की गवेषणा करना काल से भक्तपान अवमोदरिका है[१]।

आगम में तीसरी पौरुषी में भिक्षा करने का विधान है। तीसरी पौरुषी के भी थोड़ा बड़ी प्रमाण चार भाग होते हैं। इन चार भागों में से किसी अमुक भाग में ही भिक्षा के लिए जाने का अभिग्रह काल की अपेक्षा से अवमोदरिका है क्योंकि इसमें भिक्षा के विहित काल को भी न्यून—कम कर दिया जाता है।

(घ) स्त्री अथवा पुरुष अलंकृत अथवा अनलंकृत अमुक वयस्क अथवा अमुक प्रकार के वस्त्र को धारण करनेवाला अन्य किसी विशेषता—रूप आदि को प्राप्त अथवा विशेष वर्णभाषा—इन भावों से संयुक्त कोई देगा तो ग्रहण करूँगा—साधु का इस प्रकार अभिग्रह पूर्वक भिक्षाटन करना भाव से भक्तपान अवमौदर्य है[२]।

(ङ) द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विषय में जो भाव कथन किये गये हैं उन सब भावों—पर्यायों से साधु का भक्तपान अवमोदरिका करना पर्याय अवमौदर्य कहलाता है। ऐसा भिक्षु पर्यवचरक कहलाता है[३]।

१—उत्त० ३० २०-२१ :

दिवसस्स पोरुसीणं चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो।
एवं चरमाणो खलु कालोमाणं मुणेयव्वं ॥
अहवा तइयाए पोरिसीए ऊणाइ घासमेसन्तो।
चउभागूणाए वा एवं कालेण ऊ भवे ॥

२—उत्त० ३० २२-२३ :

इत्थी वा पुरिसो वा अलंकिओ वा नलंकिओ वा वि।
अन्नयरवयत्थो वा अन्नयरेणं व वत्थेणं ॥
अन्नेण विसेसेणं वण्णेणं भावमणुमुयन्ते उ।
एवं चरमाणो खलु भावोमाणं मुणेयव्वं ॥

३— वही ३० २४ :

दव्वे खेत्ते काले भावम्मि य आहिया उ जे भावा।
एएहिं ओमचरओ पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥

३—भाव अवमोदरिया :

यह तप अनेक प्रकार का कहा गया है, यथा—(क) अल्पक्रोध—क्रोध को कम करना, (ख) अल्पमान—मान को कम करना, (ग) अल्प माया—माया को अल्प करना, (घ) अल्पलोभ—लोभ को कम करना (ङ) अल्पशब्द—बोलने को घटाना और (च) अल्पझझा—झझा को कम करना। (छ) अल्प तू-तू—तू-तू, मैं-मैं को कम करना[1]।

वाचक उमास्वाति ने अवमौदर्य के स्वरूप को बतलाते हुए लिखा है—"अवम' शब्द ऊन—न्यून का पर्याय वाचक है। इसका अर्थ कम या खाली होता है। कम पेट—खाली पेट रहना अवमौदर्य है। उत्कृष्ट और जघन्य को छोडकर मध्यम कवल की अपेक्षा से यह तप तीन प्रकार का होता है—अल्पाहार अवमौदर्य, उपधि अवमौदर्य और प्रमाणप्राप्त से किंचित् ऊन अवमौदर्य। कवल का प्रमाण बत्तीस कवल से पहले का ग्रहण करना चाहिए[2]।'

वाचक उमास्वाति के अनुसार साधु को ज्यादा-से-ज्यादा बत्तीस कवल आहार लेना चाहिए। एक ग्रास और बत्तीस ग्रास को छोडकर मध्य के दो से लेकर इकतीस ग्रास तक का आहार लेना अवमौदर्य तप है। दो, चार, छह आदि अल्प ग्रास लेने को अल्पाहार अवमौदर्य, आधे के करीब—पद्रह-सोलह ग्रास लेने को उपधि अवमौदर्य और इकतीस ग्रास के आहार तक को प्रमाणप्राप्त से किंचित् ऊन अवमौदर्य कहते हैं।

उमास्वाति ने एक ग्रास ग्रहण को अवमौदर्य क्यो नही माना—यह समझ में नही आता। पूर्ण आहार न करना जब अवमौदर्य है तब उसे भी ग्रहण करना चाहिए था। श्री अकलङ्कदेव ने उसे ग्रहण किया है—"आशितभवो य ओदन: तस्य चतुर्भागे-मार्द्धग्रासेन वा अवममून उदरमस्यासाववमोदर, अवमोदरस्य भाव कर्म वा अवमो-दर्यम्[3]।

१—(क) औपपातिक सम० २० :

से किं त भावोमोयरिया ? २ अणेगविहा पराणत्ता। त जहा—अप्पकोहे अप्पमाणे अप्पमाए अप्पलोहे अप्पसद्दे अप्पझझे

(ख) भगवती २५ ७ :

भावोमोयरिया अणेगविहा प० तं—अप्पकोहे जाव—अप्पलोभे, अप्पसद्दे, अप्पझझे अप्पतुमतुमे। सेत्त भावोमोयरिया

२—तत्त्वा० ९ १९ भाष्य २

३—तत्त्वा० ९.१९ राजवार्तिक ३

आ० पूज्यपाद ने संयम की जागृति, दोषों के प्रशम तथा सन्तोष और स्वाध्याय की सुखपूर्वक सिद्धि के लिए इसे आवश्यक बताया है[1]।

६—भिक्षाचर्या तप (गा०१२)

उत्तराध्ययन, औपपातिक, भगवती और ठाणाङ्ग में इस तप का यही नाम मिलता है।

इस तप के वृत्तिसंक्षेप[2] और वृत्तिपरिसंख्यान[3] नाम भी प्राप्त हैं।

प्रश्न हो सकता है कि अनशन—आहार-त्याग को तप कहा है तब भिक्षाचर्या—भिक्षाटन को तप कैसे कहा? इसका कारण यह है कि अनशन की तरह भिक्षाटन में भी कष्ट होने से साधु को निर्जरा होती है। अतः यह भी तप है। अथवा विशिष्ट और विविध प्रकार के अभिग्रह से संयुक्त होने से यह साधु के लिए वृत्तिसंक्षेप रूप है और इस तरह यह तप है[4]। आ० पूज्यपाद ने इसका लक्षण इस प्रकार बताया है—'मुनेरेकागारादिविषयः सङ्कल्पः चिन्तावरोधो वृत्तिपरिसंख्यानम्'। इसका फल आशा निवृत्ति है।

अभिग्रह के उपरांत भिक्षा न करने से स्वामीजी ने इसका लक्षण भिक्षा-त्याग किया है। उन्होंने भिक्षाचर्या को अनेक प्रकार का कहा है। आगम में निम्न भेदों का उल्लेख मिलता है[5]

१—तत्त्वा० ९.१९ सर्वार्थसिद्धि

संयमप्रजागरदोषप्रशमसन्तोषस्वाध्यायादिसुखसिद्ध्यर्थमवमौदर्यम्।

२—समवायाङ्ग सम० ६

३—(क) तत्त्वा० ९.१९

(ख) दशवैकालिक निर्युक्ति गा० ४७

४—ठाणाङ्ग ५.१.५११ टीका

भिक्षाचर्या च तपो निर्जराङ्गत्वादनशनवत् अथवा सामान्योपादानेऽपि विशिष्ट विविधाभिग्रहयुक्तत्वेन वृत्तिसंक्षेपरूपा सा ग्राह्या।

५—औपपातिक सम० ३

दव्वाभिग्गहचरए खेत्ताभिग्गहचरए कालाभिग्गहचरए भावाभिग्गहचरए उक्खित्तचरए णिक्खित्तचरए उक्खित्तणिक्खित्तचरए णिक्खित्तउक्खित्तचरए वट्टिज्जमाणचरए साहरिज्जमाणचरए उवणीयचरए अवणीयचरए उवणीयअवणीयचरए अवणीयउवणीयचरए संसट्ठचरए असंसट्ठचरए तज्जायसंसट्ठचरए अण्णायचरए मोणचरए दिट्ठलाभिए अदिट्ठलाभिए पुट्ठलाभिए अपुट्ठलाभिए भिक्खालाभिए अभिक्खालाभिए अण्णगिलायए ओवणिहिए परिमियपिंडवाइए सुद्धेसणिए संखादत्तिए।

(१) द्रव्याभिग्रह चर्या द्रव्य सम्बन्धी अभिग्रह कर भिक्षाटन करना । उदाहरणार्थ भाले के अग्र भाग पर स्थित द्रव्य विशेष को लूगा—इत्यादि प्रतिज्ञा द्रव्याभिग्रह है ।

(२) क्षेत्राभिग्रह चर्या - क्षेत्र सम्बन्धी अभिग्रह कर भिक्षाटन करना । उदाहरणार्थ देहली के दोनो ओर पैर रखकर बैठा हुआ कोई दे तो लूगा—इत्यादि प्रतिज्ञा क्षेत्राभिग्रह है ।

(३) कालाभिग्रह चर्या काल विषयक अभिग्रह कर भिक्षाटन करना । उदाहरणार्थ सब भिक्षाचर गोचरी कर चुके होंगे उस समय भिक्षाटन करूँगा—ऐसी प्रतिज्ञा कालाभिग्रह है ।

(४) भावाभिग्रह चर्या : भाव विषयक अभिग्रह कर भिक्षाटन करना । उदाहरणार्थ हँसता, रोता या गाता हुआ पुरुष देगा तो लूगा-आदि प्रतिज्ञा भावाभिग्रह है ।

(५) उक्षिप्त चर्या · गृहस्थ द्वारा स्वप्रयोजन के लिए पाक-भाजन से निकाला हुआ द्रव्य ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना ।

(६) निक्षिप्त चर्या पाक-भाजन से निकाली हुई वस्तु को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना ।

(७) उक्षिप्तनिक्षिप्त चर्या उक्षिप्त एव निक्षिप्त दोनो को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना अथवा पाक-भाजन से निकाल कर उसी में या अन्यत्र रखी हुई वस्तु ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना ।

(८) निक्षिप्तउक्षिप्त चर्या · निक्षिप्त और उक्षिप्त दोनो को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना अथवा पाक-भाजन में रखी हुई वस्तु भोजन-पात्र में निकाली हुई हो उसे ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना ।

(९) परिवेष्यमाण चर्या परोसे जाते हुए में से लेने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना ।

(१०) सह्रियमाण चर्या फैलाई हुई वस्तु बटोर कर पुन भाजन में रखी जा रही हो उसे ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना ।

(११) उपनीत चर्या किसी द्वारा समीप लाई हुई वस्तु को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना ।

(१२) अपनीत चर्या . देय द्रव्य में से प्रसारित—अन्यत्र स्थापित वस्तु को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना ।

(२६) अन्नग्लायकचरकत्व चर्या अन्न विना विपादप्राप्त साधु के लिए भिक्षाटन करना। इस के दो नाम और मिलते हैं—अन्नग्लानकचरकत्व तथा अन्यग्लायकचरकत्व। अन्यग्लायकचरकत्व का अर्थ है—अन्य वेदनादि वाले साधु के लिए भिक्षाटन करना। यहाँ 'अन्नवेल' पाठान्तर मिलता है, जिसका अर्थ है—भोजन की वेला के समय भिक्षाटन करना।

(२७) औपनिहित चर्या . जो वस्तु किसी तरह समीप मे प्राप्त हो उसके लिए भिक्षाटन करना। इसका अपर नाम 'औपनिधिकत्व चर्या' भी है, जिसका अर्थ होता है—जो वस्तु किसी प्रकार से समीप लाई गई हो उसके लिए भिक्षाटन करना।

(२८) परिमितपिण्डपात चर्या द्रव्यादि की सख्या से परिमित पिण्डपात के लिए भिक्षाटन करना।

(२९) शुद्धैपणा चर्या सात या वैसी ही अन्य एपणाओ द्वारा शकितादि दोपो का वर्जन करते हुए भिक्षाटन करना।

एपणाएँ सात हैं—ससृष्ट, असमृष्ट, उद्धृता, अल्पलेपा, उद्‌गृहीता, प्रगृहीता और उज्झितधर्मा[1]।

ससृष्ट हाथ या पात्र से देने पर लेना 'ससृष्टा', असमृष्ट हाथ या पात्र से देने पर लेना 'असमृष्टा', रांधने के वर्तन से निकाला हुवा लेना 'उद्धृता', अल्प लेपवाली वस्तु या लेपरहित वस्तु से लेना 'अल्पलेपा', परोसने के लिए लाई जाती हुई वस्तु में से लेना 'उद्‌गृहीता', परोसने के लिए हाथ में ग्रहण की गई या परोसते समय भोजन करनेवाले ने अपने हाथ से ले ली हो, उसमें से लेना—'प्रगृहीता' और जो परित्यक्त वस्तु हो—ऐसी वस्तु जो दूसरा न लेता हो, उसको लेना, 'उज्झितधर्मा' एपणा कहलाती है।

(३०) सख्यादत्ति चर्या इतनी दत्ति को ग्रहण करूँगा इस प्रकार का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। धार टूटे विना एक वार में जितना गिरे उसे एक दत्ति कहते हैं। यदि वस्तु प्रवाही न हो तो एक बार में जितना दिया जाय वह एक दत्ति कहलाती है[2]।

औपपातिक (सम० ३०) और भगवती (२५ ७) में भिक्षाचर्या के उपर्युक्त तीस भेद हैं, पर यह भेद-सख्या अन्तिम नही लगती। ठाणाङ्ग (५ १ ३९६) मे दो भेद और मिलते हैं

१—उत्त० ३० २५ की टीका में उद्धृत
संसट्ठमसंसट्ठा उद्धड तह अप्पलेवडा चेव।
उग्गहिया पग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया॥

२—ठाणाङ्ग ५ १ ३९६ की टीका में उद्धृत
दत्ती उ जत्तिए वारे खिवई होति तत्तिया।
अव्वोच्छिन्नणिवायाओ दत्ती होइ दवेतरा॥

(१३) उपनीतापनीत चर्या : उपनीत-अपनीत दोनों को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। अथवा दाता द्वारा जिसका गुण कहा गया हो वह उपनीत, जिसका गुण नहीं कहा गया हो वह अपनीत। एक अपेक्षा से जिसका गुण कहा हो और दूसरी अपेक्षा से दोष—उस वस्तु को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। उदाहरण स्वरूप—यह जल शीतल है पर क्षारयुक्त है—दाता द्वारा इस तरह प्रशंसित वस्तु को ग्रहण करना

(१४) अपनीतोपनीत चर्या : जिस वस्तु में एक अपेक्षा से दोष और एक अपेक्षा से गुण बताया गया हो उसे ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। उदाहरण स्वरूप—यह जल क्षारयुक्त है पर शीतल है—दाता द्वारा इस तरह अप्रशंसित प्रशंसित वस्तु को ग्रहण करना।

(१५) संसृष्ट चर्या : भरे हुए हाथ या पात्रादि से देने पर लेने का नियम कर भिक्षाटन करना।

(१६) असंसृष्ट चर्या : बिना भरे हुए हाथ या पात्रादि से देने पर लेने का नियम कर भिक्षाटन करना।

(१७) तज्जातसंसृष्ट चर्या : जो देय वस्तु है उसी से संसृष्ट हाथ या पात्रादि से देने पर लेने का नियम कर भिक्षाटन करना।

(१८) अज्ञात चर्या : स्वजाति या सम्बन्ध आदि को बताये बिना भिक्षाटन करना।

(१९) मौन चर्या : मौन रह कर भिक्षाटन करना।

(२०) दृष्टलाभ चर्या : दृष्ट आहार आदि की प्राप्ति के लिए भिक्षाटन करना अथवा पूर्व देखे हुए दाता से भिक्षा ग्रहण करना।

(२१) अदृष्टलाभ चर्या : अदृष्ट आहार आदि की प्राप्ति के लिए भिक्षाटन करना अथवा पहले न देखे हुए से भिक्षा ग्रहण करना।

(२२) पृष्टलाभ चर्या : साधु ! आप को क्या दें ?—ऐसा प्रश्न कर कोई वस्तु दी जाए तो उसे लेना।

(२३) अपृष्टलाभ चर्या : बिना कुछ पूछे कोई वस्तु दी जाए उसे लेना।

(२४) भिक्षालाभ चर्या : तुच्छ या अज्ञात वस्तु को ग्रहण करना।

(२५) अभिक्षालाभ चर्या : तुच्छ या अज्ञात वस्तु न लेने का अभिग्रह करना।

अभिग्रह—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का कहा गया है। उनके लक्षण पहले दिये जा चुके हैं। (देखिए पृ० ६४०-१)

७—रसपरित्याग (गा० १३) :

रसो के परिवर्जन को रस-परित्याग व्रत कहते हैं[1]। यह अनेक प्रकार का कहा गया है। औपपातिक सूत्र मे इसके नौ भेद मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) निर्विकृति (२) प्रणीतरसपरित्याग, (३) आचाम्ल, (४) अवश्रावणगतसिक्थभोजन, (५) अरसाहार, (६) विरसाहार, (७) अन्त आहार, (८) प्रान्त्य आहार और (९) लूक्षाहार[2]।

सक्षेप मे इनका विवरण इस प्रकार है

(१) निर्विकृति विकृतिया नौ हैं[3]—दूध[4], दही, नवनीत, घी[5], तेल[6], गुड[7], मधु[8], मद्य[9]

१—उत्त० ३०.२६

खीरदहिसप्पिमाई पणीय पाणभोयण।
परिवज्जण रसाण तु भणियं रसविवज्जण॥

२—औपपातिक सम० ३०

से कि त रसपरिच्चाए ? २ अणेगविहे पण्णत्ते। त जहा—१ निव्वीइए २ पणीयरस-परिच्चाए ३ आयविलिए ४ आयामसित्थभोई ५ अरसाहारे ६ विरसाहारे ७ अताहारे ८ पताहारे ९ लूहाहारे।

३—ठाणाङ्ग ९.३.६७४

णव विगतीतो प० त० खीर दधि णवणीत सप्पि तेल गुलो महुं मज्ज मस

४—वृद्धगाथा के अनुसार गाय, भैंस, ऊटनी, बकरी और भेड़ का दूध।

५—वृद्धगाथा में कहा गया है कि ऊँटनी के दूध का दही आदि नही होता अत गाय, भैंस, बकरी और भेड के भेद से दही, नवनीत और घी चार-चार प्रकार के होते हैं।

६—वृद्धगाथा के अनुसार तिल, अलसी, कुसुंभ और सरसव का तेल। अन्य महुआ आदि के तेल विकृति में नही आते।

७—वृद्धगाथा के अनुसार गुड़ दो प्रकार का होता है—द्रवगुड़ (नरम गुड़) और पिंडगुड (कठोर गुड)।

८—वृद्धगाथा के अनुसार मधु तीन प्रकार का होता है (१) माक्षिक—मक्खी सम्बन्धी, (२) कौंतिक—छोटी मक्खी सम्बन्धी और (३) भ्रमरज—भ्रमर सम्बन्धी।

९—वृद्धगाथा के अनुसार मद्य दो तरह का होता है—(१) काष्ठनिष्पन्न—ताडी आदि और (२) पिष्टनिष्पन्न—चावल आदि के पिष्ट से बना।

(११) पुरिमाक्य चर्या पूर्वाह्न में भिक्षाटन करने का अभिग्रह।

(१२) भिन्नपिण्डपात चर्या : टुकड़े किए हुए पिण्ड को ग्रहण करने का अभिग्रह।

उत्तराध्ययन में कहा है 'आठ प्रकार के गोचराग्र आठ प्रकार की एषणा तथा अन्य जो अभिग्रह हैं उन्हें भिक्षाचर्या कहते हैं'[1]।

गाय की तरह भिक्षाटन करना—जिस तरह गाय छोटे-बड़े सब घास को चरती हुई आगे बढ़ती है, उसी तरह धनी-गरीब सब घरों में समान भाव से भिक्षाटन करना—गोचरी कहलाती है।

अग्र अर्थात् प्रधान—आठ प्रकार की प्रधान गोचरी का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—(१) पेटा (२) अर्द्धपेटा (३) गोमूत्रिका (४) पतंगवीथिका (५) आभ्यन्तर शम्बूकावर्त्त (६) बहिर्शम्बूकावर्त्त (७) आयतगत्वा-प्रत्यागता और (८) प्रत्यागता। कहीं-कहीं अंतिम दो को एक मान कर वहाँ स्थान में ऋजुगति का उल्लेख मिलता है। प्रायः गोचराग्रों का अर्थ पहले दिया जा चुका है।

शम्बूकावर्त्त के लक्षण का वर्णन पहले किया जा चुका है। शंख के नाभिक्षेत्र से प्रारंभ हो आवृत्त बाहर आता है, उसी प्रकार भीतर के घरों में गोचरी करते हुए बाहर वसति में आना आभ्यन्तर शम्बूकावर्त्त गोचरी है। शंख में बाहर से भीतर की ओर आवृत्त आता है, उस प्रकार बाहर वसति में भिक्षाटन करते हुए आभ्यन्तर वसति में प्रवेश करना बहिर्शम्बूकावर्त्त गोचरी कहलाती है। इन शब्दों के अर्थ में सम्प्रदाय भेद रहा है, यह निम्न उद्धरणों द्वारा से प्रकट होगा

"यस्यां क्षेत्रबहिर्भागात् शंखवृत्तत्वगत्याभ्यन्तरं क्षेत्रमध्यभागमायाति साभ्यन्तरसंबुक्का यस्यां तु मध्यभागाद् बहिर्याति सा बहिः सम्बुक्केति" (स्थानाङ्ग ६ ३ ५१४ की टीका)

'तत्थ अब्भिंतरसंबुक्काए संखनाभिखेत्तोवमाए आगिईए अंतो आढवइ बाहिरओ सन्नियट्टइ, इयरीए विवज्जओ। (उत्त ३ १९ की टीका)

"अब्भिंतरसंबुक्का मज्झमसिरो बहिं विणिस्सरइ। तव्विवरीया भण्णइ बहि संबुक्क त्ति।"

सात प्रकार की एषणाओं का वर्णन पहले किया जा चुका है। (देखिए पृ ६४१)

१—उत्त ३ २५

अट्ठविहगोयरग्गं तु तहा सत्तेव एसणा।

अभिग्गहा य जे अन्ने भिक्खायरियमाहिया ॥

अभिग्रह—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का कहा गया है। उनके लक्षण पहले दिये जा चुके हैं। (देखिए पृ० ६४०-१)

७—रसपरित्याग (गा० १३) :

रसो के परिवर्जन को रस-परित्याग व्रत कहते हैं[1]। यह अनेक प्रकार का कहा गया है। औपपातिक सूत्र मे इसके नौ भेद मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) निर्विकृति (२) प्रणीतरसपरित्याग, (३) आचाम्ल, (४) अवश्रावणगतसिक्थभोजन, (५) अरसाहार, (६) विरसाहार, (७) अन्त आहार, (८) प्रान्त्य आहार और (९) लूक्षाहार[2]।

सक्षेप मे इनका विवरण इस प्रकार है

(१) निर्विकृति विकृतिया नौ हैं[3]—दूध[4], दही, नवनीत, घी[5], तेल[6], गुड[7], मधु[8], मद्य[9]

१—उत्त० ३०.२६

खीरदहिसप्पिमाई पणीय पाणभोयण।
परिवज्जण रसाण तु भणिय रसविवज्जण॥

२—औपपातिक सम० ३०

से कि त रसपरिच्चाए ? २ अणेगविहे पराणत्ते। त जहा—१ निव्वीइए २ पणीयरस-परिच्चाए ३ आयबिलिए ४ आयामसित्थभोई ५ अरसाहारे ६ विरसाहारे ७ अताहारे ८ पंताहारे ९ लूहाहारे।

३—ठाणाङ्ग ९.३.६७४

णव विगतीतो प० त० खीर दधि णवणीत सप्पि तेल गुलो महु मज्ज मस

४—वृद्धगाथा के अनुसार गाय, भैंस, ऊटनी, बकरी और भेड़ का दूध।

५—वृद्धगाथा में कहा गया है कि ऊँटनी के दूध का दही आदि नहीं होता अत गाय, भैंस, बकरी और भेड के भेद से दही, नवनीत और घी चार-चार प्रकार के होते हैं।

६—वृद्धगाथा के अनुसार तिल, अलसी, कुसुभ और सरसव का तेल। अन्य महुआ आदि के तेल विकृति में नहीं आते।

७—वृद्धगाथा के अनुसार गुड दो प्रकार का होता है—द्रवगुड़ (नरम गुड़) और पिंडगुड (कठोर गुड)।

८—वृद्धगाथा के अनुसार मधु तीन प्रकार का होता है (१) माक्षिक—मक्खी सम्बन्धी, (२) कौंतिक—छोटी मक्खी सम्बन्धी और (३) भ्रमरज—भ्रमर सम्बन्धी।

९—वृद्धगाथा के अनुसार मद्य दो तरह का होता है—(१) काष्ठनिष्पन्न—ताड़ी आदि और (२) पिष्टनिष्पन्न—चावल आदि के पिष्ट से बना।

और मांस¹। इनका परिवर्जन निर्विकृति तप है।

जो शरीर और मन का प्रायः विकार करनेवाली हों उन्हें विकृति कहा है (विकृतयः शरीरमनसोः प्रायो विकार हेतुत्वात्)। मधु, मांस, मद्य और नवनीत—इन चार को महाविकृतियाँ कहा जाता है (ठाणाङ्ग ४.१.२७४)। इसका कारण यह है कि महा रस के फलस्वरूप ये महा विकार तथा महा जीवाघात की हेतु हैं।

ठाणाङ्ग में उल्लिखित नौ विकृतियों के उपरांत ओ॰ टीका द्वारा उद्धृत गाथा में ओगाहिमगं—अवगाहिम—घृत या तेल में तली वस्तु को भी विकृति कहा है। गाथा इस प्रकार है—

> खीरदहि णवणीयं घयं तहा तेल्लमेव गुडमज्जं।
> महु मंसं चेव तहा ओगाहिमगं च दसमी उ²॥

(२) प्रणीतरस-परित्याग—प्रणीत³—घी आदि से भरपूर स्निग्ध—स्वादु रस और भोजन का विवर्जन।

(३) आचाम्ल—कुल्माष, ओदन आदि और जल का आहार।

१—बृहत्कल्प के अनुसार जलचर, थलचर और खेचर जीवों की अपेक्षा से मांस तीन प्रकार का होता है। अथवा मांस, वसा—चर्बी और शोणित के भेद से तीन प्रकार का होता है।

२—यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रथम तीन घानों में तली वस्तु ही विकृति है। घी या तेल-भरी कड़ाही में जब प्रथम बार पूरियाँ डाली जाती हैं तो उन [illegible] घान कहा जाता है। चौथे घान में तली पूरियाँ विकृति में नहीं गिनी जातीं—

> [illegible]
> [illegible]

इसी प्रकार स्पष्ट किया गया है कि तवे पर घी आदि डालकर [illegible] वह विकृति है। पर उसी तवे [illegible] वह वस्तु विकृति नहीं है। [illegible] है—

> [illegible]
> [illegible]

३—(क) [illegible]
(ख) [illegible]
(ग) [illegible]

(४) अवश्रावणगत सिक्थभोजन—पकाये पदार्थो से दूर किये गये जल मे आये सिक्थो का भोजन।

(५) अरसाहार—हिंगादि व्यजनो से असंस्कृत आहार का सेवन।

(६) विरसाहार—विगतरस—पुराने धान्य ओदनादि आहार का सेवन।

(७) अन्त आहार[1]—घरवालो के भोजनोपरान्त अवशेष रहे आहार का सेवन।

(८) प्रान्त्य आहार[2]—घरवालो के खा चुकने के बाद बचे-खुचे अत्यन्त अवशेष आहार का सेवन।

(९) लूक्षाहार[3]—रूखे आहार का सेवन।

वाचक उमास्वाति ने रस-परित्याग तप की परिभाषा देते हुए कहा है—"मद्य, मांस, मधु और नवनीत आदि जो-जो रसविकृतियां हैं, उनका प्रत्याख्यान तथा विरस—रूक्ष आदि का अभिग्रह रसपरित्याग तप है[4]।"

आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—"घृतादि वृष्य—गरिष्ठ रसो का परित्याग करना रस-परित्याग तप है[5]।"

कही-कही षट्रस के त्याग को ही रस-परित्याग तप कहा है[6]। षट्-रस का अर्थ दो प्रकार से किया जाता है। कही घृत, दूध, दही, शक्कर, तेल, और नमक को षट्-रस कहा है और कही मधुर, अम्ल, कटु, कषाय, लवण और तिक्त इन छह स्वादो को।

१—(क) अन्तेभवम् अन्त्य जघन्यधान्य वल्लादि (औपपातिक सम० ३० टीका)
(ख) अन्ते भवम् आन्तं—भुक्तावशेष वल्लादि (ठाणाङ्ग ५ १ ३९६ टीका)

२—(क) प्रकर्षेण अन्त्य वल्लादि एव भुक्तावशेष पर्युषित वा (औप० सम० ३० टीका)
(ख) प्रकृष्ट अन्त प्रान्त—तदेव पर्युषित (ठाणाङ्ग ५ १ ३९६ टीका)

३—कहीं-कहीं तुच्छाहार मिलता है। तुच्छ—अल्प सारवाला

४—तत्त्वा० ९ १९ भाष्य ४
रसपरित्यागोऽनेकविध । तद्यथा—मांसमधुनवनीतादीनां मद्यरसविकृतीनांप्रत्याख्यान विरसरूक्षाद्यभिग्रहश्च

५—तत्त्वा० ९ १९ सर्वार्थसिद्धि
घृतादिवृष्यरसपरित्यागश्चतुर्थंतप

६—नवतत्त्वस्तवन (श्री विवेकविजय विरचित) ८.
षट् रसनों करे त्याग, ए चोथो लह्यो सोभागी ॥

और मांस[1]। इनका परिवर्जन निर्विकृति तप है।

जो शरीर और मन को प्रायः विकार करनेवाली हों उन्हें विकृति कहा है (विकृतयः शरीरमनसो प्रायो विकार हेतुत्वात्)। मधु, मांस मद्य और नवनीत—इन चार को महाविकृति कहा जाता है (ठाणाङ्ग ४ १ २७४)। इसका कारण यह है कि महा रस के फलस्वरूप ये महा विकार तथा महा जीवोत्पात की हेतु हैं।

ठाणाङ्ग में उल्लिखित नौ विकृतियों के उपरांत और टीका द्वारा उद्धृत गाथा में 'ओगाहिमगं'—अवगाहिम—घृत या तेल में तली वस्तु को भी विकृति कहा है। गाथा इस प्रकार है—

> खीरदहि णवणीयं घयं तहा तेल्लमेव गुडमज्जं।
> महु मंसं चेव तहा ओगाहिमगं च दसमी उ॥

(२) प्रणीतरस-परित्याग—प्रणीत[2]—घी आदि से भरपूर स्निग्ध—रसयुक्त पेय और भोजन का विवर्जन।

(३) आचाम्ल—कुल्माष ओदन आदि और जल का आहार।

१—सूत्रगाथा के अनुसार जलचर थलचर और खेचर जीवों की अपेक्षा से मांस तीन प्रकार का होता है। अथवा मांस, वसा—चरबी और शोणित के भेद से तीन प्रकार का होता है।

२—यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रथम तीन पावों में तली वस्तु ही विकृति है। घी या तेल-भरी कड़ाही में जब प्रथम बार पुरियाँ डाली जाती हैं तो उसे प्रथम पावा कहा जाता है। चौथे पावे में तली पुरियाँ विकृति में नहीं आतीं यथा—

> आइल्ल तिन्नी चल चल ओगाहिमग च विगईओ।
> सेसा न होंति विगइ अ, जोगवाहीण त उ कप्पंती॥

इसी प्रकार स्पष्ट किया गया है कि तवे पर घी आदि डालकर पहली बार जो चीज पूरी जाती है वह विकृति है। पर उसी तवे के उसी घी में जो दूसरी-तीसरी बार में पूरी जाती है वह वस्तु विकृति नहीं है। उसे लेपकृत कहा जाता है—

> एक्कन्न चव तवओ पूरिज्ज पूयएण जो ताओ।
> बिईओऽवि स पुण कप्पइ निव्विगईए लेवडो नवरं॥

३—(क) अतिबृंहकान्—समवायाङ्ग सम० २५ टीका

(ख) गलद्घृतदुग्धादि बिन्दु—औपपातिक सम ३ टीका

(ग) अति बृंहकं—उत्तराध्ययन ३ । २६ टीका

सात भेद बतलाये गये हैं[1]। अन्य स्थल पर दो पचकस्थानको में दस नाम मिलते हैं[2]। औपपातिक मे इसके बारह भेद बतलाये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि कायक्लेश तप के भेदो की कोई निश्चित सख्या निर्धारित नही की जा सकती। वह अनेक प्रकार का है।

औपपातिक मे वर्णित इस तप के बारह भेदो के नाम इस प्रकार हैं १—स्थानायतिक, २—उत्कटुकासनिक, ३—प्रतिमास्थायी, ४—वीरासनिक, ५—नैषद्यिक, ६—दडायतिक, ७—लगडशायी, ८—आतापक, ९—अप्रावृतक, १०—अकण्डूयक, ११—अनिष्ठिवक और १२—सर्वगात्रप्रतिकर्मविभूषाविप्रमुक्त[3]।

इन भेदो की व्याख्या क्रमश इस प्रकार है

१—स्थानायतिक कायोत्सर्ग में स्थित होना। इस काय-क्लेश तप के 'स्थानस्थितिक' 'स्थानातिग', 'स्थानातिय' आदि नामो का भी उल्लेख पाया जाता है[4]।

२—उत्कटुकासनिक उत्कटुक आसन मे स्थित होना। जिसमें केवल पैर जमीन को स्पर्श करें, पुत जमीन से ऊपर रहे, इस तरह बैठने को 'उत्कटुक आसन' कहते हैं।

३—प्रतिमास्थायी : प्रतिमाओ मे स्थित होना। एक रात्रिक आदि कायोत्सर्ग विशेष मे स्थित होना प्रतिमा है।

४—वीरासनिक वीरासन मे स्थित होना। जमीन पर पैर रखकर सिंहासन पर

१—ठाणाङ्ग ७ ३.५५४
सत्तविधे कायकिलेसे पराणत्ते, त०—ठाणातिते उक्कुडुयासणिते पडिमठाती वीरासणिते णेसज्जिते दडातिते लगंडसाती।

२—ठाणाङ्ग ५ १ ३९६
पच ठाणाइ० भवति, त०—ठाणातिते उक्कडुआसणिए पडिमट्ठाती वीरासणिए णेसज्जिए, पच ठाणाइं० भवति, त०—दडायतिते लगडसाती आतावते अवाउडते अकडूयते।

३—औपपातिक सम० ३०
से किं त कायकिलेसे? २ अणेगविहे पराणत्ते। त जहा—१ ठाणट्ठिइए [ठाणाइए] २ उक्कुडुयासणिए ३ पडिमठ्ठाई ४ वीरासणिए ५ नेसज्जिए [दडायतिए लउडसाई] ६ आयावए ७ अवाउडए ८ अकंडुयए ९ अणिठ्ठहए [धुयकेसमंसुलोमे] १० सव्वगायपरिकम्मविभूसविप्पमुक्के, से त कायकिलेसे।

४—(क) ठाणाङ्ग सू० ५ १ ३९६ और ७ ३ ५५४ की टीका
(ख) औपपातिक सम० ३० की टीका

यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि सिक्था का भोजन असंस्कृत पदार्थों का भोजन विकृत पदार्थों का भोजन आदि आदि तप नहीं पर सिक्थों से भिन्न भोजन का त्याग संस्कृत पदार्थों का त्याग आदि तप है। यही बात आचाम्ल तप के विषय में समझनी चाहिए। उड़द आदि का खाना आचाम्ल तप नहीं इनके सिवा अन्य पदार्थों का न खाना तप है।

इन्द्रियों के दर्प-निग्रह, निद्रा विजय और सुखपूर्वक स्वाध्याय की सिद्धि के लिए यह तप अत्यन्त सहायक है[१]।

अनशन आदि प्रथम चार तपों में परस्पर इस प्रकार अन्तर है—अनशन में आहार मात्र की निवृत्ति होती है, अवमौदर्य में एक दो आदि कवल का परित्याग कर आहार मात्रा घटायी जाती है, वृत्तिपरिसंख्यान में क्षेत्रादि की अपेक्षा कायचेष्टा आदि का नियमन किया जाता है। रस-परित्याग में रसों का ही परित्याग किया जाता है[२]।

८—कायक्लेश तप (गा० १४)

उत्तराध्ययन (३० २७) में इस तप की परिभाषा इस प्रकार मिलती है "वीरासनादि उग्र कायस्थिति के भेदों को यथाक्रम से धारण करना कायक्लेश तप है। पाठ इस प्रकार है

ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहियं॥

स्वामीजी की परिभाषा इसी आगम गाथा पर आधारित है।

कायक्लेश तप अनेक प्रकार का कहा गया है[३]। ठाणाङ्ग में एक स्थल पर इसके

१—तत्त्वा० ९. १९ सर्वार्थसिद्धि

इन्द्रियदर्पनिग्रहनिद्राविजयस्वाध्यायसुखसिद्ध्याद्यर्थो

२—तत्त्वा० ९. १९ राजवार्तिक

भिक्षाचरणे प्रवर्तमानः साधुः एतावद्भिरेव प्रविष्टैः कायचेष्टां कुर्वीत नान्यथेत्येवमादि वृत्तिपरिसंख्यानम् ... प्रथम अवमोदर्यरसपरित्यागौ अभ्यवहार्यैकदेशनिवृत्तिपराविति महान् भेदः।

३—(क) औपपातिक सम० १

(ख) भगवती २५. ७

से किं तं कायकिलेसे ? कायकिलेसे अणेगविहे प

बैठे हुए पुरुष के नीचे से सिंहासन निकाल लेने पर जो आसन बनता है, उसे वीरासन कहते हैं।

५—नैषधिक : निषद्या आसन में स्थित होना। बैठने के प्रकार विशेषों को निषद्या कहते हैं। निषद्या पाँच प्रकार की कही गई है :

(१) आसन पर केवल पैर लगें और पुत लगा हुआ न हो—इस प्रकार पैरों के बल पर बैठने के आसन को उत्कटुक कहते हैं। इस आसन से बैठना—उत्कटुक निषद्या कहलाता है।

(२) गाय दुहते समय जो आसन बनता है, उसे गोदोहिका आसन कहते हैं। उसमें बैठना गोदोहिका निषद्या कहा जाता है। दूसरी परिभाषा के अनुसार गाय की तरह बैठने का आसन गो निषद्या कहलाता है।

(३) जमीन को पैर और पुत दोनों स्पर्श करें ऐसे आसन को समपादपुत आसन कहते हैं। उसमें बैठना समपादपुत निषद्या कहलाता है।

(४) पद्मासन को—पलथी मार कर बैठने को पर्यंक-आसन कहते हैं। इस आसन में बैठना पर्यंक निषद्या है।

(५) जंघा पर एक पैर चढ़ाकर बैठना अर्धपर्यंक-आसन' कहलाता है। इस आसन में बैठना अर्ध-पर्यंक निषद्या है।

६—दंडायतिक : दण्ड की तरह आयाम—देह प्रसारित कर—पैर लम्बे कर बैठना।

७—लगंडशायी[1] टेढ़े-बांके लक्कड़ की तरह भूमि के पीठ नहीं लगाकर सोना।

८—आतापक : सर्दी गर्मी—शीत-आतप आदि सहनरूप आतापना तप। वृहत् कल्प में आतापना तप के बारे में निम्न वर्णन मिलता है

(१) आतापना तप के तीन भेद हैं—उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य। सोते हुए की उत्कृष्ट बैठे हुए की मध्यम और खड़े हुए की जघन्य आतापना है—

आयावणा य तिविहा उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना य।
उक्कोसा उ निवन्ना निसन्न मज्झा ठिय जहन्ना॥

१—वीरासनिक, दण्डायतिक और लगंडशायी के सम्बन्ध में निम्न श्लोक मिलते हैं—
वीरासणं तु सीहासणेव्व जहमुक्कजाणुगनिविट्ठो।
दंडे लगंडउवमा आयतखुज्जे य दोण्हंपि॥

(२) सोते हुए की उत्कृष्ट आतापना तीन प्रकार की है—(क) नीचे मुखकर सोना—उत्कृष्ट-उत्कृष्ट, (ख) पार्श्व—बाजू केवल सोना—उत्कृष्ट-मध्यम और (ग) उत्तान-चित होकर सोना उत्कृष्ट जघन्य—

तिविहा होइ निवन्ना ओमंथियपास तइय उत्ताण ।

(३) मध्यम आतापना के तीन भेद हैं—(क) गोदोहिका रूप मध्यम-उत्कृष्ट, (ख) उत्कुटिका रूप मध्यम-मध्यम और (ग) पर्यंक रूप मध्यम-जघन्य—

गोदुइउक्कुडयलिय कमेस तिविहाय मज्झिमा होई ।

(४) जघन्य आतापना के तीन भेद हैं—(क) हस्तिसौंडिका[1] रूप जघन्य-उत्कृष्ट, (ख) एक पैर अद्धर और एक पैर जमीन पर रखकर खड़े रहना जघन्य-मध्यम और (ग) दोनो पैर जमीन पर खडे रह आतापना लेना जघन्य-जघन्य आतापना है—

तइया उ हत्थिसोडग पावस भवाइया चेव ।

९—अप्रावृतक : अनाच्छादित देह—नग्न रहना ।

१०—अकण्डूय : खाज न करना ।

११—अनिष्ठिवक : थूक न निगलना ।

१२—सर्वगात्रप्रतिकर्मविभूषाविप्रमुक्त : शरीर के किसी भी अङ्ग का प्रतिकर्म—शुश्रूषा और विभूषा नही करना ।

६—प्रतिसंलीनता तप (गा० १५-२८) :

छठा तप प्रतिसलीनता तप है। यह चार प्रकार का कहा गया है १—इन्द्रिय प्रतिसलीनता, २—कषाय सलीनता, ३—योग प्रतिसलीनता और ४—विविक्तशयनासन-सेवनता[2] ।

उत्तराध्ययन (३० ८) मे छह बाह्य तपो के नाम बताते समय छठा बाह्य तप 'सलीयणा'—'सलीनता' बतलाया गया है। यही नाम समवायाङ्ग (सम० ६) में मिलता है। छठे बाह्य तप का लक्षण बताते समय उत्तराध्ययन (३० २८) में 'विवित्तसयणासण'—'विविक्तशयनासनता' शब्द का प्रयोग किया है। टीकाकार स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं "अनेन च विविक्तचर्या नाम सलीनतोक्ता। शेष सलीनतोपलक्षणमेषा यतश्चचतुर्विधा

१—पुत पर बैठकर एक पैर को उठाना हस्तिसौण्डिका आसन है ।

२—उत्त० ३० २८ की टीका में उद्धृत

इदियकसायजोगे, पडुच्च सलीणया मुणेयव्वा ।
तह जा विवित्तचरिया, पन्नत्ता वीयरागेहिं ॥

इत्युक्तम् ।" यहाँ आचार्य नेमिचन्द्र ने स्पष्ट कर दिया है कि चार संलीनताओं में केवल एक का ही यहाँ उल्लेख है अतः वह छठे तप का नाम नहीं उसके एक प्रकार का संलीनता तप के उपलक्षण रूप से उल्लेख है। औपपातिक और भगवती से भी स्पष्ट है कि 'विविक्तशयनासन' प्रतिसंलीनता तप का एक प्रकार है। तत्त्वार्थसूत्र (९.१९) में बाह्य तपों का नाम बताते हुए भी इसका नाम 'विविक्तशय्यासन' कहा है और उसका स्थान पाँचवाँ—कायक्लेश के पहले रखा है।

प्रति अर्थात् विरुद्ध में संलीनता अर्थात् सम्यक् प्रकार से लीन होना। क्रोधादि विकारों के विरुद्ध में—उनके निरोध में सम्यक् प्रकार से लीन—उद्यत होना—'प्रति संलीनता तप' है।

उपर्युक्त चार प्रकार के तपों का स्पष्टीकरण नीचे दिया जाता है

१—इन्द्रियप्रतिसंलीनता तप पाँच प्रकार का कहा गया है

(१) श्रोत्रेन्द्रिय की विषय प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए श्रोत्रेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग द्वेष का निग्रह।

(२) चक्षुरिन्द्रिय की विषय प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए चक्षुरिन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

(३) घ्राणेन्द्रिय की विषय-प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए घ्राणेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

(४) रसनेन्द्रिय की विषय प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए रसनेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

(५) स्पर्शनेन्द्रिय की विषय प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए स्पर्शनेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

२—कषायप्रतिसंलीनता तप चार प्रकार का कहा गया है[1]

(१) क्रोध के उदय का निरोध—क्रोध को उदय न होने देना अथवा उदयप्राप्त—उत्पन्न हुए क्रोध को विफल करना।

१—प्रवचन० ४ १ ४७८ की टीका में उद्धृत :

उदयस्सेव निरोहो उदयप्पत्ताण वाऽफलीकरणं ।
जं एत्थ कसायाणं कसायसंलीणया एसा ॥

(२) मान के उदय का निरोध—मान को उदय न होने देना अथवा उदयप्राप्त—उत्पन्न हुए मान को विफल करना।

(३) माया के उदय का निरोध—माया को उदय न होने देना अथवा उदयप्राप्त—उत्पन्न माया को विफल करना।

(४) लोभ के उदय का निरोध—लोभ को उदय न होने देना अथवा उदयप्राप्त—उत्पन्न लोभ को विफल करना।

३—योगप्रतिसलीनता तप तीन प्रकार का कहा गया है[1]

(१) अकुशल मन का निरोध, कुशल मन की उदीरणा—प्रवृत्ति और मन को एकाग्रभाव करना[2]—यह मनयोग प्रतिसलीनता है।

(२) अकुशल वचन का निरोध, कुशल मन की उदीरणा—प्रवृत्ति और वचन को एकाग्रभाव करना[3]—यह वचनयोग प्रतिसलीनता है।

(३) हाथ-पैरो को सुसमाहित कर कुम्भ की तरह गुप्तेन्द्रिय और सर्व अगो को प्रतिसलीन कर स्थिर रहना—यह काययोग प्रतिसलीनता है[4]।

१—योगसलीनता के विषय में ठाणाङ्ग ४ २ २७८ की टीका में उद्धृत निम्न गाथा मिलती है :

अपसत्थाण निरोहो जोगाणमुदीरण च कुसलाण।
कज्जमि य विही गमण जोगे सलीणया भणिया॥

२—मूल—'मणस्स वा एगत्तीभावकरण' (भगवती २५ ७)। इस तीसरे भेद का औपपातिक में उल्लेख नहीं है।

३—मूल—'वइए वा' एगत्तीभावकरण' (भगवती २५ ७)। इस तीसरे भेद का औपपातिक में उल्लेख नहीं है।

४—औपपातिक (सम०३०) का मूल पाठ इस प्रकार है·

"जण सुसमाहियपाणिपाए कुम्मी इव गुत्तिदिए सव्वगायपडिसलीणे चिट्ठइ, से तं कायजोगपडिसलीणया"।

भगवती सूत्र मे (२५ ७) काययोगप्रतिसलीनता की परिभाषा इस प्रकार है—"जन्न सुसमाहियपसतसाहरियपाणिपाए कुम्मो इव गुत्तिदिए अल्लीणे पल्लीणे चिट्ठति, सेत्त कायपडिसलीणया।"

अर्थ इस प्रकार है—सुसमाहित प्रशात हो हाथ-पैरों को सकोच कुभ की तरह गुप्तेन्द्रिय और आलीन-प्रलीन स्थिर रहना काययोग प्रतिसलीनता है।

द्दयमुद्धा।" यहाँ आचार्य नेमिचन्द्र ने स्पष्ट कर दिया है कि चार संलीनताओं में केवल एक का ही यहाँ उल्लेख है अतः वह छठे तप का नाम नहीं उसके एक भेदमात्र का संलीनता तप के उपलक्षण रूप से उल्लख है। औपपातिक और भगवती से भी स्पष्ट है कि 'विविक्तशयनासन' प्रतिसंलीनता तप का एक भेदमात्र है। तत्त्वार्थसूत्र (६.१९) में बाह्य तपों का नाम बताते हुए भी इसका नाम 'विविक्तशय्यासन' कहा है और उसका स्थान पाँचवाँ—कायक्लेश के पहले रखा है।

प्रति अर्थात् विरुद्ध में संलीनता अर्थात् सम्यक् प्रकार से लीन होना। क्रोधादि विकारों के विरुद्ध में—उनके निरोध में सम्यक् प्रकार से लीन—उद्यत होना—'प्रतिसंलीनता तप' है।

उपर्युक्त चार प्रकार के तपों का स्पष्टीकरण नीचे दिया जाता है

१—इन्द्रियप्रतिसंलीनता तप पाँच प्रकार का कहा गया है

(१) श्रोत्रेन्द्रिय की विषय प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए श्रोत्रेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग द्वेष का निग्रह।

(२) चक्षुरिन्द्रिय की विषय प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए चक्षुरिन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

(३) घ्राणेन्द्रिय की विषय-प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए घ्राणेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

(४) रसनेन्द्रिय की विषय प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए रसनेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

(५) स्पर्शनेन्द्रिय की विषय प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए स्पर्शनेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

२—कषायप्रतिसंलीनता तप चार प्रकार का कहा गया है[1]

(१) क्रोध के उदय का निरोध—क्रोध को उदय न होने देना अथवा उदयप्राप्त—उत्पन्न हुए क्रोध को विफल करना।

१—स्थानाङ्ग ४.१.१७८ की टीका में उद्धृत

उदयस्सेव निरोहो उदयप्पत्ताण वाऽफलीकरणं।

जं एत्थ कसायाणं कसायसंलीणया एसा ॥

कर्मक्षयका हेतु होता है, वह आभ्यन्तर तप कहलाता है[1]।

(२) प्राय बाह्य शरीर को तपानेवाला होने से जो लौकिक दृष्टि में भी तप रूप से माना जाय वह बाह्य तप और जो मुख्यत आन्तर शरीर को तपानेवाला होने से दूसरों की दृष्टि में शीघ्र तप रूप प्रतिभाषित न हो, जिसे केवल सम्यक् दृष्टि ही तप रूप माने वह आभ्यन्तर तप है[2]।

(३) लोकप्रतीत्य होने से कुतीर्थिक भी जिसका अपने अभिप्राय के अनुसार आसेवन करते हैं, वह बाह्य तप है और उससे भिन्न आभ्यन्तर तप है[3]।

(४) जो बाह्य-द्रव्य के आलम्बन से होता है और दूसरो के देखने में आता है, उसे बाह्य तप कहते हैं तथा जो मन का नियमन करनेवाला होता है, वह आभ्यन्तर तप है[4]।

(५) अनशन आदि बाह्य तप निम्न कारणो से बाह्य कहलाते हैं :

(क) इनमें बाह्य-द्रव्य की अपेक्षा रहती है, इससे इन्हें बाह्य सज्ञा प्राप्त है। ये अशनादि द्रव्यो की अपेक्षा से किए जाते हैं।

(ख) ये तप दूसरो के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञेय होते हैं अत बाह्य हैं।

१—समवायाङ्ग सम० ६ की अभयदेव सूरिकृत टीका :

बाह्यतप बाह्यशरीरस्य परिशोषणेन कर्मक्षपणहेतुत्वादिति, आभ्यन्तर—चित्तनिरोध-प्राधान्येन कर्मक्षपणहेतुत्वादिति।

२—औपपातिक सूत्र ३० की अभयदेव सूरिकृत टीका :

अब्भितरए—अभ्यन्तरम्—आन्तरस्यैव शरीरस्य तापनात्सम्यग्दृष्टिभिरेव तपस्तया प्रतीयमानत्वाच्च, 'बाहीरए' त्ति बाह्यस्यैव शरीरस्य तापनान्मिथ्यादृष्टि-भिरपि तपस्तया प्रतीयमानत्वाच्चेति।

३—उत्त० ३० ७ की श्री नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका :

लोकप्रतीतत्वात् कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणाऽऽसेव्यमानत्वाद् बाह्य तदितरच्चाऽ-भ्यन्तरमुक्तम्।

४—तत्त्वा० ९ १९-२० सर्वार्थसिद्धि :

बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम्। कथमस्याभ्यन्तरत्वम्? मनोनियम-नार्थत्वात्।

४—विविक्तशयनासनसेवनता : आराम, उद्यान, देवकुल, सभा, पौ, प्रणीतगृह, प्रणीतशाला, स्त्री-पशु-नपुंसक के संसर्ग से रहित बस्ती में प्रासुक एषणीय पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक को प्राप्त कर रहना विविक्तशयनासनसेवनता तप है।

उत्तराध्ययन में कहा है :

'एकांत में जहाँ स्त्रियों आदि का गमनागमन न होता हो वहाँ तथा स्त्री-पशु से विवर्जित—रहित शयन, आसन का सेवन विविक्तशयनासनसेवनता कहलाता है[१]।

१०—बाह्य और आभ्यन्तर तप (गा० २१)

ऊपर में जिन छह तपों का वर्णन आया है, स्वामीजी ने उन्हें बाह्य तप कहा है। आगे जिन छह तपों का वर्णन करने जा रहे हैं उन्हें स्वामीजी ने आभ्यन्तर तप कहा है।

उत्तराध्ययन में कहा है—"तप दो प्रकार का होता है। एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकार का है वैसे ही आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है। अनशन, अवमोदरिका, भिक्षाचर्या, रसत्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता—ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये छह आभ्यन्तर तप हैं[२]।"

स्वामीजी का विवेचन इसी क्रम से चल रहा है।

बाह्य तप और आभ्यन्तर तप की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं :

(१) जो तप मुख्य रूप से बाह्य शरीर का शोषण करते हुए कर्मक्षय करता है, वह बाह्य तप कहलाता है और जो मुख्य रूप से अन्तरवृत्तियों को परिशुद्ध करता हुआ

१—उत्त० ३० : २८ :

एगंतमणावाए इत्थीपसुविवज्जिए।
सयणासणसेवणया विवित्तसयणासणं ॥

२—वही : ३० : ७-८, ३० :

सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो एवमब्भन्तरो तवो ॥
अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥
पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो ॥

(९) अनवस्थाप्यार्ह और (१०) पारांचिकार्ह[1]। प्रत्येक की व्याख्या नीचे दी जाती है

(१) आलोचनार्ह आलोचना[2] करने से जिस दोष की शुद्धि होती हो, वह आलोचनार्ह दोष[3] कहलाता है। ऐसे दोष की आलोचना करना आलोचनार्ह प्रायश्चित कहलाता है[4]।

(२) प्रतिक्रमणार्ह • प्रतिक्रमण[5] से जिस दोष की शुद्धि होती हो[6] उसके लिए प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित है।

(३) तदुभयार्ह • आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों से जिस दोष की शुद्धि होती हो[7] उसकी आलोचना और प्रतिक्रमण करना तदुभयार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

(४) विवेकार्ह • किसी वस्तु के विवेक—त्याग—परिष्ठापन से दोष की शुद्धि हो तो उसका विवेक—त्याग करना—उसे परठना विवेकार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

१—(क) औपपातिक सम० ३०

(ख) आलोयणपडिक्कमणे मीसविवेगे तहा विउस्सग्गे।
तवछेअमूलअणवट्टया य पारंचिए चेव ॥
(दश० १ १ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

२—अपने दोष को गुरु के सम्मुख प्रकाशित करना—गुरु से कहना आलोचना कहलाती है।

३—भिक्षाचर्या आदि में कोई अतिचार हो जाता है, वह आलोचनार्ह दोष है। कहा है—भिक्षाचर्या आदि में कोई दोष न होने पर भी आलोचना न करने पर अविनय होता है। दोष हो जाने पर तो आलोचना आवश्यक है ही।

४—ठाणाङ्ग १० १ ७३३ की टीका :

आलोचना गुरुनिवेदन तयैव यत् शुद्धयति अतिचारजात तत्तदर्हत्वादालोचनार्हं तत्त शुद्धयर्थं यत्प्रायश्चित्त तदपि आलोचनार्हं तत् च आलोचना एव इत्येव सर्वत्र

५—मिथ्यादुष्कृत ग्रहण को प्रतिक्रमण कहते हैं। 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो'—ऐसी भावना प्रतिक्रमण कहलाती है।

६—समिति या गुप्ति की कमी से जो दोष हो जाता है, वह प्रतिक्रमणार्ह दोष कहलाता है।

७—मन से राग-द्वेष का होना तदुभयार्ह दोष है। उपयोगयुक्त साधु द्वारा एकेन्द्रियादि जीवों को संघट्ट से जो परिताप आदि हो जाता है, वह तदुभयार्ह दोष कहलाता है

(घ) अनशन आदि तप अन्यतीर्थी और गृहस्थों द्वारा भी किए जाते हैं अतः ये बाह्य हैं[1]।

प्रायश्चित्तादि आभ्यन्तर तप निम्न कारणों से आभ्यन्तर कहलाते हैं

(१) ये अन्य तीर्थियों से अनभ्यस्त और अप्रासुपार होते हैं अतः आभ्यन्तर हैं।

(२) ये अन्तःकरण के व्यापार से होते हैं अतः आभ्यन्तर हैं।

(३) इन्हें बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं होती अतः ये आभ्यन्तर हैं[2]।

निश्चय से बाह्य और आभ्यन्तर तप दोनों मंगलरूप हैं क्योंकि जब दोनों ही वैराग्य-वृत्ति और कर्मों को क्षय करने की दृष्टि से किये जाते हैं तभी शुद्ध होते हैं।

११—प्रायश्चित्त (गा० २२)

जिससे पाप का छेद हो अथवा जो प्रायः चित्त की विशोधि करता हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। कहा है

पापं छिनत्ति यस्मात् प्रायश्चित्तमिति भण्यते तस्मात्।
प्रायेण वापि चित्तं विशोधयति तेन प्रायश्चित्तम्[3]॥

दोष-शुद्धि के लिए योग्य प्रायश्चित्त ग्रहण कर उसे सम्यक् रूप से वहन करना प्रायश्चित्त तप कहलाता है।

आलोयणारिहाईयं पायच्छित्तं तु दसविहं।
जे भिक्खू वहइ सम्मं पायच्छित्तं तमाहियं[4]।

प्रायश्चित्त तप दस प्रकार का कहा गया है—(१) आलोचनार्ह (२) प्रतिक्रमणार्ह, (३) तदुभयार्ह (४) विवेकार्ह (५) व्युत्सर्गार्ह (६) तपार्ह, (७) छेदार्ह (८) मूलार्ह

१—तत्त्वा० ९.१९ राजवार्तिक
बाह्यद्रव्यापेक्षत्वाद् बाह्यत्वम्। १७।
परप्रत्यक्षत्वात्। १८।
तीर्थ्यगृहस्थकार्यत्वाच्च। १९। अनशनादि हि तीर्थ्यैर्गृहस्थैश्च क्रियते ततोऽप्यस्य बाह्यत्वम्।

२—वही ९.२० राजवार्तिक
अन्यतीर्थ्यानभ्यस्तत्वादुत्तरत्वम्। १।
अन्तःकरणव्यापारात्। २।
बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाच्च। ३।

३—दशवैकालिक सूत्र १.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत

४—उत्त० ३०.३१

(९) अनवस्थाप्यार्ह और (१०) पारांचिकार्ह[1]। प्रत्येक की व्याख्या नीचे दी जाती है

(१) आलोचनार्ह : आलोचना[2] करने से जिस दोष की शुद्धि होती हो, वह आलोचनार्ह दोष[3] कहलाता है। ऐसे दोष की आलोचना करना आलोचनार्ह प्रायश्चित कहलाता है[4]।

(२) प्रतिक्रमणार्ह : प्रतिक्रमण[5] से जिस दोष की शुद्धि होती हो[6] उसके लिए प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित है।

(३) तदुभयार्ह आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों से जिस दोष की शुद्धि होती हो[7] उसकी आलोचना और प्रतिक्रमण करना तदुभयार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

(४) विवेकार्ह : किसी वस्तु के विवेक—त्याग—परिष्ठापन से दोष की शुद्धि हो तो उसका विवेक—त्याग करना—उसे परठना विवेकार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

१—(क) औपपातिक सम० ३०

(ख) आलोयणपडिक्कमणे मीसविवेगे तहा विउस्सग्गे।
तवछेअमूलअणवट्ठया य पारचिए चेव ॥
(दश० १ १ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

२—अपने दोष को गुरु के सम्मुख प्रकाशित करना—गुरु से कहना आलोचना कहलाती है।

३—भिक्षाचर्या आदि में कोई अतिचार हो जाता है, वह आलोचनार्ह दोष है। कहा है—भिक्षाचर्या आदि में कोई दोष न होने पर भी आलोचना न करने पर अविनय होता है। दोष हो जाने पर तो आलोचना आवश्यक है ही।

४—ठाणाङ्ग १० १ ७३३ की टीका :

आलोचना गुरुनिवेदन तयैव यत् शुद्ध्यति अतिचारजात तत्तदर्हत्वादालोचनार्हं तत्त शुद्ध्यर्थं यत्प्रायश्चित्त तदपि आलोचनार्हं तत् च आलोचना एव इत्येव सर्वत्र

५—मिथ्यादुष्कृत ग्रहण को प्रतिक्रमण कहते हैं। 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो'—ऐसी भावना प्रतिक्रमण कहलाती है।

६—समिति या गुप्ति की कमी से जो दोष हो जाता है, वह प्रतिक्रमणार्ह दोष कहलाता है।

७—मन से राग-द्वेष का होना तदुभयार्ह दोष है। उपयोगयुक्त साधु द्वारा एकेन्द्रियादि जीवों को सघट्ट से जो परिताप आदि हो जाता है, वह तदुभयार्ह दोष कहलाता है

(ग) अनशन आदि तप अन्यतीर्थी और गृहस्थों द्वारा भी किए जाते हैं अतः ये बाह्य हैं[1]।

प्रायश्चित्तादि आभ्यन्तर तप निम्न कारणों से आभ्यन्तर कहलाते हैं

(१) ये अन्य तीर्थियों से अनभ्यस्त और अप्रात्तपार होते हैं अत. आभ्यन्तर हैं।

(२) ये अन्त करण के व्यापार से होते हैं अत आभ्यन्तर हैं।

(३) इन्हें बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं होती अत ये आभ्यन्तर हैं[2]।

निश्चय से बाह्य और आभ्यन्तर तप दोनों अन्तरङ्ग हैं क्योंकि जब दोनों ही वैराग्य-वृत्ति और कर्मों को क्षय करने की दृष्टि से किये जाते हैं तभी शुद्ध होते हैं।

११—प्रायश्चित्त (गा० २२)

जिससे पाप का छेद हो अथवा जो प्रायः चित्त की विशोधि करता हो, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। कहा है

> पापं छिनत्ति यस्मात् प्रायश्चित्तमिति भण्यते तस्मात्।
>
> प्रायेण वापि चित्तं विशोधयति तेन प्रायश्चित्तम्[3] ॥

दोष-शुद्धि के लिए योग्य प्रायश्चित्त ग्रहण कर उसे सम्यक् रूप से वहन करना प्रायश्चित्त तप कहलाता है।

> आलोयणारिहाईयं पायच्छित्तं तु दसविहं।
>
> जे भिक्खू वहई सम्मं पायच्छित्तं तमाहियं[4]।

प्रायश्चित्त तप दस प्रकार का कहा गया है—(१) आलोचनार्ह (२) प्रतिक्रमणार्ह, (३) तदुभयार्ह (४) विवेकार्ह (५) व्युत्सर्गार्ह (६) तपार्ह, (७) छेदार्ह (८) मूलार्ह,

---

१—तत्त्वा ९ १९ राजवार्तिक

बाह्यद्रव्यापेक्षत्वाद् बाह्यत्वम्। १७।

परप्रत्यक्षत्वात्। १८।

तीर्थ्यगृहस्थकार्यत्वाच्च। १९। अनशनादि हि तीर्थ्यैर्गृहस्थैश्च क्रियते ततोऽप्यस्य बाह्यत्वम्।

२—वही ९ २ राजवार्तिक :

अन्यतीर्थ्यानभ्यस्तत्वादुत्तरत्वम्। १।

अन्तःकरणव्यापारात्। २।

बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाच्च। ३।

३—दशवैकालिक सूत्र १ १ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत

४—उत्त ३० ३१

१२—विनय (गा० २३-२७) :

विनय तप सात प्रकार का कहा है : १-ज्ञान विनय, २-दर्शन विनय, ३-चारित्र विनय, ४-मन विनय, ५-वचन विनय, ६-काय विनय और ७-लोकोपचार विनय[1]। इनमें प्रत्येक का स्वरूप संक्षेप मे नीचे दिया जाता है -

१—ज्ञान विनय पाँच प्रकार का कहा है—(१) आभिनिवोधिक ज्ञानविनय, (२) श्रुतज्ञान विनय, (३) अवधिज्ञान विनय, (४) मन पर्यवज्ञान विनय और (५) केवलज्ञान विनय[2]।

२—दर्शन विनय[3] दो प्रकार का कहा गया है · (१) शुश्रूषाविनय और (२) अनाशातना विनय।

(१) शुश्रूषा विनय अनेक प्रकार का कहा गया है[4] अभ्युत्थान—आसन से खड़ा

१—(क) औपपातिक सम० ३०

(ख) भगवती २५ ७

(ग) णाणे दंसणचरणे मणवइकाओवयारिओ विणओ ।
णाणे पचपगारो मइणाणाईण सद्दहण ॥
भत्ती तह बहुमाणो तद्दिट्ठत्थाण सम्मभावणया ।
विहिगहणब्भासोवि अ एसो विणओ जिणाभिहिओ ॥
(दश० १ १ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

ज्ञान के प्रति श्रद्धा, भक्ति, बहुमान, दृष्टार्थों की सम्यग्भावनता—विचारना, तथा विधिपूर्वक ज्ञान-ग्रहण और उसके अभ्यास को ज्ञान विनय कहते हैं। ज्ञानी साधु के प्रति विनय को भी ज्ञान विनय कहते हैं।

२—पादटिप्पणी १ (ग)

३—सम्यक्त्व का विनय। दर्शन से दर्शनी अभिन्न होने से गुणाधिक सकल चारित्री में श्रद्धा करना—उसकी सेवा और अनाशातना को दर्शन विनय कहते है।

४—मिलावें उत्तराध्ययन ३ ३२ की निम्नलिखित गाथा ·

अब्भुट्ठाण अजलिकरण तहेवासणदायण
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा विणओ एस वियाहिओ ॥

तथा निम्नलिखित गाथाएँ :

सुस्सूसणा अणासायणा य विणओ अ दसणे दुविहो ।
दसणगुणाहिएसु कज्जइ सुस्सूसणाविणओ ॥
सक्कारब्भुट्ठाण सम्माणासण अभिग्गहो तह य ।
आसणअणुप्पयाण किइकम्म अजलिगहो अ ॥
एतस्सणुगच्छणया ठिअस्स तह पज्जुवासणा भणिया ।
गच्छताणुव्वयण एसो सुस्सूसणाविणओ ॥
(दसवेकालिक १.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

(५) व्युत्सर्गार्ह : व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग—कायचेष्टा के निरोध करने से जिस दोष की शुद्धि हो[1] उसके लिए वैसा करना व्युत्सर्गार्ह प्रायश्चित्त कहलाता है।

(६) तपार्ह : तप करने से जिस दोष की शुद्धि हो उसके लिए तप करना तपार्ह प्रायश्चित्त कहलाता है।

(७) छेदार्ह : चारित्र पर्याय के छेद से जिस दोष की शुद्धि होती हो, उसके लिए चारित्र पर्याय का छेद करना छेदार्ह प्रायश्चित्त कहलाता है।

(८) मूलार्ह : जिस दोष की शुद्धि सर्व व्रतपर्याय का छेद कर पुनः व्रत—महाव्रतों के आरोपण से होती हो उसके लिए वैसा करना मूलार्ह प्रायश्चित्त कहलाता है।

(९) अनवस्थाप्यार्ह : जिस दोष[2] की शुद्धि अनवस्था से—अमुक विशिष्ट तप न करने तक महाव्रत और वेष में न रखने से होती हो उसके लिए वैसा करना अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित्त कहलाता है।

(१०) पारांचिकार्ह : जिस महादोष[3] की शुद्धि पारांचिक—वेष और क्षेत्र त्याग कर महातप करने से होती हो उसके लिए वैसा करना पारांचिकार्ह प्रायश्चित्त कहलाता है।[4]

१—उच्चारप्रस्रवण नाव से नदी पार करने पर यह प्रायश्चित्त किया जाता है।

२—साधर्मिक की चोरी करना, परधर्मी की चोरी करना, किसी को हाथ से मारना—ऐसे दोष हैं।

३—दुष्ट, प्रमत्त और अन्योन्य मैथुनसेवी ऐसे दोष के भागी होते हैं।

४—छेदार्ह, मूलार्ह, अनवस्थाप्यार्ह और पारांचिकार्ह प्रायश्चित्तों में परस्पर निम्नलिखित भेद है :

छेदार्ह में चारित्र-पर्याय—चारित्रिक आयु एक हद तक घटा दी जाती है। दोषानुसार पूर्व चारित्र-पर्याय—चारित्रिक आयु को दिवस, पक्ष, मास या वर्ष से छेद—घटा कर साधु को छोटा कर देना छेदार्ह प्रायश्चित्त है। मूलार्ह में सम्पूर्ण चारित्र-पर्याय—चारित्रिक आयु का छेद कर दिया जाता है और साधु-जीवन पुनः शुरू करना पड़ता है। अनवस्थाप्यार्ह में साधु अमुक काल के लिए व्रतों से अनवस्थापित कर दिया जाता—हटा दिया जाता है और फिर अमुक तप कर चुकने के बाद उसे पुनः व्रतों में स्थापित किया जाता है। पारांचिक में विशेषता यह है कि साधु को क्षेत्र, वेष आदि से भी बहिष्कृत कर दिया जाता है (स्थानाङ्ग १ १ ७६३ की टीका)।

ज्ञान की अनाशातना, (१२) श्रुतज्ञान की अनाशातना, (१३) अवधिज्ञान की अनाशातना, (१४) मनःपर्यवज्ञान की अनाशातना, (१५) केवलज्ञान की अनाशातना, (१६-३०) अरिहंत यावत् केवलज्ञान—इन पन्द्रह की भक्ति और बहुमान, (३१-४५) अरिहंत यावत् केवलज्ञान—इन पन्द्रह का गुणवर्णन कर कीर्ति फैलाना।

३—चारित्र विनय[1] पांच प्रकार का कहा है (१) सामायिक चारित्र विनय, (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र विनय, (३) परिहारविशुद्धि चारित्र विनय, (४) सूक्ष्म-संपराय चारित्र विनय और (५) यथाख्यातचारित्र विनय।

४—मन विनय[2] दो प्रकार का कहा है (१) अप्रशस्त मनविनय और (२) प्रशस्त मनविनय।

(१) अप्रशस्त मन विनय बारह प्रकार का कहा है . (१) सावद्य—मन का हिंसा आदि पापों में प्रवृत्त होना (२) सक्रिय—मन का कायिक आदि क्रियाओं से युक्त होना (३) कर्कश—मन का कर्कशभावोपेत होना (४) कटुक—मन का अनिष्ट होना (५) निष्ठुर—मन का निष्ठुर—मार्दव रहित होना (६) कठोर—मन का कठोर—स्नेहरहित होना (७) आश्रवकर—मन का अशुभ कर्मों का उपार्जन करनेवाला होना (८) छेदनकारी—मन का छेदनकारी होना (९) भेदनकारी —मन का भेदनकारी होना (१०) परितापकारी—मन का परितापकारी होना (११) उपद्रवकारी—मन का मारणान्तिक वेदना करनेवाला होना और (१२) भूतोपघातिक—मन का भूतोपघातिक होना। इस प्रकार अप्रशस्त मन का प्रवर्तन नहीं करना चाहिए।

(२) प्रशस्त मन विनय बारह प्रकार[3] का कहा है (१) असावद्य—मनकी पाप

१—चारित्र में श्रद्धा तथा काय से चारित्र का सस्पर्श तथा भव्य सत्त्वों को उसकी प्ररूपणा करना चारित्र विनय कहलाता है। कहा है

सामाइयाइचरणस्स सद्दहाणं तहेव काएणं।
संफासणं परूवणमह पुरओ भव्वसत्ताणं॥
(दश० ९.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

२—मन को असावद्य, अपापक आदि रखना मन विनय तप है।

३—औपपातिक में अप्रशस्त मन के १२ भेद बताये हैं और उनसे विपरीत प्रशस्त मन के भेद जान लेने को कहा है।

भगवती (२५.७) में प्रशस्त मन के सात ही भेद बताये गए हैं जो इस प्रकार हैं —(१) अपापक (२) असावद्य (३) अक्रियक (४) निरुपक्लेशक (५) अनाश्रवकर (६) अक्षयिकर (७) अभूताभिशङ्कन। अप्रशस्त मन के सात भेद ठीक इनके विपरीत बताये हैं यथा पापक, सावद्य इत्यादि।

ठाणाङ्ग (७.३.५८५) मे प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों मन-विनय के सात-सात भेद उल्लिखित हैं जो भगवती के वर्णन से मिलते हैं।

होना (२) आसनाभिग्रह—जहाँ-जहाँ बैठने की इच्छा करे वहाँ-वहाँ आसन ले जाना[1] (३) आसनप्रदान—आसन देना[2] (४) सत्कार-स्तवन वन्दनादि करना (५) सम्मान करना (६) कृतिकर्म—वंदना करना (७) अञ्जलिकरणप्रग्रह—दोनों हाथ जोड़ना, (८) अनुगच्छनता—सम्मुख जाना (९) पर्युपासना—बैठे हुए की सेवा करना और (१०) प्रतिसंसाधनता—जाने पर पीछे जाना।

अनाशातना विनय[3] ४५ प्रकार का कहा है[4] (१) अरिहंतों की अनाशातना (२) अरिहंत प्ररूपित धर्म की अनाशातना (३) आचार्यों की अनाशातना, (४) उपाध्यायों की अनाशातना (५) स्थविरों[5] की अनाशातना (६) कुल[6] की अनाशातना (७) गण[7] की अनाशातना (८) संघ[8] की अनाशातना (९) क्रियावादियों[9] की अनाशातना (१०) संभोगी (एक समाचारी वालों) की अनाशातना, (११) आभिनिबोधिक

१—यह अर्थ अभयदेव (औपपातिक टीका) के अनुसार है। ठाणाङ्ग टीका में उन्होंने इसका अर्थ भिन्न ही किया है— आसनाभिग्रहः पुनस्तिष्ठत आदरेण आसनानयनपूर्वकमुपविशतात्रेति भणनं —इसका अर्थ है—बैठने के बाद आदरपूर्वक आसन लाकर 'यहाँ बैठ' इस प्रकार निमंत्रित करना।

२—ठाणाङ्ग टीका में उद्धृत गाथा में आसनानुप्रदान नाम मिलता है—जिसका अर्थ अभयदेव ने किया है—आसनस्य स्थानात्स्थानान्तरसञ्चारणं। यही अर्थ उन्होंने औपपातिक की टीका में 'आसनाभिग्रह' का किया है।

३—शुश्रूषा विनय और अनाशातना विनय में अन्तर यह है कि शुश्रूषा विनय उचित क्रिया-करण रूप है और अनाशातना विनय अनुचित क्रिया-निवृत्ति रूप।

४—मिलाएं—

तित्थगर धम्म आयरिय वायग थेर कुलगणे संघे।
संभोइय किरियाए मइनाणाईण य तहेव ॥
कायव्वा पुण भत्ती बहुमाणो तह य वण्णवाओ य।
अरिहंतमाइयाणं केवलनाणावसाणाणं ॥

(दश० ९.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

५—जो गच्छ की संस्थिति करे वह स्थविर अथवा जो दीक्षावय या श्रुतवय में बड़ा हो।

६—साधुओं के गच्छ—समुदाय को कुल कहते हैं।

७—साधुओं के कुल समुदाय को गण कहते हैं।

८—गण के समुदाय को संघ कहते हैं।

९—जीव है अजीव है आदि में श्रद्धा रखना है उसे क्रियावादी कहते हैं।

ज्ञान की अनाशातना, (१२) श्रुतज्ञान की अनाशातना, (१३) अवधिज्ञान की अनाशातना, (१४) मन पर्यवज्ञान की अनाशातना, (१५) केवलज्ञान की अनाशातना, (१६-३०) अरिहृत यावत् केवलज्ञान—इन पद्रह की भक्ति और बहुमान, (३१-४५) अरिहृत यावत् केवलज्ञान—इन पद्रह का गुणवर्णन कर कीर्ति फैलाना।

३—चारित्र विनय[1] पांच प्रकार का कहा है (१) सामायिक चारित्र विनय, (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र विनय, (३) परिहारविशुद्धि चारित्र विनय, (४) सूक्ष्म-सपराय चारित्र विनय और (५) यथाख्यातचारित्र विनय।

४—मन विनय[2] दो प्रकार का कहा है (१) अप्रशस्त मनविनय और (२) प्रशस्त मनविनय।

(१) अप्रशस्त मन विनय बारह प्रकार का कहा है (१) सावद्य—मन का हिंसा आदि पापों में प्रवृत्त होना (२) सक्रिय—मन का कायिक आदि क्रियाओ से युक्त होना (३) कर्कश—मन का कर्कशभावोपेत होना (४) कटुक—मन का अनिष्ट होना (५) निष्ठुर—मन का निष्ठुर—मार्दव रहित होना (६) कठोर—मन का कठोर—स्नेहरहित होना (७) आश्रवकर—मन का अशुभ कर्मों का उपार्जन करनेवाला होना (८) छेदनकारी—मन का छेदनकारी होना (९) भेदनकारी —मन का भेदनकारी होना (१०) परितापकारी—मन का परितापकारी होना (११) उपद्रवकारी—मन का मारणान्तिक वेदना करनेवाला होना और (१२) भूतोपघातिक—मन का भूतोपघातिक होना। इस प्रकार अप्रशस्त मन का प्रवर्तन नही करना चाहिए।

(२) प्रशस्त मन विनय बारह प्रकार[3] का कहा है (१) असावद्य—मनकी पाप

१—चारित्र में श्रद्धा तथा काय से चारित्र का सस्पर्श तथा भव्य सत्त्वों को उसकी प्ररूपणा करना चारित्र विनय कहलाता है। कहा है :

सामाइयाइचरणस्स सद्दहाण तहेव काएणं।
सफासण परुवणमह पुरओ भव्वसत्ताण॥
(दश १ १ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

२—मन को असावद्य, अपापक आदि रखना मन विनय तप है।

३—औपपातिक में अप्रशस्त मन के १२ भेद बताये हैं और उनसे विपरीत प्रशस्त मन के भेद जान लेने को कहा है।

भगवती (२५ ७) में प्रशस्त मन के सात ही भेद बताये गए हैं जो इस प्रकार हैं —(१) अपापक (२) असावद्य (३) अक्रियक (४) निरुपक्लेशक (५) अनाश्रवकर (६) अक्षयिकर (७) अभूताभिशङ्कन। अप्रशस्त मन के सात भेद ठीक इनके विपरीत बताये हैं यथा पापक, सावद्य इत्यादि।

ठाणाङ्ग (७ ३ ५८५) में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों मन-विनय के सात-सात भेद उल्लिखित हैं जो भगवती के वर्णन से मिलते हैं।

होना (२) आसनाभिग्रह—जहाँ-जहाँ बैठने की इच्छा करे वहाँ-वहाँ आसन ले जाना[1] (३) आसनप्रदान—आसन देना[2] (४) सत्कार-स्तवन वन्दनादि करना (५) सम्मान करना, (६) कृतिकर्म—वंदना करना (७) अञ्जलिकरणग्रह—दोनों हाथ जोड़ना, (८) अनुगच्छनता—सम्मुख जाना (९) पर्युपासना—बैठे हुए की सेवा करना और (१०) प्रतिसंसाधनता—जाने पर पीछे जाना।

अनाशातना विनय[3] ४५ प्रकार का कहा है[4] (१) अरिहंतों की अनाशातना (२) अरिहंत प्ररूपित धर्म की अनाशातना (३) आचार्यों की अनाशातना (४) उपाध्यायों की अनाशातना (५) स्थविरों[5] की अनाशातना (६) कुल[6] की अनाशातना (७) गण[7] की अनाशातना (८) संघ[8] की अनाशातना (९) क्रियावादियों[9] की अनाशातना (१०) संभोगी (एक समाचारी वालों) की अनाशातना, (११) आभिनिबोधिक

१—यह अर्थ अभयदेव (औपपातिक टीका) के अनुसार है। ठाणाङ्ग टीका में उन्होंने इसका अर्थ भिन्न ही किया है—"आसनाभिग्रहः पुनस्तिष्ठत एवादरेण आसनानयनपूर्वकमुपविशतात्रेति भणनं"—इसका अर्थ है—बैठने के बाद आदरपूर्वक आसन लाकर 'यहाँ बैठ' इस प्रकार निमंत्रित करना।

२—ठाणाङ्ग टीका में उद्धृत गाथा में आसनअनुप्रदान नाम मिलता है—जिसका अर्थ अभयदेव ने किया है—आसनस्य स्थानात्स्थानान्तरसञ्चारणं। यही अर्थ उन्होंने औपपातिक की टीका में 'आसनाभिग्रह' का किया है।

३—शुश्रूषा विनय और अनाशातना विनय में अन्तर यह है कि शुश्रूषा विनय उचित क्रिया-करण रूप है और अनाशातना विनय अनुचित क्रिया-निवृत्ति रूप।

४—मिलाव—

तित्थगर धम्म आयरिय वायग थेर कुल गणे संघे।
संभोइय किरियाए मइनाणाईण य तहेव॥
कायव्वा पुण भत्ती बहुमाणो तह य वण्णवाओ य।
अरिहंतमाइयाणं केवलनाणावसाणाणं॥

(दश० ९.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

५—जो गच्छ की संस्थिति करे वह स्थविर अथवा जो दीक्षावय या श्रुतवय में बड़ा हो।

६—साधुओं के गच्छ—समुदाय को कुल कहते हैं।

७—साधुओं के कुल समुदाय को गण कहते हैं।

८—गण के समुदाय को संघ कहते हैं।

९—जीव है अजीव है आदि में श्रद्धा रखता है उसे क्रियावादी कहते हैं।

(६) अनायुक्त प्रलघन और (७) अनायुक्त सर्वेन्द्रियकाययोगयोजनता[1]—सर्व इन्द्रियों की बिना उपयोग योगप्रवृत्ति।

(२) प्रशस्त काय विनय सात प्रकार का कहा गया है : (१) आयुक्त गमन—उपयोगपूर्वक गमन (२) आयुक्त स्थिति—उपयोगपूर्वक ठहरना (३) आयुक्त निषदन—उपयोगपूर्वक बैठना (४) आयुक्त शयन—उपयोगपूर्वक लेटना (५) आयुक्त उल्लघन—उपयोगपूर्वक ऊपर से निकलना (६) आयुक्त प्रलघन—उपयोगपूर्वक बार-बार उल्लघन (७) आयुक्त सर्वेन्द्रियकाययोगयोजनता—सर्व इन्द्रिय की उपयोगपूर्वक योगप्रवृत्ति।

७—लोकोपचार विनय[2] के सात प्रकार[3] हैं (१) अभ्यासवृत्तिता—आचार्यादि के समीप में रहना (२) पराभिप्रायानुवर्तन—उनके अभिप्राय का अनुसरण (३) कार्यहेतु[4] कार्य के लिए हेतु प्रदान—उदाहरणस्वरूप ज्ञानादि के लिए आहार देना (४) कृतप्रतिकृतिता[5]—प्रसन्न आचार्य अधिक ज्ञान देंगे, ऐसी बदले की भावना (५) आर्तगवेषणता—आर्त—रोगी आदि साधु की सारसभाल (६) देशकालज्ञता—अवसरोचित कार्य-सम्पादन

१—ठाणाङ्ग (७ ३ ५८५) में इसका नाम सर्वेन्द्रिययोगयोजनता मिलता है।

२—लोकव्यवहारानुकूल वर्तन।

३—लोकोपचार विनय को 'उपचार' विनय भी कहा गया है। उसके प्रकारों का वर्णन निम्न गाथा में मिलता है :

अब्भासऽच्छणछन्दाणुवत्तणं कयपडिकिकई तहय।
कारियणिमित्तकरण दुक्खत्तगवेसणा तहय॥
तह देसकालजाणण सव्वत्थेसु तहयणुमई भणिया।
उवआरिओ उ विणओ एसो भणिओ समासेणं॥

(दशवैकालिक ९ १ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

४—टिप्पणी न० ३ में उद्धृत गाथा में 'कार्यहेतु' के स्थान में 'कारियनिमित्तकरण' भेद बतलाया है। इसका अर्थ किया है—सम्यगर्थपदम् अध्यापित अस्माक विनयेन विशेषेण वर्त्तितव्य—हरिभद्र।

५—इसका अर्थ हरिभद्र ने (दश० ९.१ की टीका में) इस प्रकार किया है प्रसन्ना आचार्या सूत्रमर्थं तदुभय वा दास्यन्ति न नाम निर्जरेति आहारादिना यतितव्य

व्यापार में प्रवृत्ति (२) अक्रिय—मन का कायिकादि क्रिया रहित होना (३) अकर्कश—मन का कर्कश भावरहित होना (४) अकटुक—मन का दुष्ट होना (५) अनिष्ठुर—मन का मार्दवभावयुक्त होना (६) अकठोर—मन का कठोरता रहित होना (७) अनाश्रवकर—मन का अशुभ कर्मों को उपार्जन करनेवाला न होना (८) अछेदनकारी—मन की वृत्ति का छेदनकारी न होना (९) अभेदनकारी—मन की वृत्ति का अभेदनकारी होना (१०) अपरितापकारी—मन से दूसरों को परिताप पहुँचानेवाला न होना (११) अनुपद्रवकारी—मन से उपद्रव करनेवाला न होना और (१२) अभूतोपघातिक—मन से प्राणियों की घात करनेवाला न होना।

५—वचन विनय[1] दो प्रकार का कहा है—(१) अप्रशस्त वचन विनय और (२) प्रशस्त वचन विनय। अप्रशस्त वचन विनय और प्रशस्त वचन विनय का वर्णन क्रमशः अप्रशस्त मन विनय और प्रशस्त मन विनय की तरह ही करना चाहिए[2]।

६—काय विनय[3] दो प्रकार का कहा है (१) प्रशस्तकाय विनय (२) अप्रशस्त काय विनय।

(१) अप्रशस्त काय विनय सात प्रकार का कहा गया है (१) अनायुक्त गमन—बिना उपयोग (सावधानी) जाना (२) अनायुक्त स्थिति—बिना उपयोग खड़ा रहना (३) अनायुक्त निषदन—बिना उपयोग बैठना (४) अनायुक्त शयन—बिना उपयोग सोना (५) अनायुक्त उल्लंघन—बिना सावधानी कर्दम आदि के ऊपर से निकलना

१—वचन को असावद्य आदि रखना—वचन-विनय तप है

२—औपपातिक में १२ १२ भेदों का वर्णन है जब कि भगवती (२५ ७) और ठाणाङ्ग (७ ३.५८५) में ७ ७ भेदों का ही वर्णन है।

३—गमनादि क्रियाएँ करते समय काय (शरीर) को सावधान रखना—काय विनय तप है। मन वचन और काय विनय की परिभाषा निम्न गाथा में मिलती है :

मणवइकाइयविणओ आयरियाईण सव्वकालंपि।
अकुसलमणोनिरोहो कुसलाण उदीरणं तहय ॥

(दश १ ? की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

इसका अर्थ है—आचार्यादि के प्रति सदा अकुशल मनादि का निरोध और कुशल मनादि की उदीरणा। पर यह अर्थ मन-वचन-काय विनय के यहाँ वर्णित भेदों को देखने से घटित नहीं होता।

(३) परिवर्तना (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा[1] ।

स्वाध्याय के भेदो का फल-वर्णन इस प्रकार मिलता है

(१) वाचना से जीव निर्जरा करता है। श्रुत के अनुवर्तन से वह अनाशातना मे वर्तता है। इससे तीर्थ—धर्म का अवलम्बन करता है। जिससे कर्मो की महा निर्जरा और महा पर्यवसानवाला होता है।

(२) प्रतिपृच्छा से जीव, सूत्र और अर्थ दोनो की, विशुद्धि करता है तथा काक्षा-मोहनीय कर्म को व्युच्छिन्न करता है।

(३) परिवर्तना से जीव व्यजनो को प्राप्त करता है तथा व्यजन-लब्धि को उत्पादित करता है।

(४) अनुप्रेक्षा से जीव आयु छोड सात कर्म प्रकृतियो को, जो गाढ़े बधन से बधी हुई होती हैं, शिथिल बधन से बधी करता है, दीर्घकाल स्थितिवाली से ह्रस्वकाल स्थितिवाली करता है। बहुप्रदेशवाली को अल्प-प्रदेशवाली करता है। आयुष्य कर्म को वह कदाचित् बाधता है, कदाचित् नही बाधता तथा असातवेदनीय को बार-बार नही बाधता तथा अनादि, अनन्त, दीर्घ चारगति रूप ससार-कान्तार को शीघ्र ही व्यतिक्रम कर जाता है।

(५) धर्मकथा से निर्जरा करता है। धर्मकथा से प्रवचन की प्रभावना करता है और इससे जीव भविष्यकाल मे केवल शुभ कर्मो का ही बध करता है[2] ।

स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है[3] । कहा है

कम्ममसखेज्जभव खवेइ अणुसमयेव उवउत्तो।
अन्नयरम्मि वि जोए सज्झायम्मि य विसेसेण[4] ॥

१—उत्तराध्ययन (३० ३४) में इनकी सग्राहक गाथा इस प्रकार है

वायणा पुच्छणा चेव तहेण परियट्टणा ।
अणुप्पेहा धम्मकहा सज्झाओ पंचहा भवे ॥

२—उत्त० २६ १६-२३

३—उत्त० २६ १८

४—उत्त० २६ १८ की नेमिचन्द्रीय टीका में उद्धृत

१४—स्वाध्याय तप (गा० ३१)

स्वाध्याय[1] पाँच प्रकार का कहा गया है (१) वाचना[2] (२) प्रच्छना

१—उत्तम मर्यादापूर्वक अध्ययन—श्रुत के विशेष अनुसरण को स्वाध्याय कहते हैं। नन्दि आदि सूत्र विषयक वाचना को स्वाध्याय कहते हैं।

ठाणाङ्ग के अनुसार चार महा प्रतिपदा—आषाढ़ की पूर्णिमा के बाद की प्रतिपदा—इन्द्रमहप्रतिपदा कार्तिक की प्रतिपदा और चैत्र प्रतिपदा—में स्वाध्याय करना नहीं कल्पता (४ २ २८५)।

इसी तरह ठाणाङ्ग में पहली संध्या पश्चिमा संध्या मध्याह्न और अर्द्धरात्रि में स्वाध्याय करना अकल्पनीय बताया गया है तथा पूर्वाह्न अपराह्न प्रदोष और प्रत्यूष में स्वाध्याय करना कल्पनीय बताया है। पहली संध्या—सूर्योदय के पहले पश्चिमा संध्या—सूर्यास्त के समय पूर्वाह्न—दिन का प्रथम प्रहर और अपराह्न—दिन का द्वितीय प्रहर। प्रदोष—रात्रि का प्रथम प्रहर और प्रत्यूष—रात्रि का अन्तिम प्रहर (४ २ २८५)।

अकाल में स्वाध्याय करना असमाधि के बीस स्थानों में एक स्थान कहा गया है (समवायाङ्ग सम २)।

अकाल स्वाध्याय के दोष इस प्रकार बताये गये हैं

सुयणाणंमि अभत्ती लोगविरुद्धं पमत्तछलणा य।
विज्जासाहणवइगुण्णधम्मया एव मा कुणसु॥

२—वाचना प्रच्छना परिवर्तना अनुप्रेक्षा और धर्मकथा शब्दों का अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—अध्ययन पृच्छा आवृत्ति, सूत्र और अर्थ का बार-बार चिन्तन-मनन तथा व्याख्यान।

इन सबका परस्पर सम्बन्ध इस प्रकार है पढ़ाने के लिए कहने पर शिष्य के प्रति गुरु का प्रयोजक भाव अर्थात् पाठ पढ़ाना वाचना है। वाचना ग्रहण करने के बाद संशयादि उत्पन्न होने पर पुनः पूछना अर्थात् पूर्व अधीत सूत्रादि में शंका होने पर प्रश्न करना प्रच्छना कहलाता है। प्रच्छना से विशोधित सूत्र कहीं फिर न भूल जाय इस हेतु से सूत्र का बार-बार अभ्यास—गुणन करना परिवर्तना कहलाती है। सूत्र की तरह ही अर्थ के विषय में भी विस्मृति का होना संभव होने से अर्थ का बार-बार अनुप्रेक्षण—चिन्तन अनुप्रेक्षा कहलाता है। हरिभद्रसूरि के अनुसार मन से गुणन करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं—वाचा से नहीं। इस प्रकार अभ्यास किए हुए श्रुत द्वारा धर्म-कथा कहना—श्रुतधर्म की व्याख्या करना धर्मकथा है (ठाणाङ्ग ५ १ ४५ की टीका)। हरिभद्रसूरि के अनुसार सर्वज्ञप्रणीत अहिंसादि लक्षणरूप धर्म का अनुयोग—कथन धर्मकथा है (दश १ १ की टीका)।

(३) परिवर्तना (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा[1]।

स्वाध्याय के भेदों का फल-वर्णन इस प्रकार मिलता है

(१) वाचना से जीव निर्जरा करता है। श्रुत के अनुवर्तन से वह अनाशातना में वर्तता है। इससे तीर्थ—धर्म का अवलम्बन करता है। जिससे कर्मो की महा निर्जरा और महा पर्यवसानवाला होता है।

(२) प्रतिपृच्छा से जीव, सूत्र और अर्थ दोनों की, विशुद्धि करता है तथा कांक्षा-मोहनीय कर्म को व्युच्छिन्न करता है।

(३) परिवर्तना से जीव व्यजनो को प्राप्त करता है तथा व्यजन-लब्धि को उत्पादित करता है।

(४) अनुप्रेक्षा से जीव आयु छोड सात कर्म प्रकृतियों को, जो गाढे बधन से बधी हुई होती हैं, शिथिल बधन से बधी करता है, दीर्घकाल स्थितिवाली से ह्रस्वकाल स्थितिवाली करता है। बहुप्रदेशवाली को अल्प-प्रदेशवाली करता है। आयुष्य कर्म को वह कदाचित् बांधता है, कदाचित् नही बांधता तथा असातवेदनीय को बार-बार नही बांधता तथा अनादि, अनन्त, दीर्घ चारगति रूप ससार-कान्तार को शीघ्र ही व्यतिक्रम कर जाता है।

(५) धर्मकथा से निर्जरा करता है। धर्मकथा से प्रवचन की प्रभावना करता है और इससे जीव भविष्यकाल मे केवल शुभ कर्मों का ही बध करता है[2]।

स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है[3]। कहा है

> कम्ममसखेज्जभव खवेइ अणुसमयेव उवउत्तो।
> अन्नयरम्मि वि जोए सज्झायस्मि य विसेसेण[4]॥

१—उत्तराध्ययन (३० ३४) में इनकी सग्राहक गाथा इस प्रकार है

> वायणा पुच्छगा चेव तहेण परियट्टणा।
> अणुप्पेहा धम्मकहा सज्झाओ पंचहा भवे॥

२—उत्त० २९ १९-२३

३—उत्त० २९ १८

४—उत्त० २९ १८ की नेमिचन्द्रीय टीका में उद्धृत

१५—ध्यान तप (गा० ४०) :

ध्यान तप चार प्रकार का कहा गया है (१) आर्त ध्यान (२) रौद्र ध्यान (३) धर्म ध्यान और (४) शुक्ल ध्यान।

१—आर्त ध्यान[१] चार प्रकार का होता है (१) अमनोज्ञ-सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उसके विप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना[२] (२) मनोज्ञ-सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उसके अविप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना (३) आतंक-सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उसके विप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना (४) भोग में प्रीतिकारक कामभोगों के सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उनके अविप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना।

आर्त ध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं (१) क्रन्दन (२) शोक चिन्ता-दीनता (३) तेपनता—अश्रु बहाना और (४) विलपनता[५]—बार-बार क्लेशयुक्त बात कहना।

२—रौद्र ध्यान[६] चार प्रकार का कहा गया है (१) हिंसानुबंधी[७] (२) मृषानुबंधी[८]

१—स्थिर अध्यवसाय को ध्यान कहते हैं। चित्त चल है इसका किसी एक बात में स्थिर हो जाना ध्यान है (अं स्थिरमध्यवसानं तद् ध्यानं अं चलं तत् चित्तं)। एकाग्र चिन्तानिरोध ध्यान है (ठाणाङ्ग ४ १ २४७ की टीका)।

—भोग उपभोगों में मोहवश अति इच्छा—अभिलाषा का होना आर्त ध्यान है।

३—इसका अर्थ है अरुचिकर संयोग से संयुक्त होने पर उसका वियोग हो जाय इस कामना से निरन्तर ग्रस्त रहना।

४—इसका अर्थ है रुचिकर संयोग से संयुक्त होने पर उसका वियोग न हो जाय इस कामना से निरन्तर ग्रस्त रहना।

५ —भगवती सूत्र (२५ ७) में विलवणया'—विलपनता (औप सम २) के स्थान में 'परिदेवणया'—परिदेवना शब्द है। इसका अर्थ है बार बार क्लेश उत्पन्न करनेवाली भाषा का बोलना। ठाणाङ्ग (४ १ २४७) में भी 'परिदेवणया' ही मिलता है।

६—आत्मा का हिंसा आदि रौद्र—भयानक भावों में परिणत होना रौद्र ध्यान है। जिसका छेदन भेदन-मारण आदि क्रूर भावों में राग होता है उसके रौद्र ध्यान कहा जाता है।

७—दूसरों को मारने-पीटने काटने-ताड़ने की भावना करते रहने को हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान कहते हैं।

८ —झूठ बोलने की भावना करते रहना मृषानुबंधी रौद्र ध्यान है।

(३) स्तेयानुबधी[1] और (४) सरक्षणानुबधी[2]।

रौद्र ध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं (१) आसन्न दोप[3] (२) बहुल दोप[4] (३) अज्ञान दोप[5] और (४) आमरणान्त दोप[6]।

३—धर्म ध्यान[7] चार प्रकार का कहा गया है (१) आज्ञाविचय[8] (२) अपाय विचय[9] (३) विपाक विचय[10] और (४) सस्थान विचय[11]।

धर्म ध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं · (१) आज्ञारुचि[12] (२) निसर्ग रुचि[13] (३) उपदेश रुचि[14] और (४) सूत्र रुचि[15]।

धर्म ध्यान के चार अवलबन कहे गये हैं—(१) वाचना (२) प्रतिपृच्छा

१—परधन अपहरण की भावना करते रहना स्तेयानुबधी रौद्र ध्यान है।

२—धन आदि वस्तुओ के सरक्षण के लिए क्रूर भावों को पोपित करते रहना सरक्षणानुबधी रौद्र ध्यान है।

३—हिसा आदि पापों से बचने की चेष्टा का न होना।

४—हिसा आदि पापों में रात-दिन प्रवृत्ति करते रहना।

५—हिसा आदि पापों को धर्म मानते रहना।

६—मरने तक पाप का पश्चाताप न होना।

७—सर्वभूतों के प्रति दया की भावना, पांचो इन्द्रियों के विषयों से व्युपरम—उपशान्त भाव, बन्ध और मोक्ष, गमन और आगमन के हेतुओं पर विचार, पच महाव्रतादि ग्रहण की भावना—ये सब धर्म ध्यान हैं।

८—प्रवचन की पर्यालोचना—जिन-आज्ञा के गुणों का चितन।

९—रागद्वेषादि जन्य दोषों की पर्यालोचना।

१०—कर्मफल का चिन्तन।

११—जीव,लोक आदि के सस्थान का विचार।

१२—जिन-आज्ञा—जिन-प्रवचन में रुचि का होना।

१३—स्वाभाविक तत्त्वरुचि।

१४—साधु-सन्तों के उपदेश में रुचि। औपपातिक (सम० ३०) में मूल शब्द 'उवएसरुई' है। इसके स्थान में भगवती (२५.७) में 'ओगाढरुयि'—अवगाढ रुचि है और ठाणाङ्ग (४ १ २४७) में 'ओगाढरुती' है। इस शब्द का अर्थ है आगम में विस्तृत अवगाहन की रुचि।

१५—आगमों में रुचि का होना।

[१]५—ध्यान तप (गा० ४०) :

ध्यान[१] तप चार प्रकार का कहा गया है (१) आर्त ध्यान ( ) रौद्र ध्यान (३) धर्म ध्यान और (४) शुक्ल ध्यान।

१—आर्त ध्यान[२] चार प्रकार का होता है (१) अमनोज्ञ-सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उसके विप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना[३] (२) मनोज्ञ-सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उसके अविप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना[४] (३) आतंक-सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उसके विप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना (४) भोग में प्रीति-कारक कामभोगों के सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उनके अविप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना।

आर्त ध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं (१) क्रन्दन (२) शोच चिन्ता-दीनता (३) तेपनता—अश्रु बहाना और (४) विलपनता[५]—बार-बार क्लेशयुक्त बात कहना।

२—रौद्र ध्यान[६] चार प्रकार का कहा गया है (१) हिंसानुबंधी[७] (२) मृषानुबंधी[८]

१—स्थिर अध्यवसान को ध्यान कहते हैं। चित्त चल है इसका किसी एक वस्तु में स्थिर हो जाना ध्यान है (जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं)। एकाग्र चिन्तानिरोध ध्यान है (ठाणाङ्ग ४ १ २४७ की टीका)।

२—भोग-उपभोगों में मोहवश अति इच्छा—अभिलाषा का होना आर्त ध्यान है।

३—इसका अर्थ है अरुचिकर संयोग से संयुक्त होने पर उससे वियोग हो जाय इस कामना से निरन्तर ग्रस्त रहना।

४—इसका अर्थ है रुचिकर संयोग से संयुक्त होने पर उसका वियोग न हो जाय इस कामना से निरन्तर ग्रस्त रहना।

५—भगवती सूत्र (२५ ७) में 'विलवणया'—विलपनता (औप सम ३०) के स्थान में 'परिदेवणया'—परिदेवना शब्द है। इसका अर्थ है बार बार क्लेश उत्पन्न करनेवाली भाषा का बोलना। ठाणाङ्ग (४ १ २४७) में भी 'परिदेवणया' ही मिलता है।

६—आत्मा का हिंसा आदि रौद्र—भयानक भावों में परिणत होना रौद्र ध्यान है। जिसका उद्देश्य छेदन-मारण आदि क्रूर भावों में राग होता है उसका रौद्र ध्यान कहा जाता है।

७—दूसरों को मारने-पीटने बांधने-काटने की भावना करते रहने को हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान कहते हैं।

८—झूठ बोलने की भावना करते रहना मृषानुबंधी रौद्र ध्यान है।

शुक्ल ध्यान के चार अवलम्बन कहे गये हैं (१) क्षान्ति[1] (२) मुक्ति[2] (३) आर्जव[3] और (४) मार्दव[4]।

शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गई हैं (१) अपायानुप्रेक्षा[5] (२) अशुभानुप्रेक्षा[6] (३) अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा[7] और (४) विपरिणामानुप्रेक्षा[8]।

आर्त और रौद्र ध्यान को छोड कर सुसमाहित भाव से धर्म और शुक्ल ध्यान के ध्याने को बुद्धो ने ध्यान तप कहा है[9]।

१६—व्यत्सर्ग तप (गा० ४१-४५)

व्युत्सर्ग[10] तप दो प्रकार का कहा गया है १-द्रव्य व्युत्सर्ग[11] और (२)-भाव व्युसर्ग[12]।

१—द्रव्य व्युत्सर्ग तप चार प्रकार का कहा है (१) शरीर-व्युत्सर्ग[13] (२) गण-

---

१—क्षमा

२—निर्लोभता

३—ऋजुता—सरलता

४—मृदुता—निरभिमानता

५—हिंसा आदि आश्रव जन्य अनर्थों का चिन्तन।

६—यह ससार अशुभ है—ऐसा चिन्तन।

७—अनन्तवृत्तिता—ससार की जन्म-मरण की अनन्तता का चिन्तन।

८—वस्तुओं में प्रति समय परिणाम—अवस्थान्तर होता है, उसका चिन्तन।

९—उत्त० ३० ३५

> अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
> धम्मसुक्काइ झाणाइ झाण त तु बुहावए॥

१०—व्युत्सर्ग अर्थात् त्याग।

११—शारीरिक हलन-चलनादि क्रियाओं के त्याग, साधु-समुदाय के सहवास, वस्त्र, पात्रादि उपधि तथा आहार के त्याग को द्रव्य व्युत्सर्ग तप कहते हैं।

१२—क्रोधादि भाव तथा ससार और कर्म-उत्पत्ति के हेतुओं का त्याग—भाव व्युत्सर्ग-तप कहलाता है।

१३—शरीर व्युत्सर्ग तप की परिभाषा निम्न प्रकार मिलती है (उत्त० ३०.३६) :

> सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
> कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ॥

—शयन, आसन और स्थान मे जो भिक्षु चलनात्मक क्रिया नहीं करता—शरीर को हिलाता-डुलाता नहीं, उसके काय-व्युत्सर्ग नामक छठा आभ्यन्तर तप कहा गया है।

(३) परिवर्तना और (४) धर्मकथा[1]।

धर्म ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं कही गई हैं (१) अनित्य अनुप्रेक्षा[2] (२) अशरण अनुप्रेक्षा[3] (३) एकत्व अनुप्रेक्षा[4] और (४) संसार अनुप्रेक्षा[5]।

४—शुक्ल ध्यान[6] चार प्रकार का कहा गया है (१) पृथक्त्ववितर्क सविचारी[7] (२) एकत्ववितर्क अविचारी[8] (३) सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति[9] और (४) समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती[10]।

शुक्ल ध्यान के चार लक्षण[11] कहे गये हैं (१) विवेक[12] (२) व्युत्सर्ग[13] (३) अव्यथा[14] और (४) असंमोह[15]।

१—स्थानाङ्ग सूत्र में 'धर्मकथा' के स्थान पर 'अनुप्पेहा' (अनुप्रेक्षा) शब्द है। इसका अर्थ है गहरा चिन्तन।

२—संपत्ति आदि सर्व वस्तुएं अनित्य हैं—ऐसी भावना या चिन्तन।

३—दुःख से मुक्त करने के लिए धर्म के सिवा कोई शरण नहीं—ऐसी भावना।

४—मैं अकेला हूं मेरा कोई नहीं इत्यादि चिन्तन।

५—संसार जरा-मरणादि स्वरूपवाला है आदि चिन्तन।

६—जिसकी इन्द्रियां विषयों से सर्वथा पराङ्मुख होती हैं संकल्प-विकल्प का विकार जिसे नहीं सताता जिसके तीनों योग वश में हो चुके हों और जो सम्पूर्ण रूप से अन्तरात्मा होता है उसका सर्वोत्तम स्वच्छ ध्यान शुक्ल ध्यान कहलाता है।

७—एक द्रव्य के आश्रित नाना पर्यायों का श्रुत (शास्त्र) के अवलम्बन से भिन्न भिन्न विचार करना।

८—उत्पाद आदि पर्यायों में किसी एक पर्याय को अभेदरूप से लेकर अर्थ के आलम्बन से अर्थ और शब्द के विचार से रहित चिन्तन।

९—उस वक्त का ध्यान जब मन वचन योग रोका जा चुका हो पर काययोग—उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रियाओं से निवृत्ति न हो पाई हो। यह चौदहवें गुणस्थान में योग निरोध करते समय केवली के होता है।

१०—जिस समय समस्त क्रियाओं का उच्छेद हो जाता है उस समय का अनुपरति स्वभाववाला ध्यान।

११—भगवती सूत्र (२५.७) में इन्हें शुक्ल ध्यानका अवलम्बन कहा गया है।

१२—शरीर से आत्मा की भिन्नता का विवेक।

१३—निःसङ्गता—देह और उपधि का निर्संकोच त्याग।

१४—व्यथा या भय का अभाव।

१५—विषयों में मूढ़ता—संमोहन का अभाव।

शुक्ल ध्यान के चार अवलम्बन कहे गये हैं (१) क्षान्ति[1] (२) मुक्ति[2] (३) आर्जव[3] और (४) मार्दव[4]।

शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गई हैं (१) अपायानुप्रेक्षा[5] (२) अशुभानुप्रेक्षा[6] (३) अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा[7] और (४) विपरिणामानुप्रेक्षा[8]।

आर्त और रौद्र ध्यान को छोड कर सुसमाहित भाव से धर्म और शुक्ल ध्यान के ध्याने को बुद्धो ने ध्यान तप कहा है[9]।

१६—व्युत्सर्ग तप (गा० ४१-४५)

व्युत्सर्ग[10] तप दो प्रकार का कहा गया है १-द्रव्य व्युत्सर्ग[11] और (२)-भाव व्युसर्ग[12]।

१—द्रव्य व्युत्सर्ग तप चार प्रकार का कहा है (१) शरीर-व्युत्सर्ग[13] (२) गण-

---

१—क्षमा

२—निर्लोभता

३—ऋजुता—सरलता

४—मृदुता—निरभिमानता

५—हिंसा आदि आश्रव जन्य अनर्थों का चिन्तन।

६—यह ससार अशुभ है—ऐसा चिन्तन।

७—अनन्तवृत्तिता—ससार की जन्म-मरण की अनन्तता का चिन्तन।

८—वस्तुओं में प्रति समय परिणाम—अवस्थान्तर होता है, उसका चिन्तन।

९—उत्त० ३० ३५

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं झाणं तं तु बुहावए॥

१०—व्युत्सर्ग अर्थात् त्याग।

११—शारीरिक हलन-चलनादि क्रियाओं के त्याग, साधु-समुदाय के सहवास, वस्त्र, पात्रादि उपधि तथा आहार के त्याग को द्रव्य व्युत्सर्ग तप कहते हैं।

१२—क्रोधादि भाव तथा ससार और कर्म-उत्पत्ति के हेतुओं का त्याग—भाव व्युत्सर्ग-तप कहलाता है।

१३—शरीर व्युत्सर्ग तप की परिभाषा निम्न प्रकार मिलती है (उत्त० ३०.३६) :

सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सगो, छट्ठो सो परिकित्तिओ॥

—शयन, आसन और स्थान में जो भिक्षु चलनात्मक क्रिया नहीं करता—शरीर को हिलाता-डुलाता नहीं, उसके काय-व्युत्सर्ग नामक छठा आभ्यन्तर तप कहा गया है।

व्युत्सर्ग[1] (३) उपधि-व्युत्सर्ग[2] और (४) आहार-व्युत्सर्ग[3]।

२—भाव व्युत्सर्ग तप तीन प्रकार का कहा है—(क) कषाय-व्युत्सर्ग[4] (ख) संसार व्युत्सर्ग और (ग) कर्म-व्युत्सर्ग।

(क) कषाय-व्युत्सर्ग तप[5] चार प्रकार का कहा है (१) क्रोधकषाय-व्युत्सर्ग, (२) मानकषाय-व्युत्सर्ग (३) मायाकषाय-व्युत्सर्ग और (४) लोभकषाय-व्युत्सर्ग।

(ख) संसार-व्युत्सर्ग तप[6] चार प्रकार का कहा है (१) नरयिकसंसार-व्युत्सर्ग (२) तिर्यक्संसार[7]-व्युत्सर्ग (३) मनुष्यसंसार-व्युत्सर्ग और (४) देवसंसार-व्युत्सर्ग।

(ग) कर्म-व्युत्सर्ग तप[8] आठ प्रकार का कहा है : (१) ज्ञानावरणीयकर्म-व्युत्सर्ग (२) दर्शनावरणीयकर्म-व्युत्सर्ग (३) वेदनीयकर्म-व्युत्सर्ग (४) मोहनीयकर्म-व्युत्सर्ग (५) आयुष्यकर्म-व्युत्सर्ग (६) नामकर्म-व्युत्सर्ग (७) गोत्रकर्म-व्युत्सर्ग और (८) अन्तरायकर्म-व्युत्सर्ग।

१—तपस्या या उत्कृष्ट साधना के लिए साधु-समुदाय का त्याग कर एकाकी रहना—गण-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

२—वस्त्र, पात्र आदि उपधि का त्याग—उपधि-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

३—भक्त-पान आदि का त्याग—आहार-व्युत्सर्ग कहलाता है।

४—अनुच्छेद १ २ और ३ के विषय को समझ करनेवाली निम्नलिखित गाथाएँ मिलती हैं :

दव्वे भावे अ तहा दुहा विसग्गो चउव्विहो दव्वे।
गणदेहोवहिभत्ते भावे कोहाइचाओ त्ति॥
काले गणदेहाणं, अतिरित्ताशुद्धभत्तपाणाणं।
कोहाइयाण सययं कायव्वो होई चाओ त्ति॥

(दश० १ १ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

५—क्रोध मान माया और लोभ—ये चार कषाय हैं। इनमें से प्रत्येक का त्याग कषाय-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

६ नरक, तिर्यञ्च मनुष्य और देव—ये चार गतियाँ हैं। इन गतियों में जीव के भ्रमण को संसार कहते हैं। उन भावों—कार्यों का त्याग जिससे जीव का नरकादि गतियों में भ्रमण होता है—संसार-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

७—पृथ्वी जल, अग्नि वायु और वनस्पति—इन एकेन्द्रिय से लेकर पशु पक्षी आदि तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय तक के जीवों की गति।

८—जिससे जीव संसार में बंधा हुआ है और भव-भ्रमण करता है उन्हें कर्म कहते हैं। ये ज्ञानावरणीय आदि के भेद से आठ प्रकार के हैं। उन भावों—कार्यों का त्याग जो इन आठ प्रकार के कर्मों की उत्पत्ति के हेतु हों—कर्म-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

१७— तप, संवर, निर्जरा (गा० ४६-५२) :

इन गाथाओ मे स्वामीजी ने निम्न तथ्यो पर प्रकाश डाला है

१—आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक की हुई तपस्या किस प्रकार कर्म-क्षय करती है (गा० ४६)।

२—आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक तप किसके हो सकता है (गा० ४७-५१)।

३—सवर और निर्जरा का सम्बन्ध (गा० ४७-५१)।

४—तपस्या की महिमा (५०-५२)।

नीचे इन पर क्रमश प्रकाश डाला जा रहा है

१—आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक की हुई तपस्या किस प्रकार कर्म-क्षय करती है·

स्वामीजी ने सकाम तप की कार्य-प्रणाली को चुम्बक रूप में इस प्रकार बताया है "ते करम उदीर उदे आंण खेरे"—वह कर्मों को उदीर्ण कर, उदय में ला उन्हें बिखेर देता है। इस विषय का सामान्य स्पष्टीकरण पहले आ चुका है।[1] जिस तरह समय पाकर फल अपने आप पक जाते हैं उसी तरह नाना गति और जीव-जातियो में भ्रमण करते हुए प्राणी के शुभाशुभ कर्म क्रम से परिपाक-काल को प्राप्त हो अनुभवोदयावलि में प्रविष्ट हो फल देकर अपने आप झड जाते हैं। यह विपाकजा निर्जरा है। सकाम तप इस स्वाभाविक क्रम से कार्य नही करता। वह अपने सामर्थ्य से जिन कर्मों का उदय-काल नही आया होता है, उन्हें भी बलात् उदयावलि में लाकर झाड देता है। जिस तरह आम और पनस को औपक्रमिक क्रिया अकाल मे ही पका डालती है उसी तरह सकाम तप उदयावलि के बाहर स्थित कर्मों को खीचकर उदयावलि में ले आता है। इस तरह उन कर्मों का वेदन हो उनकी निर्जरा होती है। सकाम तप अविपाकजा निर्जरा का हेतु होता है[2]।

१—देखिए पृ० ६१० (ऊ)

२—तत्त्वा० ८ २३ सर्वार्थसिद्धि

तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघूर्णिते ससारमहार्णवे चिर परिभ्रमत शुभाशुभस्य कर्मण क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्यानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य या निवृत्ति सा विपाकजा निर्जरा। यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रिया-विशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्योदयावलि प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा।

व्युत्सर्ग[1] (३) उपधि-व्युत्सर्ग[2] और (४) आहार-व्युत्सर्ग[3]।

२—भाव व्युत्सर्ग तप तीन प्रकार का कहा है—(क) कषाय-व्युत्सर्ग[4] (ख) संसार व्युत्सर्ग और (ग) कर्म-व्युत्सर्ग।

(क) कषाय-व्युत्सर्ग तप[5] चार प्रकार का कहा है (१) क्रोधकषाय-व्युत्सर्ग, (२) मानकषाय-व्युत्सर्ग (३) मायाकषाय-व्युत्सर्ग और (४) लोभकषाय-व्युत्सर्ग।

(ख) संसार-व्युत्सर्ग तप[6] चार प्रकार का कहा है (१) नरकसंसार-व्युत्सर्ग (२) तिर्यक्संसार[7]-व्युत्सर्ग (३) मनुष्यसंसार-व्युत्सर्ग और (४) देवसंसार-व्युत्सर्ग।

(ग) कर्म-व्युत्सर्ग तप[8] आठ प्रकार का कहा है : (१) ज्ञानावरणीयकर्म-व्युत्सर्ग (२) दर्शनावरणीयकर्म-व्युत्सर्ग (३) वेदनीयकर्म-व्युत्सर्ग (४) मोहनीयकर्म-व्युत्सर्ग (५) आयुष्यकर्म-व्युत्सर्ग (६) नामकर्म-व्युत्सर्ग (७) गोत्रकर्म-व्युत्सर्ग और (८) अन्तरायकर्म-व्युत्सर्ग।

१—तपस्या या उत्कृष्ट साधना के लिये साधु-समुदाय का त्याग कर एकाकी रहना—गण-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

२—वस्त्र, पात्र आदि उपधि का त्याग—उपधि-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

३—भक्त-पान आदि का त्याग—आहार-व्युत्सर्ग कहलाता है।

४—अनुच्छेद १ २ और ३ के विषय को संग्रह करनेवाली निम्नलिखित गाथाएँ मिलती हैं :

> दव्वे भावे अ तहा दुहा विसग्गो चउव्विहो दव्वे।
> गणदेहोवहिभत्ते भावे कोहाइचाओ त्ति॥
> काले गणदेहाणं अतिरित्ताऽसुद्धभत्तपाणाणं।
> कोहाइयाण सययं कायव्वो होइ चाओ त्ति॥
>
> (दश० १ १ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

५—क्रोध मान माया और लोभ—ये चार कषाय हैं। इनमें से प्रत्येक का त्याग कषाय-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

६—नारक, तिर्यञ्च मनुष्य और देव—ये चार गतियाँ हैं। इन गतियों में जीव के भ्रमण को संसार कहते हैं। उन भावों—हेतुओं का त्याग जिनसे जीव का नरकादि गतियों में भ्रमण होता है—संसार-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

७—पृथ्वी जल, अग्नि वायु और वनस्पति—इन एकेन्द्रिय से लेकर पशु पक्षी आदि तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय तक के जीवों की पंक्ति।

८—जिनसे जीव संसार में बंधा हुआ है और भव-भ्रमण करता है उन्हें कर्म कहते हैं। ये ज्ञानावरणीय आदि भेद से आठ प्रकार के हैं। उन भावों—कार्यों का त्याग जो इन आठ प्रकार के कर्मों की उत्पत्ति के हेतु हों—कर्म-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

मव्य (कर्म-पुद्‌गलों) की उदीरणा करता है, किन्तु अनुत्थान आदि के द्वारा उदीरणा नही करता[1]।"

उदीरक पुरुषार्थ के दो रूप हैं। कर्म की उदीरणा करण के द्वारा होती है। करण का अर्थ है—योग। योग तीन प्रकार के हैं—(१) काय व्यापार, (२) वचन व्यापार और (३) मन व्यापार। उत्थान आदि इन्ही के प्रकार हैं। योग शुभ और अशुभ दोनो प्रकार का होता है। शुभ योग तपस्या है, सत्प्रवृत्ति है। वह उदीरणा का हेतु है। उदीरणा द्वारा लम्बे समय के वाद तीव्र भाव से उदय में आने वाले कर्म तत्काल और मन्द भाव से उदय मे आ जाते हैं। इससे आत्मा शीघ्र उज्वल वन जाती है।

क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्ति अशुभ योग है। उससे भी उदीरणा होती है, पर आत्म-शुद्धि नही होती, पाप कर्मों का वन्ध होता है[2]।

उदीरणा उदयावलिका के वहिर्भूत कर्म पुद्‌गलो की ही होती है। उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म पुद्‌गलो की उदीरणा नही होती। उदीरणा अनुदीर्ण कर्मों की ही होती है। अनुदित कर्मों की उदीरणा तप के द्वारा सम्भव है।

यहाँ प्रश्न उठता है क्या उदीरणा सभी कर्मों की सम्भव है ? कर्म दो प्रकार के होते हैं—एक निकाचित और दूसरे दलिक। निकाचित उन कर्मों को कहते हैं जिनका विपाक अन्यथा नही हो सकता। दलिक उन कर्मों को कहते हैं जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है। इसी आधार पर कर्म के अन्य दो भेद मिलते हैं—(१) सोपक्रम और (२) निरूपक्रम। जो कर्म उपचार-साध्य होता है वह सोपक्रम है। जिसका कोई प्रती-कार नही होता, जिसका उदय अन्यथा नही हो सकता वह निरूपक्रम है।

ऊपर में एक जगह ऐसा वर्णन आया है कि तप निकाचित कर्मों का भी क्षय करता है। यह एक मत है। दूसरा मत यह है कि निकाचित कर्मों की अपेक्षा जीव परवश है।

१—वही

गोयमा ! त उट्ठाणेण वि, कम्मेण वि, वलेण वि, वीरियेण वि, पुरिसक्कारपरक्कमेण वि अणुदिण्ण उदीरणाभवि यकम्म उदीरेइ , णो त अणुट्ठाणेण, अकम्मेण अवलेण, अवीरिएण, अपुरिसक्कारपरिक्कमेण अणुदिण्ण उदीरणाभवियं कम्म उदीरेइ ।

२—देखिए पृ० ६१२

निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की अपेक्षा दोनों बातें हैं। जहाँ जीव उन्हें अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता वहाँ वह उस कर्म के अधीन होता है और जहाँ जीव तप की सहायता से सत्प्रयत्नशील होता है वहाँ वह कर्म उसके अधीन होता है। उदय काल से पूर्व कर्मों को उदय में ला तोड़ डालना उनकी स्थिति और रस को मन्द कर देना—यह सब इसी स्थिति में हो सकता है। यही उदीरणा है[1]।

२—आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक तप किसके हो सकता है?

उमास्वाति लिखते हैं—'संवृतस्य तपसोपक्रमात् निर्जरा'[2] —संवरयुक्त जीव का तप उपक्रम निर्जरा है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—"सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, मोहोपशमक, उपशान्तमोह, मोहक्षपक, क्षीणमोह और जिन—इनके क्रमशः असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा हुआ करती है[3]।

साधु रत्नसूरि लिखते हैं— सकाम निर्जरा साधु के होती है। वह बारह प्रकार के तप से होनेवाली कर्मक्षयरूप निर्जरा है[4]।

स्वामी कार्तिकेय लिखते हैं 'निदानरहित अहंकार-शून्य ज्ञानी के बारह प्रकार के तप से तथा वैराग्य भावना से निर्जरा होती है[5]।

१—जैन धर्म और दर्शन पृ० २९२-९६ ; ३ ४ ३ ७ ; ११ ११

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : उमास्वातीय नवतत्त्वप्रकरण गा० ११

३—तत्त्वा० ९.४७

४—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : वृत्त्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरण गा० ११।४१ की साधु रत्नसूरिकृत अवचूर्णि :

तत्र सकामा साधूनां। ... तत्र सकामा द्वादश प्रकारतपोविहित कर्मक्षयरूपा

५—द्वादशानुप्रेक्षा : निर्जरा अनुप्रेक्षा गा० १०२

बारसविहेण तवसा णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्गभावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स॥

उपर्युक्त अवतरणो से स्पष्ट है कि सकाम तप का पात्र कौन है, इस सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न मत हैं। कई विद्वानो ने साधु को ही इसका पात्र माना है और कइयो ने श्रावक और सम्यक्दृष्टि को भी। पर मिथ्यात्वी का उल्लेख किसी ने भी नही किया। इससे सामान्य मत यह लगता है कि सकाम तप मिथ्यादृष्टि के नही होता।

स्वामीजी ने साधु, श्रावक और सम्यक्दृष्टि की तरह मिथ्यात्वी के भी सकाम तप माना है, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। वे लिखते हैं :

निरवद करणी करे समदिष्टी, तेहीज करणी करे मिथ्याती तांम।
यां दोयां रा फल आछा लागें, ते सूतर में जोवो ठांम ठांम[1] ॥

पँहलें गुणठांणे करणी करें, तिणरे हुवें छें निरजरा धर्म।
जो घणो घणो निरवद प्राकम करें, तो घणा घणा कटे छें कर्म[2]।

उपर्युक्त उद्‌गारो से स्पष्ट है कि स्वामीजी ने मिथ्यात्वी के लिए भी निरवद्य करनी का फल वैसा ही अच्छा बतलाया है जैसा कि सम्यक्त्वी को होता है। मिथ्यात्वी गुण-स्थान में स्थित व्यक्ति के भी निरवद्य करनी से निर्जरा धर्म होता है। उसका निरवद्य पराक्रम जैसे-जैसे बढता है वैसे-वैसे उसे अधिक निर्जरा होती है। मिथ्यात्वी के भी शुभ योग होता है—"मिथ्याती रे पिण सुभ जोग जाण हो।" वह भी निरवद्य करनी से कर्मों को चकचूर करता है—"ते पिण कर्म करें चकचूर रे।"

आगम में शीलसम्पन्न, पर श्रुत और सम्यक्त्व रहित को भी मोक्ष-मार्ग का देश आराधक कहा है। स्वामीजी कहते हैं—मिथ्यात्वी को देश आराधक कैसे कहा? उसके जरा भी विरति नही फिर भी उसे देश आराधक कहने का क्या कारण है? मिथ्यात्वी भी यदि शीलसम्पन्न होता है तो उसके निर्जरा धर्म होता है इसी अपेक्षा से उसे देश आराधक कहा है

सीलें आचार करें सहीत छें रे, पिण सूतर ने समकत तिणरें नांहि रे।
तिणनें आराधक कह्यो देस थी रे, विचार कर जोवो हीया मांहि रे ॥

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) : मिथ्याती री करणी री चौपई ढा० १ गा० ३९
२—वही ढा० २ दो० ३

निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की अपेक्षा दोनों बातें हैं। जहाँ जीव उन्हें अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता वहाँ वह उस कर्म के अधीन होता है और जहाँ जीव तप की सहायता से सत्प्रयत्नशील होता है वहाँ वह कर्म उसके अधीन होता है। उदय काल से पूर्व कर्मों को उदय में ला [illegible] डालना उनकी स्थिति और रस को मन्द कर देना—यह सब इसी स्थिति में हो सकता है। यही उदीरणा है[1]।

२—आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक तप किसके हो सकता है?

उमास्वाति लिखते हैं—'संवृततपउपधानात्तु निर्जरा'[2] —संवरयुक्त जीव का तप उपधान निर्जरा है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—"सम्यग्दृष्टि श्रावक विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक दर्शनमोहक्षपक मोहोपशमक उपशान्तमोह, मोहक्षपक क्षीणमोह और जिन—इनके क्रमशः असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा हुआ करती है[3]।"

साधु रत्नसूरि लिखते हैं— सकाम निर्जरा साधु के होती है। यह बारह प्रकार के तप से होनेवाली कर्मक्षयरूप निर्जरा है[4]।

स्वामी कार्तिकेय लिखते हैं 'निदानरहित अहंकार-शून्य ज्ञानी के बारह प्रकार के तप से तथा वैराग्य भावना से निर्जरा होती है[5]।'

१—जैन धर्म और दर्शन पृ० २९२-९६ ; ३ ४ ३ ७ ; ११ ११

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : उमास्वातीय नवतत्त्वप्रकरण गा० ११

३—तत्त्वा० ९ ४७

४—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : वृत्त्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरण गा० ११ । ४१ की साधु रत्नसूरिकृत अवचूर्णि :

तत्र सकामा साधूनां । तत्र सकामा द्वादश प्रकारतपोविहित कर्मक्षयरूपा

५—द्वादशानुप्रेक्षा : निर्जरा अनुप्रेक्षा गा० १ २ :

बारसविहेण तवसा णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि ।
वेरग्गभावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स ॥

तामली तापस की तपस्या का वर्णन करते हुऐ स्वामीजीने लिखा है

तामलीतापस तप कीधो घणो रे, साठ सहस वरसां लग जांण रे।
वेले वेले निरतर पारणो रे, वैराग भावे सुमता आंण रे॥
आहार वेहरी नें ल्यायो तेहनें रे, पांणी सू धोयो इकवीस वार रे।
सार काढनें कूकस राखीयो रे, ऐहवो पारणें कीयो आहार रे॥
तिष सथारो कीयो भला परिणाम स् रे, जब देवदेवी आया तिण पास रे।
त्यां नाटक पोड विवध परकारना रे, पछे हाथ जोडी करें अरदास रे॥
म्हे चमरचचा राजध्यांनी तणा रे, देवदेवी हूआ म्हें सर्व अनाथ रे।
इन्द्र हूतो ते म्हारो चव गयो रे, थे नीहाणो कर हुवो म्हांरा नाथ रे॥
इम कहे नें देवदेवी चलता रह्या रे, पिण तामली न कीयो नीहाणो ताय रे।
तिण करम निरजरिया मिथ्याती थकां रे, ते इसांण इन्द्र हुवो छें जाय रे॥
ते देव चवी नें होसी मांनवी रे, महाविदेह खेतर मझार रे।
ते साध थइ नें सिवपुर जावसी रे, ससार नों आवागमण निवार रे॥
इण करणी कीधी छें मिथ्याती थकें रे, तिण करणी सू घटीयो छें संसार रे।
इन्द्र हुवो छें तिण करणी थकी रे, इण करणी सू हुवो एका अवतार रे[1]।

मिथ्यात्वी के सकाम निर्जरा होती है या नही, इस विषय की चर्चा 'सेन प्रश्नोत्तर' में भी है। सार इस प्रकार है—"चरक, परिव्राजक, तामल्य आदि मिथ्यात्वी तपश्चर्यादि अज्ञान कष्ट करते हैं उनके सकाम निर्जरा होती है अथवा अकाम ? कुछ लोगो का मत है कि उनके अकाम निर्जरा ही होती है। इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है। मिथ्यादृष्टि चरक, परिव्राजक आदि हमारा कर्मक्षय हो—ऐसी बुद्धि से तपश्चरणादि अज्ञान कष्ट करते हैं उनके सकाम निर्जरा सम्भव है। सकाम निर्जरा का हेतु द्विविध तप है। बाह्य तपो को, बाह्य द्रव्य की अपेक्षा होने से, पर-प्रत्यक्षत्व होने से तथा कुतीर्थिको द्वारा स्वाभि-प्राय से आसेव्यत्व प्राप्त होने से, बाह्यत्व माना गया है। इसके अनुसार षट्विध बाह्य तप कुतीर्थिको द्वारा भी आसेव्य होता है और उनके भी सकाम निर्जरा होती है भले ही वह सम्यग्दृष्टि की सकाम निर्जरा की अपेक्षा थोडी हो। भगवती (८ १०) में कहा है—बालतपस्वी—'देसाराहए'—देशाराधक होता है। सम्यग्बोध के न

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) मिथ्याती री करणी री चौपई: ढा० २ गा० २८-३४

वेस बकी तो आराधक कह्यों रे पेंहलें गुणठाणे ते किण न्याय रे।
विरत नहीं छें तिणरें सर्वथा रे, निरजरा लेखे कह्यों जिनराय रे[1] ॥

भगवती में असोच्चा केवली का उल्लेख है। वह धर्म सुने बिना निरवद्य करनी करते-करते केवली बन जाता है। यदि उसके मिथ्यात्व दशा में निर्जरा नहीं होती तो वह केवली कैसे बनता ? स्वामीजी लिखते हैं :

असोचा केवली हुआ इण रीत सूं रे, मिथ्याती थकां तिण करणी कीध रे।
कर्म पतला पड्या मिथ्याती थकां रे, तिण सूं अनुक्रमें सिवपुर लीध रे ॥
जो मिथ्याती थकों तपसा करतों नहीं रे, मिथ्याती थकों नहीं लेतो आताप रे
क्रोधादिक नहीं पाडवो पातला रे, तो किण विध कटता इणरा पाप रे ॥
जो लेस्या परिणाम भला हुंता नहीं रे, तो किण विध पामत विभंग अनांण रे।
इत्यादिक कीधां सूं हुवो समकती रे, अनुक्रमें पोहतो छें निरवांण रे ॥
पेंहलें गुणठांणे मिथ्याती थकां रे, निरवद करणी कीधीं छें तांम रे।
तिण करणी री नीव लागी छें मुगत री रे, ते करणी चोखी ने सुध परिणाम रे ॥

मिथ्यात्वी भी वैरागी हो सकता है। उसकी निरवद्य करनी वैराग्य भावनाओं से उत्पन्न हो सकती है। स्वामीजी लिखते हैं :

'मिथ्यात्वी वैराग्यपूर्वक शील का पालन कर सकता है वैराग्यपूर्वक तपस्या कर सकता है, वैराग्यपूर्वक वनस्पति का त्याग कर सकता है—इस तरह वह वैराग्यपूर्वक अनेक निरवद्य कार्य कर सकता है।"

सील पालें मिथ्याती वेंराग सूं रे तपसा करें वेंराग सूं ताम रे।
हरियादिक त्यागें वेंराग सूं रे साख तिणरें कहें दुरगत रो उपाय रे ॥
इत्यादिक निरवद करणी करें रे, वेंराग मन मांहें आंण रे।
तिणरी करणी दुरगत रो कारण कहें रे साख ते जिण मारग रा अजांण रे[2] ॥

मिथ्यात्वी के जैसे वैराग्य संभव है, वैसे ही उसके लेश्या और परिणाम भी प्रशस्त हो सकते हैं अतः सकाम निर्जरा भी संभव है।

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) : मिथ्याती री करणी री चौपई : ढा० २ गा० २४-२५
२—वही ढा० २ गा० ४७-५
३—वही ढा० ३ गा० २६३

तामली तापस की तपस्या का वर्णन करते हुऐ स्वामीजीने लिखा है

तामलीतापस तप कीधो घणो रे, साठ सहस वरसां लग जांण रे।
बेले बेले निरतर पारणो रे, वैराग भावे सुमता आंण रे॥
आहार वेहरी नें ल्यायो तेहनें रे, पांणी सू धोयो इकवीस वार रे।
सार काढेनें कूकस राखीयो रे, ऐहवो पारणें कीयो आहार रे॥
तिष सथारो कीयो भला परिणाम स् रे, जब देवदेवी आया तिण पास रे।
त्यां नाटक पोड विवध परकारना रे, पछे हाथ जोडी करें अरदास रे॥
म्हे चमरचचा राजध्यांनी तणा रे, देवदेवी हूआ म्हें सर्व अनाथ रे।
इन्द्र हूतो ते म्हारो चव गयो रे, थे नीहाणो कर हुवो म्हारा नाथ रे॥
इम कहे नें देवदेवी चलता रह्या रे, पिण तामली न कीयो नीहाणो ताय रे।
तिण करम निरजरिया मिथ्याती थकां रे, ते इसांण इन्द्र हुवो छें जाय रे॥
ते देव चवी नें होसी मानवी रे, महाविदेह खेतर मझार रे।
ते साध थइ नें सिवपुर जावसी रे, ससार नी आवागमण निवार रे॥
इण करणी कीधी छें मिथ्याती थकें रे, तिण करणी सू घटीयो छें संसार रे।
इन्द्र हुवो छें तिण करणी थकी रे, इण करणी सू हुवो एका अवतार रे[1]।

मिथ्यात्वी के सकाम निर्जरा होती है या नही, इस विषय की चर्चा 'सेन प्रश्नोत्तर' मे भी है। सार इस प्रकार है—"चरक, परिव्राजक, तामल्य आदि मिथ्यात्वी तपश्चर्यादि अज्ञान कष्ट करते हैं उनके सकाम निर्जरा होती है अथवा अकाम ? कुछ लोगो का मत है कि उनके अकाम निर्जरा ही होती है। इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है। मिथ्यादृष्टि चरक, परिव्राजक आदि हमारा कर्मक्षय हो—ऐसी बुद्धि से तपश्चरणादि अज्ञान कष्ट करते हैं उनके सकाम निर्जरा सम्भव है। सकाम निर्जरा का हेतु द्विविध तप है। बाह्य तपो को, वाह्य द्रव्य की अपेक्षा होने से, पर-प्रत्यक्षत्व होने से तथा कुतीर्थिको द्वारा स्वाभिप्राय से आसेव्यत्व प्राप्त होने से, बाह्यत्व माना गया है। इसके अनुसार षट्विध वाह्य तप कुतीर्थिको द्वारा भी आसेव्य होता है और उनके भी सकाम निर्जरा होती है भले ही वह सम्यग्दृष्टि की सकाम निर्जरा की अपेक्षा थोडी हो। भगवती (८ १०) में कहा है—वालतपस्वी—'देसाराउए'—देशाराधक होता है। सम्यग्वोध के न

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) मिथ्याती री करणी री चौपई. ढा० २ गा० २८-३४

होने से भले ही उसे मोक्ष प्राप्ति न होती हो पर क्रियापरक होने से स्वल्प कर्मों की निर्जरा उसके भी होती है।

३—संवर और निर्जरा का सम्बन्ध

वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र (९ २) में गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा परीषहजय और चारित्र से संवर की सिद्धि बतलाई है—"स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजय चारित्रैः। इसके बाद अन्य सूत्र दिया है— तपसा निर्जरा च (९ ३)" इसका अर्थ उन्होंने स्वयं इस प्रकार किया है— 'तप बारह प्रकार का है। उससे संवर होता है और निर्जरा भी[१]।

संवर के उपर्युक्त हेतुओं में उल्लिखित धर्म' के भेदों का वर्णन करते हुए तप को भी उसका एक भेद माना है[२]। प्रश्न होता है कि धर्म में तप समाविष्ट है तब सूत्र कार ने 'तपसा निर्जरा च" यह सूत्र अलग रूप से क्यों दिया? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं— 'तप संवर और निर्जरा दोनों का कारण है और संवर का प्रमुख कारण है, यह बतलाने के लिये अलग कथन किया है[३]।"

श्री अकलङ्कदेव कहते हैं—"तप का अलग कथन अनर्थक नहीं क्योंकि यह निर्जरा का कारण भी है[४]। तथा सब संवर-हेतुओं में तप प्रधान है। यह दिखाने के लिये भी तप का अलग उल्लेख किया गया है[५]।

१—तत्त्वा ९ ३ भाष्य :

तपो द्वादशविधं वक्ष्यते। तेन संवरो भवति निर्जरा च।

२—तत्त्वा ९ ६

३—तत्त्वा ९ ३ सर्वार्थसिद्धि :

तपो धर्मेऽन्तर्भूतमपि पृथगुच्यते उभयसाधनत्वख्यापनार्थं संवरं प्रति प्राधान्य प्रतिपादनार्थं च।

४—तत्त्वा ९ ३ राजवार्तिक १

धर्मे अन्तर्भावात् पृथगग्रहणमनर्थकमिति चेत्; न; निर्जराकारणत्वख्यापनार्थत्वात्

५—तत्त्वा ९ ३ राजवार्तिक २ :

सर्वेषु संवरहेतुषु प्रधानं तप इत्यस्य प्रतिपत्त्यर्थं च पृथग्ग्रहणं क्रियते।

उपर्युक्त विवेचन से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं

(१) सवर के कथित साधन—गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र और तप में केवल तप ही सवर और निर्जरा दोनों का हेतु है, अन्य नही।

(२) तप से निर्जरा भी होती है पर वह प्रधान हेतु सवर का ही है[1]।

(३) सवर से गुप्ति, समिति आदि कथित हेतुओ मे तप सर्व प्रधान है।

(४) समिति, अनुप्रेक्षा और परिषहजय जो शुभ योग रूप हैं उनसे भी सवर होता है।

(५) गुप्ति और चारित्र की तरह समिति, अनुप्रेक्षा आदि योग भी सवर के हेतु हैं।

इन निष्कर्षों पर नीचे क्रमश विचार किया जाता है

प्रथम निष्कर्ष :

श्री उमास्वाति ने परीषहजय को अन्यत्र निर्जरा का हेतु माना है[2]। अत अलग सूत्र के औचित्य को सिद्ध करने के लिये टीकाकारो द्वारा जो प्रथम समाधान 'उभयसाधनत्वख्यापनार्थम्'' 'दिया गया है, वह एकान्तत ठीक प्रतीत नही होता। कारण सवर के अन्य कथित हेतुओ मे भी निर्जरा सिद्ध होती है।

द्वितीय निष्कर्ष

एक बार भगवान महावीर से पूछा गया—"भगवन्! तप से जीव क्या उत्पन्न करता है?" भगवान ने उत्तर दिया—"तप से जीव पूर्व के बधे हुए कर्मों का क्षय करता है[3]।"

इसी तरह दूसरी बार प्रश्न किया गया—"भगवन्! तप का क्या फल है?" भगवान ने उत्तर दिया—"हे गौतम! तप का फल वोदाण—पूर्व-सचित कर्मों का क्षय है[4]।"

१—(क) तत्त्वा० ९.३ राजवार्तिक १ :
तपो निर्जराकारणमपि भवतीति
(ख) वही राजवार्तिक २
तपसा हि अभिनवकर्मसबन्धाभाव पूर्वोपचितकर्मक्षयश्च, अविपाकनिर्जरा-प्रतिज्ञानात्

२—(क) तत्त्वा० ९ ७ भाष्य ९
निजरा कुशलमूलश्च तप परीषहजयकृत कुशलमूल.
(ख) वही ९ ८
मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहा।

३—उत्त० २९ २७
तवेण भन्ते जीवे कि जणयइ॥ तवेण वादाण जणयइ॥

४—(क) भगवती २ ५
तवे वोदाणफले
(ख) ठाणाङ्ग ३ ३ १९० :
तवे चेव वोदाणे

होने से भले ही उससे मोक्ष प्राप्ति न होती हो पर क्रियापरक होने से स्वस्प कर्मांश की निर्जरा उसके भी होती है।

३—संवर और निर्जरा का सम्बन्ध

वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र (९ २) में गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा परीषहजय और चारित्र से संवर की सिद्धि बतलाई है— स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजय चारित्रैः। इसके बाद अन्य सूत्र दिया है— तपसा निर्जरा च (९ ३) इसका अर्थ उन्होंने स्वयं इस प्रकार किया है— 'तप बारह प्रकार का है। उससे संवर होता है और निर्जरा भी[१]।'

संवर के उपर्युक्त हेतुओं में उल्लिखित 'धर्म' के भेदों का वर्णन करते हुए तप को भी उसका एक भेद माना है। प्रश्न होता है कि धर्म में तप समाविष्ट है तब सूत्रकार ने "तपसा निर्जरा च" यह सूत्र अलग रूप से क्यों दिया? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"तप संवर और निर्जरा दोनों का कारण है और संवर का प्रमुख कारण है यह बतलाने के लिये अलग कथन किया है[३]।"

श्री अकलङ्कदेव कहते हैं— 'तप का अलग कथन अनर्थक नहीं क्योंकि वह निर्जरा का कारण भी है[४]। तथा सब संवर-हेतुओं में तप प्रधान है। यह दिखाने के लिये भी तप का अलग उल्लेख किया गया है[५]।

१—तत्त्वा ९ ३ भाष्य :

तपो द्वादशविधं वक्ष्यते। तेन संवरो भवति निर्जरा च।

२—तत्त्वा० ९ ३

३—तत्त्वा० ९ ३ सर्वार्थसिद्धि :

तपो धर्मेऽन्तर्भूतमपि पृथगुच्यते उभयसाधकत्वख्यापनार्थं संवरं प्रति प्राधान्यप्रतिपादनार्थं च।

४—तत्त्वा० ९ ३ राजवार्तिक १

धर्मे अन्तर्भावात् पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति चेत्; न; निर्जराकारणत्वख्यापनार्थत्वात्

५—तत्त्वा ९ ३ राजवार्तिक २ :

सर्वेषु संवरहेतुषु प्रधानं तप इत्यस्य प्रतिपत्त्यर्थं च पृथग्ग्रहणं क्रियते।

करते समय जहाँ-जहाँ शुभ-अशुभ योगो का निरोध होता है वहाँ तत्सम्बन्धित सवर की भी निष्पत्ति होती है। सवर का हेतु योग-निरोध है और निर्जरा का हेतु तप।"

स्वामीजी का यह कथन उमास्वाति के निम्न उद्‌गारो से महत्वपूर्ण अन्तर रखता है—"तप सवर का उत्पादक होने से नये कर्मों के उपचय का प्रतिषेधक है और निर्जरण का फलक होने से पूर्व कर्मों का निर्जरक है[1]।" वास्तव मे तप सवर का हेतु नही योग-निरोध—सयम—सवर का हेतु है।

भगवान महावीर से पूछा गया—"भगवन्! सयम से जीव क्या प्राप्त करता है।" भगवान ने उत्तर दिया—"सयम से जीव आस्रव-निरोध करता है।" भगवान से फिर पूछा गया—"भगवन्! तप से क्या होता है?" भगवान ने उत्तर दिया—"तप से पूर्व-बद्ध कर्मों का क्षय होता है[2]"

आगम में सवर के जो पांच हेतु बताये गये हैं[3] उनमे भी तप का उल्लेख नही है। ऐसी हालत में तप सवर का प्रधान हेतु है, ऐसा प्रतिपादन फलित नही होता।

तृतीय निष्कर्ष

तप जब सवर का हेतु नही तब कथित सवर-हेतुओ में वह सब से प्रधान है, इस कथन का आधार ही नही रहता। सवर के हेतु गुप्ति और चारित्र ही कहे जा सकते हैं, तप नही। कहा भी है—"चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई[4]"—चारित्र से कर्माश्रव का निरोध—सवर होता है और तप से परिशुद्धि—कर्मों का परिशाटन।

चौथा निष्कर्ष

सम्यक रूप से आना-जाना, बोलना, उठाना-रखना आदि समिति है। शरीर आदि के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। क्षुदादि वेदना के होने पर उसे सहना परिषह-जय है[5]। ये सब प्रत्यक्षत योग रूप हैं। श्री उमास्वाति के अनुसार

१—तत्त्वा० ६ ४६ भाष्य:

तदाभ्यन्तर तप सवरत्वादभिनवकर्मोपचयप्रतिषेधकं निर्जरणफलत्वात्कर्मनिर्जरकम्

२—(क) उत्त० २६ २६-२७

सजमएण भते जीवे किं जणयइ॥ स० अणण्हयत्त जणयइ॥

तवेण भन्ते जीवे किं जणयइ॥ तवेण वोदाण जणयइ॥

(ख) ठाणाङ्ग ३ ३ १९०

३—समवायाङ्ग सम० ५

४—उत्त० २८ ३५

५—तत्त्वा० ९ २ सर्वार्थसिद्धि:

सम्यगयन समिति , शरीरादीना स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा , क्षुदादिवेदनोत्पत्तौ कर्मनिर्जरार्थं सहनं परिषह । परिपहस्य जय परिषहजय:

इन वार्त्तालापों से स्पष्ट है कि तप निर्जरा का हेतु है संवर का नहीं। संवर का हेतु संयम है[१]। 'तवसा निज्जरिज्जइ'[२]—तप से निर्जरा होती है, ऐसा उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त है।

आगम में कहा है—"जैसे शकुनिका पक्षिणी अपने शरीर में लगी हुई रज को पंख झाड़-झाड़ कर दूर कर देती है, उसी तरह से जितेन्द्रिय अहिंसक तपस्वी अनशन आदि तप द्वारा अपने आत्म प्रदेशों से कर्मों को झाड़ देता है[३]"

इससे भी तप का लक्षण निर्जरा ही सिद्ध होता है, संवर नहीं।

अन्यत्र आगम में कहा है—"तपरूपी बाण कर्मरूपी कवच को भेदन करनेवाला है[४]।"

'तप-समाधि में सदा लीन मनुष्य तप से पुराने कर्मों को धुन डालता है[५]।

इन सब से स्पष्ट है कि तप को संवर का हेतु मानना और प्रधान हेतु मानना आगमिक परम्परा नहीं है।

'तप से संवर होता है और निर्जरा भी' स्वामीजी ने इस सूत्र के स्थान पर भिन्न विवेचन दिया है— 'तप से निर्जरा होती है। तप करते समय साधु के जहाँ-जहाँ निरवद्य योग का निरोध होता है वहाँ संवर भी होता है। श्रावक तप करता है तब वहाँ सावद्य योग का निरोध होता है वहाँ विरति संवर होता है। तप निर्जरा का ही हेतु है। तप

१—भगवती २.५

संजमे णं भंते! किं फले? तवे णं भंते! किं फले? संजमे णं अज्जो! अणण्हय-फले तवे वोदाणफले।

२—उत्त १ ६

३—सूयगडांग १.२.१.१५ :

सउणी जह पंसुगुंडिया विहुणिय धंसयइ सियं रयं।
एवं दविओवहाणवं कम्मं खवइ तवस्सि माहणे॥

४—उत्त ९.२२ :

तवनारायजुत्तेण भित्तूण कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसंगामो भवाओ परिमुच्चए॥

५—दस ९.४ :

विविहगुणतवोरए निच्चं भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं जुत्तो सया तवसमाहिए॥

करते समय जहाँ-जहाँ शुभ-अशुभ योगो का निरोध होता है वहाँ तत्सम्बन्धित सवर की भी निष्पति होती है। सवर का हेतु योग-निरोध है और निर्जरा का हेतु तप।"

स्वामीजी का यह कथन उमास्वाति के निम्न उद्‌गारो से महत्वपूर्ण अन्तर रखता है—"तप सवर का उत्पादक होने से नये कर्मों के उपचय का प्रतिपंधक है और निर्जरण का फलक होने से पूर्व कर्मों का निर्जरक है[1]।" वास्तव मे तप सवर का हेतु नहीं योग-निरोध—सयम—सवर का हेतु है।

भगवान महावीर से पूछा गया—"भगवन्! सयम से जीव क्या प्राप्त करता है।" भगवान ने उत्तर दिया—"सयम से जीव आस्रव-निरोध करता है।" भगवान से फिर पूछा गया—"भगवन्! तप से क्या होता है?" भगवान ने उत्तर दिया—"तप से पूर्व-वद्ध कर्मों का क्षय होता है[2]"

आगम में सवर के जो पाँच हेतु वताये गये हैं[3] उनमे भी तप का उल्लेख नही है। ऐसी हालत मे तप सवर का प्रधान हेतु है, ऐमा प्रतिपादन फलित नही होता।

तृतीय निष्कर्ष

तप जव सवर का हेतु नही तव कथित सवर-हेतुओ में वह सव से प्रधान है, इस कथन का आधार ही नहो रहता। सवर के हेतु गुप्ति और चारित्र ही कहे जा सकते हैं, तप नही। कहा भी है—"चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई[4]"—चारित्र से कर्माश्रव का निरोध—सवर होता है और तप से परिशुद्धि—कर्मों का परिशाटन।

चौथा निष्कर्ष

सम्यक रूप से आना-जाना, वोलना, उठाना-रखना आदि समिति है। शरीर आदि के स्वभाव का वार-वार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। क्षुदादि वेदना के होने पर उसे सहना परिषह-जय है[5]। ये सव प्रत्यक्षत योग रूप हैं। श्री उमास्वाति के अनुसार

१—तत्त्वा० ६ ४६ भाष्य :

तदाभ्यन्तर तप सवरत्वादभिनवकर्मोपचयप्रतिषेधकं निर्जरणफलत्वात्कर्मनिर्जरकम्

२—(क) उत्त० २६ २६-२७

सजमएण भते जीवे किं जणयइ ॥ स० अणण्हयत्त जणयइ ॥

तवेण भन्ते जीवे किं जणयइ ॥ तवेण वोदाण जणयइ ॥

(ख) ठाणाङ्ग ३ ३ १६०

३—समवायाङ्ग सम० ५

४—उत्त० २८ ३५

५—तत्त्वा० ६ २ सर्वार्थसिद्धि

सम्यगयन समिति , शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा , क्षुदादिवेदनोत्पत्तौ कर्मनिर्जरार्थं सहन परिषह । परिषहस्य जय परिषहजयः

इन वार्तालापों से स्पष्ट है कि तप निर्जरा का हेतु है संवर का नहीं। संवर का हेतु संयम है[1]। 'तवसा निज्जरिज्जइ'[2]—तप से निर्जरा होती है, ऐसा उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त है।

आगम में कहा है— जैसे शकुनिका पक्षिणी अपने शरीर में लगी हुई रज को पंख झाड़-झाड़ कर दूर कर देती है, उसी तरह से जितेन्द्रिय अहिंसक तपस्वी अनशन आदि तप द्वारा अपने आत्म प्रदेशों से कर्मों को झाड़ देता है[3]।"

इससे भी तप का लक्षण निर्जरा ही सिद्ध होता है संवर नहीं।

अन्यत्र आगम में कहा है—'तपरूपी बाण कर्मरूपी कवच को भेदन करनेवाला है[4]।"

'तप-समाधि में सदा लीन मनुष्य तप से पुराने कर्मों को धुन डालता है[5]।

इन सब से स्पष्ट है कि तप को संवर का हेतु मानना और प्रधान हेतु मानना आगमिक परम्परा नहीं है।

"तप से संवर होता है और निर्जरा भी" स्वामीजी ने इस सूत्र के स्थान पर भिन्न विवेचन दिया है— 'तप से निर्जरा होती है। तप करते समय साधु के जहाँ-जहाँ निरवद्य योग का निरोध होता है वहाँ संवर भी होता है। श्रावक तप करता है तब वहाँ सावद्य योग का निरोध होता है वहाँ विरति संवर होता है। तप निर्जरा का ही हेतु है। तप

१—भगवती २.५ :

संजमे णं भंते ! किं फले ? तवे णं भंते ! किं फले ? संजमे णं अणण्हए फले तवे वोदाणफले।

२—उत्त ३ ६

३—सूयगडांग १.२.१.१५ :

सउणी जह पंसुगुंडिया विहुणिय धंसयइ सियं रयं ।
एवं दविओवहाणवं कम्मं खवइ तवस्सि माहणे ॥

४—उत्त ९.२२ :

तवनारायजुत्तेण भित्तूण कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो भवाओ परिमुच्चए ॥

५—दश ९.४ :

विविहगुणतवोरए निच्चं भवइ निरासए निज्जरट्ठिए ।
तवसा धुणइ पुराणपावगं जुत्तो सया तवसमाहिए ॥

पांच परकार नी सझाय कीया सू, निरजरा हुइ कटीया करमो रे ।
सझाय करें ते निरवद जोगां सू, जव नीपनो निरजरा धर्मो रे ॥
ए पिण उत्तराधेन गुणतीसमें धेनें, उगणीस सू तेवीस तांई रे ॥
त्यां सुभ जोगां ने सवर सरधें, ते भूल गया भर्म माही रे ।
जोग तणा पचखांण कीयां सू, अजोग सवर हुवो रे ॥
ते अजोग सवर चारित नांही, अजोग सवर चारित सू जूवो रे ॥
अजोग सवर सुभ जोग रूंध्यां नीपनो, जव छूटो निरवद व्यापारो रे ।
चारित नीपनो सर्व इवरित त्याग्यां, बाकी इवरित न रही लिगारो रे ॥
अजोग सवर हुवें निरवद जोग त्याग्यां, तिणमे सावद्य रो नही परिहारो रे ।
चारित हुवें सर्व इविरत त्याग्यां, नव कोटि त्याग्यो सावद्य व्यापारो रे ॥
तीन करण जोगां सर्व सावद्य त्याग्यो, ते तो तीन गुपत सवर धर्मो रे ।
पांच सुमति छें निरवद जोग व्यापार, त्यांसू कटें छें आगला करमो रे ॥
गुपत सवर तो निरतर साधु रे, पांच सुमत निरंतर नाही रे ।
पांच सुमत तो निरतर नही छें, ए तो प्रवरते छें जठा ताई रे ॥
इर्या सुमत तो चाले जठा ताइ, भाषा सुमत बोलें जठा तांइ रे ।
एसणा सुमत तो प्रवरतें छे त्यां लग, त्यांने स्वर कहीजें नाही रे ॥
आयाणभडमतनिखेवणा सुमत, ते तो लेवें मूके तठा तांई रे ।
परठणा सुमति परेठ जठा तांइ, त्यांनें पिण सवर कहीजें नाही रे ॥
सुमति छें सुभ जोग निरजरा री करणी, सुभ जोगा ने सवर कहें कोयो रे ।
यानें एक कहें तिणरी उंधी सरधा, सवर ने सुभ जोग छे दोयो रे ॥
सुभ जोग रुंध्यां मिटें निरजरा री करणी, पुन अहवारा दुवार रूंधांणा रे ।
जव अजोग सवर नीपनो तिण कालें, करण वीर्य जोग मिटांणो रे ॥
जीव तणा प्रदेश चलावें, तेहीज जोग व्यापारो रे ।
ते प्रदेश थिर हुवां अजोग सवर छें, सुभ जोग मिट्या तिणवारो रे ॥
सुभ जोग व्यापार सू करम कटे छें, जव जीव रा प्रदेस चाले रे ।
जीव रा प्रदेस चालें तठा तांई, पुन रा प्रदेस झालें रे ॥
चारित ना परिणांम थिर प्रदेस, त्यांरो सीतलभूत सभावो रे ।
तिण सू सुभ जोग नें चारित न्यारा न्यारा छें, श्रोतो देखो उघाडो न्यावो रे॥

योग से भी संवर होता है। स्वामीजी कहते हैं शुभयोग से निर्जरा होती है और पुण्य का बंध होता है—"शुभ योगां थी निर्जरा थम पुण्य तिण वाय र" पर संवर नहीं होता। शुभयोग संवर नहीं निर्जरा का जनक है।

आगम में भी शुभ योगों से निर्जरा ही बताई गयी है।

पाँचवा निष्कर्ष

युक्ति—निवृत्ति रूप है और चारित्र भी निवृत्ति रूप। ये दोनों योग नहीं। उपर समिति अनुप्रेक्षा परिषह जय और तप योग हैं। निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों से ही निर्जरा सिद्ध नहीं हो सकती। संयम से संवर सिद्ध होता है और शुभ योग से निर्जरा। संयम और शुभ योग दोनों निर्जरा के साधक नहीं हो सकते।

स्वामीजी ने उपर्युक्त विषयों पर विशद प्रकाश डाला है। हम यहाँ उनके विवेचन को उद्धृत करते हैं

> सुभ जोग संवर निरखें नहीं सुभ जोग निरवद व्यापार।
> ते करमा सूं निरजरा हुवी तिण सूं करम न रूके लिगार॥
> समुदघात करे जब केवली कांय जोग तणो व्यापार।
> तिण सूं करम तणी निरजरा हुवे पुन पिण लागें तिण वार॥
> त्यारी निरजरा सूं पुदगल खस्या त्यां सूं सर्व लोक फरसाय।
> जोगां सूं निरजरा निरजरा हुवे जोवो देखो सूतर रो न्याय¹॥
> अकुसम जोग रूधता निरजरा हुवे ते निरजरा रूंधें त्यां सम जाणों रे।
> वले निरजरा हुवें कुसम जोग उदीरचां ते प्रवरतें छे त्यां सम पिछाणो रे॥
> यां तो परिसलीणया तप कह्यो श्री जिनेसर, सूतर उवाई मांह्यो रे।
> त्यां सुभ जोगां नें कोई संवर सरधें ते तो जोवे मूला खामो रे॥
> प्रसस्त जोग पवरतावीयां साधु, अनंतघाती करमां नें खपायो रे।
> ए उत्तराधेन गुणतीसमें अधेनें सातमों बोल कह्यो जिनरायो रे॥
> सामायक रो फल सावद्य जोग निवरतें इणरो ए गुण नीपनों ताह्यो रे।
> ए पिण उत्तराधेन गुणतीस में अधें कह्यो आठमां बोल रे मांह्यो रे॥

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख १) : टीकम डोसी री चौपई ढा १ दो० ११

लवद वीर्य तणो जीव करें व्यापार, ते व्यापार छे करण वीर्य जोग।
तिण व्यापार नें भाव जोग कहीजे, त्यांरो व्यापार छें पुदगल रे सजोग ॥
सावद्य कांम करें ते सावद्य जोग, निरवद काम करें ते निरवद जोग।
तेतो दरव जोग पुदगल नें सघातें, दरव नें भाव जोग रो भलो सजोग ॥
सावद्य जोगां सू पाप लागें छें, निरवद जोगां सू निरजरा होय।
वले निरवद जोगा सू पुन पिण लागें, सुभ जोगां ने सवर सरधो मत कोय ॥
सुभ जोग छें करणी करम काटण री, सवर सू तो रुकें छे करम।
सुभ जोगां नें सवर सरधे छे भोला, तेतो करमां तणें वस भूला छे मर्म ॥
मन वचन जोग उतकष्टा रहे तो, अन्तर मोहरत तांइ जांण।
चारित तो उतकष्टो रहें तो, देसउणो कोड पूर्व परमाण ॥
सुभ मन वचन जोग चारित हुवे तो, चारित पिण अ तर मोहरत ताइ।
जो उ चारित री थित इधकी परूपें, तिणने आपरा बोल्या री समझ न काई।
मन वचन रा दोय दोय तीन काया रा, ए सात जोग तेरमें गुणठांणे।
जोग नें सवर कहें तिण ने पूछा कीजें, तू किसा जोग ने सवर जाणे ॥
कदेयक तो सत मन जोग वरते, कदेयक वरते जोग ववहार मन।
एक एक समे दोनू मन नही वरतें, इमहीज वरतें दोनू जोग वचन ॥
काया रा तीन जोग साथे नही वरतें, एक समय वरते काया रो जोग एक।
चारित सवर तो निरन्तर एक, जोग तो जूजूवा वरते अनेक ॥
जो उ सातोइ जोगां नें सवर सरधे, ते सातोइ जोग नही एक साथ।
कदे कोई वरतें कदे कोई वरतें छे, सवर तो एकधारा रहें छें साख्यात[1] ॥

स्वामीजी ने अपने विचारो का उपसहार इस प्रकार दिया है

जोग तो व्यापार जीव तणो छे, जीव रा प्रदेश हालें त्याही।
थिर प्रदेस ने जोग सरधें छे, तिणरें मोटो मिथ्यात रह्यो घट मांहि ॥
सुभ जोग नें सवर जूआ जूआ छे, त्यां दोयां रो जूओ जूओ छे सभाव।
त्यां दोयां नें एक सरधें अग्यांनी, तिण निस्चेंइ कीधो छे मोटो अन्याव ॥
सुभ जोगां सू पुन करम लागें छे, असुभ जोगां सू लागें पाप करम।
सुभ असुभ करम सवर सू रुके छें, वले सुभ जोग सू हुवें निरजरा धर्म ॥

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) टीकम डोसी री चौपई ढाल २ गा० १-८,११-२२

तीर्थंकर करम रो फल बतायो, बंध तीर्थंकर नाम करमा रे।
ते बीसासथ करें सुभ जोगां सूं, त्यांसूं हुवों निरजरा धर्मो रे॥
वंदणा करता नीच गोत खपावें बले बांधे उंच गोत करमां रे।
वंदणा करें छें सुभ जोगां सूं, तिण सूं हुवों निरजरा धर्मो रे॥
निरजरा री करणी करंता पुन हुवें छें, तिण करणी माहि नहीं खामी रे।
निरवद जोगां सूं निरजरा ने पुन हुवें छें, ते पुन तणा नहीं कांमी रे॥
सुभ जोगां सूं निरजरा हुवें छें, तिण सूं निरजरा री करणी में घाल्या रे।
बले सुभ जोगां सूं पुन पिण लागें तिण सूं आश्रव मांहे घाल्या रे[1]॥

स्वामीजी ने इसी विषय पर दूसरी तरह इस प्रकार प्रकाश डाला है :

चारित्र संवर नें सुभ जोग सरधें इण सरधा सूं होसी घणा खराब।
सुभ जोग नें संवर जिण कह्या न्यारा त्यांरें सुणजों बिवरा सुध बाव।
तेरमें गुणठांणे आतमा सात तिहां कषाय आतमा टल गइ ताव।
चवदमें गुणठाणे छ आतमा छें, तिहां जोग आतमा गइ छें बिखबाव॥
जोग आतमा मिटी चवदमें गुणठांणे चारित्र आतमा तो मिटी नहीं कोय।
इण लेखें चारित्र नें सुभ जोग प्रतख जुआ जुआ छें दोय॥
चारित्र ने जोग एक सरधें तो आठ आतमा री हुवें आतमा सात।
सुभ जोग नें चारित्र एक सरधें तिण भोडई पडवजीयो मिथ्यात॥
बारमें तेरमें चवदमें गणठांणें षायक चारित्र छें जथाख्यात।
ते चारित्र निरंतर एकधारा छें, ते तो बधें घटें नहीं छें तिलमात॥
चारित्र मोहणी षय हुवें जब षायक च रित्र नीपजें ताय।
इण चारित्र संवर रों एक समाव सुभ जोग ते चारित्र कदेय न थाय॥
चारित्र मोहणी उपसम हुवें जब उपसम चारित्र नीपजें ताम।
षयउपसम हुआं षयउपसम चारित्र षय हुआं षायक चारित्र नाम॥
चारित्र मोहणी षय षयउपसम हुआं तिण सूं तो सुभ जोग नीपजें नांहीं।
मोह कयां सुभ जोग नीपजा सरधें ते पड गया मोह मिथ्यात रें मांहीं॥
अन्तराय करम षय षयउपसम हुआं नीपजें षायक षयउपसम ताय।
ते लबध वीर्य छें उजलों निरमल तिण वीर्य सूं करम न लागें आय॥
तिण लबध वीर्य सू करम न लगें बले वीर्य सूं करम कटें नहीं ताम।
लबध वीर्य छें पुदगल न संजोगें, तिण नें वीर्य आतमा कही जिणराय॥

1—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) : टीकम डोसी री चौपई ढा० ३ गा० १-२ ,२६ ३५

श्री अकलङ्कदेव ने आगे जाकर लिखा है—"किसीको अभिसन्धि—विशेष इच्छा से तप के द्वारा अभ्युदय की भी सहज प्राप्ति होती है[1] ।"

पंडित सुखलालजी तत्त्वार्थसूत्र के उक्त सूत्र (९ ३) की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"सामान्य तौर पर तप अभ्युदय अर्थात् लौकिक सुख की प्राप्ति का साधन माना जाता है, ऐसा होने पर भी यह जानना चाहिए कि वह निःश्रेयस् अर्थात् आध्यात्मिक सुख का भी साधन बनता है, कारण कि तप एक होने पर भी उसके पीछे रही हुई भावना के भेद को लेकर वह सकाम और निष्काम दोनो प्रकार का होता है। सकाम तप अभ्युदय को साधता है, और निष्काम तप निःश्रेयस् को साधता है[2] ।"

आगमो में ऐसे स्थल मिलते हैं जहाँ देखा जाता है कि लौकिक कामना से तपस्या करनेवाले का लौकिक अभीष्ट पूरा हुआ है। उदाहरणस्वरूप गर्भवती रानी धारिणी को मन्द-मन्द वर्षा में भ्रमण करने का दोहद उत्पन्न हुआ। उस समय वर्षा-काल नही था। अभयकुमार ने आभूषण, माला, विलेपन, शस्त्रादि उतार डाले और पौषध-शाला मे जा ब्रह्मचर्यपूर्वक पौषध-ग्रहण कर दर्भसस्तारक बिछा, उसपर स्थित हो तेला ठान दिया और देव को मन मे स्मरण करने लगा। तेला सम्पूर्ण होने पर देव का आसन चला। वह अभयकुमार के पास आया। वर्षा-काल न होने पर भी उसने वर्षा उत्पन्न की। इस तरह धारिणी का दोहद पूरा हुआ[3] । ऐसी घटनाओ से तप लौकिक सुख की प्राप्ति का साधन है—ऐसी मान्यता चल पडे तो आश्चर्य नही पर उससे सर्व व्यापक सिद्धान्त के रूप में ऐसा प्रतिपादन युक्तियुक्त नही कि "सकाम तप अभ्युदय को साधता है, और निष्काम तप निःश्रेयस् को साधता है।" तथ्य यह है कि निष्काम तप (आत्म-शुद्धि की कामना के अतिरिक्त अन्य किसी कामना से नही किया हुआ तप) कर्मों का क्षय करता है अतः वह निःश्रेयस् का कारण है। शुभ योग की प्रवृत्ति के कारण कर्म-क्षय के साथ-साथ पुण्य का भी बन्ध होता है जो सांसारिक अभ्युदय का हेतु होता है। जब तप के साथ ऐहिक कामना जोड दी जाती है तब वह तप सकाम होता है। तप के साथ जुडी हुई ऐहिक कामना कभी-कभी ऐहिक सुख की प्राप्ति द्वारा सफल होती देखी जाती

१—देखिए पा० टि० २ का अन्तिम अंश

२—तत्त्वार्थसूत्र गुजराती (तृ० आ०) पृ० ३४६

३—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग १ १६

संवर सूं जीवा रा प्रदेश थम हुवे छे जोग सूं जीव रा प्रदेश री हुवें छे फूट।
या दोयां में एक सरधें छे मम्यांनी, ते मिध्यांत मेमा छे हीया फूट[1] ॥

४—तप की महिमा

'तपसा निर्जरा च' इस सूत्र की टीका में टीकाकारों ने एक महत्वपूर्ण शंका-समाधान किया है। प्रश्न है—तप को अभ्युदय का कारण मानना इष्ट है, क्योंकि वह देवेन्द्र आदि स्थान विशेष की प्राप्ति का हेतु स्वीकार किया गया है। वह निर्जरा का हेतु कैसे हो सकता है? आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—'जैसे अग्नि एक है तो भी उसके विक्लेदन भस्म और अङ्गार आदि अनेक काम उपलब्ध होते हैं, वैसे ही तप को अभ्युदय और कर्म-क्षय दोनों का हेतु मानने में कोई विरोध नहीं है[2]।"

इस बात को भी अकलङ्क देव ने बड़े ही सुन्दर ढंग से समझाया है। वे कहते हैं—"जैसे किसान की खेती से अभीष्ट धान्य के साथ-साथ पयाल भी मिलता है, उसी तरह तप-क्रिया का प्रयोजन कर्मक्षय ही है। अभ्युदय की प्राप्ति तो पयाल की तरह आनुषंगिक है[3]।

स्वामीजी ने कहा है

> गोहूं नीपावे छें गोहां रे कारणें पिण खाखला री नहीं चावो रे।
> तो पिण साथ खाखलो नीपजे छें, बुधवंत समजों इण न्यायो रे ॥
> ज्यूं करणी करें निरजरा रे कार्जे पिण पुन तणी नहीं चावो रे।
> पिण पुन नीपजें छें निरजरा करतां खाखला ने गोहां रे न्यायो रे[4] ॥"

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) : टीकम डोसी री चौपई ढा० ४ गा० १३-१७
२—तत्त्वा० ९.३ सर्वार्थसिद्धि
नतु च तपोऽभ्युदयाङ्गमिष्टं देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वाभ्युपगमात्, तत् कथं निर्जराङ्गं स्यादिति ? नष दोषः, एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत्। यथाऽग्निरेकोऽपि विक्लेदनभस्माङ्गारादिप्रयोजन उपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोधः।
३—तत्त्वा० ९.३ राजवार्तिक ५
गुणप्रधानफलोपपत्तेर्वा कृषीवलवत्। अथवा यथा कृषीवलस्य कृषिक्रियायाः पलालफलस्य गुणभावफलाभिसम्बन्धः तथा मुनेरपि तपस्क्रियायां प्रधानोपसर्जनाभ्युदयनिःश्रेयसफलाभिसम्बन्धोऽभिसन्धिवशाद्वेदितव्यः।
४—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) : टीकम डोसी री चौपई ढा० ३ गा० २६-३०

श्री अकलङ्कदेव ने आगे जाकर लिखा है—"किसीको अभिसन्धि—विशेष इच्छा से तप के द्वारा अभ्युदय की भी सहज प्राप्ति होती है[1] ।"

पडित सुखलालजी तत्त्वार्थसूत्र के उक्त सूत्र (६.३) की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"सामान्य तौर पर तप अभ्युदय अर्थात् लौकिक सुख की प्राप्ति का साधन माना जाता है, ऐसा होने पर भी यह जानना चाहिए कि वह नि श्रेयस् अर्थात् आध्यात्मिक सुख का भी साधन बनता है, कारण कि तप एक होने पर भी उसके पीछे रही हुई भावना के भेद को लेकर वह सकाम और निष्काम दोनो प्रकार का होता है। सकाम तप अभ्युदय को साधता है, और निष्काम तप नि श्रेयस् को साधता है[2] ।"

आगमो में ऐसे स्थल मिलते हैं जहाँ देखा जाता है कि लौकिक कामना से तपस्या करनेवाले का लौकिक अभीष्ट पूरा हुआ है। उदाहरणस्वरूप गर्भवती रानी धारिणी को मन्द-मन्द वर्षा में भ्रमण करने का दोहद उत्पन्न हुआ। उस समय वर्षा-काल नही था। अभयकुमार ने आभूषण, माला, विलेपन, शस्त्रादि उतार डाले और पौषध-शाला में जा ब्रह्मचर्यपूर्वक पौषध-ग्रहण कर दर्भसस्तारक बिछा, उसपर स्थित हो तेला ठान दिया और देव को मन मे स्मरण करने लगा। तेला सम्पूर्ण होने पर देव का आसन चला। वह अभयकुमार के पास आया। वर्षा-काल न होने पर भी उसने वषा उत्पन्न की। इस तरह धारिणी का दोहद पूरा हुआ[3]। ऐसी घटनाओ से तप लौकिक सुख की प्राप्ति का साधन है—ऐसी मान्यता चल पडे तो आश्चर्य नही पर उससे सर्व व्यापक सिद्धान्त के रूप में ऐसा प्रतिपादन युक्तियुक्त नही कि "सकाम तप अभ्युदय को साधता है, और निष्काम तप नि श्रेयस् को साधता है।" तथ्य यह है कि निष्काम तप (आत्म-शुद्धि की कामना के अतिरिक्त अन्य किसी कामना से नही किया हुआ तप) कर्मों का क्षय करता है अत वह नि श्रेयस् का कारण है। शुभ योग की प्रवृत्ति के कारण कर्म-क्षय के साथ-साथ पुण्य का भी बन्ध होता है जो सासारिक अभ्युदय का हेतु होता है। जब तप के साथ ऐहिक कामना जोड दी जाती है तब वह तप सकाम होता है। तप के साथ जुडी हुई ऐहिक कामना कभी-कभी ऐहिक सुख की प्राप्ति द्वारा सफल होती देखी जाती

१—देखिए पा० टि० २ का अन्तिम अश

२—तत्त्वार्थसूत्र गुजराती (तृ० आ०) पृ० ३४६

३—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग १ १६

है पर वह सफल होती ही है —ऐसा नियम नहीं है। धार्मिक दृष्टि से तप के साथ जुड़ी हुई कामना पाप-बन्ध का ही कारण होती है। स्वामीजी ने कहा है

पुन तणी वंछा कीयां लागे छें एकंत पाप हो लाल ।
तिण सूं दुःख पामें संसार में वधतो जाये सोग संताप हो लाल ॥
पुन री वंछा सूं पुन न नीपजें पुन तो सहजे लागे छें आय हो लाल ।
ते तो लागे छें निरवद जोग सूं निरजरा री करणी सूं ताय हो लाल ॥
भली लेस्या ने भला परिणाम थी निरवेद निरजरा थाय हो लाल ।
जब पुन लागे छें जीव रे सहजे सभावे ताय हो लाल ॥
जे करणी करें निरजरा तणी पुन तणी मन में धार हो लाल ।
ते तो करणी खोए नें बापड़ा, गया जमारो हार हो लाल[1] ॥

आगम में कहा है—धर्म-क्रिया केवल कर्म-क्षय के लिए करनी चाहिए अन्य किसी सांसारिक-हेतु के लिए नहीं। इससे सम्बन्धित एक अन्य सिद्धान्त भी है। जैसे धर्म क्रिया मोक्ष के लिए करना उचित है उसी तरह धर्म-क्रिया करने के बाद उसके बदले में सांसारिक फल की कामना करना भी उचित नहीं। जो धर्म-क्रिया कर बदले में निदान—सांसारिक फल की कामना करता है, उसकी धर्म-करणी संसार-वृद्धि का कारण होती है। स्वामीजी लिखते हैं

जिन सासण में इम कह्यों करणी करणी छें मुक्त रें काज ।
करणी करें नीहांणो नहीं करें ते पामें मुक्त रों राज ॥
करणी करें नीहाणों करें, ते गया जमारो हार ।
संभूत नीहांणो कर ब्रह्मदत्त हुवों गयो सातमीं नरक मझार ॥
करणी करें नीहाणों नहीं करें, ते गया जमारो जीत ।
तामली तापस नीहाणों कीयो नहीं तो ईसाण इन्द्र हुवो वदीत ॥

जब देवताओं ने बाल तपस्वी तामली तापस को इन्द्र बनने के लिए निदान करने की प्रार्थना की तब उसके मन में जो विचार उठे उनको स्वामीजी ने उसके मुँह से बड़े ही मार्मिक रूप से प्रकट करवाया है। तामली सोचता है

मून साझ रह्यों जिण बोल्या नहीं नीहाणो जिण न कीयों कोय ।
जब मन में विचार इसड़ो कीयों करणी वेच्यां आछो नहीं होय ॥

१—पुन्य पदार्थ ढाल १ गा ५२ ५६-५७

जो तपसा करणी म्हारे अल्प छे, घणो चिंतव्यो हुवे नही कोय ।
जो तपसा करणी म्हारे अति घणी, थोडो चिंतव्यो सताव सू होय ॥
जेह्वी करणी तेह्वा फल लागसी, पिण करणी तो वाझ न कोय ।
तो निहांणो करू किण कारणें, आछो किया निश्चे आछो होय ॥

स्वामीजी उपसहार करते हुए कहते हैं

जिन मत मांहे पिण इम कह्यो, नीहाणो करे तप खोय ।
ते तो नरक तणो हुवे पावणो, वले चिहू गति माहे दुखियो होय ॥

तप की महिमा बताते हुए श्री हेमचन्द्रसूरि ने लिखा है—"जिस प्रकार सदोप स्वर्ण प्रदीप्त अग्नि द्वारा शुद्ध होता है, वैसे ही आत्मा तपाग्नि से विशुद्ध होती है। बाह्य और आभ्यन्तर तपाग्नि के देदीप्यमान होने पर यमी दुर्जर कर्मों को तत्क्षण भस्म कर देता है[1] ।" उत्तराध्ययन में कहा है—"कोटि भवो के सचित कर्म तप द्वारा जीर्ण होकर झड जाते हैं[2] ।" उसी आगम मे कहा "तपरूपी वाण से सयुक्त हो, कर्मरूपी कवच का भेदन करनेवाला मुनि, सग्राम का अन्त ला, ससार से—जन्म-जन्मान्तर से मुक्त हो जाता है[3] ।" स्वामीजी कहते हैं उत्कृष्ट भावना से तप करनेवाला तीर्थंकर गोत्र तक का बध करता है। अधिक क्या तप से अनन्त ससारी जीव क्षणभर मे करोडो भवो के कर्मों को खपाकर सिद्ध हो जाता है ।

१८—निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनो निरवद्य है (गा०५३-५६)

इन गाथाओ मे स्वामीजी ने निम्न बातो पर प्रकाश डाला है

१—निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनो भिन्न-भिन्न हैं पर दोनो ही निरवद्य हैं ।

२—निर्जरा मोक्ष का अश है

३—नये कर्मों के बध से निवृत्त हुए बिना ससार-भ्रमण नही मिटता

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह श्री हेमचन्द्रसूरिप्रणीत सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १२६, १३२

सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्णं वह्निना यथा ।
तपोऽग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति ॥
दीप्यमाने तपोवह्नौ, वाह्ये चाभ्यन्तरेऽपि च ।
यमी जरति कर्माणि, दुर्जराण्यपि तत्क्षणात् ॥

२—उत्त० ३० ६

भवकोडीसचिय कम्म तवसा निज्जरिज्जइ

३—उत्त० ६. २२ (पृ० पा० टि० मे उद्धृत)

है पर वह सफल होती ही है —ऐसा नियम नहीं है। धार्मिक दृष्टि से तप के साथ जुड़ी हुई कामना पाप-बन्ध का ही कारण होती है। स्वामीजी ने कहा है :

> पुन तणी बंछा कीयां लागे छें एकंत पाप हो लाल।
> तिण सूं दुःख पामें संसार में, वधतो जावे सोग संताप हो लाल ॥
> पुन री बंछा सूं पुन न नींपजें पुन तो सहज लागे छें आय हो लाल।
> ते तो लागे छें निरवद जोग सूं निरजरा री करणी सूं ताय हो लाल ॥
> भली लेस्या ने भला परिणाम थी निरर्वेद निरजरा थाय हो लाल।
> जब पुन लागे छें जीव रे सहज सभावे ताय हो लाल ॥
> ज करणी करें निरजरा तणी पुन तणी मन में धार हो लाल।
> ते तो करणी खोए नें बापड़ा, गया जमारो हार हो लाल[1] ॥

आगम में कहा है—धर्म-क्रिया केवल कर्म-क्षय के लिए करनी चाहिए अन्य किसी सांसारिक-हेतु के लिए नहीं। इससे सम्बन्धित एक अन्य सिद्धान्त भी है। जैसे धर्म क्रिया मोक्ष के लिए करना उचित है उसी तरह धर्म-क्रिया करने के बाद उसके बदले में सांसारिक फल की कामना करना भी उचित नहीं। जो धर्म क्रिया कर बदले में निदान—सांसारिक फल की कामना करता है, उसकी धर्म-करणी संसार-वृद्धि का कारण होती है। स्वामीजी लिखते हैं

> जिण सासण में इम कह्यों करणी करणी छें मुक्त रें काज।
> करणी करें नीहांणो नहीं करें ते पामें मुगत रों राज ॥
> करणी करें नीहाणों करें ते गया जमारो हार।
> संभूत नीहाणों कर ब्रह्मदत्त हुवो गयो सातमीं नरक मझार ॥
> करणी करें नीहांणों नहीं करें, ते गया जमारो जीत।
> तामली तापस नीहांणों कीधो नहीं तो इसाण इन्द्र हुवो वदीत ॥

जब देवताओं ने बाल तपस्वी तामली तापस को इन्द्र बनने के लिए निदान करने की प्रार्थना की तब उसके मन में जो विचार उठे उनको स्वामीजी ने उसके मुंह से बड़े ही मार्मिक रूप से प्रकट करवाया है। तामली सोचता है

> मूंन साज रह्यों तिण बोलयां नहीं नीहाणो तिण न कीयों कोय।
> वले मन में विचार इसड़ो कीयों करणी बच्यां पायो नहीं होय ॥

1—पुण्य पदार्थ ढाल १ गा ५० ५५ ५४

जो तपसा करणी म्हारे अल्प छे, घणो चितव्यो हुवे नही कोय।
जो तपसा करणी म्हारे अति घणी, थोडो चितव्यो सताव सू होय ॥
जेहवी करणी तेहवा फल लागसी, पिण करणी तो वाझ न कोय।
तो निहांणो करू किण कारणें, आछो किया निश्चे आछो होय ॥

स्वामीजी उपसहार करते हुए कहते हैं

जिन मत मांहे पिण इम कह्यो, नीहाणो करे तप खोय।
ते तो नरक तणो हुवे पावणो, वले चिहू गति माहे दुखियो होय ॥

तप की महिमा बताते हुए श्री हेमचन्द्रसूरि ने लिखा है—"जिस प्रकार सदोष स्वर्ण प्रदीप्त अग्नि द्वारा शुद्ध होता है, वैसे ही आत्मा तपाग्नि से विशुद्ध होती है। बाह्य और आभ्यन्तर तपाग्नि के देदीप्यमान होने पर यमी दुर्जर कर्मों को तत्क्षण भस्म कर देता है[1]।" उत्तराध्ययन में कहा है—"कोटि भवो के सचित कर्म तप द्वारा जीर्ण होकर झड जाते हैं[2]।" उसी आगम मे कहा "तपरूपी बाण से सयुक्त हो, कर्मरूपी कवच का भेदन करनेवाला मुनि, सग्राम का अन्त ला, ससार से—जन्म-जन्मान्तर से मुक्त हो जाता है[3]।" स्वामीजी कहते हैं उत्कृष्ट भावना से तप करनेवाला तीर्थंकर गोत्र तक का बध करता है। अधिक क्या तप से अनन्त ससारी जीव क्षणभर मे करोडो भवो के कर्मों को खपाकर सिद्ध हो जाता है।

१८—निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनो निरवद्य है (गा०५३-५६)

इन गाथाओ मे स्वामीजी ने निम्न बातो पर प्रकाश डाला है

१—निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनो भिन्न-भिन्न हैं पर दोनो ही निरवद्य हैं।

२—निर्जरा मोक्ष का अश है

३—नये कर्मों के वध से निवृत्त हुए विना ससार-भ्रमण नही मिटता

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह श्री हेमचन्द्रसूरिप्रणीत सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १२९, १३२

सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्णं वह्निना यथा।
तपोऽग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति ॥
दीप्यमाने तपोवह्नौ, बाह्ये चाभ्यन्तरेऽपि च।
यमी जरति कर्माणि, दुर्जराण्यपि तत्क्षणात् ॥

२—उत्त० ३० ६

भवकोडीसचिय कम्म तवसा निज्जरिज्जइ

३—उत्त० ६ २२ (पृ० पा० टि० मे उद्धृत)

जीव इस पर क्रमशः प्रकाश डाला जायगा।

१—कर्मों के देश-क्षय से आत्मा का देशरूप उज्ज्वल होना निर्जरा है। जिससे ऐसा होता है, वह निर्जरा की करनी है।

निर्जरा आत्म प्रदेशों की उज्ज्वलता है। इस अपेक्षा यह निरवद्य है। निर्जरा की करनी शुभ योगरूप होने से निर्मल होती है। अतः यह निरवद्य है।

२—निर्जरा मोक्ष का अंश किस प्रकार है, इस पर कुछ प्रकाश पूर्व में डाला जा चुका है। कर्म हलुक निर्जरा नव तत्त्वों में सातवां तत्त्व है। मोक्ष उसीका उत्कृष्ट रूप है। कर्म की पूर्ण निर्जरा (विलय) जो है, वही मोक्ष है। कर्म का अपूर्ण विलय निर्जरा है। दोनों में मात्रा भेद है, स्वरूप भेद नहीं[1]।

जैसे जल का एक बूंद समुद्र का ही अंश होता है, वैसे ही निर्जरा भी मोक्ष का अंश है। अन्तर एक देश और पूर्णता का है। एकदेश कर्म-क्षय निर्जरा है और कृत्स्न कर्म क्षय मोक्ष[2]।

३—निर्जरा पुराने कर्मों को दूर करती है पर उससे कर्मों का अन्त तभी आ सकता है जब नये कर्मों का संचय न किया जाय। जब तक नये कर्मों का संचार होता रहता है पुराने कर्मों का क्षय होने पर भी कर्मों का अन्त नहीं आता। जिस तरह ऋण उतारने की विधि यह है कि नया कर्ज न किया जाय और पुराना चुकाया जाय। उसी प्रकार कर्म से निवृत्त होने की प्रक्रिया यह है कि नये कर्मों के आगमन को रोका जाय और पुराने कर्मों का क्षय किया जाय। इस विधि से ही जीव कर्मों से मुक्त हो सकता है। उत्तराध्ययन में इसी विधि का उल्लेख तालाब के उदाहरण द्वारा किया गया है। वहाँ कहा है—"प्राणिवध मृषावाद, चोरी, मैथुन और परिग्रह तथा रात्रि-भोजन से विरत जीव अनास्रव—नये कर्म प्रवेश से रहित हो जाता है। जो जीव पाँच समितियों से संवृत्त तीन गुप्तियों से गुप्त चार कषाय से रहित जितेन्द्रिय तथा तीन प्रकार के गर्व और तीन प्रकार के शल्य से रहित होता है, वह अनास्रव—नये कर्म-संचय से रहित होता है। जिस तरह जल आने के मार्ग को रोक देने पर बड़ा तालाब पानी के उलीचे जाने और सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है, उसी तरह आस्रव—पाप-कर्म के प्रवेश-मार्गों को रोक देनेवाले संयमी पुरुष के करोड़ों भवों के संचित कर्म तप के द्वारा जीर्ण होकर झड़ जाते हैं[3]।"

१—जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व पृ० १४७

—तत्त्वा० १.४ सर्वार्थसिद्धि :

एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा, कृत्स्नकर्मविप्रयोगलक्षणो मोक्षः

३—उत्त० ३० : २-३, ५-६

: ८ :

बंध पदार्थ

८

बंध पदारथ

दुहा

१—आत्मा पदार्थ बंध छें, तिण जीव नें राख्यो छें बंध।
जिण बंध पदार्थ नहीं ओलख्यो ते जीव छें मोह अंध॥

२—बंध थकी जीव दबीयो रहें, काई न रहें उघाड़ी कोर।
तिण बंध तणा प्रबल थकी कांई न चले जोर॥

३—तलाव रूप तो जीव छें, तिण मे पडीया पांणी ज्यूं बंध मांग।
नीकलता पांणी रूप पुन पाप छें बंध नें रोको एम पिछांण॥

४—एक जीव दरब छें तेहनें असंख्यात परदेस।
सगला परदेसां आश्रव दुवार छें, सगला परदेसां करम परवेस॥

५—मिथ्यात इविरत नें परमाद छें, बले कषाय जोग विख्यात।
यां पांचां तणा बीस भेद छें, पनेर आश्रव जोग में समात॥

६—नाला रूप आश्रव नाला करम नां ते रुंध्यां हुवें संवर दुवार।
करम रूप जल आवतो रहें, जब बंध न हुवें लिगार॥

: ८ :

बंध पदार्थ

दोहा

१—आठवाँ पदार्थ बंध है। इसने जीव को बाँध रखा है। जिसने बंध पदार्थ को नहीं पहचाना, वह मोहांध है[1]।

बंध पदार्थ और उसका स्वरूप (दो० १-३)

२—बंध से जीव दबा रहता है (उसके सर्व प्रदेश कर्मों से आच्छादित रहते हैं)। उसका कोई भी अंश जरा भी खुला नहीं रहता। बंध की प्रबलता के कारण जीव का जरा भी वश नहीं चलता[2]।

३—जीव तालाबरूप है। तालाब में पड़े हुए—स्थित जलरूप बंध है। पुण्य-पाप को निकलते हुए जलरूप समझना चाहिए। इस प्रकार बंध को पहचान लो[3]।

४—प्रत्येक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते है। सर्व प्रदेश आश्रव-द्वार हैं—(कर्म-ग्रहण करने के मार्ग है)। सर्व प्रदेशों से कर्मों का प्रवेश होता है[4]।

कर्म-प्रवेश के मार्ग जीव-प्रदेश

५—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँच प्रधान आश्रव है। इनमे योग आश्रव के पन्द्रह भेदों को जोड़ देने से कुल बीस आस्रव होते हैं[5]।

बंध के हेतु

६—जल के आने के नाले की तरह आश्रव कर्मों के आने के नाले है। इन नालों को रोक देने पर संवर होता है जिस से कर्मरूपी जल का आना रुक जाता है। और नया बंध नहीं होता।

बंध से मुक्त होने का उपक्रम (दो० ६-८)

७—तलाव नों पांणी घटे तिण विधें जीव रे घटे छें करम।
जब कायक जीव उजल हुवें, ते तो छें निरजरा धर्म॥

८—कदे तलाव रीतो हुवें सब पांणी तणो हुवें सोप।
ज्यूं सब करमां नों सोषंत हुवें, रीता तलाव ज्यूं मोष॥

९—बंध तो छें आठ करमां तणो ते पुदगल मीं पर्याय।
तिण बंध तणी ओलखणा कहूं ते सुणजो चित ल्याय॥

ढाल १

(भाइ २ कर्म विध)

१—बंध नीपजें छें आश्रव दुवार थी तिण बंध ने कह्यों पुन पापो जी।
ते पुन पाप तो दरब रूप छें, भावे बंध कह्यो जिण भापो जी॥
बंध पदारथ ओलखो* ॥

२—ज्यूं तीथकर आय उपनां ते तो दरब तीथंकर जांणों जी।
भावे तीथकर तो जिण समे होसी तेरमें गुणठांणों जी॥

३—ज्यूं पुन में पाप लागो कह्यो ते तो दरब छें पुन ने पापो जी।
भावे पुन पाप तो उदे आयां हुसी सुख दुःख सोग संतापो जी॥

४—तिण बंध तणा दोय भेद छें, एक पुन तणो बंध जांणों जी।
बीजो बंध छें पाप रो, दोनूं बंध री करजो पिछांणो जी॥

---

* यह आँकड़ी प्रत्येक गाथा के अन्त में इसी प्रकार समझें।

७—जिस तरह (सूर्य की गर्मी या उत्सिचन से) तालाब का पानी घटता है, उसी प्रकार (तप आदि से) जीव के कर्म घटते हैं। कर्मों के घटने से जीव कुछ—एक देश उज्ज्वल—निर्मल होता है, यही निर्जरा है।

८—जिस तरह (धीरे-धीरे) सर्व जल के सूख जाने से समय पाकर तालाब रिक्त हो जाता है, ठीक उसी तरह सर्व कर्मों के क्षय हो जाने पर जीव कर्मों से मुक्त हो जाता है। इस तरह मोक्ष रिक्त तालाब के समान है[६]।

बंध आठ कर्मों का होता है

९—बंध आठ कर्मों का होता है। बंध पुद्गल की पर्याय है। मैं इस बंध तत्त्व की पहचान कराता हूँ। ध्यानपूर्वक सुनो[७]।

ढाल : १

द्रव्य बंध और भाव बंध (गा० १-३)

१—बंध आश्रव-द्वार से उत्पन्न होता है। बंध को पुण्य और पापात्मक दो प्रकार का कहा गया है। ये पुण्य-पाप तो द्रव्य-बंधरूप है। भगवान ने भाव बंध भी कहा है।

२-३—जिस तरह तीर्थंकर उत्पन्न होने पर द्रव्य तीर्थंकर होते हैं परन्तु भाव तीर्थंकर उस समय होते हैं जब कि वे तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। उसी तरह जो पुण्य-पाप का बंध कहा गया है, वह द्रव्य पुण्य-पाप का बंध है। भाव पुण्य-पाप बन्ध तब होता है जब कि कर्म उदय में आकर सुख-दुःख, हर्ष-शोक उत्पन्न करते हैं।

पुण्य बंध और पाप-बंध का फल (गा० ४-५)

४—बंध दो प्रकार का होता है—एक पुण्य कर्मों का और दूसरा पाप कर्मों का। इन दोनों प्रकार के बंध को अच्छी तरह पहचानो।

७—तलाव नों पांणी घटे तिण विधें, जीव रे घटे छें करम ।
जब कांयक जीव उजल हुवें, ते तो छें निरजरा धम ॥

८—सर्व तलाव रीतो हुवें सब पांणी तणो हुवें सोष ।
ज्यूं सब करमां नों सोषत हुवें, रीता तलाव ज्यूं मोष ॥

९—बंध तो छें आठ करमां तणो ते पुदगल नीं पर्याय ।
तिण बंध तणी ओलखणा कहूं ते सुणजो चित ल्याय ॥

ढाल १

(लइ २ कर्म बिच)

१—बंध नीपजें छें आश्रव दुवार थी तिण बंध ने कह्यों पुन पापो जी ।
ते पुन पाप तो दरब रूप छें, भावे बंध कह्यों जिण आपो जी ॥
बंध पदार्थ ओलखो* ॥

२—ज्यूं तीर्थंकर नाम उपनो ते तो दरब तीर्थंकर जाणों जी ।
भावे तीर्थंकर तो जिण समे होसी तेरमे गुणठांणों जी ॥

३—ज्यूं पुन में पाप लागो कह्यो ते तो दरब छें पुन ने पापो जी ।
भावे पुन पाप तो उवे आयां हुसी सुख दुःख सोग संतापो जी ॥

४—तिण बंध तणा दोय भेद छें, एक पुन तणो बंध जाणों जी ।
बीजो बंध छें पाप रो दोनूं बंध री करजो पिछांणो जी ॥

* यह आँकड़ी प्रत्येक गाथा के अन्त में इसी प्रकार समझें ।

५—पुण्य-बंध के उदय से जीव को सात-सुख प्राप्त होते हे और पाप-बंध के उदय होने से नाना प्रकार के दुःख होते हैं।

कर्मों की सत्ता और उदय

६—जब तक बंध उदय में नहीं आता तब तक जीव को जरा भी सुख-दुःख नहीं होता। (उदय मे आने तक) बंध सतारूप ही रहता है और थोड़ी भी तकलीफ नहीं देता[८]।

बंध के चार भेद (गा० ७-१२)

७—बंध के चार भेद हैं : (१) प्रकृति बन्ध, (२) स्थिति बन्ध, (३) अनुभाग बन्ध और (४) प्रदेश बन्ध। इनको अच्छी तरह से पहचानना चाहिए।

८—प्रत्येक कर्म की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। प्रकृति बन्ध कर्मों के स्वभाव की अपेक्षा से होता है। प्रकृति के बंधने पर प्रकृति बन्ध होता है। प्रकृति जैसी बांधी जाती है वैसी ही उदय में आती है।

९—प्रत्येक प्रकृति काल से मापी गयी है। प्रत्येक प्रकृति अमुक काल तक रहती है, बाद में विलीन हो जाती है। इस प्रकार स्थिति बन्ध कर्म-प्रकृति के कालमान की अपेक्षा से होता है।

१०—अनुभाग बन्ध रस-विपाक—कर्म जिस-जिस तरह का रस देगा उसकी अपेक्षा से होता है। यह रस बन्ध भी प्रत्येक प्रकृति का ही होता है। जैसा रस जीव बांधता है वैसा ही उदय में आता है।

११-१२—प्रदेश बन्ध भी प्रकृति बन्ध का ही होता है। एक-एक प्रकृति के अनन्त-अनन्त प्रदेश होते हैं। वे जीव के प्रदेशों से लोलीभूत हो रहे है। प्रकृति बंध की यही विशेष पहचान है। आठों कर्मों की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। एक-एक प्रकृति के अनन्त प्रदेश जीव के एक-एक प्रदेश के विशेषरूप से लोलीभूत हैं[९]।

५—पुन नों बंध उदे हूआं, जीव नें साता सुख हुवें सोयो जी।
पाप नों बंध उदे हुआं विविध पणे दुःख होयो जी॥

६—बंध उदे नहीं ज्यां लग जीव नें सुख दुःख मूल न होय जी।
बंध तो छता रूप लागो रहें, फल न पावे कोय जी॥

७—तिण बंध तणा च्यार भेद छें, त्यानें रूडी रीत पिछांणों जी।
प्रकत बंध नें थित बंध दूसरो अनुभाग नें परदेस बंध जाणों जी॥

८—प्रकत बंध छें करमां री जूजूइ ते करमा रा सभाव रे न्यायो जी।
बांधी छें तिण समे बंध छें, जेसी बांधी तेसी उदे आयो जी॥

९—तिण प्रकत नें मापी छें काल सूं इतरा काल ताइ रहसी तांमा जी।
पछेंतो प्रकत विललावसी, थित सूं प्रकत बंध छें आंमो जी॥

१०—अनुभाग बंध रस विपाक छें, जेसो २ रस देसी ताह्यो जी।
ते पिण प्रकत मों बंध रस कह्यों बांध्या तेसा इज उदे आयो जी॥

११—परदेस बंध कह्यो प्रकत बंध तणो प्रकत २ रा अनंत परदेसो जी।
ते लोलीभूत जीव सूं होय रह्या प्रकत बंध ओलखाई वसेषो जी॥

१२—आठ करमां री प्रकत छें, जूजूई एकीकी रा अनंत परदेसो जी।
ते एकीकी परदेस जीव रे, लोलीभूत हुवा छें वसेषो जी॥

१३—ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म और आठवें अतराय कर्म—इन सबकी स्थिति एक समान है। चित लगा कर सुनो।

कर्मों की स्थिति (गा० १३-१८)

१४—इन चारों कर्मों की जघन्य स्थिति अतर मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागर जितनी है।

१५—दर्शनमोहनीय कर्म की कम-से-कम स्थिति अतर मुहूर्त प्रमाण और अधिक-से-अधिक स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागर जितनी है।

१६—भगवान ने चारित्रमोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति अतर मुहूर्त की बतलाई है। उत्कृट स्थिति चालीस कोटाकोटि सागर की होती है।

१७—आयुष्य कर्म की जघन्य स्थिति अतर मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की होती है। इसकी इससे अधिक स्थिति नहीं होती।

१८—नाम और गौत्र—इनमे से प्रत्येक कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है और उत्कृष्ट बीस कोटाकोटि सागर जितनी[१०]।

१९—प्रत्येक जीव के आठ कर्मो के अनन्त पुद्गल-प्रदेश लगे रहते है। अभव्य जीवों की सख्या के माप से भगवान ने इन पुद्गलों की सख्या अनन्त गुणा बतलाई है।

अनुभाग बध (गा० १९-२१)

२०—ये कर्म जीव के अवश्य ही उदय में आवेगे, भोगे बिना (बाधे हुए कर्मो से) छुटकारा नही हो सकता। कर्मो के उदय में आने से ही सुख-दु ख होता है। बिना उदय के सुख-दु ख नहीं होता।

१३—ग्यांनावरणी दरसणावरणी वेदनी, वले आठमां करम अंतरायो जी।
मांरी थित छें सगला री सारिषी, ते सुणजो चित्त ल्यायो जी॥

१४—थित छें यां च्यारूं करमां तणी, अंतरमुहुरत परिमांणो जी।
उतकष्टी थित यां च्यारूं करमां तणी तीस कोडाकोड सागर जांणो जी॥

१५—थित दरसण मोहणी करम नीं जगन तो अंतरमुहरत परमांणो जी।
उतकष्टी थित छें एहनी सितर कोडाकोड सागर जांणो जी॥

१६—जिगन थित चारित मोहणी करम नीं अंतरमुहुरत कही जगदीसो जी।
उतकष्टी थित छें एहनीं सागर कोडाकोड चालीसो जी॥

१७—थित कही छें आउखा करम नीं जिगन अंतरमुहुरत होयो जी।
उतकष्टी थित सागर तेतीस नीं आगे थित आउखा री न कोयो जी॥

१८—थित नांम न गोत्र करम तणी जगन तो आठ मुहुरत सोयो जी।
उतकष्टी एकीका करम नीं बीस कोडाकोड सागर होयो जी॥

१९—एक जीव रे आठ करमां तणा पुदगल रा परदेस अनन्तो जी।
ते अभवी जीवां थी मापीयां अनंत गुणां कह्या भगवंतो जी॥

२०—ते अबस उदे आसी जीव रे, भोगवीया विण नहीं छूटसो जी।
उदे आयां विण सुख दुःख हुवें नहीं उदे आयां सुख दुःख पायो जी॥

२१—जो कर्म शुभ परिणाम से बांधे गये है, वे शुभ रूप से उदय मे आयेंगे और जो कर्म अशुभ परिणामों से बांधे गये हैं उनसे दु ख होगा[११]।

प्रदेश-बध और तालाव का दृष्टान्त (गा० २२-२६)

२२—आठों ही कर्म पांच वर्ण, दो गध और पांच रसों से युक्त होते है। आठों ही कर्म चोस्पर्शी होते हैं। आठों ही कर्म पौद्गलिक और रूपी है।

२३—कर्म रूक्ष और स्निग्ध तथा ठण्डे और गर्म होते है। कर्म हल्के, भारी, सुहावने या खरदरे नहीं होते।

२४—जैसे कोई तालाब जल से भरा हो, जरा भी खाली न हो उसी तरह जीव के प्रदेश कर्मो से भरे रहते हैं। यह उपमा एक देश समझनी चाहिए।

२५—प्रत्येक जीव के असंख्यात प्रदेश असख्यात तालाबों की तरह हैं। ये सब प्रदेश कर्मो से भरे रहते है मानो चतुष्कोण वापियां जल से भरी हों।

२६—जहाँ जीव का एक प्रदेश है वहाँ कर्मो के अनन्त प्रदेश रहे हुए हैं। इसी तरह असख्यात प्रदेशी जीव के सर्व प्रदेश कर्मो से उसी प्रकार भरे रहते हैं जिस प्रकार वापियाँ जल से। आत्मा के एक-एक प्रदेश में कर्मो का प्रवेश है[१२]।

मुक्ति की प्रक्रिया (गा० २७-२८)

२७-२८—जिस तरह जल आने के नाले को बन्ध कर जल निकलने के नाले को खोल दिया जाय तो भरा हुआ तालाब खाली हो जाता है, उसी प्रकार आस्रवरूपी नाले को रोक कर हर्षित चित्त होकर तप करने से कर्मो का अन्त आता है और जीव कर्मरहित हो जाता है।

२१—सुभ परिणामां करम बांधीया, ते सुभ पणे उदे आसी जी।
असुभ परिणामां करम बांधीया, तिण करमां थी दुःख पासी जी॥

२२—पांच वरणा आठोंइ करम छें, दोय गंध नें रस पांचुंई जी।
चोफरसी आठूंइ करम छें, रूपी पुदगल करम आठोंइ जी॥

२३—करम तो लूखा नें चोपड्या वले ठंडा उना होइ जी।
करम हल्का नहीं भारी नहीं सुहालो नें खरदरा न कोइ जी॥

२४—कोइ तलाव जल सूं पूर्ण भरयो खाली कोर न रही कायो जी।
ज्यूं जीव भरयो करमां थकी आ छे उपमा देस थी ताह्यो जी॥

२५—असंख्याता परदेस एक जीव रे, ते असंख्याता जेम तलावो जी।
सारा परदेस भरीया करमां थकी जांणें भरीया चोखूणी वावो जी॥

२६—एक २ परदेस में जीव नां तिहां अनंता करम नां परदेसो जी।
ते सारा परदेस भरीया छें वाव ज्यूं करम पुदगल कीयों छें परवेसो जी॥

२७—तलाव खाली हुवे छें इण विधे पेंहला तो नाला देवे रुंधायो जी।
पछें मोरीयादिक छोडे तलाव री जब तलाव रीतो थायो जी॥

२८—ज्यूं जीव रे आश्रव नालो रुंध दे, तपसा करें हरष सहीतो जी।
जब छेंहड़ा आवें सब करम ना तब जीव हुवें करम रहीता जी॥

२१—जो कर्म शुभ परिणाम से बांधे गये हैं, वे शुभ रूप से उदय में आयेंगे और जो कर्म अशुभ परिणामों से बांधे गये हैं उनसे दुःख होगा[११]।

प्रदेश-बंध और तालाब का दृष्टान्त (गा० २२-२६)

२२—आठों ही कर्म पांच वर्ण, दो गंध और पांच रसों से युक्त होते हैं। आठों ही कर्म चोस्पर्शी होते हैं। आठों ही कर्म पौद्गलिक और रूपी हैं।

२३—कर्म रूक्ष और स्निग्ध तथा ठण्डे और गर्म होते हैं। कर्म हल्के, भारी, सुहावने या खरदरे नहीं होते।

२४—जैसे कोई तालाब जल से भरा हो, जरा भी खाली न हो उसी तरह जीव के प्रदेश कर्मों से भरे रहते हैं। यह उपमा एक देश समझनी चाहिए।

२५—प्रत्येक जीव के असंख्यात प्रदेश असंख्यात तालाबों की तरह हैं। ये सब प्रदेश कर्मों से भरे रहते हैं मानो चतुष्कोण वापियां जल से भरी हों।

२६—जहाँ जीव का एक प्रदेश है वहाँ कर्मों के अनन्त प्रदेश रहे हुए हैं। इसी तरह असंख्यात प्रदेशी जीव के सर्व प्रदेश कर्मों से उसी प्रकार भरे रहते है जिस प्रकार वापियाँ जल से। आत्मा के एक-एक प्रदेश में कर्मों का प्रवेश है[१२]।

मुक्ति की प्रक्रिया (गा० २७-२८)

२७-२८—जिस तरह जल आने के नाले को बन्ध कर जल निकलने के नाले को खोल दिया जाय तो भरा हुआ तालाब खाली हो जाता है, उसी प्रकार आस्रवरूपी नाले को रोक कर हर्षित चित्त होकर तप करने से कर्मों का अन्त आता है और जीव कर्मरहित हो जाता है।

२९—करम खीण हुवो जीव निरमलो तिण जीव नें कहिजे मोखो जी।
ते सिध हूवो छें सासतो सब करम बंध कर दीयों सोपो जी॥

३—जोड कीधी छें वस ओलखायवा नाथदुवारा सहर मझारो जी।
समत अठारे में बरस छपनें चेत विद बारस सनीसर वारो जी॥

एक भाग विशेष को—उसकी चोटी को—अलग रख दिया जाय तो ऐसा कोई भी स्थान न मिलेगा जहाँ कि स्वतन्त्र जीव—पुद्गल-मुक्त जीव प्राप्त हो सके। जीव और पुद्गल सत् पदार्थ होने से—उनका पारस्परिक बन्ध भी सत्य है और वह सत् पदार्थ है। जीव और कर्म का बंध काल्पनिक बात नहीं पर क्षण-क्षण होनेवाली घटना है। इसीलिए बंध को आठवाँ सद्भाव पदार्थ माना गया है।

जीव और कर्म के संश्लेष को बंध कहते हैं[1]। जीव अपनी वृत्तियों से कर्म-योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इन ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गल और जीव-प्रदेशों का बंधन—संयोग बंध है[2]।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती लिखते हैं—"जिस चैतन्य परिणाम से कर्म बंधता है, वह भाव बंध है तथा कर्म और आत्मा के प्रदेशों का अन्योन्य प्रवेश—एक दूसरे में मिल जाना—एक क्षेत्रावगाही हो जाना द्रव्य बंध है[3]।

अभयदेवसूरि कहते हैं—"बेडी का बन्धन द्रव्य बन्ध है और कर्म का बन्धन भाव बन्ध[4]।"

जीव और कर्म के प्रदेश-बन्ध को समझाते हुए स्वामीजी ने तीन दृष्टान्त दिए हैं :

१—जिस तरह तेल और तिल लोलीभूत—ओतप्रोत होते हैं, उसी तरह बन्ध में जीव और कर्म लोलीभूत होते हैं।

२—जिस तरह घृत और दूध लोलीभूत होते हैं, उसी तरह बन्ध में जीव और कर्म लोलीभूत होते हैं।

१—उत्त० २८ १४ नेमिचन्द्रीय टीका :

'बन्धश्च'—जीवकर्मणोः संश्लेषः

२—ठाणाङ्ग० १.४ ९ की टीका :

(क) बन्धनं बन्धः सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते यत् स बन्ध इति भावः

(ख) ननु बन्धो जीवकर्म्मणोः संयोगोऽभिप्रेतः

३—द्रव्यसंग्रह २ ३२

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबन्धो सो।
कम्मादपदेसाणअण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥

४—ठाणाङ्ग १ ४ ९ टीका :

द्रव्यतो बन्धो निगडादिभिर्भावतः कर्म्मणा

टिप्पणियाँ

१—बंध पदार्थ (दो० १)

स्वामीजी ने बंध को आठवाँ पदार्थ कहा है और उसका विवेचन भी ठीक मोक्ष के पूर्व किया है। उसका आधार आगमिक कथन है[1]। दिगम्बर आचार्य भी उसका यह स्थान स्वीकार करते हैं[2]। उत्तराध्ययन में नव पदार्थों के नाम निर्देश में उसका स्थान तृतीय है अर्थात् इसका उल्लेख जीव और अजीव पदार्थ के बाद ही आ जाता है[3]। सात पदार्थों का उल्लेख करते हुए वाचक उमास्वाति ने इसे चतुर्थ स्थान पर रखा है अर्थात् इसे आस्रव के बाद और संवर, निर्जरा और मोक्ष के पहले रखा है[4]। हेमचन्द्रसूरि ने सात पदार्थों में इसे छठा पदार्थ बताया है[5]।

आगमों में अन्य पदार्थों की तरह बंध को भी सद्भाव पदार्थ तथ्यभाव आदि कहा गया है[6]। अतः के बोलों में कहा है—"ऐसी संज्ञा मत करो कि बंध और मोक्ष नहीं है पर ऐसी संज्ञा करो कि बंध और मोक्ष है[7]।" विपक्षावतारों में बंध और मोक्ष को प्रतिपक्षी तत्त्वों में गिना गया है[8]। इस तरह यह स्पष्ट है कि बंध का जैन दर्शन में एक स्वतंत्र तत्त्व के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

जीव और पुद्गल क्रमशः चतन और जड़ होने से परस्पर विरोधी स्वभाववाले पदार्थ हैं फिर भी दोनों परस्पर बद्ध हैं और इसी सम्बन्ध से यह संसार है। मोक्ष के

१—ठाणाङ्ग ६ ६६५ (पृ० २२ पा० टि० १ में उद्धृत)
२—पञ्चास्तिकाय २ १ ८ (पृ० १५ पा० टि० ५ (क) में उद्धृत)
३—उत्त० २८ १४ (पृ० २५ पर उद्धृत)
४—तत्त्वा० १ ४
५—देखिए पृ० १५१ पा० टि० ३
६—(क) ठाणाङ्ग ९ ६६५
(ख) उत्त० २८ १४
७—सूयगडं २ ५ १५
नत्थि बंधे व मोक्खे वा णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि बन्धे व मोक्खे वा एवं सन्नं निवेसए॥
८—ठाणाङ्ग २ ४६ :
जदत्थियं णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं तं जहा ... बन्धे चेव मोक्खे चव

हो जाता है। न वह पूरा देख सकता है और न पूरा जान सकता है। वह पूर्ण चारित्रवान भी नही हो सकता। उसे नाना प्रकार के सुख दु ख वेदन करने पडते हैं। एक नियत आयु तक शरीर विशेष मे रहना पडता है। उसे अनेक रूप करने पडते हैं—नाना गतियो में भटकना पडता है। नीच या उच्च गोत्र में जन्म लेना पडता है। वह अपनी अनन्त वीर्य शक्ति को स्फुरित नही कर सकता। इस तरह कर्म के बधन से जकडा हुआ जीव नाना प्रकार से पराधीन हो जाता है—वह अपनी शक्तियो को प्रकट करने का बल खो-सा चुका होता है। इस प्रकार कर्म की पराधीनता से जीव नि सत्त्व हो जाता है। उसका कोई वश नही चलता।

श्री हेमचन्द्रसूरि लिखते हैं—"जीव कषाय से कर्मयोग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है, यह बन्ध है। वह जीव की अस्वतत्रता का कारण है[1]।"

३—बंध और तालाब का दृष्टान्त (दो० ३) :

जिस तरह तालाब गृहीत जल से परिपूर्ण रहता है, इसी तरह ससारी जीव के आत्म-प्रदेश-गृहीत कर्मरूप परिणाम पाए हुए पुद्गल-स्कंधो से परिपूर्ण रहते हैं। जिस तरह सचित जल तालाब में स्थित रहता है, उसी प्रकार गृहीत कर्म आत्म-प्रदेशो में स्थित रहते हैं। यही बध है। जिस तरह तालाब मे स्थित जल निकलता रहता है, वैसे ही सचित कर्म भी सुख या दु खरूप फल देकर आत्म-प्रदेशो से निकलते रहते हैं, इस तरह पुण्य-पाप निकलते हुए जल के तुल्य हैं और बन्ध तालाब मे स्थित जल तुल्य। कर्मों का सत्तारूप अवस्थान बध है और उनकी उदयरूप परिणति पुण्य पाप। सचित कर्म फल नहीं देते केवल सत्तारूप में रहते हैं, यह बध है। सचित कर्म उदय मे आ सुख या दु ख देते हैं, तब वे पुण्य या पाप सज्ञा से प्रज्ञापित होते हैं।

४—जीव-प्रदेश और कर्म प्रदेश (दो० ४) :

इस विषय में पूर्व में विशेप प्रकाश डाला जा चुका है[2]।

जीव असख्यात प्रदेशी द्रव्य है[3]। वह प्रत्येक प्रदेश से कर्म-स्कन्ध ग्रहण करता है। कर्म-ग्रहण आत्मा के खास प्रदेशो द्वारा ही नहीं होता परन्तु ऊपर, नीची, तिरछी सब दिशाओ के आत्म-प्रदेशो द्वारा होता है।

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १३३

सकपायतया जीव कर्मयोग्यांस्तु पुद्गलान् ।
यदादत्ते स बन्ध स्याज्जीवास्वातन्त्र्यकारणम् ॥

२—देखिए पृ० २८५ अनुच्छेद ५ तथा पृ० ४१७

३—देखिए पृ० २८ अनुच्छेद ४, पृ० २६ टि० ७ का अन्तिम अनुच्छेद और पृ० ४१-४२

१—जिस तरह धातु और मिट्टी लोलीभूत होते हैं, उसी तरह बन्ध में जीव और कर्म लोलीभूत होते हैं[१]।

जीव और कर्म का यह पारस्परिक बन्ध प्रवाह की अपेक्षा अनादि है[२]। न जीव पहले उत्पन्न हुआ न कर्म पहले उत्पन्न हुआ न दोनों साथ उत्पन्न हुए, न दोनों अनादि काल से उत्पन्न हैं पर दोनों आदि रहित हैं और दोनों का सम्बन्ध आदि रहित है[३]।

बन्ध पदार्थ बेड़ी की तरह है। इसने जीव को जकड़ रखा है। जो मनुष्य अपने बन्धन को बन्धन नहीं समझता वह मोहान्ध है। जो बन्धन को बन्धन नहीं समझता वह बन्धन को तोड़ कर मुक्त नहीं हो सकता। भगवान ने कहा है—'बन्धन को जानो और तोड़ो[४]।'

२—बन्ध और जीव की परवशता (दो० २)

आचार्य पूज्यपाद ने बन्ध की परिभाषा देते हुए लिखा है— 'आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः[५]।' जीव और कर्म के इस ओत-प्रोत संलाप को दूध और जल के उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है। जिस तरह मिले हुए दूध और पानी में यह नहीं बतलाया जा सकता कि कहाँ पानी है और कहाँ दूध है—परन्तु सर्वत्र एक ही पदार्थ नजर आता है ठीक वैसे ही जीव और कर्मों के सम्बन्ध में भी यह नहीं बतलाया जा सकता कि किस अंश में जीव है और किस अंश में कर्म-पुद्गल। परन्तु सभी प्रदेशों में जीव और कर्म का अन्योन्य सम्बन्ध रहता है। जीव के सर्व प्रदेश कर्मों से प्रभावित रहते हैं। उसका थोड़ा भी अंश कर्मों से उन्मुक्त नहीं रहता। कर्म रहित जीव में—मुक्त जीव में अनेक स्वाभाविक शक्तियाँ होती हैं। परन्तु संसारी जीव अनन्त काल से कर्म संयुक्त होने से उन शक्तियों को प्रकट नहीं कर सकता। जीव के साथ कर्मों के बन्ध से उसके सब स्वाभाविक गुण दबे हुए रहते हैं। इससे वह परवश—पराधीन

१—तत्त्वार्थ: हल्वार्थसार

२—स्थानाङ्ग १ ४ ६ टीका

आदि रहितौ जीवकर्मयोगः इति पक्षः

३—स्थानाङ्ग १ ४ ६ टीका

४—सूयगडं १ १ १ १ :

बुज्झिज्ज त्ति तिउट्टिज्जा बन्धणं परिजाणिया।

५—तत्त्वा० १ ४ सर्वार्थसिद्धि

हो जाता है। न वह पूरा देख सकता है और न पूरा जान सकता है। वह पूर्ण चारित्रवान भी नही हो सकता। उसे नाना प्रकार के सुख दु ख वेदन करने पडते हैं। एक नियत आयु तक शरीर विशेष मे रहना पडता है। उसे अनेक रूप करने पडते हैं—नाना गतियो मे भटकना पडता है। नीच या उच्च गोत्र में जन्म लेना पडता है। वह अपनी अनन्त वीर्य शक्ति को स्फुरित नही कर सकता। इस तरह कर्म के वधन से जकडा हुआ जीव नाना प्रकार से पराधीन हो जाता है—वह अपनी शक्तियो को प्रकट करने का वल खो-सा चुका होता है। इस प्रकार कर्म की पराधीनता से जीव नि सत्त्व हो जाता है। उसका कोई वश नही चलता।

श्री हेमचन्द्रसूरि लिखते हैं—"जीव कषाय से कर्मयोग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है, यह वन्ध है। वह जीव की अस्वतत्रता का कारण है[1]।"

३—वंध और तालाव का दृष्टान्त (दो० ३) :

जिस तरह तालाव गृहीत जल से परिपूर्ण रहता है, इसी तरह ससारी जीव के आत्म-प्रदेश-गृहीत कर्मरूप परिणाम पाए हुए पुद्गल-स्कधो से परिपूर्ण रहते हैं। जिस तरह सचित जल तालाव मे स्थित रहता है, उसी प्रकार गृहीत कर्म आत्म-प्रदेशो में स्थित रहते हैं। यही वध है। जिस तरह तालाव मे स्थित जल निकलता रहता है, वैसे ही सचित कर्म भी सुख या दु खरूप फल देकर आत्म-प्रदेशो से निकलते रहते हैं, इस तरह पुण्य-पाप निकलते हुए जल के तुल्य हैं और वन्ध तालाव में स्थित जल तुल्य। कर्मों का सत्तारूप अवस्थान वध है और उनकी उदयरूप परिणति पुण्य पाप। सचित कर्म फल नही देते केवल सत्तारूप मे रहते हैं, यह वध है। सचित कर्म उदय मे आ सुख या दु ख देते हैं, तव वे पुण्य या पाप सज्ञा से प्रज्ञापित होते हैं।

४—जीव-प्रदेश और कर्म प्रदेश (दो० ४) :

इस विषय में पूर्व में विशेष प्रकाश डाला जा चुका है[2]।

जीव असख्यात प्रदेशी द्रव्य है[3]। वह प्रत्येक प्रदेश से कर्म-स्कन्ध ग्रहण करता है। कर्म-ग्रहण आत्मा के खास प्रदेशो द्वारा ही नहीं होता परन्तु ऊपर, नीची, तिरछी सब दिशाओ के आत्म-प्रदेशो द्वारा होता है।

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १३२

सकषायतया जीव कर्मयोग्यांस्तु पुद्गलान्।
यदादत्ते स वन्ध स्याज्जीवास्वातन्त्र्यकारणम्॥

२—देखिए पृ० २८५ अनुच्छेद ५ तथा पृ० ४१७

३—देखिए पृ० २८ अनुच्छेद ४, पृ० २६ टि० ७ का अन्तिम अनुच्छेद और पृ० ४१-४२

५—बन्ध-हेतु (दो० ५)

आगमों में बन्ध-हेतु दो कहे गए हैं—(१) राग और (२) द्वेष[1]। —"रागो य दोसो वि य कम्मबीयं[2]"—राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। जो भी पाप कर्म हैं, वे राग और द्वेष से अर्जित होते हैं—"जहा उ पावगं कम्मं रागदोससमज्जियं[3]।" इन आगम वाक्यों में भी दो ही बन्ध-हेतुओं का उल्लेख है।

टीकाकार ने राग से माया और लोभ—इन दो को ग्रहण किया है और द्वेष से क्रोध और मान को[4]। आगम में अन्यत्र कहा है कि जीव चार स्थानों से आठों कर्म प्रकृतियों का चयन करता है। भूत में किया है और भविष्यत् में करेगा। ये चार स्थान क्रोध, मान, माया और लोभ हैं[5]।

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! जीव कर्म प्रकृतियों का बंध कैसे करते हैं?" भगवान ने उत्तर दिया— गौतम! जीव दो स्थानों से कर्मों का बंध करते हैं—एक राग और दूसरे द्वेष से। राग दो प्रकार का है—माया और लोभ। द्वेष भी दो प्रकार का है—क्रोध और मान[6]।"

क्रोध, मान, माया और लोभ का संग्राहक शब्द कषाय है। इस तरह उपर्युक्त विवेचन से एक कषाय ही बन्ध-हेतु होता है।

१—(क) ठाणाङ्ग २.४.९६

(ख) समवायाङ्ग सम० २

२—उत्त० ३२.७

३—उत्त० ३०.१

४—ठाणाङ्ग २.४.९६ की टीका

रागो मायालोभकषायलक्षणः द्वेषस्तु क्रोधमानकषायलक्षणः यदाह—

मायालोभकषायाश्चेत्येतद् रागसंज्ञितं द्वन्द्वम्।
क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्टः॥

५—ठाणाङ्ग ४.१

जीवा णं चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु, तं— कोहेणं माणेणं मायाए लोभेणं।

६—पन्नवणा २३.१.३

दूसरा कथन है—"योग प्रकृतिवध और प्रदेशवन्ध का हेतु है और कपाय स्थिति वंध और अनुभागबन्ध का हेतु[1]।" इससे योग और कपाय—ये दो वन्ध-हेतु ठहरते हैं।

तीसरा कथन है—"मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग—ये वन्ध-हेतु हैं[2]।" "इन चार वन्ध-हेतुओ के ५७ भेद होते हैं[3]।"

उपर्युक्त वन्ध हेतुओ में प्रमाद का उल्लेख नही है। आगम में उसे भी वध-हेतु कहा है (भग० १.२)। श्री उमास्वाति ने प्रमाद को भी वन्ध-हेतु माना है—

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाययोगा वन्धहेतवः[4]।"

इस तरह वन्ध-हेतुओ की सख्या के सम्वन्ध में मतभेद है। कोई एक ही वन्ध-हेतु मानते हैं, कोई दो, कोई चार और कोई पाँच।

जहाँ एक कषाय को ही वन्वहेतु कहा है, वहाँ उस कथन को वन्ध हेतुओ में कपाय की प्रधानता का सूचक समझना चाहिए। अथवा वन्ध हेतुओ का एकदेश कथनमात्र समझना चाहिए।

इन भिन्न-भिन्न परम्पराओ का समन्वय इस प्रकार किया गया है—"प्रमाद एक प्रकार का असयम ही है और इसलिए यह अविरति या कषाय में आ जाता है, इसी दृष्टि से 'कर्मप्रकृति' आदि ग्रन्थो मे केवल चार वन्धहेतु ही बताए गए हैं। बारीकी से देखने से मिथ्यात्व और असयम—ये दोनो कषाय के स्वरूप से भिन्न नही पडते, इसलिए कषाय और योग—ये दो ही वन्ध-हेतु गिने गए हैं[5]।"

मिथ्यात्वादि पाँच हेतुओ का परस्पर पार्थक्य पहले बताया जा चुका है। ऐसी हालत में यह समन्वय बहुत दूर तक नही जाता।

१—ठाणाङ्ग २.४ ९६ टीका .

जोगा पयडिपदेस ठितिअणुभाग कषायओ कुणइ

२—ठाणाङ्ग २ ४ ९६ टीका :

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बन्धहेतव

३—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह ' देवगुप्तसूरिप्रणीत ' नवतत्त्वप्रकरण गा० १२ का भाष्य गा० १००

मिच्छत्तमविरई तह, कषायजोगा य बंधहेउत्ति।
एव चउरो मूले, भेएण उ सत्तवण्णत्ति॥

४—तत्त्वा० ८ १

५—तत्त्वार्थसूत्र (गुजराती तृ० आ०) पृ० ३२२-३२३

स्वामीजी ने प्रस्तुत ढाल में बन्ध-हेतु अथवा उनकी संख्या का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने कहा है—"बंध की उत्पत्ति आस्रवों से है। आस्रवों के निरोध से संवर होता है। फिर कर्मों का बन्ध नहीं होता। इस तरह स्वामीजी ने प्रकारान्तर से बीस आस्रवों को ही बन्ध हेतु माना है।

पाँच प्रधान आस्रव और योगास्रव के १५ भेदों का विवेचन पहले किया जा चुका है[1]।

भिन्न भिन्न कर्मों के बन्ध-हेतुओं का उल्लेख भी प्रसंग वश पहले भिन्न-भिन्न स्थलों पर आ चुका है। इन सब का समावेश पाँच बन्ध-हेतुओं में हो जाता है।

नीचे भगवती सूत्र (७ १ तथा ८ ९) पर आधारित भिन्न-भिन्न कर्मों के बन्ध हेतुओं की एकत्रित संक्षिप्त तालिका उपस्थित की जाती है

कर्म	बंध-हेतु
१—ज्ञानावरणीय—	(१) ज्ञानप्रत्यनीकता (२) ज्ञान-निह्नव (३) ज्ञानान्तराय (४) ज्ञान प्रद्वेष (५) ज्ञानाशातना (६) ज्ञानविसंवादन-योग
२—दर्शनावरणीय—	(१) दर्शनप्रत्यनीकता (२) दर्शननिह्नव (३) दर्शनान्तराय (४) दर्शनप्रद्वेष (५) दर्शनाशातना (६) दर्शनविसंवादन-योग
३—वेदनीय—	
सातवेदनीय—	(१) अदुःख (२) अशोक (३) अझूरण (४) अटिप्पण (५) अपिट्टण (६) अपरितापन
असातवेदनीय—	(१) पर दुःख (२) पर शोक (३) पर झूरण (४) पर टिप्पण (५) पर पिट्टण (६) पर परितापन
४—मोहनीय—	(१) तीव्र क्रोध (२) तीव्र मान (३) तीव्र माया (४) तीव्र लोभ (५) तीव्र दर्शन मोहनीय (६) तीव्र चारित्र मोहनीय
५—आयुष्य	
नारकीय—	(१) महा आरम्भ (२) महा परिग्रह (३) मांसाहार (४) पंचेन्द्रियवध
तिर्यञ्च—	(१) माया (२) वञ्चना (३) असत्य वचन (४) कूट तौल कूट माप
मनुष्य—	(१) प्रकृतिभद्रता (२) प्रकृतिविनीतता (३) सानुक्रोशता (४) अमत्सरता

1—देखिए पृ० १७३ और आगे

६—नाम—

शुभ— (१) काय-ऋजुता (२) भाव-ऋजुता (३) भाषा-ऋजुता (४) अवि-सवादनयोग

अशुभ— (१) काय-अऋजुता (२) भाव-अऋजुता (३) भाषा-अजुऋता (४) विसवादनयोग

७—गोत्र—

उच्च— (१) जाति-अमद (२) कुल-अमद (३) बल-अमद (४) रूप-अमद (५) तप-अमद (६) श्रुत-अमद (७) लाभ-अमद (८) ऐश्वर्य-अमद

नीच— (१) जाति-मद (२) कुल-मद (३) बल मद (४) रूप-मद (५) तप-मद (६) श्रुत-मद (७) लाभ-मद (८) ऐश्वर्य-मद

८—अन्तराय— (१) ज्ञानान्तराय (२) लाभान्तराय (३) भोगान्तराय (४) उप-भोगान्तराय (५) वीर्यान्तराय

मिथ्यादर्शनादि जो पाँच बन्ध-हेतु हैं उनमे से पूर्व हेतु विद्यमान होने पर उत्तर हेतु विद्यमान रहता है, किन्तु उत्तर हेतु हो तो पूर्व हेतु हो भी सकता है और नही भी हो सकता है—इसकी भजना समझनी चाहिए[1]। प्रत्येक गुणस्थान में पांचो बन्ध-हेतु नही होते। केवल प्रथम गुणस्थान मे ही पांचो समुदायरूप से रहते हैं। दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में अविरति, प्रमाद, कषाय और योग होते हैं। पांचवें में देश अविरति, प्रमाद, कषाय और योग होते हैं। छठे गुणस्थान मे प्रमाद, कषाय और योग—ये तीन होते हैं। सातवें, आठवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान मे कषाय और योग—ये दो ही होते हैं। ग्यारहवें में सत्तारूप से कषाय है पर उदय में नही है अर्थात् वहाँ पर भी कषाय प्रत्ययिक बन्ध नही है। बारहवें और तेरहवें गुणस्थान मे केवल योग होता है। चौदहवें गुणस्थान मे एक भी बन्ध-हेतु नही होता। यह अपुनर्बन्धक होता है[2]।

इन सम्बन्ध में श्री जयाचार्य के विचार प्रसग-वश पहले बताये जा चुके हैं (पृ० २८० ; पृ०५२७-५३१)। पाठक उन स्थलो को अवश्य देख लें।

१—आर्हतदर्शन दीपिका—चतुर्थ उल्लास, बन्ध अधिकार पृ० ६७५

२—वही · पृ० ६७६

६—आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष (दो० ६ ८)

इन दोहों में स्वामीजी ने संक्षेप में पर बड़े ही सुन्दर ढंग से आस्रव संवर आदि का स्वरूप और परस्पर सम्बन्ध बतला दिया है।

बन्ध का स्वरूप समझाने के लिए स्वामीजी ने जो तालाब का दृष्टान्त दिया था (दो० ३) उसी को विस्तारित करते हुए वे कहते हैं :

जिस तरह तालाब में नालों द्वारा जल का संचार होता है, उसी तरह जीव के प्रदेशों में आस्रव द्वारा कर्मों का प्रवेश होता है। आस्रव जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल आने के नाले हैं। नालों को रोक देने से जिस तरह तालाब में नए जल का संचार होना रुक जाता है, उसी तरह मिथ्यात्वादि आस्रवों के निरोध से संवर होता है—अर्थात् नए कर्मों का आगमन रुक जाता है। जिस तरह नए जल के स्राव को रोक देने से तालाब ऊपर नहीं उठता उसी प्रकार आत्मप्रदेशों में नए कर्मों के प्रवेश को रोक देने से फिर बंध नहीं होता।

जल के नए संचार के अभाव में जिस तरह पूर्व एकत्रित हुआ जल सूरज की गर्मी तथा व्यवहार आदि से क्रमशः घटता जाता है और नीचे तालाब का पेंदा दिखलाई देने लगता है, ठीक उसी तरह संवरयुक्त आत्मा के प्रदेशों में से कर्म कुछ तो फल दे दे कर और कुछ तपस्या आदि क्रियाओं से क्षय को प्राप्त होते हैं। इस तरह कर्मों के कमी पड़ जाने से आत्मा में निर्मलता आ जाती है। आत्मा के प्रदेशों का इस प्रकार अंशरूप उज्ज्वल होना निर्जरा है।

जिस तरह कम होते-होते तालाब का जल सम्पूर्ण सूख जाता है और नीचे से सूखी जमीन निकल आती है, उसी तरह तपस्यादि से जीव के प्रदेशों से कर्मों का परिशाटन होते-होते अन्त में आत्यन्तिक क्षय हो जाता है और आत्मा अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ प्रकट हो जाता है। आत्मा का सम्पूर्ण निर्मल हो जाना—उसके प्रदेशों में कर्म रूपी पुद्गलों का लेश भी न रहना यही जीव का मोक्ष है। इस तरह मुक्त आत्मा रिक्त तालाब तुल्य होती है।

[१]आस्रव से कर्म आत्म प्रदेशों में प्रवेश पाते हैं। बंध से कर्म आत्म प्रदेशों के साथ मिलते हैं। संवर से नवीन कर्मों का प्रवेश रुकता है अतः नया बंध नहीं हो पाता। कर्मपुद्गलों का पुनः वियोग होता है। जो आंशिक वियोग है, वह निर्जरा है

१—देखिए पृ० ... सर्वथा वियोग है, वह मोक्ष।

बन्ध आस्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति है। आस्रव के द्वारा पौद्गलिक कर्म आत्म-प्रदेशो मे आते हैं। निर्जरा के द्वारा वे आत्म-प्रदेशो से बाहर निकलते हैं। कर्म-परमाणुओ के आत्म-प्रदेशो मे आने और फिर से चले जाने के बीच की दशा को सक्षेप में बध कहा जाता है [1]।

७—बध पुद्गल की पर्याय है (दो० ६)

जड द्रव्य पुद्गल की वर्गणाएँ अनेक होती हैं उनमे से एक वर्गणा ऐसी है जो कर्मरूप परिणमित हो सकती है। जीव अपने आस-पास के क्षेत्र में से इस कर्मयोग्य पुद्गल वर्गणा के स्कधो को ग्रहण करता है और उन्हें काषायिक विकार से कर्मरूप मे परिणमन करता है। कर्म-भाव से परिणाम पाए हुए पुद्गलो का जो आत्म-प्रदेशो के साथ सम्बन्ध है, उसी का नाम बध है। इस तरह यह साफ प्रकट है कि बध पुद्गल की पर्याय है।

आत्मा के साथ जिन कर्मों का बध होता है, वे अनन्त प्रदेशी होते हैं। उनमे चतु' स्पर्शित्व होता है। वे आत्मा की सत्-असत् प्रवृत्ति द्वारा गृहीत होते हैं।

बन्ध की अपेक्षा जीव और पुद्गल फूल और गन्ध, तिल और तेल की तरह अभिन्न हैं—एकमेक हैं। लक्षण की अपेक्षा भिन्न हैं—कोई अपने स्वभाव को नही छोडता। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन, जीव अमूर्त्त है और पुद्गल मूर्त्त। मूर्त्त कर्म का आत्मा मे अवस्थान बध है। कर्म-पुद्गलो की आत्मप्रदेशो में अवस्थान रूप परिणति ही बन्ध है अत बन्ध पुद्गल-पर्याय है।

८—द्रव्य-बंध भाव-बंध (गा० १-६)

पहले कर्म-वर्गणा के पुद्गलो का आत्म-प्रदेशो मे आगमन होता है और फिर बध। कर्म-पुद्गलो का आगमन आस्रव विना नही होता अत बध पदार्थ की उत्पत्ति का मूलाधार आस्रव पदार्थ है। मिथ्यात्वादि हेतुओ के अभाव में कर्म-पुद्गलो का प्रवेश नही होता और उनके अभाव मे बध नही हो सकता। इसलिए मिथ्यात्व आदि हेतु या आस्रव ही बधोत्पत्ति के कारण हैं।

कर्म आत्म-प्रदेशो के साथ सम्बन्धित होकर उसी समय फल दें, ऐसा कोई नियम नही है। बधने के समय से फल देने की अवस्था में आने तक कर्म सत्तारूप में अवस्थित रहते हैं। यह अवाधा काल है। इस अवस्था मे बध द्रव्य-बध कहलाता है। अवाधा-काल के बाद फल देने की अवस्था मे आकर कर्म सुख-दुख या हर्ष-शोक उत्पन्न करते

१—जैन धर्म और दर्शन पृ० २८६

है। कर्मों का फल देने के लिए उदय में आना भाव-बंध है। उदाहरणस्वरूप जन्म-ग्रहण करने पर भावी तीर्थंकर द्रव्य-तीर्थंकर होता है। बाद में जब वह तेरहवें गुण-स्थान को प्राप्त कर वास्तव में तीर्थंकर होता है, तभी वह भाव-तीर्थंकर कहलाता है। उसी तरह से बंधे हुए कर्मों का सत्तारूप में रहना द्रव्य-बंध है और उन्हीं कर्मों का उदय में आकर फल देने की शक्ति का प्रदर्शन करना भाव-बंध है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—शुभ या अशुभ। शुभ कर्म पुण्य कहलाते हैं और अशुभ कर्म पाप। जीव के प्रदेशों के साथ शुभ या अशुभ कर्मों के संश्लेष की अपेक्षा से बंध भी शुभ और अशुभ दो तरह का होता है। शुभ बंध को पुण्य-बंध और अशुभ बंध को पाप-बंध कहते हैं।

बंध हुए प्रत्येक कर्म में फल देने की शक्ति होती है परन्तु जिस तरह आम में रस देने की शक्ति होने तथा बीज में सत्तारूप से वृक्ष रहने पर भी बिना पके हुए आम से रस नहीं निकलता तथा अवसर आए बिना वृक्ष प्रगट नहीं होता, ठीक उसी प्रकार कर्मों में फल देने की शक्ति रहते पर भी वे विपाक अवस्था में आए बिना फल नहीं दे पाते। सत्तारूप पुण्य-बंध जब विपाक-काल को प्राप्त हो उदयावस्था में आता है तब जीव को नाना भाँति के सुखों की प्राप्ति होती है और इसी तरह जब सत्तारूप पाप-बंध का उदय होता है तो अनेक प्रकार के दुःखों की प्राप्ति होती है।

१—बंध के चार भेद (गा० ७-१०)

जीव आश्रवों द्वारा कर्म प्रायोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उन्हें कर्मरूप परिणमन करता है। कर्म आठ हैं—(१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु, (६) नाम (७) गोत्र और (८) अन्तराय। जो ज्ञान को न होने दे, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। जिस तरह आँखों पर पट्टी बाँध लेने से वस्तुएँ दिखाई नहीं देतीं उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म तत्त्वज्ञान नहीं होने देता। जो दर्शन को रोकता है उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। जिस तरह द्वारपाल राजा का दर्शन नहीं होने देता उसी तरह यह कर्म सामान्य बोध नहीं होने देता। मोहनीय का स्वभाव मदिरा के समान है। जिस तरह मदिरा जीव को बेभान कर देती है उसी तरह जिससे आत्मा मोह-विह्वल हो जाती है, वह मोहनीय कर्म है। जिससे सुख-दुःख का अनुभव हो वह वेदनीय कर्म है। वेदनीय कर्म का स्वभाव मधु लपेटी हुई तीक्ष्ण छुरी के समान है। जैसे ऐसी छुरी चाटने से मीठी

लगती है, परन्तु जीभ का छेदन करती है, उसी प्रकार वेदनीय कर्म सुख-दुख अनुभव कराता है। जिससे भववारण हो, उसे आयुकर्म कहते हैं। आयु का स्वभाव खोडे (बेडी) के समान है। जिस तरह खोड़े में रहते हुए प्राणी का उसमें से निकलना सभव नही, उसी तरह आयु कर्म की समाप्ति के विना जीवन का अन्त नही आता। जिससे विशिष्ट गति, जाति, आदि प्राप्त होते हैं, उसे नाम कर्म कहते हैं। इसका स्वभाव चित्रकार के समान है। चित्रकार नाना आकार वनाता है, उसी प्रकार यह कर्म नाना मनुष्य, तिर्यचादि के आकार वनाता है। जिससे उच्चता या नीचता प्राप्त होती है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं। गोत्र कर्म का स्वभाव कुभकार के समान है। जिस प्रकार कुभकार छोटे-बड़े नाना प्रकार के वर्तन वनाता है, उसी प्रकार यह कर्म उच्च-नीच गोत्र प्राप्त कराता है। जो दान, लाभ आदि मे अन्तराय डालता है, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। उसका स्वभाव राजभण्डारी के समान है। जिस तरह राजा की इच्छा होने पर भी राजभण्डारी दान नही देने देता, उसी तरह अन्तराय कर्म दानादि नही देने देता[1]।

इस प्रकार कर्मों के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। कर्मों का अपने-अपने स्वभाव सहित जीव से सम्वन्धितहोना प्रकृति बध है।

प्रत्येक प्रकृति का कर्म अमुक समय तक आत्म-प्रदेशो के साथ लगा रहता है। इस काल-मर्यादा को स्थिति-वध कहते हैं। आत्मा के द्वारा ग्रहण की हुई उपर्युक्त कर्मपुद्गलो की राशि कितने काल तक आत्म-प्रदेशो मे रहेगी, उसकी मर्यादा स्थिति वध है।

जीव के व्यापार द्वारा ग्रहण की हुई शुभाशुभ कर्मों की प्रकृतियो का तीव्र मद इत्यादि प्रकार का अनुभव अनुभाग बध कहलाता है। कर्म के शुभाशुभ फल की तीव्रता या मदता को रस कहते हैं। उदय में आने पर कर्म का अनुभव तीव्र या मद कैसा होगा, यह प्रकृति आदि की तरह ही कर्म-वन्ध के समय ही नियत हो जाता है। इसी का नाम अनुभाग बन्ध है।

१—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह · अव० वृत्त्यादिसमेतं नवतत्त्वप्रकरणम् ७४ :

पडपडिहारासि मज्जहडचित्तकुलाल भडगारिण।
जह एएसि भावा कम्माणि वि जाण तह भाव॥

है। कर्मों का फल देने के लिए उदय में आना भाव-बंध है। उदाहरणस्वरूप जन्म-ग्रहण करने पर भावी तीर्थंकर द्रव्य-तीर्थंकर होता है। बाद में जब वह तेरहवें गुण-स्थान को प्राप्त कर वास्तव में तीर्थंकर होता है, तभी वह भाव-तीर्थंकर कहलाता है। उसी तरह से बंधे हुए कर्मों का सत्तारूप में रहना द्रव्य-बंध है और उन्हीं कर्मों का उदय में आकर फल देने की शक्ति का प्रदर्शन करना भाव-बंध है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—शुभ या अशुभ। शुभ कर्म पुण्य कहलाते हैं और अशुभ कर्म पाप। जीव के प्रदेशों के साथ शुभ या अशुभ कर्मों के संश्लेष की अपेक्षा से बंध भी शुभ और अशुभ दो तरह का होता है। शुभ बंध को पुण्य-बंध और अशुभ बंध को पाप-बंध कहते हैं।

बंधे हुए प्रत्येक कर्म में फल देने की शक्ति होती है परन्तु जिस तरह आम में रस देने की शक्ति होने तथा बीज में सत्तारूप से वृक्ष रहने पर भी बिना पके हुए आम से रस नहीं निकलता तथा अवसर आए बिना वृक्ष प्रकट नहीं होता, ठीक उसी प्रकार कर्मों में फल देने की शक्ति रहने पर भी वे विपाक अवस्था में आए बिना फल नहीं दे पाते। सत्तारूप पुण्य-बंध जब विपाक-काल को प्राप्त हो उदयावस्था में आता है तब जीव को नाना भाँति के सुखों की प्राप्ति होती है और इसी तरह जब सत्तारूप पाप-बंध का उदय होता है तो अनेक प्रकार के दुःखों की प्राप्ति होती है।

१—बंध के चार भेद (गा० ७-१८) :

जीव आस्रवों द्वारा कर्म प्रायोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उन्हें कर्मरूप परिणमन करता है। कर्म आठ हैं—(१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु, (६)नाम (७) गोत्र और (८) अन्तराय। जो ज्ञान को न होने दे उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। जिस तरह आँखों पर पट्टी बांध लेने से वस्तुएँ दिखाई नहीं देती उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान नहीं होने देता। जो दर्शन को रोकता है उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। जिस तरह द्वारपाल राजा का दर्शन नहीं होने देता उसी तरह यह कर्म सामान्य बोध नहीं होने देता। मोहनीय का स्वभाव मदिरा के समान है। जिस तरह मदिरा जीव को बेभान कर देती है उसी तरह उससे आत्मा-मोह-विह्वल हो जाती है वह मोहनीय कर्म है। जिससे सुख-दुःख का अनुभव हो वह वेदनीय कर्म है। वेदनीय कर्म का स्वभाव मधुर लपेटी हुई तीक्ष्ण छुरी के समान है। जसे ऐसी छुरी चाटने से मीठी

जोड़ देता है। जिस तरह दीपक बाट द्वारा तेल को ग्रहण कर अपनी उष्णता से उसे ज्वाला रूपसे परिणामता है, उसी प्रकार जीव काषायिक विकार से योग्य पुद्गलो को ग्रहण कर उसे कर्मभावरूप से परिणामता है। .. कर्मपुद्गल जीव द्वारा गृहीत होकर कर्मरूप परिणाम पाते हैं, इसका अर्थ यह है कि उसी समय उसमे चार अशो का निर्माण होता है, ये ही अश बध के प्रकार हैं। जिस तरह बकरी, गाय, भैंस आदि द्वारा खाया गया घास आदि दूध रूप में परिणमित होता है, उस समय उसमे मधुरता का स्वभाव बधता है, उस स्वभाव के अमुक वक्त तक उसी रूप में टिके रहने की काल-मर्यादा निर्मित होती है, इस मधुरता में तीव्रता, मंदता आदि विशेपताएँ आती हैं, और इस दूध का पौद्गलिक परिणाम भी साथ ही मे निर्मित होता है। उसी तरह जीव द्वारा गृहीत होने पर उसके प्रदेशो में सश्लेष पाए हुए कर्म पुद्गलो मे भी चार अशों का निर्माण होता है प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश।

१-कर्म पुद्गलो में जो ज्ञान को आवृत करने का, दर्शन को अटकाने का, सुख-दु.ख अनुभव कराने वगैरह का जो भाव बधता है, वह स्वभाव-निर्माण ही प्रकृतिबंध है।

२-स्वभाव बधने के साथ ही उस स्वभाव से अमुक वक्त तक च्युत न होने की मर्यादा पुद्गलो में निर्मित होती है, इस काल-मर्यादा का निर्माण ही स्थितिबध है।

३-स्वभाव के निर्माण होने के साथ ही उसमे तीव्रता, मदता आदि रूप फलानुभव करानेवाली विशेपताएँ बधती हैं। ऐसी विशेषताएँ ही अनुभावबध है।

४-गृहीत होकर भिन्न-भिन्न स्वभाव मे परिणाम पाती हुई पुद्गल-राशि स्वभाव के अनुसार अमुक-अमुक परिणाम में बट जाती है, यह परिमाण-विभाग ही प्रदेशबध है[1]।"

१०—कर्मों की प्रकृतियाँ और उनकी स्थिति (गा० १२-१८) :

कर्म की प्रकृतियो का वर्णन स्वामीजी पुण्य (ढा० १) और पाप की ढाल में कर चुके हैं अत उनका पुन विवेचन यहाँ नही किया है।

पाठको की सुविधा के लिए हम कर्मों की मूल-प्रकृतियो और उनकी उत्तर-प्रकृतियो की एकत्र तालिका नीचे दे रहे हैं[2]

१—तत्त्वार्थसूत्र (गुज० तृ० आ०) पृ० ३२६-३२७

२—उत्त० ३३, प्रज्ञापना पद, भगवती ८.१०, ठाणाङ्ग १०५, ४६४, ४८८, ५९६, ६६८, समवायाङ्ग सम० ४२

आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हैं। इन असंख्य प्रदेशों में से एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-वर्गणाओं का संग्रह होना प्रदेश-बंध कहलाता है। जीव के प्रदेश और पुद्गल के प्रदेशों का एक क्षेत्रावगाही होकर स्थित होना प्रदेश बंध है।

> प्रकृतिः समुदायः स्यात्, स्थितिः कालावधारणम् ।
> अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशो दलसंचयः ॥

बंध के स्वरूप को सम्यक् रूप से समझाने के लिए मोदक का दृष्टान्त दिया जाता है—

(१) द्रव्य विशेष से बना हुआ मोदक कोई कफ को दूर करता है, कोई वायु को और कोई पित्त को। इस तरह मोदकों की भिन्न भिन्न प्रकृति होती है। इसी प्रकार किसी कर्म का स्वभाव ज्ञान रोकने का किसी कर्म का स्वभाव दर्शन रोकने का, किसी का चारित्र रोकने का होता है। इस तरह कर्म के स्वभाव की अपेक्षा से प्रकृति-बंध होता है।

(२) कोई मोदक एक पक्ष तक कोई एक महीने तक कोई दो कोई तीन कोई चार महीने तक एक रूप में रहता है। उसके बाद वह नष्ट हो जाता है। इस तरह प्रत्येक मोदक की एक रूप में रहने की अपनी-अपनी काल मर्यादा—स्थिति होती है। इसी तरह कोई कर्म उत्कृष्ट रूप से बीस कोटाकोटि सागर प्रमाण स्थितिवाला होता है, कोई तीस कोटाकोटि सागर प्रमाण स्थितिवाला और कोई सत्तर कोटाकोटि सागर प्रमाण स्थितिवाला। बंधे हुये कर्म जितने काल तक स्थित रहते हैं, उसे स्थिति बंध कहते हैं।

(३) कोई मोदक मधुर होता है, कोई कटुक और कोई तीव्र होता है। इसी तरह कोई एक गुण, कोई दो गुण, कोई तीन गुण, कोई चार गुण मधुर आदि होता है। मोदक के रस भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी तरह कर्मों में किसी का मधुर रस किसीका कटुक रस किसी का तीव्र रस और किसी का मंद रस होता है। इसको रसबंध रस कहते हैं।

(४) कोई मोदक अल्पदल—परिमाण निष्पन्न कोई बहुदल निष्पन्न कोई बहुतर दल निष्पन्न होता है। मोदकों की रचना—पुद्गल-परिमाण भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी तरह बन्धे हुए कर्मों का जो पुद्गल-परिमाण होता है, उसको प्रदेशबंध कहते हैं[1]।

इस सम्बन्ध में पं सुखलालजी ने तत्त्वार्थ सूत्र के गुजराती विवेचन में बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। उसका अनुवाद यहाँ दिया जाता है—

"पुद्गल की वर्गणाएं—प्रकार अनेक हैं। उनमें से जो वर्गणा कर्मरूप परिणाम पाने की योग्यता रखती है उसी को जीव ग्रहण कर अपने प्रदेशों के साथ विशिष्ट प्रकार से

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : अव॰ सुमंगलादिसमेतं नवतत्त्वप्रकरण गा ७१ की वृत्ति

जोड़ देता है। "जिस तरह दीपक वाट द्वारा तेल को ग्रहण कर अपनी उष्णता से उसे ज्वाला रूपसे परिणामता है, उसी प्रकार जीव कापायिक विकार से योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उसे कर्मभावरूप से परिणामता है। कर्मपुद्गल जीव द्वारा गृहीत होकर कर्मरूप परिणाम पाते हैं, इसका अर्थ यह है कि उसी समय उसमें चार अंशों का निर्माण होता है, ये ही अंश बंध के प्रकार हैं। जिस तरह बकरी, गाय, भैंस आदि द्वारा खाया गया घास आदि दूध रूप में परिणमित होता है, उस समय उसमें मधुरता का स्वभाव बंधता है, उस स्वभाव के अमुक वक्त तक उसी रूप में टिके रहने की काल-मर्यादा निर्मित होती है, इस मधुरता में तीव्रता, मंदता आदि विशेषताएँ आती हैं, और इस दूध का पौद्गलिक परिणाम भी साथ ही में निर्मित होता है। उसी तरह जीव द्वारा गृहीत होने पर उसके प्रदेशों में संश्लेष पाए हुए कर्म पुद्गलों में भी चार अंशों का निर्माण होता है प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश।

१-कर्म पुद्गलों में जो ज्ञान को आवृत करने का, दर्शन को अटकाने का, सुख-दुःख अनुभव कराने वगैरह का जो भाव बंधता है, वह स्वभाव-निर्माण ही प्रकृतिबंध है।

२-स्वभाव बंधने के साथ ही उस स्वभाव से अमुक वक्त तक च्युत न होने की मर्यादा पुद्गलों में निर्मित होती है, इस काल-मर्यादा का निर्माण ही स्थितिबंध है।

३-स्वभाव के निर्माण होने के साथ ही उसमें तीव्रता, मंदता आदि रूप फलानुभव करानेवाली विशेषताएँ बंधती हैं। ऐसी विशेषताएँ ही अनुभावबंध है।

४-गृहीत होकर भिन्न-भिन्न स्वभाव में परिणाम पाती हुई पुद्गल-राशि स्वभाव के अनुसार अमुक-अमुक परिणाम में बँट जाती है, यह परिमाण-विभाग ही प्रदेशबंध है[१]।"

१०—कर्मों की प्रकृतियाँ और उनकी स्थिति (गा० १२-१८):

कर्म की प्रकृतियों का वर्णन स्वामीजी पुण्य (ढा० १) और पाप की ढाल में कर चुके हैं अतः उनका पुनः विवेचन यहाँ नहीं किया है।

पाठकों की सुविधा के लिए हम कर्मों की मूल-प्रकृतियों और उनकी उत्तर-प्रकृतियों की एकत्र तालिका नीचे दे रहे हैं[२]:

१—तत्त्वार्थसूत्र (गुज० तृ० आ०) पृ० ३२६-३२७

२—उत्त० ३३, प्रज्ञापना पद, भगवती ८.१०, ठाणाङ्ग १०५, ४६४, ४८८, ५९६, ६६८, समवायाङ्ग सम० ४२

आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हैं। इन असंख्य प्रदेशों में से एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-वर्गणाओं का संग्रह होना प्रदेश-बंध कहलाता है। जीव के प्रदेश और पुद्गल के प्रदेशों का एक क्षत्रावगाही होकर स्थित होना प्रदेश बंध है।

> प्रकृतिः समुदायः स्यात्, स्थितिः कालावधारणम्।
> अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशो दलसंचयः॥

बंध के स्वरूप को सम्यक् रूप से समझाने के लिए मोदक का दृष्टान्त दिया जाता है—

(१) द्रव्य विशेष से बना हुआ मोदक कोई कफ को दूर करता है, कोई वायु को और कोई पित्त को। इस तरह मोदकों की भिन्न भिन्न प्रकृति होती है। इसी प्रकार किसी कर्म का स्वभाव ज्ञान रोकने का किसी कर्म का स्वभाव दर्शन रोकने का, किसी का चारित्र रोकने का होता है। इस तरह कर्म के स्वभाव की अपेक्षा से प्रकृति-बंध होता है।

(२) कोई मोदक एक पक्ष तक कोई एक महीने तक कोई दो कोई तीन कोई चार महीने तक एक रूप में रहता है। उसके बाद वह नष्ट हो जाता है। इस तरह प्रत्येक मोदक की एक रूप में रहने की अपनी-अपनी काल-मर्यादा—स्थिति होती है। इसी तरह कोई कर्म उत्कृष्ट रूप से बीस कोटाकोटि सागर प्रमाण स्थितिवाला होता है, कोई तीस कोटाकोटि सागर प्रमाण स्थितिवाला और कोई सत्तर कोटाकोटि सागर प्रमाण स्थितिवाला। बंधे हुये कर्म जितने काल तक स्थित रहते हैं, उसे स्थिति बंध कहते हैं।

(३) कोई मोदक मधुर होता है, कोई कटुक और कोई तीव्र होता है। इसी तरह कोई एक अणु, कोई दो अणु, कोई तीन अणु, कोई चार अणु मधुर आदि होता है। मोदक के रस भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी तरह कर्मों में किसी का मधुर रस किसीका कटुक रस किसी का तीव्र रस और किसी का मंद रस होता है। इसको रसबंध रस कहते हैं।

(४) कोई मोदक अल्पदल—परिमाण निष्पन्न कोई बहुदल निष्पन्न कोई बहुतर दल निष्पन्न होता है। मोदकों की रचना—पुद्गल-परिमाण भिन्न भिन्न होते हैं। इसी तरह बन्धे हुए कर्मों का जो पुद्गल-परिमाण होता है, उसको प्रदेशबंध कहते हैं[१]।

इस सम्बन्ध में पं० सुखलालजी ने तत्त्वार्थ सूत्र के गुजराती विवेचन में बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। उसका अनुवाद यहाँ दिया जाता है—

पुद्गल की वर्गणाएं—प्रकार अनेक हैं। उनमें से जो वर्गणा कर्मरूप परिणाम पाने की योग्यता रखती है उसी को जीव ग्रहण कर अपने प्रदेशों के साथ विशिष्ट प्रकार से

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : अवo सुत्पादिम्मतं नवतत्त्वप्रकरण गा० ७१ की वृत्ति

८—अन्तराय　　　　(१) दान-अन्तराय, (२) लाभ-अन्तराय, (३) भोग-अन्तराय, (४) उपभोग-अन्तराय, (५) वीर्य-अन्तराय[1]।

स्वामीजी ने भिन्न-भिन्न कर्मों की स्थितियां इस प्रकार वतलायी हैं

कर्म	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१—ज्ञानावरणीय	अन्तर मुहूर्त	३० कोटाकोटि सागर
२—दर्शनावरणीय	"	"
३—वेदनीय	"	"
४—मोहनीय	"	"
दर्शन मोहनीय	"	७०　"
चारित्र "	"	४०　"
५—आयुष्य	"	३३　"
६—नाम	८ मुहूर्त	२०　"
७—गोत्र	"	२०　"
८—अन्तराय	अन्तर "	३०　"

इस स्थिति-वर्णन का आधार उत्तराध्ययन सूत्र है[2]। प्रज्ञापना सूत्र मे आठ कर्म ही नही उनकी उत्तर प्रकृत्तियो का भी स्थिति-वर्णन मिलता है[3]।

स्वामीजी ने वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की वतलाई है। यह प्रज्ञापना और उत्तराध्ययन सूत्र के आधार पर है। भगवती मे इस कर्म की स्थिति दो समय

१—मूल प्रकृतियाँ, उत्तर प्रकृतियाँ और उनके उपभेदों की व्याख्या अर्थ के लिए देखिए पृ० ३०३-४४, १५५-५६, १५९-६८।

२—उत्त० ३३.१९-२३

३—प्रज्ञापना २३ २ २१-२९। कोष्ठक रूप में इसका सकलन 'जैन धर्म और दर्शन' नामक पुस्तक में प्राप्त है। देखिए पृ० २८३-५८७।

मूल कर्म प्रकृतियाँ	उत्तर प्रकृतियाँ
१—ज्ञानावरणीय	(१) आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय (२) श्रुतज्ञानावरणीय (३) अवधिज्ञानावरणीय (४) मनःपर्यवज्ञानावरणीय (५) केवल ज्ञानावरणीय ।
२—दर्शनावरणीय	(१) चक्षुदर्शनावरणीय (२) अचक्षुदर्शनावरणीय (३) अवधिदर्शनावरणीय, (४) केवलदर्शनावरणीय (५) निद्रा (६) निद्रानिद्रा (७) प्रचला (८) प्रचलाप्रचला (९) स्त्यानर्द्धि ।
३—वेदनीय	(१) सातावेदनीय (२) असातावेदनीय ।
४—मोहनीय	(१) दर्शन मोहनीय (२) चारित्र मोहनीय ।
५—आयुष्य	(१) नरकायु (२) तिर्यञ्चायु, (३) मनुष्यायु, (४) देवायु ।
६—नाम	(१) गति नाम (२) जाति नाम (३) शरीर नाम (४) शरीर-अङ्गोपाङ्ग नाम (५) शरीर-बंधन नाम (६) शरीर-संघात नाम (७) संहनन नाम (८) संस्थान नाम (९) वर्ण नाम (१) गन्ध नाम (११) रस नाम (१२) स्पर्श नाम (१३) अगुरुलघु नाम (१४) उपघात नाम (१५) पराघात नाम (१६) आनुपूर्वी नाम (१७) उच्छ्वास नाम (१८) आतप नाम (१९) उद्योत नाम (२) विहायोगति नाम (२१) त्रस नाम (२२) स्थावर नाम (२३) सूक्ष्म नाम (२४) बादर नाम (२५) पर्याप्त नाम (२६) अपर्याप्त नाम (२७) साधारण-शरीर नाम (२८) प्रत्येक-शरीर नाम (२९) स्थिर नाम (३) अस्थिर नाम (३१) शुभ नाम (३२) अशुभ नाम (३३) सुभग नाम (३४) दुर्भग नाम (३५) सुस्वर नाम, (३६) दुःस्वर नाम (३७) आदेय नाम (३८) अनादेय नाम (३९) यशःकीर्ति नाम, (४) अयशःकीर्ति नाम (४१) निर्माण नाम (४२) तीर्थंकर नाम ।
७—गोत्र	(१) उच्चगोत्र (२) नीच गोत्र ।

८—अन्तराय (१) दान-अन्तराय, (२) लाभ-अन्तराय, (३) भोग-अन्तराय, (४) उपभोग-अन्तराय, (५) वीर्य-अन्तराय[१]।

स्वामीजी ने भिन्न-भिन्न कर्मों की स्थितियाँ इस प्रकार बतलायी हैं

कर्म	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१—ज्ञानावरणीय	अन्तर मुहूर्त	३० कोटाकोटि सागर
२—दर्शनावरणीय	"	"
३—वेदनीय	"	"
४—मोहनीय	"	"
दर्शन मोहनीय	"	७० "
चारित्र ,,	"	४० "
५—आयुष्य	"	३३ "
६—नाम	८ मुहूर्त	२० "
७—गोत्र	"	२० "
८—अन्तराय	अन्तर "	३० "

इस स्थिति-वर्णन का आधार उत्तराध्ययन सूत्र है[२]। प्रज्ञापना सूत्र में आठ कर्म ही नहीं उनकी उत्तर प्रकृत्तियों का भी स्थिति-वर्णन मिलता है[३]।

स्वामीजी ने वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बतलाई है। यह प्रज्ञापना और उत्तराध्ययन सूत्र के आधार पर है। भगवती मे इस कर्म की स्थिति दो समय

१—मूल प्रकृतियाँ, उत्तर प्रकृतियाँ और उनके उपभेदों की व्याख्या अर्थ के लिए देखिए पृ० ३०३-४४, ३५५-५६, ३५६-६८।

२—उत्त० ३३ १६-२३

३—प्रज्ञापना २३ २.२१-२६। कोष्ठक रूप में इसका सकलन 'जैन धर्म और दर्शन' नामक पुस्तक में प्राप्त है। देखिए पृ० २८३-२८७।

की कही गई है[1]। कई ग्रन्थों में इस कर्म की जघन्य स्थिति बारह अन्तर्मुहूर्त की कही गई है[2]।

भगवती सूत्र में आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि त्रिभाग उपरान्त ३३ सागरोपम तक की कही गयी है[3]।

बन्ध-काल से लेकर फल देकर दूर हो जाने तक के समय को कर्मों की स्थिति कहते हैं। कम-से-कम स्थिति जघन्य और अधिक-से-अधिक स्थिति उत्कृष्ट कहलाती है। बन्धने के बाद कर्म का विपाक होता है और फिर वह उदय में आकर फल देता है। अविपाककाल में कर्म फल नहीं देता केवल सत्तारूप में आत्म प्रदेशों में पड़ा रहता है। उस काल के बाद कर्म उदय में आता है और फलानुभव कराने लगता है। फलानुभव के काल को कर्म निषेक काल कहते हैं। यहाँ कर्मों की जो स्थितियाँ बतलायी गई हैं वह दोनों काल को मिला कर कही गई है। अबाधाकाल को जानने का तरीका यह है कि जिस कर्म की स्थिति जितने सागरोपम की होती है, उतने सौ वर्ष अबाधाकाल होता है। उदाहरणस्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति ३ कोड़ाकोड़ि सागरोपम है। उसका अबाधाकाल ३ वर्ष का कहा है। इतने वर्षों तक वह सत्तारूप में रहता है, फल नहीं देता। यह अविपाककाल है। भगवती सूत्र में अबाधा और निषेक काल का वर्णन इस प्रकार मिलता है

कर्म	अबाधा काल	निषेक काल
१—ज्ञानावरणीय	३ वर्ष	३ कोड़ाकोड़ि सागर कम ३० ० वर्ष
२—दर्शनावरणीय	"	"
३—वेदनीय	"	"

१—भगवती ६.३ :
वेदणिज्जं जह० दो समया

२—(क) तत्त्वा० ८.१९ :
अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य—वेदनीयप्रकृतेरपरा द्वादशमुहूर्ता स्थितिरिति (भाष्य)
(ख) नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण :
जहन्ना ठिइ वेयणीअस्स बारस मुहुत्ता

३—भगवती ६.३ :
आउगं उक्को तेत्तीसं सागरोवमाणि पुव्वकोडितिभागमब्भहियाणि

कर्म	अबाधा काल	निषेक काल
४—मोहनीय	७००० वर्ष	७० कोटाकोटि सागर कम ७००० वर्ष
५—आयुष्य	पूर्वकोटि त्रिभाग	पूर्वकोटि त्रिभाग उपरान्त तेतीस सागरोपम कम पूर्व कोटि त्रिभाग
६—नाम	२००० वर्ष	२० सागरोपम कम २००० वर्ष
७—गोत्र	"	"
८—अंतराय	३००० वर्ष	३० कोटाकोटि सागर कम ३००० वर्ष

आठो कर्मों की उत्तर प्रकृतियो के अबाधा और निषेक काल का वर्णन प्रज्ञापना सूत्र में उल्लिखित है[1]।

११—अनुभाव बंध और कर्म-फल (गाथा १६-२१) :

उपर्युक्त गाथाओ मे अनुभाग-बन्ध और कर्म-फल पर विशेष प्रकाश डाला गया है। जीव के साथ कर्मों का तादात्म्यसम्बन्ध ही बन्ध है। मिथ्यात्व आदि हेतुओ से कर्म-योग्य पुद्गल-वर्गणाओ के साथ आत्मा का—दूध और जल की तरह अथवा लोहपिण्ड और अग्नि की तरह—अन्योन्यानुगमरूप अभेदात्मक सम्बन्ध होता है, वही बन्ध है[2]

आठ कर्मों के पुद्गल-प्रदेश अनन्त होते हैं। इन प्रदेशो की सख्या ससार के अभव्य जीवो से अनन्त गुणी और अनन्त सिद्धो के अनन्तवें भाग जितनी होती है[3]।

बन्ध के समय अध्यवसाय की तीव्रता या मदता के अनुसार कर्मों में तीव्र या मद फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है। विविध प्रकार की फल देने की शक्ति का नाम अनुभाव है।

ये बांधे हुए कर्म अवश्य उदय में आते हैं। वे उदय में आए बिना नही रह सकते और न फल भोगे बिना उनसे छुटकारा हो सकता है। उदय में आकर फल दे चुकने पर कर्म अकर्म हो अपने आप आत्म-प्रदेशो से दूर हो जाते हैं। जब तक फल देने का काल नही आता है तब तक बंधे हुए कर्मों से सुख-दु ख कुछ भी अनुभव नही होता।

१—प्रज्ञापना २३ २ २१-२६

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह वृत्त्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरणम् गाथा ७१ की प्राकृत अवचूर्णि

मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभि कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मन क्षीरनीरवद्वन्हयःपिण्डवद्वान्योन्यानुगमाभेदात्मक सम्बन्धो बन्ध ।

३—उत्त० ३३ १७ (पृ० १५७ टि० ४ में उद्धृत)

कर्मों के उदय में आने पर ही सुख-दुःख होता है। बांधे हुए कर्म शुभ होते हैं तो उन कर्मों का विपाक—फल शुभ—सुखमय होता है। बांधे हुए कर्म अशुभ होते हैं तो उदय काल में उन कर्मों का विपाक अशुभ—दुःखरूप होता है।

कर्म तीव्र भाव से बांधे हुए होते हैं तो उनका फल तीव्र होता है और मन्द भाव से बांधे हुए होते हैं तो फल मन्द होता है।

उदय में आने पर कर्म अपनी मूल प्रकृति के अनुसार फल देता है। ज्ञानावरणीय कर्म अपने अनुभाव—फल देने की शक्ति के अनुसार ज्ञान का आच्छादन करता है और दर्शनावरणीय दर्शन का। इस तरह दूसरे कर्म भी अपनी-अपनी मूल प्रकृति के अनुसार ही तीव्र या मन्द फल देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से दर्शन का आच्छादन नहीं हो सकता और न दर्शनावरणीय कर्म से ज्ञान का। इसी तरह अन्य कर्मों के विषय में समझना चाहिए। यह नियम मूल प्रकृतियों में ही परस्पर लागू होता है। मूल प्रकृतियाँ फलानुभव में परस्पर अपरिवर्तनशील हैं। पर कुछ अपवादों को छोड़ कर उत्तर प्रकृतियों में यह नियम लागू नहीं पड़ता। एक कर्म की उत्तर प्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तर प्रकृतिरूप परिणति कर सकती है। उदाहरणस्वरूप मतिज्ञानावरणीय कर्म श्रुतज्ञानावरणीय कर्म में बदल सकता है। और ऐसा होने पर उसका फल भी श्रुतज्ञानावरणीय रूप ही होता है।

उत्तर प्रकृतियों में दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का संक्रम नहीं होता। इसी प्रकार सम्यक्त्व वेदनीय और मिथ्यात्व वेदनीय उत्तर प्रकृतियों का भी संक्रम नहीं होता। आयुष्य की उत्तरप्रकृतियों का भी परस्पर संक्रम नहीं होता। उदाहरणस्वरूप नारक आयुष्य तिर्यञ्च आयुष्य रूप में संक्रम नहीं करता। इसी तरह अन्य आयुष्य भी परस्पर असंक्रमशील हैं[1]।

१—(क) तत्त्वा० ८.२२ भाष्य :

उत्तरप्रकृतिषु सर्वासु मूलप्रकृत्यभिन्नासु न तु मूलप्रकृतिषु संक्रमो विद्यते उत्तरप्रकृतिषु च दर्शनचारित्रमोहनीययोः सम्यङ्मिथ्यात्ववेदनीयस्यायुष्कस्य च ।

(ख) तत्त्वा० ८.२१ सर्वार्थसिद्धि

अनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च। सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः। उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्जानाम्। न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते। नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन

प्रकृति-सक्रम की तरह वन्धकालीन रस मे भी वाद मे अन्तर हो सकता है। तीव्र रस मन्द और मन्द रस तीव्र हो सकता है।

एक वार गौतम ने पूछा[1]—"भगवन्! किए हुए पाप कर्मों का फल भोगे विना उनसे मुक्ति नही होती, क्या यह सच है?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! यह सच है। नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—सर्व जीव किए हुए पाप कर्मों का फल भोगे विना उनसे मुक्त नही होते। गौतम! मैंने दो प्रकार के कर्म वतलाये हैं—प्रदेश-कर्म[2] और अनुभाग-कर्म[3]। जो प्रदेश-कर्म हैं, वे नियमत भोगे जाते हैं। जो अनुभाग-कर्म हैं, वे कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नही भोगे जाते।"

एक वार गौतम ने पूछा—"भगवन्! अन्ययूथिक कहते हैं—सव जीव एवभूत-वेदना (जैसा कर्म वांधा है वैसे ही) भोगते हैं, यह कैसे है?" भगवान वोले—"गौतम! अन्ययूथिक जो ऐसा कहते हैं, वह मिथ्या कहते हैं। मैं तो ऐसा कहता हूँ—कई जीव एवभूत वेदना भोगते हैं और कई अन् एवभूत वेदना भी भोगते हैं। जो जीव किए हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं, वे एवभूत वेदना भोगते हैं और जो जीव किए हुए कर्मों से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं, वे अन्-एवभूत वेदना भोगते हैं[4]।"

आगम में कहा है—"एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक शुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है[5]।"

१—भगवती १ ४

हता गोयमा! नेरइयस्स वा तिरिक्खमणुदेवसस्स वा जे कडे पावे कम्मे नत्थि तस्स अवेइत्ता मोक्खो एव खलु मए गोयमा! दुविहे कम्मे पन्नत्ते त जहा—पएसकम्मे य अणुभागकम्मेय य। तत्थ ण ज त पएसकम्म त नियमा वेएइ, तत्थ ण ज त अणुभागकम्म त अत्थेगइय वेएइ अत्थेगइय णो वेएइ

२—भगवती १ ४ वृत्ति

प्रदेशा कर्मपुद्गला जीवप्रदेशेष्वोतप्रोता तद्रूप कर्म प्रदेशकर्म।

३—भगवती १ ४ वृत्ति

अनुभाग तेषामेव कर्मप्रदेशानां सवेद्यमानताविपयो रस तद्रूप कर्मोऽनुभाग-कर्म

४—भगवती ५ ५

५—ठाणाङ्ग ४ ४ ३१२

प्रश्न हो सकता है इन सबका कारण क्या है ?

आगम के अनुसार बंधे हुए कर्मों में निम्न स्थितियाँ घट सकती हैं (१) अपवर्तना (२) उद्वर्तना (३) उदीरणा और (४) संक्रमण। इनका अर्थ संक्षेप में इस प्रकार है :

(१) अपवर्तना स्थिति-घात और रस घात। कर्म-स्थिति का घटना और रस का मन्द होना।

(२) उद्वर्तना : स्थिति वृद्धि और रस-वृद्धि। कर्म की स्थिति का दीर्घ होना और रस का तीव्र होना।

(३) उदीरणा लम्बे समय के बाद तीव्र भाव से उदय में आनेवाले कर्मों का तत्काल और मन्द भाव से उदय में आना।

(४) संक्रमण कर्मों की उत्तर प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण। जिस अध्यवसाय से जीव कर्म प्रकृति का बन्ध करता है, उसकी तीव्रता के कारण वह पूर्व बद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बध्यमान प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रान्त कर देता है, परिणत या परिवर्तित कर देता है—यह संक्रमण है। संक्रमण के चार प्रकार हैं—(१) प्रकृति संक्रम (२) स्थिति-संक्रम (३) अनुभाग-संक्रम और (४) प्रदेश-संक्रम (ठाणाङ्ग ४ २ २९६)। प्रकृति-संक्रम से पहले बन्धी हुई प्रकृति वर्तमान में बंधनेवाली प्रकृति के रूप में बदल जाती है। इसी प्रकार स्थिति अनुभाव और प्रदेश का परिवर्तन होता है[1]।

कर्मों की उद्वर्तना आदि स्थितियाँ उत्थान कर्म बल वीर्य तथा पुरुषकार और पराक्रम से होती हैं।

१२—प्रदेशबंध (गा० २३ २६) :

लोक में अनन्त पुद्गल वर्गणाएं हैं। उनमें औदारिक वैक्रिय आहारक तैजस भाषा श्वासोच्छ्वास मन और कार्मण ये आठ वर्गणाएं मुख्य हैं। इनमें से जीव कार्मण वर्गणा में से अनन्तानन्त प्रदेशों के बने हुए कर्मदलों को ग्रहण करता है। ये कर्मदल बहुत ही सूक्ष्म होते हैं। स्थूल-बादर नहीं होते। इनमें स्निग्ध रूक्ष शीत और गर्म ये चार स्पर्श होते हैं। लघु गुरु मृदु और कर्कश—ये स्पर्श नहीं होते। इस तरह कर्मदल चतुःस्पर्शी होता है। तथा उसमें पाँच वर्ण दो गंध और पाँच रस रहते हैं। इस तरह प्रत्येक कर्म स्कंध में १६ गुण रहते हैं।

१—जैनधर्म और दर्शन पृ १ ७

जैसे कोई तालाब पानी से भरा हो, उसी तरह जीव के प्रदेश कर्म स्कधो से व्याप्त—परिपूर्ण रहते हैं। जीव के असख्यात प्रदेशो मे से प्रत्येक प्रदेश इसी तरह कर्म-दलो से भरा रहता है। जीव अपने प्रत्येक प्रदेश द्वारा कर्म स्कधो को ग्रहण करता है। जीव के प्रत्येक प्रदेश द्वारा अनन्तानन्त कर्म स्कधो का ग्रहण होता है। आगम मे कहा है

"हे भगवन्? क्या जीव और पुद्गल अन्योन्य—एक दूसरे मे बद्ध, एक दूसर में स्पृष्ट, एक दूसरे मे अवगाढ, एक दूसरे मे स्नेह-प्रतिबद्ध हैं और एक दूसरे में घट-समुदाय होकर रहते हैं।"

"हाँ, हे गौतम!"

"हे भगवन्! ऐसा किस हेतु से कहते हैं?"

"हे गोतम! जैसे एक ह्रद हो जल से पूर्ण, जल से किनारे तक भरा हुआ, जल से छाया हुआ, जल से ऊपर उठा हुआ और भरे हुए घडे की तरह स्थित। अब यदि कोई पुरुष उस ह्रद में एक महा सौ आस्रव-द्वार वाली, सौ छिद्रवाली नाव छोडे तो हे गौतम! वह नाव उन आस्रव-द्वारो—छिद्रो से भराती-भराती जल से पूर्ण, किनारे तक भरी हुई, बढते हुए जल से ढकी हुई होकर भरे हुए घडे की तरह होगी या नही?"

"होगी हे भगवन्!"

"उसी हेतु से गौतम! मैं कहता हूँ कि जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध, स्पृष्ट, अवगाढ और स्नेह-प्रतिबद्ध हैं और परस्पर घट-समुदाय होकर रहते हैं[1]।"

आत्म-प्रदेश और कर्म-पुद्गलो का यह सम्बन्ध ही प्रदेश बध है।

प्रदेश बध के सम्बन्ध मे श्री देवानन्द सूरि ने निम्न प्रकाश डाला है। "प्रदेश बध को कर्म-वर्गणा के दल-सचय रूप समझना चाहिए। इस ससार-पारावार मे भ्रमण करता हुआ जीव अपने असख्यात प्रदेशो द्वारा, अभव्यो से अनन्तगुण प्रदेश-दल से बने और सर्व जीवो से अनन्तगुण रसच्छेद कर युक्त, स्व प्रदेश में ही रहे हुए, अभव्यो से अनन्त गुण परन्तु सिद्धो की सख्या के अनन्तवें भाग जितने, कर्म-वर्गणा के स्कधो को प्रतिसमय ग्रहण करता है। ग्रहण कर उनमे से थोडे दलिक आयु कर्म मे, उससे विशेषाधिक और परस्पर तुल्य दलिक नाम और गोत्र कर्म में, उससे विशेषाधिक और परस्पर तुल्य दलिक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म में, उससे विशेषाधिक मोहनीय कर्म में और उससे विशेषाधिक वेदनीय कर्म में बांट कर क्षीर

१—भगवती १ ६

नीर की तरह अथवा लोह अग्नि की तरह उस कर्म-वर्गणा के स्कंधों के साथ मिल जाता है। कर्म दलिकों की इन आठ भागों की कल्पना अष्टविध कर्मबंधक की अपेक्षा समझनी चाहिए। सप्त और एकविध बंधक के विषय में उतने-उतने ही भाग की कल्पना कर लेनी चाहिए[१]। यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि प्रत्येक कर्म के दलिकों का विभाग उसकी स्थिति-मर्यादा के अनुपात से होता है अर्थात् अधिक स्थिति वाले कर्म का दल अधिक और कम स्थिति वाले का दल कम होता है। परन्तु वेदनीय कर्म के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। उसकी स्थिति कम होने पर उसके हिस्से का भाग सबसे अधिक होता है। इसका कारण इस प्रकार बतलाया गया है—'यदि वेदनीय के हिस्से में कम भाग आये तो लोक में सुख-दुःख का पता ही न चले। लोक में सुख-दुःख प्रकट मालूम पड़ते हैं इसलिए वेदनीय के हिस्से में कर्मदल सबसे अधिक आता है'[२]

उत्तराध्ययन में कहा है—

(१) आठों कर्मों के अनन्त पुद्गल हैं। वे सब मिलकर संसार के अभव्य जीवों से अनन्त गुण होते हैं और अनन्त सिद्धों से अनन्तवें भाग जितने होते हैं।

(२) सब जीवों के कर्म सम्पूर्ण लोक की अपेक्षा से छहों दिशाओं में सब आत्म प्रदेशों से सब प्रकार से बंधते रहते हैं।

आचाराङ्ग में कहा है—

"ऊर्ध्व स्रोत है, अधः स्रोत है, तिर्यक् दिशा में भी स्रोत है। देख! पाप-द्वारों को ही स्रोत कहा गया है जिससे आत्मा के कर्मों का सम्बन्ध होता है[३]।"

ऊपर में जो अवतरण दिए गये हैं उनसे प्रदेशबंध के सम्बन्ध में निम्न लिखित प्रकाश पड़ता है

१—(क) नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण अ० ४

(ख) वही : अव० वृत्त्यादिसमेतं नवतत्त्वप्रकरणम् गा० ६०-६१ :

२—वही नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : अव० वृत्त्यादिसमेतं नवतत्त्वप्रकरणम् गा० ६१ तथा उसकी अवचूरी :

विग्घावरण मोह सव्वोवरि वेयणीइ जेणप्प ।
तस्स फुडत्तं न हवइ, ठिईविसेसेण सेसाणं ॥

३—आचारांग १.५.६

उड्ढं सोता अहे सोता तिरियं सोता वियाहिया। एए सोया वियक्खाया जेहिं संगंति पासहा।

(१) आत्मा के साथ वधे हुए कर्मदल—स्कधो का अलग-अलग प्रकृतियो मे वँटवारा होता है। यह भाग-वँटवारा कर्मों की स्थिति-मर्यादा के अनुपात से होता है। केवल वेदनीय के सम्बन्ध मे यह नियम लागू नही है।

(२) जीव सर्व आत्म-प्रदेशो से कर्म ग्रहण करता है। छओ दिशाओ के आत्म-प्रदेशो द्वारा कर्म ग्रहण होते हैं।

(३) जीव द्वारा ग्रहण किए हुए कर्मदल वहुत सूक्ष्म होते हैं—स्थूल नही होते। औदारिक, वैक्रिय आदि कर्मणाओ में से सूक्ष्म परिणति प्राप्त आठवी कार्मण वर्गणा ही वध योग्य है।

(४) जिस क्षेत्र मे आत्म-प्रदेश रहते हैं उसी प्रदेश मे रहे हुए कर्मदल का वध होता है। उस क्षेत्र से वाहर के कर्म-स्कधो का वध नही होता। यही एक क्षेत्रावगाढता है।

(५) प्रत्येक कर्म के अनन्त स्कध सभी आत्मप्रदेशो के वधते हैं अर्थात् एक-एक कर्म के अनन्त स्कध आत्मा के एक-एक प्रदेश से बधते हैं। आत्म के एक-एक प्रदेश पर सभी कर्मों के अनन्त-अनन्त स्कध रहते हैं।

(६) एक-एक कर्म-स्कध अनन्तानन्त परमाणुओ का बना होता है। कोई सख्यात, असख्यात या अनन्त परमाणुओ का बना नही होता। प्रत्येक स्कध अभव्यो से अनन्तगुण प्रदेशो के दल से बने होते हैं।

१३—बंधन-मुक्ति (गा० २७-२८) :

उपर्युक्त गाथाओ में वधे हुए कर्मों से छुटकारा पाने का रास्ता वतलाया गया है। इस ससार में जीव अपने से विभिन्न जातीय पदार्थ से सदा सयोजित रहता है परन्तु जिस तरह एकाकार हुए दूध और जल को अग्नि आदि प्रयोगो द्वारा पृथक् किया जा सकता है, उसी तरह चेतन और जड के सयोग का भी आत्यन्तिक—सदा सर्वदा के लिए पृथक्करण—वियोग किया जा सकता है। जीव और कर्म का सम्बन्ध ऐसा नही है कि उसका अन्त ही न हो सके, कारण आत्मा और जड पदार्थ पुद्गल दोनो अनादि काल से दूध-पानी की तरह एक क्षेत्रावगाही—ओत-प्रोत होने पर भी अपने-अपने स्वभाव को लिए हुए हैं, उसे छोडा नही है। केवल जड के प्रभाव से चेतन अपने सहज ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य के गुणो को प्रकट करने में असमर्थ है। जिस तरह जल के मिले रहने पर दूध के मिठास में फर्क पड जाता है, उसी प्रकार पुद्गल के प्रभाव से आत्म-गुणों में अन्तर—फीकास आ जाता है। परन्तु इस जड पुद्गल को चेतन आत्मा से दूर

करने का उपाय है। इस तथ्य को यहाँ तालाब के उदाहरण द्वारा समझाया गया है।

जिस तरह जल से भरे हुए तालाब को रिक्त करने के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है—एक नए आते हुए जल के प्रवेश को रोकना और दूसरे तालाब में रहे हुए जल को बाहर निकालना। ठीक उसी तरह आत्मा के प्रदेशों को पौद्गलिक सुख-दुःख के कारण कर्मों से मुक्त—शून्य करने के लिए भी दो उपाय हैं—एक तो कर्मों के प्रवेश (आस्रव) को रोकना दूसरे प्रविष्ट कर्मों का नाश करना। पहला कार्य संवर—संयम से सिद्ध होता है। संवरयुक्त आत्मा के तप करने से दूसरा कार्य सिद्ध होता है। संवर के साधन से आत्म प्रदेशों में स्थिरता आकर उनकी चंचलता कंपनशीलता मिट जाती है जिससे नए कर्मों का ग्रहण नहीं होता। तप द्वारा आत्म प्रदेश स्थिर होने से लगे हुए कर्म झड़ पड़ते हैं। सर्व कर्मों के आत्यन्तिक क्षय से आत्मा अपने सहज निर्मल स्वभाव में प्रकट होता है। जन्म-मरण और व्याधि के चक्र से उसका छुटकारा हो जाता है और वह शाश्वत पद को प्राप्त करता है। उसके ज्ञान दर्शन सुख और वीर्य के स्वाभाविक गुण सम्पूर्ण तेज के साथ प्रकट हो जाते हैं। इस स्वरूप का प्रकट होना ही परमात्म दशा है, यही मोक्ष है।

करने का उपाय है। इस तथ्य को यहाँ तालाब के उदाहरण द्वारा समझाया गया है।

जिस तरह जल से भरे हुए तालाब को रिक्त करने के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है—एक नए आते हुए जल के प्रवेश को रोकना और दूसरे तालाब में रहे हुए जल को बाहर निकालना। ठीक उसी तरह आत्मा के प्रदेशों को भौतिक सुख-दुःख के कारण कर्मों से मुक्त—शून्य करने के लिए भी दो उपाय हैं—एक तो कर्मों के प्रवेश (आस्रव) को रोकना दूसरे प्रविष्ट कर्मों का नाश करना। पहला काम संवर—संयम से सिद्ध होता है। संवरयुक्त आत्मा के तप करने से दूसरा काम सिद्ध होता है। संवर के साधन से आत्म प्रदेशों में शीतलता आकर उनकी चंचलता कंपनशीलता मिट जाती है जिससे नए कर्मों का ग्रहण नहीं होता। तप द्वारा आत्म प्रदेश रूक्ष होने से लगे हुए कर्म झड़ पड़ते हैं। सर्व कर्मों के आत्यन्तिक क्षय से आत्मा अपने सहज निर्मल स्वभाव में प्रकट होता है। जन्म-मरण और व्याधि के चक्र से उसका छुटकारा हो जाता है और वह शाश्वत पद को प्राप्त करता है। उसके ज्ञान दर्शन सुख और वीर्य के स्वाभाविक गुण सम्पूर्ण तेज के साथ प्रकट हो जाते हैं। इस स्वरूप का प्रकट होना ही परमात्म दशा है, यही मोक्ष है।

: ६ :

मोक्ष पदार्थ

९

मोख पदारथ

दुहा

१—मोख पदारथ नवमो कह्यों ते सगळा मांहि श्रीकार ।
सब गुणां करी सहीत छें, त्यांरा सुखां रो छेह न पार ॥

२—करमां सूं मूकाया ते मोख छें, त्यांरा छें नांम विशेष ।
परमपद निरवांण ते मोख छें, सिद्ध सिव आदि छें नांम अनेक ॥

३—परमपद उत्कष्टो पद पामीयो, तिण सूं परमपद त्यांरो नांम ।
करम दावानल मिट सीतल थया, तिण सूं निरवांण नांम छें तांम ॥

४—सब काय सिधा छें तेहनां तिण सू सिध कह्यां छें तांम ।
उपद्रव करें नें रहीत हुआ तिण सूं सिव कहिजें त्यांरो नांम ॥

५—इण अनुसार जांणजो मोख रा गुण परमांणे नांम ।
हिवें मोख तणा सुख वरणवुं ते सुणजो राखे चित्त ठांम ॥

ढाल

(पाखंड वधसी आर पांच में)

१—मोख पदारथ नां सुख सासता रे, तिण सुखां रो कदेय न आवें अंत रे ।
ते सुख अमोलक निज गुण जीव रा रे, अनंत सुख माण्या छें भगवंत रे ॥
मोख पदारथ छें सारां सिरे रे* ॥

*यह आंकड़ी प्रत्येक गाथा के अन्त में समझनी चाहिए ।

: ६ :

मोक्ष पदार्थ

दोहा

१—मोक्ष नवाँ पदार्थ कहा गया है। यह पदार्थों में सर्वोत्तम है[1]। इसमें सब गुणों का वास है। मोक्ष के सुखों का कोई छोर या पार नहीं है।

नवाँ पदार्थ : मोक्ष

२—जीव का कर्मों से मुक्त होना ही उसका मोक्ष है। मुक्त जीवों के अनेक नाम हैं जिनमें 'परमपद', 'निर्वाण', 'सिद्ध' और 'शिव' आदि प्रमुख हैं।

मुक्त जीव के कुछ अभिवचन (दो० २-५)

३-४—सर्वोत्कृष्ट पद प्राप्त कर चुकने से जीव 'परमपद' प्राप्त, कर्मरूपी दावानल को शान्त कर शीतल हो चुकने से 'निर्वाण' प्राप्त, सर्व कार्य-सिद्ध कर चुकने से 'सिद्ध' और सर्व—जन्म-जरा-व्याधि रूप उपद्रवों से रहित हो चुकने से 'शिव' कहलाता है।

५—ये मोक्ष के गुणानुसार नाम हैं[2]। आगे मोक्ष के सुखों का वर्णन करता हूँ स्थिर चित हो कर सुनो।

ढाल

१—मोक्ष के सुख शाश्वत हैं। इन सुखों का कभी अन्त नहीं आता। वीर भगवान ने इन अमूल्य अनन्त सुखों को जीव का स्वाभाविक गुण बतलाया है।

मोक्ष-सुख (गा० १-५)

२—तीन काल रा सुख देवां तणा रे, ते सुख इधका घणो अथाग रे।
ते सगलाइ सुख एकण सिध नें रे, तुले नावें अनतमे भाग रे॥

३—संसार नां सुख तो छें पुदगल तणा रे, ते तो सुख निश्चें रोगीला जांण रे।
ते करमां वस गमता लागें जीव नें रे, त्यां सुखां री बुधिवंत करो पिछांण रे॥

४—पांव रोगीलो हुवें छें तेहनें रे, अतंत मीठी लागें छें खाज रे।
एहवा सुख रोगीला छें पुन तणा रे, तिण सूं कदेय न सीझे आतम काज रे॥

५—एहवा सुखां सूं जीव राजी हुवें रे, तिणरे लागें छें पाप करम रा पूर रे।
पछें दुःख भोगवे छें नरक निगोद में रे, मुगति सुखां सूं पड़ीयो दूर रे॥

६—छूटा जनम मरण दावानल तेह थी रे, ते तो छें मोष सिध भगवंत रे।
त्यां आठोंइ करमां ने अलगा कीयां रे, जब आठोंइ गुण नीपनां अनंत रे॥

७—ते मोख सिध भगवंत तो ज्यां हिज हुआं रे, पछें एक समा मे उंचा गया छें घेट रे।
सिध रहिवा नो खेतर छें तिहां आए रह्या रे, अलोक सूं जाए अड्या नेट रे॥

८—अनंतो ग्यांन नें दरसण तेहनों रे वले आतमीक सुख अनंतो जांण रे।
षायक समकत छें सिध वीतराग तेहनें रे, वले अवगाहणा अटल छें निरवांण रे॥

९—अमूरतीपणो त्यांरो परगट हुवो रे, हलको भारी न लागें मूल लिगार रे।
तिण सूं अगुरुलघु नें अमूरती कह्यां रे, ए पिण गुण त्यांमें श्रीकार रे॥

१०—अंतराय करम सूं तो रहीत छें रे, त्यांरे पुदगल सुख नाहीजे नांय रे।
ते निज गुण सुखां मांहें झिले रह्या रे, कांइ उणारत रही न दीसें कांय रे॥

२—देवों के सुख अति अधिक और अपरिमित होते है। परन्तु तीनों काल के देव-सुख एक सिद्ध भगवान के सुख के अनन्तव भाग की भी बराबरी नही कर सकते।

३-४—ये सांसारिक सुख पौद्गलिक और निश्चय ही रोगीले हैं। जिस तरह पांव-रोगी को खाज अत्यन्त मीठी लगती है, उसी प्रकार पुण्य से प्राप्त ये सासारिक सुख कर्मो से लिप्त जीव को अच्छे लगते हैं। ऐसे रोगीले सुखों से कभी आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होता।

५—जो जीव ऐसे सुखों से प्रसन्न होता है उसके अतीव पाप कर्मो का संचय होता है। ऐसा प्राणी मोक्ष के सुखो से बहुत दूर हो जाता है और बाद में नरक और निगोद के दुखों का भागी होता है।

६—जिन का कर्मो से मोक्ष हो जाता है—वे सिद्ध भगवान जन्म-मरणरूपी दावानल से मुक्त हो जाते है। वे आठों ही कर्मो को दूर कर देते है जिससे उनके अनन्त आठ गुणों की प्राप्ति होती है।

आठ गुणो की प्राप्ति

७—जीव का मोक्ष तो इस लोक में ही हो जाता है। वह यहीं सिद्ध भगवान बन जाता है। फिर एक ही समय में जीव सीधा सिद्धों के बास-स्थान—लोक के अन्त को पहुंच—आलोक को स्पर्श करता हुआ स्थिर होता है।

जीव सिद्ध कहां होता है ?

८-१०—वीतराग सिद्ध भगवान के (१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन और (३) अनन्त आत्मिक सुख होता है। भगवान के (४) क्षायिक सम्यक्त्व और (५) अटल अवगाहना होती हैं। उनमें (६) अमूर्तित्व और (७) अगुरुलघुत्व ये श्रेष्ठ गुण भी होते हैं। उनके अमूर्तिभाव प्रगट हो जाता है और हल्का या भारीपन मालूम नहीं देता, इसलिए वे अमूर्त और अगुरुलघु कहलाते हैं। वे अतराय कर्म से रहित होते हैं इसलिए उनके (८) अनन्त वीर्य होता है। उनको पौद्गलिक सुखों की कामना नहीं होती, वे तो अपने स्वाभाविक गुण—सहज आनन्द में रमते रहते हैं। उनके कोई कमी नहीं दीखती[३]।

सिद्धों के आठ गुण (गा० ८-१०)

२—तीन काल रा सुख देवां तणा रे, ते सुख इणका मन्तां अथाग रे।
ते सगलाइ सुख एकण सिध नें रे, तुले नावें अनतमें भाग रे॥

३—ससार नां सुख तो छें पुदगल तणा रे, ते तो सुख निश्चें रोगीला जांण रे।
ते करमां वस गमता लागें जीव नें रे, त्यां सुखां री बुधिवंत करो पिछांण रे॥

४—पांव रोगीलो हुवें छें तेहनें रे, अतंत मीठी लागें छें खाज रे।
एहवा सुख रोगीला छें पुन तणा रे, तिण सूं कदेय न सीझे आतम काज रे॥

५—एहवा सुखां सूं जीव राजी हुवें रे तिणरे लागें छें पाप करम रा पूर रे।
पछें दुख भोगवे छें नरक निगोद में रे, मुगति सुखां सूं पड़ीयो दूर रे॥

६—छूटा जनम मरण दावानल तेहु थी रे, ते तो छें मोष सिध भगवंत रे।
त्यां आठोंइ करमां ने अलगा कीयां रे, जब आठोंइ गुण नीपनां अनंत रे॥

७—ते मोख सिध भगवंत तो इहां हिज हुआ रे, पछें एक समा में उंचा गया छें बेंट रे।
सिध रहिवा नो खेतर छें तिहां जाए रह्या रे, अलोक सूं जाए अड़्या नेट रे॥

८—अनंतो ग्यांन नें दरसण तेहनों रे, वले आतमीक सुख अनंतो जांण रे।
षायक समकत छें सिध वीतराग तेहनें रे, वले अवगाहणा अटल छें निरवांण रे॥

९—अमूरतीपणो त्यांरो परगट हुवो रे, हलको भारी न लागें मूल लिगार रे।
तिण सूं अगुरुलघु में अमूरती कह्या रे, ए पिण गुण त्यांरें श्रीकार रे॥

१०—अंतराय करम सूं तो रहीत छें रे, त्यांरे पुदगल सुख नाहींजे नांम रे।
ते निज गुण सुखां माहिं झिले रह्या रे, कांइ उणारत रही न दीसें कांय रे॥

११—जो आठों ही कर्मों का अन्त कर इस कलकलीभूत—जन्म-मरण व्याधिपूर्ण संसार से मुक्त हो गये है तथा जिन्होंने मुक्ति-रूपी रमणी के अनन्त सुख प्राप्त किए है उन्हीं जीवो को अविचल मोक्ष प्राप्त हुआ कहा जाता है।

मोक्ष के अनन्त सुख (गा० ११-१२)

१२—तीनों लोक मे उनके सुखों की कोई उपमा नहीं मिलती। उनके सुख शाश्वत और एकधार रहते हैं। उनमें कभी कम-वेश नहीं होती[४]।

१३-१६—(१) 'तीर्थ सिद्ध'—अर्थात् जैन साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाओं में से सिद्ध हुए, (२) 'अतीर्थ सिद्ध'—जैन तीर्थ के अतिरिक्त और किसी तीर्थ में से सिद्ध हुए, (३) 'तीर्थङ्कर सिद्ध'—तीर्थ की स्थापना कर सिद्ध हुए, (४) 'अतीर्थङ्कर सिद्ध'—विना तीर्थ की स्थापना किए सिद्ध हुए, (५) 'स्वयबुद्ध सिद्ध'—स्वय समझ कर सिद्ध हुए, (६) 'प्रत्येकबुद्ध सिद्ध'--किसी वस्तु को देखकर सिद्ध हुए, (७) 'बुद्धबोधित सिद्ध'—दूसरों से समझ कर, उपदेश सुन कर सिद्ध हुए, (८) 'स्वलिगी सिद्ध'—जैन साधु के वेप में सिद्ध हुए, (९) 'अन्यलिङ्ग सिद्ध'—अन्य साधु के वेष में सिद्ध हुए, (१०) 'गृहलिङ्ग सिद्ध'—गृहस्थ के वेप में सिद्ध हुए, (११) 'स्त्रीलिङ्ग सिद्ध'—स्त्री लिङ्ग में सिद्ध हुए, (१२) 'पुरुपलिङ्ग सिद्ध'—पुरुप लिङ्ग में सिद्ध हुए, (१३) 'नपुसकलिङ्ग सिद्ध'—नपुंसक के लिङ्ग मे सिद्ध हुए, (१४) 'एक सिद्ध'—एक समय में ही सिद्ध हुए, (१५) 'अनेक सिद्ध'—एक समय मे अनेक सिद्ध हुए—ये सिद्धों के पद्रह भेद है[१]।

सिद्धो के पन्द्रह भेद (गा० १३-१६)

११—सहूं कलकलीभूत संसार थी रे, आठोंइ करमां तणो कर सोय रे।
ते अनंता सुख पांम्यां सिव-रमणी तणा रे, त्यांनें कहिजें अविचल मोख रे॥

१२—त्यांरा सुखां नें नहीं कांई ओपमा रे, तीनूंइ लोक संसार मझार रे।
एक धारा त्यांरा सुख सासता रे, ओछा इधका सुख कदेय न हुवें लिगार रे॥

१३—तीरथ सिधा ते तीरथ मांसूं सिध हुआं रे, अतीरथ सिधा ते बिन तीरथ सिध थाय रे।
तीथंकर सिधा ते तीरथ थापनें रे, अतीथंकर सिधा ते बिनां तीथंकर ताय रे॥

१४—सयंबुधी सिधा ते पोतें समझनें रे, प्रतेक बुधी सिधा ते कांयक वस्तू देख रे।
बुधबोही सिधा ते समझे ओरां कनें रे, उपदेस सुणे नें ग्यांन विसेख रे॥

१५—स्वलिंगी सिधा साधां रा भेष में रे, अनलिंगी सिधा ते अनलिंगी मांय रे।
ग्रहलिंगी सिधा ग्रहस्थरा लिंग थकां रे, अस्त्रीलिंग सिधा अस्त्रीलिंग में ताय रे॥

१६—पुरषलिंग सिधा ते पुरष ना लिंग थकां रे, निपुंसक सिधा ते निपुंसक लिंग में सोय रे।
एक सिधा ते एक समें एक हीज सिध हुआ रे, अनेक सिधा ते एक समें अनेक सिध होय रे॥

१७—ये सब ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से सिद्ध होते और निर्वाण प्राप्त करते हैं । इन चारों के बिना कोई सिद्ध नहीं हुआ । मोक्ष प्राप्ति के ये चार ही मार्ग हैं ।

सब सिद्धो की करनी और सुख समान हैं (गा० १७-१६)

१८—ज्ञान से जीव सर्व भावों को जानता है । दर्शन से उनकी यथार्थ प्रतीति करता है । चारित्र से कर्मों का आना रुकता है और तप से जीव कर्मों को बिखेर देता है ।

१६—इन पन्द्रह भेदों से जो भी सिद्ध हुए हैं उन सब की करनी एक सरीखी समझो । तथा मोक्ष में उन सब का सुख भी समान ही है । इन पन्द्रह भेदों से अनन्त सिद्ध हुए हैं[१] ।

२०—मोक्ष पदार्थ को समझाने के लिए यह ढाल श्रीजीद्वार में स० १८५६ की चैत्र शुक्ला ४ वार शनिवार को की है ।

१७—ग्यांन दरसण नें चारित तप थकी रे, सारा हूआं छें सिध निरवांण रे।
यां च्यारां विनां कोई सिध हूओ नहीं रे, ए च्यारूंई मोष रा मारग जांण रे॥

१८—ग्यांन थी जांणें लेवें सर्व भाव नें रे, दरसण सूं सरध लेवे सयमेव रे।
चारित सूं करम रोके छें आवता रे, तपसा सूं करमां नें दीया खेव रे॥

१९—ए पनरेंइ भेदें सिध हूआं तके रे, सगला री करणी जांणों एक रे।
वले मोष में सुख सगला रा सारिखा रे, ते सिध छें अनत भेदें अनेक रे॥

२०—मोष पदार्थ नें ओलखायवा रे, जोड़ कीधी छें नाथदुवारा मझार रे।
समत अठारें नें वरस छपनें रे, चेत सुद चोथ ने सनीसर वार रे॥

१७—ये सब ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से सिद्ध होते और निर्वाण प्राप्त करते हैं । इन चारों के बिना कोई सिद्ध नहीं हुआ । मोक्ष प्राप्ति के ये चार ही मार्ग हैं ।

१८—ज्ञान से जीव सर्व भावों को जानता है । दर्शन से उनकी यथार्थ प्रतीति करता है । चारित्र से कर्मों का आना रुकता है और तप से जीव कर्मों को बिखेर देता है ।

१९—इन पन्द्रह भेदों से जो भी सिद्ध हुए है उन सब की करनी एक सरीखी समझो । तथा मोक्ष मे उन सब का सुख भी समान ही है । इन पन्द्रह भेदों से अनन्त सिद्ध हुए हैं[१] ।

२०—मोक्ष पदार्थ को समझाने के लिए यह ढाल श्रीजीद्वार में स० १८५६ की चैत्र शुक्ला ४ वार शनिवार को की है ।

सब सिद्धो की करनी और सुख समान हैं (गा० १७-१९)

टिप्पणियाँ

१—मोक्ष नवाँ पदार्थ है (दो० १)

पदार्थों की संख्या नौ मानी हो अथवा सात सब ने मोक्ष पदार्थ को अन्त में रखा है। इस तरह मोक्ष पदार्थ नवाँ अथवा सातवाँ पदार्थ ठहरता है। "ऐसी संज्ञा मत करो कि मोक्ष नहीं है पर ऐसी संज्ञा करो कि मोक्ष है[१]।"—यह उपदेश मोक्ष के स्वतंत्र अस्तित्व को घोषित करता है। त्रिपदावतारों में[२] तथा अन्यत्र अनेक स्थलों पर मोक्ष को बंध का प्रतिपक्षी तत्त्व कहा गया है। जैसे कारावास शब्द स्वयं ही स्वतंत्रता के अस्तित्व का सूचक होता है वैसे ही जब बन्ध सद्भाव पदार्थ है तो उसका प्रतिपक्षी पदार्थ मोक्ष भी सद्भाव पदार्थ है, यह स्वयं सिद्ध है। बन्ध कर्म-संश्लेष है और मोक्ष कर्म का कृत्स्न-क्षय। मोक्ष की परिभाषा देते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं— 'कृत्स्नकर्म विप्रयोगलक्षणो मोक्षः[३]"—मोक्ष का लक्षण संपूर्ण कर्म-वियोग है।

स्वामीजी लिखते हैं

सब कर्मों से मुक्ति मोक्ष है। उसे पहचानने के लिए तीन दृष्टान्त हैं

१—घाणी आदि के उपाय से तेल खलरहित होता है, वैसे ही तप-संयम के द्वारा जीव का कर्म रहित होना मोक्ष है।

२—मथनी आदि के उपाय से घृत छाछ रहित होता है, वैसे ही तप-संयम के द्वारा जीव का कर्म-रहित होना मोक्ष है।

३—अग्नि आदि के उपाय से धातु और मिट्टी अलग होते हैं, वैसे ही तप-संयम के द्वारा जीव का कर्म रहित होना मोक्ष है।

कर्मों के सम्पूर्ण क्षय का क्रम आगम में इस प्रकार मिलता है—

"प्रेम द्वेष और मिथ्यादर्शन के विजय से जीव ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना में तत्पर होता है। फिर आठ प्रकार के कर्मों का ग्रन्थि भेद प्रारंभ होता है। उसमें

१—सूयगडं २.५.१५

२—ठाणाङ्ग २.४७

३—तत्त्वा० १.४ सर्वार्थसिद्धि

४— दृष्टान्त द्वार

पहले मोहनीयकर्म की अठाइस प्रकृतियो का क्षय होता है, फिर पांच प्रकार के ज्ञाना-वरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय और पांच प्रकार के अन्तराय कर्म—इन तीनो का एक साथ क्षय होता है। उसके वाद प्रधान, अनन्त, सम्पूर्ण, परिपूर्ण, आवरण-रहित, अज्ञानतिमिर-रहित, विशुद्ध और लोकालोक प्रकाशक प्रधान केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न होते हैं।

"केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होते ही जीव के ज्ञानावरणीय आदि चार घनघाती कर्मों का नाश हो जाता है और सिर्फ वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये कर्म अवशेष रहते हैं। इसके वाद आयु शेष होने मे जव अतर्मुहूर्त (दो घडी) जितना काल वाकी रहता है तव केवली मन, वचन और काय के व्यापार का निरोध कर, शुक्लध्यान की तीसरी श्रेणी मे स्थित होता है, फिर वह मनोव्यापार को रोकता है, फिर वचन व्यापार को और फिर कायव्यापार को। फिर श्वास-प्रश्वास को रोकता है, फिर पांच ह्रस्व अक्षरो के उच्चारण करने मे जितना समय लगता है उतने समय तक शैलेशी अवस्था में रहकर शुक्लध्यान की चौथी श्रेणी मे स्थित होता है। वहाँ स्थित होते ही अवशेष वेदनीय, आयुष्य, नाम तथा गोत्र कर्म एक साथ नाश को प्राप्त होते हैं। सर्व कर्मों के नाश के साथ ही औदारिक, कार्मण और तैजस—इन शरीरो से भी सदा के लिए छुटकारा हो जाता है। इस प्रकार इस ससार में रहते-रहते ही वह सिद्ध, वुद्ध और मुक्त हो जाता है एव सर्व दु ख का अन्त कर देता है[1]।"

मोक्ष सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ है। मोक्ष साध्य है और सवर निर्जरा साधन। साधक की सारी चेष्टाएँ मोक्ष के लिए ही होती हैं। मोक्ष पदार्थ में सर्व गुण होते है। उसके सुख अनन्त हैं। परमपद, निर्वाण, सिद्ध, शिव आदि उसके अनेक नाम है। मोक्ष के ये नाम गुणनिष्पन्न है। मोक्ष के गुणो के सूचक हैं। मोक्ष से ऊँचा कोई पद नहीं, अत वह 'परमपद' है। कर्म-रूपी दावानल शान्त हो जाने से उसका नाम 'निर्वाण' होता है। सम्पूर्ण कृतकृत्य होने से उसका नाम 'सिद्ध' है। किसी प्रकार का उपद्रव नहीं, इससे मोक्ष का नाम 'शिव' है।

२—मोक्ष के अभिवचन (दो० २-५)

मोक्ष का अर्थ—जहाँ मुक्त आत्माएँ रहती हैं, वह स्थान—ऐसा नही है। "मोचनं कर्मपाशवियोजनमात्मनो मोक्षः"—कर्म-पाश का विमोचन—उसका वियोजन मोक्ष है।

१—उत्त० २९.७१-७२

बेड़ी आदि से छूटना द्रव्य मोक्ष है। कर्म-बेड़ी से छूटना भाव मोक्ष है। यहाँ मोक्ष का अभिप्राय भाव मोक्ष से है। धातु और कंचन का संयोग अनादि है पर क्रिया विशेष से उनके सम्बन्ध का वियोग होता है उसी तरह जीव और कर्म के अनादि संयोग का भी सदुपाय से वियोग होता है। जीव और कर्म का यह वियोग ही मोक्ष है। मोक्ष पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्मों के क्षय से होता है[१]।

सर्व कर्म विरहित आत्मा के अनेक अभिवचन हैं। उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं

१—सिद्ध : जो कृतार्थ हो चुके वे सिद्ध हैं अथवा जो लोकाग्र में स्थित हुए हैं और जिनके पुनरागमन नहीं है वे सिद्ध हैं अथवा जिनके कर्म ध्वस्त हो चुके हैं—जो कर्म प्रपंच से मुक्त हो चुके हैं, वे सिद्ध हैं[२]।

२—बुद्ध जिनके कृत्स्न ज्ञान और कृत्स्न दर्शन हैं—जो सकल कर्म-क्षय के साथ इनसे संयुक्त हैं।

३—मुक्त जिनके कोई बंधन अवशेष नहीं रहा।

४—परिनिर्वृत्त सर्वथा सकल कर्मकृत विकार से रहित होकर स्वस्थ होना परिनिर्वाण है। परिनिर्वाण धर्मयोग से कर्मक्षय कर जो सिद्ध होता, वह परिनिर्वृत्त है[३]।

५—सर्वदु:खप्रहीण जो सर्व दु:खों का अन्त कर चुका वह सर्वदु:खप्रहीण है।

६—अन्तकृत जिसने पुनर्भव का अन्त कर दिया।

७—पारंगत जो अनादि, अनन्त दीर्घ चातुरन्तिक संसारारण्य को पार कर चुका वह पारगत है।

८—परिनिर्वृत्त सब प्रकार के शारीरिक मानसिक अस्वास्थ्य से रहित[४]।

३—सिद्ध और उनके आठ गुण (गा० ६ १०)

उत्तराध्ययन में कहा है

वेदनीय आदि चार अघाति कर्म और औदारिक आदि शरीरों से छुटकारा पाते ही जीव ऋजु श्रेणि को प्राप्त हो अस्पृशमानगति और अविग्रह से एक समय में

१—ठाणाङ्ग १ १ टीका
२—वही १ ४६ टीका
३—वही १ ४६ टीका
४—वही

ऊर्ध्व सिद्ध स्थान को पहुच साकार ज्ञानोपयोग युक्त सिद्ध, बुद्ध आदि होकर समस्त दु खो का अन्त करता है[1] ।"

इसी आगम में अन्यत्र कहा है "सिद्ध कहाँ जाकर रुकते हैं, कहाँ ठहरते हैं ? शरीर का त्याग कहाँ करते हैं ? और कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं —ये प्रश्न हैं ? सिद्ध अलोक की सीमा पर रुकते हैं और लोक के अग्रभाग पर प्रतिष्ठित हैं। यहाँ शरीर छोड कर लोकाग्र पर जाकर सिद्ध होते है। महाभाग सिद्ध भव-प्रपच से मुक्त हो श्रेष्ठ सिद्ध गति को प्राप्त हो लोक के अग्रभाग पर स्थित होते हैं। ये सिद्ध जीव अरूपी और जीवघन हैं। ज्ञान और दर्शन इनका स्वरूप है। जिनकी उपमा नही ऐसे अतुल सुख से ये सयुक्त होते हैं[2] । सर्व सिद्ध ज्ञान और दर्शन से सयुक्त होते हैं और ससार से निस्तीर्ण हो सिद्धि गति को पा लोक के एक देश में रहते हैं[2] ।"

यहाँ प्रश्न उठते हैं—सिद्धि-स्थान क्या है ? कर्म-मुक्त जीव उर्ध्वगति क्यो करते हैं ? लोकाग्र पर जाकर क्यो ठहर जाते हैं ? उनकी अवगाहना क्या होती है ? इनका उत्तर नीचे दिया जाता है। सिद्ध स्थान का वर्णन आगमो में इस प्रकार मिलता है .

"सर्वार्थ सिद्ध नाम के विमान से वारह योजन ऊपर छत्र के आकार की इपत्प्राग्भार नाम की एक पृथ्वी है। वह ४५ लाख योजन आयाम (लम्वी) और उतनी ही विस्तीर्ण है। उसकी परिधि इससे तीन गुनी से कुछ अधिक है। यह पृथ्वी मध्य में आठ योजन मोटी है। फिर धीरे-धीरे पतली होती-होती अन्त में मक्खी की पाँख से भी पतली है। यह पृथ्वी स्वभाव से ही निर्मल, श्वेत सुवर्णमय तथा उत्तान छत्र के आकार की है। यह शख, अक नामक रत्न और कुद पुष्प जैसी पांडुर, निर्मल और सुहावनी है। उस सीता नाम की पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोकांत है। इस योजन का जो अन्तिम कोस है उसके छट्ठे भाग में सिद्ध रहे हुए हैं[3] ।"

वेदनीय आदि कर्मों और औदारिक आदि शरीरो से छुटकारा पाते ही जीव ऊर्ध्वगति से समश्रेणी में (सरल-सीधी रेखा में) तथा अवक्र गति से मोक्षस्थान को जाता है। रास्ते में वह कही भी नही अटकता और सीधा लोक के अग्रभाग पर जाकर स्थित हो जाता है। वहा पहुचने मे जीव को एक समय लगता है।

१—उत्त० २९ ७३

२—उत्त० ३६ ५६-५७,६४,६७-८

३—उत्त० ३६ ५८-६२

सिद्ध जीवों की ऊर्ध्वगति क्यों होती है इस सम्बन्ध में निम्न वार्तालाप बड़ा बोधप्रद है

'हे भगवन् कर्म रहित जीव के गति मानी गई है क्या ?'

'मानी गई है, गौतम !'[1]

'हे भगवन् ! कर्म रहित जीव के गति कैसे मानी गई है ?

'हे गौतम ! निस्संगता से निरागता से गति-परिणाम से, बन्धन-छेद से निरींधनता से और पूर्व प्रयोग से कर्म-रहित जीव के गति मानी गई है।

सो कैसे ? भगवन् !

"यदि कोई पुरुष एक सूखे छिद्ररहित सम्पूर्ण तूबे को अनुक्रम से संस्कारित कर दाभ और कुश द्वारा कस कर उस पर मिट्टी का लेप करे और धूप में सुखाकर दुबारा लेप करे और इस तरह आठ बार मिट्टी का लेप करके उस बार-बार सुखाये हुए तूंबे को तिरे न जा सके ऐसे पुरुष प्रमाण अथाह जल में डाले तो हे गौतम ! वैसे आठ मिट्टी के लेपों से गुरु भारी और वजनदार बना तूबा जल के तल को छेद कर अध: धरणी पर प्रतिष्ठित होगा या नहीं ?'

"होगा हे भगवन् !"

'हे गौतम ! जल में डूबे हुए तूंबे के आठ मिट्टी के लेपों के एक-एक कर क्षय होने पर धरती तल से क्रमशः ऊपर उठता हुआ तूंबा जल के ऊपरी सतह पर प्रतिष्ठित होगा या नहीं ?

होगा हे भगवन् !"

"इसी तरह हे गौतम ! निश्चय ही निसंगता से निरागता से गति-परिणाम से कर्म रहित जीव के गति कही गई है।

हे गौतम ! जैसे कलाय-मटर की फली मूंग की फली, माष (उड़द) की फली, शिम्बिका की फली एरंड का फल धूप में सुखाया जाय तो सूखने पर फटने से उनके बीज एक ओर जाकर गिरते हैं, उसी तरह हे गौतम ! बन्धन-छेद के कारण कर्म रहित जीव की गति होती है।"

हे गौतम ! ईंधन से छूटे हुए धूम की गति जैसे स्वाभाविक निराबाध रूप से ऊपर की ओर होती है उसी तरह हे गौतम ! निश्चय से निरींधन (कर्मरूपी ईंधन से मुक्त) होने से कर्म रहित जीव की ऊर्ध्व गति होती है"

१—भगवती ७ १

सिद्ध जीव लोकाग्र पर जाकर क्यों रुक जाता है—इसके आगम मे चार कारण बतलाए हैं—पहला गति-अभाव, दूसरा निरुपग्रह, तीसरा रूक्षता और चौथा लोकानुभाव—लोकस्वभाव[1]।

जीव और पुद्गल का ऐसा ही स्वभाव है कि वे लोक के सिवा अलोक में गति नही कर सकते। जिस तरह दीपशिखा नीचे की ओर गति नही करती उसी प्रकार ये लोकान्त के ऊपर अलोक में गति नही करते।

जीव और पुद्गल दोनो ही गतिशील हैं पर वे धर्मास्तिकाय के सहाय से ही गति कर सकते हैं। लोक के बाहर धर्मास्तिकाय नही होता अत. वे लोक के बाहर अलोक में गति नही कर सकते।

बालू की तरह रूखे लोकान्त मे पुद्गलो का ऐसा रूक्ष परिणमन होता है कि वे आगे बढ़ने में समर्थ नही होते। कर्म-पुद्गलो की वैसी स्थिति होने पर कर्म-सहित जीव भी आगे नही बढ सकते। कर्ममुक्त जीव धर्मास्तिकाय के सहाय के अभाव मे आगे गति नही कर सकते।

लोक की मर्यादा ही ऐसी है कि गति उसके अन्दर ही हो सकती है। जिस प्रकार सूर्य की गति अपने मण्डल मे ही होती है उसी प्रकार जीव और पुद्गल लोक में ही गति कर सकते हैं उसके बाहर नही।

जीव की अवगाहना उसके शरीर के बराबर होती है। जैसे दीपक को बडे घर में रखने से उसका प्रकाश उस घर जितना फैल जाता है और छोटे आले में रखने से वह छोटे आले जितना हो जाता है, उसी प्रकार जीव कर्म-वश छोटा या बडा शरीर जैसा प्राप्त करता है उस समूचे शरीर को अपने प्रदेशो से व्याप्त—सचित्त कर देता है। हाथी का जीव हाथी के शरीर को व्याप्त किए होता है—उतनी ही अवगाहना—फैलाव—कद वाला होता है और चीटी का जीव चीटी के शरीर को व्याप्त किए रहता है—उतनी ही अवगाहना—फैलाव—कदवाला होता है।

१—ठाणाङ्ग ४ ३ ३३७ :

चउहिं ठाणेहिं जीवा य पोग्गला य णो सचातति बहिया लोगता गमणताते, तं० गतिअभावेणं णिरुवग्गहताते लुक्खताते लोगाणुभावेण।

सिद्ध जीवों की ऊर्ध्वगति क्यों होती है इस सम्बन्ध में निम्न वार्तालाप बड़ा बोधप्रद है

'हे भगवन् कर्म रहित जीव के गति मानी गई है क्या ?'

'मानी गई है, गौतम !

'हे भगवन् ! कर्म रहित जीव के गति कैसे मानी गई है ?"

'हे गौतम ! निस्संगता से निरागता से गति परिणाम से बन्धन-छेद से निरींधनता से और पूर्व प्रयोग से कर्म-रहित जीव के गति मानी गई है।"

'सो कैसे ? भगवन् !

"यदि कोई पुरुष एक सूखे छिद्ररहित सम्पूर्ण तूंबे को अनुक्रम से संस्कारित कर दाभ और कुश द्वारा कस कर उस पर मिट्टी का लेप करे और धूप में सुखाकर दुबारा लेप करे और इस तरह आठ बार मिट्टी का लेप करके उस बार-बार सुखाये हुए तूंबे को तिरे न जा सके ऐसे पुरुष प्रमाण अथाह जल में डाले तो हे गौतम ! वैसे आठ मिट्टी के लेपों से गुरु भारी और वजनदार बना तूंबा जल के तल को छेद कर अध धरणी पर प्रतिष्ठित होगा या नहीं ?

होगा हे भगवन् !"

'हे गौतम ! जल में डूबे हुए तूबे के आठ मिट्टी के लेपों के एक-एक कर क्षय होने पर धरती तल से क्रमशः ऊपर उठता हुआ तूंबा जल के ऊपरी सतह पर प्रतिष्ठित होगा या नहीं ?'

"होगा हे भगवन् !

"इसी तरह हे गौतम ! निश्चय ही निसंगता से निरागता से गति-परिणाम से कर्म रहित जीव के गति कही गई है।"

हे गौतम ! जैसे कलाय-मटर की फली, मूंग की फली, माष (उड़द) की फली, सिम्बिका की फली एरंड का फल धूप में सुखाया जाय तो सूखने पर फटने से उनके बीज एक ओर जाकर गिरते हैं, उसी तरह हे गौतम ! बन्धन-छेद के कारण कर्म रहित जीव के गति होती है।

हे गौतम ! ईंधन से छूटे हुए धूएं की गति जैसे स्वाभाविक निराबाध रूप से ऊपर की ओर होती है उसी तरह हे गौतम ! निश्चय से निरींधन (कर्मरूपी ईंधन से मुक्त) होने से कर्म रहित जीव की ऊर्ध्व गति होती १ "

---

१ ... [illegible]

गोत्र कर्म के क्षय से अगुरुलघुपन—न छोटापन न बड़ापन प्रकट होता है। और अन्त-राय कर्म के क्षय से लब्धि प्रकट होती है।

केवल ज्ञान, केवल दर्शन, आत्मिक सुख, क्षायक सम्यक्त्व, अटल अवगाहन, अमूर्तिपन, अगुरुलघुपन और लब्धि—ये आठ सब आत्माओं के स्वाभाविक गुण हैं। कर्म उन गुणो को दबाते रहते हैं, उन्हें प्रकट नही होते। कर्म-क्षय से ये सब गुण प्रकट हो जाते हैं। सब सिद्धो में ये गुण होते हैं।

४—सांसारिक सुख और मोक्ष सुखों की तुलना (गा० १-५,११-१२) :

पुण्य की प्रथम ढाल मे पौद्गलिक सुख और मोक्ष-सुखो की तुलना आई है[1] और प्रसगवश प्राय उन्ही शब्दो में यहाँ पुनरुक्त हुई है। पूर्व-स्थलो पर दोनो प्रकार के सुखो का पार्थक्य विस्तृत टिप्पणियो द्वारा दिखाया जा चुका है[2]।

मोक्ष के सुख शाश्वत हैं, अनन्त हैं, निरपेक्ष हैं, स्वाभाविक हैं। सर्व काल के सर्व देवो के सुखो को मिला लिया जाय तो भी वे एक सिद्ध के सुख के अनन्तवे भाग के भी तुल्य नही होते।

सांसारिक सुख पौद्गलिक हैं। वे वास्तव मे सुख नही पर कर्म-रूपी पॉव रोग से ग्रस्त होने के कारण खुजली की तरह मधुर लगते हैं। सासारिक सुखो से आत्मा का कार्य सिद्ध नही होता। जो सासारिक सुखो से प्रसन्न होता है, उसके अति मात्रा मे पाप कर्मों का बन्ध होता है जिससे उसे नरक और निगोद के दु खो को भोगना पडता है।

श्री उमास्वाति ने लिखा है—

"मुक्तात्माओ के सुख विषयो से अतीत, अव्यय और अव्याबाध हैं। संसार के सुख विषयो की पूर्ति, वेदना के अभाव, पुण्य कर्मो के इष्ट फलरूप हैं जब कि मोक्ष के सुख कर्मक्लेश के क्षय से उत्पन्न परम सुखरूप। सारे लोक में ऐसा कोई पदार्थ नही जिसकी उपमा सिद्धो के सुख से दी जा सके। वे निरूपम हैं। वे प्रमाण, अनुमान और उपमान के विषय नही, इसलिए भी निरूपम हैं। वे अर्हत् भगवान के ही प्रत्यक्ष हैं और उन्हीं के द्वारा वाणी का विषय हो सकते हैं। अन्य विद्वान उन्हीं के कहे अनुसार

१—देखिए दो० २-४ तथा गा० ४६-५१

२—(क) देखिए पृ० १५१-२ टिप्पणी १ (३), १ (५)

(ख) देखिए पृ० १७१-१७३ टि० १३

सिद्ध जीव की अवगाहना उसके अन्तिम शरीर की अवगाहना से त्रिभाग हीन होती है अर्थात् मुक्त आत्मा के सकल प्रदेश अन्तिम शरीर से त्रिभाग कम क्षेत्र में व्याप्त होते हैं[1]।

आगम में सिद्धों के ३१ गुण बतलाये गए हैं। वे इस प्रकार हैं—आभिनिबोधिक-ज्ञानावरण का क्षय (२) श्रुतज्ञानावरण का क्षय (३) अवधिज्ञानावरण का क्षय (४) मनःपर्यायज्ञानावरण का क्षय (५) केवलज्ञानावरण का क्षय (६) चक्षुदर्शनावरण का क्षय (७) अचक्षुदर्शनावरण का क्षय (८) अवधिदर्शनावरण का क्षय (९) केवल-दर्शनावरण का क्षय (१) निद्रा का क्षय (११) निद्रानिद्रा का क्षय (१२) प्रचला का क्षय (१३) प्रचलाप्रचला का क्षय (१४) स्त्यानर्द्धि का क्षय (१५) सातावेदनीय का क्षय (१६) असातावेदनीय का क्षय (१७) दर्शनमोहनीय का क्षय (१८) चारित्र मोहनीय का क्षय (१९) नरकायु का क्षय (२) तिर्यगायु का क्षय (२१) मनुष्यायु का क्षय (२२) देवायु का क्षय (२३) उच्च गोत्र का क्षय (२४) नीच गोत्र का क्षय (२५) शुभनाम का क्षय (२६) अशुभनाम का क्षय (२७) दानान्तराय का क्षय (२८) लाभान्तराय का क्षय (२९) भोगान्तराय का क्षय (३) उपभोगान्तराय का क्षय और (३१) वीर्यान्तराय कर्म का क्षय[2]।

संक्षेप में आठों मूल कर्म और उनकी सब उत्तर प्रकृतियों का क्षय सिद्धों में पाया जाता है।

कर्मों के क्षय से सिद्धों में आठ विशेषताएं प्रकट होती हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से केवलदर्शन उत्पन्न होता है। वेदनीय कर्म के क्षय से आत्मिक सुख—अनन्त सुख प्रकट होता है। मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायक सम्यक्त्व प्रकट होता है। आयुष्य कर्म के क्षय से अटल अवगा-हना—शाश्वत स्थिरता प्रकट होती है। नाम कर्म के क्षय से अमूर्तिकपन प्रकट होता है।

१—उत्त० ३६ ६४

उस्सेहो जस्स जो होइ भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभागहीणो तत्तो य सिद्धाणोगाहणा भवे॥

२—समवायाङ्ग सम० ३१। उत्तराध्ययन (३१ २) में सिद्धों के ३१ गुणों का संकेत है। देखिए उस श्लोक की टीका:

नव दरिसणम्मि चत्तारि आउए पंच आइमे अंते।
सेसे दो दो भेया खीणभिलावेण इगतीसं॥

गोत्र कर्म के क्षय से अगुरुलघुपन—न छोटापन न बड़ापन प्रकट होता है। और अन्त-राय कर्म के क्षय से लब्धि प्रकट होती है।

केवल ज्ञान, केवल दर्शन, आत्मिक सुख, क्षायक सम्यक्त्व, अटल अवगाहन, अमूर्ति-पन, अगुरुलघुपन और लब्धि—ये आठ सब आत्माओं के स्वाभाविक गुण हैं। कर्म उन गुणों को दबाते रहते हैं, उन्हें प्रकट नहीं होने देते। कर्म-क्षय से ये सब गुण प्रकट हो जाते हैं। सब सिद्धों में ये गुण होते हैं।

४—सांसारिक सुख और मोक्ष सुखों की तुलना (गा० १-५,११-१२) :

पुण्य की प्रथम ढाल में पौद्गलिक सुख और मोक्ष-सुखों की तुलना आई है[1] और प्रसंगवश प्रायः उन्हीं शब्दों में यहाँ पुनरुक्त हुई है। पूर्व-स्थलों पर दोनों प्रकार के सुखों का पार्थक्य विस्तृत टिप्पणियों द्वारा दिखाया जा चुका है[2]।

मोक्ष के सुख शाश्वत हैं, अनन्त हैं, निरपेक्ष हैं, स्वाभाविक हैं। सर्व काल के सर्व देवों के सुखों को मिला लिया जाय तो भी वे एक सिद्ध के सुख के अनन्तवें भाग के भी तुल्य नहीं होते।

सांसारिक सुख पौद्गलिक हैं। वे वास्तव में सुख नहीं पर कर्म-रूपी पाँव रोग से ग्रस्त होने के कारण खुजली की तरह मधुर लगते हैं। सांसारिक सुखों से आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होता। जो सांसारिक सुखों से प्रसन्न होता है, उसके अति मात्रा में पाप कर्मों का बन्ध होता है जिससे उसे नरक और निगोद के दुःखों को भोगना पड़ता है।

श्री उमास्वाति ने लिखा है—

"मुक्तात्माओं के सुख विषयों से अतीत, अव्यय और अव्याबाध हैं। संसार के सुख विषयों की पूर्ति, वेदना के अभाव, पुण्य कर्मों के इष्ट फलरूप हैं जब कि मोक्ष के सुख कर्मक्लेश के क्षय से उत्पन्न परम सुखरूप। सारे लोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसकी उपमा सिद्धों के सुख से दी जा सके। वे निरुपम हैं। वे प्रमाण, अनुमान और उपमान के विषय नहीं, इसलिए भी निरुपम हैं। वे अर्हत् भगवान के ही प्रत्यक्ष हैं और उन्हीं के द्वारा वाणी का विषय हो सकते हैं। अन्य विद्वान उन्हीं के कहे अनुसार

१—देखिए दो० २-४ तथा गा० ४६-५१

२—(क) देखिए पृ० १५१-२ टिप्पणी १ (३), १ (५)

(ख) देखिए पृ० १७१-१७३ टि० १३

उसका ग्रहण करते और उसके प्रतिरूप को स्वीकार करते हैं। मोक्ष-सुख छद्मस्थों की परीक्षा का विषय नहीं होता[1]।

औपपातिक सूत्र में सिद्धों के सुखों का वर्णन इस प्रकार मिलता है

'सिद्ध अशरीर—शरीर रहित होते हैं। वे चन्यधन और केवलज्ञान केवलदर्शन से संयुक्त होते हैं। साकार और अनाकार उपयोग उनके लक्षण हैं। सिद्ध केवलज्ञान से संयुक्त होने पर सबभाव गुणपर्याय को जानते हैं और अपनी अनन्त केवल दृष्टि से सबभाव देखते हैं। न मनुष्य को ऐसा सुख होता है और न सब देवों को जैसा कि अव्याबाध सुख को प्राप्त सिद्धों को होता है। जैसे कोई म्लेच्छ नगर की अनेक विध विशेषता को देख चुकने पर भी उपमा न मिलने से उसका वर्णन नहीं कर सकता उसी तरह सिद्धों का सुख अनुपम होता है। उसकी तुलना नहीं हो सकती। जिस प्रकार सर्व प्रकार के पाँचों इन्द्रियों के भोग को प्राप्त हुआ मनुष्य भोजन कर क्षुधा और प्यास से रहित हो अमृत पीकर तृप्त हुए मनुष्य की तरह होता है, उसी तरह अतुल निर्वाण प्राप्त सिद्ध सदाकाल तृप्त होते हैं। वे शाश्वत सुखों को प्राप्त कर अव्याबाधित सुखी होते हैं। सब कार्य सिद्ध कर चुके होने से वे सिद्ध हैं। सब तत्त्व के पारगामी होने से बुद्ध हैं। संसार समुद्र को पार कर चुके अतः पारंगत हैं, हमेशा सिद्ध रहेंगे, इसलिए परंपरागत हैं। सिद्ध सब दुःखों को छेद चुके होते हैं। वे जन्म जरा और मरण के बंधन से मुक्त होते हैं। वे अव्याबाध सुख का अनुभव करते हैं और शाश्वत सिद्ध होते हैं। वे अतुल सुखसागर को प्राप्त होते हैं। अनुपम अव्याबाध सुखों को प्राप्त हुए होते हैं। अनन्त सुखों को प्राप्त हुए वे अनन्त सुखी वर्तमान अनागत सभी काल में वैसे ही सुखी रहते हैं[2]।

उत्तराध्ययन में सिद्ध-स्थान के सुखों के विषय में निम्न वार्तालाप मिलता है

'हे मुने! सांसारिक प्राणी शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित हो रहे हैं उनके लिए क्षेम शिव अव्याबाध स्थान कौन-सा है?

'लोक के अग्र भाग पर एक ध्रुव स्थान है, जहाँ जरा मृत्यु, व्याधि और वेदना नहीं है पर वह दुरारोह है।"

'वह स्थान कौन-सा है?'

१—उत्था उपसंहार गा २१-२२
२—औपपातिक सू. १७७ १८१

"उस स्थान का नाम निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध है। उसे महर्षि प्राप्त करते है"

"मुने! वह स्थान शाश्वत निवासरूप है, वह लोकाग्र पर है। वह दुरारोह है पर जिसने भव का अन्त कर उसे पा लिया उसके कोई शोच-फिकर नही रहती[1]।"

"लोगग्गभावमुवगए परमसुही भवई[2]" —लोक के अग्र भाव पर पहुँचकर जीव परम सुखी होता है।

आचारांग में लिखा है

"उस दशा का वर्णन करने में सारे शब्द निवृत्त हो जाते—समाप्त हो जाते है। वहाँ तर्क की पहुँच नही और न बुद्धि उसे ग्रहण कर पाती है। कर्म-मल रहित केवल चैतन्य ही उस दशा का ज्ञाता होता है।

"मुक्त आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व, न वृत्त—गोल। वह न त्रिकोण है, न चौरस, न मण्डलाकार। वह न कृष्ण है, न नील, न लाल, न पीला और न शुक्ल ही। वह न सुगन्धिवाला है, न दुर्गन्धिवाला है। वह न तिक्त है, न कड़ुआ, न कषैला, न खट्टा और न मधुर। वह न कर्कश है, न मृदु। वह न भारी है, न हल्का। वह न शीत है, न उष्ण। वह न स्निग्ध है, न रूक्ष। वह न सरीरधारी है, न पुनर्जन्मा, न आसक्त। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुसक।

"वह ज्ञाता है, वह परिज्ञाता है, उसके लिए कोई उपमा नही। वह अरूपी सत्ता है। वह अपद है। वचन अगोचर के लिए कोई पद-वाचक शब्द नही। वह शब्दरूप नही, गन्धरूप नही, रसरूप नही, स्पर्श रूप नही। वह ऐसा कुछ भी नही। ऐसा मैं कहता हूँ[3]।"

१—उत्त० २३ ८०-८४

२उत्त० २९-३८

३—आचाराङ्ग श्रु० १ अ० ५ उ० ६

सव्वे सरा नियट्टन्ति। तक्का जत्थ न विज्जइ। मइ तत्थ न गाहिया। ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने। से न दीहे न हस्से न वट्टे। न तसे न चउरसे न परिमडले। न कीयहे न नीले न लोहिए न हालिद्द न सुक्किले। न सुरभिगधे न दुरभिगधे। न तित्ते न कडूए न कसाए न अंबिले न महुरे न कक्खडे। न मउए न गरूए न लहुए। न सिए न उण्हें न निद्धे न लुक्खे। न काऊ न रुहे न संगे। न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा। परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए। अरूवी सत्ता। अपयस्स पय नत्थि। से न सद्द न रूवे न गन्धे न रसे न फासे इच्चेव त्ति बेमि।

५—पन्द्रह प्रकार के सिद्ध (गा० १३ १६)

स्वामीजी ने इन गाथाओं में सिद्धों के पंद्रह भेदों का वर्णन किया है। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है

१—तीर्थ सिद्ध तीर्थङ्कर के तीर्थ स्थापन के बाद जो सिद्ध हुए उन्हें तीर्थ सिद्ध कहते हैं, जैसे गणधर गौतम आदि।

२—अतीर्थ सिद्ध तीर्थ स्थापन के पहले अथवा तीर्थ का विच्छेद होने के बाद सिद्ध हुए अतीर्थ सिद्ध कहलाते हैं। जैसे मरुदेवी आदि।

३—तीर्थङ्कर सिद्ध जो तीर्थङ्कर होकर साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप तीर्थ की स्थापना करने के बाद सिद्ध हुए हैं वे तीर्थङ्कर सिद्ध कहलाते हैं। जैसे तीर्थङ्कर ऋषभदेव यावत् महावीर।

४—अतीर्थङ्कर सिद्ध जो सामान्य केवली होकर सिद्ध हुए हैं उन्हें अतीर्थङ्कर सिद्ध कहते हैं। जैसे गणधर गौतम आदि।

५—स्वयंबुद्ध सिद्ध जो स्वयं जातिस्मरणादि ज्ञान से तत्त्व जानकर सिद्ध हुए हैं उन्हें स्वयंबुद्ध सिद्ध कहते हैं। जैसे मृगापुत्र।

६—प्रत्येकबुद्ध सिद्ध जो बाह्य-निमित्त से—जैसे किसी वस्तु को देखकर बोध प्राप्त कर सिद्ध हुए हैं वे प्रत्येकबुद्ध सिद्ध कहलाते हैं [1]।

७—बुद्धबोधित सिद्ध जो धर्माचार्य आदि से बोध प्राप्त कर सिद्ध हुए हैं उन्हें बुद्धबोधित सिद्ध कहते हैं। जैसे मेघकुमार।

८—स्वलिङ्गी सिद्ध जो मुनि लिङ्ग में सिद्ध हुए हैं उन्हें स्वलिङ्गी सिद्ध कहते हैं। जैसे आदिनाथ भगवान के दस हजार मुनि।

९—अन्यलिङ्गी सिद्ध जो अन्यमती-सन्यासी आदि के लिङ्ग से सिद्ध हुए हैं, उन्हें अन्यलिङ्गी सिद्ध कहते हैं। जैसे शिवराजर्षि।

१—टीका (ठाणाङ्ग १ ५१) में स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध सिद्ध का अंतर इस प्रकार बताया है—स्वयंबुद्धों को बाह्य निमित्त बिना ही बोधि प्राप्त होती है जबकि प्रत्येकबुद्धों को बाह्य निमित्त की अपेक्षा होती है। स्वयंबुद्धों के पात्रादि बारह उपधि होती है। प्रत्येकबुद्धों को तीन प्रावरण-वस्त्र के सिवा नव उपधि होती है। स्वयंबुद्धों के पूर्वभव में श्रुत अध्ययन होता है और नहीं भी होता। प्रत्येक बुद्ध के नियम से होता है। स्वयंबुद्धों को आचार्यादि के समीप ही लिङ्ग-ग्रहण होता है जबकि प्रत्येकबुद्धों को देव ही लिङ्ग धारण कराते हैं।

१०—गृहलिङ्गी सिद्ध : जो गृहस्थ के लिङ्ग से सिद्ध हुए हैं उन्हे गृहलिङ्ग सिद्ध कहते है। जैसे सुमति के छोटे भाई नागिल आदि।

११—स्त्रीलिङ्गी सिद्ध जो स्त्री-शरीर से सिद्ध हुए है उन्हे स्त्री-लिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे चन्दनबाला।

१२—पुरुषलिङ्गी सिद्ध : जो पुरुष-शरीर से सिद्ध हुए है उन्हें पुरुषलिङ्ग सिद्ध कहते है। जैसे गणधर आदि।

१३—नपुसकलिङ्ग सिद्ध : जो नपुसक शरीर से सिद्ध हुए हैं उन्हें नपुसकलिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे गाङ्गेय अनगार आदि।

१४—एकसमय सिद्ध जो एक समय में अकेले सिद्ध हुए हैं उन्हें एक समयसिद्ध कहते है। जैसे महावीर।

१५—अनेकसमय सिद्ध : जो एक समय में अनेक सिद्ध हुए हैं उन्हें अनेक सिद्ध कहते है। एक समय में दो से लेकर १०८ सिद्ध तक हो सकते है।

स्वामीजी के इस वर्णन का आधार ठाणाङ्ग सूत्र है [१]।

उत्तराध्ययन में सिद्धो का वर्णन इस प्रकार मिलता है "सिद्ध अनेक प्रकार के हैं—स्त्रीलिङ्ग सिद्ध, पुरुषलिङ्ग सिद्ध, नपुसकलिङ्ग सिद्ध, स्वलिङ्ग सिद्ध, अन्यलिङ्ग सिद्ध और गृहलिङ्ग सिद्ध आदि। सिद्ध जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अवगाहना से हो सकते हैं। ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग् लोक से हो सकते हैं। समुद्र और जलाशय से भी सिद्ध हो सकते हैं। एक समय मे नपुसकलिङ्गी दस, स्त्रीलिङ्गी बीस और पुरुषलिङ्गी एकसौ आठ सिद्ध हो सकते हैं। गृहलिङ्ग मे चार, अन्यलिंग मे दस, स्वलिंग में एकसौ आठ सिद्ध एक समय में हो सकते हैं। एक समय में जघन्य अवगाहना से चार, उत्कृष्ट अवगाहना से दो और मध्यम अवगाहना से एकसौ आठ सिद्ध हो सकते है। एक समय में ऊर्ध्व लोक मे चार, समुद्र में दो, नदी मे तीन, अधोलोक मे से बीस और तिर्यक् लोक में एकसौ आठ सिद्ध हो सकते हैं [२]।"

१—ठाणाङ्ग १ १५१

२—उत्त० ३६.५०-५५

६—मोक्ष-मार्ग और सिद्धों की समानता (गा० १७-१९)

उत्तराध्ययन में कहा है : "वस्तु स्वरूप स्वरूप को जाननेवाले—परमदर्शी जिनों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस चतुष्टय को मोक्ष मार्ग कहा है। इस मार्ग को प्राप्त हुए जीव सुगति को पाते हैं। सब द्रव्य, उनके सब गुण और उनकी सर्व पर्यायों के यथार्थ ज्ञान को ही ज्ञानी भगवान ने 'ज्ञान' कहा है। स्वयं—अपने आप या उपदेश से भी तथ्य भावों (नव पदार्थों) के अस्तित्व में आन्तरिक श्रद्धा—विश्वास होना सम्यक्त्व है। सच्ची श्रद्धा बिना चारित्र संभव नहीं, श्रद्धा होने से चारित्र होता है।'

यहाँ इन गाथाओं में दो बातें कही गयी हैं : (१) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—यह मुक्ति-मार्ग है और (२) सर्व सिद्धों के सुख समान हैं।

इन पर नीचे क्रमशः प्रकाश डाला जाता है :

(१) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप मोक्ष-मार्ग है :

आगम में कहा है :

"सम्यक्त्व और चारित्र युगपत् होते हैं, वहाँ पहले सम्यक्त्व होता है। जिसके श्रद्धा नहीं है उसके सच्चा ज्ञान नहीं होता। सच्चे ज्ञान बिना चारित्रगुण नहीं होते। चारित्रगुणों के बिना कर्म मुक्ति नहीं होती। कर्म मुक्ति बिना निर्वाण नहीं होता। ज्ञान से जीव पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से आस्रव का निरोध करता है और तप से कर्मों की निर्जरा कर शुद्ध होता है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपयोग—ये मोक्षार्थी जीव के लक्षण हैं'।"

स्वामीजी कहते हैं—जितने भी सिद्ध हुए हैं वे इसी मार्ग से सिद्ध हुए हैं। अन्य मार्ग नहीं जो जीव को संसार से मुक्त कर सके। पन्द्रह प्रकार के जो सिद्ध बतलाये हैं, उन सब का यही मार्ग रहा। सम्यक् ज्ञान-दर्शन चारित्र-तप का मार्ग ही सबके का मार्ग है। सिद्धि का कोई दूसरा मार्ग नहीं।

सम्यक् ज्ञान-दर्शन चारित्र और तप से सिद्धि-क्रम किस प्रकार बनता है। इसके तीन वर्णन आगमों में मिलते हैं। इन्हें संक्षेप में नीचे दिया जाता है।

पहला वर्णन इस प्रकार है :

'जब मनुष्य जीव और अजीव को अच्छी तरह जान लेता है, तब सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है। जब सब जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है

१—उत्त० २८.२।३।४।५ २८–३ ३५,११

तव पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है। जब मनुष्य इनको जान लेता है, तव देवो और मनुष्यो के कामभोगो को जान कर उनसे विरक्त हो जाता है। जव मनुष्य भोगो से विरक्त होता है, तव अन्दर और वाहर के सम्बन्धो को छोड देता है। जव इन सम्बन्धो को छोड देता है, तव मुण्ड हो अनगारवृत्ति को धारण करता है। अनगारवृत्ति को ग्रहण करने से वह उत्कृष्ट सयम और अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है। ऐसा करने से अज्ञान से सचित की हुई कलुपित कर्मरज को धुन डालता है। कर्मरज को धुन डालने से वह सर्वगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है। अव वह जिन केवली लोकालोक को जान लेता है। इन्हे जान लेने से वह योगो का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है। जव ऐसी अवस्था को प्राप्त करता है, तव कर्मों का क्षय कर निरज सिद्धि को प्राप्त करता है। जब वह निरज सिद्धि को प्राप्त करता है, तब वह लोक के मस्तक पर स्थित हो शाश्वत सिद्ध होता है[1]।"

दूसरा वर्णन इस प्रकार है

"राग-द्वेष रहित निर्मल चित्तवृत्ति को धारण करने से जीव धर्मध्यान को प्राप्त करता है। जो शङ्का रहित मन से धर्म में स्थित होता है, वह निर्वाण-पद की प्राप्ति करता है। ऐसा मनुष्य सज्ञी-ज्ञान से अपने उत्तम स्थान को जान लेता है। सवृतात्मा शीघ्र ही यथातथ्य स्वप्न को देखता है। जो सर्वकाम से विरक्त होता है, जो भय-भैरव को सहन करता है, उस सयमी और तपस्वी मुनि के अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। जो तप से अशुभ लेश्याओ को दूर हटा देता है, उसका अवधिदर्शन विशुद्ध—निर्मल हो जाता है। फिर वह ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक के जीवादि सर्व पदार्थों को सब तरह से देखने लगता है। जो साधु भली प्रकार स्थापित शुभ लेश्याओ को धारण करनेवाला होता है, जिसका चित्त तर्क-वितर्क से चञ्चल नही होता, इस तरह वह सर्व प्रकार से विमुक्त होता है उसकी आत्मा मन के पर्यवो को जान लेती है—उसे मन पर्यव ज्ञान उत्पन्न होता है। जिस समय उस मुनि का ज्ञानावरणीय कर्म सर्व प्रकार से क्षय-गत हो जाता है, उस समय वह केवलज्ञानी और जिन हो लोक-अलोक को देखने लगता है। जब प्रतिमाओ के विशुद्ध आराधन से मोहनीयकर्म क्षय-गत होता है, तब सुसमाहित आत्मा अशेष—सम्पूर्ण—लोक और अलोक को देखने लगता है। जिस तरह अग्रभाग का छेदन करने से ताड का गाछ भूमिपर गिर पडता है, उसी प्रकार मोहनीयकर्म के क्षय-गत होने से सर्व कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। केवली भगवान इस शरीर को छोडकर तथा नाम, गोत्र, आयु और वेदनीयकर्म का छेदन कर रज से सर्वथा रहित हो जाते हैं[2]।"

१—दश० ४ १४-२५

२—दशाश्रुतस्कंध—५ १-३,५-११,१६

तीसरा वर्णन इस प्रकार है

"भगवन् ! तथारूप श्रमण-ब्राह्मण की पर्युपासना का क्या फल है ?"

"गौतम ! उसका फल श्रवण है।"

"भगवन् ! श्रवण का क्या फल है ?"

"गौतम ! उसका फल ज्ञान है।"

"भगवन् ! ज्ञान का क्या फल है ?"

"गौतम ! ज्ञान का फल विज्ञान है।"

"भगवन् ! विज्ञान का क्या फल है ?"

"गौतम ! विज्ञान का फल प्रत्याख्यान त्याग है।"

"भगवन् ! प्रत्याख्यान का क्या फल है ?"

"गौतम ! प्रत्याख्यान का फल संयम है।"

"भगवन् ! संयम का क्या फल है ?"

"गौतम ! संयम का फल अनास्रव है।"

"भगवन् ! अनास्रव का क्या फल है ?"

"गौतम ! अनास्रव का फल तप है।"

"भगवन् ! तप का क्या फल है ?"

"गौतम ! तप का फल व्यवदान—कर्मों का निर्जरण है।"

"भगवन् ! व्यवदान का क्या फल है ?"

"गौतम ! व्यवदान से अक्रिया होती है।"

"भगवन् ! अक्रिया से क्या होता है ?"

"गौतम ! अक्रिया से निर्वाण होता है।"

"भगवन् ! निर्वाण से क्या फल होता है ?"

"गौतम ! पर्यवसान फलरूप—अन्तिम प्रयोजनरूप सिद्ध-गति में गमन होता है[१]।"

(२) सर्व सिद्धों के सुख समान हैं :

अनेक भेदों से अनन्त सिद्ध हुए हैं पर उन सब के सुख तुल्य हैं। सब सिद्धों के सुखों को अनन्त कहा है। उन सुखों में अन्तर नहीं होता।

सिद्ध जीवों में परस्पर भेद नहीं होता। सिद्धों के पन्द्रह भेद उनके अन्तिम जन्म की अपेक्षा से हैं। संसारी जीवों की विभिन्नता कर्मों की विभिन्नता से है। मुक्त जीवों के किसी प्रकार का कर्म बंध न रहने से उनमें विभिन्नता भी नहीं। सब सिद्ध जीव एकान्त आत्मिक सुख में रम रहे हैं।

१—ठाणाङ्ग ३.३.१९०

: १० :

जीव अजीव

तीसरा वर्णन इस प्रकार है

"भगवन् ! तथारूप श्रमण-ब्राह्मण की पर्युपासना का क्या फल है ?"

"गौतम ! उसका फल श्रवण है।"

"भगवन् ! श्रवण का क्या फल है ?"

"गौतम ! उसका फल ज्ञान है।"

"भगवन् ! ज्ञान का क्या फल है ?"

"गौतम ! ज्ञान का फल विज्ञान है।"

"भगवन् ! विज्ञान का क्या फल है ?"

"गौतम ! विज्ञान का फल प्रत्याख्यान त्याग है।"

"भगवन् ! प्रत्याख्यान का क्या फल है ?"

"गौतम ! प्रत्याख्यान का फल संयम है।"

"भगवन् ! संयम का क्या फल है ?"

"गौतम ! संयम का फल अनास्रव है।"

"भगवन् ! अनास्रव का क्या फल है ?"

"गौतम ! अनास्रव का फल तप है।"

"भगवन् ! तप का क्या फल है ?"

"गौतम ! तप का फल व्यवदान—कर्मों का निर्जरण है।"

"भगवन् ! व्यवदान का क्या फल है ?"

"गौतम ! व्यवदान से अक्रिया होती है।"

"भगवन् ! अक्रिया से क्या होता है ?"

"गौतम ! अक्रिया से निर्वाण होता है।"

"भगवन् ! निर्वाण से क्या फल होता है ?"

"गौतम ! पर्यवसान फलरूप—अन्तिम प्रयोजनरूप सिद्ध-गति में गमन होता है।"[1]

(२) सब सिद्धों के गुण समान हैं

अनेक भेदों से अनन्त सिद्ध हुए हैं पर उन सब के गुण तुल्य हैं। सब सिद्धों के गुणों को अनन्त कहा है। उन गुणों में अन्तर नहीं होता।

सिद्ध जीवों में परस्पर भेद नहीं होता। सिद्धों के पन्द्रह भेद उनके अन्तिम जन्म की अपेक्षा से हैं। संसारी जीवों की विभिन्नता कर्मों की विचित्रता से है। मुक्त जीवों के किसी प्रकार का कर्म बंध न रहने से उनमें विचित्रता भी नहीं। सब सिद्ध जीव एकान्त आत्मिक सुख में रम रहे हैं।

१—ठाणाङ्ग ३.३.१९०

: १० :

जीव अजीव

दोहा

१—कई वेषधारियों के घट में जीव-अजीव की पहचान नहीं होती। ऐसे अज्ञानी भी वाणी के गोले फेंकते हैं। उनमें कुछ भी सुध-बुध नहीं दिखाई देती।

जीव अजीव का अज्ञान (दो० १-२)

२—उनके नौ पदार्थों और षट् द्रव्यों का विनिश्चय नहीं होता। बिना न्याय-निर्णय के वे बकते रहते है। इसका उनके मन में जरा भी विचार नहीं होता।

३—जिन भगवान ने जीव और अजीव दो वस्तुएँ कही है। तीसरी कोई वस्तु नहीं। लोक में जो भी वस्तुएँ है, वे इन दो में समा जाती है।

नौ पदार्थ दो राशियो में समाते हैं। (दो० ३-४)

४—जिन भगवान ने नौ पदार्थ कहे हैं, । जो इन नौ पदार्थों को दो पदार्थो मे नहीं डालते, उनके हृदय मे अत्यन्त अन्धकार है। वे भ्रमवश भूले हुए हैं।

५—वे विपरीत-विपरीत प्ररूपणा करते है। भोले मनुष्यों को इसका पता नहीं चलता। अत नौ पदार्थों का निर्णय करता हूँ। चित्त लगाकर सुनो।

ढाल

१—जीव चेतन पदार्थ है। अजीव अचेतन पदार्थ। इन्हें स्थूल रूप से पहचानना तो सरल है। पर उनके भेदानुभेद करने से उन्हें पहचानना अत्यन्त कठिन होता है।

पदार्थों का पहचानने की कठिनाई

जीव अजीव

दुहा

१—केइ भेषधार्‍यां रा घट मझे, जीव अजीव री खबर न कांय ।
ते पिण गोला फेंके गालां तणा ते पिण सुध न दीसें कांय ॥

२—नव पदार्थ रो त्यांरे निरणो नहीं छ दरबां रो निरणो नांय ।
न्याय निरणा विना बक बोलके तिरणो सोच नहीं मन मांय ॥

३—जीव अजीव दोनूं जिन कह्या तीजो वस्त न काय ।
जे जे वस्त छें लोक में, ते दोयां में सर्व समाय ॥

४—नव ही पदार्थ जिन कह्या त्यांनें दोयां में घाले नांय ।
त्यांरे अंधकार घट में घणो ते तो भूल गया भ्रम मांय ॥

५—ऊंधी २ करें छें परूपणा, त्यां भाव्यां नें खबर न कांय ।
तिण सूं नव पदार्थ रा निरणा कहूं ते सुणज्यो चित्त ल्याय ॥

ढाल

([illegible])

१—जीव [illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ॥

: १० :

जीव अजीव

दोहा

१—कई वेषधारियों के घट में जीव-अजीव की पहचान नहीं होती। ऐसे अज्ञानी भी वाणी के गोले फेंकते है। उनमें कुछ भी सुध-बुध नहीं दिखाई देती।

जीव अजीव का अज्ञान (दो० १-२)

२—उनके नौ पदार्थों और षट् द्रव्यों का विनिश्चय नहीं होता। विना न्याय-निर्णय के वे बकते रहते है। इसका उनके मन में जरा भी विचार नही होता।

३—जिन भगवान ने जीव और अजीव दो वस्तुएँ कही है। तीसरी कोई वस्तु नही। लोक मे जो भी वस्तुएँ है, वे इन दो में समा जाती हैं।

नौ पदार्थ दो राशियो में समाते हैं। (दो० ३-४)

४—जिन भगवान ने नौ पदार्थ कहे है, । जो इन नौ पदार्थों को दो पदार्थों मे नही डालते, उनके हृदय में अत्यन्त अन्धकार है। वे भ्रमवश भूले हुए हैं।

५—वे विपरीत-विपरीत प्ररूपणा करते है। भोले मनुष्यों को इसका पता नहीं चलता। अत नौ पदार्थों का निर्णय करता हूँ। चित्त लगाकर सुनो।

ढाल

१—जीव चेतन पदार्थ है। अजीव अचेतन पदार्थ। इन्हें स्थूल रूप से पहचानना तो सरल है। पर उनके भेदानुभेद करने से उन्हें पहचानना अत्यन्त कठिन होता है।

पदार्थों को पहचानने की कठिनाई

२—जीव अजीव टाले नें सात पदार्थ, त्यांनें जीव अजीव सरधें छें दोनूंइ ।
एहवी उंधी सरधा रा छें मूढ मिथ्याती त्यां साधू रो भेष ले भातम किगोइ ॥
जीव अजीव सुधा न सरधें मिथ्याती ॥

३—पुन पाप नें बंध ए तीनूंइ करम करम ते निश्चेंइ पुदगल जांणों ।
पुदगल छें ते निश्चेंइ अजीव, तिण माँहि संका मूल म आंणो ॥
पुन पाप नें अजीव न सरधें मिथ्याती ॥

४—आठ करमां नें रूपी कह्या छें जिणेसर, त्यांमें पांचूंइ वरणनें गंध छें दोय ।
वले पांचूंइ रस नें च्यार फरस छें, एं सोलें बोल पुदगल अजीव छें सोय ॥
पुन पाप नें अजीव न सरधें मिथ्याती ॥

५—पुन पाप बेहूं नें ग्रहे आस्रव, पुन पाप ग्रहे ते निश्चें जीव जांणों ।
निरवद जोगां सूं पुन ग्रहे छें सावद्य जोगां सूं पाप लागें छें आंणो ॥
आस्रव नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

६—करमां नां दुवार आस्रव जीव रा भाव तिण आस्रव नां बीसोंइ बोल पिछांण ।
ते बीसोंइ बोल छें करमां रा करता करमां रा करता निश्चेंइ जीव जांणों ॥
आस्रव नें जीव न सरधें मिथ्याती ।

७—आतमा नें वस करें ते संवर आतमा वस करें ते निश्चेंइ जीव ।
ते सों उपसम खायक षयउपसम भाव ए तो जीव रा भाव छ निरमल अतीव ॥
संवर नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

२—कई जीव और अजीव इन दो पदार्थों के अतिरिक्त अवशेष सप्त पदार्थों को जीव अजीव दोनों मानते हैं। जो मूढ़ ऐसी विपरीत श्रद्धान रखते हैं, उन्होंने साधु-वेष ग्रहण कर आत्मा को डूबा दिया।

सात पदार्थों का जीवाजीव मानना मिथ्यात्व है

३—पुण्य, पाप और बंध—ये तीनों कर्म हैं। कर्मों को निश्चय ही पुद्गल जानो। जो पुद्गल हैं, वे निश्चय ही अजीव हैं। इसमें जरा भी शङ्का मत करो।

पुण्य, पाप, बंध तीनों अजीव हैं (गा० ३-४)

४—जिन भगवान ने आठ कर्मों को रूपी कहा है। उनमें पाँचों वर्ण, दो गन्ध, पाँचों रस और चार स्पर्श हैं। ये सोलह बोल जिसमें हैं, वह पुद्गल अजीव है।

५—पुण्य-पाप दोनों को आस्रव ग्रहण करता है। जो पुण्य और पाप को ग्रहण करता है, उसे निश्चय ही जीव जानो। जीव निरवद्य योगों से पुण्य को ग्रहण करता है और सावद्य योगों से उसके पाप लगते हैं।

आस्रव जीव है (गा० ५-६)

६—आस्रव कर्मों के द्वार हैं। वे जीव के भाव हैं। आस्रव के बीसों बोलों की पहचान करो। बीसों ही आस्रव कर्मों के कर्त्ता हैं। जो कर्मों के कर्त्ता है, उन्हें निश्चय से जीव जानो।

७—आत्मा को वश में करना संवर है। जो आत्मा को वश करता है, वह निश्चय ही जीव है। संवर उपशम, क्षायक, क्षयोपशम भाव है। ये जीव के ही अति निर्मल भाव हैं।

संवर जीव है (गा० ७-८)

८—संवर ते आश्रवा करमां नें रोकें, आश्रवा करम रोकें ते निश्चेंइ जीव ।
तिण संवर नें जीव न सरधे अग्यांनी, तिणरे नरक निगोद री लागी छें नींव ॥
तिण संवर नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

९—देस थकी करमां नें तोडें, जब देस थकी जाव उजलो होय ।
जीव उजलो हुओ छें तेहिज निरजरा, निरजरा जीव छें तिणमें संका म कोय ॥
इण निरजरा नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

१०—करमां नें तोडे ते निश्चेंइ जीव करम तूटां थकां उजलो हुवो जीव ।
उजला जीव नें निरजरा कही जिण, जीव रा गुण छें उजल अत ही अतीव ॥
इण निरजरा नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

११—समसत करम थकी मूंकावें ते करम रहीत आतमा मोख ।
इण संसार दुख थी छूट पड्या छें, ते तो सीतली भूत थया निरदोष ॥
तिण मोष नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

१२—करमां थकी मूंकावे ते मोष तिण मोष नें कहिजें सिध भगवान ।
वले मोष में परमपद निरवांण कहिजें, ते तो निश्चेंइ निरमल जीव सुष मांन ॥
तिण मोष नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

१३—पुन पाप नें बंध ए तीनूंइ अजीव त्यांनें जीव नें अजीव सरधें दोनूंइ ।
एहवी उंधी सरधा रा छें मूढ मिथ्याती त्यां साव रा भेद में आतम विगोइ ॥
पुन पाप बंध नें अजीव न सरधें मिथ्याती ॥

८—संवर आते हुए कर्मों को रोकना है। जो आते हुए कर्मों को रोकता है, वह निश्चय ही जीव है। जो अज्ञानी संवर को जीव नहीं मानता, उसके नरक-निगोद की नींव लग चुकी।

निर्जरा जीव है (गा० ९-१०)

९—देशतः कर्मों को तोड़ने से जीव देशत निर्मल होता है। जीव का देशत उज्ज्वल होना ही निर्जरा है। निर्जरा जीव है, इसमें जरा भी शङ्का नही।

१०—जो कर्मों को तोड़ता है, वह निश्चय ही जीव है। कर्मों के टूटने से जीव उज्ज्वल होता है। जिनेश्वर भगवान ने उज्ज्वल जीव को ही निर्जरा कहा है। निर्जरा जीव का अति उज्ज्वल गुण है।

मोक्ष जीव है (गा० ११-१२)

११—जो समस्त कर्मों से रहित होती है, वह कर्मरहित आत्मा ही मोक्ष है। मुक्त जीव इस ससार रूपी दुःख से अलग हो चुके हैं। वे निर्दोष और शीतलभूत है।

१२—कर्मों से मुक्त होना मोक्ष है। मोक्ष को सिद्ध भगवान कहा जाता है। मोक्ष को ही परमपद और निर्वाण कहा जाता है। मोक्ष को निश्चय ही शुद्ध निर्मल जीव मानो।

पाँच जीव चार अजीव (गा० १३-१५)

१३—पुण्य, पाप और बन्ध—ये तीनों अजीव है। कई इनको जीव-अजीव दोनों मानते है। जो मूढ़ मिथ्यात्वी ऐसी उल्टी श्रद्धा रखते हैं, उन्होंने साधु-वेष ग्रहण कर अपनी आत्मा को डूबा दिया।

१४—आश्रव संवर निरजरा नें मोष एं निमाइ निश्चें जीव ज्यांरा ।
त्यांनें जीव अजीव दोनूंइ सरधें, तिण उंधी सरधा सूं आतम बिगोइ ॥
यां च्यारां नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

१५—नव पदार्थ में पांच जीव कह्या जिण, च्यार पदार्थ अजीव कह्या भगवान ।
ए नव पदार्थ रो निरणो करसी, तेहिज समकत छें सुध मांन ॥
जीव अजीव नें सुध न सरधें मिथ्याती ॥

१६—जीव अजीव ओलखावण काजें, जोड कीधी पुर सहर मझार ।
समत अठारें सतावनें वरसें भादरवा सुद पूनम नें बुधवार ॥
जीव अजीव नें सुध न सरधें मिथ्याती ॥

१४—आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये चारों नियमत निश्चय ही जीव हैं। इनको जो जीव-अजीव दोनो मानता है, उसने विपरीत श्रद्धा से अपनी आत्मा को डूबा दिया।

१५—जिन भगवान ने नौ पदार्थों में पाँच जीव और चार अजीव कहे है। नौ पदार्थों का इस प्रकार निर्णय करना ही शुद्ध सम्यक्त्व है, ऐसा मानो[1]।

१६—जीव-अजीव की पहचान कराने के लिए यह जोड़ पुर शहर में सं० १८५७ की भाद्र-शुक्ला पूर्णिमा बुधवार के दिन रची है।

टिप्पणी

स्वामीजी ने वस्तुओं की दो कोटियाँ कही हैं (१) जीव कोटि (२) अजीव कोटि। इसका आधार सूत्र-वाक्य हैं।

ठाणाङ्ग (२ ४ ९५) में कहा है 'जीवरासी चेव अजीवरासी चेव"—राशि दो हैं—एक जीव राशि और दूसरी अजीव राशि। यही बात समवायाङ्ग में भी कथित है[1]। उत्तराध्ययन में कहा है जीव चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए"—यह लोक जीव और अजीवमय कहा गया है।

स्वामीजी कहते हैं नौ पदार्थों में जहाँ तक जीव पदार्थ और अजीव पदार्थ का प्रश्न है उनकी कोटि स्वयं निश्चित है। प्रश्न है अवशेष सात पदार्थ किस कोटि में आते हैं।

एक मत के अनुसार जीव संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये चार पदार्थ जीव हैं तथा अजीव पुण्य पाप आस्रव और बंध—ये पाँच पदार्थ अजीव। इस बात को निम्न कोष्ठक द्वारा उपस्थित किया गया है

॥ अथैतेषु नवसु तत्त्वेषु जीवाजीवरूप्यरूपिज्ञेयहेयोपादेय विभागयन्त्रकम् ॥

तत्त्वनामानि	प्रति भेद	जीव	अजीव	रूपी	अरूपी	हेय	ज्ञेय	उपादेय
जीवतत्त्वम्	१४	१४		१४			१४	
अजीवतत्त्वम्	१४		१४	४	१		१४	
पुण्यतत्त्वम्	४२		४२	४२		४२		
पापतत्त्वम्	८२		८२	८२		८२		
आस्रवतत्त्वम्	४२		४२	४२		४२		
संवरतत्त्वम्	५७	५७			५७			५७
निर्जरातत्त्वम्	१२	१२			१२			१२
बन्धतत्त्वम्	४		४	४		४		
मोक्षतत्त्वम्	९	९			९			९
	२७६	९२	१८४	१८८	८८	१७	२८	७८

दूसरे मत के अनुसार जीव जीव है, अजीव अजीव और शेष सात जीवाजीव ।

स्वामीजी का मत इन दोनो ही अभिप्रायो से भिन्न है । स्वामीजी ने आस्रव की ढालो में आगम के आधार से आस्रव को जीव सिद्ध किया है । उनके अभिप्राय से जीव, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष—ये पाँच जीव हैं और अजीव, पुण्य, पाप और बध—ये चार अजीव ।

जीव और अजीव के सिवा अवशेष सात पदार्थ जीवाजीव हैं, इस बात से भी स्वामीजी सहमत नही । आगम मे जब दो ही पदार्थ बताये गये हैं तो फिर मिश्र पदार्थ की कल्पना नही की जा सकती । अवशेष सात पदार्थों में से प्रत्येक या तो जीव कोटि में आयेगा अथवा अजीव कोटि में । वे जीवाजीव कोटि के नही कहे जा सकते क्योकि ऐसी कोटि होती ही नही । स्वामीजी के मत से पुण्य, पाप और बन्ध अजीव कोटि के हैं और आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष जीव कोटि के । उसका कारण स्वामीजी ने सक्षेप मे प्रस्तुत ढाल मे ही बतला दिया है ।

यहाँ 'पाना की चर्चा' से कुछ प्रश्नोत्तरो को उद्धृत किया जाता है, जिससे स्वामीजी का मन्तव्य स्पष्ट होता है :

प्रश्नोत्तर—१

१—जीव जीव है या अजीव ? जीव । किस न्याय से ? सदाकाल जीव जीव ही रहता है, कभी अजीव नही होता ।

२—अजीव जीव है या अजीव ? अजीव । किस न्याय से ? अजीव सदाकाल अजीव ही रहता है, कभी जीव नही होता ।

३—पुण्य जीव है या अजीव ? अजीव । किस न्याय से ? शुभ कर्म पुण्य पुद्गल है । पुद्गल अजीव है ।

४—पाप जीव है या अजीव ? अजीव । किस न्याय से ? पाप अशुभ कर्म है । कर्म पुद्गल है । पुद्गल अजीव है ।

५—आस्रव जीव है या अजीव ? जीव है । किस न्याय से ? शुभ-अशुभ कर्मों को ग्रहण करनेवाला आस्रव है । वह जीव है ।

६—सवर जीव है या अजीव ? जीव है । किस न्याय से ? कर्मों को जो रोकता है, वह सवर जीव है ।

टिप्पणी

स्वामीजी ने वस्तुओं की दो कोटियाँ कही हैं (१) जीव कोटि (२) अजीव कोटि। इसका आधार सूत्र-वाक्य है।

ठाणाङ्ग (२ ४ ९५) में कहा है 'जीवरासी चेव अजीवरासी चेव'—राशि दो हैं—एक जीव राशि और दूसरी अजीव राशि। यही बात समवायाङ्ग में भी कथित है[१]। उत्तराध्ययन में कहा है 'जीव चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए'—यह लोक जीव और अजीवमय कहा गया है।

स्वामीजी कहते हैं नौ पदार्थों में जहाँ तक जीव पदार्थ और अजीव पदार्थ का प्रश्न है उनकी कोटि स्वयं निश्चित है। प्रश्न है अवशेष सात पदार्थ किस कोटि में आते हैं।

एक मत के अनुसार जीव संवर निर्जरा और मोक्ष—ये चार पदार्थ जीव हैं तथा अजीव पुण्य पाप आस्रव और बंध—ये पाँच पदार्थ अजीव। इस बात को निम्न कोष्ठक द्वारा उपस्थित किया गया है

॥ अथैतेषु नवसु तत्त्वेषु जीवाजीवरूप्यरूपिहेयज्ञेयोपादेय विभागयन्त्रकम् ॥

१तत्त्वनामानि	प्रतिभेद	जीव	अजीव	रूपी	अरूपी	हेय	ज्ञेय	उपादेय
जीवतत्त्वम्	१४	१४		१४			१४	
अजीवतत्त्वम्	१४		१४	४	१	०	१४	
पुण्यतत्त्वम्	४२		४२	४२		४२		
पापतत्त्वम्	८२		८२	८२		८२		
आस्रवतत्त्वम्	४२		४२	४२		४२		
संवरतत्त्वम्	५७	५७			५७			५७
निर्जरातत्त्वम्	१२	१२			१२			१२
बन्धतत्त्वम्	४		४	४		४		
मोक्षतत्त्वम्	९	९			९			९
	२७६	९२	१८४	१८८	८८	१७	२८	७८

प्रश्नोत्तर—३

१—नव पदार्थों मे जीव कितने हैं अजीव कितने हैं ? जीव, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष —ये पाँच जीव हैं और अजीव, पुण्य, पाप और बन्ध—ये चार अजीव हैं ।

२—नव पदार्थों में रूपी कितने हैं और अरूपी कितने ? जीव, आस्रव संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये पाँच अरूपी हैं, अजीव रूपी-अरूपी दोनो है । पुण्य, पाप और बन्ध रूपी हैं ।

ज्ञेय-अज्ञेय, हेय-उपादेय के विषय मे स्वामीजी के विचार नीचे दिये जाते हैं। उन्होने कहा है

१—नवो ही पदार्थ ज्ञेय हैं । जीव को जीव जानो । अजीव को अजीव जानो । पुण्य को पुण्य जानो । पाप को पाप जानो । आस्रव को आस्रव जानो । सवर को सवर जानो । निर्जरा को निर्जरा जानो । बन्ध को बन्ध जानो । मोक्ष को मोक्ष जानो । उनके अनुसार केवल जीव और अजीव पदार्थ ही ज्ञेय नही जैसा कि यत्र में कहा है ।

२—नौ पदार्थों मे तीन आदरणीय हैं—(१) सवर, (२) निर्जरा और (३) मोक्ष और शेष छोडने योग्य हैं । इस विषय मे निम्न प्रश्नोत्तर प्राप्त हैं

(१) जीव छोडने योग्य है या आदर-योग्य ? छोडने योग्य । किस न्याय से ? जीव स्वयं का भाजन करे अर्थात् आत्म-रमण करे । अन्य जीव पर ममत्व न करे ।

(२) अजीव छोडने योग्य है या आदर-योग्य ? छोडने-योग्य । किस न्याय से ? अजीव है इसलिए ।

(३) पुण्य छोडने-योग्य है या आदर-योग्य ? छोडने-योग्य । किस न्याय से ? पुण्य शुभ कर्म है । कर्म पुद्गल है, वह छोडने-योग्य है ।

(४) पाप छोडने-योग्य है या आदर-योग्य है ? छोडने-योग्य है । किस न्याय से ? पाप अशुभ कर्म है, पुद्गल है, जीव को दु खदायी है ? अत छोडने-योग्य है ।

(५) आस्रव छोडने-योग्य है अथवा आदर-योग्य है ? छोडने-योग्य । किस न्याय से ? आस्रवद्वार से जीव के कर्म लगते हैं । आस्रव कर्म आने के द्वार हैं, अतः छोडने-योग्य हैं ।

(६) सवर छोडने-योग्य है अथवा आदर-योग्य ? आदर-योग्य । किस न्याय से ? सवर कर्मों को रोकता है, अत· आदर-योग्य है।

७—निर्जरा जीव है या अजीव ? जीव है। किस न्याय से ? कर्म को तोड़ता है, वह जीव है।

८—बन्ध जीव है या अजीव ? अजीव है। किस न्याय से ? शुभ-अशुभ कर्म का बंध अजीव है।

९—मोक्ष जीव है या अजीव ? जीव है। किस न्याय से ? समस्त कर्मों को दूर करनेवाला मोक्ष जीव है।

प्रश्नोत्तर—२

१—जीव रूपी है या अरूपी ? अरूपी है। किस न्याय से ? पाँच वर्ण आदि नहीं पाये जाते इस न्याय से।

२—अजीव रूपी है या अरूपी ? रूपी अरूपी दोनों ही है। किस न्याय से ? धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय और काल—ये चार अरूपी हैं और एक पुद्गलास्तिकाय रूपी है।

३—पुण्य रूपी है या अरूपी ? रूपी है। किस न्याय से ? पुण्य-शुभ कर्म है। कर्म पुद्गल है रूपी है।

४—पाप रूपी है या अरूपी ? रूपी है। किस न्याय से ? पाप अशुभ कर्म है। कर्म पुद्गल है। वह रूपी है।

५—आस्रव रूपी है या अरूपी ? अरूपी। किस न्याय से ? आस्रव जीव का परिणाम है। जीव का परिणाम जीव है। जीव अरूपी है क्योंकि उसमें पाँच वर्ण आदि नहीं पाए जाते।

६—संवर रूपी है या अरूपी ? संवर अरूपी है। किस न्याय से ? क्योंकि उसमें पाँच वर्णादि नहीं पाये जाते।

७—निर्जरा रूपी है या अरूपी ? अरूपी है। किस न्याय से ? निर्जरा जीव का परिणाम है। उसमें पाँच वर्णादि नहीं पाये जाते।

८—बन्ध रूपी है या अरूपी ? रूपी है। किस न्याय से ? बन्ध शुभ-अशुभ कर्मरूप है। कर्म पुद्गल है। वह रूपी है।

९—मोक्ष रूपी है या अरूपी ? अरूपी है। किस न्याय से ? समस्त कर्मों से मुक्त होने वह मोक्ष है। वह अरूपी है। सिद्ध जीव में पाँच वर्णादि नहीं पाये जाते।

प्रश्नोत्तर—२

१—नव पदार्थों मे जीव कितने हैं अजीव कितने हैं ? जीव, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष —ये पांच जीव हैं और अजीव, पुण्य, पाप और बन्ध—ये चार अजीव हैं।

२—नव पदार्थों में रूपी कितने हैं और अरूपी कितने ? जीव, आस्रव सवर, निर्जरा और मोक्ष—ये पाँच अरूपी हैं, अजीव रूपी-अरूपी दोनो है। पुण्य, पाप और बन्ध रूपी हैं।

ज्ञेय-अज्ञेय, हेय-उपादेय के विषय मे स्वामीजी के विचार नीचे दिये जाते हैं। उन्होने कहा है

१—नवो ही पदार्थ ज्ञेय हैं। जीव को जीव जानो। अजीव को अजीव जानो। पुण्य को पुण्य जानो। पाप को पाप जानो। आस्रव को आस्रव जानो। सवर को सवर जानो। निर्जरा को निर्जरा जानो। बन्ध को बन्ध जानो। मोक्ष को मोक्ष जानो। उनके अनुसार केवल जीव और अजीव पदार्थ ही ज्ञेय नही जैसा कि यत्र में कहा है।

२—नौ पदार्थों मे तीन आदरणीय हैं—(१) सवर, (२) निर्जरा और (३) मोक्ष और शेष छोडने योग्य हैं। इस विषय मे निम्न प्रश्नोत्तर प्राप्त हैं

(१) जीव छोडने योग्य है या आदर-योग्य ? छोडने योग्य। किस न्याय से ? जीव स्वयं का भाजन करे अर्थात् आत्म-रमण करे। अन्य जीव पर ममत्व न करे।

(२) अजीव छोडने योग्य है या आदर-योग्य ? छोडने-योग्य। किस न्याय से ? अजीव है इसलिए।

(३) पुण्य छोडने-योग्य है या आदर-योग्य ? छोडने-योग्य। किस न्याय से ? पुण्य शुभ कर्म है। कर्म पुद्गल है, वह छोडने-योग्य है।

(४) पाप छोडने-योग्य है या आदर-योग्य है ? छोडने-योग्य हैं। किस न्याय से ? पाप अशुभ कर्म है, पुद्गल है, जीव को दु खदायी है ? अत छोडने-योग्य है।

(५) आस्रव छोडने-योग्य है अथवा आदर-योग्य है ? छोडने-योग्य। किस न्याय से ? आस्रवद्वार से जीव के कर्म लगते हैं। आस्रव कर्म आने के द्वार हैं, अत: छोडने-योग्य हैं।

(६) सवर छोडने-योग्य है अथवा आदर-योग्य ? आदर-योग्य। किस न्याय से ? सवर कर्मों को रोकता है, अत. आदर-योग्य है।

(७) निर्जरा छोड़ने योग्य है अथवा आदर-योग्य ? आदर-योग्य। किस न्याय से ? देशतः कर्म तोड़कर जीव का देशतः उज्ज्वल होना निर्जरा है। अतः यह आदर योग्य है।

(८) बंध छोड़ने-योग्य है अथवा आदर-योग्य ? छोड़ने-योग्य। किस न्याय से ? चूंकि शुभ-अशुभ कर्मों का बन्ध छोड़ने-योग्य है।

(९) मोक्ष छोड़ने-योग्य है अथवा आदर-योग्य ? आदर-योग्य। किस न्याय से ? सकल कर्मों का क्षयकर जीव निर्मल होता है, सिद्ध होता है, अतः आदर-योग्य है।

परिशिष्ट

(७) निर्जरा छोड़ने योग्य है अथवा आदर-योग्य? आदर-योग्य। किस न्याय से? देशत कर्म तोड़कर जीव का देशत उज्ज्वल होना निर्जरा है। अतः वह आदर योग्य है।

(८) बंध छोड़ने-योग्य है अथवा आदर-योग्य? छोड़ने-योग्य। किस न्याय से? चूंकि शुभ-अशुभ कर्म का बन्ध छोड़ने-योग्य है।

(९) मोक्ष छोड़ने-योग्य है अथवा आदर-योग्य? आदर-योग्य। किस न्याय से? सकल कर्मों का क्षयकर जीव निर्मल होता है सिद्ध होता है, अतः आदर-योग्य है।

परिशिष्ट

उद्धृत, उल्लिखित अथवा अवलोकित ग्रन्थों की तालिका

ग्रन्थ नाम	प्रकाशक या लेखक
१—अनुयोगद्वार सूत्र	शाह वेणीचद्र सुरचद, वम्वई
२—अष्ट प्रकरण (श्री हरिभद्रसूरि)	श्री महावीर जैन विद्यालय, वम्वई
३—अष्ट प्रकरण "	श्री भीमसिंह माणेक, वम्वई
४—अनुत्तरोपपातिकदशा सूत्रम्	जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर
५—अगुत्तर निकाय (हिन्दी अनुवाद)	महावोधि सभा, कलकत्ता
५-क—अर्हत्दर्शन दीपिका	श्री हीरालाल रसिकलाल कापडिया
६—आचाराङ्ग सूत्र	जैन साहित्य सशोधक समिति, पूना,
७— "	जैन साहित्य समिति, उज्जैन
८—आचाराङ्ग सूत्र दीपिका	श्री मणिविजय गणिवर ग्रन्थमाला, भावनगर
९—आवश्यक सूत्र	श्री श्वे०स्था० जैन शास्त्रोधार समिति, राजकोट
१०—आत्म-सिद्धि (श्रीमद् राजचन्द्र)	मनसुखलाल रवजीभाई, वम्बई
११—उत्तराध्ययन सूत्र	Dr Jail Charpentier
१२—उत्त० सूत्र की नेमिचन्द्रीय टीका	शाह फूलचँद खीमचद, वलाद
१३—उपासकदशाङ्ग सूत्रम्	श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सघ, कराची
१४—ओववाइय सुत्त	प्रो० एन० जी० सुरु
१५—औपपातिक सूत्र	श्री भूरालाल कालीलाल, सूरत
१६—कर्म ग्रन्थ भा० १-४ (हिन्दी)	आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचार मण्डल, आगरा
१७—कर्म ग्रन्थ टीका	
१८—गणधरवाद	गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद
१९—गोम्मटसार	दी सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ
२०—चन्द्रप्रभ चरितम्	
२१—जैनागम तत्त्व दीपिका	श्री श्वे० साधुमार्गी जैन हितकारिणी सस्था, बीकानेर
२१-क—जैन तत्त्व प्रकाश (भाग १-२)	श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता

२२—जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व	मोतीलाल बेंगानी चरिटेबल ट्रस्ट (आदर्श साहित्य संघ) कलकत्ता
२३—जैन धर्म और दर्शन	सेठ मन्नालाल सुराणा मेमोरियल ट्रस्ट, (आदर्श साहित्य संघ), कलकत्ता
२४—जीवां री चर्चा	आचार्य भीखणजी (अप्रकाशित)
२५—जीव-अजीव	श्री जैन श्वे० तेरापंथी सभा श्री डूंगरगढ़
२६—झीणी चर्चा	श्रीमज्जयाचार्य (निजी संग्रह की हस्तलिखित प्रति)
२७—टीकम डोसी री चर्चा	आचार्य भीखणजी (अप्रकाशित)
२८—तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् (सिद्धसेन वृत्ति)	जीवनचन्द साकरचंद जवेरी बम्बई
२९—तत्त्वार्थसूत्र सभाष्य	श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल बम्बई
३०— ' सर्वार्थ सिद्धि	भारतीय ज्ञान पीठ, काशी
३१— राजवार्तिक	" "
३२— ' श्रुतसागरीय वृत्ति	" "
३३— (गुज० तृतीय आवृत्ति)	जैन साहित्य प्रकाशन समिति अहमदाबाद
३४—तत्त्वार्थसूत्र सार	श्री अ०भा० जैन मिशन अलीगंज
३५—तीन सौ छ: बोल की हुण्डी	श्रीमज्जयाचार्य
३६—तेराद्वार	श्रीमद् भीखणजी
३७—दशाश्रुतस्कन्ध	जैन शास्त्रमाला कार्यालय लाहौर
३८—दशवैकालिक सूत्र	सेठ आनन्दजी कल्याणजी अहमदाबाद
३९—दशवैकालिकसूत्रम्(हारि० वृत्ति)	मनसुखलाल हीरालाल बम्बई
४०—द्रव्यसंग्रह	जैन साहित्य प्रचारक कार्यालय बम्बई
४१—द्रव्यानुप्रेक्षा	पाटनी दिगम्बर जैन ग्रंथमाला मारोठ राजस्थान
४२—धर्मशर्माभ्युदयम्	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
४३—नवतत्त्व नो सुन्दर बोध	श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर
४४—नवतत्त्व प्रकरणम् (सुमङ्गलाटीका)	मीलाल चन्द, वडोदरा
४५—नवतत्त्व (हिन्दी अनुवाद सहित)	श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा
४६—नवतत्त्व अर्थ विस्तार सहित	जे जे कामदार
४७—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह	श्री माणेकलाल भाई
४८—नवतत्त्व प्रकरण	पं० भगवानदास हरखचंद, अहमदाबाद
४९—नवतत्त्व विस्तारार्थ	जैन ग्रंथ प्रकाशक सभा अहमदाबाद

५०—नवतत्त्व प्रकरण	श्री जैन श्रेयस्कर मडल, मेहसाना
५१—नवतत्त्व स्तवन	श्री विवेक विजय जी
५२—नवसद्भाव पदार्थ निर्णय	श्री धनसुखदास हीरालाल आंचलिया, गगाशहर
५३—नन्दी सूत्र	रायवहादुर मोतीलाल मुथा, सतारा सिटी
५४—नायाधम्मकहाओ	प्रो० एन० व्ही० वैद्य, पूना
५५—पञ्चास्तिकाय (द्वि० आ०)	श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, वम्बई
५६— ,, (तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति)	श्री अमृतचन्द्राचार्य
५७— ,, (तात्पर्य वृत्ति)	श्री जयसेनाचार्य
५८—परमात्म प्रकाश	सेठ मणीलाल रेवाशकर जौहरी, वम्वई
५९—पचीस वोल	
६०—पण्णवणा	आगमोदय समिति, मेहसाना
६१—प्रज्ञापना सूत्र (अनु०)	जैन सोसायटी, अहमदावाद
६२—प्रज्ञापना शूत्र टीका	जैन सोसायटी, अहमदावाद
६३—प्रवचन सार	श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, वम्बई
६४—प्रश्नव्याकरण सूत्र	श्री हस्तिमल्लजी सुराणा, पाली,राजस्थान
६५—प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध	श्री धनसुखदास हीरालाल आंचलिया, गगाशहर
६६—पांच भाव की चर्चा	आचार्य भीषणजी (अप्रकाशित)
६७—पांच इन्द्रिया नी ओलखावण	” ”
६८—वावन वोल को थोकडो	”
६९—भगवती सूत्र	श्री मनसुखलाल रवजीभाई मेहता, वम्वई
७०—भगवती सार (गुज०)	श्री जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदावाद
७१—भगवती सूत्र (अभयदेव टीका)	आगमोदय समिति, मेहसाना
७२—भगवती सूत्र की टीका	श्री दानशेखर सूरि
७३—भगवती सूत्र के थोकडे	श्री अगरचच भैरोंदान सेठिया, वीकानेर
७४—भगवती नी जोड	श्री जयाचार्य (अप्रकाशित)
७५—भगवत् गीता	गीता प्रेस, गोरखपुर
७६—भाव सग्रहादि	हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर, बम्वई
७७—भ्रमविध्वसनम्	श्री ईसरचन्द चोपडा, बीकानेर
७८—भिक्षु-ग्रथ रत्नाकर (खड १-२)	श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता
७९—योगशास्त्र	श्री जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदावाद
८०—विशेषावश्यक भाष्य	आगमोदय समिति, मेहसाना

८१—स्थानाङ्ग (ठाणाङ्ग) (द्वि संस्करण) — सेठ माणेकलाल चुन्नीलाल अहमदाबाद
८२—स्थानांग-समवायांग (गुज॰) — गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
८३—समवायाङ्ग सूत्र — आगमोदय समिति मेहसाना
८४—समीचीन धर्मशास्त्र — वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
८५—समयसार — श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल बम्बई
८६—सागारधर्मामृत — सरल जैन ग्रन्थ पुस्तकमाला, मडावरा झाँसी
८७—सद्धर्ममण्डनम् — श्रीतनसुखदास फूसराज दूगड़ सरदारशहर
८८— सूयगडांग सूत्र — श्री जिनयशेन सूरि संघ बम्बई
८९—सर्वार्थ प्रकाश — श्रा मुक्तधर दिगम्बर जैन ग्रंथमाला समिति, जयपुर
९०—सुत्तागमे — सूत्रागम प्रकाशक समिति गुड़गाँव कैन्ट
९१—स्वाध्याय सभारस — श्री विजय विजय श्री
९२—ज्ञाताधर्म कथा टीका — श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति सूरत
९३—आचार्य कुन्दकुन्दना त्रिरत्न — श्री जैन साहित्य प्रकाशन समिति अहमदाबाद
९४—A Text Book of Inorganic Chemistry — J R Partington, M.B.E., D Sc.
९५— do : G S Newth, F I. C., F C. S.
९६— do : Prof. L. M Mitra, M Sc., B L.
९७— The Doctrine of karman in Jain Philsophy : Dr Helmuth Von Ghasenapp
९८— Foundamental concepts of Inorganic chemistry : Esmarch S Gilreath
९९— General and Inorganic Chemistry : P J Durrant, M A , Ph. D
१०० — General Chemistry : Linus Pauling
१०१— Panchastikayasara : A. Chakravarti
१०२— Sacred Books of the East : Dr F Max Muller (Vol. XXII XLV)

शब्द-सूची